वियाहपण्णत्तिसुत्तं

प्रथम भाग

(प्रथम द्वितीय शतक)

मूल पाठ, अनुवाद, पाठान्तर, जाववण्णओ पूर्ति
विवेचन, परिभाषा, टिप्पण परिशिष्टादियुक्त

व्याख्याता

आचार्य श्री नानेश

संपादक-अनुवादक

मुनि ज्ञान

प्रकाशक

अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ, बीकानेर

(परम श्रद्धेय आचार्य प्रवर श्री नानेश के 25वें आचार्य-पद के उपलक्ष में)

▭ व्याख्याता—

आचार्य श्री नानेश

▭ संपादक अनुवादक—

मुनि ज्ञान

▭ अर्थ-सौजन्य—

दानवीर श्रेष्ठीवर्य श्री चुन्नीलालजी एच. मेहता

▭ प्रकाशक—

श्री अ. भा. सा. जैन संघ, बीकानेर
समता भवन, रामपुरिया मार्ग, बीकानेर (राज.)

प्रकाशन संवत् २०४३
प्रकाशन वर्ष १९८६
विक्रम संवत् २५१२

मूल्य 80/-

▭ मुद्रक—

जैनोदय प्रिंटिंग प्रेस,
चौमुखीपुल, रतलाम (म. प्र)

VIYAH PANNATTI SUTTAM

FIRST-PART

(FIRST AND SECOND SHATAK)

Original Text Translation Variant Javvannao Poorti Thorough Investigation, General Motion Commentary with Appendices.

Annotator

Acharya Shri Nanesh

Pankaj Jain

Editor & Translator

Muni Gyan

Publishers

Shri Akhil Bharatvarsiya Sadhumargi Jain Sangh, Bikaner

(Published at the Holy Occasion of Acharya Shri Nanesh 25th Acharya pada year)

Annortator

Acharya Shri Nanesh

Editor & Translator

Muni Gyan

Financial Assistance

Syt. Chunnilal H. Mehta

Date of Publication

Vir Nirvan Samvat 2512
Vikram Samvat 2043
Year 1986

Publishers

Shri Akhil Bharatvarsiya Sadhumargi Jain Sangh, Bikaner

Price-Forty Rupees

मर्यादा ही उत्तम आचरण का सुरक्षा-कवच है, प्रभु महावीर का संदेश है कि आचरण की धारा सम्यक् ज्ञान के चट्टानी तटबंधों में ही मर्यादित रहनी चाहिये।

आचार्य स्व. गुरुदेव श्री गणेशीलालजी म. सा. ने श्रमण संस्कृति की सुस्थिति एवं उन्नयन के लिए 'शांत क्रांति' का अभियान चलाया। इस अभियान को ओजस् प्रदान करना साधुवर्ग का दायित्व है। इसके लिए साधुवर्ग को जहां साधना के पथ पर अविचल रूप से आरूढ़ रहना है वहीं अपनी साधना गत अनुभूतियों की अभिव्यक्ति द्वारा सामान्य जन के लिए सुदृढ़ साधना सेतु का निर्माण भी करते चलना है। 'शांत क्रांति' आत्म-साधना से ही परात्म-साधना के उदय का अभियान है। जो आत्म-पक्ष परात्म पक्ष, एवं परमात्म पक्ष तीनों को उजागर करने में सक्षम है। साधु एवं साध्वी समाज ने विगत बीस वर्षों में सम्यक ज्ञानार्जन की दिशा में अच्छी दूरी तय की है. रथ बढ़ रहा है, पथ भी प्रशस्त हो रहा है।....

– आचार्य श्री नानेश

अर्थ सहयोगी सुश्रावक उदारमना
श्रीयुत् चुन्नीलाल जी एच. मेहता

श्रीयुत् चुन्नीलाल जी सा. मेहता का जन्म ३१ जुलाई १९२६ के शुभ दिन मेहता परिवार में हुआ था। १८ वर्ष की अल्प आयु में राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के अह्वान पर स्वतन्त्रता संग्राम में कूद पड़े। गांधीवादी विचारधारा के समर्थक व कांग्रेस की नीतियो के पोषक श्री मेहता हरिजन उद्धार कार्यक्रम में प्रारम्भ से ही रूचि लेते रहे हैं।

सन् १९५२ और सन् १९६५ में आप क्रमश: कामर्शियल माध्यमिक विद्यालय और भारत मर्चेन्टस् चेम्बर के सदस्य निर्वाचित किये गये। बम्बई में दीन दु:खियों और पिछड़ी जाति के लोगों के लिए हृदयरोग चिकित्सा सुविधा प्रदान करने हेतु 'रोज फाउण्डेशन' के आप अध्यक्ष निर्वाचित किये गये।

सोजत शहर मे आप ने अपनी मातुश्री श्रीमती गुलाववाई मेहता के नाम से माध्यमिक विद्यालय चला रखा है, जिसमें ८०० बालक नि:शुल्क शिक्षा प्राप्त करते हैं। बम्बई और देश की सामाजिक, शैक्षणिक और सांस्कृतिक संस्थाओ से आप संबन्धित है और समय-२ पर यथा योग्य आर्थिक अनुदान और सहयोग प्रदान करते रहे है।

आपश्री की साहित्य के अन्दर विशेष रुचि रही है। आपका मानना है कि महापुरुषों के सत्-साहित्य के वल पर ही जन-जन के मानस को परिवर्तित किया जा सकता है। आज महावीर नहीं है, लेकिन उनके आगमों की अक्षुण्ण धारा ने धर्म एवं समाज को टिकाए रखा है, इन्हीं विचारों से प्रेरित होकर "व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र" छपाई के लिए जो अर्थ सहयोग दिया है वह निश्चय ही प्रशंसनीय एवं अन्यों के लिए अनुकरणीय है।

श्री अ. भा. सा. जैन संघ, अध्यक्ष के रूप में आपका नेतृत्व प्राप्त कर अपने आप को गौरवान्वित अनुभव करता है। आपसे समय-समय पर यही अपेक्षा है कि सत् साहित्य जैसे पवित्र महायज्ञ में अपने अर्थ का सदुपयोग कर आदर्श उपस्थित करते रहे।

श्री अ. भा. सा. जैन संघ, बीकानेर

प्रकाशकीय

छद्मस्थों (अपूर्ण व्यक्ति) के उपदेश की अपेक्षा वीतराग देव की देशना सर्वथा सत्य होती है। छद्मस्थों के द्वारा अन्यथा कथन-लेखन भी हो सकता है, किन्तु सर्वज्ञों के कथन में एकांश रूप से भी असत्य का अंश नहीं आ पाता। छद्मस्थों का कथन एवं लेखन भी यदि वीतराग देवों के सिद्धांतों के अनुकूल है, तो ही उनका कथन विश्वसनीय माना जाता है। यद्यपि-वीतराग देव, वर्तमान में इस भरतखण्ड में विद्यमान नहीं है, तथापि जो वीतराग हो चुके है, उनकी देशना आज भी विद्यमान है। जितनी मात्रा में देशना दी गई है, उतनी अवस्था में तो विद्यमान नहीं है, फिर भी आत्मिक-साधना एवं संसिद्धि के लिये पर्याप्त रूप में आज भी विद्यमान है।

वर्तमान में प्रवहमान-शासन के आद्य-प्रवर्तक चरम तीर्थंकर महाप्रभु महावीर स्वामी रहे हैं। जिन्होंने लगभग १२॥ वर्ष की अनवरत-साधना के बाद घनघातिक कर्मो का क्षय कर अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त चारित्र और अनन्त शक्ति रूप अनन्त चतुष्टय को आत्मा में अभिव्यक्त किया था। अभिव्यक्ति के बाद ही महाप्रभु 'तिन्नाणं' के साथ 'तारयाणं के पद पर बढ़े। देशना धारा प्रवाहित हुई। किन्तु आश्चर्य इस बात का है कि महाप्रभु का प्रथम उपदेश त्याग-तप की दृष्टि से खाली चला गया। क्योंकि उपस्थित-सभासदों में से एक भी सभासद ऐसा नहीं था, जो नवकारसी जैसा छोटा-सा दिखने वाला तप भी अंगीकार कर सके। इसका कारण स्पष्ट है कि उस सभा में एक भी मानव नहीं था। देवता कितने ही क्यों न उपस्थित हों, वे सुनकर अपने जीवन में तप-त्याग को नहीं अपना सकते। मानव ही एक ऐसा विशिष्ट प्राणी है, जो सुनकर समझकर एवं उसे जीवन में उतार कर, अपने जीवन को बदल सकता है। ऐसा हुआ भी और हो भी रहा है। जब महाप्रभु ने बाद में देशना दी थी, उस समय श्रोताओं में मानव भी थे। इसीलिए एक ही दिन में ४४०० मानवों ने एक साथ संसार को छोड़-कर संन्यासी जीवन अंगीकार कर लिया था। आगार से हटकर अनगारी बन गये थे। इस प्रमाण से मानव जीवन की श्रेष्ठता प्रमाणित हो जाती है। मानव-जीवन का वस्तुतः लक्ष्य भौतिकता से हटकर आध्यात्मिक-जीवन में अपने आपको रमाकर चरम लक्ष्य शाश्वत शान्ति को पाना है। उस शाश्वत शान्ति का मूल उद्गम स्रोत बाहरी जीवन नही, अपितु भीतरी आत्मिक शान्ति ही है। आत्मिक-शांति के बल पर ही परम लक्ष्य, शाश्वत शान्ति को प्राप्त किया जा सकता है।

महाप्रभु महावीर ने आत्म शान्ति को जगाने के लिए विशेष जोर दिया है। जैसा कि महाप्रभु का उद्घोष रहा है— "अप्पाणमेव जुज्झाहि किं ते जुज्झेण बज्झओ" आत्मा से ही युद्ध करो, बाहरी युद्ध से क्या प्रयोजन ? महाप्रभु महावीर ही नहीं, जितने भी श्रेष्ठ पुरुष इस जगतीतल पर हुए है, उन

सबका लक्ष्य भीतरी रहा है, किन्तु वर्तमान–युग में अधिकांश मानवों का लक्ष्य बाहरी होता चला जा रहा है। आज के व्यक्ति भौतिक साधनों से ही शांति पाने के लिये विशेष प्रयत्नशील हैं। ऐसे युग में आध्यात्मिक–पक्ष को विशेषत: उभारने के लिये वीतराग वाणी को यथावस्थित रूप में प्रस्तुत कर अधिकाधिक प्रचार–प्रसार अपेक्षित है, ताकि जन–जन का जागरण हो सके। अभी तक भगवान् महावीर के निर्वाण हुए २॥ हजार वर्ष से कुछ अधिक ही व्यतीत हुए हैं। अभी लगभग १८॥ हजार वर्ष तक महाप्रभु का शासन निर्बाध रूप से चलने वाला है।

वर्तमान में महाप्रभु की पाट परंपरा के ८१ वें पाट पर समता विभूति, विद्वद्–शिरोमणि, जिन-शासन-प्रद्योतक, धर्मपाल–प्रतिबोधक आचार्य श्री नानेश के सान्निध्यमें धर्म संघ सर्वतोमुखी निरन्तर विकास कर रहा है। आचार्य–प्रवर ने जब से शासन की बागडोर संभाली है, तब से शासन में निरन्तर विकास हो रहा है। लगभग २३ वर्ष के अल्पकाल में आपश्री के सान्निध्य में लगभग २१८ दीक्षाएँ संपन्न हो चुकी हैं। एक साथ ५, ८, १२, १५ आदि दीक्षाएँ तो कई बार हुई हैं, किन्तु अभी सन् १९८४ चार मार्च को एक साथ २५ भव्य दीक्षाएँ सम्पन्न हुई थी। स्थानकवासी-समाज में लगभग ५०० वर्ष पूर्व, ऐसा बतलाया जाता है कि–"लोंकाशाह के समय एक साथ ४५ दीक्षाएँ हुई थी। उसके बाद पहली बार आचार्य प्रवर के सान्निध्य में एक साथ २५ दीक्षाएँ सम्पन्न हुई है। केवल दीक्षा दे देना, ले लेना और बात है, किंतु दीक्षित साधु–साध्वियों को संयमीय–साधना के साथ सम्यक्ज्ञान की दिशा में प्रशस्त करते हुए उनका सफल संचालन करना अत्यन्त कठिन है। किन्तु आचार्य–प्रवर मुमुक्षुओं को दीक्षित कर संयमीय–साधना के अक्षुण्ण अनुपालन के साथ उनका सफल संचालन भी कर रहे हैं। साथ ही सम्यग्ज्ञान के पथ को भी अहर्निश प्रशस्त कर रहे हैं। इसीलिये अल्प समय में ही संघ के कई श्रमण-श्रमणी वर्ग उच्चकोटि के विद्वान, आगमज्ञ-गवेषक-चिन्तक हो गए हैं, तो कई दर्शन–शास्त्र के ज्ञाता हैं तो कई संस्कृत-प्राकृत-व्याकरण-साहित्य आदि विषयों पर विशेष अधिकार रखते हैं।

आचार्य प्रवर ने एक ही क्षेत्र में नहीं, अपितु अनेक क्षेत्रों में आश्चर्यजनक प्रगति की है। दलित और शोषित वर्ग का उत्थान करने के लिये धर्मपाल–अभियान चलाया है। जिन संस्कारित लोगों की संख्या वर्तमान में एक लाख के आसपास है। विश्व में विषमता का निवारण करने के लिये समता-दर्शन एवं मानवों के मानसिक–तनाव को समाप्त कर आत्म–शांति पाने के लिये समीक्षण–ध्यान का अभिनव चिन्तन प्रस्तुत किया है।

ऐसी अनेकानेक विशेषताओं से युक्त प्रभु महावीर के अधिकृत अधिकारी आचार्य प्रवर ही महाप्रभु के द्वारा प्रवेदित आगमों पर आगम–सम्मत, हृदय–स्पर्शी विवेचन दे सकते हैं। ऐसे ही महापुरुषों की विवेचनाएँ–प्रमाणित होती हैं।

वर्षों पूर्व जब संघ के प्रमुख अधिकारियों ने देखा कि– "समता विभूति आचार्य प्रवर अपने शिष्य-समुदाय को आगमों का अध्ययन करवा रहे हैं। आगम-सम्मत-विवेचन, जिनमें कई व्याख्याएँ,

जो अब तक परिलक्षित नहीं हुई, वैसी भी लिखवा रहे है । जिसे पढकर, सुनकर संघ के चिंतनशील महानुभावों को सुखद हर्षानुभूति हुई, और संघ के लोगों ने गुरुदेव से निवेदन किया कि– "आपश्री की प्रखर प्रतिभा का लाभ केवल संत-सतियों को ही मिले, श्रावक-श्राविका उससे वंचित रहे" यह कैसे उचित होगा ?

तब गुरुदेव ने फरमाया– "देखिए, मैं तो अपनी सीमा में संयमीय मर्यादाओं को सुरक्षित रखते हुए संत–सतियों को सम्मुख रखकर प्रयत्नशील हूँ । श्रावक-श्राविकाओं के लिये इसे कैसे उपयोगी बनाया जाय ? यह मेरी सीमा का कार्य नहीं है ।" आचार्य प्रवर शास्त्रों पर विवेचन लिखवाते और संत-मुनिराजों द्वारा सयम की मर्यादाओं को सुरक्षित रखते हुए उनका संपादन–अनुवाद का कार्य चलता रहा । अब तक आचार्य प्रवर आचारांग सूत्र, भगवती सूत्र, अन्तगड सूत्र, कल्पसूत्र आदि शास्त्रों पर विवेचना लिखवा चुके हैं । जिनका संत-मुनिराजों ने संकलन-संपादन एवं अनुवाद किया है । हम आचार्य प्रवर की इस अनन्त उपकृति एवं संत–मुनिराजों के अथक परिश्रम को कभी भी विस्मृत नही कर सकते । संघ उनका अत्यन्त आभारी है । शास्त्रों की इसी शृंखला में समता विभूति आचार्य प्रवर श्री नानेश ने प्रस्तुत व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र (प्रथम खण्ड) पर आगम-सम्मत अभिनव विवेचन प्रस्तुत किया । आगमिक धरातल पर जटिल से जटिल विषयों को भी अतीव सुन्दर, सरल ढंग से विवेचित किया है । अब तक टीका, टब्बा, चूर्णि, विवेचना आदि में आई हुई विवेचनाओं के अतिरिक्त भी अन्य अनेक अभिनव-आगम-सम्मत विवेचनाएँ आचार्य भगवन् ने लिखवाई है जो कि अध्येता को स्थान-स्थान पर देखने को मिलेगी ।

व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र सभी शास्त्रों से सर्वाधिक विशाल है । इस एक ही शास्त्र में जैन धर्म का बहुत कुछ सार पढ़ने को मिल जाता है ।

प्रस्तुत विशालकाय सूत्र के मूल पाठ के साथ उसका सुन्दर-सरस, सरल मूल स्पर्शी अनुवाद एवं शास्त्र का सर्वांग दृष्टि से अत्यन्त श्रमसाध्य–सम्पादन आचार्य प्रवर के ही अन्तेवासी सुशिष्य विद्वद्वर्य श्री ज्ञानमुनिजी म सा. ने किया है । अनुवाद एवं सम्पादन के साथही मुनिश्री ने मूलपाठ पाठान्तर, परिभाषा, जावपूर्ति, परिशिष्ट आदि सभी तरह से शास्त्र को पूर्ण उपयोगी बनाने का प्रयास किया है । पाठान्तर, जाव, वण्णओ की पूर्ति के साथ पांडुलिपि तैयार करने में आगम अहिंसा समता एवं प्राकृत शोध संस्थान उदयपुर में कार्यरत विद्वान डाक्टर श्री सुभाषचन्द्रजी कोठारी एवं पूर्व कार्यरत विद्वान श्री मानमलजी कुदाल ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है ।

विद्वद्वर्य श्री ज्ञानमुनिजी को आचार्य प्रवर ने संतों में सबसे अल्प वय में अर्थात् चौदह वर्ष की आयु में दीक्षित किया था । यह आचार्य प्रवर की दीर्घदृष्टि एवं सतत-सफल संचालन का ही परिणाम है कि किस प्रकार साधु-साध्वी आगे बढ़ रहे हैं । विद्वद्वर्य श्री ज्ञानमुनिजी ने १४ वर्ष की अवस्था में दीक्षित होकर छः वर्ष में ही बीकानेर धार्मिक परीक्षा बोर्ड की परिचय से लेकर अन्तिम रत्नाकर तक की सभी परी-

क्षाएं प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की। छः वर्ष में सभी परीक्षाओं को १९ वर्ष की अल्प वय में पूर्ण कर लेने वाले विद्यार्थी धार्मिक परीक्षा बोर्ड में नहींवत् है। विद्वद्वर्य श्री ज्ञानमुनिजी म. सा. इससे पूर्व अन्तकृद्दशाङ्ग सूत्र का भी अनुवाद एवं संपादन कर चुके हैं। इसके अतिरिक्त आचार्य प्रवर के प्रवचनों का प्रभावशाली संपादन भी किया है। मुनिश्री ने साधुमार्गी संघ के क्रांतिकारी अष्टाचार्यों का शोधपूर्ण इतिहास भी लिखा है और भी महत्वपूर्ण अनेक पुस्तकों का गद्य पद्य के रूप में प्रणयन किया है। आप एक सफल वक्ता भी है। शांत-क्रांति के अग्रदूत स्वर्गीय आचार्य श्री गणेशीलालजी म. सा. की स्मृति में श्री अ. भा. सा. जैन संघ ने श्री गणेश जैन ज्ञान भण्डार की स्थापना की। ज्ञान भण्डार में अनेकानेक प्रकाशित एवं हस्तलिखित-ग्रथों का सग्रह हुआ है। हस्तलिखित अप्रकाशित ग्रंथों संचयन कर उन्हें संघ की साहित्य समिति सर्वजन हितार्थ प्रकाशन करती रही है। इसी संकल्प की क्रियान्विति में इस शास्त्र कृति को भी भण्डार से प्राप्त कर प्रस्तुत-शास्त्र का प्रकाशन, संघ के भूतपूर्व अध्यक्ष, समता प्रचार संघ के कार्यवाहक अध्यक्ष, सक्रिय कार्यकर्ता श्रीमान् पी. सी. चौपड़ा के निर्देशन में जैनोदय प्रिंटिंग प्रेस में विश्रुत विद्वान श्री बसंतीलालजी नलवाया द्वारा प्रूफ संशोधन एवं सुन्दर मुद्रण के साथ सम्पन्न हुआ है। इसलिये हम श्रीमान् चौपड़ा सा. एवं नलवाया साहब के भी आभारी हैं।

प्रस्तुत–शास्त्र को प्रकाशित करते हुए संघ अपने आप में गौरव का अनुभव कर रहा है।

आचार्यदेव के २०४३ माघ कृष्णा द्वितीया से प्रारम्भ हो रहे आचार्य पद वर्ष के उपलक्ष्य में अभी से आगम-प्रकाशन का कार्य गतिशील है।

प्रस्तुत शास्त्र प्रकाशन में होने वाले अर्थ व्यय का सहयोग संघ अध्यक्ष उदारमना श्रीमान् चुन्नीलालजी सा. मेहता ने दिया है। जिनके प्रति संघ आभारी है। उनका अलग से परिचय दिया जा रहा है।

संघ आपकी इस उदारता का आभारी है। अन्त में जिज्ञासु लोग प्रस्तुत–सूत्र से जितना भी अधिक लाभ उठावेंगे, उतनी ही हमारे प्रकाशन की सफलता होगी।

गुमानमल चोरड़िया
संयोजक
साहित्य समिति
श्री अ. भा. सा. जैन संघ, बीकानेर

शुद्धि-पत्र

प्रिण्ट में टाईप के न उभरने से प्रूफ संशोधन आदि में जो अशुद्धियां ध्यान में आईं, उसका शुद्धि पत्र दिया जा रहा है। इसके अतिरिक्त पूर्ण सतर्कता रखने पर भी, छद्मस्थतावश कोई आगम विरुद्ध भाव आ गए हों तो वह हमें अभीष्ट नहीं। सुधी पाठक निःसंकोच भाव से संकेत करें, ताकि आवश्यक होने पर आगामी संस्करण में संशोधन किया जा सके।

पृष्ठ संख्या	पंक्ति संख्या	अशुद्ध शब्द	शुद्ध शब्द
16 प्राक्कथन	1	सा. महान्	सा. विरक्तों के आदर्श आचार्य श्री उदयसागरजी म. सा. महान्
24 प्राक्कथन	14	.... —	न. मुनि नथमल जैन विश्व भारती लाडनू म. मुनि मधुकर, श्री आगम प्रकाशन समिति ब्यावर सं. घेवरचन्द बांठिया जैन संस्कृति रक्षक संघ सैलाना
13	21	होता है—— मोहनीय	होता है, दर्शनावरणीय कर्म के क्षय से अनन्तदर्शन प्रकट होता है। मोहनीय
17	1	सूत्रांक नहीं डाला	सूत्रांक—२
32	16	पातान्तर	पातानन्तर
35	14	बंध.	बंध द्वारा बद्ध कर्मों का
38	26	पाहुज्ज.	पहिज्ज.
53	12	करवा	करना
54	15	उदोरेंति	उदीरेति
56	17	जोवों अणु ने	जीवों ने अणु
57	8	के योग्य	के सिवाय अन्य करणों के अयोग्य
71	5	तिदिसि	तिदिसि सिय चउदिसि
88	13	भा[illegible]	भाणियव्वा

पृष्ठ संख्या	पंक्ति संख्या	अशुद्ध शब्द	शुद्ध शब्द
88	23	अप्प ता	अप्पमत्ता
89	12	गमो	कण्हलेस्साणं नीललेस्साणं वि एक्को गमो
91	24-25	मायी वाले होते हैं।	मायी मिथ्यादृष्टि उपपन्नक और अमायी सम्यग्दृष्टि उपपन्नक कहना चाहिए।
92	19-21	प्पवत्तो	प्पमत्तो
95	3	साधु	साधु जीवन ग्रहण करता और सियार की तरह हो गया
98	24	या क्षय	×
98	25	क्षय या	×
101	10	त्रिभागादि	त्रिभागादि में
101	10	पर	पर मरण पूर्व के
104	17	अप्रतिहत०	अप्रतिहत प्रत्याख्यात
105	14	दनों	दोनों
105	14	०प्रत्याख्यात०	अप्रत्याख्यात
105	16	०प्रत्याख्यात०	अप्रत्याख्यात
122	14	चाहिए।	चाहिए। असंयम की स्थिति वालों में उपर्युक्त से अलग स्थित भी हो सकती है।
122	16	। सागर	10 हजार वर्ष
123	18	वर्ण से ... है।	द्रव्य लेश्या का नहीं।
128	18	ये नैरयिक	जीव
129	16	उन पर मोह की स्थिति	उनका प्रत्याख्यान नहीं
134	10	से	तेणट्ठेणं
136	15	में उत्पन्न होता	की आयु बांधता है।
136	18	द्वीन्द्रिय	द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय
140	13	पच्चया	पज्जया
142	20	प्रमत्त सराग	सराग
143	18	ही रहता है।	आ सकता है
161	23	अविराग	वीतराग
161	17	सिद्ध में विमान	सिद्ध विमान में
165	12	में	में प्रतिपादित
169	2—5	बुक्कस	बक्कुस

पृष्ठ संख्या	पंक्ति संख्या	अशुद्ध शब्द	शुद्ध शब्द
171	18	वर्ष की,	वर्ष की, चौथे पाथड़े की जघन्य स्थिति
171	18	वह ·· में	इस दृष्टि से चौथे पाथड़े की मध्यम स्थिति
181	6	कारणों से	कारणों से शंका युक्त
188	7	ही नहीं हो	हो ही नही
189	12	स्थिति में	अपेक्षा से
196	15	उदयानन्तर.	उदयानन्तर पश्चात कृत
202	11	9 से 12	9मतान्तर ,10भंगान्तर 11 नयान्तर 12 नियमान्तर 13 स्थिति में भी
210	13	स्थिति में	स्थिति में भी
216	13	व्रत ··· व्रतों	प्रतिज्ञाएं अंगीकार की है उन प्रतिज्ञाओं
217	22	सामान्य	×
225	24	को कहते	को विभंगज्ञान कहते
225	24	विभंग	×
231	18	पंडिय	बाल पंडिय
260	11	एक - वासों में	३० लाख नरकावासों में से एक–२ नरकावास में
269	26	में नैरयिक	में रत्नप्रभा नैरयिक
290	23	मिथ्यादृष्टि	मिश्रदृष्टि
291	23	पर्यन्त	पर्यन्त जघन्य
297	12	करता है ?	करता है ? और समुद्र का अंत द्विप के अंत का स्पर्श करता है।
303	16	श्रद्धा वाले	श्रद्धा वाले रोहा नामक अणगार
312	4	वंघई	वंधइ
322	8	वैताढ्य	वर्तुल वैताढ्य
325	18	सव्वे देणं सं	सव्वेणं देसं
331	8	बहुत को	बहुत जीवों को
331	8	जीव अविग्रह गति	जीव विग्रह गति समापन्न
334	12	भाग - का आहार	देश रूप ओज का गर्भस्थ जीव आहार

पृष्ठ संख्या	पंक्ति संख्या	अशुद्ध शब्द	शुद्ध शब्द
335	14	वार-वार	वार-वार उच्छ्वास लेता है
335	19	भूत	भूत पुत्र जीव रस हरिणो
336	23	रस ...... का	रस का एक देश से
341	19	उवज्जेज्जा	उववज्जेज्जा
342	12	पिपासु	पिपासु, काम पिपासु
353	14	अभीष्ट नहीं है।	अभीष्ट है।
358	19	किरिए	किरिए सिय पंच किरिए
363	12	कम्माइं	कम्माइं णो बद्धाइं
364	11	भी है।	भी है। सवीर्य भी है।
364	18	णं सिद्धा	ण सिद्धा सिद्धाणं
365	60	रिया	. रिया करणवीरिएण सवीरिया वि
385	12	ने	ने कालास्य वेपि पुत्र अणगार को
388	5	यह	×
390	16	विहरित्तए	विहरित्तए
396	20	शतक ‒ ‒ है।	×
402	2	होती।	होती। इसलिए दो
412	2	संक्षिप्त	सामान्य
412	31	त्ति स पि	तीसुंपि
413	8	करोड़ों	सैकड़ों
415	12	अन्तर	अनन्तर
419	9	से आहार पुद्गलों	से श्वासोच्छ्वास के पुद्गलों
432	11	वेयणिज्जे"	वेयणिज्जे"-ससार वेदनीय
432	24	जब तक	जब तक विद्यमान रहता
434	5	नौपम्	नौवम्
441	21	मवखेणं	मवखेवं
445	7	कारणाइं	कारणाइं वागरणाइं
445	12	पत्तियं	पवित्तयं
445	14	धाउरत्ताओ	धाउरत्ताओ
446	3	धाउरत्त.	धाउरत्त
446	4	मंज्जं	मज्जं
446	5	.च्छारत्ता	च्छरत्ता

पृष्ठ संख्या	पंक्ति संख्या	अशुद्ध शब्द	शुद्ध शब्द
447	10	कालेण	कालेणं तेण
449	15	चच्चा.	कच्चा.
460	8	कालाओ	कालओ
461	9	.काय,	.काय, अधर्मास्तिकाय
464	16	असंख्यातवे	असंख्यातवें भाग
464	22	भागवत्	भागगत
467	12	(अयोगी अवस्था)	×
473	21	.वेगमणे	.वगमण
477	19	उन्हें वंदना	उन्हें आदक्षिणा प्रदक्षिणा
480	22	स्थापना	उत्थापना
484	11	अणियावे	अणियाणे
484	12	सुसासण्णरए	सुसामण्णरए
485	11	देदा.	देवा.
488	11	रहा हो	रहे
490	12	प्रतिमाओं	प्रतिज्ञाओं
496	21	भावमाणे	भावेमाणे
502	10	फुल्ल	फुल्लु
509	9	नमंसइ	नमंसइ वंदित्ता
511	9	पण्णत्ता	पण्णत्ता तस्सणं खंदयस्स वि देवस्स बावीसं सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता
511	19	पढमो.	पढमो उद्देशो समत्तो
525	3	शक्ति को	शक्ति को महारंभादि असंयम
525	23	वास्तविक	वाचिक
528	13	उस मात्रा का	उसका
530	21	की संख्यात	की असंख्यात
532	5	तक तक	जब तक
535	1	शरीर	समय
543	6	लोह	स्वर्ण
543	22	चेइयाओ	चेइयाओ पडिनिक्खमइ
545	8	अयसाउसो	अयमाउसो
546	8	औषध	औषध भेजज
552	1	------कृत	... – कृतोन

पृष्ठ संख्या	पंक्ति संख्या	अशुद्ध शब्द	शुद्ध शब्द
554	6	तुगिया	तुंगिया
559	7	.पाया.	.पाय.
559	7	किया	किया । कौतुक और मंगल
561	1	निकलकर	घर से निकालकर
576	3	आभाय	आयभा
580	11	अन्य	अन्न
583	15	समेयति	संसेयंति
593	8	तक	तक ग्रहण
596	9	होता है ।	होता है । इस प्रकार सिद्धगंडिका पर्यन्त कहना चाहिए ।
597	1	अधो	मध्य
599	9	423	424
603	13	पर्व	पर्वत
608	10	निधि	नदी
611	7	प्रमाण	प्रमाण अनन्त
616	20	बल	बलवीर्य
619	13	में जीव	में न जीव
620	8	धर्मास्तिकाय	धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय
621	20	स्वार	स्वपर
622	20	अधिक	कम
623	15	.भाव	.भा.
624	21	भागों को	भाग को, संख्येय भागों को

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1) कर्म प्रकृति
2) जैन धर्म व विज्ञान—कन्हैयालाल लोढ़ा
3) जैन सिद्धांत बोल संग्रह – भाग 1 से 8
4) दशवैकालिक सूत्र
5) प्राकृत व्याकरण – भाग 1 से 2 – आ. हेमचन्द्र — संपा. प्यारचन्दजी–2020
6) प्राकृत साहित्य का इतिहास – जगदीशचन्द्रजी जैन, वाराणसी–2017
7) प्राकृत भाषा व साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास — नेमीचन्द्र शास्त्री, वाराणसी–2023
8) प्रमाण मीमांसा
9) भगवई – मुनि नथमल — जैनविश्वभारती - लाडनू
10) भगवती सूत्र — प. घेवरचन्द्रजी – श्री अ. भा. सा जैन संस्कृति रक्षक सघ – सैलाना–2021
11) भगवती सूत्र सार संग्रह
12) भगवती सूत्र पर व्याख्यान— आचार्य जवाहर पं. शोभाचन्द्रजी भारिल्ल, बीकानेर
13) रत्नावतारिका
14) विशेषावश्यक भाष्य–दिव्यदर्शन कार्यालय, अहमदाबाद–2019
15) वियाहपण्णति सूत्र — अमोलक ऋषिजी मा. सा.
16) विवाहप्रज्ञप्ति सूत्र– — पं. बेचरदासजी, महावीर विद्यालय, बम्बई
17) व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र — मुनि मधुकर– श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर
18) व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र — मुनि घासीलालजी मा. सा. राजकोट
19) सधर्म मण्डल – अ. भा. सा. जैन सघ, बीकानेर
20) सुत्तागमे—पुप्फ भिक्खु
21) श्री मद्भगवती सूत्रम-अभयदेव वृत्तिसहित–आगमोदय समिति, सूरत

कोष ग्रन्थ

1) अभिधान राजेन्द्र कोष भाग 1 से 7
2) अर्द्धमागधी कोष भाग 1 से 5
3) आगम शब्द कोष युवाचार्य महाप्रज्ञ
4) एकार्थक कोष
5) जैन सिद्धांत कोष
6) जैन लक्षणावली भाग 1 से 3
7) नालन्दा विशाल शब्द सागर
8) निरुक्त कोष
9) पाइअसद्द महण्णवो

प्राक्कथन

चराचर विश्व में जिधर भी दृष्टिपात किया जाय, सर्वत्र जड एवं चैतन्य का रूप ही प्रधानता से परिलक्षित होता है। जड और चैतन्य के सम्मिश्रण से ही विश्व में विविध विचित्रताएं निर्मित होती हैं। चेतना अपने मौलिक रूप मे अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त चारित्र एवं अनन्त सुख स्वभावी आदि होते हुए भी जड़ तत्व से सम्बन्धित कर्म पुद्गलों से संबद्ध होने से उसकी वे शक्तियां अधिकांशतया विलुप्त है। जिसके कारण आत्मा अपने मौलिक रूप को भी सही रूप में समझ नही पा रही है। जो रूप उसका नहीं है, उसे वह अपना मान रही है। जहां सुख का अंशतः भी अवस्थान नहीं है, वहां अत्यन्त परिश्रम के साथ सुख की खोज कर रही है। जीवन के बहुमूल्य क्षणों को व्यर्थ ही समाप्त कर रही है।

खोज का अगर यही प्रवाह चलता रहा तो मानव एक जिन्दगी तो क्या ऐसी कितनी ही जिन्दगियां प्राप्त करले, वह अपने चैतन्य देव का मौलिक स्वरूप अभिव्यक्त नही कर सकता। आत्मा के मौलिक स्वरूप की अभिव्यक्ति के लिए उसे सर्वप्रथम खोज की दिशा ही बदलनी होगी। मूल की भूल को ही परिमार्जित करना आवश्यक होगा। मूल की भूल को सुधारे बिना लक्ष्य में सफलता प्राप्त नही हो सकती। विश्व के समस्त प्राणी जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहते। सभी सुख चाहते हैं, दुःख कोई नही चाहते।

सव्वे पाणा पिआउया, सुहसाया दुक्खपडिकूला

—आचारांग सूत्र १, २, ३,—

जीने एवं सुख पाने के लिए ही उनका हर संभव प्रयास होता है। तथापि उन्हें दीर्घकालिक जीवन और वास्तविक सुख की प्राप्ति नही होती, बल्कि कभी कभी तो शीघ्र ही मृत्यु और भयंकर दुःख का विस्फोट हो जाता है।। बात को स्पष्ट करने के लिए जरा प्राणी-जगत् की ओर दृष्टिपात किया जाय :

वीतराग देव ने विश्व के समस्त प्राणियों को एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के पांच विभागों में विभक्त कर दिया है। उनमें एकेन्द्रिय वर्गगत पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति के जीव यद्यपि

स्वयं के सुख के लिए बेन्द्रियादिक जीव की तरह गमनागमनादि क्रिया तो नहीं कर सकते। तथापि उनका भी यथासंभव प्रयास, सुख पाने के लिए ही होता है। बेइन्द्रियादिक जीव तो स्वयं के जीवन को बचाने एवं सुखी बनाने के लिए गति क्रिया करते हुए दृष्टिपथ पर आते हैं किन्तु उन अज्ञ प्राणियों का जीवन कभी कभी संरक्षित न होकर विनष्ट हो जाता है। उन लघुकाय पिपीलिका, भंवर आदि तिर्यंच जीवों को क्या मालूम कि जिस रास्ते पर वे जीवन जीने के लिए और सुख पाने के लिए बढ़ रहे हैं, वही पथ उनके लिए मारक एवं दुःख का महाद्वार सिद्ध होगा। यही नहीं मन को विशिष्ट शक्ति से युक्त संज्ञी पंचेन्द्रिय पशु भी सुख के स्थान पर दुःख ही अधिक पाते हुए परिलक्षित होते हैं। लेकिन आश्चर्य तो तब होता है कि ८४ लाख जीव योनियों के समस्त प्राणी वर्ग में श्रेष्ठ माना जाने वाला मानव भी कीड़े-मकोड़े की तरह, पशु की तरह जिन्दगी जी कर अपने मानव जीवन के बहुमूल्य क्षणों का व्यर्थ ही समाप्त कर डालता है। ऐसा व्यक्ति क्यों न सुख का अभीप्सु हो, पर सुख प्राप्त नहीं कर पाता है।

स्वोन्मुखी भी बनें

मानव जीवन से तो जीने की वह कला प्राप्त की जा सकती है, जिससे उसकी आत्मा, अविनाशी सुख का वरण कर सके। अभीप्सित साध्य की चरम परिणति तक पहुंच जाय। उस चरम परिणति तक पहुँचने के लिए सबसे पहले मानव को अपनी मूलभूत भूल का परिमार्जन करना होगा। जीवन को सही ढंग से जीने एवं सुख की खोज करने के लिए जो उसकी शक्ति परोन्मुखी बनी हुई है, वहां से उसे हटाकर स्वोन्मुखी बनाना होगा।

अतीतकाल में जितने भी तीर्थंकर हुए हैं तथा वर्तमान में जो महाविदेह क्षेत्र में विहरमान विद्यमान हैं, तथा भविष्य में जितने भी तीर्थंकर एवं सर्वज्ञ-सर्वदृष्टा होंगे, वे सभी आत्ममुखी बनकर ही हुए है, होते है और होंगे। क्योंकि सुख एवं शांति का अक्षय स्रोत वहीं ही है। जहां जो वस्तु है, वहीं उसकी खोज की जाय तो वह वहां उपलब्ध भी हो सकती है। पर जहां जिस वस्तु का सर्वथा अभाव है, वहां यदि उसकी खोज कितनी भी कर ली जाय, लेकिन हस्तगत कुछ भी नहीं होने वाला है, यह शाश्वत तथ्य है। तेल को पाने के लिए तिल ही पीलने होते है, मिट्टी पीलने से कुछ नहीं मिलना है। नवनीत को पाने के लिए दही को ही मथना होता है, पानी को मथने से कुछ नहीं होता है। ठीक उसी प्रकार परमशांति एवं परमसुख पाने के लिए जीवन के भीतर ही प्रवेश करना होता है, बाहरी परिधियों से कुछ भी मिलने वाला नहीं है।

तीर्थंकर और उनकी देशना

इस तथ्य को वे भव्य आत्माएं अच्छी तरह जानती थी, जिन्होंने साधना के सोपानों पर अविराम गति से बढ़कर तीर्थंकरत्व, सर्वज्ञत्व के रूप में आकर अन्त में मोक्ष की ओर प्रयाण किया था।

तीर्थंकरों की दृष्टि से भी चोवीसियाँ अनन्त हो चुकी है। अर्थात् अनन्त आत्माएं तीर्थंकर बनकर स्व-पर का कल्याण करती हुई मुक्ति में विराज चुकी है। इसी चौबीसी की सुदीर्घ शृंखला में अवसर्पिणी काल के तृतीय-चतुर्थ आरे में भी एक चौबीसी तीर्थंकरों की हो चुकी है। जिसके आद्य तीर्थंकर महाप्रभु ऋषभदेव एवं अंतिम तीर्थंकर महाप्रभु महावीर थे। जिन पवित्र पुरुषों ने ज्ञान का अभिनव आलोक स्व-पर के जीवन में उजागर कर चतुर्विध संघ का स्थापना करने के साथ तीर्थ का प्रवर्तन करते हुए भव्यजनों को दिव्य देशना प्रदान की थी, जिनकी परम, पावन देशना को सुनकर अनेकानेक भव्य आत्माओं ने संसार के असार स्वरूप को एवं मुक्ति के परमसार स्वरूप को समझकर साधना के पथ पर प्रवृत्त हुई अपनी अपनी आत्मा का कल्याण किया था। जब तक प्रथम तीर्थंकर के बाद दूसरे तीर्थंकर तीर्थ का प्रवर्तन नहीं करते है, तब तक प्रथम तीर्थंकर का ही शासन काल कहलाता है। किंतु ज्योंही द्वितीय तीर्थंकर का शासन काल प्रारंभ होता है तो प्रथम तीर्थंकर की चली आ रही परंपरा-उनके साधु-साध्वी आदि द्वितीय तीर्थंकर का अनुशासन स्वीकार कर लेते हैं। जिससे शासन में एकता का भव्य प्रसंग परिख्यापित हो। इस परंपरा का निर्वहन अन्तिम तीर्थंकर तक बराबर होता रहा है। महाप्रभु महावीर ने जब तीर्थका प्रवर्तन किया, तब तेइसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ की परंपरा के जो साधु-साध्वी थे, वे भगवान महावीर के तीर्थ में सम्मिलित हो गए थे।

महाप्रभु महावीर ने लगभग १२½ वर्ष की अनवरत साधना के बाद राग-द्वेष का निर्मूलन कर अखिल वस्तुस्तोम प्रकाशक त्रिकालदर्शी केवल ज्ञान और केवल दर्शन को प्राप्त किया था। तभी से महाप्रभु ने चतुर्विध संघ का प्रवर्तन कर भव्य जीवों के कल्याण के लिए उपदेश देना प्रारंभ किया था।

सव्वजगजीवरक्खणदयट्ठयाए भगवया पावयणं सुकहियं

-प्रश्नव्याकरण सूत्र

जो आत्मा राग-द्वेष को, अपुनर्भाव से अपने आपसे विलग कर देती है, वह आत्मा वीतराग-दशा को प्राप्त कर लेती है। ऐसी वीतराग दशा प्राप्त आत्मा, सदा-सर्वदा के लिए अवितथभाषी बन जाती है। ऐसी आत्मा, जो कुछ भी कथन करती है वह निःशंक सत्य होता है। महाप्रभु महावीर ने भी ऐसी ही वीतराग दशा को प्राप्त करके सर्वजनहिताय, सर्वजनसुखाववोधाय विश्व के समस्त प्राणियों के हित एवं कल्याण के लिए देशना प्रदान की थी। वह देशना निश्चय ही भव्य आत्माओं के लिए हितप्रद एवं कल्याणप्रद सिद्ध हुई और है।

द्वादशांगी और आत्मा की शाश्वतता

महाप्रभु की वह देशना द्वादशांगी के नाम से अभिसंज्ञित हुई है, वैसे द्वादशांगी का प्रवाह अनादिकाल से चला आ रहा है। समवायांग एवं नन्दी सूत्र में स्पष्ट कहा है – 'यह द्वादशांगी अतीत

में नहीं थी, ऐसी बात नहीं है, वर्तमान में भी नहीं है, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। अनागत में भी नहीं रहेगी, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। अतीत में थी, अनागत में रहेगी और वर्तमान में है। ध्रुव, शाश्वत अक्षय, अव्याबाध, अवस्थित, नित्य है।

इच्चेइअं दुवालसंगं गणिपिडगं न कयाइ
नासी, न कयाइ न भवइ, न कयाइ न भविस्सइ
भुविं च, भवइ अ भविस्सइ अ, धुवे निअए
सासए अक्खए, अव्वए, अवट्ठिए, निच्चे

—नन्दी सूत्र

द्वादशांगी गणिपिटक की शाश्वतता, उपर्युक्त वाक्यों से स्पष्ट हो जाती है। मुक्ति एवं अनुभूति के दौरान भी चिन्तन किया जाय तो भी गणिपिटक की अनादिता में कहीं भी सन्देह का अवकाश नहीं रह जाता।

द्वादशांगी का मूलाधार अहिंसा है। प्रश्न व्याकरण सूत्र में यह बात स्पष्ट कर दी गई है कि सम्पूर्ण जगत् की रक्षा के लिए प्रभु ने प्रवचन प्रवेदित किया है। अहिंसा के अन्तर्गत ही सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह भी परिगणित कर लिए जाते हैं।

इन मूलभूत सिद्धांतों की नींव पर ही द्वादशांगी का महल टिका हुआ है। एक तरीके से कहा जाय तो द्वादशांगी का महल ही ये अहिंसा आदि है। जिस प्रकार आत्मा का गुण चैतन्य है, जो कि आत्मा से कभी भी अलग नहीं रहता। यदि चैतन्य गुण का आत्मारूपी गुणी से एक क्षण के लिए भी वियोग हो जाय तो आत्मा जीव से अजीव हो जाएगी। लेकिन ऐसा कभी संभव नहीं है। ठीक इसी प्रकार आत्मा के अहिंसा आदि भी अभिन्न गुण है। अहिंसा का अर्थ जीवों की हिंसा नहीं करना रूप निषेध परक ही नहीं है, अपितु जीवों की रक्षा करना रूप विधेय परक भी है। तभी अहिंसा की परिपूर्ण सार्थकता सिद्ध होगी। यह अहिंसा आत्मा के साथ अभिन्नता से संबद्ध है, इसीलिए सभी आत्माएं रक्षण चाहती है। अतः स्पष्ट है कि गुणी आत्मा अनादिकालीन शाश्वत है तो उसके गुण चैतन्य की तरह अहिंसादि भी अनादिकालीन शाश्वत है और वे जिस द्वादशांगी में रहे हुए हैं, वह द्वादशांगी भी अनादिकालीन शाश्वत है।

उपर्युक्त दृष्टिकोण से द्वादशांगी की अनादिकालीन एवं शाश्वतता स्पष्ट हो जाने पर भी जो पूर्व में यह कहा गया कि महाप्रभु ने जो देशना दी, वह द्वादशांगी के रूप में अभिगुंफित हुई। जैसा कि भगवती सूत्र के मूलपाठ में भी महाप्रभु के विशेषणों में एक विशेषण यह भी दिया गया है कि आदगराण–धर्मतीर्थ की आदि करने वाले। इससे यह शंका होना सहज-स्वाभाविक है कि जब धर्मतीर्थ की आदि करने वाले महाप्रभु महावीर हैं तो फिर द्वादशांगी को अनादिकालीन कैसे बतलाया जाता है?

शंका का समाधान पाने के लिए निम्न दृष्टिकोण से चिन्तन अपेक्षित है–जितने भी तीर्थंकर होते हैं, वे किसी का भी उपदेश श्रवण करके दीक्षित नहीं होते, वे किसी से भी ज्ञान प्राप्त नहीं करते। किन्तु सभी तीर्थंकर स्वतः दीक्षित होकर साधना की गहराइयों में उतरकर अन्तश्चेतना से ज्ञान का विशिष्ट स्वरूप उजागर करते हैं। तदनन्तर उन्हे लोकालोक प्रभासक केवल ज्ञान–केवल दर्शन से जो ज्ञात एवं दृष्ट होता है, उसी का कुछ कथन वे अपनी वाचा से करते हैं। अतः स्पष्ट है कि कोई भी तीर्थंकर परंपरा का अनुसरण नहीं करते, किसी एक बनी बनाई लकीर पर नहीं चलते अपितु वे खुद परंपरा बनाते हैं, लकीर तैयार करते हैं। इस दृष्टि से सभी तीर्थंकर धर्म के आद्य प्रवर्तक कहे जा सकते हैं। लेकिन सभी तीर्थंकर द्वादशांगी का मूलतः कथन एक ही समान करते हैं। उनके विवेचन में मौलिक रूप से कोई भेद नहीं आता। देश काल आदि से समझाइस में अन्तर आ सकता है, किन्तु वस्तु तत्व के कथन में काई अन्तर नही आता। क्योंकि सभी तीर्थंकरों का ज्ञान एक समान होता है। ज्ञान की दृष्टि से उनमें अंशतः भी अन्तर नही पड़ता। जितना ज्ञान महाप्रभु ऋषभदेव को था, उतना ही महाप्रभु महावीर को भी और उतना ही अतीत में हुए सभी तीर्थंकरों को भी। जब ज्ञान उनका एक समान होता है तथा वीतराग दशा प्राप्त होने से वे अवितथभाषी होते हैं, तब उनके कहने में कभी विभेद आ ही नहीं सकता। जिस प्रकार प्यास लगने पर हर व्यक्ति पानी चाहता है। यह प्यास उसके भीतर से उठती है, वह किसी व्यक्ति के देखादेखी यह नहीं चाहता है, बल्कि भीतर की प्यास से पानी चाहता है। जैसे सभी तृषितों की पानी की चाह एकसमान होगी। यदि दिवाल का रंग सफेद है तो देखने वाले सभी स्वस्थ दृष्टा उसे श्वेत ही कहेगे। सूर्य प्रकाश देता है तो देखने वाले सभी स्वस्थ मानव उसे प्रकाशप्रदाता ही कहेंगे, अन्धकार देने वाला नहीं। यह सब उनका कथन किसी का अनुसरण नहीं, अपितु अनुभूतिपरक होता है। ठीक उसी प्रकार इनसे भी बढ़कर जिन आत्माओं ने राग-द्वेष क्षय करके विशिष्ट ज्ञान प्राप्त कर लिया है, वे भी जीवादिक तत्वों का कथन, एक समान ही करेंगे, उनके कथन में मौलिक कोई अन्तर आने वाला नहीं है। अतः जिस द्वादशांगी का कथन महाप्रभु महावीर ने किया है, उसी का कथन पूर्ववर्ती तीर्थंकर भगवंतो ने भी किया था. इसी प्रकार अतीत में हुए अनन्त तीर्थंकरों ने भी उसी मौलिक रूप में द्वादशांगी का कथन किया। इस प्रवाह की दृष्टि से द्वादशांगी की, अनादिता एवं शाश्वतता जानी जा सकती है।

महाप्रभु महावीर ने जो देशना प्रवाहित की, वही वर्तमान में भी अनवरत रूप में प्रवाहित हो रही है, जिस प्रकार मूलवैदिक शास्त्रों को वेद, बौद्धशास्त्रों को 'पिटक' कहा जाता है, उसी प्रकार जैन शास्त्र, द्वादशांगी को अंग, श्रुत, आगम या गणिपिटक कहा जाता है, सूत्र, ग्रन्थ, सिद्धान्त, प्रवचन, आज्ञा, वचन, उपदेश, प्रज्ञापना, आगम[1], आप्तवचन, ऐतिह्य, आम्नाय और जिन वचन, श्रुत ये सभी आगम के ही पर्यायवाची शब्द है।[2]

---

१. सुयसुत्तग्रन्थसिद्धंतपवयणे आणवयण उवएसपण्णवण आगमेया एगट्ठा पज्जवा सुत्ते–अनुयोगद्वार ४

—विशेषावश्यकभाष्य ८/९५

२. तत्वार्थभाष्य १–२०

द्वादशांगी के इन बारह ही अंगों को यथायोग्य समझाने के लिए एक श्रुत पुरुष की कल्पना की गई है। पुरुष के शरीर में जिस प्रकार बारह अंग होते हैं—दो पैर, दो जंघाएं, दो उरु, दो गात्र (उदर और पीठ), दो भुजाएं, गर्दन और सिर, उसी प्रकार श्रुत पुरुष के भी बारह अंग होते हैं।[1]

इन बारह ही अंगों में भव्य आत्माओं के हित एवं कल्याण के लिए सारभूत सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है।

उस समय के नरपुंगवों की प्रतिभा इतनी प्रखर थी कि महाप्रभु जिस रूप में फरमाते, वे महापुरुष उसे उसी रूप में यथावत् ग्रहण कर लेते थे। अतः शाश्वत शांति के सच्चे जिज्ञासु के लिए महाप्रभु द्वारा प्रवाहित द्वादशांगी की धारा में यथा उपलब्ध अंगों का यथाशक्य सम्यक् बोध प्राप्त करना अभिप्रेत है।

आगमों का लेखनकाल एवं वाचनाएं

प्रस्तुत प्रतिपाद्य विषय व्याख्याप्रज्ञप्ति के विषय में कुछ विचार करने के पूर्व यह भी जान लेना आवश्यक है कि आगमों का लेखन कार्य कब से प्रारम्भ हुआ।

आगम लेखन कार्य की प्रादुर्भूति जानने से पूर्व महाप्रभु के निर्वाण के बाद द्वादशांगी वाचनाएं कितनी हुई और कब हुई यह भी जान लेना आवश्यक है।

प्रथम वाचना

आगमों की प्रथम वाचना वीर निर्वाण १६० वर्ष पश्चात् हुई थी। जब पाटलीपुत्र में द्वादश-वर्षीय भीषण दुष्काल पड़ा। जिसके कारण श्रमण संघ की अनवरत धारा में विक्षेप आ गया था। अनेक बहुश्रुतधर श्रमण, काल धर्म को प्राप्त हो गए थे। इनके अतिरिक्त भी अन्य अनेक बाधाएं यथावस्थित सूत्र परावर्तन में आई थीं। द्वादशवर्षीय दुर्भिक्ष की समाप्ति के अनन्तर अनेक आगमज्ञ आचार्य, पाटलिपुत्र में एकत्रित हुए। ग्यारह अंगों का व्यवस्थित रूप से संकलन किया गया। किन्तु बारहवें अंग दृष्टिवाद का संकलन नहीं हो सका। क्योंकि दृष्टिवाद के एकमात्र ज्ञाता आचार्य भद्रबाहु उस समय नेपाल में महाप्राण ध्यान की साधना में तन्मय थे। संघ की प्रार्थना पर स्थूलिभद्र अनगार ने दस पूर्व तक अध्ययन भी कर लिया। ग्यारहवें पूर्व की वाचना चल रही थी। इसी बीच स्थूलिभद्र अनगार ने लब्धि प्रयोग कर अपनी संसार पक्षीय बहिन साध्वियों को सिंह का रूप बनाकर

---

१. पायदुगं जंघा उरू, गायदुगद्धं तु दोय बाहू य
गीवा सिरं च पुरिसो बारस अंगो सुयविसिट्ठो

कृत कर दिया।[1] परिणाम स्वरूप आचार्य भद्रबाहु ने उन्हें आगे वाचना देना बन्द कर दिया। लिभद्र अनगार के अत्यन्त अनुनय-विनय करने पर आचार्य भद्रबाहु ने चार पूर्वों की मूल २ ही चना दी, अर्थ नहीं बतलाया। अतः शाब्दिक दृष्टि से तो स्थूलिभद्र अनगार चौदह पूर्वों के और र्थ की दृष्टि से १० पूर्वों के ज्ञाता बने। चार पूर्व का अर्थतः विच्छेद यहीं से हो गया। प्रथम आगम वाचना में नेतृत्व किसका था ? इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता, तथापि स्थूलिभद्र अनगार के नेतृत्व की संभावना व्यक्त की जाती है।[2]

द्वितीय वाचना

द्वितीय वाचना का समय ईस्वी पूर्व द्वितीय शताब्दी के मध्य बतलाया जाता है। सम्राट् वेल की 'हाथी गुफा' अभिलेख से यह प्रमाणित होता है कि उन्होंने उडीसा के कुमारी पर्वतवर ण संघ को आमन्त्रित कर मौर्यकाल में जो अंग विस्मृत हो गए थे, उनको व्यवस्थित करवाया। ऐसा वंत थेरावली में भी उल्लेख मिलता है कि महाराजा खारवेल ने प्रवचन उद्धार करवाया था।[1]

तृतीय वाचना

पाटलीपुत्र वाचना के अनन्तर वीर निर्वाण के ८२७ से ८४० के बीच पुनः आर्य स्कन्दिल के नेतृत्व में आगम वाचना हुई। यह वाचना, मथुरा में सम्पन्न हुई थी, इसलिए माथुरी वाचना के नाम से अभिसंज्ञित हुई। इस वाचना का कारण भी द्वादश वर्षीय दुर्भिक्ष बतलाया जाता है। दुर्भिक्ष के कारण ग्रहण, गुणन एवं अनुपेक्षा के अभाव से आगम विलुप्त हो रही थी। तब मथुरा में एकत्रित होक श्रमण-समूह ने कालिकश्रुत को पुनः व्यवस्थित किया।

तुर्थ वाचना

माथुरी वाचना के समय में ही वल्लभी में भी दूसरी वाचना सम्पन्न हुई थी। यहां पर अ नागार्जुन के नेतृत्व में श्रमण संघ को एकत्रित करके आगमों को व्यवस्थित करने का प्रयास किया इसके प्रमुख आचार्य नागार्जुन थे, अतः इसे नागार्जुनीय वाचना भी कहते हैं। नन्दी सूत्र की चूर्णि वृत्ति में यह बतलाया गया है कि दुर्भिक्ष के कारण किंचित्मात्र भी श्रुत ज्ञान विनष्ट नहीं हुआ केवल आर्यस्कन्दिल को छोड़कर शेष अनुयोगधर मुनि स्वर्गवासी हो चुके थे। एत

---

१. तेण चितियं भगणीणं इड्ढि दरिसेति त्ति सीहरूवं विउव्वइ—आवश्यक वृत्ति पृष्ठ ६९८।

२. जैनागम दिग्दर्शन—पृष्ठ ३२।

१. जैन साहित्य का बृहद् भाग—पृ. ८२

जैन आगम साहित्य मनन और मीमांसा

स्कन्दिल ने पुनः अनुयोग का प्रवर्तन किया, जिससे प्रस्तुत वाचना को माथुरी वाचना कहा गया और संपूर्ण अनुयोग स्कन्दिल संबन्धी माना गया।[1]

यहां प्रश्न यह उपस्थित हो सकता है कि एक समय में दो वाचनाएं क्यों संपन्न हुई? इसके कई कारण बतलाए गए हैं। यथा उत्तर भारत और पश्चिम भारत के श्रमण संघ में शायद किन्हीं कारणों से मतैक्य नहीं हो सका इसलिए वल्लभी मे सम्मिलित होने वाले मुनि मथुरा में सम्मिलित नहीं हुए हों। उनका उस (मथुरा में आयोजित) वाचना को समर्थन न रहा हो। यह भी संभव है कि मथुरा में होने वाली वाचना की गतिविधि, कार्यक्रम पद्धति तथा नेतृत्व आदि से पश्चिम का श्रमण संघ सहमत न रहा हो। ऐसा भी हो सकता है कि माथुरी वाचना के समाप्त हो जाने के पश्चात यह वाचना आयोजित की गयी हो, माथुरी वाचना में हुआ कार्य, पश्चिम के श्रमण संघ को पूर्ण संतोषजनक न लगा हो, अतः आगम एवं तदुपजीवी वाङ्मय का उत्कृष्ट संकलन तथा संपादन करने का विशेष उत्साह, उनमे रहा हो और उन्होंने इस वाचना की आयोजना की हो। फलतः इसमें कालिक श्रुत के अतिरिक्त अनेक प्रकीर्णक ग्रंथ भी संकलित किये गये। विस्तृत पाठवाले स्थलों को अर्थसंगतिपूर्वक व्यवस्थित किया गया।[2]

पंचम वाचना

वीर निर्वाण की दसवीं शताब्दी में देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के नेतृत्व में वल्लभी में यह वाचना सम्पन्न हुई थी। देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण ग्यारह अंग और एक पूर्व से भी अधिक के ज्ञाता थे। इस वाचना में पूर्व की माथुरी और वल्लभी वाचना का समन्वय करने का भी प्रयास किया गया। जिन विषयों में मतभेद की अधिकता थी, उनमें माथुरी वाचना को मूल में स्थान देकर वल्लभी वाचना को पाठान्तर में स्थान दिया गया। इसके अतिरिक्त शास्त्रो को पुस्तकारूढ़ करते समय बार बार आने वाले पाठों का 'जाव' शब्द से तथा अन्य शास्त्रों के संकेत से संकोच भी कर दिया गया। साथ ही महाप्रभु महावीर की पश्चात्वर्ती आवश्यक घटनाओ का संकलन भी कर दिया गया।

आगम लेखन का काल

चौदह पूर्वों का लेखन तो हुआ ही नही था। क्योंकि पूर्वों के लिये स्याही की पमा को देखते हुए इसका लेखन संभव भी नहीं था। पूर्वों का विच्छेद क्रम स्थूलिभद्र अनगार से लेकर देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण तक चलता रहा है। देवर्द्धिगणि क्षमा श्रमण एक पूर्व से कुछ अधिक श्रुत के ज्ञाता थे। आगमों का लेखन कार्य देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के काल से ही माना जाता है। अर्थात् आगमों का लेखन समय भगवान् महावीर के निर्वाण की नौवीं शताब्दी का अन्तिम समय माना जाता है।

१. नन्दी सूत्र चूर्णि पृष्ठ ८, जैन आगम साहित्य : मनन और मीमांसा
२. जैनागम दिग्दर्शन पृष्ठ ३५

अस्तु, उपर्युक्त चिन्तन से यह तो सुस्पष्ट हो जाता है कि वर्तमान में विद्यमान एकादशांग सर्वज्ञ–सर्वदृष्टा वीतराग देव के द्वारा प्ररूपित होने से सर्वथा सत्य है, इसमें कहीं पर भी शंका का अवकाश ही नही है। इन ग्यारह अंगों मे प्रतिपादित तत्वों का ज्ञेय–हेय–उपादेय की दृष्टि से विभागीकरण कर भव्यात्माओं के लिये उपादेय तत्व सर्वथा ग्राह्य सिद्ध होता है। शाश्वत शांति एवं परमात्मस्वरूप को अभिव्यक्ति के लिए वीतराग प्रणीत सिद्धान्तों का जीवन में उतारना नितान्त अपेक्षित है। हमारे असीम पुण्योदय का प्रसंग है कि आज भी पर्याप्त मात्रा में वीतराग वाणी लब्ध है।

नामकरण

ग्यारह अंगों में से प्रस्तुत शास्त्र पंचम अंग–व्याख्या प्रज्ञप्ति (भगवती सूत्र) प्रश्नोत्तर एवं व्याख्यात्मक शैली में लिखा होने से प्रस्तुत आगम को व्याख्या प्रज्ञप्ति सूत्र कहा जाता है। इसका प्राकृत नाम वियाहपण्णत्ति सूत्र भी है। प्रतिलिपिकारों ने इसका नाम विवाह पण्णति और वियाहपण्णति भी किया है।[1] विवाह पण्णत्ति से तात्पर्य, जिसमें विविध प्रवाहों की प्रज्ञापना आ गई है। अथवा जब विवाद से वि–बाधा अर्थ लेने पर यह अर्थ होगा कि निर्बाध रूप से या प्रमाण से अबाधित निरूपण किया गया है। टीकाकार अभयदेव सूरि ने विवाह पण्णत्ति का अर्थ करते हुए बतलाया है कि महाप्रभु महावीर ने अपने परम विनीत गौतमादि शिष्यों के प्रति प्रश्नोत्तर की शैली से जो विविध विषयों का विवेचन किया है, वह सुधर्मा स्वामी द्वारा अपने शिष्य जम्बू स्वामी के लिए प्रवेचित किया गया था। जिसमें विशद विवेचन होने से इसका नाम व्याख्या प्रज्ञप्ति है।[2] कहीं व्याख्या प्रज्ञप्ति में ३६ हजार प्रश्नों का व्याकरण बनाया गया है।[3] तो कहीं पर ६० हजार प्रश्नों का व्याकरण बतलाया गया है।[4] प्रस्तुत आगम में सभी प्रकार की सामान्य और विशिष्ट चर्चाओं का लगभग समावेश होने से व्याख्या प्रज्ञप्ति नाम के पूर्व भगवती विशेषण भी लगाया जाने लगा। तदनन्तर भगवती शब्द का इतना अधिक प्रचलन हुआ कि वह विशेषण न रहकर प्रस्तुत शास्त्र का संज्ञावाचक बन गया।

वर्तमान में तो व्याख्या प्रज्ञप्ति की अपेक्षा से अधिक भगवती नाम प्रचलित हो गया है। व्याख्या प्रज्ञप्ति शब्द की संस्कृत छाया बारह प्रकार की होती है— १. व्याख्या प्रज्ञप्ति, २. व्याख्या प्रज्ञाप्ति, ३. व्याख्या प्रज्ञाप्ति, ४. विवाद प्रज्ञप्ति, ५. विवाद प्रज्ञाप्ति, ६. विवाद प्रज्ञाप्ति, ७. विवाध प्रज्ञप्ति,

---

१. जैन आगम साहित्य : मनन और मीमांसा पृ ११२

२. वि–विविधा, आ अभिविधिना, ख्या ख्यानानि भगवतो महावीरस्य गौतमादीन् विनेयान् प्रतिप्रश्नित पदार्थ प्रतिपादनानि व्याख्या : ताः प्रज्ञाप्यन्ते-भगवतः सुधर्मस्वामिना जम्बूनामानमभि यस्याम्–व्याख्या प्रज्ञप्ति वृत्ति २

३. समवायांग सूत्र १३, नन्दीसू ८५

४. तत्वार्थवार्तिक–२०, षट्खण्डागम–पृष्ठ १०

९) विवाघ प्रज्ञाप्ति, ९) विवाध प्रज्ञात्ति, १०) विगाह प्रज्ञप्ति, ११) विगाह प्रज्ञाप्ति, १२) विगाह प्रज्ञात्ति।[1]

आगम की भाषा शैली

प्रस्तुत आगम की भाषा अर्धमागधी प्राकृत हैं। पर कहीं कहीं शौरसेनी भाषा के शब्दों का प्रयोग एवं देशी शब्दों का प्रयोग भी परिलक्षित होता है। प्रस्तुत शास्त्र की भाषा आचारांग आदि शास्त्रों की तरह कठिन, दुर्बोधगम्य न होकर सरल-सरस एवं सुबोधगम्य रही है। अनेक प्रकरण तो कथा की शैली में स्पष्ट किये हैं, ताकि सामान्यजन सरलता से बोध प्राप्त कर सके। प्रस्तुत आगम की रचना लगभग गद्यात्मक रूप से की गई है। कहीं कहीं प्रतिपाद्य विषयों का संकलन करने के लिये संग्रहणी गाथाओं के रूप में पद्यात्मक रूप से प्रणयन हुआ है। प्रस्तुत आगम की रचना प्रायः प्रश्नोत्तर शैली में हुई है। कहीं कहीं बिना प्रश्नोत्तर के कथा की शैली में भी प्रतिपाद्य विषय स्पष्ट किया गया है। वास्तव में यह आगम सभी प्रकार के जिज्ञासुओं के लिए उपयोगी है।

प्रस्तुत आगम में मंगलाचरण

सभी आगमों में प्रारम्भ-मध्य एवं अवसान में मंगलाचरण देखने को नहीं मिलता। किन्तु व्याख्या प्रज्ञप्ति सूत्र में एक दो स्थान पर ही नही वरन् अनेक स्थानों पर मंगलाचरण, परिवार मूलपाठ देखने को मिलते है। सर्वप्रथम शास्त्र का प्रारम्भ ही सभी पापों का विनाश करने वाला सभी मंगलों में सर्वश्रेष्ठ मंगल-नमस्कार महामन्त्र के साथ प्रारम्भ किया गया है। तदनन्तर "नमो बंभीए लिवीए" "नमासुयस्स" के रूप में मंगलाचरण की स्थिति आई है। तदनन्तर पदरहवें, सत्तरहवें, तेइसवें, छब्बीसवें, शतक के प्रारम्भ में "नमो सुयदेवयाए भगवइए" शब्द से मंगलाचरण की स्थिति सामने आती है।

सर्वाधिक विषय व्याख्या प्रज्ञप्ति में

जैनागमों को चार अनुयोग में भी विभाजित किया गया है। वे चार अनुयोग हैं—१. द्रव्यानुयोग, २. गणितानुयोग, ३. धर्मकथानुयोग और ४. चरणकरणानुयोग। किसी शास्त्र में किसी अनुयोग की प्रधानता है तो किसी शास्त्र में किसी अनुयोग की। पर प्रस्तुत व्याख्या प्रज्ञप्ति सूत्र में चारों ही अनुयोगों से संबन्धित वर्णन मिलता है। अन्य आगमों की अपेक्षा से भी प्रस्तुत आगम सर्वाधिक विशाल है। जितनी व्यापक विवेचना, अत्यन्त ही सरल-सरस व रोचक तरीके से व्याख्या प्रज्ञप्ति सूत्र में की गई है, वैसी विवेचना अन्य आगमों में विरल ही देखने को मिलती है। समवायांग सूत्र में

[1] भगवती सूत्र : घासीलालजी म. पृ. ३६.

बतलाया गया है कि व्याख्या प्रज्ञप्ति क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा है कि व्याख्या प्रज्ञप्ति में स्वसमय, परसमय एवं स्व-परसमय का कथन किया गया है। जीव, अजीव और जीवाजीव का कथन किया गया है। लोक-अलोक और लोकालोक का कथन किया गया है। व्याख्या प्रज्ञप्ति में नाना प्रकार के देवों, नरेन्द्रों, राजर्षियों और अनेक प्रकार के संशयों में पड़े हुए जनों द्वारा पूछे गए प्रश्नों का और जिनेन्द्रदेव के द्वारा भाषित उत्तरों का वर्णन किया गया है। द्रव्य गुण, क्षेत्र, काल, पर्याय, प्रदेश-परिमाण, यथावस्थित भाव, अनुगम, निक्षेप, नय, प्रमाण सुनिपुण-उपक्रमों के विविध प्रकारों के द्वारा प्रकट रूप से प्रकाशित करने वाले, लोकालोक के प्रकाशक, विस्तृत संसार समुद्र से पार उतरने में समर्थ, इन्द्रों द्वारा पूजित, भव्य जनों के अथवा भव्यजनपदों के हृदयों को अभिनन्दित करने वाले, तमोरज का विध्वंसन करने वाले, सुदृष्ट (सुनिर्णित) दीपक स्वरूप, ईहा, मति और बुद्धि को बढ़ाने वाले ऐसे अन्यून (पूरे) छत्तीस हजार व्याकरणों (प्रश्नों के उत्तरों) को दिखाने से यह व्याख्या प्रज्ञप्ति सूत्र अनेक प्रकारों का प्रकाश है, विषयों का हितकारक है और महान गुणों से परिपूर्ण है।[1]

आचार्य वीरसेन के कथनानुसार व्याख्या प्रज्ञप्ति में प्रश्नोत्तरों के वर्णन के साथ ही साथ ९६ हजार छिन्नछेदनयों से ज्ञापनीय शुभ और अशुभ का वर्णन भी मिलता है।[2]

व्याख्या प्रज्ञप्ति सूत्र में वाचना अनुयोग द्वार आदि कितने हैं ? इसको नन्दी सूत्र में इस प्रकार बतलाया है—

व्याख्या प्रज्ञप्ति में परिमित वाचनाएं हैं। संख्यात अनुयोग द्वार हैं, संख्यात वेढ-श्लोक विशेष, संख्यात निर्युक्तियां, संख्यात संग्रहणियां और संख्यात प्रतिपत्तियां हैं।

अंग अर्थ से यह व्याख्या प्रज्ञप्ति पांचवा अंग है। एक श्रुतस्कन्ध, और एक सौ एक इसके अध्ययन हैं। इसके दस हजार उद्देश, दस हजार समुद्देश, छत्तीस हजार प्रश्नोत्तर और दो लाख अट्ठासी हजार पदाग्र परिमाण है। संख्यात अक्षर अनन्तगम और अनन्त पर्याय है। परिमित त्रस, अनन्तस्थावर, शाश्वतकृत निबद्ध - निकाचित जिन प्रज्ञप्त भावों का कथन, प्रज्ञापन, प्ररूपण, दर्शन, निदर्शन और उपदर्शन किया गया है।[1]

---

१. से किं तं विवाहे ? विवाहेणं ससमया विआहिज्जंति, परसमया विआहिज्जंति, ससमय परसमय - विआहिज्जंति, जीवा विआहिज्जंति, अजीवा विआहिज्जंति, जीवाजीवा विआहिज्जंति, लोगे विआहिज्जइ, अलोए विआहिज्जइ, लोगालोगे विआहिज्जइ, विवाहेणं नाणाविहसुर - नरिंद - रायरिसि - विविह संसइअ - पुच्छिआणं जिणेण वित्थरेण भासियाणं दव्व-गुण खेत्त - काल - पज्जव - पदेस - परिणाम - जहत्थियभाव - अणुगम - निक्खेव - नयप्पमाण - सुनिउणोवक्कम विविहप्पकार - पगडपयासियाणं लोगालोग पयासियाणं संसार समुद्दरुंद उत्तरण समत्थाणं सुरवइसंपूजियाणं भवियजण - पयहियय।भिनंदियाणं तमरय - विद्धंसणाणं सुदिट्ठ दीवभूय ईहामति - बुद्धि वोद्धणाणं छत्तीससहस्समणूणयाणं वागरणानिदंसणाओ सुयत्थबहुविअप्पगारासीगहियत्था सगुणमहत्था - समवायांग सूत्र।

२. कषायपाहुड भाग – पृष्ट १२५।

१. विवाहस्सणं परित्ता वायणा, संखिज्ज अणुओगदारा, संखिज्जः वेढा, संखिज्जा सिलोगा, संखिज्जओ णिज्जुत्तीः

व्याख्या प्रज्ञप्ति के अध्ययनों को शतक के नाम से अभिसंज्ञित किया गया है। इनके १३८ शतक और १९२५ उद्देशक प्राप्त होते हैं। प्रथम के बत्तीस शतकपूर्ण स्वतंत्र हैं। ३३ से ३९ तक के सात शतक १२-१२ शतकों के समवाय हैं। चालीसवां शतक २१ शतकों का समवाय है। इकतालीसवां शतक स्वतन्त्र है। ३३ से ३९ शतक तक जो सात शतक हैं, उन सात शतकों की परिगणना १०५ अवान्तर शतकों के रूप में की गई है। इस प्रकार अवान्तर शतकरहित ३३ शतक और १०५ अवान्तर शतक वाले आठ शतकों को मिलाकर कुल १२८ शतक हो जाते हैं। इकतालीस मुख्य तथा शेष अवान्तर शतक हैं।[२]

वाचना अनुयोग द्वार वेढा शब्दों की परिभाषा निम्न प्रकार से हैं।

वाचना : अथ से लेकर इति पर्यन्त जितनी बार शिष्य को पाठ दिया जाता है, और लिया जाता है, उसे वाचना कहते हैं। व्याख्या प्रज्ञप्ति में संख्यात वाचनाएं हैं।

अनुयोगद्वार—जिन पर उपक्रम निक्षेप, अनुगम और नय ये चारों अनुयोग घटित होते हैं। ऐसे पदों को अनुयोगद्वार पद कहा जाता हैं। भगवती सूत्र में ऐसे अनुयोग द्वार संख्यात बतलाए हैं। अनुयोग द्वार से तात्पर्य यहां व्याख्यान लिया गया है। जैसे सूत्र का संबन्ध अर्थ के साथ करना। क्योंकि सूत्र अल्पाक्षर वाला होता है अर्थ महान दोनों के संबन्ध का जोड़ने वाला अनुयोग द्वार है।[१]

वेढा—वेष्टक-किसी एक विषय को प्रतिपादित करने वाले जितने भी वाक्य होते हैं, उन्हें वेष्टक या वेढ कहते हैं। अथवा आर्या उपगीति आदि छन्द विशेष को भी वेढ कहते हैं। वे भी संख्यात ही है।

श्लोक—अनुष्टुपादि छंदों को श्लोक कहते हैं। निर्युक्ति—जो युक्ति निश्चयपूर्वक अर्थ का प्रतिपादन कराती है, उसे निर्युक्ति कहते हैं।

प्रतिपत्ति –द्रव्यादि पदार्थों की मान्यता का अथवा प्रतिमादि अभिग्रह विशेष का जिसमें वर्णन मिलता हो, उसे प्रतिपत्ति कहते हैं।

संखिज्जाओ संगहणीओ, संखिज्जाओ पडिवत्तीओ।
से णं अंगट्ठयाए पंचमे अंगे. एगे सुयक्खंधे। एगे साइरेगे अज्झयणसए, दसउद्देसगसहस्साइं दससमुद्देसगसहस्साइं छत्तीसं वागरणसहस्साइं, दो लक्खा, अट्ठासीइं पयसहस्साइं पयग्गेणं, संखिज्जा अक्खरा, अणंता-गमा, अणंता-पज्जवा, परित्ता-तसा, अणंत-थावरा, सासयकडनिबद्धनिकाइया जिणपण्णत्ता भावा आघविज्जंति पन्नविज्जंति, परूविज्जंति, दंसिज्जंति निदंसिज्जंति, उवदंसिज्जंति—नंदीसूत्र।

२ जैन आगमसाहित्य, मनन और मीमांसा पृष्ठ ११४ पृष्ठ १२८ पर बताया है, नंदसूत्री पद में जो उद्देशकों की संख्या १९२५ बताई गई है। उसका आधार अन्वेषणा करने पर भी प्राप्त नहीं होता, कितनी ही प्रतियों में उद्देशगाण, इतना ही पाठ प्राप्त होता है, संख्या का निर्देश नहीं किया गया है।

१. नंदी सूत्र—आत्मारामजी म. सा. पृष्ठ २१५।

उद्देशकाल—जब कोई शिष्य गुरु से पूछता है कि भगवन् ! मैं कौनसे शास्त्र का अध्ययन करूं, तब गुरुदेव फरमावे कि आचारांग व सूत्रकृतांग पढ़ो, गुरुदेव की इस सामान्य आज्ञा को उद्देशन काल कहते हैं।

समुद्देशनकाल—गुरु फरमावे कि अमुक शास्त्र के अमुक अध्ययन का अमुक सूत्र पढ़ो तो इस विशेष आज्ञा को समुद्देशन काल कहते हैं।

पद—पद शब्द चार अर्थो में प्रयुक्त होता है । यथा अर्थपद, विभक्त्यन्तपद, गाथापद और समासपद । यहां अर्थ पद ग्रहण किया गया है, जिससे अर्थ की उपलब्धि हो, वह अर्थ पद है।

गम- अर्थ निकालने के अनेक मार्ग संकेत के लिए गम शब्द लिया जाता है।

उपर्युक्त प्रमाणों से यह सुस्पष्ट हो जाता है कि ग्यारह अंगों में से व्याख्या प्रज्ञप्ति अपने आपमें एक विशिष्ट स्थान रखती है। जो कि जिज्ञासुओं की विभिन्न विषयों पर विविध समुद्भूत जिज्ञासाओं का अत्यन्त सुन्दर ढंग से समाधान प्रस्तुत करती है। चाहे सरल से सरल प्रश्न हो या दुरूह से दुरूह प्रश्न हो, उनका अत्यन्त सरल समाधान व्याख्या प्रज्ञप्ति सूत्र में भगवान द्वारा प्रतिपादित किया गया है।

व्याख्या प्रज्ञप्ति सूत्र की विशालता और व्यापकता बतलाते हुए वृत्तिकार अभयदेव सूरि ने व्याख्या प्रज्ञप्ति को 'जय कुंजर' देवाधिष्ठित विजयवंत गजराज' की उपमा से उपमित किया है। जय-कुंजर के साथ में व्याख्या प्रज्ञप्ति का समायोजन इस प्रकार किया है-

जो ललित पदों की पद्धति से प्रबुद्धजनों के मन को रंजन करने वाला है, जिसके शब्द घन और उदार हैं, जो लिंग और विभक्ति से युक्त हैं, जो सदाख्यात है, सद् लक्षणों से युक्त है। देवाधिष्ठित है, जिसके उद्देशक सुवर्णमण्डित है, जिसका चरित्र विविध प्रकार का अद्भुत और श्रेष्ठ है, जो छत्तीस हजार प्रश्नात्मक सूत्र रूप शरीर से युक्त हैं। जिसके चार अनुयोग रूप चार चरण है। जिसके सम्यक् ज्ञान और चारित्ररूप नयनयुगल है। जिसके द्रव्यास्तिक पर्यायस्तिक नय रूप दो दन्तशूल है। जिसके निश्चय और व्यवहार रूप दो समुन्नत कुम्भस्थल है। जिसके योग और क्षेम रूप दो कान है। जिसके प्रस्तावना की वचन रचना रूप प्रचण्ड शूल है। जिसके निगमन-उपसंहार रूप अतुच्छ पूंछ है। जिसके कालादि अष्टप्रकार के प्रवचनोपचार रूप मनोहर चारुपरिकर तंग है। जिसके उत्सर्ग अपवाद रूप अतुच्छ दो घंटा-घोष है। जिसके यश रूप पटह ढोलकी से उत्पन्न प्रतिध्वनि में दिक्चक्रवात दिशा-मण्डलपूरित है। स्याद्वाद के विशद अंकुश से जो वशीभूत है। जो विविध हेतु रूप शस्त्र समूहों से युक्त है। जिसे महाप्रभु महावीर ने मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरमण स्वरूप शत्रुओं का नाश करवाने के लिए नियोजित किया है। जो सैन्य नियुक्त कल्पगणनायक की मति से प्रकल्पित है।[1]

---

१. भगवती सूत्र–वृत्ति अभयदेव सूरि

उपर्युक्त प्रमाणों से यह बात सुस्पष्ट हो जाती है कि व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र भव्य प्राणियों के लिए अत्यन्त उपयोगी आगम है। यदि व्याख्या प्रज्ञप्ति सूत्र के संपूर्ण पाठों का जाव वगैरह शब्दों को हटाकर समायोजन किया जाय तो यह आगम वर्तमान में उपलब्ध सभी आगमों में बृहद् रूप धारण कर सकता है। प्रस्तुत आगम में प्रज्ञापना सूत्र, जीवाभिगम सूत्र, राज प्रश्नीय सूत्र, नंदी सूत्र, जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति आदि सूत्रों का निर्देश किया गया है, वह इसलिए कि व्याख्या प्रज्ञप्ति के पाठों को संकुचित करके बतलाया है कि इस सम्बन्धित पाठ अमुक आगम में देखिये।

यहां पर एक जिज्ञासा सहज हो सकती है कि व्याख्या प्रज्ञप्ति सूत्र तो मूल अंगों में से पांचवा सूत्र है। जबकि प्रज्ञापना आदि सूत्र उपांग है। तब उपांगों का अंगों में निर्देश कैसे किया गया है? हां उपांगों में अंगों का समावेश हो सकता है, पर अंगों में उपांगों के समावेश का क्या औचित्य है?

जिज्ञासा उचित है, इसका समाधान यह है कि ऐसा लगता है कि जब देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण आदि के सान्निध्य में शास्त्रों का संकलन किया जाने लगा था, उस समय व्याख्या प्रज्ञप्ति का संकलन बहुत बाद में हुआ लगता है। अत: इससे पूर्व जो जो उपांग शास्त्रों का संकलन हुआ, उनमें व्याख्या-प्रज्ञप्ति सूत्र सम्बन्धी जो पाठ आ चुके थे, उनके लिए व्याख्या प्रज्ञप्ति सूत्र में निर्देश दे दिया गया कि वे पाठ अमुक शास्त्र में दिये जा चुके हैं। संकलन में सूत्रों का क्रमश: संकलन नहीं होने से ऐसा हुआ है। वैसे तो प्रज्ञापना आदि में जिन पाठों का संकलन हुआ है, वे व्याख्या प्रज्ञप्ति आदि मूल अंग शास्त्रों से ही लिये गए हैं। अत: व्याख्या प्रज्ञप्ति तो अपने आपमें परिपूर्ण है ही, इसी दृष्टि से यह कहना भी सर्वथा उचित है कि व्याख्या प्रज्ञप्ति के सम्पूर्ण पाठों का उसमें यथावद् संयोजन किया तो इसकी विशालता और भी अधिक बढ़ जाती है।

आगमों का अध्ययन हो सम्यक्त्व के साथ

ऐसे विशालकाय आगम पर अब तक अनेक टीकाएं टब्बा चूर्णि, अनुवाद, संपादन, व्याख्याएं आदि विभिन्न तरीकों से कार्य संपन्न हो चुके हैं, जिनमें भव्य आत्माओं ने प्रस्तुत सूत्रराज में आगत हुए वीतरागदेव के अभिप्रायों को समझाने का लाभ लिया ही है, किन्तु एक बात अवश्य विचारणीय रही है कि किन्हीं स्थलों से प्रकाशित आगमों में वीतराग देव के आशय को यथावत् रूप में न समझते हुए अपने मन कथित सिद्धान्तों का समावेश सूत्रों के नाम से अर्थात् वीतराग वाणी के नाम से समायोजित कर दिया है, जो कि कतई उपयुक्त नहीं है. ऐसा मनकल्पित समायोजन स्वयं के लिए तो उचित है ही नहीं, पर पाठक भव्यात्माओं के लिए भी मुक्ति पथ विरोधी बन जाता है। क्यों कि वीतराग देव के एक वचन पर ही अविश्वास करने पर मिथ्यात्व की स्थिति आ जाती है और जो आत्मा मिथ्यात्व की कोटि में आ जाती है, तब उसका रास्ता, मुक्तिपथ से ठीक विपरीत हो जाता है। मिथ्यात्व की अवस्था में रहकर की जाने वाली बड़ी से बड़ी साधना भी संसार घटाने वाली न होकर संसार बढ़ाने वाली होती है। वह साधना मुक्ति में न ले जाकर संसार में ले जाने वाली होती है। मात्र-मात्र समझ की

तपश्चर्याएं भी मिथ्यात्वावस्था में संसारवर्धक बन जाती हैं। अतः भव्य आत्मा को मिथ्यात्व से सदा बचते रहना चाहिए। इसके लिए वीतराग वाणी का सही ज्ञान, सही श्रद्धान होना अत्यन्त आवश्यक है। एतदर्थ आगमों का अनुवाद करने वाले एवं व्याख्याएं करने वालों को विशेष सतर्क रहना आवश्यक होता है। कहीं उत्सूत्र प्ररूपण न हो जाय। क्योंकि अध्यात्मयोगी कवि आनन्दघन जी ने स्पष्ट शब्दों में कहा हैं—

"पाप नहीं कोई उत्सूत्र भाषण जस्यो"।
धर्म नहीं कोई जिन सूत्र सरिखो॥

इसके साथ ही पाठकों को भी क्षीर–नीर विवेक बुद्धि का रखना आवश्यक है। पाठक भी वीतराग देव के अभिप्राय के अनुकूल जो हों, उसे ही ग्रहण करें अन्य को नहीं।

जिनवाणी के सुरक्षाकवच

वीतराग विरोधी सिद्धांतों का परिहार कर वीतराग अभिप्राय के अनुकूल सत्य–तथ्य सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण करने वाले समय–समय पर अनेक महान् आचार्य संत महापुरुष हुए हैं। उन सबका नामोल्लेख न करते हुए फिलहाल कुछेक महापुरुषों के विषय में संकेत कर रहा हूँ। महाप्रभु महावीर के निर्वाण के बाद आचार्य सुधर्मा स्वामी आदि ने तो श्रुत को यथावत् संरक्षित किया ही था। तदनन्तर संयमीय जीवन में बढ़ते हुए शिथिलाचार एवं सिद्धांतों से विपरीत धारणा एवं प्ररूपणाओं का प्रखर विरोध किया था– लोकाशाह ने। इसी परंपरा में आगे बढ़ने पर महान क्रियोद्धारक, संयम एवं तप की ज्वाजल्यमान मशाल, आचार्य श्री हुक्मीचन्दजी म. सा. का नाम विशेष रूप से उभरकर आता है। जिन्होंने श्रमण जीवन में बढ़ते हुए शिथिलाचार एवं जिनवाणी से विपरीत सिद्धांतों एवं धारणाओं का परिहार करने के लिए वीतराग देव के अनुकूल स्वयं के जीवन को विशेष रूप से संयमनिष्ठ बनाकर स्व की शुद्धि के साथ जनमानस के मिथ्यांधकार को दूर करने में आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त की। उन्होंने उपदेश देकर ही नहीं अपितु अपने विशुद्ध जीवन से जनमानस को प्रभावित किया था। वास्तव में जो स्वयं प्रकाशवान हैं, वही दूसरों के अन्धकार को दूर कर सकता है। आचार्य श्री ने स्वयं के जीवन एवं उपदेशों के साथ ही आगमों के प्रवाह को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए लगभग १९ आगमों का अपने हाथ से लेखन किया था। ऐसा बतलाया जाता है कि उनके द्वारा लिखे गए कुछ आगम आज भी निम्बाहेड़ा (राज.) के ग्रन्थालय में उपलब्ध हैं।

आचार्य श्री हुक्मीचंदजी म. सा. के विशुद्ध संयमीय व्यक्तित्व एवं कृतित्व से संयमीय क्रांति का शंखनाद हुआ, जिसका प्रवाह अक्षुण्ण रूप से चलता रहा है। इसी परंपरा में फिर एक के बाद एक विशिष्ट आचार्य, जिन शासन के आकाश में उभरकर आने लगे। जिन्होंने पद प्रतिष्ठा–गौरव की ही नहीं, अपने शरीर के ममत्व से भी परे हटकर सदा वीतराग वाणी एवं संयम जीवन की सुरक्षा की।

आचार्य श्री हुक्मीचंद जी म० सा० के बाद क्रमशः उद्भट विद्वान आचार्य श्री शिवलालजी म० सा० महान् क्रियावन्त आचार्य श्री चौथमलजी म० सा० एवं दुर्जय कामविजेता आचार्य श्री श्रीलालजी म० सा० ने जिन शासन की महत्ती–प्रभावना कर वीतराग वाणी की धारा को अक्षुण्ण प्रवाहित करने में अपना अभूतपूर्व योगदान दिया था।

आचार्य श्रीलाल जी म० सा० के बाद ज्योतिर्धर क्रान्तदृष्टा आचार्य श्री जवाहरलालजी म० सा०, आचार्य पद पर आसीन हुए थे। जिन्होंने शास्त्र विरुद्ध बढ़ती हुई परंपराओं एवं कुरीतियों पर अपनी संयमीय मर्यादाओं को सुरक्षित रखते हुए जोरदार प्रहार किया था। उत्सूत्र सिद्धान्तों का खण्डन करने एवं आगम सम्मत सिद्धान्तों को प्रतिष्ठापना करने के लिये शास्त्र-विवाद करके विजय प्राप्त की थी। अल्पारंभ महारंभ जैसी अनेकों पेचीदी समस्याओं का अपनी प्रखर प्रतिभा द्वारा आगम सम्मत सचोट समाधान प्रस्तुत किया था। जिनकी ख्याति जैन समाज में ही नहीं अपितु पूरे भारत में फैली थी। राष्ट्र के चोटी के नेता महात्मा गांधी, विनोबा भावे, लोकमान्य तिलक, सरदार वल्लभ भाई पटेल, पंडित श्री जवाहरलाल नेहरू आदि ने भी आप श्री के प्रवचनों का अनेकों बार लाभ उठाया था। महात्मा गांधी जी के ये स्पष्ट शब्द थे कि भारत में दो जवाहर हैं–राजनीति में पंडित जवाहरलाल नेहरू हैं, तो धर्मनीति में आचार्य श्री जवाहरलालजी म० सा० हैं।

आचार्य प्रवर की संयमीय साधना के साथ प्रखर प्रतिभा से पूरा देश प्रभावित था। आचार्य प्रवर के उपदेशों का संकलन आज भी जवाहर किरणावली के माध्यम से जन-जन को आलोकित कर रहा है। इसके अतिरिक्त सद्धर्म की स्थापना के लिए सद्धर्ममण्डन, अनुकम्पा विचार, भगवती सूत्र के प्रवचनों के छः भाग सूत्रकृतांग आदि आचार्य प्रवर के तत्वावधान में सम्पादित–अनुवादित अनेक ग्रंथों ने जनमानस को अत्यन्त प्रभावित किया है। जिन के द्वारा सद्धर्म की प्रतिष्ठापना में दिये गए प्रमाण, तर्क, युक्तियों आदि को सप्रमाण कोई भी खण्डित नहीं कर सका। प्रमाणाभाव में यद्वा–तद्वा कुछ भी लिख देना महत्वपूर्ण नहीं होता। वर्तमान में कुछ कथित विद्वान् अपनी मनोकल्पित धारणाओं को पुष्ट करने के लिये आचार्य प्रवर द्वारा वीतराग देव के सर्वथा अनुकूल प्रतिष्ठापित सिद्धान्तों का गलत प्ररूपण करने का दुस्साहस करने लगे हैं। जो कि वास्तव में आकाश में धूल उछालने के समान स्वयं के लिये ही हानिकारक है। जिन कुतर्कियों की कुतर्कों का सचोट एवं अकाट्य प्रमाण पुरस्सर समाधान प्रदान करते हैं–समता विभूति, विद्वद् शिरोमणि, जिनशासन प्रद्योतक, धर्मपालप्रतिबोधक आचार्य श्री नानालालजी म. सा. जो आचार्य श्री जवाहरलालजी म० सा० के प्रशिष्य तथा जिन्होंने संयम एवं वीतराग के सिद्धांतों की सुरक्षा के लिए सैकड़ों साधु–साध्वियों के सर्वगततानेरत उपाचार्य पद का त्याग कर संयम की सुरक्षा की थी, ऐसे शांत क्रांति के जन्मदाता सौम्यमूर्ति आचार्य श्री गणेशीलालजी म० सा० के शिष्य हैं। वर्तमान में जिनकी निष्कलंक यशोपताका दिग् दिगन्त में विस्तीर्ण हो रही है। (जिनका संक्षिप्त जीवन परिचय अलग से दिया जा रहा है) आचार्य प्रवर ने सर्वतोमुखी

विकास किया है। आचार्य प्रवर के सान्निध्य में जिन शासन की तो विशिष्ट प्रभावना हो ही रही है किन्तु इसी के साथ गुरुदेव की प्रखर प्रतिभा का लाभ भी यथाशक्य शिष्य-शिष्या वर्ग ले रहा है।

गुरुदेव के सतत सान्निध्य में बैठकर साधु-साध्वी वर्ग, शास्त्रों का अध्ययन करने के साथ ही गुरुदेव की अन्तरचेतना से प्रस्फुटित आगमों की आगम सम्मत-सर्वथा नवीन विवेचनाओं को श्रवण कर भी लाभान्वित होने लगा। उन विवेचनाओं को सभी साधु-साध्वी समुदाय के लिए उपयोगी बनाने हेतु तथा भविष्य में भी उपलब्ध हो सके, इस भावना से गुरुदेव को विनम्र निवेदन करने पर गुरुदेव ने उनका लेखन कार्य प्रारम्भ करवाया। इसी श्रृंखला में प्रस्तुत व्याख्या प्रज्ञप्ति का कार्य भी प्रारम्भ किया गया। शासन संचालन एवं साधना के अत्यन्त व्यस्त क्षणों में से भी पर्याप्त समय निकालकर गुरुदेव ने व्याख्या प्रज्ञप्ति पर आगमानुकूल व्याख्या लिखवाई। जिनका लेखन संपादन एवं मूल पाठ उसका अनुवाद, परिभाषाएं, टिप्पण पाठान्तर आदि कार्यों को सम्पन्न करने के लिए गुरुदेव ने मुझे अकिन्चन को निर्देश दिया। इस निर्देश को पाकर मैं विचार में पड़ गया कि कहां यह विशालकाय गहन-गम्भीर सूत्रराज और कहां मेरा अल्पसत्व। पर "गुरोराज्ञाऽविचारणीया" गुरु का आदेश अविचरणीय होता है। अर्थात् बिना विचारे पालन करने योग्य होता है। बस गुरुदेव के आदेश एवं शुभाशीर्वाद को पाकर अष्टमतप की आराधना के साथ कार्य प्रारम्भ कर दिया। अष्टम तप को आगे बढाकर अष्टाह्निक तप किया। शास्त्र के कार्य को भी गति दी। मध्यान्तरित अनेक विघ्न उपस्थित हुए किन्तु आचार्य भगवन् के सतत सान्निध्य से कार्य निरन्तर चलता रहा।

प्रस्तुत संस्करण की विशेषताएं

व्याख्या प्रज्ञप्ति के दो शतक में भी आचार्य भगवन् ने इस तरह से व्याख्या लिखवाई कि जैसे "पदे पदे निधानानि" महापुरुषों के पद पद पर निधान होते है, उचित है। उसी प्रकार प्रस्तुत व्याख्या में *स्थान-स्थान पर अब तक सामने आने वाले व्याख्या प्रज्ञप्ति की व्याख्या में आगम सम्मत अनेक* अभिनव विवेचनाएं देखने को मिलेगी। जिन सबका मैं यहां पर निदर्शन नहीं कर सकता। वह तो प्रस्तुत व्याख्या प्रज्ञप्ति को अवधानता के साथ जिज्ञासु भावना से पढ़ने पर ही ज्ञात हो सकता है। ज्योतिर्धर, क्रान्त दृष्टा, युगपुरुष आचार्य श्री जवाहरलाल जी म० सा० के सद्धर्ममण्डन आदि में प्रवेचित व्याख्यायित छः भागों से तथा आचार्य प्रवर द्वारा अन्य अनेक व्याख्याओं का तो पर्याप्त रूप में समावेश, प्रस्तुत में किया ही गया है।

अब तक प्रकाशित व्याख्या प्रज्ञप्ति की विवेचना, टीका, टिप्पणी आदि में कहीं कहीं कुछ अन्यथा लेखन भी पढ़ने एवं सुनने को मिला, जो कि वीतराग वाणी के अभिप्राय से प्रतिकूल चला जाता है।

तत्सम्बन्धित विषयों पर भी आचार्य देव ने यथास्थान वीतराग देव के आगमानुकूल स्पष्टीकरण करवा दिया है। उन सबका तो नहीं पर कुछेक विषयों का संकेत यहां जिज्ञासुओं की जिज्ञासा शांति के लिए किया जा रहा है—

किन्हीं किन्ही का यह अभिमत रहा है कि संयति में छहों भावलेश्याएं हो सकती है। परन्तु उनका यह मानना वीतराग वाणी के अनुकूल नहीं है। जिसका स्पष्टीकरण 'सद्धर्ममण्डन' में स्वर्गीय श्री जवाहरलालजी म. सा. ने आगमिक धरातल पर प्रामाणिक तरीके से किया है। जिसका संकेत तो प्रस्तुत व्याख्या प्रज्ञप्ति के शतक एक उद्देशक एक में कर ही दिया गया है। किन्तु बाद में अन्यों द्वारा उठाई गई समस्याओं का जो स्पष्टीकरण आचार्य प्रवर ने बहुत ही समीचीन तरीके से करवाया है। ताकि जिज्ञासुओं की आगम प्रतिकूल श्रद्धा न जमें।

कइयों की यह भी धारणा रही है कि सम्यक्त्वी वैमानिक से अतिरिक्त आयुष्य का बंधन नहीं करता जबकि यह कथन विशिष्ट क्रियावादी सम्यक्त्वी के लिए ही है। सामान्य सम्यक्त्वी के लिए नहीं। सामान्य सम्यक्त्वी वैमानिक से अतिरिक्त आयुष्य का बंधन भी कर सकता है। इस विषय का स्पष्टीकरण आगम प्रमाणों के साथ जिज्ञासुओं को स्थान स्थान पर देखने को मिलेगा। तथापि इसका विशद स्पष्टीकरण शतक एक उद्देशक दो के असंयत भव्य द्रव्य देवादि संबन्धी चर्चा में किया गया है।

शतक एक उद्देशक दो में टीकाकार ने जो वृद्ध परम्परा को लेकर वासुदेव के आयुष्य बंध की बात कही है कि उन्होंने पहले सप्तम नरक का और बाद में परिणाम विशेष से तृतीय नरक का बंध किया। उस विषय को आपेक्षिक दृष्टिकोण से आचार्य देव ने निम्न प्रकार से स्पष्ट किया है।

टीकाकार ने आयुष्य बन्ध के विषय में वृद्ध परंपरा को लक्ष्य में रखते हुए कहा है— "एवमेवं वृद्धोक्त भावना–यदा–सप्तमक्षितावायुर्बद्ध पुनश्च कालान्तरे परिणाम विशेषात्तृतीयं धरणीगोचरं निर्वर्त्तितं वासुदेवेनेव तत्तादृश अंगीकृत्योच्यते।

कृष्ण वासुदेव ने पूर्व में सप्तम नरक की आयुष्य का बन्ध कर लिया था। पश्चात् परिणाम विशेष से तृतीय नरक के आयुष्य का बंध किया। आयुष्य बन्ध के विषय में टीकाकार ने तथा पूर्व व्याख्याकारों ने जो अभिमत प्रतिपादित किया है, उसे आपेक्षिक दृष्टिकोण से समझने पर विरोधाभास की स्थिति नहीं रहती है। आत्मा प्रति समय सात–आठ कर्मों के बन्ध का प्रसंग उपस्थित करती है। सात कर्म का बन्ध तो निरन्तर करती रहती है। आयु कर्म का बन्ध निरन्तर नहीं होता, किन्तु आयु कर्म के दलिक तो प्रति समय संग्रहित होते रहते हैं। जब बन्ध का प्रसंग आता है, तब ये कर्म दलिक आयु बन्ध के रूप में आबद्ध हो जाते है।

यदि प्रति समय आयु कर्म के योग्य कर्म-वर्गणा का संचय नहीं हो तो बन्ध के समय सहसा तद्योग्य कर्म का बन्ध कैसे हो सकता है? अतः आयु कर्म के दलिक भी समय-समय पर संचित होते

रहते हैं। परन्तु बन्ध तो समय पर ही होता है। इस दृष्टि से टीकाकार के अभिप्राय को समझा जा सकता है।

टीकाकार ने जो वासुदेव के सप्तम नरक के योग्य कर्म दलिकों का आत्मा के साथ बद्ध हो जाने का उल्लेख किया है वह कथन बन्ध रूप में न लेकर दलिक संचय के रूप में लेना सिद्धान्त संगत लगता है।

चतुर्थ भक्त को लेकर के जिज्ञासुओं मे अनेक चर्चा-विचर्चा है। जिसका स्पष्टीकरण शतक एक में "असुरकुमारदेवचर्चा" नामक अध्याय मे चतुर्थ भक्त की टिप्पणी देकर किया गया है।

कइयों की ऐसी धारणा है कि पाप की तरह पुण्य भी सर्वथा हेय है। उनका कहना है कि पाप लोहे की बेड़ी है तो पुण्य सोने की बेड़ी है। किन्तु पुण्य, पाप की तरह त्याज्य नही है। इसका स्पष्टीकरण आगमिक धरातल पर सूत्र ५५ शतक एक उद्देशक चार मे "कृतकर्मभोग बिना मुक्ति नही" नामक अध्याय मे किया गया है।

प्रथम शतक के अष्टम उद्देशक के सूत्र न. १६१ में सिद्ध सवीर्य भी है और अवीर्य भी है। इसका सुन्दर स्पष्टीकरण किया गया है। द्वितीय शतक पंचम उद्देशक के सूत्र ७४ मे आए तुंगिका नगरी के श्रावकों के विशेषणो मे एक विशेषण "आयोग–पयोग संपउत्ता" भी आया है। उसका अर्थ कई व्यक्ति प्रचलित दुगुने-तिगुने ब्याज से लगाते हैं। मूल का अनुवाद करते हुए भी एक जगह ऐसा ही कर दिया गया है, जो कि वीतराग वाणी के अनुकूल नहीं है। जिससे कई लाग ऐसा कहते हुए पाए जाते हैं कि हम भी ब्याज का व्यापार करे तो क्या पाप है ? इस विषयक सयुक्ति स्पष्टीकरण किया गया है।

यह तो कुछेक विषयों का संकेत किया गया है। ऐसे अनेकानेक चर्चास्पद विषयों का सप्रमाणिक स्पष्टीकरण किया गया। इसके अतिरिक्त मूल पाठ के सर्वथा अनुकूल दार्शनिक, वैज्ञानिक, व्यावहारिक और शिक्षाप्रद विवेचन भी यथास्थान किया गया है। जिससे जिज्ञासु आगम-पठन से समुचित लाभ उठा सके। आचार्य प्रवर की यह महान् उपकृति निश्चय ही जिज्ञासुओं की जिज्ञासाओं को शांत कर मुक्ति पथ को प्रशस्त करने वाली है।

शोध करने वाले विद्यार्थियों के लिए प्रस्तुत शास्त्र उपयोगी बन सके इसके लिए मूल पाठ के साथ अब तक प्रकाशित–अप्रकाशित यथा उपलब्ध शास्त्रों के मूल पाठों मे आए पाठान्तरों का भी तत् तत् प्रतियों के निर्देश पूर्वक संयोजन किया गया है। इसी के साथ "जाव" शब्द एवं 'वण्णओ" शब्द आदि मे जो पाठ संकुचित कर दिये गये हैं उन पाठों को भी यथासंभव पूर्ण करने का प्रयास किया गया है।

पांडुलिपि तैयार करने के साथ ही पाठान्तर निकालने एवं 'जाव' 'वण्णओ' आदि से संकुचित पाठों के संकलन में अ. भा. सा. जैन संघ द्वारा संचालित आगम अहिंसा-समता एवं प्राकृत संस्थान उदयपुर में कार्यरत विद्वान श्री मानमलजी कुदाल एवं श्री विद्वान सुभाषचन्द्रजी कोठारी ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

मूलपाठ, पाठान्तर, जाव वण्णओ आदि से संकुचित पाठों की पूर्ति, मूलपाठ का अनुवाद, व्याख्याओं के लेखन संयोजन, परिभाषाओं के टिप्पण आदि कार्यों के साथ संपूर्ण ग्रन्थ के सम्पादन में मैंने अनेक अनेकानेक शास्त्रों एवं व्याख्या प्रज्ञप्ति सूत्र की प्रकाशित-अप्रकाशित प्रतियाँ एवं अन्य ग्रन्थों को सामने रख कर जिनवाणी के अनुकूल कार्य संपन्न करने का प्रयास किया है।

अनुवाद को इस तरीके से करने का प्रयास किया है कि जिससे जिज्ञासुओं को भावार्थ के साथ मूल शब्दों के अर्थ का बोध भी सहज ही हो जाय।

प्रस्तुत सूत्र विद्वद्जन, शोधार्थी एवं सामान्यजन सभी के लिए उपयोगी हो, इस बात की विशेष सावधानी रखी गई है।

आचार्य प्रवर की विवेचना तो सदा आगमानुसारी रही है। किन्तु संपादन-अनुवाद आदि करते समय सतर्कता रखते हुए भी छद्मस्थतावशात् या अनाभोग से कुछ भी जिनवाणी के प्रतिकूल बन गया हो तो मैं उसका कामी नहीं हूँ। सुज्ञों से संशोधन की अपेक्षा है।

प्रस्तुत पाठ और संपादन पद्धति—

प्रस्तुत आगम का पाठ-संशोधन आगमोदय समिति द्वारा प्रकाशित अभयदेव सूरिकृत वृत्ति को प्रमुखता देते हुए अर्थ-मीमांसा, पूर्वापर प्रसंग पूर्ववर्ती पाठ और अन्य आगम सूत्रों के पाठ तथा वृत्तिगत व्याख्या को ध्यान में रखकर निर्धारण किया है। फिर भी भाषा के आधार पर इसका प्राचीनतम पाठ निर्धारण करना अभी शेष है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के पाठान्तर निकालने में १६ हस्तलिखित प्रतियों का उपयोग, जिनके आधार पर महावीर जैन विद्यालय बम्बई द्वारा प्रकाशित तथा प. बेचरदास दोशी द्वारा संपादित एवं जैन विश्वभारती लाडनूं द्वारा प्रकाशित और मुनि नथमलजी (युवाचार्य-महाप्रज्ञ) द्वारा संपादित प्रतियों का आधार मानकर किया है। इन ग्रन्थों के जिन पाठान्तरों को उचित समझा है उन्हें ग्रहण किया है। सभी पाठान्तरों को नहीं। इसमें उन्हीं संकेतों को ग्रहण किया है जो उन संपादकों ने अपनाये हैं। पाठान्तर में ६ मुद्रित प्रतियों तथा अन्य ग्रन्थों का उपयोग भी किया है, जिसकी सूची आगे दी जा रही है। प्रस्तुत पाठान्तरों को निकालने का मूल उद्देश्य एक साथ पाठान्तरों को दिखाना तथा अर्धमागधी और शौरसेनी प्राकृत का अध्ययन भी करना है। प्रस्तुत ग्रन्थ में स्थान स्थान पर शौरसेनी प्राकृत के

प्रयोग भी मिलता है। इसके आधार पर इसका स्वतन्त्र अध्ययन हो सकेगा । प्रस्तुत ग्रन्थ के पाठ संपादन में 'जाव', 'जहा', 'वण्णओ' आदि पदों द्वारा संकुचित पाठों की यथावश्यक पूर्ति की है तथा इस सम्बन्धी कुछ परिशिष्ट भी साथ जोड़े गये हैं, जिससे पाठकों को अन्य ग्रन्थ देखने का कष्ट न करना पड़े। इन पूर्तियों को ऐ. बी. सी. डी. आदि संकेत द्वारा व्यक्त किया है। अभी प्रस्तुत सूत्र का शतक परिचय आदि बतलाना अवशेष है, जिसे खण्डशः प्रस्तुत किया जा रहा है।

शतक परिचय

महाप्रभु की देशना का जो भाग व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र के रूप में संकलित किया गया है, उस सूत्र का, विषय व्यवस्था की दृष्टि से शतकों मे विभागीकरण भी किया गया है। जैसा कि पूर्व में बतलाया जा चुका है कि व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र में स्वतन्त्र रूप से ४१ शतक है। जिज्ञासुओं के सुखावबोध के लिये उन शतकों का खण्डशः – क्रमशः संक्षिप्त दिग्दर्शन कराने की दृष्टि से प्रस्तुत में दो शतकों का संक्षिप्त दिग्दर्शन कराया जा रहा है।

प्रथम-शतक

व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र के प्रारम्भ मंगलाचरण के रूप में सर्व पाप-मल परिहारक नमस्कार महामंत्र को लिया गया हैं, जिस मत्र में चौदह पूर्वो का सार बतलाया जाता है, वल्कि सारे ही ज्ञान का सार भी कहा जाय तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। वर्तमान में जैन धर्म मे विभाग हो जाने पर भी यह परम प्रसन्नता का विषय है कि सभी वर्गो, सम्प्रदायों किंवा पंथों के लोग नमस्कार मंत्र को निर्विवाद रूप में स्वीकार करते हैं। नमस्कार मंत्र के अनंतर ब्राह्मी लिपि एवं श्रुत को नमस्कार किया गया है। तदनंतर उद्देशक परिचयात्मक गाथा एवं मुख्य प्रवक्ता महाप्रभु महावीर तथा मुख्य प्रश्नकर्ता गौतम-स्वामी की संक्षिप्त जीवन झलक दी गई है। इसके बाद "चलमाणे चलिए" आदि नव सूत्रों में कर्मो की आद्यन्त परंपरा का दार्शनिक ढंग से वर्णन किया गया है। फिर क्रमशः २५ दण्डकों में आहार, स्थिति, श्वासोच्छ्वास, काल का विचार, आत्मारंभादि असंवृत अनगार और असंयत के देवगति का कारण स्पष्ट किया गया है। जीवों द्वारा स्वयंकृत कर्म का भोग, उदीरणा आदि कैसे होती है? क्या नैरयिक देवता आदि सभी समान आहार शरीर, उच्छ्वास, निःश्वास आदि वाले होते हैं?

नरकादिगतियों में संसार संस्थानकाल कितने प्रकार का होता है? क्या जीव अन्तक्रिया करता है? किस जीव का उपपात कहां होता है? असंज्ञी के कितने प्रकार है, और वह कौन सी आयु बांधता है? इनका सुन्दर समाधान दिया गया है। तदनन्तर कांक्षा मोहनीय, देशकृत है या सर्वकृत आदि कांक्षा मोहनीय से संबंधित विविध प्रकार की समझाइश दी गई है। तदनन्तर उपस्थान-अपक्रमण संबंधी चर्चा, कर्मक्षय बिना मोक्ष नहीं, पुद्गल की नित्यता-शाश्वत, छद्मस्थ की मुक्ति नहीं, नरक

असुरकुमार के प्रकार, पृथ्वीकायादि के आवास-स्थितस्थान आदि दस विषयों पर विचार [illegible] है। तदनन्तर सूर्य की उदयास्त चर्चा लोकान्त स्पर्शनादि, क्रियास्पर्शनादि, आर्य रोह [illegible] प्रश्नोत्तर, जीव और पुद्गल संबन्ध की चर्चा, नैरयिकों के आहार, उत्पत्ति आदि से [illegible] विग्रह गति समापन्न अविग्रहगति समापन्न जीव की अवस्था, गर्भ संबन्धी चर्चा की गई है। [illegible] बाद बाल पंडितादि आयुर्बन्ध चर्चा, मृग-घातकादि से संबन्धित क्रिया, समान स्थितिवाले के [illegible] के कारण संबंधी चर्चा, जीवों को वीर्य-अवीर्य संबंधी चर्चा, जीवों पुद्गलों के गुरुत्व-लघुत्व [illegible] निग्रन्थों के प्रशस्तता संबन्धी आयुष्यमत को लेकर अन्य मत संबन्धी चर्चा की गई है। [illegible] कालास्यवेषि अनगार के प्रश्नोत्तर बतलाए गए हैं। तदनन्तर अप्रत्याख्यान संबन्धी, [illegible] के फल संबन्धी पदार्थ के स्थिरता-अस्थिरता आदि से संबन्धित चर्चा की गई है। इसके बाद [illegible] और भाषा को लेकर स्वमत-परमत संबंधी, ऐर्यापथिक-सांपरायिक संबन्धी, उपपात विरह [illegible] संबंधित चर्चा की गई है।

द्वितीय शतक

उद्देशक परिचयात्मक गाथा के बाद जीवों के श्वासोच्छ्वास आदि से संबंधित, [illegible] संबन्धी चर्चा करने के अनन्तर स्कंदक अनगार के जीवन वृत को लेकर चर्चा की गई है। तदनन्तर [illegible] इन्द्रिय, परिचारणा गर्भ को लेकर चर्चा की गई है। इसके बाद तुंगिका नगरी के श्रावकों के [illegible] बतलाया गया है। तदनन्तर राजगृह के गर्म पानी का कुण्ड, सम्बन्धी भाषा सम्बन्धी, देवों के [illegible] संबन्धी, चमर चंचा की राजधानी संबन्धी, समुद्घात, समय क्षेत्र और अस्तिकाय संबन्धी [illegible] किया गया है।

पाठान्तर में प्रयुक्त ग्रन्थों की सूची एवं संकेत :

हस्तलिखित प्रतियां :

अ० — भगवती वृत्ति (पंचपाठी) मूलपाठ सहित (हस्तलिखित) गधैया पुस्तकालय-सरदार [illegible] पत्र १८९ पृष्ठ ३७८ अनुमानित समय १५-१६ वीं शताब्दी।

क० — भगवती मूलपाठ (हस्तलिखित), पूनमचंद बुधमल दूधोड़िया [illegible] पृष्ठ ६६६ अनु. समय १६ वीं श.

ख० — ताड़पत्रीय मूलपाठ-जैसलमेर ग्रन्थभण्डार (फोटो प्रति) पत्र ४२२ पृष्ठ ८४४ अनु. समय [illegible] वीं शताब्दी।

जे० — आगम प्रभाकर मुनि पुण्यविजयजी - जैसलमेर भण्डार।

जैस० — „ „ जैसलमेर सम्पादित।

म्बूस्वामी जैन मुक्ताभाई आगम मन्दिर (ताडपत्रीय)

ताडपत्रीय मूलपाठ-जैसलमेर भण्डार (फोटो प्रति) पत्र ३४८ पृष्ठ ६९६ संवत् १२३५ वैशाख वदी ११।

भगवती मूलपाठ (हस्तलिखित), तेरापंथ सभा - सरदार शहर पत्र ४७८ पृष्ठ ९५६ अनु. समय १६ वी श.

भगवती मूलपाठ (हस्तलिखित) गधैया पुस्तकालय - सरदार शहर पत्र ४८२ पृष्ठ ९६४- अनु. समय १६ वी श.

लोंकागच्छ जैन ज्ञान भण्डार जैसलमेर (ताडपत्रीय)

लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्या मन्दिर - अहमदाबाद (हस्तलिखत-कागज)

युवाचार्य श्री मधुकर मुनि - श्री जैन आगम प्रकाशन समिति ब्यावर - सन् १९८२।

मुनि नथमल - जैन विश्वभारती लाडनू – सन् १९७४।

अन्य संकेत

मु०	मुद्रित - आगमोदय समिति - अभयदेवसूरिकृत वृत्ति।
अवृ०	आ० अभयदेवसूरि कृत भगवती सूत्र वृत्ति।
अवृपा०	आ० अभयदेवसूरि वृत्ति सूचित पाठान्तर।
अवृप्र०	आ० अभयदेवसूरि कृत भगवती हस्तलिखित प्रत्यन्तर।
अवृम०	आ० अभयदेवसूरि कृत मुद्रित प्रति - आगमोदय समिति प्रकाशित।
आगमो०	आगमोदय समिति प्रकाशित।
लघु वृ०	आ० दानशेखर सूरि कृत भगवती सूत्र लघुवृत्ति।
औपपा वृ०	औपपातिक सूत्र वृत्ति।
जीवा०	जीवाभिगमसूत्र।
तंदुल	तंदुलवेयालियपइन्नयं,
प्रज्ञा०	प्रज्ञापनासूत्रम् - पण्णवणासुत्तं।
हैम०	हैमकोशः - अभिधानचिन्तामणिः
पू०पा०	पूरक पाठ परिशिष्ट।
ला० १	लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्या मन्दिर - अहमदाबाद (कागज प्रति) सेठ आनंदजी कल्याणजी जैन ज्ञान भण्डार न २ पत्र ३०८, सूचि क्र. ६ (ला०) संवत् १५५…
ला० २	लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्या मंदिर - अहमदाबाद (कागज प्रति) कीर्तिसूरि जैन ज्ञान भण्डार - सूचि क्र. १००८० (ला०) पत्र ३१३ वि. की १७ वीं श.

ला० ३ लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्या मंदिर - अहमदाबाद (कागजप्रति) प्रस्तुत प्रभाकर मुनि श्री पुण्यविजयजी मा० की (अ) हस्तलिखित ग्रन्थ संग्रह की ग्रं-सू क्र. ३६०४ (ला०) पत्र ३७८ संवत् १५८० । (बो) संवत् १७१८ ।

ला० ४ लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्या मन्दिर-अहमदाबाद (कागजप्रति) उजमफ (UJAMAPNOI) उपाश्रय, जैन ज्ञान भण्डार सूचि क्रमांक १७०६४ (ला०) पत्र ३००... १५७६ वैशाख शुक्ल १४ ।

स० भगवती सूत्र (त्रिपाठी) - केसर भगवती नाम से प्रसिद्ध जैन विश्वभारती - लाडनूं ... पृष्ठ १२०४ संवत् १८४८ माघ शु. १५ ।

भगवती सूत्र मुद्रित प्रतियां :

अमो० आचार्य श्री अमोलकऋषिजी म. सा., वी. स. २४४६, सिकंदराबाद ।

घा० श्री घासीलालजी म. सा. सन् १९६१, राजकोट ।

पु० मुनि श्री फूलचंदजी "पुप्फभिक्खु' सन् १९५२, गुडगांव ।

बे० पं. प. बेचरदास दोशी – श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई सन् १९७६ ।

महाप्रभु का यह उद्घोष रहा है – 'अप्पा सो परमप्पा' आत्मा ही परमात्मा है । संपूर्ण वि... अनन्तानन्त आत्माओं से संकुलित है । उन सभी आत्माओं में परमात्मा की शक्ति छिपी हुई है । जि... प्रकार बादलों के पीछे सूर्य छिपा हुआ है, बड़ी-बड़ी मशीनों की कार्यकारी शक्ति में करेन्ट छिपा हु... है, राख के नीचे अंगारा छिपा हुआ है उसी प्रकार आत्मा के अन्दर ही परमात्मा की शक्ति ... है । किन्तु अनादिकाल से कर्मों का आवरण आया हुआ है । उस कर्मों के आवरण को हटाकर, आत्मा में निहित परमात्म-भाव को विकसित करना, विश्व के प्रत्येक भव्य मानव का परम लक्ष्य रहा है । इस परमात्म-भाव को विकसित करने के लिये अज्ञानांधकार का विलय अनिवार्य है । उस अज्ञान-अंधकार का विलय तभी संभव है, जब मानव ज्ञान की सम्यक् ज्योति प्राप्त करे । उस ज्ञानमय ... ज्योति को प्राप्त करने के लिए वीतराग वाणी का चिन्तन मननपूर्वक अध्ययन अनिवार्य है । ... आत्मा परमात्मा आदि का बोध होगा, तभी भव्यात्माओं की आत्मा जागरण के लिए सम्यक् आचरण की दिशा में गति हो सकेगी । इसलिए महाप्रभु ने स्पष्ट फरमाया है –

पढमं नाणं तओ दया

पहले ज्ञान हो फिर आचरण ।

सम्यक् ज्ञान में अपनी आत्मा को निमज्जित कर सम्यक् आचरण की दिशा में विहार कर के आगे बढ़ने के लिए यह प्रयास किया गया है, जिससे सभी जिज्ञासु आत्माएं भी लाभान्वित हों । यही अभीप्सा है ।

२०-८-८५
गुरुवार
(रक्षाबंधन दिवस)

मुनि ज्ञान
माटा उपाश्रय
हीरावाला लेन, पाटकोपर बम्बई

व्याख्याकार आचार्यश्री नानेश : एक परिचय

मुनि-ज्ञान

रभूमि मेवाड़ :

सभ्यता एवं संस्कृति के प्रतीक भारतवर्ष के राजस्थान प्रान्त में मेवाड़ भूमि के मानवों व
ीरता सुप्रसिद्ध है। मेवाडी बांकुरे अपनी आन-बान-शान के लिए कुर्बान हो जाते हैं। अप्रतिम शौ
क धनी वे वीर सिंह के समान युद्ध मे घोर गर्जना करने वाले होते है। वे शत्रुओं के सामने कभी भी पीठ
दिखलाना नहीं जानते। मेवाडी वीरों की घटनाओं से आज भी इतिहास गौरवान्वित है।

धर्मवीर और कर्मवीर :

ऐसी वीरभूमि मेवाड में दो प्रकार के वीरों ने जन्म धारण किया है, कर्मवीर और धर्मवीर। कर्मवीर में मुख्यतया महाराणा प्रताप, शक्तिसिंह आदि प्रसिद्ध है। धर्मवीर मे गणेशाचार्य और नानेशाचार्य के नाम इतिहास प्रसिद्ध हैं। महाराणा प्रताप ने मेवाड की सुरक्षा करने के लिए अपना सर्वस्व लुटा दिया था। कभी भी उन्होंने मेवाड़ पर शत्रुओ का आधिपत्य नही होने दिया।

जहां कर्मवीर सुरक्षा के लिए कवच और ढाल लगाकर, मुकुट पहनकर, अस्त्र-शस्त्रादि से सज्जित होकर घोड़े पर सवार होकर युद्धक्षेत्र मे आ डटते हैं। वहां धर्मवीर आत्मा की सुरक्षा करने के लिये संयम का कवच, तपश्चर्या की ढाल लेकर महाव्रतों रूपी अस्त्र-शस्त्रों से सुशोभित होकर मनरूपी अश्व पर आरोहित हो कामक्रोधादि शत्रुओं को परास्त करने के लिए विश्व के विलक्षण युद्धक्षेत्र पर आ डटते हैं।

मेवाड़ के धर्मवीर आचार्य गणेश :

वीरभूमि मेवाड़ के प्रमुख नगर उदयपुर में धर्मवीर गणेशाचार्य ने जन्म लिया था। ज्योति
आचार्यप्रवर श्री जवाहर के सान्निध्य में भागवती दीक्षा अंगीकार की थी, सतत साधना में त
होकर संयमीय पथ पर आगे बढ़ते ही चले गये। आपश्री को घाणेराव सादडी मे हुए स्थानकवासी
सम्मेलन में सर्वानुमति से सर्व सत्तासम्पन्न उपाचार्य बनाया गया था। अतः आप (११००) मे
साधु-साध्वियो के नायक बन गये थे। लेकिन कुछेक साधु-साध्वियों में संयमीय शिथिलता आने
जिसे दूर करने के लिए बहुत प्रयास किया, किन्तु पक्षपात के कारण यह प्रवृत्ति बढ़ती गई। इस

को देखकर गणेशाचार्य ने अपनी संयमीय आन, वान, शान की सुरक्षा के लिए अपने आचार्य... कुर्बानी दे दी।

दांता के दाता :

इसी भूमि मेवाड़ में एक छोटा-सा गांव दांता है। जिसकी प्राकृतिक सुषमा भी विलक्षण ... की है। पर्वतीय अंचल में बसा दांता रमणीक, प्राकृतिक शोभा से सिमटा हुआ है तथा बहुत ही ... कर्षक प्रतीत होता है। जिस प्रकार अणु में भी विभु की सत्ता होती है, उसी प्रकार इस ... एक विराट सत्ता का समावेश था। आज से ६४ वर्ष पूर्व विराट सत्ता के प्रतीक एक लघु शिशु को ... शृंगारा ने जन्म दिया था। किसे मालूम था कि यह भविष्य में विराट वृक्ष का रूप ले लेगा। ... जानता था कि इस लघु-सी देहश्री में कितनी तेजस्वी आत्मा विद्यमान है। यद्यपि जन्मगत शिशु का ... "गोवर्धन" रखा गया था, किन्तु जिस आत्मा में अखिल विश्व को रक्षा जैसा अमित वात्सल्य ... उसका नाम "गोवर्धन" कैसे रहता ? सहज ही संयोग समझिये कि आप सभी में छोटे होने से ... अपर नाम "नाना" से संबोधित किया जाने लगा। यह नाम ही आपश्री के गुणों का वास्तविक ... बना। आपश्री के अन्दर नानाविध ज्ञान है और नानाविध-प्रकार से संघ-संचालन की विधि में ... आपश्री कुशल हैं।

युवानी में भी निष्काम विचार :

आप बाल्यकाल को पार करते हुए जब मदमाती युवानी की देहली पर पांव बढ़ा रहे थे, ... प्रत्यंगों से युवानी का प्रस्फुटन हो रहा था। आश्चर्य का विषय है कि उस समय भी आपकी ... निम्नतधारा निष्काम साधना की ओर प्रगतिशील थी। इस अमूल्य मानव जीवन को प्राप्त करके ... मुझे क्या करना है ? किस तरह स्वत्व को जागृत करना है ?

यह अनन्त आकाश जो मुझे अविरल उन्नति के लिए प्रेरक बना हुआ है, तो ... जीवन की सम रमणीयता की ओर इंगित कर रहा है : निश्चित ही मुझे जीवन का वास्तविक ... सत्य प्राप्त करना है। आपकी सारी ऊर्जा जीवन की अनन्त गहराइयों में प्रवाहित होने लगी। ... के सुषुप्त तंतु जागृत होने लगे, अन्तर्पथ पर आपका सौदता से विचार-विहार चलने लगा।

षष्ठ आरे का वर्णन श्रवण :

एकदा एक अणगार से आपश्री ने श्रवण किया-पांचवें आरे की पूर्णता पर छठा आरा प्रारम्भ ... होगा, उस समय का मानव धृति, बल, आयुष्य और कांति से अत्यधिक हीन होगा, मानव की आयु ... घटते-घटते २० वर्ष की रह जावेगी, देहमान दो हाथ प्रमाण रहेगा, अतुल्य आहार की इच्छा ... जो जितना भी कुछ खा लेने पर भी ... -पान मांसाहार होगा, मनुष्य ...

में पानी लेकर पियेंगे, उस समय के मानव दीन, हीन, दुर्बल, दुर्गंधी, रोगिष्ट, नग्न, आचार–विचारहीन, माता, बहिन, पुत्री का भी विचार नही करने वाले होंगे, छः वर्ष की स्त्री माता हो जायेगी। इनका निवास गुफाओ में पशुतुल्य होगा। यह स्थिति २१००० वर्ष तक चलती रहेगी।

अन्तः संवेदन:

यह वर्णन सुनने के अनन्तर अश्वारोहित हो आप अपने गांव की ओर प्रयाण कर रहे थे, मध्य में विचारों की प्रखरता बढने लगी, मैंने चार गति, चौरासी लाख जीव योनियों में दुर्लभ यह मानवतन पाया है, आत्मिक ज्योति का जागृत करने के लिए अब मुझे अविराम प्रगति के पथ पर बढते जाना है, आत्मशांति को पाना ही अब मेरा उद्देश्य हो, सभी बन्धनो से मुक्त होकर मुक्ति का विराट सुख प्राप्त करना ही मेरा अब लक्ष्य बने।

विचारों की ऊर्जस्वल धारा :

विचारो को पवित्र धारा मन के शुभ पात्र मे प्रवाहित होने लगी, अनागत में आनेवाला पष्ट आरे का चित्र मस्तिष्क पर उभरने लगा, अहो, कितनी दयनीय स्थिति होगी मानव की उस समय, कितना पतन हो जायेगा मानवीय संस्कृति का क्या होगा मेरा उस समय ? क्या मुझे भी.... ना, ना ऐसा कभी नही हो सकता, मे कभी भी अपने जीवन को उस दुःख द्वार पर जाने ही नहीं दूंगा, मुझे अपने सत्पुरूषार्थ से भव पार उतारने वाला संबल, शक्ति प्राप्त करनी है, जो शक्ति बाह्य तत्वों से प्राप्त नहीं हो सकती। शक्ति का प्रयोग अंतर में करना होगा। विचारों की गतिशीलता संसार से विरागता को ओर बढ़ने लगी। कीचड़ में जिस प्रकार कमल को निर्लिप्तता बनी रहती है, वैसे ही आपके जीवन की पवित्रता वृद्धिगत होती चली गई। संसार - विरागता का बीज - वपन उसी अरण्य बीच पीपल वृक्ष के नीचे हुआ था। यहो से जीवन की धारा में एक विलक्षण प्रकार का मोड़ आ गया।

आगार से अनगार का निश्चय :

आगार से अनगार बनने का, रागी से विरागी बनने का, गृहस्थी से संन्यासी बनने का निर्णय भी आपश्री का इसी अरण्य बीच में हुआ था। आपश्री ने विचारा दुःख-विमुक्ति और शाश्वत सुख की अवाप्ति के लिए राग से विराग की ओर बढ़ना है। अर्थात् आगारी से अनगारी बनना है। साधना रूप सलिल के स्नान करने पर ही आत्मशुद्धि हो सकती है। सम्यक् ध्यान द्वारा ही मेरी बुद्धि का सम्यक् विकास हो सकता है।

गुरु की खोज में :

आत्मशुद्धि द्वारा मुक्तिपथ पर अग्रसर होने के लिए सही पथ-प्रदर्शक की आवश्यकता होती है। वे प्रदर्शक ही "गुरु" पद के अधिकारी होते हैं। सच्चे गुरु के बिना यथार्थ पथ प्राप्त नहीं हो सकता।

को देखकर गणेशाचार्य ने अपनी संयमीय आन, बान, शान की सुरक्षा के लिए अपने आचार्यत्व की कुर्बानी दे दी।

दांता के दाता :

इसी भूमि मेवाड़ में एक छोटा-सा गाव दांता है। जिसकी प्राकृतिक सुषमा भी विलक्षण प्रकार की हैं। पर्वतीय अंचल मे बसा दांता रमणीक, प्राकृतिक शोभा से सिमटा हुआ है तथा बहुत ही चित्ताकर्षक प्रतीत होता है। जिस प्रकार अणु में भी विभु की सत्ता होती है, उसी प्रकार इस छोटे-से गांव में एक विराट सत्ता का समावेश था। आज से ६४ वर्ष पूर्व विराट सत्ता के प्रतीक एक लघु शिशु को माता श्रृंगारा ने जन्म दिया था। किसे मालूम था कि यह भविष्य मे विराट वृक्ष का रूप ले लेगा। कौन जानता था कि इस लघु-सी देहश्री में कितनी तेजस्वी आत्मा विद्यमान है। यद्यपि जन्मगत शिशु का नाम "गोवर्धन" रखा गया था, किन्तु जिस आत्मा मे अखिल विश्व की रक्षा जैसा अमित वात्सल्य भरा है, उसका नाम "गोवर्धन" कैसे रहता ? सहज ही संयोग समझिये कि आप सभी से छोटे होने से आपको अपर नाम "नाना" से संबोधित किया जाने लगा। यह नाम ही आपश्री के गुणों का वास्तविक प्रतीक बना। आपश्री के अन्दर नानाविध ज्ञान है और नानाविध - प्रकार से संघ - संचालन की विधि में भी आपश्री कुशल हैं।

युवानो में भी निष्काम विचार :

आप बाल्यकाल को पार करते हुए जब मदमाती युवानी की देहली पर पांव बढ़ा रहे थे, अंग प्रत्यंगों से युवानी का प्रस्फुटन हो रहा था। आश्चर्य का विषय है कि उस समय भी आपकी उन्नत चिन्तनधारा निष्काम साधना की ओर प्रगतिशील थी। इस अमूल्य मानव जीवन को प्राप्त करके हा मुझे क्या करना है ? किस तरह स्वत्व को जागृत करना है ?

यह अनन्त आकाश जो मुझे अविरल उन्नति के लिए प्रेरक बना हुआ है, तो सपाट मैदान जीवन की सम रमणीयता की ओर इंगित कर रहा है : निश्चित ही मुझे जीवन का वास्तविक तथ्य और सत्य प्राप्त करना है। आपकी सारी ऊर्जा जीवन की अनन्त गहराइयो में प्रवाहित होने लगी। मस्तिष्क के सुषुप्त तंतु जागृत होने लगे। अन्तर्पथ पर आपका तीव्रता से विचार - विहार चलने लगा।

षष्ठ आरे का वर्णन श्रवण :

एकदा एक अणगार से आपश्री ने श्रवण किया—पांचवें आरे की पूर्णता पर छठा आरा प्रारम्भ होगा, उस समय का मानव धृति, बल, आयुष्य और कांति से अत्यधिक हीन होगा, मानव की आयु घटते-घटते २० वर्ष की रह जायेगी, देहमान एक हाथ प्रमाण रहेगा, अतृप्त आहार की इच्छा रहेगी, जो कितना भी कुछ खा लेने पर भी तृप्त नहीं हो सकती खान-पान मांसाहार होगा, मनुष्य की संतान

में पानी लेकर पियेंगे, उस समय के मानव दीन, हीन, दुर्बल, दुर्गंधी, रोगिष्ट, नग्न, आचार-विचारहीन, माता, बहिन, पुत्री का भी विचार नहीं करने वाले होंगे, छः वर्ष की स्त्री माता हो जायेगी। इनका निवास गुफाओं में पशुतुल्य होगा। यह स्थिति २१००० वर्ष तक चलती रहेगी।

अन्तः संवेदनः

यह वर्णन सुनने के अनन्तर अश्वारोहित हो आप अपने गांव की ओर प्रयाण कर रहे थे, मध्य में विचारों की प्रखरता बढ़ने लगी, मैंने चार गति, चौरासी लाख जीव योनियों में दुर्लभ यह मानवतन पाया है, आत्मिक ज्योति को जागृत करने के लिए अब मुझे अविराम प्रगति के पथ पर बढ़ते जाना है, आत्मशांति को पाना ही अब मेरा उद्देश्य हो, सभी बन्धनों से मुक्त होकर मुक्ति का विराट सुख प्राप्त करना ही मेरा अब लक्ष्य बने।

विचारों की ऊर्जस्वल धारा :

विचारों की पवित्र धारा मन के शुभ पात्र में प्रवाहित होने लगी, अनागत में आनेवाला पष्ट आरे का चित्र मस्तिष्क पर उभरने लगा, अहो, कितनी दयनीय स्थिति होगी मानव की उस समय, कितना पतन हो जायेगा मानवीय संस्कृति का क्या होगा मेरा उस समय ? क्या मुझे भी.... ना, ना ऐसा कभी नहीं हो सकता, मैं कभी भी अपने जीवन को उस दुःख द्वार पर जाने ही नहीं दूंगा, मुझे अपने सत्पुरुषार्थ से भव पार उतारने वाला संबल, शक्ति प्राप्त करनी है, जो शक्ति बाह्य तत्वों से प्राप्त नहीं हो सकती। शक्ति का प्रयोग अंतर में करना होगा। विचारों की गतिशीलता संसार से विरागता की ओर बढ़ने लगी। कीचड में जिस प्रकार कमल की निर्लिप्तता बनी रहती है, वैसे ही आपके जीवन की पवित्रता वृद्धिगत होती चली गई। संसार - विरागता का बीज - वपन उसी अरण्य बीच पीपल वृक्ष के नीचे हुआ था। यहां से जीवन की धारा में एक विलक्षण प्रकार का मोड़ आ गया।

आगार से अनगार का निश्चय :

आगार से अनगार बनने का, रागी से विरागी बनने का, गृहस्थी से संन्यासी बनने का निर्णय तो आपश्री का इसी अरण्य बीच में हुआ था। आपश्री ने विचारा दुःख-विमुक्ति और शाश्वत सुख की अवाप्ति के लिए राग से विराग की ओर बढना है। अर्थात् आगारी से अनगारी बनना है। साधना रूप सलिल के स्नान करने पर ही आत्मशुद्धि हो सकती है। सम्यक् ध्यान द्वारा ही मेरी बुद्धि का सम्यक् विकास हो सकता है।

गुरु की खोज में :

आत्मशुद्धि द्वारा मुक्तिपथ पर अग्रसर होने के लिए सही पथ-प्रदर्शक की आवश्यकता होती है। सच्चे गुरु के बिना यथार्थ पथ प्राप्त नहीं हो सकता। वे प्रदर्शक ही "गुरु" पद के अधिकारी होते हैं।

आप विचारों की ऊर्जस्वल धारा, पवित्र चिन्तन, संयमीय निर्णय के साथ सच्चे गुरू की खोज में से निकल पड़े।

अभीष्ट साध्य की प्राप्ति :

जिस किसी लक्ष्य को लेकर जब व्यक्ति उसे प्राप्त करने के लिए निरन्तर तन्मयतापूर्वक करना प्रारम्भ करता है तो निश्चित ही उसे एक दिन उस लक्ष्य की प्राप्ति हो ही जाती है। आप गुरू की खोज में इधर-उधर घूमने लगे। स्थान-स्थान पर पहुंचे। सन्त मुनिराजों द्वारा सुनहले आ मिलने लगे। जिसके लिए आपश्री की आत्मा कतई तैयार नहीं था। आपको तो सच्चे गुरु की खोज जो निस्पृह साधक आपका सच्चा पथ-प्रदर्शक बन सके। इस खोज से घूमते-घूमते आपश्री राज के मुख्य नगर कोटा पहुँच गये। उस समय वहां पर विराजमान शासन के जाज्वल्यमान न हुक्मगच्छ के सप्तम युवाचार्य शास्त्रज्ञ श्री गणेशीलालजी म० सा० की सौम्य मुखमुद्रा के दर्शन आपश्री ने वन्दना - अभिवन्दना की।

गुरु का अमिताभ तेज :

युवाचार्यश्री के मुखमण्डल पर अमिताभ तेज था। ब्रह्मचर्य की अनुपम शाभा थी। ऐसे सौ मुखमण्डल को देखकर आप अभिभूत हो गये, उनके प्रति आकर्पित हो गये। मन में विचार उठने लगे। वास्तव में इनकी देहश्री ही बताती है कि ये सच्चे साधक है। आचार और विचार के धनी है। इन्हीं के द्वारा सच्ची शान्ति मिल सकती है। इनकी विलक्षण प्रतिभा को देखते हुए लगता है कि इनसी प्रतिभा अन्य में होना असम्भव सा है।

शिष्य का प्रकटीकरण :

युवाचार्यश्री के व्यक्तित्व को देखकर अभिभूत हुए आपने विचारों का प्रकटीकरण किया - प्रभो ! मैं आपका शिष्य हूँ। मुझे स्वीकार कर मेरी डूबती हुई इस नैया को भवसागर से पार लगाएँ ज्ञान - ध्यान देकर मुझे इस संसार - कीचसे उवार दो। लेकिन जो निस्पृह साधक होता है, उसे कभी भी शिष्य - लोभ नहीं होता। वे निपट अपनी साधना में ही तन्मय रहने वाले होते हैं। चाहे वे एकाकी या समूह के साथ, शहर में हों या अरण्य में उनकी साधना निरन्तर आत्म - शुद्धि के लिए ही प्रवाहित होती रहती है।

गुरु का स्पष्टीकरण :

आपश्री के विचारों को सुनकर महायोगी गणेशाचार्य ने संक्षिप्त में किन्तु सारगर्भित उत्तर दिया — देखो भाई, अभी साधु-जीवन की बात जाने दो। पहले गृहस्थ-जीवन में ही रहकर अभ्यास

करो। सागार से अनगार बनने का निर्णय आवेश मे करना अच्छा नहीं है। साधु–जीवन कोई साधारण बात नही है, जो ऐसे ही अपनाया जा सके। कभी कभी तो साधु–जीवन तलवार की तीक्ष्ण धार पर चलने से भी अधिक कठिन बन जाता है। पांच महाव्रतों का पालन, परीषह-जय, इन्द्रिय-दमन कोई साधारण बात नहीं है।

तारणहार गुरु गणेशाचार्य :

गणेशाचार्य के निस्पृह किन्तु सटीक विचारों को सुनकर आपश्री बहुत प्रभावित हुए। "गु" शब्द स्त्वंधकारे "रू" शब्द स्तन्निरोधक; । "गु" शब्द अन्धकार का प्रतीक है, "रू" शब्द उसका विरोध करने वाला है। जो प्राणियो के अज्ञानांधकार को दूर करने वाला है, वही सच्चा गुरू है। आप सच्चे गुरू हैं। आत्मा का सच्चा बोध आपके द्वारा ही प्राप्त होगा। गुरु ही तारणहार होते हैं। आपके पास न तो किसी प्रकार का आकर्षण है और न ही शिष्य–लोभ ही। सभी ओर से निस्पृह होकर आप सदा आत्मसाधना मे लीन रहते हैं। जिसको किसी प्रकार की स्पृहा या लोभ नहीं हो, वह अन्य भव्य-पुरुषों का सही पथप्रदर्शक बन सकता है। निस्संदेह आपकी साधना सच्ची है। आपके ज्ञान-दीपक के द्वारा मेरा ज्ञान–दीपक प्रज्वलित हो सकेगा। इस प्रकार से गणेशाचार्य के प्रति आपका आकर्षण बढ़ने लगा।

विरक्ति के पथ पर :

आपश्री गणेशाचार्य के सुखद सान्निध्य की प्राप्ति कर बहुत प्रसन्न हुए। विरक्तानुगामी साधना आपश्री की निरन्तर वृद्धिगंत होती चली गई। ज्ञान-ध्यान की आराधना में आप सदा तन्मय रहते। मुझे लक्ष्यानुरूप गति करने के लिए पथ प्रशस्त बनाना है, जिस पथ पर चल कर मैं अपनी आत्मा का शुद्धिकरण कर सकू। मन–वचन–काय की शुद्धि के साथ आत्मीय विशुद्धि करने वाला संयमीय जीवन ही सारभूत जीवन है।

सच्चा स्वर्ण :

आपश्री की वैराग्य भावना निरन्तर प्रबल से प्रबलतर होती चली जा रही थी। आपश्री का प्रत्येक कार्य विवेक और यतना के साथ होता था। गणेशाचार्य स्वयं भी आपश्री के वैराग्यमय जीवन का परीक्षण करते रहते थे। अनेक सुज्ञ श्रावकों ने भी आपकी अनेक बार परीक्षा ली थी। आप सदा परीक्षा में उत्तीर्ण ही रहते। कई श्रावकों ने गणेशाचार्य से कहा– आपके पास जो वैरागी है, वह वास्तव में हीरा है, भविष्य में यह बड़ा महापुरूष बनेगा। हमने परीक्षा करने के लिए इनको अनेकों अनेक प्रलोभन दिये, किन्तु यह सभी ओर से निस्पृह है। वास्तव में सच्चे स्वर्ण के लिए कसौटी क्या कर सकती है, कुछ नही। सच्चे स्वर्ण को कसौटी पर कितना भी कसा जाय, उसमें कोई फर्क पड़ने वाला नहीं है, बल्कि उसमें तो और अधिक निखार हो आयेगा।

कपासन में भागवती दीक्षा :

विरक्तानुगामी साधना में जब आपश्री ने परिपक्वता प्राप्त कर ली, तब संयमी जीवन अंगीकार करने के लिए प्रयत्न करने लगे। इसके लिए पारिवारिक सदस्यों की आज्ञा होना आवश्यक है। आप मातुश्री एवं भाइयों से आज्ञापत्र लेने के लिए दांता गांव पहुँचे। बहुत प्रयत्न करने पर भी जब आपका आज्ञापत्र प्राप्त नहीं हुआ, तब आप अट्टम (तेले) तप की आराधना में तल्लीन हो गये कि जब तक आज्ञा नहीं मिलेगी, पारणा नहीं करूंगा। आपकी इस भीष्म प्रतिज्ञा के सामने सब नतमस्तक हो गये और आपको आज्ञापत्र प्राप्त हो गया। दीक्षा - स्थान दांता के पास ही कपासन रखा गया। गांव के बाहर आम्र वृक्षों की शीतल छाया में गणेशाचार्य ने आपको दीक्षा के प्रत्याख्यान करवाये। हजारों-हजार पुरूष आपश्री के चरणों में नतमस्तक होते हुए जय-जयकार कर उठे।

सुयोग्य गुरु के सुयोग्य शिष्य :

सुयोग्य गुरु को सुयोग्य शिष्य मिलना मुश्किल होता है। कहीं सुयोग्य गुरु होते है तो शिष्य योग्य नहीं होता और कहीं योग्य शिष्य होता है तो गुरु योग्य नहीं मिलते। किन्तु यहां सुयोग्य गुरु को सुयोग्य शिष्य प्राप्त हुआ। मुक्तिरूप साध्य भी आपका सुयोग्य है। रत्नत्रय-रूप साधन भी सुयोग्य ही है। इस त्रिपुटी का दुर्लभ सगम आपश्री के जीवन मे सहज था। संयमी जीवन में आप विशेषतः प्राय: अप्रमत्त साधना में तन्मय रहते। साधु जीवन मे कोई दोष लगने की सम्भावना हो, ऐसा कोई कार्य नहीं करते। आपकी प्रतिभा सदा आगम-मंथन में लगी रहती थी।

सर्वतोमुखी अध्ययन :

आपश्री की तीक्ष्ण प्रतिभा आगमों के गूढ रहस्यों को जानने में सतत प्रयत्नशील बनी रहती थी। आपने शास्त्रीय अध्ययन के साथ ही न्याय, भाष्य, टीका, चूर्णि आदि का भी गम्भीर अध्ययन किया था। संस्कृत में आपने सिद्धांत कौमुदी, शांकरभाष्य, भामति टीका आदि जटिल ग्रंथों का अध्ययन किया। षड्दर्शनों का भी आपने तलस्पर्शी अध्ययन किया था। वेदान्त, गीता, महाभारत, कुरान, पुराण आदि अनेक जैनेतर ग्रन्थों का भी आपने अध्ययन किया था। हिन्दी, प्राकृत, संस्कृत, गुजराती आदि अनेक भाषाओं के ऊपर आपने अधिकार प्राप्त कर लिया। संक्षिप्त में कहा जाय तो आपश्री ने सर्वतोमुखी अध्ययन किया था। यही कारण है कि आपश्री की प्रतिभा आज भी नये-नये ग्रन्थों में सहज प्रवेश कर उसके गूढ रहस्य को जानने में समर्थ है।

संयमी जीवन :

आपश्री अत्यन्त विनम्र थे। गुरुदेव के इंगितानुसार आचरण करने वाले थे। आप अपने गुरुदेव के प्रति ही नहीं, अपने सभी ज्येष्ठ गुरु-भ्राताओं के प्रति भी विनम्रशील और उदार थे। आपश्री सदा

रत्नत्रय–सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र की आराधना में तन्मय रहते थे। परीषह एवं उपसर्गों को आपश्री समभावपूर्वक सहन करते थे।

मिट्टी का कलश :

जब मिट्टी कुम्भकार के हाथों में अपना समर्पण कर देती है, तब कुम्भकार मिट्टी में पानी मिलाकर उसे रौंद डालता है और लोदा बनाकर, चाक पर चढ़ाकर उसे घट रूप दे देता है। आग में पका कर उसे परिपक्व बना देता है। तभी वह घट वनिताओं के सिर पर चढ़ पाता है। ठीक उसी प्रकार आपश्री ने भी अपना जीवन सर्वतोभावेन गुरु के चरणों मे समर्पित कर दिया था। आपकी समर्पण साधना भी बहुत ही विलक्षण प्रकार की थी। दीक्षा अंगीकार करने के बाद स्वास्थ्य को लेकर आपने एक-दो चातुर्मास अलग किये, बाकी सभी वर्षावास गुरुदेव की सेवा में ही किये। गणेशाचार्य ने आपश्री के समर्पित जीवन को बहुत ही तन्मयता के साथ निर्मित किया। परिणामस्वरूप आज आप हजारों के मस्तक पर चढ़े हुए हैं।

गुरुदेव की सेवा में गुरुदेव :

स्वर्गीय गुरुदेव गणेशाचार्य जब उदयपुर में स्थिरवास के रूप में विराजे हुए थे, तब आप भी वही रहकर गुरुदेव की तन्मयता के साथ सेवा करते थे। गणेशाचार्य के सर्वतोमुखी व्यक्तित्व से सारा जैन समाज अच्छी तरह परिचित था। आपश्री की संयमनिष्ठा एवं सिद्धान्तों का अनुपालन बेजोड़ था। जनता ने जब गणेशाचार्य के स्थिरवास के विषय में सुना तो वह उनके दर्शन के लिए उमड़ पड़ी। दर्शनार्थियों का प्रायः तांता-सा लगा रहता था।

आचार्यश्री गणेश की सत्य अभिव्यक्ति :

गणेशाचार्य के स्वास्थ्य में दिन-प्रतिदिन गिरावट देखकर श्रावक लोग चिंतन करने लगे— भविष्य में संघ को संभालने वाला कौन सुयोग्य शासक होगा? उस समय आपश्री (नानेशाचार्य) जन-सम्पर्क से प्रायः निर्लिप्त थे, आपकी साधना अन्तर्मुखी ही अधिक बनी हुई थी, संघ के अनुयायी आपकी योग्यता का यथेष्ट अंकन नहीं कर पाये थे, इसलिये वे एक दिन इसी विचारणा में गणेशाचार्य की सेवा में पहुंच ही गये और अपनी अन्तःसंवेदना अभिव्यक्त कर डाली, तब गणेशाचार्य ने स्मित के साथ कहा कि— आप लोगों को चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है, मैं ऐसा गुदड़ी का लाल दूंगा, जिसे देखकर आप आश्चर्य करेंगे, उसके द्वारा शासन की प्रभावना देखकर तो कहीं तुम मुझे भी भूल जाओगे।

युवाचार्य पद पर:

संवत् २०१९ आसोज सुद दूज, उदयपुर के राजमहलों में लगभग ३०-३५ हजार जनता के बीच आपश्री को गणेशाचार्य ने चादर प्रदान की, चादर प्रदान करने से पूर्व तक सूर्य घटाटोप बादलों ने

आच्छादित था, किन्तु जिस समय आपश्री को युवाचार्य पद की चादर की गई, उसी क्षण सूर्य बादलों को चीरता हुआ बाहर आ गया, वह इसी बात का प्रतीक था कि जिस प्रकार बादलों को हटाकर सूर्य प्रकाशमान हो रहा है, उसी प्रकार आपश्री भी सभी आपद एवं विपत्तियों को हटाते हुए भू-मण्डल में प्रकाशित होंगे। उस विलक्षण छटा को देखकर संघ के अधिकारियों को यह विश्वास हो गया कि वास्तव में आप संघ के जाज्वल्यमान नक्षत्र होंगे।

आचार्य पद पर :

माघ कृष्णा दूज को गणेशाचार्य जब संथारापूर्वक पंडितमरण को प्राप्त हो गये, तब आपश्री आचार्य पद पर आसीन हुए। उस समय संघ एक विकट मोड पर खड़ा था। श्रमणसंघ से गणेशाचार्य के विलग हो जाने से प्राय: श्रमणसंघ इस साधुमार्गी संघ से विपरीत हो गया था। स्थान-स्थान पर इस प्रचार-प्रसार किया जाने लगा कि आचार्यश्री को ठहरने के लिए स्थान नहीं देना, आहार-पानी नहीं वहराना, व्याख्यान नहीं सुनना .. ....आदि। लेकिन सूर्य की प्रचण्ड रश्मियों के सामने अन्धकार कितने समय तक रुक सकता है। आखिर उसे भागना ही पड़ता है। उसी प्रकार आपश्री के विशुद्ध संयम, प्रखर प्रतिभा, विलक्षण विद्वत्ता एवं अपरिमेय पुण्य के समक्ष कुप्रचारकों का अन्धकार हटता चला गया। प्रचण्ड सूर्य के प्रकाश की भांति आपका निष्कलंक गौरव बढ़ता ही चला गया।

विश्व-शांति का उपाय-समतादर्शन :

जब आप आचार्य पद पर आसीन हुए, तब आपश्री को एक विचार आया कि मैं तो अपनी साधना कर ही रहा हूँ, किन्तु मानव जगत् के लिए कौन-सी ऐसी व्यवस्था दी जाय, जिससे वे भी शांति के वातावरण मे जी सकें। इस ज्वलन्त प्रश्न का समाधान पाने के लिए आप विचारों की गहराइयों में उतरें, आखिर आपने समाधान खोज ही लिया। वह था— समता : दर्शन और व्यवहार। समता के धरातल पर अगर व्यक्ति से लेकर विश्व तक की व्यवस्था की जाय तो शांति का सुखद वातावरण फैल सकता है। विषमता की धू-धू करती आग शांत हो सकती है।

अनेक दार्शनिकों ने विश्व की समस्या पर बहुत विचार किया। कुछेक समस्याओं को जनता के समक्ष रखा भी सही किन्तु इसका समाधान क्या हो सकता है, इसके लिए बहुत कम लोगों ने अपने विचार व्यक्त किये। किन्तु आचार्यप्रवर ने विश्व की विषम समस्या को रखते हुए समता का सचोट एवं व्यावहारिक समाधान भी जनता के समक्ष रखा। समता सिद्धान्त के द्वारा विश्व की विषमताओं समस्याओं का समाधान भी किया जा सकता है। इस सिद्धांत की इतनी अधिक व्यापक विशेषता है कि अन्य सभी उपायों का इसी में समावेश हो जाता है। समता सिद्धान्त के धरातल पर यदि व्यक्ति, परिवार, समाज, गांव, नगर, प्रान्त, राष्ट्र एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर व्यवस्था की जाय तो सर्वत्र शांति

का प्रसार हो सकता है। आचार्यप्रवर ने समतादर्शन को मुख्यतया चार विभागों में विभक्त किया है—

(१) समता सिद्धान्त-दर्शन,

(२) समता जीवन–दर्शन,

(३) समता आत्म–दर्शन,

(४) समता परमात्म–दर्शन।

पहले के दो दर्शन तो जीवन की शुद्धि के मूल हेतु है, जहाँ सिद्धान्त-दर्शन द्वारा व्यक्तियों के विचार शुद्ध और परिष्कृत किये जाते हैं, वहां जीवन-दर्शन उनके आचरण में शुद्धि लाता है। आत्म-दर्शन और परमात्म-दर्शन जीवन-शुद्धि को ओर अधिक आगे बढ़ाते हुए शाश्वत शांति-प्रदायक बनते हैं।

दुर्गम पथ पर अविराम गमन :

विश्व को विषमताभरी विकट समस्या की समाहिति समतादर्शन के द्वारा अच्छी तरह की जा सकती है। दार्शनिक जगत मे आचार्यप्रवर की यह एक अपूर्व देन रही है। इसी कारण आपश्री को समता - दर्शनप्रणेता की सार्थक उपाधि से विभूषित किया गया।

साधना और संयम के दुर्गम पथ पर :

आप निरन्तर आगे बढ़ते ही चले गये। भयंकर परिस्थिति का भी आपने समता के धरातल पर धैर्य के साथ सामना किया। किसी भी परिस्थिति मे घबराना क्या होता है, मानो यह तो आप जानते ही नहीं हैं। आचार्यप्रवर का उपदेश आगमिक धरातल पर वैज्ञानिक, संयुक्तिक एवं व्यावहारिक रीति के साथ संसार के यथार्थ स्वरूप की अभिव्यक्ति करने वाला होता है।

भागवती दीक्षाएँ :

आपको आचार्य पद प्राप्त किये हुए अब तक २१ वर्ष हो चुके हैं। इस २१ वर्ष के अल्पकाल में आपश्री ने शासन को अत्यधिक प्रभावना की है। अब तक २१७ आत्माओं को प्रव्रजित कर आगार से अनगार धर्म में प्रवेश दिया है। आज आपश्री के आज्ञानुवर्ती सैकड़ों साधु-साध्वी अनेकानेक क्षेत्रों में जिन शासन का तुमुल शंखनाद कर रहे हैं। दिग्–दिगन्त तक आपश्री की गौरव-गरिमा व्याप्त हो चुकी है। अगिनत प्राणी आपश्री के संयमी जीवन से प्रभावित होकर चरणों में झुक जाते हैं।

पतितोद्धार का ऐतिहासिक कार्य :

आपश्री का जब मालव प्रान्त के छोटे - छोटे गांवों में विचरण हो रहा था, तब आपश्री को ज्ञात हुआ कि कई हिन्दू गौरक्षक अब मुसलमान एवं ईसाई बनने जा रहे हैं। यह कथन आपश्री को

अहिंसक भावना को उद्वेलित कर उठा और आपश्री ने गांव - गांव में जाकर उन लोगों के मध्य अहिंसा की मार्मिक विवेचना की, मानव जीवन की दुर्लभता का प्रतिपादन किया। आपश्री के तलस्पर्शी प्रवचनों से प्रभावित होकर हजारों व्यक्तियों ने सात कुव्यसन का त्याग कर सदाचार-जीवन स्वीकार किया। उन्हें "धर्मपाल" की संज्ञा से सम्बोधित किया गया। आज उनकी संख्या ८० हजार से एक लाख तक है। इस ऐतिहासिक कार्य के कारण आपश्री को जनता ने "धर्मपाल प्रतिबोधक" की उपाधि से विभूषित किया।

ज्वलन्त प्रश्न : ज्वलन्त उत्तर :

आपश्री तीक्ष्ण प्रतिभा के धनी हैं। संस्कृत, प्राकृत आदि भाषा पर अधिकार होने के साथ ही आपश्री की शास्त्रीय विवेचना भी बहुत ही मार्मिक होती है। आपश्री सभी को प्रश्न पूछने का सुन्दर आह्वान करते हैं। एकदा जयपुर वर्षावास में एक भाई ने आपश्री से प्रश्न किया- "जीवन क्या है?" आपश्री ने इस लघु प्रश्न को संस्कृत भाषा में गूंथ कर संस्कृत में ही इसका उत्तर दिया- कि जीवनम्?

'सम्यक् निर्णायकम् समतामयञ्च यत् तज्जीवनम्"

सम्यक् निर्णायक और जो समतामय हो, वही सच्चा जीवन है। आपश्री ने इसी एक सूत्र की विवेचना पूरे वर्षावास में फरमाई थी। प्रवचनों का संकलन "पावस प्रवचन" के नाम से कई भागों में प्रकाशित पुस्तकों में मिलता है।

ध्याता-विधाता समीक्षण ध्यान के :

आज के युग में ध्यान की बहुत चर्चा है। जनता के सामने विविध प्रकार की ध्यान - प्रक्रियाएं सामने आ रही हैं। लेकिन उन ध्यान-प्रक्रियाओं में जनता को पर्याप्त सन्तोष नहीं हो पाया। आपश्री महान् ध्यानयोगी हैं। आपश्री की ध्यान-साधना अत्यन्त गहराइयों में उतरने वाली होती है। आपश्री से कई प्रबुद्ध वर्ग ने ध्यान के विषय में चर्चा रखी तो आपश्री ने तनावमुक्ति के साथ आत्मशान्ति देने वाले "समीक्षण ध्यान" की अभिनव विवेचना जनता के सामने रखी। समीक्षण अर्थात् सम्यग् ईक्षण देखना। सम्यग्-समतापूर्वक अखिल जगत् का ईक्षण-देखना। जब यथार्थता के परिप्रेक्ष्य में देखने की स्थिति हमारी बनेगी, तभी तनावमुक्ति एवं आत्मशान्ति हमें मिल सकती है। इस प्रकार आपश्री की वृत्ति नये-नये रहस्यों का अवधान खोज करने की रही है।

विहारचर्या :

आपश्री का अब तक विशेषत: विचरण मेवाड़, मारवाड़, मालवा, राजस्थान, गुजरात, सौराष्ट्र, महाराष्ट्र, उड़ीसा आदि प्रान्तों में हुआ है। आपश्री की गुण-गरिमा का विस्तार बहुत व्यापक रूप से भू-मण्डल पर हो रहा है। जिस प्रकार अनन्त आकाश के कोई बन्धन नहीं होता, उसी प्रकार आपश्री के गुणसौरभ के प्रसंग में किसी प्रकार का बन्धन नहीं है।

साहित्य की दिशा में :

आचार्य देव का व्यक्तित्व जितना विशुद्ध रूप से निखरा है, तो कृतित्व भी उतना ही विशुद्ध रूप से निखरा है। विश्व की विषाक्त विषमता का विनिवारण करने के लिये "समतादर्शन और व्यवहार" नामक पुस्तक में आचार्य देव का मौलिक चिन्तन, अन्तस्तल की गहराइयों से प्रादुर्भूत है, साथ ही मानसिक टेन्सन को समाप्त कर आत्मशांति देने वाला समीक्षण ध्यान भी आचार्यदेव की अन्तश्चेतना का ही स्फुलिंग है। इसके अतिरिक्त आचार्यप्रवर के तत्वावधान में "कर्मप्रकृति" जैसे गहन ग्रन्थ का सम्पादन-अनुवाद हुआ है। स्वयं आचार्यप्रवर ने आचारांग सूत्र, भगवती सूत्र, अन्तकृद्दशांग सूत्र, कल्प सूत्र आदि अनेक शास्त्रों पर आगम सम्मत हृदयस्पर्शी अभिनव विवेचना प्रस्तुत की है। गहरीपर्त के हस्ताक्षर आपश्री के चिन्तन की मौलिक कृति है। समीक्षण धारा, पर्दे के पीछे, क्रोध समीक्षण, मानसमीक्षण, मायासमीक्षण, लोभसमीक्षण, आत्मसमीक्षण से जीयें, स्वयं को बदलें, यात्रा अगमदेश की आदि ध्यान और योग संबन्धी महत्वपूर्ण साहित्य है। इसके अतिरिक्त सिद्धान्त दक्षता को उजागर करने वाला आपश्री का अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रन्थ है–जिण धम्मो। मानवमात्र के विचारों को परिष्कृत करने में समर्थ है। आपश्री की कृति आचार्य श्री नानेश विचारदर्शन आपही के द्वारा परिष्कृत एवं सत्सान्निध्य में रचित "जवाहराचार्य यशोविजय महाकाव्यम्" भी संस्कृत के महाकाव्यों की दिशा में एक महत्वपूर्ण कृति है। कथाओं के रूप में आपश्री के प्रवचनों से संकलित नल–दमयन्ती–दो भाग, लक्ष्यवेध कुकुंम के पगलिये महत्वपूर्ण कृतियां है। प्रवचन साहित्य भी विविध रूप में प्रकाशित हो चुका है। आचार्य प्रवर के कृतित्व जीवन का निखार भी सर्वतोमुखी हुआ है। अनेक महत्वपूर्ण ग्रंथों का का प्रणयन हो चुका है और अनेक ग्रन्थों का हो रहा है। आचार्य प्रवर की यह अनुपम देन मानव-मात्र के लिये अत्यन्त उपयोगी हैं।

विषयानुक्रमणिका

व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र (प्रथम, द्वितीय शतक)

प्रथम शतक (१० उद्देशक) पृष्ठ १ से ४१३

द्वितीय शतक (१० उद्देशक) पृष्ठ ४१४ से ६२६

卐

वियाहपण्णत्तिसुत्तं

पंचमंगसुत्तं

(वियाहपण्णत्तिसुत्तं)

वियाहपण्णत्तिसुत्तं — व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र

पढमं सतगं — प्रथम शतक

पढमो उद्देसो — प्रथम उद्देशक

प्राथमिक

अप्पा सो परमप्पा

आत्मा ही परमात्मा है।

आत्मा में निहित परमात्म भाव को विकसित करना, विश्व के प्रत्येक भव्य मानव का चरम लक्ष्य है। उस परम स्वरूप को विकसित करने के लिए अज्ञान-अंधकार का विलय अनिवार्य है। किन्तु आन्तरिक अज्ञान-अंधकार का विलय तभी संभव है, जब मानव ज्ञान की ज्योति को प्राप्त करे। उस ज्ञानमय ज्योति को प्राप्त करने के लिए अनन्त ज्ञान-दर्शन के अधिपति श्री तीर्थंकर परमात्मा के साथ सम्बन्धित होना अनिवार्य है। जैसे अप्रज्वलित दीपक को प्रकाशित होने के लिए प्रज्वलित दीपक का सान्निध्य आवश्यक है, इसी तरह आत्मा के अज्ञानान्धकार को हटाकर ज्ञान की ज्योति प्रकट करने के लिए सर्वज्ञ-सर्वदर्शी का सान्निध्य और उनके प्रति सर्वतोभावेन समर्पित होना आवश्यक है। इसीलिए उन उत्कृष्टतम उज्ज्वल एवं पवित्र आत्माओं को नमन करने की प्रक्रिया चिरन्तन समय से चली आ रही है। उन ज्ञानमयी पवित्र आत्माओं का वर्णन आगमिक पृष्ठों पर समुपलब्ध होता है उन्हें ही 'नमस्कार-महामंत्र' के रूप में नमस्कार किया गया है।

प्रायः मानव किसी एक महापुरुष को लक्ष्य बनाकर अपनी भक्ति का स्रोत उन पर उंडेल देते हैं, किन्तु 'नमस्कार-महामंत्र' में व्यक्तिशः किसी भी महापुरुष का संकेत नहीं किया गया है। यही इसकी महत्ता एवं विराट व्यापकता का संसूचक है, क्योंकि अन्य किसी भी मंत्र का जब अध्ययन किया जाता है तो उसमें किसी-न-किसी व्यक्ति का नामोल्लेख अवश्य मिलता है किन्तु 'नमस्कार-महामंत्र' में ऐसा नहीं है। सर्व पापमल—परिहारक एवं आत्मशुद्धि—परक होने से नमस्कार महामंत्र सभी मंगलों में प्राथमिक है। जितने भी बाह्य मंगल हैं, वे अमंगल के रूप में भी परिणत हो सकते हैं। किन्तु नमस्कार-महामंत्र तो सदा मंगलस्वरूप ही रहता है, क्योंकि यह ऐकान्तिक और आत्यन्तिक मंगल होने के साथ ही आत्मोत्कर्षपरक है, जबकि बाह्य मंगल अनैकान्तिक और भौतिक परक है।

प्रस्तुत भगवती-सूत्र का प्रारम्भ भी नमस्कार महामंत्र से हुआ है, जो कार्य की संसिद्धि के साथ आत्मिक-उन्नयन एवं चरम विकास का द्योतक है।

मंगलाचरण

णमो अरिहंताणं ।	अर्हन्तों को नमस्कार हो।
णमो सिद्धाणं ।	सिद्धों को नमस्कार हो।
णमो आयरियाणं ।	आचार्यों को नमस्कार हो।
णमो उवज्झायाणं ।	उपाध्यायों को नमस्कार हो।
णमो लोए सव्वसाहूणं । सूत्र १	लोक में सर्व साधुओं को नमस्कार हो।

विवेचन :—

इस चराचर विश्व में अनन्तानन्त आत्माएं स्थित हैं । अनन्त आत्माएं तो ऐसी हैं जो संसार की भयानक यात्रा को पार कर, भवाब्धि का उल्लंघन कर, सर्व कर्मों से विनिर्मुक्त होकर सिद्ध, मुक्त अवस्था प्राप्त कर चुकी हैं । जिन्हें कर्ममुक्त सिद्ध आत्माएं कहते हैं । इसके अतिरिक्त अनंतानंत आत्माएं चार गति, पांच जाति, चौरासी लाख जीव योनियों में अपने-अपने कर्मों का फल भोग कर रही हैं, जिन्हें कर्मबद्ध संसारी आत्माएं कहते हैं । इन कर्मबद्ध एवं कर्ममुक्त दोनों ही प्रकार की आत्माओं में से जो आत्माएं कर्ममुक्त हैं और जो मुक्त होने हेतु विशिष्ट साधना में सतत प्रयत्नशील हैं वे सभी आत्माएं नमस्करणीय हैं । जैनागमों में ये ही नमस्कार-महामंत्र के रूप में वर्णित हैं।

नमस्कार-महामंत्र को 'पंच परमेष्ठि-महामंत्र' की संज्ञा भी प्राप्त है ।

इसका अर्थ यह है कि संसार की अनंतानंत आत्माओं में से आध्यात्मिक दृष्टि से पांच प्रकार की परमश्रेष्ठ आत्माएं हैं । अरिहंत आदि पांचों पदों द्वारा उन परमश्रेष्ठ गुणयुक्त आत्माओं को ही संग्रहित किया गया है ।

मानवों का मंत्रों के प्रति सहज ही आकर्षण होता है । वे मंत्रसाधनापूर्वक मनवांछित सिद्धि का वरण करना चाहते हैं । इसके लिए वे अनेक बाह्याडम्बर करते हुए ॐ, ह्रीं, श्रीं, क्लीं आदि बीज शब्दों की संयोजना के साथ किसी इष्ट का नाम स्मरण करते रहते हैं, क्योंकि उनकी यह दृढ़ धारणा होती है कि 'जपात् सिद्धि जंपात् सिद्धि जंपात् सिद्धि र्न संशयः' मंत्र जाप से सिद्धि होती है मंत्र जाप से सिद्धि होती है, इसमें कोई संशय नहीं है ।

सत्य है जप से सिद्धि होती है लेकिन यह कब ? जब स्मरणकर्ता आध्यात्मिक साधना द्वारा आत्मिक गुणों के विकास में सहायक, ज्ञानालोक से आलोकित, आत्म-स्वरूप में रमण करने वाले महापुरुषों के स्तुतिपरक मंत्र का तन्मयता के साथ बाह्य विकृतियों से विरत हो, वैसी एकाकारता से स्मरण करे, जैसी पानी की दुग्ध के साथ एवं अग्नि की लोह के साथ में एकाकारता होती है। तात्पर्य यह है कि वह स्वयं भी तदनुरूप बनने के लिये अनवरत प्रयत्नशील बन जाय ।

जितने भी अन्य बाह्य मंत्र दृष्टि पटल पर आते हैं, वे सभी भौतिक साधनों की उपलब्धि के सुनहरे और आकर्षक जाल से युक्त होते हैं, जिनकी साधना से यदा-कदा बाह्य इच्छापूर्ति संभवतः हो जाय। किन्तु इससे साधक को आत्मशांति का एक बिन्दु भी नहीं मिल सकता। उसकी सारी साधना भौतिकता के सुनहरे जाल में फंसाती हुई उसके सत्य पथ को विलुप्त कर देती है। क्योंकि मानव की इच्छाएं, कामनाएं अमर बेल की भांति निरन्तर बढ़ती जाती है। ज्यों-२ उसकी इच्छा की संपूर्ति होती रहती है त्यों—२ उसकी इच्छाएं द्विगुणित चतुर्गुणित रूप में उभरने लगती हैं, जिनकी संपूर्ति होते-होते तो इच्छाओं का अम्बार सा लग जाता है। आगमकारों ने सत्य कहा है—

"इच्छा हु आगाससमा अणंतिया।"
इच्छाएं आकाश के समान अनन्त है।

इच्छाओं की संपूर्ति होना दुःसाध्य ही नहीं, असंभव हो जाता है। जिससे मानव शांत तो क्या, और अधिक अशांत, उत्पीड़ित एवं दुःखी बन जाता है। परन्तु नमस्कार महामंत्र के द्वारा उन इच्छाओं, कामनाओं किंवा अभिलाषाओं के स्रोत को ही सुखा दिया जाता है, जोकि दुःखोत्पत्ति का महाद्वार है। जहां सारी इच्छाएं, कामनाएं समाप्त हो जाती है, ज्ञान का परिपूर्ण आलोक विकसित हो जाता हैं, चिरशांति और सुख का महास्रोत फूट पड़ता है, वहाँ व्यक्ति का अर्हत् स्वरूप उजागर हो जाता है। मुख्यतया नमस्कार महामंत्र का यही प्रयोजन है। इसीलिये इसे मंत्र ही नहीं, महामंत्र कहते हैं।

नमस्कार-महामंत्र की साधना से ऐहिक कामनाएं भी पूरी होती हैं, किन्तु यह उसका मूलतः उद्देश्य नहीं है। उसका मूलतः उद्देश्य तो अध्यात्म जागरण, इच्छाओं और कामनाओं की समाप्ति है। यह एक सहज सत्य है कि व्यक्ति को जहां बड़ी वस्तु की उपलब्धि होती है, वहाँ छोटी वस्तुएं तो सहज रूप में ही मिल जाती है। उनके लिये उसे किसी भी प्रकार के परिश्रम करने की आवश्यकता नहीं रह जाती। किन्तु जिस व्यक्ति की मांग छोटी वस्तु की होती है तो उसे बड़ी वस्तु उपलब्ध नहीं हो सकती। व्यक्तिगत भौतिकतापरक मंत्रों से कदाचित् किसी आंशिक वस्तु की उपलब्धि हो भी जाय, किन्तु आध्यात्मिक उन्नति तो हो ही नहीं सकती।

एक रूपक है—विदेश में स्थित राजा को चार रानियों ने विदेश से अपने-अपने लिये वस्तुएं मंगाने हेतु पत्र लिखे। पत्र में एक ने हार, एक ने नूपुर, एक ने कंगन के लिये लिखा। किन्तु चौथी रानी ने अपने पत्र में लिखा कि मुझे केवल आपकी ही आवश्यकता है। राजा ने तीनों रानियों को अपनी-अपनी अभिलाषित वस्तुएं दे दी। अवशेष सारा माल जो स्वयं का था, उसे लेकर वह चौथी रानी के पास चला गया, क्योंकि उसने केवल राजा की मांग की थी। राजा की उपलब्धि के साथ ही राजा का सारा माल भी उसे अनायास ही प्राप्त हो गया।

इसी बात को स्पष्ट करने के लिए एक और रूपक दिया जाता है। जैसे—व्यावहारिक रूप पर यह समझा जाता है कि जो व्यक्ति राजा को अपने सुकृत्यों से प्रसन्न कर लेता है तो राजा के सभी राज्यपाल आदि पदाधिकारी उस पर अपने आप प्रसन्न हो जाते हैं। उन्हें खुश करने के लिये कोई, अलग किसी प्रकार के परिश्रम करने की आवश्यकता नहीं रहती।

नमस्कार-महामंत्र के साथ भी कोई छोटी-बड़ी माँग नहीं जुड़ी है। बल्कि इसके साथ अध्यात्म का जागरण, ज्ञान का पूर्णालोक और परमात्म स्वरूप को उजागर करने की सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि जुड़ी हुई है जिससे आत्मिक स्वरूप जग जाय, ज्ञान का पूर्ण स्वरूप विकसित हो जाय, परमात्म स्वरूप निखर जाय।

जहां इतनी बड़ी उपलब्धि हो, वहाँ छोटी- बड़ी वस्तुएं तो सहज ही प्राप्त हो जाती हैं।

इस महामंत्र पर अनेकों महान् मनीषी विद्वानों ने स्वतंत्र रूप से विशद विवेचन प्रस्तुत किया है, तथापि यहां पर संक्षिप्त रूप से महामंत्र की व्याख्या करना अप्रासंगिक नहीं होगा।

नमस्कार - महामंत्र के पांच पद विश्व की परम पवित्र महान् आत्माओं से संबंधित हैं। प्रथम के दो पद सुदेव के रूप में एवं अंतिम के तीन पद सुगुरु के रूप में ग्रहण किये जाते हैं।

णमो अरिहंताणं—अरिहंत देव को नमस्कार। अरि—शत्रु, हंताणं—हनन करने वाले।

आत्मीय शक्ति को उजागर करने में बाधक घनघाति-कर्म चतुष्टय (ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, अन्तराय) को क्षय कर अनंत चतुष्टय (१ अनंत ज्ञान, २ अनंत दर्शन, ३ क्षायिक चारित्र—अनंत चारित्र, ४ अनंत शक्ति) को प्रगट करने वाले, तद्योग्य बारह[1] गुणों से युक्त, उसी भव में सिद्धि गमन योग्य पवित्र आत्माओं को अरिहंत पद में नमस्कार किया जाता है।

'अरिहंत' शब्द के रूपान्तर या पाठान्तर में अन्य शब्द भी मिलते हैं—यथा :—
अरहोऽन्त, अरथान्त, अरहन्त, अरुहन्त।

स्पष्टावभासी केवल ज्ञान, केवल दर्शन के धारक होने से जिनके ज्ञान में कोई भी रहस्य छिपा हुआ नहीं है, जिनके ज्ञान के लिये पर्वत, गुफा, कंदरा आदि कोई भी वस्तु बाधक नहीं है, उन्हें 'अरहोऽन्त' कहा जाता है।[2]

१– अरिहंतों के बारह गुण—
अनाश्रव, अमम, अकिञ्चन, छिन्नशोक, निर्लेप, व्यपगत-प्रेमराग-द्वेष-मोह, निर्ग्रन्थप्रवचनोपदेशक, शास्त्र नायक, अनन्त ज्ञानी, अनन्तदर्शी, अनन्त-चारित्री एवं अनन्तवीर्य सम्पन्न।

२– अविद्यमानं वा रहः—एकान्तरूपो देशः अन्तश्च मध्यं गिरिगुहादीनां सर्वस्मिन् समस्तवस्तुस्तोमप्रत्यक्षज्ञानित्वेन येषां ते अरहोऽन्तर अरहोऽन्तरेभ्यः।

जिनके किसी भी प्रकार का भौतिक बन्धन रूपी रथ नहीं रहा है। वृद्धत्वादि से होने वाला अन्त भी जिनके नहीं है, उन्हें 'अरथान्त' कहा जाता है।[३]

सुरासुरेन्द्रों द्वारा पूजित होने पर भी वीतराग अवस्था आ जाने के कारण उनमें किसी भी प्रकार की आसक्ति अवशेष नहीं रह जाती है। अतः उन्हें 'अरहन्त' कहा जाता है या प्रकृष्ट राग-द्वेष के हेतु भूत मनोज्ञ-अमनोज्ञ विषयों का सम्पर्क होने पर भी वीतरागादि स्व स्वभाव को नहीं छोड़ने के कारण भी उन्हें अरहंत कहा जाता है।[४]

कर्म रूपी बीज के सर्वथा क्षय हो जाने से उनमें पुनर्भव की स्थिति शेष नहीं रह जाती, अतः उन्हें 'अरुहन्त' कहते हैं।[५]

जब तक अवशेष ४ कर्म नष्ट नहीं होते हैं, तब तक अरिहन्त देव इस भूमण्डल पर विचरण करते रहते हैं। अन्ततः सभी कर्मों का क्षय करके सिद्ध अवस्था प्राप्त करते हैं। उपर्युक्त गुणों से युक्त कोई भी आत्मा क्यों न हो, वे अरिहंत पद में नमस्करणीय है।

णमो सिद्धाणं—सिद्ध भगवान् को नमस्कार हो। अष्ट कर्म रूपी काष्ट को परम शुक्ल ध्यान रूपी अनल से जिन्होंने भस्म कर दिया है, जो परम विशुद्ध अष्ट गुणों[६] से युक्त हैं, जो पुनरागमन रहित मुक्ति के शाश्वत, सुख में विद्यमान हैं, निरंजन निराकार, निरामय बन चुके हैं तथा मंगलरूप एवं अविनाशी हैं, वे सिद्ध कहलाते है।[७]

प्रत्येक भव्य-आत्मा का चरम लक्ष्य सिद्धत्व प्राप्ति का है। जब आत्मा अनादिकालीन कर्मों का सर्वथा क्षय कर देती है, तब वह अनन्त आत्मीय आनन्द को परिपूर्ण रूप से उपलब्ध कर लेती हैं।

सिद्ध आत्माओं में ज्ञान, दर्शन, चारित्र (शाश्वत सुख) और शक्ति की परिपूर्णता सदा विद्यमान रहती है। उन्हें नमस्कार करने से उनके गुण हमारी सुषुप्त चेतना को जागृत करने के लिये सहज रूप में निमित्त बनते हैं। जिस प्रकार दर्पण में व्यक्ति अपने मुख का प्रतिबिम्ब देखकर चेहरे पर

३- अविद्यमानो रथः स्यन्दनः सकलपरिग्रहोपलक्षणभूतोऽन्तश्च विनाशो जराद्युपलक्षणभूतो येषां ते अरथान्ता अतस्तेभ्यः।

४- अरहंताणं क्वचिदाप्यासक्तिमगच्छद्भ्यः क्षीणरागत्वात् अथवा अरहयद्भ्यः प्रकृष्ट रागादिहेतुभूतमनोज्ञेतर-विषयसंपर्केऽपि वीतरागत्वादिकं स्वंस्वभावमत्यजद्भ्यः।

५- अरोहद्भ्य अनुपजायमानेभ्यः क्षीणकर्मबीजत्वात्।

६- सिद्धों के आठ गुण—
अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तचारित्र, अनन्तसुख, अटलअवगाहन, अमूर्तिक, अगुरुलघु एवं अनन्तवीर्य।

७- ध्मातं सितं येन पुराण कर्मं, यो वा गतो निर्वृति सौधमूर्ध्नि।
ख्यातोऽनुशास्ता परिनिष्ठितार्थो यः सोऽस्तु सिद्धः कृतमंगलो मे॥

स्थित काले धब्बे को दूर कर लेता है। दर्पण उसके काले धब्बे को दूर करने में निमित्त मात्र है। स्वयं कुछ नहीं करता, करने वाला स्वयं मानव ही है।

इसी प्रकार सिद्धत्व का पवित्र स्वरूप, कर्मबद्ध आत्माओं के स्वरूप को उजागर करने के लिये दर्पण की तरह निमित्त बनता है। उन्हें नमस्कार करने से उन पवित्र आत्माओं की स्मृति उभर आती है। तब मानव स्वयं भी तदनुरूप बनने के लिये प्रयत्नशील बन जाता है। एतदर्थ सिद्ध भी नमस्करणीय हैं।

णमो आयरियाणं—आचार्य को नमस्कार हो।

मर्यादापूर्वक-विनयपद्धति के साथ जो भव्य प्राणियों से सेवित हैं, वे आचार्य कहलाते हैं।[1]

सूत्रार्थ विज्ञाता, गच्छनायक, गच्छ के आधार, उत्तम लक्षणों से संपन्न, गण के ताप से विमुक्त अर्थात् गण की सारण–वारण–धारण रूप व्यवस्था को कुशलता के साथ वहन करने वाले, पंचाचार-ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार का दृढ़ता से पालन करने-कराने वाले, संघ धुरा को योग्यता के साथ चलाने वाले, अर्हद्-धर्म की सर्वतः उन्नति करने वाले[2] छत्तीस (३६) गुण संपन्न आचार्य कहलाते हैं।[3]

आचार्य संघ की केन्द्रीभूत शक्ति है। सेना के लिये सेनापति, प्रजा के लिये राजा, राष्ट्र के लिये राष्ट्रपति की जितनी आवश्यकता है, उससे भी कई गुणी अधिक संघ के लिये आचार्य की आवश्यकता है।

आचार्य के बिना संघ की गतिविधि सुव्यवस्थित रूप से नहीं चल सकती। पतंग की उड़ान आकाश में तभी तक हो सकती है, जब तक पतंग उड़ाने वाले के हाथ में उसकी डोर है।

१– आ-मर्यादया विनयरूपतया चर्यन्ते-सेव्यन्ते जिनशासनार्थोपदेशकतया इति आचार्यः।
आ-आङ्—उपसर्ग होने से आङ् का अर्थ मर्यादा भी निकलता है। तात्पर्य यह है कि आ—मर्यादापूर्वक प्रकार से विनय पद्धति के साथ जिनकी उपासना की जाय।

२– सुत्तत्थविऊ लक्खणजुत्तो, गच्छस्स मेढिभूओ य।
गणतत्तिविप्पमुक्को, अत्थं वाएइ आयरिओ॥
पंचविहं आयारं आयरमाणा तहा पभासंता।
आयारं दंसंता, आयरिया तेण वुच्चंति॥

३– आचार्य के ३६ गुण—पंचाचार पालक, पंच महाव्रतधारी, पंचेन्द्रियविजेता, चतुर्विध कषाय विजेता, नववाड़ ब्रह्मचर्य पालक, पांच समिति एवं तीन गुप्ति के धारक (पालक)। आचार्य के ३६ गुण अलग-२ प्रकार से और भी मिलते हैं। किन्तु यहां प्रचलित गुणों को ही लिया गया है।

आचार्य साधु–साध्वियों के ज्ञान–दर्शन–चारित्र में पवित्रता, शुद्धता के साथ अभिवृद्धि करने ाले पंच महाव्रतों का आगमिक धरातल पर दृढ़ता के साथ पालन कराने वाले तथा उनकी उत्पन्न ाधाओं को सुगमता के साथ दूर करने वाले होते हैं।

आचार्य, श्रावक–श्राविकाओं में अर्हत्–धर्म के प्रति श्रद्धा–प्रीति एवं रुचि उत्पन्न करने वाले ोते हैं। ग्रामानुग्राम विहार कर जिनेश्वर भगवंतों के उपदेश को भव्य जनता तक पहुंचाते हैं। उनके रिचय में आकर जनता जिनधर्म के प्रति आकर्षित हो जाती है।

तीर्थंकर भगवान् के शासन को विशुद्धता के साथ प्रवर्तित करने के लिये आचार्य की संघ में ानिवार्य आवश्यकता होती है। जिस संघ में ३६ गुणधारी प्रतिभासंपन्न विधिवत् आचार्य न हो तो ह संघ, गण किंवा संप्रदाय आगमोक्त धरातल पर विशुद्धता के साथ नहीं चल सकता।

सम्बोध प्रकरण में आचार्य हरिभद्रसूरि ने भी कहा है—

पवयणरयण निहाणा, सूरिणो जत्थ नायगा भणिया।
संपइ सव्वं धम्मं, तयहिट्ठाणं जओ भणियं ॥
कइयावि जिणवरिंदा पत्ता, अयरामरं पहं दाऊं।
आयरिएहिं पवयणं, धारिज्जइ

'गच्छ में प्रवचन रत्न के निधान नायक आचार्य होते हैं। वर्तमान में धर्म के सभी कार्य आचार्य के अधिष्ठान में होते हैं।

तीर्थंकर भगवान् तो मोक्षमार्ग दिखाकर मुक्तिधाम पधार गये। वर्तमानकाल में धर्मशासन की धुरा के धारक आचार्य ही हैं।'

अनेक दृष्टिकोणों को लक्ष्य में रखते हुए आचार्य हमारे सत्य–तथ्य पथप्रदर्शक होने से वन्दनीय और नमस्करणीय होते हैं।

णमो उवज्झायाणं—उपाध्याय को नमस्कार हो।

उप+अध्याय—जिनके समीप रहकर–अध्ययन किया जाय, उन्हें उपाध्याय कहते हैं।

जिनके समीप रहकर न्याय–व्याकरण, स्वर व्यंजन युक्त, शुद्ध उच्चारण के साथ जैनागमों का अध्ययन किया जाय, उन्हें उपाध्याय कहते हैं।[१]

'उपाध्याय' शब्द के और भी अनेक अर्थ निकलते हैं यथा—

(१) जिनके सन्निकट जाने से शिष्यों को उपाधि प्राप्त हो, अर्थात् जो अध्ययन की तरतमता के प्रमाण के विज्ञाता हों, वे उपाध्याय कहलाते हैं।

१– यस्य समीपे न्याय व्याकरण स्वर व्यंजनादि शुद्धोच्चारणेन सह जैनागमस्याध्ययनं जायते इति उपाध्यायः

(२) जिनकी समीपता से शिष्यों को अनायास ही आगमों का ज्ञान प्राप्त हो, यथा—इत्र की दुकान पर जाने से अनायास ही सुगंध की प्राप्ति होती है, तथैव उपाध्याय के समक्ष आगमों का अध्ययन-अध्यापन आदि चलते रहने से नवागंतुक को भी उसे श्रवण करने का अनायास ही ज्ञान मिल जाता है।

(३) 'आय' का अर्थ—इष्टफल के रूप में भी लिया जाता है। जिनके समीप जाने से इच्छित ज्ञान की उपलब्धि हो, यथा—पके आम्रफलों से संपन्न आम्रवृक्ष के समीप जाने से आम्रफलों की प्राप्ति होती है।

(४) 'आधि' शब्द से मानसिक पीड़ा, 'अध्याय' शब्द से दुर्ध्यान-अप्रशस्त ध्यान भी लिया जाता है। अर्थात् जिनके अप्रशस्त ध्यान नष्ट हो जाते हैं, जो मानसिक पीड़ा से रहित हैं, उन्हें उपाध्याय कहते हैं।

महामंत्र में 'उपाध्याय' पद का भी एक महत्वपूर्ण स्थान है। जो तीर्थंकरों के ज्ञान को अपनी प्रखर प्रतिभा से सुरक्षित रखते हुए अविच्छिन्न रूप से भव्य आत्माओं को उसका बोध प्रदान करते हैं। उपाध्याय संघ के एक ऐसे सूत्र हैं, जो आगमिक पाठों के शुद्ध उच्चारण आदि परम्परा को कायम रखते हैं।

उपाध्याय, आगमों के अध्यापन से भव्यात्माओं के ज्ञानप्रासाद को हढीभूत करते हुए नींव का कार्य करते हैं और आचार्य उनके सुगूढ़ रहस्यों को उद्घाटित करके, ज्ञानादि रत्नत्रय रूप भव्य भवन का निर्माण करते हैं।

वर्तमान युग में 'उपाध्याय' शब्द रूढ़िगत भी हो गया है। अनेक व्यक्ति अपने आपको उपाध्याय कहते हैं, यहां तक कि 'उपाध्याय' एक जन्मजात पदवी भी बन गई है। कई लोग तो इसके लिये 'महामहोपाध्याय' पद भी लगा देते हैं। परन्तु ये 'उपाध्याय' नमस्कार-महामंत्र के गरिमा से युक्त नहीं हैं। महामंत्र के अन्तर्गत उपाध्याय तो वही हो सकते हैं, जो आगम-विज्ञाता होने के साथ ही मानसिक उद्वेग एवं दुर्ध्यान से रहित उपाध्याय योग्य २५ उत्तम गुणों से संपन्न हों।[1]

१— उपाध्याय के २५ गुण—

ग्यारह (११) अंग, बारह (१२) उपांग

चरण सत्तरि, करण सत्तरि = २५ गुण

✿ ग्यारह अंग—१. आचारांग, २. सूत्रकृतांग, ३. स्थानांग, ४. समवायांग, ५. व्याख्याप्रज्ञप्ति, ६. ज्ञाताधर्मकथा, ७. उपासकदशांग, ८. अंतकृद्दशांग, ९. अनुत्तरोपपातिक, १० प्रश्नव्याकरण, ११. विपाकसूत्र।

✿ बारह उपांग—१. उववाई, २. रायपसेणी, ३. जीवाभिगम, ४. पन्नवणा, ५. जम्बूद्वीप पन्नत्ति, ६. चन्द-पन्नत्ति, ७. सूर-पन्नत्ति, ८. निरयावलिया, ९. कप्पवडंसिया, १०. पुप्फिया, ११. पुप्फचूलिया, १२. वण्हिदशा।

✿ चरणसत्तरि—पंच महाव्रत, दस श्रमणधर्म, सत्रहविध संयम, वैयावृत्य, नवब्रह्मचर्य गुप्ति, ज्ञानत्रय, द्वादशविध तप, क्रोध, मान, माया, लोभ का निग्रह।

णमो लोए सव्वसाहूणं—

लोकगत सभी साधुओं को नमस्कार हो।

संस्कृत व्युत्पत्तिकार 'साधु' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार बताते हैं—

ज्ञानादि शक्तियों द्वारा जो मोक्ष की साधना करते हैं, वे साधु कहलाते हैं।[1]

अथवा समस्त चराचर जगत् के प्राणियों के प्रति जिनका समता (आत्मीय) भाव हो, उन्हें साधु कहते हैं।[2]

अथवा जो संयम पालन करने वालों के सहायक हों, वे साधु कहलाते हैं।[3]

सांसारिक मोह ममता के त्यागी, भौतिक बन्धनों से विनिर्मुक्त, अध्यात्म भाव में रमण करने वाले, अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह रूप पंच महाव्रतों का दृढ़ता के साथ पालन करने वाले, कनक कान्ता के सर्वथा त्यागी, अखिल विश्व के प्रत्येक प्राणी के प्रति आत्मीय व्यवहार रखने वाले, किसी भी प्रकार के रुपये-पैसे, पोस्टकार्ड–लिफाफा आदि परिग्रह नहीं रखने वाले, आगमोक्त २७ गुणों[४] को धारण करने वाले साधक महामंत्र के पांचवें पद की कोटि में आते हैं।

जो अपनी संयमित मर्यादाओं को सुरक्षित रखते हुए जनता के अज्ञान-अंधकार को दूर कर ज्ञान का लोकोत्तर आलोक प्रसारित करते हैं, प्राणियों को कुपथ से बचाने एवं सुपथ पर ले जाने का संदेश देते हैं, भवाब्धि में डूबने वाले प्राणी के लिए पतवार का काम करते हैं, ग्रामानुग्राम विहार करते हुए जनता के समक्ष जिन धर्म की प्रभावना करते हैं, स्वयं संसार समुद्र से तिरते हैं और अन्यों को भी तारते है, वे साधु कहलाते हैं।

'साहूणं' के पूर्व 'सव्व' पद की संयोजना यह परिद्योतित करती है—सव्वसाहूणं अर्थात् समान भाव से सबका हित करने वाले साधुओं को नमस्कार।

※ करणसप्तति—पिण्डविशुद्धि के चार भेद—(बयालीस दोष रहित शुद्ध पिण्ड, पात्र, वस्त्र, शय्या का ग्रहण), पांच समिति, बारह भावना, बारह पडिमा, पांच इन्द्रिय–निरोध, पच्चीस प्रतिलेखना, तीन गुप्ति, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव रूप चार अभिग्रह–कुल ७० भेद हुए।

[—प्रवचन सारोद्धार]

१– साधयन्ति ज्ञानादि शक्तिभिः मोक्षमिति साधवः।

२– समता वा सर्वभूतेषु ध्यायन्तीति साधवः।

३– सहायकं वा संयमकारिणां धारयन्तीति साधवः।

४– साधु के २७ सत्ताईस गुण—पांच महाव्रत पालन, पांच इन्द्रियों का निरोध, चार कषायों का त्याग, भावसत्य, करणसत्य, योगसत्य, क्षमा, विरागता, मनसमाहरणता, वचनसमाहरणता, कायसमाहरणता, ज्ञानसंपन्नता, दर्शनसंपन्नता, चारित्रसंपन्नता, वेदनातिसहनता, मारणान्तिकातिसहनता।

[—समवायांग सूत्र]

'सव्व' शब्द से अरिहन्त अर्थ भी लिया जाता है, अर्थात् सबका कल्याण करने वाले, राग-द्वेष के विजेता वीतराग प्रणीत धर्मानुयायी साधुओं को नमस्कार ।

इस प्रकार सव्वसाहूणं से अनेक अर्थ ग्रहण किये जाते हैं ।

यहां यह जिज्ञासा हो सकती है कि 'सव्व' शब्द को आदि के चार पदों में न लगाकर पांचवें पद में ही क्यों लगाया, क्या आदि के चार पद अपने पदगत सभी आत्माओं के ग्राहक नहीं हैं?

इस जिज्ञासा का समाधान इस प्रकार हो सकता है । अरिहंताणं पद स्वयं बहुवचन है। बहुवचन में सभी अरिहन्तों का ग्रहण हो जाता है । वैसे ही अन्य पदों में भी बहुवचन है, अतः प्रत्येक पद के साथ सभी का यथायोग्य ग्रहण हो जाता है । किन्तु अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु आदि के साथ-२ विशिष्ट पदवी संपन्न हैं । अतएव उनके पीछे 'सव्व' शब्द लगाने की आवश्यकता नहीं रही। किन्तु पांचवा पद वैसी पदवियों से सम्पन्न नहीं है । वह सामान्य साधु जीवन का संग्राहक है ।

वीतराग देव की आज्ञा के अनुसार साधु जीवन में रमण करने वाले जितने भी साधु हैं, उन सबका एक ही पद में ग्रहण करने के लिए पांचवे पद में 'सव्व' शब्द दिया गया है । इस पर पुनः जिज्ञासा हो सकती है कि 'सव्व' शब्द से जब सभी साधुओं का ग्रहण हो जाता है तो फिर 'लोए' शब्द की क्या आवश्यकता है ? इसका समाधान यह है कि 'सव्व' शब्द एक शासन-गत साधु वर्ग का ही परिचायक हो सकता है । वैसी स्थिति में अन्य शासनगत श्रमण वर्ग का पांचवें पद में कैसे समावेश हो पाएगा ? अतः 'लोए' शब्द लगाने से सभी तीर्थंकरों के शासनगत श्रमण वर्ग का संग्रह हो जाता है, इसलिए 'लोए' शब्द अत्यन्त महत्वपूर्ण है । इसको प्रमुख स्थान से हटाना एवं गौण रूप में देना यह तीर्थंकर देवों की प्रकारान्तर से अवज्ञा ही होगी ।

इस प्रकार 'लोए' शब्द में सारे मनुष्य लोक के साधुओं का समावेश है । आगमोक्त २७ गुणों एवं अनुशासन की मर्यादा लिये हुए अकिंचन मुनिराज किसी भी अवस्था में क्यों न विद्यमान हों, उन सभी को पांचवें पद में नमस्कार किया गया है ।

नमस्कार महामंत्र के पांच पदों में संसार की सभी महान् पवित्र आत्माओं का समावेश हो जाता है । इस प्रकार नमस्कार मंत्र के लघु शब्दों में महान् विराटता एवं व्यापकता छिपी हुई है ।

जिज्ञासाओं का समाधान

जिज्ञासा--मानव के मन में सहज ही जिज्ञासा स्फुरित होती है कि अरिहंत भगवान् को पहले नमस्कार क्यों किया गया ? अरिहंत के तो घनघाती कर्म ही क्षय हुए हैं । जबकि सिद्ध संपूर्ण कर्मों को क्षय कर चुके हैं ।

समाधान—यह बात सत्य है कि अरिहंतों की अपेक्षा सिद्धों की आत्मिक विशुद्धता उच्च श्रेणी की है परन्तु सिद्ध अशरीरी, संसार से अतीत और इन्द्रिय से अगोचर हैं । उनके स्वरूप का अवबोध हमें अरिहंतों के द्वारा ही होता है । अरिहंत ही सिद्धों के स्वरूप को बताने वाले होते हैं । इस प्रकार सिद्धों का स्वरूप ज्ञान तथा सत्य-तथ्य पथ का प्रदर्शन अरिहंतों द्वारा होता है, अतः उन्हें पहले नमस्कार किया गया है ।

आचार्य, उपाध्याय तथा साधु तो अरिहंत भगवान् द्वारा प्ररूपित सिद्धान्तों का अध्ययन करके ही उपदेश देते हैं, स्वतंत्र रूप से ज्ञान प्राप्त करके नहीं । वे (आचार्यादि) तो अरिहंत भगवान् की सभा के सभासद के रूप में हैं । एतदर्थ विशिष्टार्थ विज्ञाता अरिहंत देव को ही प्रथम पद में नमस्कार किया गया है ।

जिज्ञासा २—'सिद्धाणं' पद की व्याख्या में सिद्ध भगवतों में चारित्र स्वीकार किया गया है । परन्तु वर्तमान में प्रचलित परम्पराओं में कई परम्पराएं सिद्धों में चारित्र स्वीकार नहीं करती हैं । वास्तविकता क्या है ?

समाधान—सिद्ध आत्मा में चारित्र है या नहीं, एतद् विषयक विभिन्न मान्याएं प्रचलित हैं । किन्तु सापेक्ष दृष्टिकोण से चिन्तन करने पर वस्तुतत्त्व का यथार्थ विज्ञान प्राप्त हो जाता है ।

आत्मा की शक्तियों को आवृत करने वाले मुख्यतया आठ कर्म हैं । जिन-जिन कर्मों के आवरण का विलय होता है, उन आवरणों से आच्छादित शक्तियां प्रकट होती रहती हैं । यथा—

> ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय से अनन्त ज्ञान प्रकट होता है । मोहनीय कर्म के मुख्य दो भेद हैं—दर्शन मोह और चारित्र मोह ।

दर्शनमोह के क्षय से क्षायिक सम्यक्त्व का प्रादुर्भाव होता है । जिसे सभी स्वीकार करते हैं । इसी प्रकार चारित्रमोह के क्षय से क्षायिक चारित्र प्रकट होता है दर्शनमोह के क्षय से प्रकटित क्षायिक सम्यक्त्व को तो माने और चारित्र मोह के क्षय से प्रकट क्षायिक चारित्र स्वीकार न करें—यह कैसे हो सकता है ?

दर्शनमोहकी तरह चारित्र मोह भी आत्मा के गुणों को आच्छादित करने वाली प्रकृति है। दर्शनमोह के क्षय से सम्यक्त्व गुण प्रकट होता है। उसी प्रकार चारित्रमोह के क्षय से कुछ भी प्रकट न होने से कर्म का आत्मा के साथ रहना या न रहना एक हो जायेगा।

तेरहवें, चौदहवें गुणस्थान में यथाख्यात चारित्र माना गया है। जिसे अनंत चारित्र क्षायिक चारित्र के नाम से भी अभिव्यंजित कर सकते हैं। घातिक कर्मों के सर्वथा क्षय के बाद की अवस्था तेरहवें गुणस्थान में प्रकट होती है, वही अवस्था सिद्ध रूप में भी विद्यमान रहती है, अर्थात् सिद्धावस्था में भी अनन्त चतुष्टय (ज्ञान, दर्शन, चारित्र, वीर्य) यथावत् विद्यमान रहते हैं।

प्रस्तुत (भगवती सूत्र) शास्त्र के द्वितीय शतक-प्रथम उद्देशक में (स्कन्धक प्रकरण के अन्तर्गत) सिद्धों में चारित्र स्वीकार किया है।

यथा—'भावओ णं सिद्धे अणंता णाण पज्जवा, अणंता दंसण पज्जवा जाव अणंता अगुरुलहु पज्जवा।'

यहां जाव पद से—अणंता चरित्त-पज्जवा लिया गया है। क्योंकि इसके पूर्व स्कन्धक के पाठ में दंसण-पज्जवा का अगला पद 'अणंत चरित्त पज्जवा' आया है।

उक्त आगम प्रमाण से भी सिद्धों में अनंत चारित्र सिद्ध होता है। जहां सिद्धों के गुणों का उल्लेख किया जाता है उनमें क्षायिक सम्यक्त्व का तो उल्लेख कर दिया गया, परन्तु क्षायिक चारित्र का नहीं, जो कि उपयुक्त नहीं है। क्षायिक चारित्र के कहने से क्षायिक सम्यक्त्व का समावेश हो जाता है। किन्तु क्षायिक सम्यक्त्व की स्थिति में क्षायिक चारित्र की भजना रहती है अर्थात् क्षायिक सम्यक्त्व के सद्भाव में क्षायिक चारित्र होता भी है और नहीं भी होता है। जहां क्षायिक चारित्र है, वहां क्षायिक सम्यक्त्व की नियमा है अर्थात् क्षायिक चारित्र के सद्भाव में क्षायिक सम्यक्त्व निश्चित रूप से होता है।

उपर्युक्त दृष्टिकोणों से सिद्धों में 'अनन्त चारित्र' मानने में कोई बाधा नहीं आती है।

जिज्ञासा २—अरिहंत पद में केवल तीर्थंकरों का ही ग्रहण किया जाय या सामान्य केवलियों का भी ?

समाधान—इसमें व्याख्याकारों की विभिन्न मान्यताएं हैं। कई सामान्य केवलियों को साधु-पद में स्वीकार करते हैं तो कई पहले अरिहंत-पद में। इस विषय का चिन्तन [illegible] परिप्रेक्ष्य में किया जाय तो वस्तु स्थिति स्पष्ट हो जाती है।

आगमिक दृष्टि से भव्य आत्माओं का वर्गीकरण गुणस्थानों के आधार पर करके [illegible] के पदों में गणना स्थापित करना उपयुक्त है।

छठे गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक के अन्तराल में यथास्थान यथायोग्य आचार्य, उपाध्याय, साधु का ग्रहण होता है। बारहवें गुणस्थान से ऊपर तेरहवें गुणस्थानवर्ती आत्माओं को अरिहंत पद में ग्रहण किया जाता है।

तेरहवें गुणस्थान के अधिकारी वे ही होते हैं, जिन्होंने चार घनघाती कर्मों को समूलतः क्षय करके केवलज्ञान–केवलदर्शन की परम उपलब्धि कर ली है। ऐसी कोई भी आत्मा क्यों न हो, वे सभी तेरहवें गुणस्थान के अधिकारी हैं।

उन आत्माओं में से चाहे कोई तीर्थंकर हो या सामान्य केवली—सभी आत्माएं तेरहवें गुण-स्थानवर्ती ही कहलाएंगी। गुणों के आधार पर तीर्थंकर और सामान्य केवली में कोई अन्तर नहीं है। जो तेरहवें गुणस्थानवर्ती आत्माएं हैं, वे अरिहंत पद में गृहीत हैं। तब अरिहंत पद में तीर्थंकर और सामान्य केवली दोनों ही समाविष्ट होंगे। इस शास्त्रीय दृष्टिकोण से तीर्थंकर को और सामान्य केवली को अरिहंत पद में ही ग्रहण किया जाता है।

तेरहवें सयोगी केवली गुणस्थान में आत्मा केवलज्ञानी होती है। जो गुणस्थान पूर्व गुणस्थानों की अपेक्षा उच्चतर होता है। पूर्व गुणस्थानों में रही हुई आत्माओं की विशुद्धि की अपेक्षा सयोगी केवली गुणस्थान में रही हुई आत्मा की विशुद्धि उच्चतम होती है। बारहवें गुणस्थानवर्ती की आत्माएं छद्मस्थ वीतराग होती हैं। तेरहवें गुणस्थानवर्ती आत्माएं केवली वीतराग बन जाती हैं। जब छद्मस्थ अवस्था में स्थित भव्य जीवों में से कई जीव नमस्कार महामंत्र के तृतीय एवं चतुर्थ पद के अधिकारी बन जाते हैं तो छद्मस्थ अवस्था से उपरत वीतराग अवस्था में विचरण करने वाली आत्माओं को पांचवें पद में कैसे लिया जा सकता है? यह एक गहरा विचारणीय प्रश्न है। जब छद्मस्थ अवस्था में विचरण करने वाले भी तृतीय चतुर्थ पद के अधिकारी हो सकते हैं, तब वीतरागी सर्वज्ञ–सर्वदर्शी केवली, प्रथम पद के अधिकारी क्यों नहीं हो सकते हैं? वे अवश्य ही प्रथम पद के अधिकारी होंगे?

एक स्पष्ट दृष्टिकोण यह है कि प्रथम पद 'णमो अरिहंताणं' से सीधा सा अर्थ यह निकलता है कि—अरि–शत्रु, हंताणं—हनन करने वाले।

जो घनघाती कर्म चतुष्टय रूप शत्रुओं का हनन करने वाले हैं—उन्हें नमस्कार। इसमें व्यक्तिगत रूप से न तो तीर्थङ्करों को नमस्कार किया गया है और न ही सामान्य केवली को।

अरिहंत पद में घनघाती कर्मों को नाश करने वाली आत्माओं को नमस्कार किया गया है, चाहे फिर वे सामान्य केवली हों या तीर्थंकर। इस प्रकार स्पष्ट है कि अरिहंत पद में सामान्य केवली और तीर्थंकर दोनों का ही समावेश है।

यदि अरिहंत पद से तीर्थंकर अर्थ अभीष्ट था तो फिर 'अरिहंताणं' जैसा सामान्य पद ... न कर 'णमो तित्थयराणं' ऐसे स्पष्टावबोधक पद का प्रयोग किया जाता।

दूसरी बात यह है कि 'अरिहंताणं' से केवल तीर्थंकर का ही अर्थ लिया जाए तो ... दोष भी आएगा क्योंकि 'अरिहंताणं' का अर्थ सामान्य केवली में भी पाया जाता है।

उपर्युक्त दृष्टिकोणों से यह स्पष्ट है कि अरिहंत पद में सामान्य केवली एवं तीर्थंकर ... ही वन्दन किया गया है।

नमस्कार मंत्र के पदों की वन्दन विधि के अतिरिक्त अन्य स्थल पर जहां ... आया है, सिद्ध और संयति के दो भेद में ही पांचों पदों को समाविष्ट किया गया है। यथा—

सिद्धाणं नमो किच्चा, संजयाणं च भावओ।
अत्थधम्मगइं तच्चं, अणुसट्ठिं सुणेह मे॥

इस गाथा में सिद्ध और संयति, इन दो भेद में ही नमस्कार महामंत्र पांचों ... नमस्कार कर लिया गया है।

सिद्ध पद में अरिहंत-सिद्ध को एवं संयति पद में आचार्य, उपाध्याय एवं साधुओं ... किया है। क्योंकि जहां सुदेव-सुगुरु-सुधर्म का वर्णन आता है वहां सुदेव में अरिहंत और सिद्ध ... सुगुरु में आचार्य, उपाध्याय और साधुओं का ग्रहण किया है।

अपर विवक्षा से गाथागत सिद्ध पद से केवल सिद्धों का और संयति पद से ... को ग्रहण किया गया है।

किन्तु जहां पांच पदों की विवक्षा से सम्बन्ध है, वहां तो प्रथम पद में तीर्थंकर और ... केवली दोनो ही समाविष्ट हैं। पांचवें पद में आचार्य, उपाध्याय से रहित सामान्य साधुओं ... समाविष्ट है। जैसा कि शास्त्रों में प्राण या भूत कहने से जगत के सारे प्राणियों का समावेश ... है, परन्तु जहां प्राण-भूत-जीव-सत्त्व का एक साथ वर्णन आता है, वहां जीवों का वर्गीकरण ... किया जाता है। इसी प्रकार नमस्कारमंत्र के पांच पदों में भी वर्गीकरण किया गया है।

उपर्युक्त दृष्टिकोणों से नमस्कार महामंत्र में वन्दन की अपेक्षा से अरिहंत पद में ... केवली और तीर्थंकर दोनों गृहीत हैं।

णमो बंभीए[1] लिवीए[2] — ब्राह्मी लिपि को नमस्कार हो।

विवेचन :

अक्षर तीन प्रकार के होते हैं—संज्ञाक्षर, व्यञ्जनाक्षर, लब्ध्यक्षर। लब्ध्यक्षर तदावरणीय क्षयोपशमादि के कारण आत्मीय शक्ति स्वरूप होते हैं, उसका ज्ञान, व्यंजनाक्षर व संज्ञाक्षर के माध्यम से भव्यात्माओं को कराया जाता है।

गणधर लब्ध्यक्षर से सम्पन्न होते हैं। वे इस लब्धि रूप लिपि में तीर्थंकर देव की देशना को संग्रहीत करते हैं।

अंतराय कर्म के सर्वथा विलय हो जाने से तीर्थंकर देवों में अनंत शक्ति, जो लब्धि रूप में प्रकट होती है इसे ब्रह्मीय लब्धि के रूप में भी अभिसंज्ञित किया जा सकता है। क्योंकि ब्रह्म का अर्थ है—आत्मा, परमात्मा।

इस परमात्म रूप—ब्रह्म से जो बोध रूप ज्ञान प्रकट होता है वह ब्रह्मीय ज्ञान कहलाता है और यही व्यवस्थित लब्धि रूप ज्ञान में परिणत होता है। इस लब्धि रूप ज्ञान को ब्राह्मी लिपि कहा जाता है। इसी लब्धि रूप लिपि में तीर्थंकर देवों के आशय को संग्रहीत करने के साथ ही गणधरों ने ज्ञानरूप ब्राह्मी लिपि को नमस्कार कर इस देशना को ग्रहण किया है न कि बाह्य अक्षर रूप लिपि को नमस्कार किया है।

बाह्य अक्षर रूप लिपि तो साधारण जनता को समझाने में सहायक बन सकती है। इस अपेक्षा से यदि इस लिपि को नमस्कार किया जाय तो यवन लिपि, लाट लिपि, तुर्की लिपि, राक्षसी लिपि भी अर्थविबोधक होने से नमस्करणीय होगी।

किन्तु यह बाह्य लिपि नश्वर एवं परिवर्तनशील है। ऐसी नश्वर एवं परिवर्तनशील लिपियों को गणधर कभी नमस्कार नहीं कर सकते। उन्होंने तीर्थंकर देव के द्वारा निर्दिष्ट ज्ञान धारा को ग्रहण करने के पूर्व ज्ञान रूप ब्राह्मी लिपि को नमस्कार किया था। कथा भाग आदि में ऋषभदेव द्वारा ब्राह्मीजी को लिपि सिखाने का उल्लेख है, और उससे जो ब्राह्मी लिपि की संज्ञा बनी है, वह असि, मसि, कृषि के प्रसंग से भगवान ने छद्मस्थावस्था में कला के रूप में सिखाई थी, तत्संबंधित फलित होती है।

तीर्थंकर भगवान् ने केवल ज्ञान होने के बाद जो देशना दी, उस देशना को यथावत् समझने की लब्धि गणधरों में उत्पन्न हुई जो बाह्यकला रूप लिपि नहीं थी, अतएव स्पष्ट है कि प्रस्तुत सूत्र में बाह्यकला रूप लिपि को ग्रहण नहीं किया गया।

(१) बंभीयस्स पुं० / बंभीए ता० व० (२) लिवीयस्स पुं०

यदि अरिहंत पद से तीर्थंकर अर्थ अभीष्ट था तो फिर 'अरिहंताणं' जैसा सामान्य पद का प्र
न कर 'णमो तित्थयराणं' ऐसे स्पष्टावबोधक पद का प्रयोग किया जाता।

दूसरी बात यह है कि 'अरिहंताणं' से केवल तीर्थंकर का ही अर्थ लिया जाय तो अतिव्या
दोष भी आएगा क्योंकि 'अरिहंताणं' का अर्थ सामान्य केवली में भी पाया जाता है।

उपर्युक्त दृष्टिकोणों से यह स्पष्ट है कि अरिहंत पद में सामान्य केवली एवं तीर्थंकर दोनों
ही वन्दन किया गया है।

नमस्कार मंत्र के पदों की वन्दन विधि के अतिरिक्त अन्य स्थल पर जहां वन्दन का प्र
आया है, सिद्ध और संयति के दो भेद में ही पांचों पदों को समाविष्ट किया गया है। यथा—

सिद्धाणं नमो किच्चा, संजयाणं च भावओ।
अत्थधम्मगइं तच्चं, अणुसट्ठिं सुणेह मे॥

इस गाथा में सिद्ध और संयति, इन दो भेद में ही नमस्कार महामंत्रगत पांचों पदों
नमस्कार कर लिया गया है।

सिद्ध पद में अरिहंत-सिद्ध को एवं संयति पद में आचार्य, उपाध्याय एवं साधुओं को
किया है। क्योंकि जहां सुदेव-सुगुरु-सुधर्म का वर्णन आता है वहां सुदेव में अरिहंत और सिद्ध
सुगुरु में आचार्य, उपाध्याय और साधुओं का ग्रहण किया है।

अपर विवक्षा से गाथागत सिद्ध पद से केवल सिद्धों का और संयति पद से अवशेष चार
को ग्रहण किया गया है।

किन्तु जहां पांच पदों की विवक्षा से सम्बन्ध है, वहां तो प्रथम पद में तीर्थंकर और सा
केवली दोनों ही समाविष्ट हैं। पांचवें पद में आचार्य, उपाध्याय से रहित सामान्य साधुओं
समावेश है। जैसा कि शास्त्रों में प्राण या भूत कहने से जगत के सारे प्राणियों का समावेश हो
है, परन्तु जहां प्राण-भूत-जीव-सत्त्व का एक साथ वर्णन आता है, वहां जीवों का यथास्थान वर्गी
किया जाता है। इसी प्रकार नमस्कारमंत्र के पांच पदों में भी वर्गीकरण किया गया है।

उपर्युक्त दृष्टिकोणों से नमस्कार महामंत्र में वन्दन की अपेक्षा से अरिहंत पद में सा
केवली और तीर्थंकर दोनों गृहीत हैं।

णमो बंभीए[1] लिवीए[2]

—ब्राह्मी लिपि को नमस्कार हो।

विवेचन :

अक्षर तीन प्रकार के होते हैं—संज्ञाक्षर, व्यञ्जनाक्षर, लब्ध्यक्षर। लब्ध्यक्षर तदावरणीय क्षयोपशमादि के कारण आत्मीय शक्ति स्वरूप होते हैं; उसका ज्ञान, व्यंजनाक्षर व संज्ञाक्षर के माध्यम से भव्यात्माओं को कराया जाता है।

गणधर लब्ध्यक्षर से सम्पन्न होते हैं। वे इस लब्धि रूप लिपि में तीर्थंकर देव की देशना को संग्रहीत करते हैं।

अंतराय कर्म के सर्वथा विलय हो जाने से तीर्थंकर देवों में अनंत शक्ति, जो लब्धि रूप में प्रकट होती है इसे ब्रह्मीय लब्धि के रूप में भी अभिनंदित किया जा सकता है। क्योंकि ब्रह्म का अर्थ है—आत्मा, परमात्मा।

इस परमात्म रूप—ब्रह्म से जो बोध रूप ज्ञान प्रकट होता है वह ब्रह्मीय ज्ञान कहलाता है और यही व्यवस्थित लब्धि रूप ज्ञान में परिणत होता है। इस लब्धि रूप ज्ञान को ब्राह्मी लिपि कहा जाता है। इसी लब्धि रूप लिपि में तीर्थंकर देवों के आशय को संग्रहीत करने के साथ ही गणधरों ने ज्ञानरूप ब्राह्मी लिपि को नमस्कार कर इस देशना को ग्रहण किया है न कि बाह्य अक्षर रूप लिपि को नमस्कार किया है।

बाह्य अक्षर रूप लिपि तो साधारण जनता को समझाने में सहायक बन सकती है। इस अपेक्षा से यदि इस लिपि को नमस्कार किया जाय तो यवन लिपि, लाट लिपि, तुर्की लिपि, राक्षसी लिपि भी अर्थविबोधक होने से नमस्करणीय होगी।

किन्तु यह बाह्य लिपि नश्वर एवं परिवर्तनशील है। ऐसी नश्वर एवं परिवर्तनशील लिपियों को गणधर कभी नमस्कार नहीं कर सकते। उन्होंने तीर्थंकर देव के द्वारा निर्दिष्ट ज्ञान धारा को ग्रहण करने से पूर्व ज्ञान रूप ब्राह्मी लिपि को नमस्कार किया था। कथा भाग आदि में ऋषभदेव द्वारा ब्राह्मीजी को लिपि सिखाने का उल्लेख है, और उससे जो ब्राह्मी लिपि की संज्ञा बनी है, वह असि, मसि, कृषि के प्रसंग में भगवान ने छद्मस्थावस्था में कला के रूप में सिखाई थी, तत्संबंधित फलित होती है।

तीर्थंकर भगवान् ने केवल ज्ञान होने के बाद जो देशना दी, उस देशना को यथावत् समझने की लब्धि गणधरों में उत्पन्न हुई जो बाह्यकला रूप लिपि नहीं थी, अतएव स्पष्ट है कि प्रस्तुत सूत्र में बाह्यकला रूप लिपि को ग्रहण नहीं किया गया।

---

(१) बंभीपरस पुं० / बंभीए ता० व० (२) लिवीपरस पुं०

शास्त्र के मूलपाठ में जो 'णमो बंभीए लिवीए' शब्द आया है, वह इस लब्धि रूप लिपि से सम्बंधित लगता है। परन्तु बाद में कई आचार्यों ने इस ब्राह्मी लिपि का अर्थ कला रूप वाङ्मय लिपि कर दिया है, जो कि असंगत होने के साथ ही गणधरों की गरिमा के अनुरूप नहीं है।

कई आचार्य तो इस सूत्र को ही मूल रूप में स्वीकार नहीं करते। अगर इसे मूल रूप में स्वीकार किया जाय तो वह उपर्युक्त आशय के अनुरूप समझना उचित रहता है। ☐

प्रथम शतक : उद्देशक परिचय

संग्रहणी गाथा :

सूत्र ३. रायगिह चलण दुक्खे,
कंखपओसे य पगई पुढवीओ।
जावंते णेरइए [1]बाले,
गुरुए य चलणाओ ॥

शब्दार्थ :

राजगृह नगर में चलन, दुख, कांक्षा प्रदोष, प्रकृति, पृथ्वियाँ, यावन्त (जितने) नैरयिक बाल, गुरुक, और चलनादि, ये दस उद्देशक हैं।

विवेचन :

प्रथम शतक दस उद्देशकों में विभक्त है। दसों उद्देशकों के प्रारम्भिक शब्दों को इस गाथा में संकलित किया गया है।

भगवान् ने गौतम स्वामी के अनेक प्रश्नों का समाधान 'राजगृह' नगर में किया था। राजगृह नगर में ही गौतम स्वामी ने भगवान् से 'चलमाणे चलिए' के विषय में प्रश्न किया था। यहीं से प्रथम शतक का प्रथम उद्देशक प्रारम्भ होता है।

द्वितीय उद्देशक दुःख के विषय को लेकर प्रारम्भ हुआ है।

तृतीय उद्देशक में कांक्षा मोहनीय के विषय में प्रश्नोत्तर किये गये हैं। चतुर्थ उद्देशक में प्रकृति आदि कर्मों के विषय में पूछा गया है। पंचम उद्देशक में पृथ्वी सम्बन्धी प्रश्नोत्तर किये गये हैं। षष्ठ उद्देशक में यावन् शब्द से सूर्य के डूबने आदि के विषय में प्रश्नोत्तर हैं। सप्तम उद्देशक में नैरयिकों के विषय में, अष्टम उद्देशक में बाल (अज्ञानी) जीवों के विषय में, नवम उद्देशक में गुरु भारी कर्मों के विषय में तथा दसवें उद्देशक में चलना[illegible] 'चलमाणे' [illegible] चलते हुए को 'चलित नहीं' कहना एतद् विषयक प्रश्नोत्तर किये गये हैं।

[1] पाले ता०

णमो[1] सुअस्स[2] | —श्रुत को नमस्कार हो।

आचारांग, सूत्रकृतांग आदि द्वादशांगों के रूप में जिसके बारह विभाग हैं, अर्हन्त भगवान् ने जिनका अर्थ रूप प्ररूपण किया है, ऐसे श्रुत को उक्त सूत्र के द्वारा नमस्कार किया गया है।

यह प्रश्न हो सकता है कि श्रुत को नमस्कार करने का क्या तात्पर्य है? जबकि नमस्कार महामंत्र के रूप में अपने इष्ट को नमस्कार किया जा चुका है।

यथार्थ में श्रुत भी इष्ट रूप ही है। इस श्रुत ज्ञान द्वारा ही भव्यात्माएं भवाब्धि से तिरती है। अरिहन्त भगवान् जिस प्रकार सिद्धों को नमस्कार करते है, उसी प्रकार तीर्थ को भी नमस्कार करते है। जब वे समवसरण मे विराजते हैं तब **णमो तित्थस्स-नमस्तीर्थाय**-तीर्थ को नमस्कार हो, ऐसा उच्चारण करते है।

यहां तीर्थ से भाव तीर्थ ही ग्रहीत है, और भाव तीर्थ ही श्रुत कहलाता है। यद्यपि चतुर्विध संघ भी तीर्थ कहलाता है। किन्तु इस प्रकरण में उस तीर्थ से सम्बन्ध नहीं है। असली तीर्थ तो प्रवचन [श्रुत] ही है। वह प्रवचन संघ को लक्ष्य करके ही निरूपित किया जाता है, अतः संघ भी तीर्थ कहलाता है।

अर्हन्त भगवान् ने जिस प्रवचन को निरूपित किया है, उसी प्रवचन [तीर्थ] को नमस्कार भी किया है। वीतरागता प्राप्त हो जाने से अर्हन्त भगवान् अपना तो उपकार कर ही चुके हैं किन्तु अन्य भव्य आत्माओं को सद्बोध प्रदान करने के लिये जो उपदेश देते हैं, वह उपदेश भी भव्य प्राणियों के लिए हितावह (आदरणीय) हो सकता है, इस को लक्ष्य में रखकर, जिनेश्वर देव ने प्रवचन को नमस्कार किया है।

अरिहन्त देव अपने अन्तराय कर्म का सर्वथा क्षय कर चुके हैं। जिससे उनके किसी भी प्रकार का विघ्न उपस्थित नहीं हो सकता। अतएव विघ्नोपशान्तये विघ्न की उपशान्ति के लिए अरिहन्त भगवान् को, सिद्धों को नमस्कार करने की आवश्यकता नहीं रहती है तथापि अरिहन्त, सिद्धों को नमस्कार करते हैं। वह इसलिए कि अरिहन्त भगवान् के द्वारा सिद्धों को नमस्कार करने से अन्य भव्यात्माओं को भी प्रेरणा प्राप्त हो। वे भी अपने हित साधन के लिये सिद्ध आदि महापुरुषों के प्रति नमस्करण की प्रक्रिया सीखें।

इसी प्रकार 'प्रवचन' के प्रति भी जनमानस में आदर भाव प्रादुर्भूत करने के लिये भाव-तीर्थ 'प्रवचन' को भी 'णमो तित्थस्स' के रूप में नमस्कार किया है।

---

(१) नमो म० पा० दे० म०
(२) सुयस्स पु० न० पा० बे० म०

नमो सुअस्स

अन्य व्याख्या :

प्रस्तुत शास्त्र के प्रारम्भ में मंगलाचरण के रूप में पंच परमेष्ठि नमस्कार महामंत्र का उच्चारण किया गया है। अतः समग्र मंगल का सार इस मंगल में समाविष्ट हो जाता है। अन्य मंगलाचरण की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। तथापि विद्वद्वर्ग के लिए प्रतिपादित किये जाने वाले विषय में प्रयोजनादि का प्रारम्भ में उल्लेख हो जाना अभीष्ट माना जाता है। सम्भव है इसी अभिप्राय को सम्मुख रखते हुए, आगम वाणी का वाह्य रूप से आलेखन करते समय संग्रह गाथा के पश्चात् 'नमो सुअस्स' पद देकर शास्त्र की गरिमा को अभिव्यक्त किया है। संग्रह गाथा तथा नमो सुयस्स पद के बाद आगम वाणी का प्रारम्भ होने से—यह बात और अधिक स्पष्ट हो जाती है।

सुधर्मा स्वामी की वाचना तेणं कालेणं तेणं समएणं' से परिस्फुटित होती है। जो कि भगवान् देव की अर्थ रूप वाणी को अभिव्यक्त करती है। टीकाकारों ने एवं पूर्वाचार्यों ने संग्रह गाथा एवं 'नमो सुयस्स' को लेकर विवेचना की है। किसी प्रति में 'नमो सुयस्स' पद नहीं भी मिलता है। यह इस बात का संसूचन है कि ये दोनों पाठ स्वतन्त्र रूप से गणधर सुधर्मा स्वामी के मुखारविन्द के नहीं। *उनकी अजस्र वीतराग वाणी तो 'तेणं कालेणं तेणं समएणं' से प्रवाहित हुई है, ऐसा संभावित है।*

संग्रह गाथा के अन्तर्गत जो शब्द हैं, वे वीतराग वाणी के ही हैं। वीतराग वाणी के अन्तर्गत शब्दों का संग्रह गाथा के रूप में रख दिया गया है अतः संग्रह गाथा के शब्दों एवं शतक के अन्तर्गत आने वाले शब्दों में कोई विरोधाभास नहीं है।

जैसे 'घृत' बेचने वाला व्यक्ति घृत का कुछ भाग उठाकर ग्राहक को देता है और यह बताता है कि इस वर्तन में ऐसा 'घी' है। ऐसा ही अर्थ यहां भी लिया जा सकता है।

रहा प्रश्न—'नमो सुयस्स' का—श्रुत को नमस्कार।

इसका तात्पर्य यह फलित होता है कि वीतरागवाणी को श्रवण करने वाला अन्तर्जिज्ञासा से शब्दों के माध्यम से अभिव्यक्त करता हुआ यह बतलाता है, कि मैं अपने अन्तःकरण को इतना सर्वथा कोमल बनाऊं कि जिससे वीतरागदेव की वीतराग अवस्था अभिव्यक्त हो सके। इस अभिव्यक्ति के निमित्त—वीतरागी वाणी (अर्थ-संहिता) का मेरे जीवन में समावेश हो। यह वीतराग वाणी वीतराग आत्मा से कथंचित् अभिन्न है। उस अभिन्न दशा को मैं साकार रूप देना चाहता हूँ। इस बात का संसूचन 'नमो सुयस्स' पद से हुआ है न कि श्रुतज्ञान को गम्भित करने वाले लिपि रूप आगम का, क्योंकि वीतरागभाव आकाश की तरह व्यापक है और श्रुतज्ञान घटाकाश की तरह उसका अंश है। अंश अंशी से अभिन्न होता है।

अतः 'नमो सुयस्स' में किया गया नमस्कार वीतराग स्वरूप को ही समझना चाहिये।

प्रथम उद्देशक : उपोद्घात–

सूत्र 4 (i) तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे [1]नामं [2]नयरे होत्था। [A]वण्णओ। तस्स णं रायगिहस्स [3]नयरस्स [4]बहिया [5]उत्तरपुरत्थिमे [6]दिसीभाए गुणसिलए [7]णामं [8B]चेइए [9]होत्था। [10]सेणिए राया। [11]चिल्लणा देवी।

(i) उस काल, उस समय में, राजगृह नाम का नगर था, उसका वर्णन (औपपातिक सूत्र के अनुसार जो परिशिष्ट में दिया गया है) जानना चाहिये। उस राजगृह नगर के, बाहर, उत्तर-पूर्व दिशा में (ईशान् कोण में), गुणशीलक नामक, चैत्य बगीचा था, (वहां) श्रेणिक राजा (राज्य करता था), (और) चिल्लणा-देवी (उसकी रानी थी)।

विवेचन :-

उस अवसर्पिणी काल के चतुर्थ आरे में, जिस समय श्रमण भगवान् महावीर स्वामी इस भू-मंडल पर विचरण करते थे, उस समय राजगृह नाम का एक सुरम्य नगर था।

इस राजगृह नगर का पूर्व नाम 'क्षितिप्रतिष्ठित' नगर था। कालान्तर में जनकपुर, ऋषभपुर, कुशाग्रपुर भी इसी नगर के अपर नाम रहे हैं। राजगृह नगर प्रसेनजित राजा के शासनकाल में बसाया गया था। इसी नगर के बाहर ईशानकोण में गुणशीलक नामक बगीचा था। जिस समय भ० महावीर भू-मण्डल पर विचरण कर रहे थे, उस समय इस नगरी के राजा श्रेणिक तथा रानी चेलणा थी। यह नगर तो वर्तमान में भी विद्यमान है, परन्तु जिस समय भ० महावीर का विचरण हो रहा था, उस समय राजगृह नगर की समृद्धि एवं वैभव की जो स्थिति थी, वह स्थिति अवसर्पिणीकाल के प्रभाव से सुधर्मा स्वामी के द्वारा जम्बूस्वामी को आगम-वाचना देते समय नहीं रही। अतः आगम में "रायगिहे णामं नयरे होत्था" ऐसा भूतकालिक प्रयोग किया गया है।

राजगृह नगर के गुणशील बगीचे में श्रमण भगवान् महावीर स्वामी पधारे। वे किन-किन विशिष्ट गुणों से युक्त थे, इसका वर्णन आगमकार ने प्रस्तुत सूत्र में किया है :—

१. णाम - क० ॥ २. णयरे - पु० पा० अमो० ॥ ३. नगरस्स - पु० न० बे० म० ४. बहि - ला० । बहिया पुरं - लों० ॥ ५. पुरच्छिमे - पु० अमो० ॥ ६. दिसीभागे - न० बे० म० ॥ ७. नामं - न० पा० बे० म० ॥ ८. उज्जाणे - पु० । चेईए - ला० ला० ३ ॥ ९. प्र० - तत्थ णं अमो० ॥ १०. सेणिए - राया । चिल्लणा देवी - नत्थि बे० म० ॥ ११. चेल्लणा - पा० ॥ A-B परिशिष्ट देखें

(ii) तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे [1]आइगरे तित्थगरे [2]सहसंबुद्धे [3]पुरिसुत्तमे [4]पुरिससीहे [5]पुरिसवर- [6]पुण्डरीए [7]पुरिसवरगंध-हत्थीए [8]लोगुत्तमे [9]लोगनाहे [10]लोगप्प-दीवे [11]लोगपज्जोयगरे [12]अभयदए चक्खुदए मग्गदए सरणदए [13]धम्मदेसए [14]धम्मसारहीए [15]धम्मवरचाउरंत-चक्कवट्टी अप्पडिहयवरनाणदंसणधरे वियट्टछउमे जिणे [16]जावए बुद्धे [17]बोहए [18]मुत्ते मोयए [19]सव्वण्णू [20]सव्वदरिसी सिवमयल [21]मरूय-मणंत-[22]मक्खय-[23]मव्वाबाहम [24]पुणरावत्तयं [25]सिद्धिगइ' नामधेयं ठाणं संपाविउ-कामे [26]जाव समोसरणं। परिसा निग्गया। धम्मो कहिओ। [27]परिसा पडिगया।

(ii) उस काल, उस समय में, (वहां) श्रमण भगवान् महावीर स्वामी (विचरण कर रहे थे), जो आदि-कर (द्वादशांगीरूप श्रुत के प्रथम कर्ता), तीर्थंकर, सहसम्बुद्ध (स्वयं तत्त्व के ज्ञाता), पुरुषोत्तम (पुरुषों में उत्तम), पुरुषसिंह (पुरुषों में सिंह के समान), पुरुषवर-पुण्डरीक (पुरुषों में श्वेत कमल रूप), पुरुषवरगन्धहस्ती (पुरुषों में श्रेष्ठ गन्धहस्ती के समान), लोकोत्तम (तीन लोक में उत्तम), लोकनाथ (लोक के नाथ), लोक के प्रदीप, लोकप्रद्योतकर, अभयदाता, चक्षुदाता (श्रुत-धर्म रूपी नेत्र देने वाले), मार्गदाता (मोक्ष-रूप मार्ग देने वाले), शरणदाता (त्राणदाता) धर्मोपदेशक, धर्मसारथि (धर्मरथ के सारथि), धर्मवर चातुरन्त-चक्रवर्ती, अप्रतिहत (निराबाध) श्रेष्ठ ज्ञान-दर्शनधर, छद्मरहित, जिन (राग-द्वेष विजेता), ज्ञायक (सकल वस्तु स्वरूप को जानने वाले), बुद्ध, बोधक (तत्त्वों का बोध कराने वाले), मुक्त (बाह्य-आभ्यन्तर परिग्रह से मुक्त)' मुक्ति देने वाले, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी थे, शिव, अचल, अरुज (रोग रहित), अनन्त, अक्षय, अव्याबाध (बाधारहित), पुनरागमन रहित, सिद्धिगति नामक स्थान को संप्राप्त करने की अभिलाषा वाले थे, यावत् समवसरण की रचना हुई।

परिषद् (वन्दन एवं धर्म श्रवणार्थ) निकली, (भगवान् ने) धर्म का स्वरूप कहा, (जिसे सुनकर) परिषद् (पुनः अपने स्थान की ओर) चली गई।

---

१. आदिगरे - अगो० ॥ २. सयंसंबुद्धे - पा० अगो० अ० सा० १ ॥ ३. पुरिसोत्तमे - अ० । पुरुसुत्तमे - च० सा० १ ॥ ४. पुरिससीहे - सा० ॥ ५. पुरुस - सा० १ ॥ ६. पोण्डरिए - अ० ॥ ७. [illegible] - पा० अगो० [illegible] ॥ ८. लोगोत्तमे - अ० [illegible] सा० १-२-३ ॥ ९. लोगणाहे - [illegible] ॥ १०. लोगदीवे - [illegible] ॥ ११. [illegible] ॥ १२. अभयदये, चक्खुदये, मग्गदये, सरणदये - [illegible] ॥ १३. धम्मदये [illegible] ॥ १४. [illegible] ॥ १५. [illegible] ॥ १६. [illegible]

विवेचन :-

उपर्युक्त सूत्र में भगवान् महावीर का अनेक विशेषणों से गुणगान किया है। भगवान् के लिये सर्वप्रथम विशेषण 'समणे' दिया है। 'समण' शब्द के विकल्पतः तीन रूप हो सकते हैं—

१. श्रमण २. समन ३. शमन

श्रमण—श्राम्यति तपस्यति इति श्रमण :-जो तप करते हैं, तप करने में परिश्रम करते हैं वे श्रमण हैं। जहां चारित्र है, वहां तप भी है। अतः भगवान् महावीर जब गुणशीलक उद्यान में पधारे, उस समय चारित्र तप के तपस्वी होने से श्रमण थे। दूसरी बात यह है कि भगवान् महावीर ने केवलज्ञान प्राप्ति से पूर्व लगभग १२ वर्ष से अधिक सुदीर्घ समय में अनेक प्रकार की घोर तपश्चर्याएँ की थीं, उस तपश्चर्या के कारण भी भगवान् के 'श्रमण' यह सार्थक विशेषण लगाया गया है।

समन—शोभनेन मनसा सह वर्त्तते इत्ति समना :—जो प्रशस्त मन से युक्त हो अथवा जो प्राणी मात्र के प्रति समभाव रखता हो, वह समन-समण कहलाता है। भगवान् सर्वज्ञ थे अतः उनके स्वयं के लिये किसी भी प्रकार का मनोव्यापार नहीं होता। तथापि भक्ति की विह्वलता से यह विशेषण लगाया गया है या फिर भगवान् का प्राणि जगत के प्रति समान भाव था, इसलिए 'समन' विशेषण लगाया गया है।

शमन—जो अपनी वृत्तियों को शान्त करता है। अपनी वासनाओं का दमन कर लेता है वह शमन कहलाता है। भगवान् महावीर ने भी अपनी सारी वृत्तियों को शान्त एवं दमित कर लिया था, इसलिये भगवान् को 'शमन' भी कहते हैं।

भगवान् में समण शब्द के व्युत्पत्यर्थक श्रम, सम व शम तीनों ही शब्दों के गुण विद्यमान हैं।

भगवं—भगवान् शब्द भग धातु से बना है भग का अर्थ है=ऐश्वर्य। जो समग्र ऐश्वर्य से युक्त हो वह भगवान् कहलाता है। भगवान् महावीर समग्र ऐश्वर्य सम्पन्न हैं।

महावीरे—राग-द्वेष आदि दुर्जेय शत्रुओं का निराकरण करने से भगवान् महावीर हैं।

आइगरे—आचार आदि श्रुतों के प्रणेता होने से भगवान् आदिकर हैं।

तित्थयरे—चतुर्विध संघ [साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविका] रूप भाव तीर्थ के कर्त्ता होने से तीर्थङ्कर हैं।

सहसंबुद्धे—वे स्वयमेव हेय, ज्ञेय, उपादेय रूप बोध को प्राप्त करने से सहसंबुद्ध-स्वयं संबुद्ध हैं।

-अमो० ॥ १७. बोहिए -अमो० ॥ १८. मुत्तं -क० ला० ला० ३ ॥ १९. सम्वन्नू -मु० घा० ॥ १९-२० एतच्च पदद्वयं क्वचिन्न दृश्यते ॥ इति । अवृ ॥ २१. मच्ज -वै० म० । गिवमयलमरुजं -क० । मयगमयरुयमणंतमक्खा -लो० ॥ २२. मयदमक्खा -ला० ला० ३ ॥ २३. म्यावाहं -वै० म० । बाहं अपुणरावत्तिं -ला० मा० ३ ॥ २४. अपुणरावित्तियं -नति न० वै० म० ॥ २५. सिद्धिगति -न० वै० म० ॥ २६. प्र०—पुव्वाणुपुव्वि...विहरइ (उववाइअ सूत्र) न०॥ ● २७. परिगया परिसा -न० ॥ ●→ परिशिष्ट देखें।

पुरिसुत्तमे—समस्त पुरुषापेक्षया रूपादि सम्पन्न होने से पुरुषोत्तम हैं।

पुरिससिहे—जिस प्रकार सिंह शक्ति सम्पन्न माना गया है उसी प्रकार पुरुषों में भगवान् सिंह के समान शौर्य सम्पन्न हैं।

पुरिसवरपुण्डरिए—पुरुषों में पुण्डरीक कमल के समान भगवान् प्रधान है।

पुरिसवरगंध हत्थीए—भगवान् पुरुषों में गंध हस्ती के समान हैं, जिस प्रकार गंध हस्ती की गंध से अन्य हाथी भाग जाते हैं, उसी प्रकार भगवान् के आगमन से उस क्षेत्र के उपद्रव भी दूर हो जाते हैं।[1]

लोगुत्तमे—भगवान लोक में सर्वश्रेष्ठ हैं।

लोगणाहे—भव्य जीव रूप लोक के नाथ हैं।

लोगप्पदीवे—लोक के आंतरिक अन्धकार को दूर करने वाले होने से लोकप्रदीप हैं।

लोगपज्जोयगरे—सकल वस्तु स्तोम को केवलज्ञान रूप आलोक से प्रकाशित करने [जानने] वाले होने से भगवान् लोक प्रद्योतकर है।

अभयदए—अनेक प्रकार के उपसर्ग देने वाले मानवों के प्रति भी अभय देने वाले होने से अभय-दाता है।

चक्खुदए—हिताहित का विवेक कराने वाले श्रुतज्ञान रूप चक्षु के प्रदाता होने से भगवान् चक्षु दाता हैं।

मग्गदए—आधि-व्याधि-उपाधि से उपहत कर्म पीड़ित मानवों को मोक्ष का सच्चा पथ बताने वाले होने से भगवान् मार्गदाता हैं।

सरणदए—उपद्रव युक्त नाना भवों में भटकने वाले मानवों को निरुपद्रव स्थान-मोक्ष में पहुंचाने वाले होने से भगवान् शरणदाता हैं।

धम्मदेसए—श्रुत-चारित्र रूप धर्म का उपदेश देने वाले होने भगवान् धर्मप्रदाता हैं।

धम्मसारहिए—जिस प्रकार सारथी रथ की, रथ में बैठने वाले व्यक्तियों की एवं रथ को खींचने वाले अश्वों की रक्षा करता है, इसी प्रकार भगवान् भी धर्म रूप रथ के अंगभूत संयम, आत्मा एवं प्रवचन की रक्षा रूप उपदेश को देने वाले होने से अर्थात् धर्म रूप रथ के प्रवर्तक होने से भगवान् धर्म सारथि हैं।

---

[1] भगवान् के इस अतिशय से सैकड़ों कोसों पर्यंत क्षेत्र में ईति-भीति के उपद्रव मिट जाते थे। जनता में शान्ति का संचार हो जाता था।

भगवान् का यह अतिशय गुण जीव-रक्षा करने से उनकी उपादेयता पर समीचीन रूप से प्रकाश डाल रहा है। यदि जीव रक्षा करने में पाप होता तो भगवान् के पधारने से लोगों के उपद्रव मिट जाते हैं, इस गुण से भगवान् को भी पाप लगना चाहिये। किन्तु भगवान् का तो यह गुण अतिशय है। इसमें उन्हें पाप हो, ऐसा कथन तो कोई भी नहीं कर सकता। अतः इस अतिशय से भी स्पष्ट है कि जीव रक्षा करना आवश्यक है।

धम्मवरचाउरंतचक्कवट्टी—भरत क्षेत्र के चार अन्त स्थान हैं–तीन ओर समुद्र और एक तरफ हिमवान पर्वत है। इनका स्वामी चातुरन्त चक्रवर्ती होता है। उनमें जो श्रेष्ठ हैं वह वर चातुरन्त चक्रवर्ती कहलाता है। भगवान् भी अन्य धर्मावलम्बी नेता कपिल, बुद्ध आदि में श्रेष्ठ है, अतिशय प्रभाव सम्पन्न हैं। दान, शील, तप और भावना से नरकादि चार गतियों के परिभ्रमण का अन्त करने वाले, राग-द्वेष-शत्रुओं का नाश करने वाले एवं धर्म तीर्थ का प्रवर्तन करने वाले होने से भगवान् 'धर्मवर चातुरन्त चक्रवर्ती हैं।'

अप्पडिहयवरनाणदंसणधरे—किसी भी प्रकार के व्यवधान से रहित, विसंवाद रहित, क्षायिक, विशेष एवं सामान्य बोध रूप श्रेष्ठ केवलज्ञान और केवलदर्शन के धारण करने वाले होने से भगवान् 'अप्रतिहत वर ज्ञान दर्शन धारक' हैं।

वियट्टछउमे—छद्मस्थ (राग-द्वेष) पन से भगवान् सर्वथा निवृत्त हो चुके हैं।

जिणे—राग-द्वेष के सर्वथा विजेता होने से 'जिन' हैं।

जाणए—छद्मस्थ जीवों के लिये ज्ञान के उपदेष्टा होने से 'ज्ञायक' हैं।

बुद्धे—जीवादि तत्त्वों के ज्ञाता होने से 'बुद्ध' हैं।

बोहए—दूसरे प्राणियों को बोध देने वाले होने से भगवान् 'बोधक' हैं।

मुत्ते—सभी प्रकार के बन्धन से रहित होने के कारण 'मुक्त' हैं।

मोयए—दूसरे प्राणियों को भी भौतिक बन्धन से विनिर्मुक्त कराने वाले होने से 'मोचक' हैं।

सव्वण्णू—समस्त वस्तु स्वरूप को विशेष रूप से जानने वाले होने से 'सर्वज्ञ' है।

सव्वदरिसी—समस्त वस्तु तत्त्व को सामान्य रूप से जानने वाले होने से 'सर्वदर्शी' हैं।

सम्पूर्ण कर्मों को क्षय कर देने पर, देह मुक्त होकर भगवान् जिस स्थान पर आत्मीय स्वरूप में विराजमान होते हैं, वह स्थान कैसा है ? इसका निम्न शब्दों में निर्देश किया गया है—

सिवं—सर्व प्रकार की विघ्न-बाधा रहित 'शिव' रूप है।

अयलं—स्वभावतः एवं प्रयोगतः किसी भी प्रकार का हलन-चलन न होने से 'अचल' है।

अरुयं—रोगोत्पत्ति का मूल-भूत शरीर एवं मन का ही वहां अभाव होने से 'अरुज' है।

अणंतं—अनन्त सुखों का स्थान होने से 'अनन्त' है।

अक्खयं—क्षय (अन्त) रहित होने से 'अक्षय' है।

अव्वाबाहं—सभी प्रकार की बाधा एवं पीड़ा से रहित होने से 'अव्याबाध' है।

अपुणरावत्तय—उस स्थान पर जाने पर पुनः आगमन नहीं होने से 'अपुनरावृत्ति' वाला है।

सिद्धिगइनामधेयं—सिद्धिगति नामक स्थान में

संपाविउकामे—जाने (की इच्छा) वाले

जाव—यावत् भगवान् महावीर स्वामी राजगृह नगर के गुणशीलक नामक बगीचे में पधारे।

भगवान् के अन्य विशेषणों के साथ 'संपाविउकामे' मोक्ष में जाने की इच्छा वाले नामक विशेषण भी आया है। इस पर यह सहज ही प्रश्न उपस्थित होता है कि भगवान् को तो किसी भी प्रकार की कामना-इच्छा नहीं है—वे वीतरागी बन चुके हैं। फिर शास्त्रों में 'संपाविउकामे' पद कैसे आया?

कई व्याख्याकारों ने प्रश्न का समाधान करते हुए बतलाया है कि—

भगवान् किसी प्रकार की कामना वाले नहीं है, तथापि उपचार से उन्हें मुक्ति कामी कहा गया है। जैसे कोई वस्तु असली स्वरूप में न होते हुए भी उस वस्तु का किसी को बोध कराने के लिये उसका उसमें आरोपण किया जाता है। यथा— बच्चों को घोड़े का बोध कराने के लिये चित्रपट्ट पर चित्रांकित घोड़े की ओर संकेत करते हुए यह कहा जाता है कि 'अयं अश्वः' यह घोड़ा है। जबकि वास्तव में वह घोड़ा नहीं, अपितु घोड़े की प्रतिकृति है। इस प्रकार के कथन को उपचार कहा जाता है।

शास्त्रों में भी अनेक स्थलों पर उपचार का प्रयोग किया गया है।

यहाँ पर भगवान् में मुक्ति की कामना का उपचार से प्रयोग किया गया है, क्योंकि उस अवस्था को प्राप्त मुनि-केवली को संसार या मोक्ष किसी की भी कामना नहीं रहती है, यथा—

'मोक्षे भवे च सर्वत्र निस्पृहो मुनि सत्तमः।'

जिस महापुरुष को मोक्ष की भी कामना अवशेष नहीं रहती, जो सर्वथा मोह का मूलोच्छेद कर देते हैं वे ही मोक्ष को प्राप्त करते हैं। यथा—

'यस्य मोक्षेऽप्यनाकांक्षा स मोक्षमधिगच्छति।'

अतः भगवान् के अन्दर भी किसी प्रकार की कामना अवशेष नहीं रह गयी थी, किन्तु 'मुक्तिकामी' विशेषण लगाने से सम्भवतः यह उद्देश्य रहा हो कि सांसारिक प्राणी प्रभु की तरह अन्य इच्छाओं का परित्याग कर केवल मोक्ष प्राप्ति का लक्ष्य बना कर तदनुरूप गतिशील बनने का प्रयास करें।

प्रश्न के समाधान के लिये निम्न चिन्तन अधिक समीचीन प्रतीत होता है—

कामना दो प्रकार की होती है—एक सीमित, दूसरी असीमित। या एक भौतिकता से संपृक्त दूसरी अभौतिक। भौतिकता से सम्बन्धित कामना मोह से अनुरंजित होती है। तीर्थंकर प्रभु के मोह ही नहीं होने से मोह से अनुरंजित कोई कामना नहीं होती तथा अभौतिक भी असुर सीमा से अनुरंजित कामना नहीं होती। किन्तु परिपूर्ण शुद्ध विराट एवं व्यापक, सिद्ध रूप को वरने वाली शुद्ध अध्यात्म से सम्बन्धित कामना होती है। 'संपाविउकामे' शब्द इसी अर्थ का संसूचक प्रतीत होता है।

उपर्युक्त गुणों से युक्त, अनेकानेक अतिशयों से सम्पन्न भगवान् महावीर राजगृह के गुणशील उद्यान में पधारे। नगरवासी यह सूचना पाकर प्रभु दर्शन-उपदेश श्रवण करने के लिये समवसरण में पहुँचे।

भगवान् ने उपस्थित जन समुदाय को देशना प्रदान की। धर्म के यथार्थ स्वरूप का विवेचन किया। जिसे श्रवण कर गद्गद् होता हुआ जन-समुदाय अपने-अपने स्थान पर चला गया।

प्रकृत शास्त्र के मूल वक्ता–उत्तर प्रदाता भगवान् महावीरका वर्णन करने के पश्चात् प्रमुख श्रोता प्रश्नकर्ता -प्रथम शिष्य–गौतमस्वामी–इन्द्रभूति का वर्णन किया जा रहा है।

(iii) तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे अंतेवासी [1]इंदभूइ [2]णामं अणगारे [3]गोयमगुत्ते णं सत्तुस्सेहे समचउरंससंठाणसंठिए [4]वज्जरिसहनारायसंघयणे [5]कणयपुलयनिगसपम्हगोरे उग्गतवे दित्ततवे [6]तत्ततवे [7]महातवे [8]ओराले घोरे घोरगुणे घोरतवस्सी घोरबंभचेरवासी [9]उच्छूढसरीरे [10]संखित्तविउलतेयलेस्से[11] [12]चोद्दसपुव्वी चउनाणोवगए [13]सव्वक्खरसन्निवाइ समणस्स [14]भगवओ महावीरस्स अदूरसामंते [15]उड्ढं जाणू अहोसिरे झाणकोट्ठोवगए संजमेणं [16]तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ।

(iii) उस काल, उस समय में, श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के ज्येष्ठ समीपवासी शिष्य, इंद्रभूतिनामक, अनगार, गौतमगोत्रिय, सात हाथ ऊँचे, समचतुरस्र संस्थान से संस्थित, वज्रऋषभनाराच संहनन वाले, कसौटी पर खचित स्वर्ण रेखा के समान गौरवर्णी, उग्र तपस्वी, दीप्त तपस्वी, तप्त तपस्वी, महातपस्वी, उदार, घोर (कठिन), कठिन आचारयुक्त, घोर तपस्वी, घोर ब्रह्मचर्य पालक, शरीर-संस्कार के त्यागी, विपुल तेजोलेश्या को संक्षिप्त करने वाले, चतुर्दश पूर्वधारी, चार ज्ञान से युक्त, सर्वाक्षर-सन्निपाती थे, श्रमण भगवान् महावीर से न अति दूर, न अति पास, उत्कुटुकासन से घुटने ऊँचे किये हुए, नीचे सिर झुकाए हुए, ध्यान रूपी कोठे में प्रविष्ट, संयम और तप से, अपनी आत्मा को, भावित करते हुए विचरण करने लगे।

विवेचन :

अवसर्पिणीकाल के ह्रायमान आरे में भगवान् महावीर स्वामी राजगृह के गुणशील बगीचे में विचरण कर रहे थे। जनता धर्मदेशना श्रवण कर स्वस्थान लौट चुकी थी, उस समय श्रमण भगवान्

---

१. इन्दभूती - पु० अगो० न० वे० म० ॥ २. नामं - पु० न० वे० म० ॥ ३. गोयमे गोत्तेणं - लों० । गोयमगोत्ते - पा० अमो० ला० ल० १-२-३ । ०गोत्तेणं - पु० । गोयम सगोत्ते - न० वे० म० । गोयमसगुत्ते - क० । ०गोत्तेणं - अ० मा० ध० ॥ ४. वज्जरिसम० - न० वे० म० ॥ ५. ०पुलगणिघस० - पु० अमो० पा० । कणगपुलगणिघस० - वे० न० ॥ ६. तत्ततवे घोरतवे - क० ॥ ७. महातवे घोरतवे - अमो० ला० ला३ ॥ ८. उराले - अमो० अ० मा० ध० म० । ओराले घोरतवे - पा० ॥ ९. 'उच्छूढसरीर संखित्त विपुल तेयलेसे' इति मूल टीका सम्मत पाठ निर्देशोऽस्य-देशीय - वृत्तौ० ॥ १०. संखित्त विपुल तेयलेसे - वे० म० ॥ ११. ०तेउलेसे - ला० ला ३ । तेयलेसे - पु० अ० । तेयलेस्से - क० । तेउलेस्से - अमो० म० ॥ १२. चउद्दसपुव्वी - अमो० वे० म० ॥ १३. सन्निवाई - पु० पा० । सन्निवाती - अमो० न० वे० म० ॥ १४. भगवतो - वे० ॥ १५. उड्ढजाणू - प० ला० । उड्ढजाणु - म० ॥ १६. "तवसा अनशनादिना च शब्दः समुच्चयार्थो लुप्तः अत्र द्रष्टव्य" - अवृ० । अत्र तवसा य इति पाठ अत्र बोध्य.॥

महावीर के ज्येष्ठ अंतेवासी-सर्व प्रथम शिष्य-उर्ध्वजानु-दोनों घुटनों को ऊँचा रखकर, अधः शिर-मस्तक को विनय से नीचे झुकाये हुए ध्यान कोष्ठोपगत-जिस प्रकार-कोष्ठगत धान्य व्यवस्थित रहता है, इसी प्रकार धर्म-ध्यान, शुक्ल-ध्यान द्वारा अपनी इन्द्रियों को व्यवस्थित रूप में रखने वाले गौतम-स्वामी (इन्द्रभूति) मुख्यतया भगवत् चरण में तप, संयम की आराधना करते हुए विचरण कर रहे थे। वे किन-किन गुणों से युक्त थे, इसका वर्णन उपर्युक्त सूत्र में किया गया है कि—

गोयमगुत्त—वे गौतम गोत्रीय उत्तम जाति से सम्पन्न थे।

सत्तुस्सेहे—सप्त हस्त प्रमाण ऊँचाई से युक्त थे।

समचउरंससंठाण संठिए—उनके शरीर की रचना सम चतुरस्र संस्थान से संस्थित थी।[1]

वज्जरिसहनारायसंघयणे—शरीर की शक्ति से वे वज्र ऋषभनाराच संहननी थे।[2]

कणगपुलयनिघसपम्हगोरे—कसौटी के ऊपर खींची हुई स्वर्ण रेखा के समान और गिरे हुए सोने के बिन्दु के समान पद्मकेशर के समान उनका शरीर गौरवर्ण का था।

उग्गतवे—साधारण मनुष्यों के मस्तिष्क में जिस तप का चिन्तन भी नहीं आ सकता, ऐसे तप के करने वाले होने से वे 'उग्र तपस्वी' थे।

दित्ततवे—कर्मरूपी गहन वन को भस्मसात् करने में समर्थ होने से 'दीप्त तपस्वी' थे।

तत्ततवे—अपनी आत्मा को तपरूप अग्नि में (जलाकर) शल्कर निखारते थे इसलिए 'तप्त तपस्वी' थे।

महातवे—निष्काम भाव से तप करने वाले होने के कारण 'महान् तपस्वी' थे।

---

१. समचतुरस्र संस्थान—नाभेरुपरि अधश्च सकल पुरुषलक्षणोक्तावयवानां तुल्यं तच्च तच्चतुरस्रं च समचतुरस्रम्।

अथवा—समा :—शरीर लक्षणोक्त प्रमाणाविसंवादिन्यश्चतस्रोऽस्रयो यस्य तत् समचतुरस्रम्।

अन्ये त्वाहुः—समा अन्यूनाधिकाः चतस्रोऽप्यस्रयो यत्र तत् समचतुरस्रम्।

नाभि से ऊपर एवं नीचे प्रमाणोपेत सम अवयव हों, उसे समचतुरस्र संस्थान कहते हैं। या सामुद्रिक शास्त्रानुसार चारों तरफ के अंग बराबर हों, उसे समचतुरस्र संस्थान कहते हैं। अथवा पर्यंकासन से उपविष्ट पुरुष के दोनों घुटनों के मध्य का अन्तर, आसन और ललाट के ऊपरी भाग का अन्तर, दाहिने कन्धे से बायें घुटने का, बायें कन्धे से दाहिने घुटने का अन्तर बराबर हो, उसे समचतुरस्र संस्थान कहते हैं।

२. वज्रर्षभनाराच संहनन :—वज्रं च तत् कीलिका-कीलिकाकार संपुटोपम-सामर्थ्ययुक्तत्वात् ऋषभश्च लोहादिमयपट्ट वद् काष्ठ-संपुटोपम-सामर्थ्योपेतत्वात् वज्रर्षभः स चासौ नाराचं च उभयतो मर्कटबन्धनिबद्ध-काष्ठ-संपुटोपम-सामर्थ्योपेतत्वात् वज्रर्षभनाराचं (सम्य) तत् संहननम्-अस्थि संचय-विशेषोऽनुत्तम-सामर्थ्योपेत इत्यर्थः वज्रर्षभनाराच संहननः।

वज्र का अर्थ कील है, ऋषभ का अर्थ वेष्टनपट्ट है और नाराच का अर्थ दोनों ओर मर्कटबंध है। जिस संहनन में दोनों ओर मर्कट-बंध द्वारा जुड़ी हुई दो हड्डियों पर तीसरी पट्ट की आकृतिवाली हड्डी का चारों ओर से वेष्टन हो तथा उसमें तीनों हड्डियों को भेदने वाली वज्र नामक हड्डी की कील हो (इस प्रकार की हड्डियों की रचना को) वज्रऋषभनाराचसंहनन कहते हैं।

ओराले—अन्य लोगों की अपेक्षा दुःसाध्य तप को करने वाले होने से भीम-शक्ति सम्पन्न थे। ओराले का उदार अर्थ भी होता है। उदार प्रधान को भी कहा जाता है। गौतम स्वामी सभी शिष्यों में प्रधान होने के कारण उदार थे।

घोरे—परीषह रूप शत्रुओं को जीतने में दया नहीं दिखलाने वाले या इन्द्रिय-विषय कषायों पर दया नहीं करने वाले होने से अर्थात् उन्हें जीतने वाले होने से घोर थे। घोर का अर्थ निरपेक्ष भी किया जाता है, तदनुसार वे शरीर से निरपेक्ष थे।

घोरगुणे—अन्य पुरुषों के लिये जो गुण दुःसाध्य थे, उन गुणों का आचरण करने वाले होने से 'घोर गुणी' थे।

घोरतवस्सी—कठोरतम तपश्चर्या करने वाले होने से 'घोर तपस्वी' थे।

घोर बंभचेरवासी—दुःसाध्य ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले होने से 'घोर ब्रह्मचर्यवासी' थे।

उच्छूढशरीरे—शरीर संस्कार के त्यागी अर्थात् शरीर के प्रति सर्वथा निस्पृह होने से त्यक्त-शरीरवत् थे।

संखित्तविउलतेउलेस्से—अनेकों योजन क्षेत्रस्थ पदार्थों को भस्मसात् करने में समर्थ विपुल-विस्तृत तेजोलेश्या को अपने शरीर में समाहित कर लेने से 'संक्षिप्त विपुल तेजोलेश्या' सम्पन्न थे।

चोद्दसपुव्वी—चतुर्दश पूर्वों के अध्येता-रचयिता होने से चतुर्दश पूर्वधारी थे।[1]

---

१. चौदहपूर्व—तीर्थ प्रवर्तन करते समय तीर्थंकर देव जिस अर्थ का सर्वप्रथम उपदेश गणधरों को देते हैं या गणधर जिस अर्थ को सर्वप्रथम सूत्र रूप से गूथते हैं, उसे 'पूर्व' कहते हैं। चौदह पूर्व निम्न हैं :—

उत्पादपूर्व—अखिल द्रव्य-पर्याय की प्ररूपणा जिसमें हो, उसे 'उत्पाद पूर्व' कहते हैं। इसमें एक करोड़पद हैं।

अग्रायणीय—जिसमें निखिल द्रव्य-पर्याय तथा जीवों के परिमाण वर्णित हो, उसे 'अग्रायणीय' कहते हैं। इसमें छियानवे लाख पद है।

वीर्यप्रवादपूर्व—कर्मयुक्त तथा कर्म विमुक्त आत्माओं की शक्ति (वीर्य) का जिसमें वर्णन हो, उसे 'वीर्यप्रवाद' कहते हैं। इसमें सत्तर लाख पद हैं।

अस्तिनास्तिप्रवाद—लोक में विद्यमान-धर्मास्तिकाय आदि अविद्यमान ख-कुसुम, आकाश-पुष्प आदि कि जिसमें विवेचना हो उसे 'अस्ति-नास्तिप्रवाद' कहते हैं। इसमे साठ लाख पद हैं।

ज्ञानप्रवादपूर्व—जिसमें मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्याय, केवलज्ञान का विस्तृत वर्णन हो, उसे 'ज्ञान प्रवाद' कहते हैं। इसमें एक कम एक करोड़ पद हैं।

सत्यप्रवादपूर्व—जिसमें सत्य संयम—सत्य वचन का सुविस्तृत स्वरूप प्रतिपादित हो, उसे 'सत्यप्रवाद' कहते हैं। इसमें छः अधिक एक करोड़ पद हैं।

आत्मप्रवादपूर्व—जिसमें अनेक नय तथा विभिन्न मतों की अपेक्षा आत्मा का सांगोपांग स्वरूप प्रतिपादित हो, उसे 'आत्मप्रवादपूर्व' कहते हैं। इसमें छब्बीस करोड़ पद हैं।

कर्मप्रवादपूर्व—जिसमें अष्ट कर्मों का स्वरूप प्रकृति-स्थिति-अनुभाग प्रदेश आदि भेदों द्वारा सुष्ठुरीत्या विवेचित हो, उसे 'कर्मप्रवादपूर्व' कहते हैं। इसमें एक करोड़ अस्सी लाख पद हैं।

प्रत्याख्यानप्रवादपूर्व—जिसमें प्रत्याख्यान (नियमों) का भेद-प्रभेद पूर्वक सुन्दर विवेचन हो, उसे 'प्रत्याख्यान-प्रवादपूर्व' कहते है। इसमें चौरासी लाख पद हैं।

चउणाणोवगए—चार ज्ञान मति, श्रुत, अवधि एवं मनः पर्यय ज्ञान युक्त होने से चार ज्ञान धारी थे।

सव्वक्खरसन्निवाई—समस्त अक्षरों के संयोगों से निर्मित समस्त पदों एवं समस्त ज्ञेय पदार्थों के विज्ञाता होने से 'सर्वाक्षर-सन्निपाती' थे।[1]

---

१. यहां गौतम स्वामी के सभी गुणों का वर्णन किया गया है, जो कि उनमें विद्यमान थे। उपासकदशांग सूत्र में आनन्द श्रावक के घर जाते समय गौतम स्वामी के उन्हीं विशेषणों का वर्णन किया गया है, जो उनमें उस समय विद्यमान थे। विशेषतः उपासकदशांग सूत्र में चौदहपूर्वी, चउनाणोवगए, सव्वक्खर सन्निवाई विशेषण आनंद श्रावक के घर जाते समय गौतम स्वामी के नहीं लगाये गये हैं, क्योंकि उस समय गौतम स्वामी उपर्युक्त गुणों से युक्त नहीं थे।

यदि गौतम स्वामी में चौदह पूर्व, चार ज्ञान एवं सर्वाक्षर-सन्निपाती की अवस्था होती तो उनका भी अन्य विशेषणों की तरह उपासकदशांग सूत्र में उल्लेख होता है या जाव शब्द प्रयुक्त कर उनको सूचित कर दिया जाता। किन्तु वहां न तो कोई उल्लेख ही मिलता है और न ही जाव पद ही मिलता है।

यदि गौतम स्वामी में आनन्द श्रावक के यहां जाते समय उपर्युक्त तीनों ज्ञान विद्यमान थे, यह माना जाय तो कुछ विशेषण तो शास्त्रकारों ने प्रयुक्त किये और कुछ नहीं किये, ऐसा क्यों?

अतः स्पष्ट है कि आनन्द श्रावक के घर जाते समय गौतम स्वामी में चौदह पूर्व, चार ज्ञान व सर्वाक्षर-सन्निपाती नहीं थी। कदाचित् गौतम स्वामी को आनंद श्रावक के यहां जाते समय चार ज्ञानी आदि भी मान लिया जाय तथापि वे अपने अवधि ज्ञान या मनः पर्यव ज्ञान से आनन्द श्रावक के अवधि ज्ञान को देखने में समर्थ नहीं बन सकते। क्योंकि अवधि ज्ञान स्वयं अरूपी है और अवधि ज्ञान के जानने का विषय रूपी पदार्थ है। ऐसी स्थिति में आनंद श्रावक के अवधि ज्ञान को गौतम स्वामी अपने अवधि ज्ञान से भी नहीं देख सकते। क्योंकि अवधि ज्ञान का यह विषय नहीं है और मनः पर्यव ज्ञान का विषय भी रूपी ही होने से मनः पर्यव ज्ञान से भी अवधि ज्ञान को नहीं देखा जा सकता।

विद्यानुप्रवादपूर्व—जिस पूर्व में विविध प्रकार की विद्या तथा सिद्धियों का वर्णन हो, उसे 'विद्यानुप्रवादपूर्व' कहते हैं। इसमें एक करोड़ दस लाख पद हैं।

अवन्ध्यपूर्व—ज्ञान-तप-संयम आदि क्रियाओं का शुभ परिणाम तथा प्रमादादि अशुभ फल कभी व्यर्थ निष्फल न जाने वाले कार्यों का सम्पूर्ण वर्णन जिसमें समुपलब्ध हो, उसे 'अवन्ध्यपूर्व' कहते हैं। इसमें छब्बीस करोड़ पद हैं।

प्राणायुप्रवादपूर्व—जिसमें दस प्राणादि का विशेषतः भेद-प्रभेद पूर्वक वर्णन हो, उसे 'प्राणायुप्रवादपूर्व' कहते हैं। इसमें एक करोड़ छप्पन लाख पद हैं।

क्रियाविशालपूर्व—कायिकी-आधिकरणिकी आदि क्रिया तथा संयम में उपकारक क्रियाओं के आचरण की जिसमें विशाल विवेचना हो, उसे 'क्रियाविशाल पूर्व' कहते हैं। इसमें नौ करोड़ पद हैं।

लोकबिन्दुसारपूर्व—जिस प्रकार बिन्दु अक्षर के मस्तिष्क पर रहता है—उसी प्रकार श्रुतज्ञान का सार है और अक्षर बिन्दु की तरह सर्वोत्तम—सर्वोपरि है, उसे 'लोकबिन्दुसारपूर्व' कहते हैं। इसमें साढ़े बारह करोड़ पद हैं।

प्रथम पूर्व में दस वस्तु, चार चूलिका वस्तु हैं। द्वितीय में चौदह वस्तु, बारह चूलिका वस्तु हैं। तृतीय में आठ वस्तु, आठ चूलिका वस्तु हैं। चतुर्थ में अठारह वस्तु दस चूलिका वस्तु हैं। पंचम में बारह वस्तु, षष्ठ में दो वस्तु, सप्तम में सोलह वस्तु, अष्टम में तीस वस्तु, दशम में बीस, एकादश में पन्द्रह, द्वादश में बारह वस्तु, तेरह, चतुर्दश में तीस वस्तु का वर्णन है, अर्थात् चतुर्थ से आगे चूलिका वस्तु नहीं है।

पूर्वों के अध्याय विशेष को वस्तु, वस्तुओं के अवान्तर अध्यायों को चूलिका वस्तु कहते हैं।

[आधार—नन्दीसूत्र, समवायांगसूत्र]

उड्ढजाणू—उर्ध्वजानु—दोनों घुटनों को ऊँचे रखकर।

अहोसिरे—अधः सिर-मस्तक को नीचे झुकाये हुए।

झाणकोट्ठोवगए—ध्यान कोष्टोपगत—जिस प्रकार कोष्ठोपगत धान्य व्यवस्थित रहता है, उसी प्रकार धर्म ध्यान, शुक्ल ध्यान द्वारा अपनी इन्द्रियों को संयमित रखने वाले संयम और तप से अपनी आत्मा को भावित करते हुए गौतम स्वामी विचरण करते थे।

भगवती सूत्र के प्रश्नोत्तर किस जिज्ञासा श्रद्धा एवं कुतूहल के साथ हुए हैं, इसका वर्णन इस सूत्र में किया जा रहा है।

(iv) [1]तए णं से भगवं गोयमे जायसड्ढे जायसंसए[2] जायकोउहल्ले[3], [4]उप्पण्णसड्ढे [5]उप्पण्णसंसए [6]उपण्णकोउहल्ले, संजायसड्ढे संजायसंसए संजायकोउहल्ले, [7]समुप्पण्णसड्ढे [8]समुप्पण्णसंसए [9]समुपण्णकोउहल्ले उट्ठाए उट्ठेइ[10]।

[11]उट्ठाए उट्ठित्ता[12] जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता समणं भगवं महावीरं [13]तिक्खुत्तो आयाहिणं[14] पयाहिणं[15] करेइ[16], वंदइ [17]णमंसइ, वंदित्ता, णमंसित्ता[18] [19]णच्चासण्णे [20]णाइदूरे सुस्सूसमाणे [21]णमंसमाणे अभिमुहे विणएणं पंजलिउडे[22] पज्जुवासमाणे एवं [23]वयासी—

(iv) तब, जातश्रद्धा (प्रवृत्त हुई श्रद्धा वाले), जात संशय, जातकुतूहल, उत्पन्नश्रद्धा, उत्पन्नसंशय, उत्पन्न कुतूहल वाले संजायसड्ढे-संजात श्रद्धा, संजाय संसए-संजात संशय, संजाय कोउहल्ले-संजात कुतूहल, समुप्पण्णसड्ढे-समुत्पन्न श्रद्धा, समुप्पणसंसए-समुत्पन्न संशय, समुप्पण्ण कोउहल्ले-समुत्पन्न कुतूहल वाले, वे भगवान् गौतम स्वामी, उत्थान से उठते हैं। उत्थान द्वारा खड़े होकर, जहां पर, श्रमण भगवान् महावीर विराजमान हैं, वहां पर आते हैं। आकर के, श्रमण भगवान् महावीर को, तीन बार, दक्षिण दिशा से आरम्भ कर प्रदक्षिणा करते हैं। वन्दना करते हैं, नमस्कार करते हैं। वन्दना, नमस्कार करके, न अति सन्निकट न अति दूर, शुश्रूषा करते हुए, नमस्कार करते हुए, भगवान् के सामने, विनयपूर्वक, कर युगल जोड़कर पर्युपासना करते हुए इस प्रकार बोले—

१. तते - न० २. ०ससमे - अमो० ॥ ३. ०कोऊहल्ले - वे० म० ४-५-६ उपन्न० - पु० पा० न० वे० म० ॥ ७-८-९. समुपन्न० - पु० पा० न० वे० म० ॥ १० उट्ठेति - अमो० न० वे० म० ॥ ११. उट्ठाए - नरियन० ॥ १२. उट्ठेत्ता - पु० अमो० न० वे० म० ॥ १३. तिखुत्तो - ला० ला ३ ॥ १४. आयाहिणपया० - पु० पा० न० वे० म० ॥ १५. करेति - वे० म० । करेत्ता - मु० । करेति वंदति णमंसति-२ त्ता नच्चा - ला० ला ३ ॥ १६. करेइत्ता - पु० पा० अमो० । करेत्ता - न० पृ० । तिक्खुत्तो आयाहिण पयाहिणं करेत्ता वंदति - वे० म० ॥ १७. नमंसइ वंदित्ता नमं० - पा० न० । नमंसइ-२ त्ता - प० । नमंसति नच्चा० - वे० म० ॥ १८. नमंसित्ता - पु० पा० न० ॥ १९. पच्चासन्ने - पा० म० । णच्चासण्णे - अमो० । नच्चासन्ने - वे० म० ॥ २०. नातिदूरे - अमो० न० । नाइदूरे - वे० म० । णातिदूरे - म० ॥ २१. नमंसमाणे - पा० ला० ला १-२-३ । णमंसमाणे - चरिव वे० म० ॥ २२. पंजलियडे - वे० म० । पंजलिउडे - मं० ला १ ॥ २३. वदासी - वे० म० । वयासि - शा० ॥

विवेचन :-

भगवान् महावीर के पट्टधर शिष्य गौतम स्वामी को श्रद्धा तत्त्व जानने की जिज्ञासा उत्पन्न हुई। 'चलमाणे चलिए' के विषय में संशय उत्पन्न हुआ, कुतूहल उत्पन्न हुआ। श्रद्धा, संशय, कुतूहल से उनकी प्रवृत्ति हुई।

'संजाय सड्ढे' आदि छः पदों में 'सम्' उपसर्ग संयोजित है। यह प्रकर्षता का द्योतक है। तात्पर्य यह है कि उन्हें प्रकर्ष रूप से श्रद्धा, संशय, कुतूहल उत्पन्न हुए।

कई व्याख्याकारों ने इन १२ पदों की व्याख्या अन्य प्रकार से भी की है। 'जायसड्ढे' 'जायसंसए' 'जायकोउहल्ले' इन तीन आद्य पदों को [1]अवग्रह की अपेक्षा ग्रहण किया है। अवशेष तीन पदों को [2]ईहा [3]अवाय और [4]धारणा के रूप में माना है।

किन्हीं व्याख्याकारों ने 'जाय सड्ढे' आदि पदों को एकार्थक बतलाया है। विशेष अर्थ की प्रकर्षता को विज्ञापित करने के लिये इनका पुनः प्रयोग किया गया है। स्तुति परक पाठ का पुनः पुनः प्रयोग होने पर भी पुनरुक्ति दोष की संभावना नहीं रहती।

'जाय सड्ढे' आदि शब्दों के प्रयोग करने का एक दृष्टिकोण यह भी हो सकता है कि जब आत्मा को चरम विकास करने की उमंग पैदा होती है, तब आत्मिक स्वरूप की वास्तविक श्रद्धा का प्रादुर्भाव होता है। ऐसी अवस्था 'जायसड्ढे' है और उसी श्रद्धा में यह जिज्ञासा अभिव्यक्त होती है कि

---

१. अवग्रह—विषयविषयिसन्निपातानन्तरसमुद्भूतसत्तामात्रगोचरदर्शनाज्जातमाद्यम् अवान्तरसामान्याकारविशिष्टवस्तुग्रहणमवग्रहः।

(प्रमाणनयतत्त्वालोक, द्वितीय परिच्छेद, सूत्र-७)

विषय (पदार्थ) और विषयी (नेत्रादि) का यथोचित-देश में सम्बन्ध होने पर सत्तामात्र का आलोचन दर्शन होता है। इसके अनन्तर और ईहादि से पूर्व मनुष्यत्वादि अवान्तर सामान्य से युक्त वस्तु का बोध अवग्रह है।

२. ईहा— अवगृहीतार्थविशेषाकाङ्क्षणमीहा। (सूत्र-८)

अवग्रह द्वारा जाने गये सामान्य वस्तु अवबोध का विशेषार्थ जानने की अभीप्सा ईहा है। अवगृहीतार्थ 'यह मनुष्य है,' इसी ज्ञान का विशेषार्थ यह दक्षिणी है या पूर्वी? यह दक्षिणी होना चाहिये। यहां तक का बोध ईहा की कोटि में आता है।

३ अवाय— 'ईहितविशेषनिर्णयोऽवायः (सूत्र-९)

ईहा द्वारा गृहीत अर्थ में विशेष रूप से निर्णय लेना अवाय है। यथा—'यह मनुष्य दक्षिणी ही है।'

४. धारणा— 'स एव दृढतमावस्थापन्नो धारणा' (सूत्र-१०)

अवाय-ज्ञान की दृढतम अवस्था ही धारणा है। इस ज्ञान द्वारा स्मृति पटल पर इतने गहरे संस्कार अंकित होते हैं कि कालान्तर में उस वस्तु का स्मरण और प्रत्यभिज्ञान हो सकते हैं। यथा—

'यह वही दक्षिणी मनुष्य है, जिसको मैंने पूर्व में अमुक स्थान पर देखा था।'

कि मेरी आत्मिक शक्तियां, जो कि प्रारम्भिक चरण में अंगड़ाई लेकर उठ रही हैं तो क्या यह चरम विकास की स्थिति का प्रारम्भ अपने आप में सम्यक् है ? इस प्रकार की जिज्ञासा को सम्यक् संशय-जायसंसए कह सकते है। साथ ही इस विषय को जानने का कुतूहल उत्पन्न होना 'जायकोउहल्ले' होता है।

इस कुतूहल की सम्पूर्ति वीतराग देव से ही होगी, इस प्रकार की जो दृढतम श्रद्धा है, उसे 'उत्पन्न सड्ढे' कहा जा सकता है। क्यों न मैं इस कुतूहल को शांत कर लूं ? इस प्रकार की अभिलाषा 'उप्पण्ण संसए' है। वह तृप्ति कैसी होगी, इस प्रकार का कुतूहल 'उप्पण्णकोउहल्ले' से जाना जाता है।

ऐसे कुतूहल में भी सम्यक् श्रद्धा को संजायसड्ढे' एवं उस कुतूहल से जानने की जिज्ञासा को 'संजायसंसए' कहा जा सकता है। इस प्रकार के सम्यक् कुतूहल 'संजायकोउहल्ले' को मन-चित्त में रखते हुए प्रभु वचन में 'समुप्पन्नसड्ढे' समुत्पन्न श्रद्धा वाले, समुप्पन्नसंसए–जिज्ञासा से युक्त होते हुए 'समुप्पन्न कोउहल्ले' अर्थात् प्रभु मेरा समाधान करेंगे, इस प्रकार के कुतूहल को लिये हुए गौतम स्वामी भगवान् महावीर के चरणों से उपस्थित हुए।

इन विशेषणों से सम्पन्न गौतम स्वामी अपने स्थान से उठकर भगवान् महावीर के समीप उपस्थित हुए तथा भगवान् को तीन बार प्रदक्षिणा की। वन्दन (वचन से स्तुति) नमस्कार (काया से प्रणाम) किया।

तदनन्तर प्रभु के आसन की अपेक्षा कुछ नीचे आसन पर, न अति समीप, न अति दूर, प्रमाणोपात ३½ साड़े तीन हाथ दूर विराजमान हुए।

आत्मिक शुद्धि परक कल्याणकारी भगवान् के वचनों को श्रवण करने के लिये भगवान् के सम्मुख विनम्रतापूर्वक[1] करबद्ध होकर इस प्रकार बोले।

---

१. गुरु महाराज के पास विनम्रतापूर्वक धर्म श्रवण की विधि इस प्रकार बताई गई है—

णिद्दा विगहा परिवज्जिएहिं, गुत्तेहिं पंजलिउडेहिं।
भत्ति बहुमाणपुव्वं, उवउत्तेहिं सुणेयव्वं॥

निद्रा, विकथा का त्याग कर मन, वचन, काय को गुप्त-संयमित कर, हाथ जोड़ कर भक्ति बहुमानपूर्वक, एकाग्रचित्त से श्रवण करना चाहिए।

भगवन् ! जिस आत्मिक शक्ति ने चरम विकास के लिए सम्यक् श्रद्धा के रूप में प्रथम चरण विन्यास किया है, क्या उसका चलन चरम विकास के लिये चला हुआ माना जा सकेगा ? अर्थात् उसे 'चलमाणे चलिए' कहा जा सकेगा ?

भगवान् ने फरमाया—हाँ गौतम ! उसे 'चलमाणे चलिए' कहा जा सकेगा। जब वह शक्ति अपने गन्तव्य स्थान की ओर प्रयाण करने लगती है, तब उस मार्ग में अवरोधक कर्मों की उदीरणा करने में संलग्न होती है और वह शक्ति 'उदीरिज्जमाणे उदीरिए' कही जायेगी।

जिन कर्मों की उदीरणा की, उन कर्मों को उदयावलिका में वेदन करती हुई वह आत्मिक शक्ति 'वेइज्जमाणे-वेइए' कहलायेगी।

वेदन करने के बाद वह शक्ति उन कर्म स्कन्धों को प्रहीण करती है, तब वह 'पहिज्जमाणे पहीणे' कहलाती है।

जब आत्मिक शक्ति सम्यक् पुरुषार्थ के साथ अपने प्रतिपक्षी का छेदन करने लग जाती है, तब 'छिज्जमाणे छिण्णे' कहलाती है।

जब यह शक्ति कर्म स्कन्धों के भेदन करने में लगती है, तब 'भिज्जमाणे-भिण्णे' कहलाती है।

जब इस प्रकार की आन्तरिक शक्ति अपने कार्य में सफलता का अनुभव करती हुई ध्यानाग्नि से उन कर्मों को जलाने लगती है, तब 'डज्झमाणे-डड्ढे' कहलाती है।

इस प्रकार जब ध्यानाग्नि उन कर्मों को जला डालती है, तब वह उनकी अवधि को भी समाप्त कर देती है। उस अवधि को समाप्त करती हुई आत्मा 'मिज्जमाणे-मडे' कहलाती है।

कर्मावधि के समाप्त होने पर आत्मा उन कर्मों को अपुनर्भाव से अपने से सर्वथा विलग कर देती है, तब 'निज्जरिज्जमाणे-निज्जिण्णे' कहलाती है। सुगमबोध के लिए कुछ विशेष व्याख्या की जा रही है।

१. चलमाणे चलिए—जो चल रहा है, उसे चला हुआ कहना। कर्मों के अबाधाकाल की स्थिति समाप्त होने पर ही कर्म अपने फल की अनुभूति आत्मा को करवा सकते हैं। कर्म के अबाधाकाल की समाप्ति के साथ ही कर्म उदयावलिका में प्रवेश करते हैं। उनका उदयावलिका में प्रवेश करना 'चलित' कहलाता है। उदयावलिका में अनंत कर्मपुद्गलों को प्रवेश करते-करते असंख्यात समय व्यतीत हो जाते हैं। असंख्यात समय का आदि, मध्य, अवसान भी होता है। प्रथम समय में जिन कर्म पुद्गलों का प्रवेश उदयावलिका में होता है, सापेक्षता 'चलते हुए को चला' कहना चाहिए।

जब यह प्रश्न विचार-वीथि में प्रवेश करता है, तो एक जिज्ञासा स्फुरित होती है कि जो कर्म पुद्गल चल रहे हैं—गति कर रहे हैं, उन्हें चला हुआ, गति कर चुका कैसे कहा जाता है ? वर्तमान काल की क्रिया का भूतकाल के रूप में प्रयोग कैसे किया जा सकता है ? यथा—**कथं पुनस्तु वर्तमानं सदतीतं भवति ?**

वर्तमानकाल ही अतीत कैसे हो सकता है ?

इस जिज्ञासा को शान्त करने के लिये हमें बाह्य जगत की ओर देखना होगा। जिस प्रकार कपड़ा बुनने के लिये जुलाहा सबसे पहले एक तार डालता है, उसके बाद क्रमशः डालता चला जाता है। कपड़ा बुनने में असंख्यात समय लग जाते हैं। प्रथम समय में प्रक्षेपित तार की अपेक्षा से लोक व्यवहार में यह कहा जाता है कि 'कपड़ा बुन गया'।

यह लोक व्यवहार निराधार, असत्य नहीं है। क्योंकि अगर प्रथम प्रक्षेपित तार के लिए हम 'कपड़ा बुन गया' ऐसा प्रयोग नहीं करेंगे, तो अन्य तारों के लिये यह प्रयोग नही किया जा सकेगा। किन्तु यह प्रत्यक्ष विरुद्ध आचरण है। अन्तिम तन्तु में जितनी शक्ति कपड़े के बुनने में है, उतनी शक्ति प्रथम तन्तु एवं मध्य में स्थित तन्तुओं में विद्यमान है। यदि प्रथम एवं मध्य में स्थित तन्तु न हो, तो अन्तिम तन्तु से कपड़ा बुनने की प्रक्रिया पूर्ण नहीं हो सकती। अन्तिम तन्तु जिस प्रकार कपड़े की उत्पत्ति में सहायक है, उसी प्रकार अन्य तन्तु भी हैं। अतः अन्तिम तन्तु के प्रयोग से कपड़ा बुना गया, यह कथन किया जाता है। उसी प्रकार आदि एवं मध्य के तन्तु प्रयोग से भी 'कपड़ा बुना गया' ऐसा कथन करने एवं मानने में कोई बाधा उपस्थित नही हो सकती।

इसी प्रकार कोई व्यक्ति विदेश जाने के लिये घर से प्रयाण कर चुका है। अभी तक विदेश नहीं पहुंचा है, फिर भी उसके घर के सदस्यों से कोई व्यक्ति यह पूछ ले कि अमुक व्यक्ति कहाँ गया है, तो वे यही उत्तर देते है कि 'वह विदेश गया है।' जबकि अभी वह हवाई जहाज में ही सफर कर रहा है, तथापि यह व्यवहारिक कथन "वह विदेश गया है" असत्य नहीं है। क्योंकि विदेश-गमन के लिये उसकी प्रक्रिया प्रारम्भ हो चुकी है। जितनी दूर तक वह पहुंच चुका है—उस अपेक्षा से यह कथन 'वह विदेश गया है' सत्य है।

इसी प्रकार कर्मपुद्गलों के विषय में भी समझना चाहिये। असंख्यात समय में जो कर्मपरमाणु उदयावलिका में प्रवेश करते हैं, उनमें से प्रथम समय में जितने कर्म परमाणु उदयावलिका में प्रवेश करते हैं, उनकी अपेक्षा से चलते हुए को चला हुआ कहने में कोई विरोध नहीं आता। जैसे कि एक तन्तु प्रक्षेप मात्र से कपड़ा उत्पन्न हुआ, विदेश गमन करने वाले व्यक्ति के कुछ दूर जाने पर भी यह कथन 'वह विदेश गया' सत्य है।[1]

---

१. इसी प्रकार की युक्ति का अनुसरण अन्य अवशेष प्रश्नों के समाधान में भी कर लेना चाहिये।

यदि प्रथम समय में चलित कर्म परमाणुओं को चला हुआ नहीं मानेंगे तो [illegible] चलने वाले कर्म परमाणुओं का भी चलना नहीं माना जा सकेगा, क्योंकि समयापेक्षा आदि-मध्य और अवसान के समय में कोई अन्तर नहीं है। जब अन्तिम समय में चलित कर्मदलिक, चले हुए माने जाते हैं तो प्रथम एवं मध्य समय में चलते हुए कर्म दलिकों को भी 'चला हुआ' मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये।

कर्मों की स्थिति मर्यादित है, वह चाहे अन्तर्मुहूर्त की हो या सित्तर कोटा-कोटि सागर प्रमाण। स्थिति परिपाक के अनुसार जब वे कर्म उदय में आते हैं, तब वे युगपद् उदित नहीं होते, क्रमशः उनका उदय चलता है। जो कर्म प्रथम समय में उदयावलिका के लिए चला, वही द्वितीय समय में नहीं चलता है। अतः इस समय में यह कर्मांश चला है, इस प्रकार मानने पर ही कर्मों का उदयक्रम विधिवत् रह सकता है। एक कर्म दलिक, दूसरे कर्म दलिक से स्वतन्त्र होकर चलता है। अतएव प्रथम समय में जो कर्म दलिक चला है, तदपेक्षया 'चलमाणे चलिए' कहना युक्ति संगत है।[1]

२. उदीरिज्जमाणे-उदीरिए— उदीरा जाता हुआ कर्म उदीरित कहलाता है। कर्म दो प्रकार से उदय में आते हैं—

१. स्वभावतः २. प्रयोगतः। अबाधाकाल की परिपूर्णता पर जो कर्म उदय में आते हैं वे स्वभावतः कहे जाते हैं। उदीरणा के प्रयोग विशेष से अनन्तर समय में उदय में आने वाले कर्मों को, स्थिति की परिपक्वता के पूर्व ही उदयावलिका में खींच लेना 'प्रयोगतः' कहलाता है।

इस प्रकार से कर्मों की उदीरणा में भी असंख्यात समय लग जाते हैं। उन असंख्यात समयों में प्रथम समय में जो कर्म परमाणु उदीर्ण होते हैं, उस अपेक्षा से 'उदीरित हो गये' ऐसा कहना चाहिए। इस प्रकार अग्रिम समयों में उदीर्यमाण कर्म-परमाणुओं के विषय में भी समझना चाहिये।

३. वेइज्जमाणे-वेइए— जो वेदा जा रहा है, उसे 'वेदा गया' कहना। [illegible] वेदनीय आदि कर्मों के सुख दुःख की अनुभूति को कर्मवेदन कहते हैं। यह वेदन भी स्वभावतः अबाधाकाल की पूर्ति के बाद होने वाला उदय या प्रयोगतः उदीरणा विशेष के द्वारा उदय में लाये हुए कर्मों का परिस्पन्दन है। इस कर्मवेदन में भी असंख्य समय लगते हैं। उनमें से प्रथम समय में वेदन किये जाते हुए कर्मों को 'वेदन किया हुआ' कहना चाहिये। इसी प्रकार अनन्तर समयों में भी जानना चाहिये।

४. पहिज्जमाणे-पहीणे— जो क्षय हो (गिर) रहा है, उसे क्षय हुआ (गिरा हुआ) [illegible]।

१. 'चलमाण-चलिए' आदि की व्याख्या में [illegible]

आत्मप्रदेशों के साथ सम्बद्ध कर्म-परमाणुओं को विलग करना 'प्रहाण' कहलाना है। आत्मप्रदेशों से कर्म-परमाणुओं को हटाने में भी असंख्यात समय लगते हैं। प्रथम समय जो कर्म आत्मा से कम हुए हैं, अलग हुए हैं, उन्हे कम हुआ या विलग हुआ मानना चाहिए। इसी प्रकार पश्चाद्वर्त्ती कर्म-परमाणुओं में भी यही विधि जाननी चाहिये।

५. छिज्जमाणे-छिण्णे— जो छेदा जा रहा है, उसे छिदा मानना।

दीर्घकालिक कर्म स्थिति को ह्रस्वकाल को कर लेना, छेदन कहलाता है। यद्यपि कर्म वही रहते हैं तथापि कर्मस्थिति के परिमाण में इस प्रक्रिया से ह्रस्वता आ जाती है। यह कार्य अपवर्तनाकरण के माध्यम से होता है। इस छेदन-क्रिया में भी असंख्य समय लगते हैं। इसमें छिद्यमान कर्मों को पूर्व की तरह छिदा हुआ कहना चाहिये।

६. भिज्जमाणे-भिण्णे— जो भेदा जा रहा है, उसे भेदा गया कहना।

शुभ या अशुभ कर्मों के तीव्र रस को अपर्वतनाकरण द्वारा मन्द रस कर देना 'भेदन' कहलाता है। इस क्रिया में भी असंख्य समय लगते हैं। प्रथम समय में भिद्यमान कर्मों को भेदा गया कहना चाहिये। आगे भी इस प्रकार जानना चाहिये।

७. डज्झमाणे-डड्ढे— जो जल रहा है, उसे जला कहना।

कर्मरूपी काष्ठ को प्रशस्त ध्यान रूपी अग्नि से जला देना, कर्म को अकर्म पुद्गल के रूप में परिणत कर देना, दग्ध कर देना कहलाता है। जो कि पुनः भोगने नहीं पड़ते हैं। इस दग्ध क्रिया में भी असंख्य समय लगते है। यहाँ पर भी पूर्व की तरह जो दग्ध हो रहा है, उसे दग्ध हुआ, ऐसा मानना चाहिये।

८. मिज्जमाणे-मडे— जो मर रहा है, उसे मरा कहना।

आयु कर्म से रहित हो जाना, व्यावहारिक भाषा में मरण कहलाता है। इस मरण से तात्पर्य-आत्मा का नाश हो जाना नहीं है। आत्मा के साथ आयुकर्म के रहने पर शारीरिक परिस्पन्दन रूप क्रियाएँ होती हैं। आयु कर्म से रहित हो जाने पर सारी चेष्टाएँ बन्द हो जाती है। इन आयु कर्म के पुद्गलों का नाश होने में, विलग होने में असंख्यात समय लगते हैं। उन असंख्यात समयों से, प्रथम समय में भी मरा कहा जा सकता है। शास्त्रकारों का भी कहना है कि आवीचि मरण में से प्रत्येक प्राणी प्रति-क्षण मरण को प्राप्त हो रहा है, प्रतिक्षण उसकी आयु कम हो रही है। अतः असंख्यात समय की मरण प्रक्रिया में जो मरने लगा है उसे 'मरा हुआ' कहने में कोई बाधा नहीं है।

९. निज्जरिज्जमाणे-निज्जिण्णे— निर्जीर्यमान को निर्जीर्ण हुआ कहना।

आत्मा से कर्म पुद्गलों का अपुनर्भाव से अलग हो जाना निर्जरा कहलाता है। कर्म फिर कभी तद्रूप में उत्पन्न न हो, यहाँ उस निर्जरा से तात्पर्य है। मोक्ष प्राप्त करने वाले महापुरुष जिन कर्मों की निर्जरा करते हैं, उनके निर्जीर्णकर्म फिर कभी कर्मरूप से परिणत नहीं होते। ऐसी निर्जरा भी असंख्यात समय में होती है। परन्तु प्रथम समय से जो कर्म निर्जीर्ण हो रहा है, उसे पूर्व की तरह निर्जीर्ण हुआ कहना चाहिये।

भगवान महावीर स्वामी से गौतम स्वामी ने अनेक प्रश्न किये, जिनका समाधान समुचित रूपेण प्रभु ने दिया। किन्तु विचारणीय यह है कि गौतम स्वामी तो सर्वश्रुत विज्ञाता, संशयातीत एवं सर्वाक्षर-सन्निपाती थे, फिर उन्होंने भगवान् से प्रश्न क्यों किये?

शास्त्रकारों ने गौतम स्वामी के लिये जिन गुणों का उल्लेख किया, वे सभी उनमें विद्यमान थे। फिर भी गौतम स्वामी छद्मस्थ ही थे, सर्वज्ञ नही। छद्मस्थ होने के कारण ज्ञान में परिपूर्णता नहीं आ सकती। बिना परिपूर्णता के ज्ञान सर्वथा निः सन्देह नही हो सकता। छद्मस्थ में कुछ न कुछ अपूर्णता रहती ही है।[1]

दूसरी बात यह है कि यह भी नियम नही होता कि अनजान ही प्रश्न करे, जानकार नहीं। जान करके भी प्रश्न किया जा सकता है। गौतम स्वामी इन प्रश्नों के उत्तरों को जानते भी थे, तथापि अपने ज्ञान में अविसंवाद लाने के लिये, अपने द्वारा ज्ञात विषय पर भगवान द्वारा अधिक प्रकाश-बोध प्राप्त करने के लिये या जिन्हें प्रश्न पूछना नही आता या जिनकी विपरीत धारणा है, उन्हें सत्य ज्ञान प्राप्त कराने के लिए प्रश्न कर सकते हैं, या फिर सूत्र रचना की विधि को पूर्ण करने के लिये अपने कथित वचनों पर भव्यात्माओं को प्रतीति कराने के लिए भी भगवान् से प्रश्न किये जा सकते है।

भगवान् ने गौतम स्वामी के द्वारा पूछे गये प्रश्नों के समाधान में कहा—हंता गोयमा! हां गौतम!

गौतम स्वामी के लिये तो इतना ही उत्तर पर्याप्त था। वे इतने मात्र से ही प्रश्नों का स्पष्ट उत्तर समझ जाते, तब भगवान् को 'चलमाणे चलिए जाव णिज्जरिज्जमाणे णिज्जिण्णे' कहने की आवश्यकता क्यों पड़ी!

इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि शिष्यों के अनुग्रह के लिये इतनी स्पष्टता आवश्यक थी जिससे सभी को यथार्थ ज्ञान हो सके।

---

१. न हि नामाऽनाभोगः छद्मस्थस्येह कस्यचिन्नास्ति।
यस्माद् ज्ञानावरणं, ज्ञानावरण प्रकृति कर्म॥

किसी भी छद्मस्थ को किसी प्रकार का अनाभोग [illegible]) न हो, यह नहीं हो सकता, क्योंकि ज्ञान को [illegible] कर्मों से [illegible] ज्ञान को आवृत्त कर

पूर्व सूत्र में प्रतिपादित नव पदों के नाना घोप और नाना व्यंजन का वर्णन प्रस्तुत सूत्र में किया जा रहा है—

(2) एए णं भंते ! णव[१] पया[२] किं एगट्ठा [३]णाणाघोसा [४]णाणावंजणा उदाहु [५]णाणट्ठा [६]णाणाघोसा [७]णाणा-वंजणा ?

(2) हे भगवन् ! क्या ये नौ पद, नानाघोप, (और) नाना व्यंजनों वाले, एकार्थक हैं ? अथवा, नाना घोपवाले, (और) नाना व्यंजनों वाले, भिन्नार्थक पद हैं ?

गोयमा ! चलमाणे [८]चलिए १ उदी-उदीरिज्जमाणे [९]उदीरिए २ [१०]वेइज्ज-माणे वेइए ३, [११]पहिज्जमाणे [१२]पहीणे ४, [१३]एए णं चत्तारि पया[१४] एगट्ठा, [१५]णाणाघोसा, [१६]णाणावंजणा, उप्प-ण्णपक्खस्स[१७] । [१८]छिज्जमाणे [१९]छिण्णे १. भिज्जमाणे [२०]भिण्णे २, [२१]डज्ज-माणे डड्ढे ३, मिज्जमाणे [२२]मडे ४, [२३]णिज्जरिज्जमाणे णिज्जिण्णे ५, एए णं पंच [२४]पया [२५]णाणट्ठा [२६]णाणाघोसा [२७]णाणावंजणा [२८]विगयपक्खस्स ।

हे गौतम ! जो चल रहा है, वह चला, जो उदीरा जा रहा है, वह उदीर्ण हुआ, जो वेदा जा रहा है, वह वेदा गया, जो कम हो रहा है, वह कम हुआ, ये चारों पद, उत्पन्न पक्ष की अपेक्षा से, एकार्थक, नाना घोप वाले और नाना व्यंजनों वाले है (तथा) जो छेदा जा रहा है, वह छिन्न हुआ, जो भेदा जा रहा है, वह भिन्न हुआ, जो दग्ध हो रहा है, वह दग्ध हुआ, जो मर रहा है, वह मरा, जो निर्जीर्ण किया जा रहा है, वह निर्जीर्ण हुआ, ये पाच पद विगतपक्ष की अपेक्षा से, नाना अर्थ वाले, नाना घोप वाले, (और) नाना-व्यंजनों वाले हैं ।

विवेचन :–

पूर्व सूत्रगत नौ पद का घोप और व्यंजन तो अलग-अलग हैं । इस वृत्त को जानने के लिये गौतम स्वामी ने भगवान् से प्रश्न किया—भगवन् ! ये पद एकार्थक हैं, या नानार्थक ?

१ नव - पु० अमो० पा० वे० ॥ २. पदा - अमो० न० वे० म० ॥ ३-४-६-७ नाना० - पु० न० वे० म० ॥ ५. नानट्ठा - पु० न० वे० म० ॥ ८. चलिते - वे० म० ॥ ९ उदीरिते - वे० म० ॥ १०. वेदिज्जमाने वेदिए - न० ला० । वेविज्जमाणे वेविए - ला २ ११. पहेज्जमाणे - अमो० ॥ १२. पहिए - अ० ला० ब० मं० जै० ला० १ ला २ । पेहिए - ला ३ ॥ १३. प्र० - ०णे ते एए पु० ॥ १४. पदा - न० वे० म० ॥ १५-१६. नाना० - पु० न० वे० म० ॥ १७. उप्पन्न० - पु० वे० म० ॥ १८. छिज्जमाणे - ला० ला ३ । छिज्जमाणे छिण्णे भिज्ज दज्ज मिज्जमाणे निज्ज० - ला १ ॥ १९. छिन्ने - पु० म० वे० ॥ २०. भिन्ने - पु० वे० म० ॥ २१. दज्जमाणे दड्ढे - ला० ला ३ । दज्झमाने दड्ढे - अमो० न० ॥ २२. मए - अमो० न० ला० ला ३ २३. निज्जरिज्जमाणे निज्जिन्ने - पु० न० म० म० ॥ २४. पदा - अमो० न० वे० म० ॥ २५. नानट्ठा - न० वे. म० ॥ २६-२७. नाना० - पु० न० वे० म० ॥ २८. विगतपक्खस्स - वे० म० ॥

तिक कर्म होते हैं तो उनका समीकरण करने के लिये वे केवली समुद्घात में उपर्युक्त पदों की स्थिति यथास्थान घटित हो जाती है। परन्तु यह इतनी सूक्ष्म एवं स्वल्प समय में होने से जिज्ञासुओं के लिये सुबोधगम्य कम बनती है।

केवली समुद्घात के पश्चात् योग निरोध आदि की प्रक्रियाएँ शुक्ल ध्यान के दो भेदों के अन्तर्गत सम्पन्न हो जाती है। *अन्ततोगत्वा वह जीव पांच ह्रस्व अक्षर के उच्चारण करने में लगने वाले* समय में यथायोग्य प्रक्रियाओं को सम्पन्न कर अन्तिम समय में "कृत्स्नकर्म-क्षयो मोक्षः" की अवस्था को प्राप्त हो जाता है। अर्थात् मोक्ष में चला जाता है।

इस प्रकार प्रारम्भिक प्रश्न चलमाणे चलिए की अन्तिम समाप्ति चवदहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में हो जाती है।

भिन्नार्थ पदों का यह स्पष्टीकरण ही अधिक संगत लगता है। कुछ व्याख्याकारों ने इन पदों की भिन्नार्थता स्पष्ट करने के लिये जो प्रक्रिया बताई है, उस प्रक्रिया में स्पष्टतया इन पदों की अभिव्यक्ति नही हो पाती। क्योंकि स्थिति घात, रस घात आदि अवस्थाएँ अधिकांशतया मोहादि से सम्बन्धित रहती है और मोह की अवस्था तेरहवें गुणस्थान में सर्वथा नहीं होती है। अतएव उस प्रकार के स्थिति घातादि की प्रक्रिया वहां नही बन पाती।

दूसरी बात यह है कि "चलमाणे-चलिए" अर्थात् चलते हुए को चला कहना यह वाक्य *अन्तिम सीमा का नहीं। प्रारम्भ अथवा मध्यवर्ती क्रिया का सूचन करता है। यही बात* अन्य पदों में भी लागू होती है। अतएव प्रारम्भ या मध्य अवस्था में इन पदों का स्पष्टतया ज्ञान करना संगत लगता है क्योंकि अन्तिम पद "निज्जरिज्जमाणे-निज्जरिए" है इससे निर्जीर्ण होता हुआ निर्जीर्ण कहलाता है। *यह स्थिति परिपूर्ण अवस्था में "निर्जीर्णमाण" नहीं है अपितु सभी कर्म क्षय हो चुके हैं।* अतएव अन्तिम परिपूर्ण समाप्ति के पहले-पहले इन पदों का संयोजन समझना अधिक संगत लगता है। यद्यपि उपर्युक्त व्याख्या ही यौक्तिक है तथापि टीकाकार एवं पूर्वाचार्यों ने जो इस सम्बन्ध में व्याख्याएँ दी है, उन्हें भी पाठकों की जानकारी के लिये प्रस्तुत किया जा रहा है।

'छिज्जमाणे-छिण्णे' पद कर्मों की दीर्घ स्थिति को अल्पस्थिति में करने वाला है। जब केवली सयोगी से अयोगी गुणस्थान की ओर उन्मुख होकर मन-वचन-काया के निरोध की प्रक्रिया प्रारम्भ करते हैं उस समय वेदनीय, नाम, गोत्र की अवशेष स्थिति को अपवर्तनाकरण के माध्यम से कम कर अन्तर्मुहूर्त प्रमाण कर देते है। यह कर्मों का 'छेदन' कहा जाता है। कर्म स्थिति छेदन के साथ ही, कर्मों के अनुभाग (रस) का भी भेदन (कम) कर दिया जाता है। कर्म स्थिति कर्म रस के नाश की प्रक्रिया युगपद् होते हुए भी स्थिति खण्ड, रस खण्ड अलग-अलग है। स्थिति खण्डापेक्षा रस खण्ड अनंत

गुणे हैं। 'डज्झमाण' प्रक्रिया प्रदेश बंध सापेक्ष है। अनंतानंत कर्म प्रदेशों का दाह कर अर्थात् नष्ट कर अकर्म रूप में परिणत कर देना 'दाह' करना कहा जाता है।

यह कर्मदाह क्रिया शैलेशी[1] अवस्था में होने वाले शुक्ल ध्यान[2] के चतुर्थपाद 'समुच्छिन्न-क्रिया'[3] अप्रतिपाति नामक ध्यानाग्नि द्वारा की जाती है।

आयु कर्म के क्षय का संकेत 'मिज्जमाणे मडे' पद से किया गया है। अपुनर्भाव से जिस आयु-कर्म का क्षय होता है अर्थात् पुनः अन्य आयु का बंध न हो, यानि जिस आयुकर्म के क्षय हो जाने के पश्चात् निश्चित मुक्ति है। इस प्रकार का मरण इस पद द्वारा ही संकेतित है, अन्य के द्वारा नहीं। अतः यह अन्य पदों से भिन्नार्थक है।

समस्त कर्मों का अकर्म रूप में परिणत हो जाने का संकेत 'णिज्जरिज्जमाणे-णिज्जिण्णे' द्वारा किया गया है। समस्त कर्मों का क्षय संसारी भव्य जीव के बार-बार नहीं होता, मात्र एक बार ही होता है। अतः यह स्थिति उसके लिये अपूर्व होती है। ऐसी स्थिति अन्य पदों में वर्णित न होने से यह पद भी भिन्नार्थक है।

आदि के चार पद उत्पत्ति पक्ष की अपेक्षा केवलज्ञान की उत्पत्ति रूप एक ही कार्य के कर्त्ता होने से एकार्थक प्रतिपादित किये गये हैं। अन्तिम पांच पद विगत[4] (विनाश) पक्ष की अपेक्षा होने से भिन्नार्थक विवेचित किये गये हैं।

---

१. शैलेशी— सुमेरु पर्वत के समान निश्चल अवस्था अथवा सर्व संवर रूप योगनिरोध अवस्था को शैलेशी कहते हैं।

२. शुक्लध्यान— पूर्व विषयक श्रुत के आधार से मन की अत्यन्त स्थिरता और योग का निरोध शुक्ल-ध्यान कहलाता है। (समवायांग सूत्र, समवाय–४)

जो ध्यान आठ प्रकार के कर्म-मल को दूर करता है, अथवा जो शोक को नष्ट करता है, वह शुक्लध्यान है। (स्थानाङ्ग; सूत्र स्थान–४)

पर-अवलम्बन बिना शुक्ल-निर्मल आत्म स्वरूप का तन्मयता पूर्वक चिन्तन करना, शुक्लध्यान कहलाता है। (आगमसार)

जिस ध्यान में विषयों का सम्बन्ध होने पर भी वैराग्यबल से चित्त बाहरी विषयों की ओर नहीं जाता तथा शरीर का छेदन-भेदन होने पर भी स्थिर हुआ चित्त ध्यान से लेश मात्र भी नहीं डिगता, उसे शुक्ल ध्यान कहते हैं। (कर्त्तव्य कौमुदी, दूसरा भाग श्लोक २७४)

३. समुच्छिन्नक्रिया–अप्रतिपाती— शैलेशी अवस्था को प्राप्त केवली सभी योगों के निरोध की प्रक्रिया प्रारम्भ करते हैं। योग निरोध से सारी क्रियाएं नष्ट हो जाती है। जिस ध्यान पर आरोहण करने वाला पुनः पतित नहीं होता। अतः इसे समुच्छिन्नक्रिया-अप्रतिपाती ध्यान कहते हैं।

४. विगत का अर्थ विनाश किया गया है। यहां सर्वथा विनाश से तात्पर्य नहीं है, क्योंकि किसी वस्तु का सर्वथा विनाश नहीं होता। अतः यहां विनाश से तात्पर्य यह है कि वस्तु की एक पर्याय का नाश होकर, दूसरी पर्याय की उत्पत्ति होना समझना चाहिये।

चौवीस दण्डक की स्थिति का विचार....

पूर्व सूत्र में 'चलमाणे चलिए' से लेकर 'णिज्जरिज्जमाणे निज्जरिए' तक मोक्ष प्राप्ति की क्रमिक प्रक्रिया विवेचित की गई हैं। उस मोक्ष की प्राप्ति जीव को ही होती है। अतएव जीव का मौलिक स्वरूप समझने पर ही मोक्ष का यथा तथ्य स्वरूप जाना जा सकता है। जीव का स्वरूप जानने के लिये उसके भेद प्रभेदों का स्वरूप भी जानना अपेक्षित हैं। तथा वे किन-किन स्थिति में विद्यमान हैं। इन सबकी विज्ञप्ति के लिये अग्रिम सूत्रों में संसारी जीवों को चौवीस दण्डकों में विभक्त कर उनका विवेचन किया गया है। अपने कृत्यों-अपराधों, कर्मों का दण्ड जिस स्थान पर जाकर आत्मा भोगती है, उन्हें दण्डक कहते हैं। चौवीस दण्डकों में प्रथम दण्डक नारकी का होने से सर्वप्रथम नारकी जीवों का वर्णन किया गया है।

नरक में जाकर आत्मा कितनी अवधि तक उसमें रह सकती है। सर्वप्रथम उस स्थिति विषयक वर्णन दिया गया है। वहां रहकर नैरयिक जीव के श्वासोश्वास प्रक्रिया कैसी बनेगी ? इसका वर्णन स्थिति के वर्णन के पश्चात् दिया गया है।

श्वासोश्वास की प्रक्रिया शरीर में होती हैं और शरीर का निर्वाह आहार से होता है। अतः अगला प्रश्न आहार के लिये किया गया है।

चौवीस दण्डक स्थिति का विचार :—

(१) नैरयिक चर्चा :–

सूत्र 6(i) [1]नेरइयाणं भंते ! [2]केवइयं कालं [3]ठिई [4]पण्णत्ता ? गोयमा [5]जहण्णेणं दस वाससहस्साइं[6], उक्कोसेणं [7]तेत्तीसं-सागरोवमाइं [8]ठिई पण्णत्ता ।

(ii) [9]नेरइयाणं भंते ! [10]केवइकालस्स आणमंति वा पाणमंति वा ऊससंति वा [11]णीससंति वा ? जहा [12]उसासपए[A] ।

(i) हे भगवन्, नैरयिकों के, कितने, काल की, स्थिति, कही गई है अर्थात् नैरयिकों का आयुष्य कितना होता है ?

हे गौतम ! जघन्य से (नैरयिकों की आयु) दस हजार वर्ष की, और उत्कृष्ट तेंतीस सागरोपम की स्थिति कही गई है।

(ii) हे भगवन् ! नैरयिक, कितने (काल) समय में श्वास लेते है अथवा श्वास छोड़ते हैं, अर्थात् (कितने समय में) उच्छ्वास लेते है। और निःश्वास छोड़ते हैं ?

जिस प्रकार प्रज्ञापना सूत्र में, उच्छ्वास पद में कहा है, उसी प्रकार समझना चाहिये।

(iii) [13]नेरइयाणं भंते ! आहारट्ठी[14]? जहा [15]पण्णवणाए[B] [16]पढमए [17]आहारुद्देसए [18]तहा भाणियव्वं । [19]ठिई [20]उस्सासाहारे किं वा [21]ऽऽहारेंति सव्वओ वावि। [22]कतिभागं सव्वाणि व कीस वा भुज्जो परिणमंति ?[23]

(iii) हे भगवान् ! नैरयिक, क्या आहारार्थी-आहार के अभिलाषी होते हैं ?

हे गौतम ! जिस प्रकार, प्रज्ञापना सूत्र के, आहार पद का प्रथम उद्देशक विवेचित है, उसी प्रकार से जानना चाहिये !

[नैरयिकों को] स्थिति, उच्छ्वास, आहार विषयक वृत्त, क्या (वे) आहार करते है ? सर्वात्मप्रदेशों से, कौन-से भाग का आहार करते है ? अथवा, सभी आहारक पुद्गलों का आहार करते हैं ? तथा किस रूप में पुनः पुनः, परिणमित करते हैं ?

विवेचन :-

यह लोक अनंतानंत प्राणियो का निवास-स्थल है। वे प्राणी अपने-अपने कर्मानुसार सुख-दुःख की अनुभूति करते रहते हैं। सब प्राणियों का आत्मिक स्वरूप एक समान होते हुए भी वे कर्मवश होने से विभिन्न अवस्थाओं में विद्यमान हैं। उनका वर्गीकरण करने के लिये चौवीस दण्डकों का विधान किया है।

–: चौबीस दण्डक :–[1]

सात नरक का एक दण्डक, असुरकुमार, नागकुमार, सुवर्णकुमार, विद्युतकुमार, अग्निकुमार, द्वीपकुमार, उदधिकुमार, दिशाकुमार, वायुकुमार एवं स्तनितकुमार। इन दस भवनपतियों के दस

१. णेरइयाणं - धा० अमो० ।। २. केवइकालं - पु० वे० म० । केवइयं - अ० क० ता० । केवड - व० । केवतियं का० - ला १ ।। ३. ठिती - न० ।। ४. पन्नत्ता - पु० ।। ५. जहन्नेणं - पु० वे० म० ।। ६. प्र० - ०इं ठिइ पण्णत्ता। अमो० ।। ७. तित्तीसा सागरोवमा ठि० - ला २ ।। ८. ठिती - न० ।। ९. णेरइयाणं भंते - धा० अमो० ।। १०. केवइयं० - अमो० ।। ११. नीससंतिवा - दे० म० ।। १२. उस्सासपदे - अमो० न० । ऊसासपदे - वे० म० । ऊसामपए - पु० धा० । पण्णवणा सुत्तं सू० ६९३-७२४ ।। १३. णेरइयाणं - धा० अमो० ।। १४. प्र० - हंताणोयमा न० ।। १५. पण्णवणाए - पु० अमो० ।। १६. पढमसए - अमो० । १७. आहारुद्देसे सा० - लों० । पण्णवणा सुत्तं सू० १७९३-१८६४ ।। १८. तथा - वे० म० ।। १९. ठिति - अमो० म० वे० । ठिइ - न० ।। २०. उस्सासाहारे - अमो० ।। २१. किं वा हारेइ - अमो० । हारेंति - ला १२ ।। २२. कइभागं - धा० अमो० ।। २३. 'इदं च संग्रहणि गाथा विवरण सूत्रं सर्वविरसूत्र पुस्तक एव मन्दृश्यते इति - अवृ० ।।

A- गोयमा ! गतते संतयामेव आणमंति वा ४ (प्रज्ञापना सूत्र पद ७-१)

B- प्रज्ञापना सूत्र नं. 1795 to 1864 Page No. 392 to 400 पृष्ठ.

१. नेरइया-असुराइ-पुढवाइ बेइंदियादि ओ चेव ।
पंचिंदिय-तिरय नरा, वितर जोइसिय वेमानी ।।

दण्डक, पाँच स्थावर क्रमशः पृथ्वी, अप, तेउ, वायु व वनस्पति के ५ दण्डक, तीन विकलेन्द्रिय के तीन दण्डक, तिर्यंच पंचेन्द्रिय का एक दण्डक, मनुष्य का एक दण्डक, वाण-व्यन्तर देवों का एक दण्डक ज्योतिष्क देवों का एक दण्डक, वैमानिक देवों का एक दण्डक। इस प्रकार कुल चौबीस दण्डक हुए।

इन चौबीस दण्डकों में नरक प्रथम होने से यहाँ गौतम स्वामी ने 'नरक' को उद्देश करके ये प्रश्न किये हैं।

स्थिति विषयक— हे भगवन् ! नरक योनि की स्थिति कितनी है ?

नारक स्थिति[1] दो प्रकार की होती है—जघन्य व उत्कृष्ट। कम से कम परिमाण को जघन्य अधिक से अधिक परिमाण को उत्कृष्ट कहते हैं। न जघन्य, न उत्कृष्ट की अवस्था को मध्यम कहते हैं।

नैरयिक जीव नरक में कम से कम दस हजार वर्ष तक अवश्यमेव रहते है और अधिक से अधिक तेतीस सागरोपम[2] तक रहते हैं।

नरक सात प्रकार के प्रतिपादित किये गये हैं। यथा —रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमप्रभा तथा तमस्तमप्रभा।

नरक	स्थिति जघन्य	स्थिति उत्कृष्ट
१. रत्नप्रभा	१० हजार वर्ष	१ सागरोपम
२. शर्कराप्रभा	१ सागरोपम	३ सागरोपम
३. वालुकाप्रभा	३ —,,—	७ —,,—
४. पंकप्रभा	७ —,,—	१० —,,—
५. धूमप्रभा	१० —,,—	१७ —,,—
६. तमप्रभा	१७ —,,—	२२ —,,—
७. तमस्तमप्रभा	२२ —,,—	३३ —,,—

१. स्थितिःकालावधारणम्— कर्म पुद्गलों का आत्मा के साथ मर्यादित काल तक रहने को 'स्थिति' कहते हैं।

२. सागरोपम— यह संख्या अंकों द्वारा नहीं जानी जा सकती। उपमा द्वारा इसे समझा जा सकता है। अतः सागर के साथ 'उपमा' शब्द को संयोजित किया है। आयुष्य परिमाण की विज्ञप्ति में सूक्ष्म अद्धापल्योपम, सागरोपम काम में आते हैं।

उत्सेधांगुल परिमाण से एक योजन (चार कोस) लम्बा, एक योजन चौड़ा, एक योजन गहरा गोलाकार कुआँ हो, उसे देव-कुरु-उत्तर-कुरु में उत्पन्न युगलियों के एक दिन से लेकर सात दिन तक के बढ़े हुए बालों के असंख्य खण्डों से खचाखच भर दिया जाय, सौ सौ वर्ष व्यतीत होने पर एक-एक टुकड़ा निकाला जाय। इस प्रकार सौ-सौ वर्ष से एक-एक टुकड़ा निकालते-निकालते जब वह कुआँ बालाग्रों से रिक्त हो जाय तो उसे सूक्ष्म अद्धापल्योपम कहते हैं। जब इस प्रकार के दस कोड़ा-कोड़ी कुएं खाली हो जायें, तब एक सूक्ष्म अद्धा सागरोपम होता है। करोड़ को करोड़ को गुणित करने पर जो स्थिति आती है, उसे कोड़ा-कोड़ी कहते हैं।

नैरयिक जीव के श्वासोच्छ्वास का वर्णन प्रज्ञापना सूत्र के उच्छ्वास नामक पद से जान लेना चाहिये।

आणमंति— से श्वास को अन्दर खींचने से तात्पर्य है।

पाणमंति— का अर्थ श्वास को बाहर निकालना है। उससंति–णीससंति पद भी इन्हीं अर्थों के ज्ञापक है।

किन्हीं-किन्ही व्याख्याकारों ने श्वास की व्याख्या दो प्रकार से की है। उनकी दृष्टि से आणमन और प्राणमन आंतरिक श्वासोच्छ्वास के एवं उससंति–णीससंति बाह्य श्वासोच्छ्वास के ज्ञापक जानने चाहिये।[1]

प्रज्ञापना सूत्रानुसार नैरयिक जीव निरन्तर श्वासोच्छ्वास ग्रहण करते रहते हैं,[2] क्योंकि वे अत्यन्त दुःखी हैं। जो अत्यन्त दुःखी होता है, उसके निरन्तर श्वासोच्छ्वास की क्रिया चलती रहती है। व्यावहारिक रूप में शोकाकुल व्यक्ति की भी ऐसी स्थिति देखी जाती है।

नैरयिक जीव दो प्रकार से आहार ग्रहण करते हैं— आभोगनिर्वतित और अनाभोगनिर्वतित। जो आहार "मैं आहार करता हूँ" इस प्रकार की इच्छापूर्वक किया जाता है, वह आभोगनिर्वतित कहलाता है। ऐसा आहार नैरयिक जीव असंख्यात[3] समय से करते हैं। जो आहार बिना इच्छा स्वाभाविक रूप में होता है, वह अनाभोगनिर्वर्तित आहार कहलाता है। यह आहार तो नैरयिक जीव प्रति समय ग्रहण करते रहते हैं। इस आहार को विचारपूर्वक नहीं रोका जा सकता।

---

१. अन्ये तु आहुः— 'आनन्ति वा प्राणन्ति वा, इत्यनेनाध्यात्म-क्रिया परिगृह्यते, 'उच्छ्वसन्ति वा निःश्वसन्ति वा' इत्यनेन च बाह्येति।

२. आम जनता में यह धारणा प्रचलित है कि मनुष्य की आयुष्य श्वासोच्छ्वास पर निर्भर है। इस धारणा का निरसन नैरयिक जीव के श्वासोच्छ्वास से स्पष्ट हो जाता है। क्योंकि नरक के जीव निरन्तर लुहार की धमण की तरह श्वासोच्छ्वास लेते हैं, फिर भी उनकी आयु शीघ्र समाप्त नहीं होती। जितनी स्थिति उनकी है, उतनी ही भोगते है, यथा—

नारकी जीवों की उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागरोपम की है और देवों की उत्कृष्ट स्थिति भी ३३ सागरोपम की ही प्रतिपादित है। दोनों स्थितियाँ समान होने पर भी उत्कृष्ट आयु वाले देव तो ३३ पक्ष में श्वास लेते हैं और नारकी जीव लुहार की धमण की तरह निरन्तर श्वास लेते हैं। यदि श्वासोच्छ्वास पर आयुष्य अवलम्बित होता तो नारकी जीव के निरन्तर श्वासोच्छ्वास लेने से-आयुष्य के शीघ्र समाप्त होने का प्रसंग आ जाता, किन्तु नारकी जीव की आयुष्य मध्य में समाप्त नहीं होती है। जितनी बंधी हुई है, उतनी ही भोगते हैं, कम नहीं। अतः स्पष्ट है कि श्वासोच्छ्वास के आधार पर आयुष्य अवलम्बित नहीं है।

३. असंख्यात समय से यहाँ 'अन्तर्मुहूर्त' अर्थ ग्रहण किया है।

आभोगनिर्वतित आहार की इच्छा तो असंख्यात समय के बाद की प्रतिपादित है। इससे यह तात्पर्य नहीं है कि इतने समय तक नैरयिक जीव भूखे नही रहते है, तृप्त हो जाते हैं। नैरयिक जीवों को कभी भी तृप्ति नहीं होती, किन्तु वे जो एक वार आभोगनिर्वतित आहार ग्रहण करते हैं, उससे उन्हें तीव्र वेदना होती है, फल स्वरूप वे असंख्यात समय (अन्तर्मुहूर्त) तक आहार ग्रहण नहीं कर पाते हैं।

(iv) [1]नेरइयाणं भंते ! पुव्वाहारिया[2] पोग्गला परिणया[3] ? (१) आहारिया[4] आहारिज्जमाणा पोग्गला परिणया?[5] (२) अणाहारिया[6] [7]आहारिज्जस्समाणा पोग्गला परिणया ? (३) अणाहारिया [8]अणाहारिज्जस्समाणा पोग्गला परिणया ? (४)।

गोयमा ! [9]नेरइयाणं [10]पुव्वाहारिया पोग्गला परिणया[11] (१), आहारिया[12] आहारिज्जमाणा पोग्गला परिणया[13] [14]परिणमंति य[15] (२), [16]अणाहारिया [17]आहारिज्जस्समाणा पोग्गला णो[18] परिणया[19], [20]परिणमिस्संति (३). अणाहारिया [21]अणाहारिज्जस्समाणा पोग्गला [22]णो परिणया, णो[24] परिणमिस्संति[25]।

(iv) हे भगवन् ! नैरयिकों द्वारा, पहले आहार किये हुए, पुद्गल, परिणत हुए ?, आहार किये हुए, आहार किये जाने वाले पुद्गल परिणत हुए ?, अनाहारित (ग्रहण नही किये हुए), तथा जो (भविष्य में) आहार के रूप में ग्रहण किये जायेंगे, ऐसे पुद्गल, परिणत हुए ? अथवा जो पुद्गल, अनाहारित हैं, और आगे भी आहार के रूप में ग्रहण नहीं किये जायेंगे वे पुद्गल परिणत हुए ?

हे गौतम !, नारकों द्वारा, पहले आहार किये हुए, पुद्गल परिणत हुए। आहार किये हुए और आहार किये जाते हुए, पुद्गल परिणत हुए, परिणत होते हैं, किन्तु नहीं आहार किये हुए (अनाहारित), पुद्गल परिणत नहीं हुए, तथा भविष्य में जो पुद्गल आहार के रूप में ग्रहण किये जायेंगे, वे परिणत होंगे। अनाहारित, पुद्गल परिणत नहीं हुए तथा, जिन पुद्गलों का आहार नहीं किया जायगा, वे भी परिणत नहीं होंगे।

---

१. नेरतियाणं - वे० । निष्क्रान्ता अग्रे- सन्मार्गात् निरृतिः । तत्र भवा नैरृतिका, इत्येव 'नेरतिय' शब्दस्य ... पादनम् । निर्ऋति शब्दः अपरतोदे नरकवर्गे निर्दिष्टः । एवं व्युत्पत्तौ 'नेरतिया' इत्यत्र तकारः न तु ... 'निर्ऋति' शब्दस्य ॥ २. पुव्वाहारिता - वे० म० । पुव्वायहारिता - ता ३ । ३. परिणता - वे० म० ॥ ४. आहारिता - वे० म० ॥ ५. परिणता - वे० म० ॥ ६. अणाहारिता - वे० म० ॥ ७. आहारिज्जस्सा० - पु० ... ८. आहारिज्जस्समा० - मा० ता ३ । आहारिज्जस्समा० - मा ४ । अणाहारिज्जस्समाणा - म० वे० म० ॥ ९. नेरइयाणं - अमो० । नेरइयाणं - पा० । नेरतियाणं - वे० म० ॥ १०. पुव्वाहारिता - वे० म० । पुव्वाहारिया ... - ता० ॥ ११-१३-१९-२३. परिणता - वे० म० ॥ १२. आहारिता - वे० म० । १४. परिणमंति - ता० ॥ १५.

(४) [1]नेरइयाणं भंते ! पुव्वाहारिया पोग्गला चिया०[2] पुच्छा[3]। [A]जहा परिणया [4]तहा चिया वि । [5]एवं उवचिया[6] वि, उदीरिया[7], वेइया[8] निज्जिण्णा[9] । गाहा[10]—

परिणया[11] चिया[12] य उवचिया[13]
उदीरिया[14] वेइया[15] य निज्जिण्णा ।
एक्केक्कम्मि[16] पदम्मि[17], चउव्विहा
पोग्गला होंति[18] ॥

(४) हे भगवन् !, नैरयिकों द्वारा पूर्व में आहार किये हुए, पुद्‍गल, चय को प्राप्त हुए हैं ? प्रश्न किया।

(हे गौतम !) जिस प्रकार वे पुद्‍गल परिणत हुए, उसी प्रकार चय का भी जानना चाहिए। उसी प्रकार उपचय का जानना चाहिए। उसी प्रकार उदीरणा, वेदन, तथा निर्जरा का जानना चाहिए।

गाथार्थ—

परिणत चित उपचित, उदीरित, वेदित और निर्जीर्ण, इस एक पद में, चार प्रकार के पुद्‍गल होते हैं।

विवेचन–

नैरयिक जीवों के आहार-ग्रहण के सम्बन्ध में मुख्यतया चार प्रश्न उपस्थित होते हैं—

१— पूर्वकाल में ग्रहण किये हुए आहार पुद्‍गल क्या शरीर रूप में परिणत हुए है।

२— भूतकाल में गृहीत तथा वर्तमान मे ग्रहण किये जाते हुए आहार पुद्‍गल क्या शरीर रूप में परिणत हुए हैं ?

---

१. निर्गतः अयात् निरय. तत्र भवः नैरयिकः इति 'नैरयिक' शब्दस्य व्युत्पादनम् । अयो नाम अनुकूलं दैवम् । अयं शब्दोऽपि अमरकोषे क्षीरस्वामिवृत्तौ नरकवर्गे निरूपितः । "निर्गतम् अयम् इष्टफलं कर्म येभ्यः ते निरयाः तेषु भवा नैरयिकाः—नारका." अवृ० ॥ २ चिता - वे० म० ॥ ३. पुच्छा, परिणया - अमो० । ४. तहा एवं चिया उवचिया उदी० - ला० ॥ ५. एवं चिया उवचिया - पु० अमो० ॥ ६. ०या उदी० - पु० अमो० पा० न० । उवचिता उदी० - वे० म० । ७. उदीरित, - वे० म० ॥ वेइया - अमो० । वेदिता - वे० म० ॥ ९. णिज्जिणा - अमो० । निज्जिया - पा० ॥ १०. गाथा - अमो० ॥ ११. परिणय - पु० पा० न० । परिणयचियाय - अमो० । परिणा - वे० म० ॥ १२. चिय उवचिय - मं० । ०या उवचिय - पु० । चिदा उव० - न० । चिता उव० - वे० म० । चियाइ, उव० - ला २ ॥ १३. उवचिता - वे० म० । ०चिया वेइया - पा० ॥ १४. उदीरिय - ता० । उदीरिता - वे० म० ॥ १५. वेदिया - मं० । वेदिया वे० म० ॥ १६. एक्किक्कम्मि - अमो० ॥ १७. पदंमी - दे० । पदम्मी - वे० म० ॥ १८. होंति । नेरइयाणं भंते । पुव्वाहारिया पोग्गला निज्जिण्णा तहेव - ता० ।

A—सूत्र नं 6 (iv)

य - पा० ॥ १६. अणाहारिता - वे०म० ॥ १७. आहारिज्जस्समाणा - पु०न०वे० म० ॥ १८. नो - पु० वे० म० ॥ १९. परिणता - पु० ॥ २०. परिणमस्संति - ला २-४ ॥ २१. अणाहारिज्जिस्समाणा - पु०न०वे०म० । ०हारिज्जमाणा - ला २ ॥ २२-२४. नो - पु०पा०वे०म० ॥ २५. प्र० - ०स्संति एवं चिया उवचिया उदीरिया वेदिया य निज्जिण्णा ला २-४ ॥

३— भूतकाल में जिन पुद्गलों का आहार नहीं किया, किन्तु भविष्यकाल में ऐसे पुद्गलों का आहार किया जाएगा क्या ऐसे पुद्गल शरीर रूप में परिणत हुए हैं।

४— जिन पुद्गलों का भूतकाल में भी आहार नहीं किया और न ही भविष्यकाल में ग्रहण किया जायगा, क्या ऐसे पुद्गल शरीर रूप में परिणत होंगे ?

पूर्वकाल में जिन पुदगलों को ग्रहण किया—संग्रह किया गया, उसे आहृत या आहारित कहते हैं। पुद्गल शब्द से यहाँ पुद्गल स्कन्ध समझना चाहिए। परिणत होने का तात्पर्य शरीर रूप में एकमेक हो जाना है। आहार का परिणाम—शरीर रूप में बन जाना है।

उपर्युक्त चार प्रश्नों के दार्शनिक दृष्टिकोण से ६३ भंग बनते हैं।

एक संयोगी के छः भंग बनते हैं :—

१. पूर्वाहृत २. आह्रियमाण ३. आहरिष्यमाण ४. अनाहृत ५. अनाह्रियमाण ६. अनाहरिष्यमाण

द्विक संयोगी के १५ भंग—

१. पूर्वाहृत — आह्रियमाण	२. पूर्वाहृत — आहरिष्यमाण
३. पूर्वाहृत — अनाहृत	४. पूर्वाहृत — अनाह्रियमाण
५. पूर्वाहृत — अनाहरिष्यमाण	६. आह्रियमाण — आहरिष्यमाण
७. आह्रियमाण — अनाहृत	८. आह्रियमाण — अनाह्रियमाण
९. आह्रियमाण — अनाहरिष्यमाण	१०. आहरिष्यमाण — अनाहृत
११. आहरिष्यमाण — अनाह्रियमाण	१२. आहरिष्यमाण — अनाहरिष्यमाण
१३. अनाहृत — अनाहरिष्यमाण	१४. अनाहृत — अनाहरिष्यमाण
१५. अनाह्रियमाण — अनाहरिष्यमाण	

इसी प्रकार त्रिक संयोगी में २० भंग, चतुःसंयोगी में १५ भंग, पंच संयोगी में ६ भंग, षट्संयोगी में १ भंग,

कुल ६+१५+२०+१५+६+१ = ६३ भंग होते हैं।

गौतम स्वामी के द्वारा किये गये प्रश्नों का भगवान् ने उत्तर फरमाया, वह इस प्रकार है :

१. जो पूर्वग्रहीत पुद्गल हैं, वे पूर्व में ही परिणत हो चुके हैं।

२. जिनका आहार हो चुका, वे शरीर रूप में परिणत हो चुके हैं, तथा जिनका आहार हो रहा है, वे शरीर रूप में परिणत हो रहे हैं।

३. भविष्य में जिन पुद्गलों का आहार ग्रहण किया जायगा, उनका भविष्य में शरीर रूप में परिणमन होगा।

४. जिन पुद्गलों का भूतकाल में ग्रहण नहीं हुआ है और न ही भविष्य में ग्रहण होगा, ऐसे पुद्गलों का शरीर रूप मे परिणमन नहीं होगा।

इन चार भंगों के आधार पर ६३ भंगों का भी समाधान हो जाता है।

जिस प्रकार आहार परिणमन के लिये चार प्रश्नों का जो समाधान दिया जा चुका है उसी प्रकार चय, उपचय, उदीरणा, वेदना और निर्जरा के विषय में भी समान प्रश्न-उत्तर समझने चाहिये।

परिणत के स्थान पर चित, उपचित, उदीरित, वेदित और निर्जीण शब्दों का प्रयोग करना चाहिये।

चय— जो पुद्गल आहार रूप में गृहीत किये गये हैं, उनका शरीर में एकमेक होकर शरीर को पुष्ट करना चय कहलाता है।

परिणमन के बाद चय की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है, अतः परिणमन और चय पृथक्-पृथक् हैं।

उपचय— जो पुद्गल चय अवस्था को प्राप्त हो चुके हैं, उसमें तद्योग्य और पुद्गल एकत्रित कर देना 'उपचय' कहलाता है। यथा—ईंट पर ईंट जमाकर जो चुनाई की जाती है, वह सामान्य प्रक्रिया है, किन्तु उस पर मिट्टी, चूना आदि का लेप किया जाता हो तब विशेष प्रकार से चुनाई होती है। इसी प्रकार सामान्य रूप से शरीर की पुष्टि 'चय' है। विशेष प्रकार से शारीरिक पुष्टि 'उपचय' है।

कर्म पुद्गलों का स्वाभाविक रूप में उदय न आकर करण आदि किसी विशेष प्रक्रिया से उदय में आना उदीरणा कहलाता है।[1]

उदय प्राप्त कर्मों का अनुभवन वेदना है। कर्मों का अनुभवन जब से प्रारम्भ होकर जब तक चलता रहता है उसे वेदन काल कहते हैं।

कर्मों का एक देश से क्षय हो जाना निर्जरा है। जिन कर्म के फल का परिभोग हो जाना है, वह कर्म क्षीण हो जाता है। उस क्षीण अवस्था को निर्जरा कहते हैं।

---

१. 'कर्मपुद्गलानां अकालप्राप्तानां उदयावलिकायां प्रवेशनं उदीरणा।'

(कर्म प्रकृति टीका)

अकाल प्राप्त कर्म पुद्गलों का उदयावलिका में प्रवेश करना उदीरणा है।

(vi) नेरइयाणं भंते ! [१]कइविहा पोग्गला भिज्जंति ?

गोयमा ! कम्मदव्ववग्गणमहिकिच्च[२] दुविहा पोग्गला [३]भिज्जंति । तं जहा–अणू चेव [४]बायरा चेव [५] ।

(vii) नेरइयाणं भंते ! [६]कइविहा पोग्गला चिज्जंति ?

गोयमा ! आहारदव्ववग्गणमहिकिच्च दुविहा पोग्गला चिज्जंति । तं जहा–अणू चेव [८]बायरा चेव । [९]एवं उवचिज्जंति [१०] ।

(viii) नेरइयाणं भंते ! [१]कइविहा [२]पोग्गला [३]उदीरेंति ?

गोयमा ! [४]कम्मदव्ववग्गणमहिकिच्च [५]दुविहे [६]पोग्गले [७]उदीरेंति । तं जहा–[८]अणू चेव, [९]बायरा [१०]चेव । सेसावि एवंचेव [११]भाणियव्वा [१२]वेदेंति, [१३]णिज्जरेंति । [१४]उयट्टिंसु [१५]उयट्टेंति [१६]उयट्टिस्संति । [१७]संकामिंसु, [१८]संकामेंति, [१९]संकामिस्संति । [२०]णिहत्तिंसु, [२१]णिहत्तेंति, णिहत्तिस्संति । [२२]णिकायंसु, [२३]णिकायिंति, [२४]णिकायिस्संति । सव्वेसु वि [२५]कम्मदव्ववग्गणमहिकिच्च । गाहा[२६]–

(vi) हे भगवन्, नैरयिकों के, कितने प्रकार के पुद्गल, भेदित होते हैं ।

हे गौतम ! कर्म-द्रव्यवर्गणा की, अपेक्षा से, दो प्रकार के पुद्गल भेदित होते हैं । यथा अणु और बादर ।

(vii) हे भगवन् ! नैरयिकों के, कितने प्रकार के पुद्गल चय होते हैं ।

हे गौतम ! आहारद्रव्यवर्गणा की अपेक्षा करके, दो प्रकार के पुद्गल चय होते हैं । यथा अणु, और बादर इसी प्रकार उपचय होते हैं ।

(viii) हे भगवन् ! नैरयिकों के कितने प्रकार के पुद्गल उदीरित होते है ?

हे गौतम ! कर्मद्रव्यवर्गणा की अपेक्षा करके दो प्रकार के पुद्गल उदीरित होते हैं । यथा अणु और बादर ।

शेष पद भी, इसी प्रकार ही कहने चाहिये, वेदित करते हैं । निर्जरित करते हैं । अपवर्तन को प्राप्त हुए, अपवर्तित होते है । अपवर्तित होंगे । संक्रमण किया । संक्रमण करते है, संक्रमण करेंगे । निधत्त किया, निधत्त करते हैं, निधत्त करेंगे, निकाचित किया, निकाचित करते है, निकाचित करेंगे । सभी पदों में भी, कर्म द्रव्यवर्गणा की अपेक्षा से, अणु एवं बादर का कथन जानना चाहिये ।

गाथा—

[27]भेदिय [28]चिया [29]उवचिया, [30]उदीरिया [31]वेइआ णिज्जिण्णा। [32]उयट्टण संकामण, [34]णिहत्तण णिका-यणे तिविह [35]कालो ॥

भेदित, चित, उपचित, उदीरित, वेदित, निर्जरित, अपवर्तित, संक्रमित, निधत्त, निकाचित, (इन पदों में) तीन प्रकार के काल कहने चाहिये।

विवेचन :–

पूर्व सूत्र में नरक जीव के आहार विषयक प्रश्नोत्तर थे। इस सूत्र में नैरयिक पुद्गलों के भेदन आदि के विषय में बतलाया गया है।

भेदन से यहाँ तात्पर्य अनुभाग (रस) का परिवर्तन करने से है। सामान्य रूप से पुद्गलों में तीन प्रकार का रस होता है। यथा—तीव्र, मध्यम, मंद।

---

१. कतिवहा - अमो० वे० म० ॥ २. ०महिगिच्च - अमो० । ०अभिकि० - ला० ला ३ । ०अधिकि० - ला ४ । ०किच्चा - ला १ ॥ ३ भिज्जंति - पु० ॥ ४. वादरा - न० वे० म० ॥ ५. चेव एवं उवचिज्जंति । नरे० - ला० ॥ ६. कतिविहा - पु० अमो० वे० म० ॥ ७. ०गभिकिच्च - अ० व० ला० ला ३ । ०गिच्च - ला १ । ०अधिकि० - ला ४ ॥ ८. वादरा चेव - न० वे० म० ॥ ९. एवं विज्जंति - ला ३ ॥ १०. ०ज्जंति वि - ता० ॥

१. कतिविहा - अमो० । कइविहे - धा० न० । कतिविहे - वे० म० ॥ २. पोग्गले - धा० न० वे० म० ॥ ३. उदीरेंति - क० ॥ ४. ०दग्गणं अभिकिच्च - ला० ला ३ । ०अधिकि० - ला ४ ॥ ५. दुविहा - अमो० ॥ ६. पोग्गला - अमो० ॥ ७. उदीरेंति - अमो० ॥ ८. अणू - पु० ॥ ९. वायरे चेव - धा० । बादरा चेव - न० । बादरे चेव - वे० म० ॥ १०. चेव एवं वेदेंति - वे० म० ॥ ११. ०यव्वा एवं वे० - पु० अ० क० ता० ला० १-२-३-४ मु० ॥ १२. वेदेंति - अमो० ॥ १३. णिज्जरेंति अमो० । ०रेंति एवं ओय० - न० ॥ १४. उव्वटिंसु - पु० । उयट्टिंसु - अमो० । ओयट्टिंसु - धा० । ओयट्टेंसु - न० । उयट्टेंसु - क० ता० मं० । ओयट्टिंसु - वे० म० । उयट्टिंसु - ला० ला ३-४ । अपवर्तनस्य चोपलक्षण त्वादुद्वर्तनमपीह द्रष्टव्यम् - वृ० ॥ १५. उयट्टेंति - अमो० । ओयट्टेंति - धा० । ओयट्टेंति - न० वे० म० । उयट्टेंति - ला० ला ३-४ ॥ १६. उवट्टिस्संति - पु० । उव्वट्टिस्संति - अमो० । ओयट्टिस्संति - धा० । ओयट्टिस्संति - न० म० वे० । उयट्टिस्संति - ला० ला ३-४ ॥ १७. सकामिंसु - ला० ला ३ । संकामेंसु - ला १ । सकामेंसु - ला ४ ॥ १८. संकामति - अमो० । सकामंति - ला० ला ३ ॥ १९. सकामिस्संति - ला० ला ३ ॥ २०. निहत्तिंसु - अमो० धा० न० वे० म० । निहत्तींसु - ला १ । निहत्तेंसु - ला ४ ॥ २१. निहत्तेंति - पु९ वे० म० । निहत्ति - अमो० । णिहत्तेंति - धा० न० ॥ २२. निकाइंसु - अमो० धा० । निकाइंसु - न० । निकाइंसु निकाइंति - मो० ॥ २३. निकायंति - पु० अमो० न० ला० ला ३ । निकाइंति - धा० । निकाइंति - वे० म० । २४. निकाइस्संति - पु० अमो० न० । निकाइ० - धा० । निकाइस्संति - वे० म० । ०स्संति । भेदित - ला २ प्र० गुणेसु वि षमगहणागणमहिकिच्च - अ० क० व० मं० ॥ २५. ०किच्च । भेदित - मो० ॥ २६. गाथा - अमो० ॥ २७. भेदय - पु० । भेदिया - न० । भेतिय - क० । भेदित - वे० म० ॥ २८. चिता - अमो० वे० म० ॥ २९. उवचिता - अमो० वे० म० ॥ ३०. उदीरिता - अमो० वे० म० ॥ ३१. ०या य निज्जिन्ना - पु० । वेदिया य नि० - अमो० । ०या य नि० - धा । वेदिया य नि० - न० वे० म० ॥ ३२. उवट्टण - पु० ला० । उवट्टण - अमो० । ओवट्टण - न० वे० म० । उव्वट्टण - ला २-४ ॥ ३३. निहत्तनिकायणे - अमो० ॥ ३४. काले - धा० ॥

आत्मा अपने अध्यवसाय विशेष से उद्वर्तनाकरण द्वारा मंद रस वाले पुद्गलों को मध्यम रस वाले और मध्यम रस वाले पुद्गलों को तीव्र बना देता है। इसी प्रकार अपवर्तनाकरण द्वारा तीव्र रस वाले पुद्गलों को मध्यम रसवाले और मध्यम रसवाले पुद्गलों को मंद रस वाले बना देता है।

इस प्रकार का परिवर्तन कार्मण-द्रव्य की वर्गणा[1] में ही होता है, औदारिकादि वर्गणाओं में नहीं।

कर्म द्रव्य का अणुत्व (सूक्ष्मता) बादरत्व (स्थूलता) कर्म द्रव्य की अपेक्षा से ही जानना चाहिये। यद्यपि कर्म वर्गणा चतुःस्पर्शी है, हमारी दृष्टि से अगम्य है, विशिष्ट ज्ञानी जन उसमें अणुत्व-बादरत्व का भी भेद देखते हैं। इसी अपेक्षा से ही कर्म द्रव्य को अणु और बादर बतलाया है।

नारकी जीव आहार की अपेक्षा अणु और बादर इन दो पुद्गलों का चय करते हैं। यहाँ अणु से तात्पर्य लघु से है। चय की तरह उपचय भी जानना चाहिये। आहार द्वारा शरीर का पुष्ट होना उपचय कहलाता है। शरीर का चय-उपचय आहार द्रव्य सापेक्ष होने से सूत्र में 'आहारदव्ववग्गण महिकिच्च' कहा है।

उदीरणा, वेदना भी कर्म द्रव्य की अपेक्षा अणु और बादर दो ही प्रकार की होती है।

आत्मा के अध्यवसाय विशेष से कर्म की स्थिति और अनुभाग को अधिक करना उद्वर्तना[2] है।

आत्मा के अध्यवसाय विशेष से कर्म की स्थिति और अनुभाग को लघु-कम करना अपवर्तना[3] है।

कर्म द्रव्य वर्गणा की अपेक्षा से नैरयिक जीवों अणु ने और बादर दो प्रकार के कर्म पुद्गलों का अपवर्तन किया है, कर रहे हैं और करेंगे।

उपलक्षण से अपवर्तन के साथ उद्वर्तन का भी ग्रहण कर लेना चाहिये।

संक्रमण, निधत्त, निकाचित के लिये भी इसी प्रकार से जानना चाहिये।

संक्रमण— मूल प्रकृतियों से अभिन्न उत्तर प्रकृतियों में अध्यवसाय विशेष से संक्रमण होता है। बध्यमान प्रकृति में अबध्यमान प्रकृति के दलिकों को प्रक्षिप्त कर बध्यमान प्रकृति के रूप में परिणत करना, बध्यमान प्रकृति का अन्य बध्यमान प्रकृति में परिवर्तन करना संक्रमण कहलाता है।

---

१ वर्गणा— समान जाति वाले द्रव्य समूह को वर्गणा कहते हैं।

२. उद्वर्तना— उद्वर्त्यते प्राबल्येन प्रभूतीक्रियते स्थित्यादि यया जीव-वीर्य विशेष परिणत्या सा उद्वर्तना।

३. अपवर्त्यते — ह्रस्वीक्रियते स्थित्यादि यया सा अपवर्तना।

यथा—बध्यमान साता वेदनीय में अवध्यमान असाता वेदनीय का संक्रम होता है। बध्यमान मतिज्ञानावरण में बध्यमान श्रुत ज्ञानावरण का संक्रम या बध्यमान श्रुत ज्ञानावरण में बध्यमान मति-ज्ञानावरण का संक्रमण होता है।[1]

दर्शन मोहनीय, चारित्र मोहनीय का परस्पर एवं आयुष्य कर्म की उत्तर प्रकृतियों का भी परस्पर संक्रमण नहीं होता।[2]

मूल रूप में आत्मा के अमूर्त होने से संक्रमणादि क्रियाएँ नहीं होती हैं, परन्तु आत्मा के अध्य-वसाय विशेष से संक्रमणादि क्रियाएँ होती है।[3]

निधत्त— कर्म द्रव्यों की उद्वर्तना–अपवर्तना के योग्य अवस्था करना निधत्त कहलाता है।[4] अर्थात् भिन्न-भिन्न पुद्गलों को एकत्रित कर देना निधत्त है। यथा—एक थाली में बिखरी हुई सुइयों को एक के ऊपर एक, क्रमश. जमा देने को निधत्त कहते हैं।

निकाचित— समस्त करणों के अयोग्य रूप से जिन कर्मों की अवस्था होती है, वह निकाचना कहलाती है। जिन कर्मों का वेदन विपाकोदयादि करना अनिवार्य है, वह निकाचना है।[5]

---

१. बध्यमानासु प्रकृतिषु मध्येऽबध्यमान-प्रकृतिदलिकं प्रक्षिप्य बध्यमानप्रकृतिरूपतया यत्तस्य परिणमनं, यच्च वा बध्यमानानां प्रकृतीनां दलिकरूपस्य इतरेतररूपतया परिणमनं तत्सर्वं संक्रमणं इत्युच्यते।

तत्र बध्यमान प्रकृतिषु अबध्यमान प्रकृतीनां संक्रमो यथा—सातवेदनीय बध्यमाने असातावेदनीयस्स। बध्य-मानानां परस्पर संक्रमो यथा—बध्यमाने मति ज्ञानावरणीये बध्यमानमेव श्रुतज्ञानावरणं संक्रमयति। इह यत् प्रकृति बंधकत्वेन परिणत आत्मा तदनुभावेन प्रकृत्यन्तरस्थं दलिकं यत् परिणमयति स संक्रमः। (कर्म प्रकृति)

२. मोहदुगाउगमूल— पगडीणं न परोप्परमि संकमणं (कर्म प्रकृति)

अन्यत्रापि— मोत्तूण आउयं खलु, दंसणमोहं चरित्तमोहं च।
सेसाण पगईणं उत्तरविहि संकमो भणिओ॥

३. मूल प्रकृत्यभिन्नाः संक्रमयति, गुणत उत्तरा. प्रकृतिः।
न त्वात्माऽमूर्तत्वादध्यवसाय – प्रयोगेण॥

जिनकी अपेक्षा मूल प्रकृतियों से अभिन्न जो उत्तर प्रकृतियाँ है, उन उत्तर प्रकृतियों का अध्यवसाय विशेष से संक्रमण किया जाता है। यह संक्रमण आत्म द्रव्य की दृष्टि से नहीं होता, क्योंकि वह तो अमूर्त है। किंतु आत्मा के अध्यवसाय विशेष से संक्रमणादि प्रक्रियाएं होती है।

४. निधत्ति उद्वर्तनापवर्तनावर्ज करणायोग्यत्वेन अवस्थाप्यते यया सा निधत्ति। (कर्म प्रकृति)

५. सकल करणायोग्यत्वेन व्यवस्थापनं निकाचना।
निकाच्यतेऽवश्यवेद्यतया व्यवस्थाप्यते—
कर्म जीवेन यया सा निकाचना अथवा निकाच्यते,
अवश्यवेद्यतया क्रियते यया कर्म सा निकाचना॥ (कर्म प्रकृति)

यथा—सूइयों को बन्धन-सम्बन्धित रूप में एकत्रित कर बांध लेना निधत्त है और उन्हें अग्नि में तपा कर हथौड़ी से ठोक कर एकमेक कर देना निकाचना है।

इसी प्रकार भेदन, चय, उपचय, उदीरणा, वेदना, निर्जरा के सूत्र बनते हैं। अपवर्तन, संक्रमण, निधत्तन, निकाचन में तीनों काल के संयुक्त करने से बारह भेद कुल अठारह सूत्र होते हैं।

आदि के छः सूत्रों में भेद की विवक्षा न होने से कालतः उनके भेद प्रतिपादित नहीं किये।

(ix) नेरइयाणं भंते ! जे [१]पोग्गले तेयाकम्मताए [२]गेण्हंति ते किं तीतकालसमए [३]गेण्हंति ? [४]पडुप्पण्णकालसमए [५]गेण्हंति ? [६]अणागयकालसमए [७]गेण्हंति ?

गोयमा ! [८]णो [९]तीतकालसमए [१०]गेण्हंति, [११]पडुप्पण्णकालसमए [१२]गेण्हंति, [१३]णो [१४]अणागयकालसमए [१५]गेण्हंति ।

(x) नेरइयाणं भंते ! जे [१६]पोग्गले तेयाकम्मताए[१७] [१८]गहिए [१९]उदीरेंति ते किं [२०]तीतकालसमयगहिए पोग्गले, [२१]उदीरेंति ? [२२]पडुप्पण्णकालसमयघेप्पमाणे पोग्गले [२३]उदीरेंति ? [२४]गहणसमयपुरेक्खडे पोग्गले [२५]उदीरेंति ?

गोयमा ! [२६]तीतकालसमयगहिए पोग्गले [२७]उदीरेंति, णो [२८]पडुप्पण्णकालसमयघेप्पमाणे पोग्गले उदीरेंति, णो [२९]गहणसमयपुरेक्खडे पोग्गले [३०]उदीरेंति[३१] । एवं-वेदेंति, [३२]णिज्जरेंति ॥

(९) हे भगवन्, नैरयिक जिन पुद्गलों को तैजस कार्मण के रूप में ग्रहण करते हैं, उनको क्या अतीतकाल समय में ग्रहण करते हैं ? प्रत्युत्पन्न (वर्तमान) काल समय में ग्रहण करते है ? अनागत (भविष्य) काल समय में ग्रहण करते हैं ?

हे गौतम ! अतीतकाल समय में ग्रहण नहीं करते हैं वर्तमानकाल समय में ग्रहण करते हैं अनागतकाल समय में ग्रहण नहीं करते हैं।

(१०) हे भगवन् ! नैरयिक जिन पुद्गलों को तैजस कार्मण रूप में ग्रहण कर उदीरणा करते हैं तो उनकी क्या अतीतकाल समय में ग्रहीत पुद्गलों की उदीरणा करते हैं ? प्रत्युत्पन्न (वर्तमान) काल समय में ग्रहण किये जाते हुए पुद्गलों की उदीरणा करते हैं ? अनागतकाल समय में ग्रहण किये जाने वाले पुद्गलों की उदीरणा करते हैं ?

हे गौतम ! अतीतकाल समय में ग्रहीत पुद्गलों की, उदीरणा करते हैं। वर्तमानकाल समय में ग्रहण किये जाते हुए, पुद्गलों की उदीरणा नहीं करते हैं। भविष्यकाल में ग्रहण किये जाने वाले पुद्गलों की उदीरणा नहीं करते हैं। इसी प्रकार वेदन करते हैं। इसी प्रकार निर्जरा भी करते हैं।

(xi) नेरइयाणं भंते ! [1]जीवाओ किं [2]चलिअं कम्मं बंधंति ? [3]अचलिअं कम्मं बंधंति ?

गोयमा ! णो [4]चलिअं कम्मं बंधंति, [5]अचलिअं [6]कम्मं बंधंति ।

(xii) नेरइयाणं भंते ! जीवाओ किं [7]चलिअं कम्मं [8]उदीरेंति ? [9]अचलिअं कम्मं [10]उदीरेंति ?

गोयमा ! णो [11]चलिअं कम्मं [12]उदीरेंति, [13]अचलिअं कम्मं [14]उदीरेंति ॥ एवं [15]वेदेंति, [16]उयट्टेंति, [17]संकामेंति, [18]निहत्तेंति, [19]निकाएंति । सव्वेसु [20]अचलिअं णो [21]चलिअं ।

(xiii) नेरइयाणं [1]भंते ! [2]जीवाओ किं [3]चलिअं कम्मं [4]णिज्जरेंति ? [5]अचलिअं कम्मं णिज्जरेंति ?

गोयमा ! [6]चलिअं कम्मं णिज्जरेन्ति, णो [7]अचलिअं कम्मं [8]णिज्जरेन्ति ॥ गाहा—

बंधोदय-[9]वेदोयट्ट-[10]संकमे, तह [11]णिहत्तण-[12]निकाये । [13]अचलियकम्मं तु भवे, [14]चलिअं [15]जीवाओ [16]णिज्जरए[17] ॥

(xi) हे भगवन् ! क्या नैरयिक जीव (प्रदेशों) से चलित कर्म बांधते हैं ? अथवा अचलित कर्म बांधते हैं ।

हे गौतम ! चलित कर्म नहीं बांधते हैं । अचलित कर्म बांधते हैं ।

(xii) हे भगवन् ! क्या नैरयिक चलित कर्म की उदीरणा करते हैं (या) अचलित कर्म की उदीरणा करते हैं ?

हे गौतम ! चलित कर्म की उदीरणा नहीं करते हैं अचलित कर्म की उदीरणा करते हैं, इसी प्रकार वेदन-अनुभव करते हैं अपवर्तन करते हैं, संक्रमण करते हैं निधत्त करते हैं निकाचित करते हैं सभी में अचलित कहना चाहिये चलित कर्म को नहीं ।

(xiii) हे भगवन् ! नैरयिक जीव प्रदेशों से क्या चलित कर्म की निर्जरा करते हैं ? अचलित कर्म की निर्जरा करते हैं ?

हे गौतम ! चलित कर्म की निर्जरा करते हैं अचलित कर्म की निर्जरा नहीं करते हैं ।

गाथा बंध-उदय वेदन अपवर्तन संक्रमण निधत्त तथा निकाचन अचलित कर्म का होता है । निर्जरा तो जीव प्रदेशों से चलित कर्म की होती है ।

१. गोयमा - अमो० ॥ २. णिज्झंति - अमो० ॥ ३. णिज्झंति - अमो० ॥ ४. पडुप्पन्न० - पु० । पच्चुप्पन्नकाल० - ला १-२ ॥ ५-७-१०-१२-१५. णिज्जंति - अमो० ॥ ६. अणागय० - पा० बे० म० ॥ ८. णो - पु० ॥ ९. तीरकाल० - पु० म० ॥ ११. पडुप्पन्न० - पु० अमो० पा० म० बे० म० । पच्चुप्पन्नकाल० - ला १-२ ॥ १३. णो - पु० पा० म० बे० म० ॥ १४. अणागय० - बे० म० ॥ १६. गोयमा - पु० अमो० ॥ १७. ०रस्सामो - अमो०

विवेचन :–

काल और समय के स्वतन्त्र अर्थ अनेक होते हैं किन्तु यहाँ कालयुक्त समय ही अभिप्रेत होने से 'काल समय' यह संयुक्त विशेषण दिया है।

अतीतकाल के साथ 'समय' शब्द के प्रयोग का तात्पर्य यह है कि अतीत की उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल का अल्पांश भी ग्राह्य है। अर्थात् अतीतकाल के किसी भी समय में ग्रहण करते हैं।

पा० न० वे० म० । ०त्ताए उदी० - लो० ला १-२ ॥ १८. गहिए - पत्थि अ० व० ॥ १९-२१-२३. उदीर० - अमो० २०. तीय० - पु० न० । तीयकालसमए० - पा० । ०गहीते - वे० म० । ०समयगहिते - ला० ॥ २३. ०कालसमए० - पु० न० ला० । ०घिप्पमाणे - अमो० ला० । ०समयघिप्प० - ला २ ॥ २४. पुरक्खडे - पु० अमो० पा० न० । ०समयंपुरक्खडे पो० - ला० ला ३ । ०समयपुरेक्खडे पो० - ला १ । ०समयपुरक्खडे - ला ४ ॥ २५. उदी० - अमो० ॥ २६. अतीयकाल० - पु० । अतीतकाल० - पा० ॥ २७. उदीरंति - अमो० । उदीरेंति - पा० ॥ २८. ०समए० - पु० न० । ०समयघिप्पमाणे पुग्ग० - ला २ । ०समयपुरक्खडेपो० - ला० ला ३ ॥ २९. ०समयपुरक्खडे - वे० म० ॥ ३०. उदीरंति - अमो० । उदीरेंति एवं वेदेंति - ला० ॥ ३१. ०ति पोग्गला सीत० - अमो० ॥ ३२. निज्जरंति - ला० व० ॥

१. जीवातो - वे० म० ॥ २. चलितं क० - ला ४ ॥ २-४-७-११-२१. चलियं - पु० अमो० पा० न० वे० म० ॥ ३-५-९-१३-२०. अचलियं - पु० अमो० पा० न० वे० म० ॥ ५. अचलितं - वे० म० ॥ ६. कम्मं बंधंति उदीरेंति वेदेंति ओवट्टेंति - वे० ०० । कम्मं बंधंति । नेरइयाणं भंते ! किं जीवातो चलियं कम्मं उदीरेंति ? अचलियं कम्मं उदीरेंति । एवं वेदेंति, उवट्टेंति संकामिंति निहत्तंति निकायंति । सव्वेसु चलितं, णो अचलितं - ला० ला ३, ७-८-१०-१२-१४. उदीरेंति - अमो० ॥ १५. वेदेंति - अमो० ॥ १६. उवट्टेंति - अमो० । उवट्टेंति - पा० ॥ १७. ०वट्टेंति - म० ॥ १७. संकामेंति - अमो० ॥ १८. निहत्तेंति - अमो० । निधत्तेंति - ला० ॥ १९. निकाएंति - पु० पा० : निकायंति - अमो० । ०सति सव्वेसु णो चलियं अचलियं - ला० वे० म० । निकाएंति । नेरइया - म० । निका० एंति । नेर० - लों० जे० ला० ४ विना ॥

१. ०ते । किं चलियं - ला० ला ३ ॥ २. जीवाती - वे० म० ॥ ३. चलियं - पु० अमो० पा० न० म० वे० ॥ ४. निज्जरेंति - ला० ला ३ । ०रेंति किं अच० - ला २ ॥ ५-७. अचलियं - पु० अमो० पा० न० वे० म० ॥ ६. चलियं - पु० अमो० पा० न० ॥ ८. निज्जरिज्जंति । गाहा - ला० ला ३ ॥ ९. वेदोवट्ट - अमो० ला० ला १-२-३ । ०वट्ट - म० । ०वट्ट - ला० वे० म० ॥ १०. संकमण निहत्त निकायणे । अच० - अमो० ॥ ११. निकाय - पु० ॥ १२. निकाए - न० वे० म० ॥ १३. अचलिय - न० लो० । ०लिए कम्मे - ला० ॥ १४. चलियं - पु० अमो० पा० । चलितं - वे० म० ॥ १५. जीवाउ - पु० अमो० न० वे० म० ॥ १६. निज्जरिए - पा० न० पा० ला १-२ । निज्जरइ - न० । निज्जरेंति - ला० ला ३ ॥ १७. अ०— एवं ठिई आहारो य भाणियव्वा । ठिती जहा ठिइपदे तहा भाणियव्वा सव्वजीवाणं । आहारो वि जहा पण्णवणाए पढमे आहारुद्देसए तहा भाणियव्वो । ... नेरइयाणं भंते । आहारट्ठी ? जाव दुक्खत्ताए भुज्जो-भुज्जो परिणमंति - पु० न० ला० ला २-३-४ । ... केवलं 'जहा' स्थाने 'जहा' इति - ला १ ॥

तैजस कार्मण रूप में ग्रहण किये जाने वाले पुद्गलों को नारकजीव वर्तमानकाल में ही ग्रहण करते हैं। अतीत और भविष्य में नहीं। क्योंकि जो क्रिया होती है, वह वर्तमान समय में ही होती है। प्रत्युत्पन्नकाल में भी स्वाभिमुख पुद्गलों को ही जीव ग्रहण करता है, अन्य को नहीं।

अतीतकाल में ग्रहीत तैजस-कार्मण पुद्गलों की ही नारकी जीव उदीरणा करते हैं, अनागत या प्रत्युत्पन्न में ग्रहीत की नहीं। क्योंकि उदीरणा अतीत में ग्रहीत कर्म पुद्गलों की ही होती है। प्रत्युत्पन्न एवं अनागत के पुद्गल तो अभी अग्रहीत है और अग्रहीत की उदीरणा नहीं होती है। जिस प्रकार उदीरणा का कथन किया गया, उसी प्रकार वेदना और निर्जरा का कथन भी कर देना चाहिये !

अतीतकाल में ग्रहीत कर्म पुद्गलों का वेदन और निर्जरण होता है। तैजस–कार्मण शरीर रूप में ग्रहण, उदीरणा, वेदन, निर्जरा के ये चार सूत्र होते हैं।

आगे कर्म सम्बन्धी अधिकार होने से तत्सम्बन्धित आठ सूत्र बतलाते हैं।

नारक जीव चलित (जो आत्म प्रदेशों से चलित हो चुके हैं) कर्म को नहीं बांधता है, क्योंकि वे ठहरते नहीं हैं। इसके विपरीत अचलित कर्म को बांधता है। जैसा कि कहा है—

> कृत्स्नैर्देशैः स्वकदेशस्थं, रागादि—परिणतो योग्यम्।
> बध्नाति योग—हेतोः, कर्मस्नेहाक्तिवत इव च मलम्॥

जिस पुरुष ने शरीर को तैलादि से अभ्यंगित-चिकना कर रखा है तो वायु से उड़ती हुई धूलि उसके शरीर पर चिपक जाती है। इसी प्रकार रागादि से परिणत आत्मा पर भी मन–वचन–काय के योगों के परिस्पन्दन से समीपस्थ कर्म परमाणु आकर चिपक जाते हैं यानि आत्मा सर्वात्म प्रदेशों से स्वदेशस्थ कर्म वर्गणा के परमाणुओं को ग्रहण कर लेती है।

इसका तात्पर्य यह है कि आत्म प्रदेशों का जिस आकाश प्रदेश पर अवस्थान है, उन्हीं आकाश-प्रदेशों पर कर्मवर्गणा के स्कंध भी रहे हुए हैं। जो कर्म स्कंध आत्म प्रदेशों से विलग हो रहे हैं, वे नहीं बंधते हैं और जो आत्मा से अस्पृष्ट हैं—जिनको आत्मा ने ग्रहण नहीं किया, वे भी उसी आकाश–प्रदेश पर स्थित हैं।

उनकी दो अवस्थाएं होती है—

(१) चलितावस्था (२) अचलितावस्था

जो चलितावस्था वाले हैं उनका भी आत्मप्रदेशों के साथ बन्ध नहीं होता है। जो अचलितावस्था वाले हैं—उन्हीं कर्म वर्गणाओं का आत्मा के साथ बंध होता है और उसी को कर्म संज्ञा से अभिव्यंजित किया जाता है।[1]

---

१. आत्म प्रदेशों के साथ ग्रहीत कर्म वर्गणा को ही कर्म संज्ञा होती है, जो कर्म-वर्गणा आत्मप्रदेशों से ग्रहीत नहीं है, किन्तु उनका एक ही आकाश प्रदेश अवस्थान है, वे कर्म वर्गणा कहलाती हैं, कर्म नहीं।

इस विषय को स्पष्ट करने के लिए एक रूपक है—

एक हॉस्पिटल (Hospitol) में एक्सरे (X-ray) फोटो करवाने के लिये तीन मरीज आये। उनमें से एक मरीज तो फोटो खिचवाकर मशीन से अलग हट रहा है तथा दो मरीज एक्सरे (फोटो) खिचवाने के लिये मशीन के पास खड़े हैं। उन दोनों में से जो व्यक्ति एक्सरे मशीन के पास खड़ा होकर भी हलन चलन कर रहा है—उसका एक्सरे फोटो नहीं आ पायगा किन्तु तीसरा मरीज जो मशीन के सामने यथायोग्य स्थान पर स्थिरता के साथ खड़ा है, उसी का फोटो आ पायेगा।

इसी प्रकार जो कर्मवर्गणा आत्मा के साथ कर्म रूप में पूर्व में बंध को प्राप्त हो चुकी है वे कर्म अब अपनी अवधि समाप्त होने पर या उदीरणा विशेष से आत्मप्रदेशों से अलग हो रहे हैं, उनका पुनः बंध नहीं होता। जिस प्रकार कि प्रथम मरीज फोटो करवाकर अलग हट रहा है, उसकी फोटो खिच चुकी है—पुनः नहीं खिचती है। ऐसी अवस्था को चलित कर्म कहते हैं। जो कर्मवर्गणा आत्मा के साथ एकाकाश प्रदेश पर स्थित तो है, किन्तु चलायमान है—हलन-चलन युक्त है, अस्थिर है वह आत्मा के साथ सम्बद्ध होकर कर्मसंज्ञा से अभिव्यंजित नहीं हो सकती, जब तक कि चलायमान है। जिस प्रकार कि दूसरे मरीज का फोटो चलायमान होने से आ नहीं पाता है। जो वर्गणा जिन आत्म-प्रदेशों पर यथा योग्य स्थान पर अचलितावस्था के रूप में विद्यमान है, वही आत्म प्रदेशों से बद्ध होकर कर्मसंज्ञा पाती है। जिस प्रकार कि तीसरे मरीज का यथा योग्य स्थान पर स्थिर होने पर फोटो मशीन से खिच जाता है।

मूल पाठ में जो 'अचलिअं कम्मं बंधति' में कर्म शब्द का प्रयोग हुआ है, उस प्रयोग से सहज प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि कर्म तो आत्मा के साथ लोलीभूत होकर बंध को प्राप्त कर चुके हैं, वे तो आत्मा के साथ बंधे हुए ही हैं, उनका पुनः क्या बांधना ? और यदि वे कर्म नहीं बांधे तो इस प्रश्न का प्रादुर्भाव क्यों हुआ ?

इसका समाधान यह है कि—आगम में प्रयुक्त शब्दों का अर्थ व्युत्पत्तिपरक भी किया जाता है तथा लक्षणादि से भी किया जाता है। जब व्युत्पत्तिपरक अर्थ प्रकरण संगत नहीं होता है, तब लक्षणा से अर्थ किया जाता है। यथा— 'गंगायां घोषः' इसका व्युत्पत्तिपरक अर्थ होता है गंगा के बहते हुए प्रवाह में घास-फूस की झोपड़ी है। यह व्युत्पत्त्यर्थ गंगा के प्रवाह में घट नहीं सकता, क्योंकि बहते हुए प्रवाह में घास-फूस की झोपड़ी टिक नहीं सकती। अतः इसका लक्षणा से अर्थ किया जाता है 'गंगा-तटे घोषः' गङ्गा के तट पर घास-फूस की झोपड़ी। यह अर्थ ही युक्ति संगत लगता है। वैसे ही मूल पाठ में जो 'अचलित कर्म' शब्द आता है वह कर्म संज्ञा प्राप्त न होकर, कर्म रूप से परिणत होने योग्य जो वर्गणा है, जो अभी कर्म के रूप में बंध को प्राप्त नहीं हुई है, ऐसी वर्गणा का मूल पाठ में प्रयुक्त कर्म शब्द से तात्पर्य है। यहाँ कारण में कार्य का उपचार किया गया है।

कर्म वर्गणा और कर्म का अन्तर आटा और रोटी के तुल्य है। आटा, रोटी का कारण है और रोटी कार्य है। वैसे ही कर्म वर्गणा आटे के तुल्य कर्म का कारण है और वहीं वर्गणा जब आत्मा के साथ लोलीभूत होकर बन्ध को प्राप्त हो जाती है, तब कर्म रूप कार्य कहलाती है।

उदीरणा, वेदन, अपवर्तन, निधत्त, निकाचना का कथन भी भी इसी प्रकार से करना चाहिए। क्योंकि ये भी अचलित कर्म के होते है, चलित के नहीं।

निर्जरा चलित कर्म की होती है, अचलित की नहीं। अचलित कर्म आत्मप्रदेशों से हटते नहीं है। कर्म पुद्गलों का आत्मप्रदेशों से हटना निर्जरा है। अतः चलित कर्मों की ही निर्जरा होती है, अचलित की नहीं।

संग्रह गाथा का भी यही तात्पर्य है— बंध, उदीरणा, वेदन, अपवर्तन, संक्रमण, निधत्त और निकाचित इन सात प्रश्नों में अचलित कर्म कहना चाहिये। निर्जरा सम्बन्धित प्रश्न में चलित कर्म कहना चाहिये।

नरक में महान् दुःख है। इससे विपरीत स्वर्ग में महान् भौतिक सुख है। दुःख से विपरीत सुख की स्थिति आती है। पाप कर्म के उदय से आत्मा नरक में जाती है तो पुण्य कर्म के उदय से आत्मा स्वर्ग के सुख पाती है। अतः नरक का वर्णन करने बाद स्वर्ग का वर्णन क्रम प्राप्त है। तदनुसार नरक वर्णन के बाद स्वर्गस्थ देवों का वर्णन किया गया है। देवों में भी सर्वप्रथम भवनपति का वर्णन इसलिये किया गया है कि प्रथम नरक के समीप ही असुरादि देवों का निवास क्षेत्र है। उस समीपता को लक्ष्य में रखते हुए नरक के बाद भवनपति देवों के विषय में प्रश्न किये गये हैं।

२– असुरकुमार देव-चर्चा :—

2.(i) [1]असुरकुमाराणं भंते ! [2]केवइयं कालं [3]ठिई पण्णत्ता ? [4]गोयमा ! जहण्णेणं दस [5]वाससहस्साइं उक्कोसेणं [6]साइरेगं सागरोवमं।

2. (i) हे भगवन् ! असुरकुमारों की कितने काल की स्थिति कही गई है।

हे गौतम ! जघन्य दस हजार वर्ष की और उत्कृष्ट सागरोपम से कुछ अधिक की है !

(ii) असुरकुमाराणं भंते ! [7]केवइयकालस्स आणमंति [8]वा पाणमंति [9]वा? गोयमा ! जहण्णेणं सत्तण्हं थोवाणं, उक्कोसेणं साइरेगस्स पक्खस्स आणमंति वा पाणमंति [10]वा ॥

(ii) हे भगवन् ! असुरकुमार देव कितने काल से श्वास लेते है निःश्वास छोड़ते हैं।

हे गौतम ! जघन्य से सात स्तोक रूप काल से उत्कृष्ट एक पक्ष से कुछ अधिक समय में श्वास लेते हैं और छोड़ते हैं।

इस विषय को स्पष्ट करने के लिए एक रूपक है—

एक हॉस्पिटल (Hospitol) में एक्सरे (X-roy) फोटो करवाने के लिये तीन मरीज खड़े उनमें से एक मरीज तो फोटो खिचवाकर मशीन से अलग हट रहा है तथा दो मरीज एक्सरे (फोटो खिचवाने के लिये मशीन के पास खड़े हैं। उन दोनों में से जो व्यक्ति एक्सरे मशीन के पास खड़ा हुआ भी हलन चलन कर रहा है—उसका एक्सरे फोटो नहीं आ पायगा किन्तु तीसरा मरीज जो मशीन सामने यथायोग्य स्थान पर स्थिरता के साथ खड़ा है, उसी का फोटो आ पायेगा।

इसी प्रकार जो कर्मवर्गणा आत्मा के साथ कर्म रूप में पूर्व में बंध को प्राप्त हो चुकी है, कर्म अब अपनी अवधि समाप्त होने पर या उदीरणा विशेष से आत्मप्रदेशों से अलग हो रहे हैं, उन पुनः बंध नहीं होता। जिस प्रकार कि प्रथम मरीज फोटो करवाकर अलग हट रहा है, उसकी फोटो खिच चुकी है—पुनः नहीं खिचती है। ऐसी अवस्था को चलित कर्म कहते हैं। जो कर्मवर्गणा आत्मा साथ एकाकाश प्रदेश पर स्थित तो है, किन्तु चलायमान है—हलन-चलन युक्त है, अस्थिर है वह के साथ सम्बद्ध होकर कर्मसंज्ञा से अभिव्यंजित नहीं हो सकती, जब तक कि चलायमान है। जिस प्रकार कि दूसरे मरीज का फोटो चलायमान होने से आ नहीं पाता है। जो वर्गणा जिन आत्म प्रदेशों पर यथा योग्य स्थान पर अचलितावस्था के रूप में विद्यमान हैं, वहीं आत्म प्रदेशों में बंध होकर कर्मसंज्ञा पाती हैं। जिस प्रकार कि तीसरे मरीज का यथा योग्य स्थान पर स्थित होने पर फोटो मशीन से खिच जाता है।

मूल पाठ में जो *'अचलिअं कम्मं बंधति'* में कर्म शब्द का प्रयोग हुआ है, उस प्रयोग से यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि कर्म तो आत्मा के साथ लोलीभूत होकर बंध को प्राप्त कर चुके हैं *वे तो आत्मा के साथ बंधे हुए ही हैं, उनका पुनः क्या बांधना ? और यदि ये कर्म नहीं बंधते* तो इस प्रश्न का प्रादुर्भाव क्यों हुआ ?

इसका समाधान यह है कि—आगम में प्रयुक्त शब्दों का अर्थ व्युत्पत्तिपरक भी किया जाता है तथा लक्षणादि से भी किया जाता है। जब व्युत्पत्तिपरक अर्थ प्रकरण संगत नहीं होता है, तब लक्षणा से अर्थ किया जाता है। यथा— 'गंगायां घोषः' इसका व्युत्पत्तिपरक अर्थ होता है गंगा के बहते हुए प्रवाह में घास-फूस की झोंपड़ी है। यह व्युत्पत्यर्थ गंगा के प्रवाह में घट नहीं सकता, क्योंकि बहते हुए प्रवाह में घास-फूस की झोंपड़ी टिक नहीं सकती। अतः इसका लक्षणा से अर्थ लिया जाता है 'गंगा तटे घोषः' गङ्गा के तट पर घास-फूस की झोंपड़ी। यह अर्थ ही युक्ति संगत लगता है। वैसे ही मूल पाठ से जो 'अचलित कर्म' शब्द आया है वह कर्म संज्ञा प्राप्त न होकर, कर्म रूप में परिणत होने योग्य जो वर्गणा है, जो अभी कर्म के रूप में बंध को प्राप्त नहीं हुई है, ऐसी वर्गणा का मूल पाठ में प्रयुक्त कर्म शब्द से तात्पर्य है। यहाँ कारण में कार्य का उपचार किया गया है।

कर्म वर्गणा और कर्म का अन्तर आटा और रोटी के तुल्य है। आटा, रोटी का कारण है और रोटी कार्य है। वैसे ही कर्म वर्गणा आटे के तुल्य कर्म का कारण है और वहीं वर्गणा जब आत्मा के साथ लोलीभूत होकर बन्ध को प्राप्त हो जाती है, तब कर्म रूप कार्य कहलाती है।

उदीरणा, वेदन, अपवर्तन, निधत्त, निकाचना का कथन भी भी इसी प्रकार से करना चाहिए। क्योंकि ये भी अचलित कर्म के होते हैं, चलित के नहीं।

निर्जरा चलित कर्म की होती है, अचलित की नहीं। अचलित कर्म आत्मप्रदेशों से हटते नहीं है। कर्म पुद्गलों का आत्मप्रदेशों से हटना निर्जरा है। अतः चलित कर्मो की ही निर्जरा होती है, अचलित की नहीं।

संग्रह गाथा का भी यही तात्पर्य है— बंध, उदीरणा, वेदन, अपवर्तन, संक्रमण, निधत और निकाचित इन सात प्रश्नों में अचलित कर्म कहना चाहिये। निर्जरा सम्बन्धित प्रश्न में चलित कर्म कहना चाहिये।

नरक में महान् दुःख है। इससे विपरीत स्वर्ग में महान् भौतिक सुख है। दुःख से विपरीत सुख की स्थिति आती है। पाप कर्म के उदय से आत्मा नरक में जाती है तो पुण्य कर्म के उदय से आत्मा स्वर्ग के सुख पाती है। अतः नरक का वर्णन करने बाद स्वर्ग का वर्णन क्रम प्राप्त है। तदनुसार नरक वर्णन के बाद स्वर्गस्थ देवों का वर्णन किया गया है। देवों में भी सर्वप्रथम भवनपति का वर्णन इसलिये किया गया है कि प्रथम नरक के समीप ही असुरादि देवों का निवास क्षेत्र है। उस समीपता को लक्ष्य में रखते हुए नरक के बाद भवनपति देवों के विषय में प्रश्न किये गये हैं।

२– असुरकुमार देव-चर्चा :—

2.(i) [1]असुरकुमाराणं भंते ! [2]केवइयं कालं [3]ठिई पण्णत्ता ? [4]गोयमा ! जहण्णेणं दस [5]वाससहस्साइं उक्कोसेणं [6]साइरेगं सागरोवमं।

(ii) असुरकुमाराणं भंते ! [7]केवइयकालस्स आणमंति [8]वा पाणमंति [9]वा? गोयमा ! जहण्णेणं सत्तण्हं थोवाणं, उक्कोसेणं साइरेगस्स पक्खस्स आणमंति वा पाणमंति [10]वा ॥

2. (i) हे भगवन् ! असुरकुमारों की कितने काल की स्थिति कही गई है।

हे गौतम ! जघन्य दस हजार वर्ष की और उत्कृष्ट सागरोपम से कुछ अधिक की है !

(ii) हे भगवन् ! असुरकुमार देव कितने काल से श्वास लेते है निःश्वास छोड़ते हैं।

हे गौतम ! जघन्य से सात स्तोक रूप काल से उत्कृष्ट एक पक्ष से कुछ अधिक समय में श्वास लेते हैं और छोड़ते है।

(iii) असुरकुमाराणं भंते ! आहारट्ठी? हन्ता ! आहारट्ठी ।

(iv) असुरकुमाराणं भंते ! [१]केवइय-कालस्स आहारट्ठे [२]समुपज्जइ ? गोयमा ! असुरकुमाराणं दुविहे आहारे पण्णत्ते । तं जहा– [३]आभोगणिव्वत्तिए [४]अणाभोगणिव्वत्तिए । तत्थ णं जे से [५]अणाभोगणिव्वत्तिए से अणुसमयं अविरहिए आहारट्ठे समुप्पज्जइ । तत्थ णं जे से [६]आभोगणिव्वत्तिए से जहण्णेणं चउत्थभत्तस्स, उक्कोसेणं साइरेगस्स [७]वाससहस्स आहारट्ठे समुप्पज्जइ ।

(v) असुरकुमाराणं भंते ! किं आहारं आहारेन्ति ? गोयमा ! दव्वओ अणंतपएसियाइं दव्वाइं, [८]खित्त–काल–भावा[९] [१०]पण्णवणागमेण[A] । [११]सेस जहा नेरइयाणं जाव[B] तेणं तेसिं पोग्गला [१]कीसत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमंति ? गोयमा ! [२]सोईंदियत्ताए [A]जाव [३]फासिंदियत्ताए, [४]रूवत्ताए सुवण्णत्ताए, इट्ठत्ताए, [५]इच्छित्ताए, [६]अभिज्झियत्ताए, उड्ढत्ताए, णो अहत्ताए, सुहत्ताए, णो [७]दुहत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमंति ।

(iii) हे भगवन् ! क्या असुरकुमार आहार के अभि-लाषी हैं । हाँ गौतम आहार के अभिलाषी होते हैं ।

(iv) हे भगवन् ! असुरकुमारों को कितने काल में आहार की अभिलाषा उत्पन्न होती है ।

हे गौतम ! असुरकुमार देवों का आहार दो प्रकार का कहा गया है । आभोगनिर्वर्तित, अनाभोगनिर्वर्तित । उनमें जो अनाभोगनिर्वर्तित (अनिच्छा से होने वाला) आहार है उसकी अभिलाषा विरह रहित निरन्तर उत्पन्न होती है । आभोगनिर्वर्तित आहार की अभिलाषा जघन्य से चतुर्थ भक्त (एक अहोरात्र में) उत्कृष्ट कुछ अधिक एक हजार वर्ष में आहार की अभिलाषा उत्पन्न होती है ।

(v) हे भगवन् ! असुरकुमार किन पुद्गलों का आहार करते हैं ?

हे गौतम ! द्रव्य की अपेक्षा अनन्त(अनंता-नंत) प्रदेशी द्रव्यों का (आहार करते हैं) क्षेत्र काल, भाव का वर्णन प्रज्ञापनासूत्र के अट्ठा-सवें पद के अनुसार जानना चाहिये ।

हे भगवन् ! उन (असुरकुमारों द्वारा आहार किये हुए) पुद्गल किस रूप में बार-बार परिणत होते हैं ।

हे गौतम ! श्रोत्रेन्द्रिय के रूप में यावत् स्पर्शनेन्द्रिय के रूप में, सुरूप में, सुवर्ण रूप में, इष्ट रूप में, इच्छित रूप में, मनोहर रूप में, उर्ध्व रूप में, सुख रूप में बार-बार परिणत होते हैं । न अधः रूप में न दुःख में परिणत होते हैं ।

(vi) [8]असुरकुमाराणं पुव्वाहारिया [9]पुग्गला परिणया ? [10]असुरकुमारा-भिलावेणं जहा नेरइयाणं [11]जाव । णो [12]अचलिअं कम्मं णिज्जरेन्ति ।

(vi) हे भगवन् ! क्या असुरकुमारों द्वारा पूर्व में आहार किये हुए पुद्गल परिणत हुए हैं ।

हे गौतम ! असुरकुमार के अभिलाप से (नारकी के स्थान पर असुरकुमार का कथन कर) जैसा नैरयिकों के लिए कहा गया है; वैसा ही जानना चाहिए । यावत् अचलित कर्म की निर्जरा नहीं करते हैं ।

विवेचन–

अनुरकुमारों की आयु एक सागरोपम से कुछ अधिक की प्रतिपादित की गई है । वह असुरराज-बलीन्द्र की अपेक्षा से समझना चाहिये; क्योंकि चमरेन्द्र की आयु तो एक सागरोपम की ही बतलाई गई है ।

असुरकुमार देव सात[1] स्तोक व्यतीत होने के बाद श्वासोच्छ्वास की प्रक्रिया करते हैं । यह जघन्य स्थिति वालों की अपेक्षा से जानना चाहिये, उत्कृष्ट स्थिति वाले देव एक पक्ष से कुछ अधिक समय व्यतीत होने के बाद श्वासोच्छ्वास की प्रक्रिया करते हैं ।

---

१. असुरकुमारणं - अमो० ॥ २. केवइकालं - ला ४ ॥ ३. ठिती - वे० म० ॥ ४. गोयमा - णत्थि पु० बे० म० ॥ ५. ०स्माइं ठिई पण्णत्ता उक्को० - अमो० ॥ ६. सातिरेगं - पु० पा० बे० म० ॥ ७. केवइयं० - पु० । केवइयं कालं - अमो० पा० । केवइकालस्स - वे० म० ॥ ८. वा पुच्छा गो० । जह० - ला २-४ ॥ ९. प्र० ऊससंति वा नीससंति वा । पुच्छा । गोयमा - अमो० । ऊससंति वा नीससति वा - पा० वे० म० ॥ १०. ऊससंति वा नीससंति वा - अमो० पा० वे० म० ॥

१. केवइकालस्स - पु० पा० वे० म० । २. समुप्पज्जइ - वे० म० ॥ ३. ०त्तिए य अणा० - पु० अमो पा० वे० म० ॥ ४. ०त्तिए य नरय - पु० अमो० पा० वे० म० ॥ ५-६. ०निवत्तिए - पा० ॥ ७. ०महस्सस्स - पु० अमो० पा० वे० म० ॥ ८. रवेत्त - अमो० ॥ ९. भाव - पु० अमो० पा० ॥ १०. पण्णवणागमेणं - अमो० ॥ ११. सेसं जहा - पा० ॥ A–B. सूत्र 6 जाव संपूर्ति B.

१. पोग्गला भु० - अमो० ॥ २. ०त्ताए सुरूवत्ताए सुव० - पु० अमो० वे० म० ॥ ३. फासिंदियत्ताए - पा० ॥ ४. ०त्ताए इट्ठत्ता० - लो० ॥ ५. ०त्ताए कंतत्ताए पियत्ताए मणुन्नत्ताए मणामत्ताए भिज्जियत्ताए उड्ढ० - पा० ॥ ६. भिज्जियत्ताए - पु० । अभिध्यिततया' शब्दस्य एतद् रूपम् अभिध्या: अभिलाषः अभिध्यायुक्त अभिध्यितः ॥ ७. दुक्खत्ताए - लो० ॥ ८. ०राणं भंते - अमो० पा० । ९. गोयमा - अमो० ॥ १०. ०भिलावेण - पु० ॥ ११. जाव चलियं कम्मं णिज्जरेंति - अमो० । चलियं कम्मं णिज्जरेंति - वे० म० ॥ १२. अचलियं - पु० पा० ॥

A–चक्खुदियत्ताए घाणेंदियत्ताए रसनादियत्ताए B– सूत्र–6 [1](IV) से 6 [1](XIII)

१. हट्ठस्स अणवगल्लस्स, णिरुवक्किट्ठस्स जंतुणो
एगे उसासनीसासे, एस पाणुत्ति वुच्चइ
सत्त पाणुणि से थोवे, सत्त थोवाणि से लवे
लवाणं सत्तहत्तरिए, एस मुहुत्ते वियाहिए ॥

रोग रहित, स्वस्थ, हृष्ट-पुष्ट प्राणी के एक श्वासोच्छ्वास को एक प्राण कहते हैं । सात प्राणों का एक स्तोक होता है । सात स्तोक का एक लव होता है, सतहत्तर लवों का एक मुहूर्त होता है ।

इनका आहार भी दो प्रकार का होता है—(१) आभोगनिर्वतित (२) अनाभोगनिर्वतित। अनाभोगनिर्वतित[1] आहार तो प्रति समय अविरहित रूप से ग्रहण करते हैं। आभोगनिर्वतित की जघन्य स्थिति वाले असुर कुमार देवों का चतुर्थ भक्त[2] से इच्छा होती है। उत्कृष्ट स्थिति॰ देवों को एक हजार वर्ष के बाद आहार की अभिलाषा होती है। उन देवों द्वारा ग्रहण आहार में॰ भाग—रस भाग आदि सप्त धातु के रूप में होने वाली मानवीय प्रक्रिया की तरह कोई प्रक्रिया नहीं होती है। किन्तु वह आहार उन देवों की पांचों ही इन्द्रियों में सुरूप में, सुवर्ण रूप में, इष्ट रूप में, इच्छित रूप में, मनोहर रूप में, ऊर्ध्व रूप में, सुख रूप में बार बार परिणत होता है।

---

१. अनाभोगनिर्वतित :— भवनपति देवों का अनाभोगनिर्वतित आहार नैरयिक जीवों के अनुसार कहा गया। यह सामान्यतया तो उपयुक्त है, परन्तु अनाभोग आहार में देव और नारक में कुछ अन्तर है। नारक जीव॰ वस्तु को आहार में लेने की इच्छा नहीं करते है, उसे भी उनको जबरदस्ती लेनी पड़ती है। किन्तु देवों की स्थिति इनसे भिन्न है—देव अनाभोग आहार के विषय में यद्यपि उपयोग सहित इच्छा नहीं करते हैं, फिर भी ॰ ज्ञात होता है कि हमारी इच्छा के विपरीत जो आहार अनाभोगतया परिणत होगा वह भी मनोनुकूल होगा, क्योंकि देवों की शारीरिक रचना इस ढंग की होती है कि उनसे आकर्षित सद्योग पुद्गल स्कंध आयेंगे, वे उनके अनुकूल रूप में ही परिणत होंगे।

२. चतुर्थ भक्त :— चतुर्थ भक्त की व्याख्या के विषय में कुछ विचार धाराएँ विभिन्न रूप से प्रचलित हैं। उनमें से एक यह है कि उपवास करने वाला व्यक्ति उपवास के पहले दिन एक वक्त भोजन करे और दूसरे दिन चौबीस घंटों का उपवास रखे और पारणा के रोज एक वक्त भोजन करे।

यह व्याख्या सर्वमान्य स्थिति को प्राप्त नहीं होती है, क्योंकि जिस युग में मनुष्य को दो वक्त भोजन ॰ अभ्यास है, उस समय के लिए तो यह व्याख्या लागू हो सकती है। ऐसे व्यक्ति चार समय तक आहार ॰ सकते हैं। किन्तु जिस समय के मानव एक दिन में एक ही वक्त भोजन करते थे, उस समय ॰ कैसे सम्भवित था? क्योंकि मानव उस समय चौबीस घण्टों में एक बार ही भोजन करता था। यदि वह ॰ वक्त के भोजन का त्याग करेगा तो उसके एक उपवास के स्थान पर चार उपवास हो जावेंगे।

भगवान् ऋषभदेव के समय से लेकर भगवान् पार्श्वनाथ तक प्रायः आम जनता में चौबीसों घण्टों में एक वक्त ही भोजन करने का प्रचलन था। उस समय भी उपवास के लिए 'चउत्थभक्त' संज्ञा उपर्युक्त रीति से घटायी जायेगी। क्योंकि 'चउत्थभक्त' की अलग से परिभाषा आगम में कहीं नहीं मिलती है। इस परिभाषा अर्थात् चार समय तक आहार छोड़ने की परिभाषा से 'चउत्थभक्त' का तात्पर्य लिया जायेगा तो अन्तर्विरोध आना संभवित है।

वीतराग देवों के द्वारा प्रदर्शित परिभाषा सिद्धान्त विरोध— १. अव्याप्ति दे. अतिव्याप्ति दे. असम्भव विरोध-रहित होती है। विरोध रहित व्याख्या करना ही वीतराग देवों के सिद्धान्तानुरूप हो सकता है। ॰ व्याख्या करते समय आगमगत शब्दों का सभी दृष्टि से चिन्तन अपेक्षित है। आगमगत शब्दों की व्याख्या परिस्थिति भी होती है तथा प्रशमादि से भी व्याख्या की जाती है।

3. नागकुमार देव-चर्चा-

3.(i) नागकुमाराणं भंते ! केवइयं कालं [1]ठिई पण्णत्ता ?

गोयमा ! जहण्णेणं दस वाससहस्साइं, उक्कोसेणं देसूणाइं दो पलिओवमाइं।

(ii) नागकुमाराणं भंते ! [2]केवइयं कालस्स आणमंति वा [3]पाणमंति वा [4]ऊससंति वा णीससंति वा ?

गोयमा ! जहण्णेणं सत्तण्हं थोवाणं, उक्कोसेणं [5]मुहुत्तपुहुत्तस्स आणमंति वा [6]पाणमंति वा [7]ऊससंति वा णीससंति वा।

(iii) [8]नागकुमाराणं भंते ! आहारट्ठी ?

[9]हंता ! आहारट्ठी ॥

3. (i) हे भगवन् ! नागकुमार देवों की स्थिति कितने काल की कही गई है ?

हे गौतम ! जघन्य दस हजार वर्ष की उत्कृष्ट देशोन (कुछ कम) दो पल्योपम की स्थिति कही गई है।

(ii) हे भगवन् ! नागकुमार देव कितने समय में श्वास लेते हैं। निःश्वास छोड़ते है। उच्छ्वास लेते है निःश्वास छोड़ते हैं ?

हे गौतम ! जघन्य से सात स्तोक में उत्कृष्ट से मुहूर्तपृथक्त्व (दो मुहूर्त से नौ मुहूर्त तक) उच्छ्वास लेते है और निःश्वास छोड़ते हैं।

(iii) हे भगवन् ! क्या नागकुमार देव आहार के अभिलाषी है ?

हाँ गौतम ! आहारार्थी है।

---

१. ठिती - पु० वे० म० ॥ २. केवइकालस्स - पु० धा० वे० म० ॥ ३. ०मंति वा गोयमा - पु० ॥ ४. ऊससंति वा - अमो० ॥ ५. पुहुत्तस्स - वे० म० । पहुत्तस्स - ला २ ॥ ६ ०मंति वा नाग० - पु० ॥ ७. ऊससंति वा - अमो० ॥ ८. ०कुमाराणं आहा० - पु० धा० ॥ ९. हंता गोयमा ! आहारट्ठी - वे० म० ॥

जहाँ व्युत्पत्तिपरक व्याख्या दोष युक्त ज्ञात हो, वहाँ लक्षणा से व्याख्या की जाती है। **यथा—'गंगायां घोषः'** का अर्थ निकाला जाता है। तदनुसार 'चउत्थभक्त' उपवास का अर्थ चार वक्त के भोजन त्याग का न लेकर 'चउत्थभक्त' यह उपवास की संज्ञा का सूचक है। संज्ञा-स्थिति में ही इसकी विवेचना करने पर ऋषभदेव से लेकर भगवान् महावीर तक इस परिभाषा में कोई दोष आने की सम्भावना नहीं रहती है। उपवास यह चतुर्थभक्त की संज्ञा है।

प्रत्याख्यान के पाठ में यद्यपि 'उग्गए सूरे' शब्द प्रयोग किया, पर यह व्युत्पत्ति की दृष्टि से न लेकर लक्षण पूर्वक संज्ञा सूचक लेना चाहिये। यद्यपि वीतराग देव के अनुयायियों को रात्रि भोजन नहीं करना चाहिये। कदाचित् किन्हीं की ऐसी स्थिति न हो और वे रात्रि भोजन का त्याग न कर सके तो वैसी स्थिति न में उन्हें पालनीय व्रतादि करते समय कम से कम रात्रि के १२ बजे के पश्चात् चौविहार रखना चाहिये।

इनका आहार भी दो प्रकार का होता है— (१) आभोगनिर्वर्तित (२) अनाभोगनिर्वर्तित अनाभोगनिर्वर्तित[1] आहार तो प्रति समय अविरहित रूप से ग्रहण करते हैं। आभोगनिर्वर्तित-आहार की जघन्य स्थिति वाले असुर कुमार देवों का चतुर्थ भक्त[2] से इच्छा होती है। उत्कृष्ट स्थिति देवों को एक हजार वर्ष के बाद आहार की अभिलाषा होती है। उन देवों द्वारा गृहीत आहार भाग—रस भाग आदि सप्त धातु के रूप में होने वाली मानवीय प्रक्रिया की तरह कोई [illegible] होती है। किन्तु वह आहार उन देवों की पांचों ही इन्द्रियों में सुरूप में, सुवर्ण रूप में, [illegible] इच्छित रूप में, मनोहर रूप में, ऊर्ध्व रूप में, सुख रूप में बार बार परिणत होता है।

१. अनाभोगनिर्वर्तित :— भवनपति देवों का अनाभोगनिर्वर्तित आहार नैरयिक जीवों के अनुसार [illegible] यह सामान्यतया तो उपयुक्त है, परन्तु अनाभोग आहार में देव और नारक में कुछ अन्तर है। नारक [illegible] वस्तु को आहार में लेने की इच्छा नहीं करते है, उसे भी उनको जबरदस्ती लेनी पड़ती है। किन्तु देवों [illegible] इनसे भिन्न है—देव अनाभोग आहार के विषय में यद्यपि उपयोग सहित इच्छा नहीं करते हैं, फिर भी [illegible] ज्ञात होता है कि हमारी इच्छा के विपरीत जो आहार अनाभोगतया परिणत होगा वह भी मनोनुकूल होगा, [illegible] देवों की शारीरिक रचना इस ढंग की होती है कि उनसे आकर्षित तद्योग पुद्गल स्कंध आयेंगे, वे [illegible] कूल रूप में ही परिणत होंगे।

२. चतुर्थ भक्त :— चतुर्थ भक्त की व्याख्या के विषय में कुछ विचार धाराएँ विभिन्न रूप से प्रचलित हैं। [illegible] एक यह है कि उपवास करने वाला व्यक्ति उपवास के पहले दिन एक वक्त भोजन करे और दूसरे दिन [illegible] घंटों का उपवास रखे और पारणा के रोज एक वक्त भोजन करे।

यह व्याख्या सर्वमान्य स्थिति को प्राप्त नहीं होती है, क्योंकि जिस युग में मनुष्य को दो वक्त भोजन करने का अभ्यास है, उस समय के लिए तो यह व्याख्या लागू हो सकती है। ऐसे व्यक्ति चार समय तक आहार [illegible] सकते हैं। किन्तु जिस समय के मानव एक दिन में एक ही वक्त भोजन करते थे, उस समय चार [illegible] कैसे सम्भवित था? क्योंकि मानव उस समय चौबीस घण्टों में एक बार ही भोजन करता था। यदि [illegible] वक्त के भोजन का त्याग करेगा तो उसके एक उपवास के स्थान पर चार उपवास हो जावेंगे।

भगवान् ऋषभदेव के समय से लेकर भगवान् पार्श्वनाथ तक प्रायः आम जनता में चौबीसों घण्टों [illegible] वक्त ही भोजन करने का प्रचलन था। उस समय भी उपवास के लिए 'चउत्थभत्त' संज्ञा उपर्युक्त [illegible] घटायी जायेगी। क्योंकि 'चउत्थभत्त' की अलग से परिभाषा आगम में कहीं नहीं मिलती है। इस [illegible] अर्थात् चार समय तक आहार छोड़ने की परिभाषा से 'चउत्थभत्त' का तात्पर्य लिया जायेगा तो [illegible] आना संभवित है।

वीतराग देवों के द्वारा प्ररूपित परिभाषा सिद्धान्त त्रिदोष— १. अव्याप्ति २. अतिव्याप्ति ३. [illegible] विकल्प-रहित होते है। त्रिदोष रहित व्याख्या करना ही वीतराग देवों के सिद्धान्तानुकूल हो सकता है। [illegible] व्याख्या करते समय आगमगत शब्दों का गम्भीर दृष्टि से चिन्तन अपेक्षित है। आगमगत शब्दों की [illegible] परिहरण भी होती है तथा व्याकरणादि से भी व्याख्या की जाती है।

3. नागकुमार देव-चर्चा-

3.(i) नागकुमाराणं भंते ! केवइयं कालं [1]ठिई पण्णत्ता ?

गोयमा ! जहण्णेणं दस वाससहस्साइं, उक्कोसेणं देसूणाइं दो पलिओवमाइं।

3. (i) हे भगवन् ! नागकुमार देवों की स्थिति कितने काल की कही गई है ?

हे गौतम ! जघन्य दस हजार वर्ष की उत्कृष्ट देशोन (कुछ कम) दो पल्योपम की स्थिति कही गई है।

(ii) नागकुमाराणं भंते ! [2]केवइयं कालस्स आणमंति वा [3]पाणमंति वा [4]उससंति वा णीससंति वा ?

गोयमा ! जहण्णेणं सत्तण्हं थोवाणं, उक्कोसेणं [5]मुहुत्तपुहुत्तस्स आणमंति वा [6]पाणमंति वा [7]उससंति वा णीससंति वा।

(ii) हे भगवन् ! नागकुमार देव कितने समय में श्वास लेते हैं। निःश्वास छोड़ते हैं। उच्छ्वास लेते हैं निःश्वास छोड़ते हैं ?

हे गौतम ! जघन्य से सात स्तोक में उत्कृष्ट से मुहूर्तपृथक्त्व (दो मुहूर्त से नौ मुहूर्त तक) उच्छ्वास लेते है और निःश्वास छोड़ते हैं।

(iii) [8]नागकुमाराणं भंते ! आहारट्ठी ?

[9]हंता ! आहारट्ठी ॥

(iii) हे भगवन् ! क्या नागकुमार देव आहार के अभिलाषी हैं ?

हाँ गौतम ! आहारार्थी है।

---

१. ठिती - पु० वे० म० ॥ २. केवइकालस्स - पु० घा० वे० म० ॥ ३. ०मंति वा गोयमा - पु० ॥ ४. ऊससंति वा - अमो० ॥ ५. पुहुत्तस्स - वे० म० । पहुत्तस्स - ला २ ॥ ६. ०मंति वा नाग० - पु० ॥ ७. ऊससंति वा - अमो० ॥ ८. ०कुमाराणं आहा० - पु० घा० ॥ ९. हंता गोयमा ! आहारट्ठी - वे० म० ॥

जहाँ व्युत्पत्तिपरक व्याख्या दोष युक्त ज्ञात हो, वहाँ लक्षणा से व्याख्या की जाती है। यथा—'गंगायां घोषः' का अर्थ निकाला जाता है। तदनुसार 'चउत्थभत्त' उपवास का अर्थ चार वक्त के भोजन त्याग का न लेकर 'चउत्थभत्त' यह उपवास की संज्ञा का सूचक है। संज्ञा-स्थिति से ही इसकी विवेचना करने पर ऋषभदेव से लेकर भगवान् महावीर तक इस परिभाषा में कोई दोष आने की सम्भावना नहीं रहती है। उपवास यह चतुर्थभक्त की संज्ञा है।

प्रत्याख्यान के पाठ मे यद्यपि 'उग्गए सूरे' शब्द प्रयोग किया, पर यह व्युत्पत्ति की दृष्टि से न लेकर लक्षण पूर्वक संज्ञा सूचक लेना चाहिये। यद्यपि वीतराग देव के अनुयायियों को रात्रि भोजन नहीं करना चाहिये। कदाचित् किन्हीं की ऐसी स्थिति न हो और वे रात्रि भोजन का त्याग न कर सके तो वैसी स्थिति न मे उन्हें शास्त्रीय व्रतादि करते समय कम से कम रात्रि के १२ बजे के पश्चात् चौविहार रखना चाहिये।

(iv) [1]नागकुमाराणं भंते ! [2]केवइय-कालस्स आहारट्ठे समुप्पज्जइ ? गोयमा ! नागकुमाराणं दुविहे आहारे पण्णत्ते तं जहा आभोगणिव्वत्तिए, [4]य अणाभोगणिव्वत्तिए य । तत्थ णं जे से अणाभोगणिव्वत्तिए से अणुसमयं अविरहिए आहारट्ठे [5]समुप्पज्जइ । तत्थ णं जे से आभोगणिव्वत्तिए से जहण्णेणं चउत्थभत्तस्स, उक्कोसेणं [6]दिवसपुहुत्तस्स आहारट्ठे समुप्पज्जइ । सेसं जहा [7]असुरकुमाराण [A]जाव[8] [9]चलिअं कम्मं [10]णिज्जरेंति णो [11]अचलिअं कम्मं [12]णिज्जरेंति ।

(iv) हे भगवन् ! नागकुमार देवों को कितने का से आहार की अभिलाषा उत्पन्न होती है। हे गौतम ! नागकुमार देवों का आहार दो प्रकार का कहा गया है।

वह इस प्रकार है— आभोगनिर्वर्तित अनाभोगनिर्वर्तित । इन में जो अनाभोग निर्वर्तित आहार है, वह प्रति समय वि रहित (निरन्तर) होता है किन्तु आभोग निर्वर्तित आहार की अभिलाषा जघन्य चतुर्थभक्त (एक अहोरात्र) के पश्चात् और उत्कृष्टतः दिवस-पृथक्त्व (दो दिन से लेकर नौ दिवस तक) के बाद उत्पन्न होती है। शेष वर्णन असुरकुमार देवों की तरह जानना चाहिये । यावत् "चलित कर्म की निर्जरा करते हैं, किन्तु अचलित कर्म की निर्जरा नहीं करते ।"

(v) एवं [13]सुवण्णकुमाराणं वि जाव थणियकुमाराणं ति ।

(v) इसी तरह सुवर्णकुमार देवों से लेकर स्तनित कुमार देवों तक के भी जानना चाहिये।

विवेचन :-

नागकुमार देवों की जो उत्कृष्ट स्थिति प्रतिपादित की गई है, वह उत्तर दिशा में स्थित देवों की अपेक्षा से जानना चाहिये । सुवर्णकुमार, विद्युत्कुमार, अग्निकुमार, द्वीप कुमार, उदधिकुमार, दिक् कुमार, वायुकुमार, स्तनितकुमार इन आठ प्रकार के देवों की स्थिति, उच्छ्वास आदि का वर्णन नाग कुमार की तरह जानना चाहिये ।

यहां यह शंका उत्पन्न हो सकती है, कि शास्त्रकारों ने दस भवनपतियों के दस दण्डक प्रतिपादित किये हैं; किन्तु सात नारकी का एक दण्डक ही बतलाया, ऐसा क्यों ?

---

१. ०कुमाराणं भंते - घ० ॥ २. केवइकालस्स - पु० पा० वे० म० ॥ ३. पण्णत्ते - अमो० ॥ ४. य - नास्ति ...
५. समुप्पज्जइ - म० ॥ ६. ०पुहुत्तस्स - वे० म० । "पृथक्त्वं तु द्विप्रभृतिः आनवभ्यः संख्यासिद्धान्त ...
अवृ० । ०पहुत्तस्स - ला २-४ ॥ ७. असुरकुमाराणं - अमो० ॥ ८. जाव णो अचलियं कम्मं णिज्जरेंति एवं सुवण्ण० -
पु० पा० । जाव नो अचलियं कम्मं निज्जरेंति - लो० ला २-४ ॥ ९. चलियं - अमो० वे० म० ॥ १०. ०रेंति
सुवण्ण० - अमो० ॥ ११. अचलियं - वे० म० ॥ १२. निज्जरेंति एवं - ला २ ॥ १३. ०कुमारा वि जाव - थणिय-
कुमाराण वि - अमो० वे० म० ॥

इस शंका का कोई यथार्थ सटीक समाधान अभी तक स्पष्ट नहीं हो पाया है तथापि पूर्वाचार्यों की इस विषयक कुछ धारणाएँ हैं। जैसे :—

१. नरक भूमियां एक दूसरे सम्बन्धित हैं, उनके मध्य में कोई अन्तर नहीं है, किन्तु असुरकुमार आदि देवों के भवन में यह संलग्नता नहीं है। इनके भवनों के मध्य में तेरह प्रतर और बारह अन्तर है। उनमें से ऊपर के दो अन्तरों को छोड़कर शेष अन्तरों में दस जाति के भवनपति देवों के निवास स्थान हैं। तेरह प्रतर और बारह अन्तर प्रथम नरक में ही है।

प्रथम नरक के नीचे के प्रतर के बाद सातवीं नरक तक के मध्यावकाश में कोई भी नैरयिकों के अतिरिक्त त्रस जीवों का निवास न होने से सात नारकी का एक ही दण्डक प्रतिपादित है। किन्तु दस भवनपतियों के भवनों के मध्य में प्रथम नारकी के नैरयिकों का अन्तर आने से दस दण्डक प्रतिपादित किये गये हैं।

२. नैरयिक जीव दुःखों में डूबे रहने से उनमें कोई विशेष प्रकार की उथल-पुथल नहीं होती, किंतु भवनपति आदि देवों में आपेक्षिक सुख बहुलता से उथल-पुथल होने से कारण दस दण्डक प्रतिपादित किये गये हैं।

३. दसों भवनपतियों के चिन्ह अलग-अलग प्रकार के हैं। यथा—असुरकुमारों के मुकुट में चूड़ामणि (राखड़ी) का नागकुमारों के नाग का, विद्युतकुमारो के वज्र का, सुवर्णकुमारों के गरुड का, अग्निकुमारों के कलश का, वायुकुमारों के अश्व का, स्तनितकुमारों के शरावसंपुटका, उदधिकुमारों के मकर का, द्वीपकुमारों के सिंह का, दिक्कुमारों के हस्ति का चिह्न होता है। इस दृष्टि से भी अलग-अलग दण्डक बतलाये गये हैं।

४. नरक के जीवों की एवं उत्पत्ति स्थानों की वेदना आदि की सामान्य व्यवस्था प्रायः एक सी है। वेदना, दुःखों की उदीरणा, अशुभत्वादि में तारतम्य का भेद होने पर भी सामान्यतया एकत्व होने से सात नारकी का एक दण्डक माना गया है। परन्तु दस भवनपतियों में नारकों की तरह समानता का प्रसंग नहीं है। भवनों में निवास की दृष्टि से भवनपतित्व के रूप में एक होने पर भी रहन-सहन, सुख, चिन्ह आदि की विलक्षणताएँ होने से दस भवनपतियों के दस दण्डक माने गये। यथा :—एकेन्द्रिय जाति में एक स्पर्श इन्द्रिय है अतः शरीर की अपेक्षा से एक होने पर भी आभ्यन्तर अवस्था में अत्यधिक भिन्नता पाई जाती है। इसलिए एकेन्द्रिय जाति के पांच दण्डक, उसी प्रकार भवनपतियों में दस दण्डक की व्यवस्था आगमकारों ने बतलाई है।

स्थावर वर्णन—

अधो लोक से ऊपर तिर्यक् लोक आता है। तिर्यक् लोक तिर्यंच, मनुष्य और व्यन्तरादि देवों का निवास स्थल है। पूर्व सूत्र में अधोलोक में स्थित असुरकुमार देवों का वर्णन किया गया है। अतः प्राप्त तिर्यक् लोक में तिर्यंचादि का निवास स्थान होने से अग्रिम सूत्रों में उनका वर्णन किया जा रहा है। उनमें भी स्थावर जीवों की सूक्ष्मता व व्यापकता और प्रचुरता को लक्ष्य में रखकर पहले स्थावर जीवों के विषय में भगवान् से निम्न प्रश्न किये गए हैं।

4. स्थावर-चर्चा :– (पृथ्वीकाय आदि)

(i) [2]पुढवीकाइयाणं भंते ! केवइयं कालं [1]ठिई पण्णत्ता ?

गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं बावीसं वाससहस्साइं।

(i) हे भगवन् ! पृथ्वीकायिक जीवों की स्थिति कितने काल की कही गई है ?

हे गौतम ! जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट से बाईस हजार वर्ष की स्थिति है।

(ii) [3]पुढवीकाइयाणं भंते ! [4]केवइयकालस्स आणमंति वा [5]पाणमंति वा, ऊससंति वा णीससंति वा ?

गोयमा ! वेमायाए आणमंति वा ४।

(ii) हे भगवन् ! पृथ्वीकायिक जीव कितने काल में श्वास लेते हैं। निःश्वास छोड़ते हैं ?

हे गौतम ! विमात्रा से वे (विविध काल में) श्वासोच्छ्वास लेते हैं। (श्वासोच्छ्वास लेने का कोई नियत समय नहीं है)

(iii) [6]पुढवीकाइयाणं भंते ! आहारट्ठी ?

[7]हंता। आहारट्ठी।

(iii) हे भगवन् ! क्या पृथ्वीकायिक जीव आहार के अभिलाषी होते हैं ?

हां गौतम ! आहारार्थी होते हैं।

(iv) [8]पुढवीकाइयाणं [9]केवइयकालस्स आहारट्ठे समुप्पज्जइ ?

गोयमा ! अणुसमयं अविरहिए आहारट्ठे समुप्पज्जइ।

(iv) पृथ्वीकायिक जीवों को कितने काल में आहार की अभिलाषा समुत्पन्न होती है ?

हे गौतम ! प्रति समय अविरहित आहार की अभिलाषा समुत्पन्न होती है।

---

१. ठिती – बे० म० ॥ २. पुढविक्काइयाणं – पु० । पुढविकाइ० – अमो० । पुढविक्काइयाणं – बे० म० ॥ ३. पुढविक्काइया केव० – पु० बे० म० । पुढविकाइ० – अमो० मो० ॥ ४-५. केवइयकालस्स – पु० पा० बे० म० ॥ ५. ०मंति वा गोयमा – पु० पा० ॥ ६. पुढविक्काइयाणं आहा० – पु० । पुढविकाइ० – अमो० । पुढविक्काइया आहा० बे० म० ॥ ७. हंता गोयमा ! आहारट्ठी – अमो० ॥ ८. पुढविक्काइयाणं – पु० । पुढविक्काइयाणं भंते ! केव० अमो० । पुढवीकाइयाणं भंते आहा० – पा० । पुढविक्काइयाणं – बे० म० ॥

(v) [१]पुढवीकाइया किं [२]आहारं आहारेंति ?

गोयमा ! [३]दव्वओ जहा [४]नेरइयाणं [A]जाव निव्वाघाएणं [५]छद्दिसिं, वाघायं पडुच्च सिय [६]तिदिसिं सिय-पंचदिसिं, वण्णओ काल [८]णील-पीय[९]-[१०]लोहिय-हालिद्द-[११]सुक्किलाणं [१२]गंधओ [१३]सुब्भिगंधाइं २,रसओ [१४]तित्ताइं ५, फासओ [१५]कक्खडाइं ८, सेसं [१६]तहेव । णाणत्तं [१७]कइभागं आहारेंति? कइभागं [१८]फासाइन्ति ?

गोयमा ! [१९]असंखिज्जइभागं आहारेंति, [२०]अणंतभागं [२१]फासाइन्ति [B]जाव[२२] ते [२३]णं तेसिं पोग्गला [२४]कीसत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमंति ?

गोयमा ! [२६]फासिंदियवेमायत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमंति । सेसं जहा नेरइयाणं [C]जाव[२५] णो [२७]अचलिअं कम्मं णिज्जरेंति,

(vi) एवं [D]जाव [२९]वणस्सइकाइयाणं । णवरं [३०]ठिई [३१]वण्णेयव्वा जा जस्स, उस्सासो वेमायाए ।

(v) पृथ्वीकायिक क्या आहार करते हैं ।

हे गौतम ! द्रव्यापेक्षा जिस प्रकार नारकी जीवों का कहा उसी प्रकार पृथ्वीकाय का भी कह देना चाहिये । यावत् पृथ्वीकाय जीव निर्व्याघात अपेक्षा षट्‌दिशाओं का आहार करते है । व्याघात की अपेक्षा कदाचित् तीन दिशाओं से कदाचित् चार दिशाओं से कदाचित् पांच दिशाओं से आहार करते है ।

वर्ण की अपेक्षा काला, नीला, पीला, लाल, और श्वेत वर्ण के द्रव्यों का आहार करते है । गंध से सुरभि गंध का आहार ग्रहण करते हैं तथा दुरभि गंध का भी आहार ग्रहण करते हैं । रस की अपेक्षा तिक्त आदि पांचों रस वाले स्पर्श की अपेक्षा कर्कश आदि आठों स्पर्श वाले द्रव्यों का आहार करते हैं । शेष सब वर्णन पूर्ववत् जानना चाहिये । विशेषता यह है कि—

(भगवन्) कितने भाग का, (पृथ्वीकायिक) आहार करते है कितने भाग का, स्पर्श (आस्वादन) करते हैं ?

हे गौतम ! असंख्यातवें भाग का आहार करते हैं । अनन्तवे भाग का, स्पर्श करते हैं । (आस्वादन करते है) यावत् उनके द्वारा गृहीत आहार के पुद्‌गल किस रूप में वार-वार परिणत होते है ?

हे गौतम ! स्पर्शनेन्द्रिय के रूप में विविध प्रकार से वार २ परिणमित होते हैं । अवशेष जिस प्रकार नैरयिक का कहा उसी प्रकार जानना चाहिये । यावत् अचलित कर्म की निर्जरा नही करते हैं ।

(vi) इसी प्रकार अपकायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक जीवात्माओं के विषय में भी जानना चाहिये । जिसको जितनी स्थिति है उसकी उतनी कहना चाहिये । उच्छ्वास भी विमात्रा से जानना चाहिये ।

१. पुढविक्काइया - पु० वे० म० । पुढविकाइयाणं भंते किं - अमो० । पुढवीकाइयाणं भंते - घा० ॥ २. किमाहारेंति -

विवेचन :-

पृथ्वीकायिक जीवों की जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त प्रतिपादित की गई है। ७७ लवों का एक मु
होता है। उससे कुछ कम काल को अन्तर्मुहूर्त कहते हैं। पृथ्वीकायिक जीवों की उत्कृष्ट स्थिति
बाईस हजार वर्ष विवेचित की गई है। वह खर पृथ्वी की अपेक्षा से समझना चाहिये। यथा-

सण्हा य सुद्ध वालुय, मणोसिला सक्करा य खर पुढवी।
एगं बारस चोद्दस, सोलस अट्ठारस बावीस त्ति॥

पृथ्वीकाय के मुख्यतया छः भेद प्रतिपादित किये गये हैं।

१. श्लक्ष्ण (स्निग्ध) २. शुद्ध ३. वालुका ४. मन: शिला ५. शर्करा ६. खर।

स्निग्ध पृथ्वीकाय की स्थिति एक हजार वर्ष की है।

शुद्ध —— „ —— बारह —— „ ——
वालुका —— „ —— चौदह —— „ ——
मन: शिला —— „ —— सोलह —— „ ——
शर्करा —— „ —— अठारह —— „ ——
खर —— „ —— बावीस —— „ ——

गु० ॥ ३. दव्वओ अणंता जहा - लों० ॥ ४. ०याणं णिव्वा० - अमो० ॥ ५. छद्दिसिं - अमो० ॥ ६. सिय ति पा० ॥ ७. चउद्दिसिं - पु० पा० बे० ०० ॥ ८. नील लोहिय - अमो० । नील लो० - बे० म० ॥ ९. पीत - पा०
१०. लोहिय सुक्कि० - पा० बे० म० ॥ ११. सुक्किल्लाणि - पु० बे० म० । सुक्किल्लाइं - पा० ॥ १२. सुब्भि
दुब्भिगंध - लों० ॥ १३. सुरभिगंध - पु० । सुब्भिगंध दुरभिगधाइं - अमो० । सुब्भिगंधाइयं रस० - पा० । सुब्भि
गंध - बे० म० ॥ १४. तित्त ५ - पु० बे० म० । तित्ताइयं - पा० ॥ १५. मउयइ ८ - पु० बे० म० । कक्खडा
- पा० ॥ १६. भणितावशेषं तथैव-यथा नारकाणां तथा पृथिवीकायिकानामपि । तच्च इदम् "जाइं भंते ! पुढ
आहारेंति ताइं किं पुट्ठाइं अपुट्ठाइं ? जइ पुट्ठाइं किं ओगाढाइं अणोगाढाइं इत्यादि - अवृ० ॥ १७. सद्दिसिं - बे०
म० ॥ १८. फासेंति - अमो० । फासादेंति - बे० म० । "फासायंति" पाठे स्पर्शयन्ति । फासाइंति अथवा फास
या पाठे स्पर्शस्वादयन्ति स्पर्शेन आस्वादयन्ति प्राकृतशैल्या अथवा स्पर्शेन आददति स्पर्शादिगर्हितं इत्यपि प्राकृतशैली
वृत्त्यनुसारेण० ॥ १९. असंखेज्जइ - अमो० । संखिज्जभागं - पा० । असंखेज्जइ० - लो० । ०ज्जइ भागं - म०
२०. ०भाग - अमो० ॥ २१. फासेंति - अमो० । फासाइंति - बे० म० ॥ २२. जाव 'जेसिं - पु० पा० ॥ २३.
पोग्गला - अमो० ॥ २४. ०ताए पुज्जो पुज्जो परण० - ला ४ ॥ २५. जाव चलियं कम्मं निज्जरेंति नो अचलियं
कम्मं निज्जरेंति - बे० म० ॥ २६. वेमायाए - अमो० ॥ २७. अचलियं - अमो० ॥ २८. निज्जरेंति - पु०
२९. वणस्सतिकाइ० - ला २ ॥ ३०. ठिती - पु० अमो० बे० म० ॥ ३१. ०यव्वा जाव तसा - पु० । वाउकाइ०
अमो० ॥

A- सूत्र 6 (I) (IV) to 6 (I) (XIII)
B- आव पदेन् अवशेषा प्रश्ना मेरविरवत् प्रष्टव्या :—
C- 6 (2) (I) to 6 (2) (VI)
D- आवपदेन-प्रश्नानुक्रमाविना:

पृथ्वीकायिक जीवों के श्वासोच्छ्वास की प्रक्रिया विमात्रा-अनियमित बतलाई गई है। उनके श्वासोच्छ्वास की क्रिया का कोई निश्चित समय नहीं होता। परिणमन के लिए भी इनकी कोई निश्चितता नहीं है। अर्थात् शुभ-अशुभ दोनों रूप में परिणमन होता है।

आहार ग्रहण दो प्रकार से होता है :—

१. व्याघात २. निर्व्याघात।

व्याघात की अपेक्षा तीन, चार या पांच दिशा से पृथ्वीकायिक जीव आहार ग्रहण करते है। व्याघात लोकान्त के कोने से ही संभवित हैं। जब पृथ्वीकायिक जीव लोकान्त में ऊपर अग्निकोण में विद्यमान होते हैं, और जब उनके तीन दिशा (१) ऊर्ध्व (२) पूर्व तथा (३) दक्षिण में अलोक होता है, तब वे इसके अतिरिक्त तीन दिशाओं से आहार ग्रहण करते है। नीचे के अग्निकोण में रहने वाले जीव की अपेक्षा (१) नीचे, (२) पूर्व तथा (३) दक्षिण में अलोक होने से अवशेष तीन दिशाओं से आहार ग्रहण करते हैं। जब ऊर्ध्व, अघोदिशा में से किसी एक दिशा में अलोक होता है या पूर्वादि चार दिशाओं में से किसी एक दिशा में अलोक होता है तब जीव शेष तीन दिशाओं से आहार ग्रहण करते हैं। जब छह दिशाओं में से किसी भी एक दिशा में अलोक होता है तब जीव अवशेष पांच दिशाओं से आहार ग्रहण करते हैं।

निष्कर्ष यह है कि लोकान्त के किसी भी किनारे में स्थित जीव जिस दिशा में अलोक होता है उस दिशा से जीव आहार ग्रहण नही करते है।

निर्व्याघात की अपेक्षा पृथ्वीकायिक जीव छहों दिशाओं से आहार ग्रहण करते हैं।

पृथ्वीकायिक जीवों के आहार विषयक विज्ञप्ति में नैरयिक के समान विवेचना संकेतित की गई है। किन्तु विशेषता यह है कि नैरयिकों में जो "ओसण्णे कारणं पडुच्च" प्राय: करके सामान्यतया, आया है, वह पृथ्वीकायिक जीवों में घटित नहीं करना चाहिये।

प्रज्ञापना सूत्र के २८ अट्ठाईसवें पद में कहा है :—

"णवरं ओसण्णं कारणं न भण्णइ" अर्थात् सामान्य कारण नही कहना चाहिये। यही अवस्था औदारिकादि दण्डकों में भी जाननी चाहिये।

पृथ्वीकायिक जीव स्पर्शनेन्द्रिय से ही आहार ग्रहण करते हैं। यह स्पर्शन ही उनके लिए आस्वादन रूप होता है।

पृथ्वीकायिक की स्थिति का विवेचन कर दिया गया है। अवशेष स्थावर जीवों की स्थिति निम्न प्रकार है :—

अप्कायिक की स्थिति उत्कृष्ट सात हजार वर्ष है ।
तेजस्कायिक —„——„— —तीन अहोरात्र है ।
वायुकायिक —„——„— —तीन हजार वर्ष है ।
वनस्पतिकायिक —„——„— —दस हजार वर्ष है ।

इन सब की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण है । इनके भी उच्छ्वास आदि प्रक्रियाएं [illegible] अनियमित जाननी चाहिये ।

बेइन्द्रिय वर्णन—

एकेन्द्रिय के बाद नैसर्गिक रूप में बेइन्द्रिय जीव आते है । अतः पूर्व सूत्र में एकेन्द्रिय [illegible] वर्णन दिया है । इस सूत्र में बेइन्द्रिय जीवों का वर्णन दिया जा रहा है :–

5. त्रस-चर्चा (बेइन्द्रिय)

(i) बेइन्दियाण [1]ठिई भाणियव्वा । ऊसासो [2]वेमायाए ।

(ii) बेइन्दियाणं आहारे [3]पुच्छा । अणाभोगनिव्वत्तिए[4] तहेव । तत्थ णं जे से [5]आभोगनिव्वत्तिए से णं [6]असंखेज्जसमइए अंतोमुहुत्तिए [7]वेमायाए आहारट्ठे समुप्पज्जइ । सेसं तहेव ^जाव अणंतभागं [8]आसायंति ।

(iii) बेइन्दियाणं भंते ! जे पोग्गले आहारत्ताए [9]गेण्हंति ते किं सव्वे आहारेंति ? णो सव्वे [10]आहारेंति ?

गोयमा ! बेइन्दियाणं दुविहे आहारे पण्णत्ते । तं जहा—[11]लोमाहारे [12]पक्खेवाहारे य । जे पोग्गले लोमाहारत्ताए गिण्हंति, ते सव्वे अपरिसेसिए आहारेंति । जे पोग्गले पक्खेवाहारत्ताए

(i) द्वीन्द्रिय जीवों की स्थिति पहले [illegible] (उनका) श्वासोच्छ्वास विमात्रा में [illegible] चाहिये ।

(ii) द्वीन्द्रिय जीवों के आहार के विषय में [illegible] करना चाहिये ।

भगवन् ! द्वीन्द्रिय जीवों को [illegible] में आहार की अभिलाषा उत्पन्न होती [illegible] अनाभोगनिर्वर्तित के विषय में उसी प्रकार जानना चाहिये । जो आभोगनिर्वर्तित [illegible] है उस आहार की अभिलाषा विमात्रा [illegible] उत्पन्न होती है, अर्थात् असंख्यात समय [illegible] अन्तर्मुहूर्त्त पर्यन्त होती है । शेष उसी प्रकार जानना चाहिये । यावत् अनन्तवें भाग [illegible] आस्वादन करते हैं ।

(iii) हे भगवन् ! द्वीन्द्रिय जीव जिन [illegible] को आहार रूप में ग्रहण करते हैं [illegible] उन सबका आहार करते हैं ? अथवा [illegible] सबका आहार नहीं करते हैं ?

हे गौतम ! द्वीन्द्रिय जीवों का आहार [illegible] प्रकार का कहा गया है । यथा रोमाहार [illegible]

[13]गिण्हंति तेसि णं पोग्गलाणं [14]असं-खेज्जइभागं [15]आहारेंति. अणेगाइं च णं भागसहस्साइं अणासाइज्जमाणाइं [16]अफासाइज्जमाणाइं [17]विद्धंसमा-गच्छंति ।

प्रक्षेपाहार। जिन पुद्गलों का ग्रहण रोम आहार के रूप में ग्रहण होता है, वे सब सम्पूर्ण रूप से आहार रूप में परिणत होते हैं। जिन पुद-गलों को प्रक्षेपाहार के रूप में ग्रहण करते है, उन पुद्गलों में से असंख्यातवें भाग आहार करते हैं। और अनेक हजारों भाग अनास्वाद्य-मान अस्पृश्यमान रहकर नष्ट हो जाते है।

(iv) [1]एएसि णं भंते । पोग्गलाणं अणासाइज्जमाणाण [2]अफासाइज्ज-माणाणं य [3]कयरेकयरेहिंतो अप्पा वा [4]बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ?

(iv) हे भगवन् ! इन अनास्वाद्यमान और अस्पृश्य-मान् पुद्गलो में से कौनसे पुद्गल किन पुद्-गलों से अल्प है अथवा बहुत है अथवा तुल्य हैं अथवा विशेषाधिक है ?

गोयमा ! [5]सवत्थोवा [6]पुग्गला अणासाइज्जमाणा, अफासाइज्जमाणा अणंतगुणा ।

हे गौतम ! सर्व स्तोक पुद्गल आस्वाद में नही आये हुए हैं और अस्पृश्यमान पुद्गल उनसे अनन्तगुणे है।

(v) बेइन्दियाणं [7]भंते । जे [8]पोग्गले आहारत्ताए गिण्हंति ते णं तेसिं [9]पुग्गला कीसत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमंति ?

(v) हे भगवन् ! द्वीन्द्रिय जीव जिन पुद्गलों को आहार के रूप में ग्रहण करते हैं वे पुद्गल किस रूप में बार-बार परिणमित होते है ?

गोयमा ! [10]जिब्भिदिय-फासिंदिय-वेमायत्ताए[11] भुज्जो परिणमंति ।

हे गौतम ! वे पुद्गल जिह्वेन्द्रिय, स्पर्श-नेन्द्रिय में अनियमित रूप से बार-बार परिण-मित होते है।

(vi) बेइन्दियाणं भंते । पुव्वाहारिया [12]पोग्गला परिणया ? तहेव [A]जाव[13] [14]चलिअं कम्मं [15]निज्जरेंति ।

(vi) हे भगवन् ! द्वीन्द्रिय जीवों के क्या पूर्व में आहार किये हुए पुद्गल परिणत हुए है। यह सब कथन पूर्व की तरह समझना चाहिये यावत् चलित कर्म की निर्जरा करते है।

---

१. ठिगी - अमो० ॥ २. वेतायाए - अमो० ॥ ३. पुच्छा । गोयमा आभोगनिव्वत्तिए य अणाभोगनिव्वत्तिए य तहेव - पु० ॥ ४. ०निव्वत्तिओ - वे० म० ॥ ५. ०निव्वत्तिए - पु० अमो० बे० म० ॥ ६. ०ममए - पु० । ०साम-इए - लों० ॥ ७. वेमायाए - अमो० ॥ ८. आसादेति - लों० ॥ ९. गिण्हंति - अमो० । १०. ०रेंनि ? बेइंदि० - लों० ॥ ११. ०हारे य पत्ते० - अमो० । ०हारए प० - लों० ॥ १२. पक्खेप्पाहारे - ला २ । ०हारए य - लों० ॥ १३. गेण्हंति - घा० ॥ १४. असंखिज्जइ भागं - पु० । असंखिज्जभागं - घा० वे० म० ॥ १५. ०रेंति णेगाइं - ला

विवेचन–

द्वीन्द्रिय (स्पर्शनेन्द्रिय-रसनेन्द्रिय वाले) जीवों की स्थिति जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त, उत्कृष्टतः बारह वर्ष की होती है।

इन जीवों के आभोग (बुद्धि पूर्वक) आहार की इच्छा असंख्यात समय वाले अन्तर्मुहूर्त मात्र होती है। स्थिति के अनुसार आहार का कोई निश्चित क्रम नहीं है। विमात्रा-अनियमित रूप से आहार ग्रहण करते हैं।

इन जीवों का आभोग–आहार दो प्रकार से प्रतिपादित किया है :—

(१) रोमाहार (२) प्रक्षेपाहार।

जो आहार रोम से ग्रहण किया जाता है वह रोमाहार कहलाता है। जिस प्रकार शीत ऋतु में शीत अपने आप ग्रहण कर ली जाती है।

जो आहार कवल (ग्रास) द्वारा ग्रहण किया जाता है, उसे प्रक्षेपाहार कहते हैं। रोमों द्वारा ग्रहण किये गये आहार को द्वीन्द्रिय जीव पूर्णतः ग्रहण कर परिणमित कर लेते हैं।

प्रक्षेपाहार से किये गये आहार का बहुत सा भाग नष्ट हो जाता है। असंख्यातवें भाग का शरीर रूप में परिणमन होता है।

इसीलिए प्रभु ने फरमाया कि अनास्वादित पुद्गल अल्प होते हैं। अस्पर्शित पुद्गल अनन्त गुणा हैं।

---

२ ॥ १६. अणामिज्जमाo - पुo ॥ १७. ०ममाणज्जइ - अमोo । ममायज्जंति - लोo ला २-४ ॥

Agamma सू. 1797 to 1800 Page No. 392 to 393 (Appendix C)

१. तापि - पुo । तपति - अमोo पाo । एंति - बेo मo । २. ०माणाण - पुo बेo ॥ ३. कइं कई भा या ४ - पुo ला २-४ ॥ ४. बहुया वा - बेo मo । बहुआ वा - अमोo ॥ ५. सव्वदोवा - पुo अमोo पाo । सव्वत्थेवा - ला २ । सव्वत्थोवा - बेo मo ॥ ६. पोग्गला - अमोo ॥ ७. भेदे पोग्गला - अमोo ॥ ८. पोग्गला - पुo ॥ ९. पोग्गला - अमोo ॥ १०. विविक्खि - अमोo ॥ ११. वेमायाए - अमोo । वेमायाए - पाo ॥ १२. पुग्गला - पुo बेo मo ॥ १३. जाव अणविज्जं - लोo । जाव णो अणविर्ज भगवं - पाo ॥ १४. कनिर्व - पुo अमोo बेo मo ॥ १५. निग्गांति - पुo बेo मo ॥

A- सूत्र 6 (ii) से 6 (iii) तक ॥

त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय का वर्णन—

द्वीन्द्रिय का वर्णन पूर्व सूत्र में विवेचित होने से इस सूत्र में त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय का वर्णन किया जा रहा है :—

(त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय)

(vii) तेइंदिय-चउरिंदियाणं णाणत्तं [1]ठिईए [2]जाव णेगाइं च णं भागसहस्साइं अणाघाइज्जमाणाइं अणासाइज्जमाणाइं अफासाइज्जमाणाइं विद्धंसमागच्छंति[3] ।

(vii) त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय जीवों की स्थिति में नानात्व है । यावत् अनेक हजारों भाग विना सूंघे विना स्वाद लिए विना स्पर्श किये ही विध्वंस को प्राप्त हो जाते हैं ।

(viii) [4]एएसिं णं भंते ! पोग्गलाणं [5]अणाघाइज्जमाणाणं ३, पुच्छा ।

गोयमा ! सव्वत्थोवा [6]पोग्गला [7]अणाघाइज्जमाणा अणासाइज्जमाणा अणंतगुणा अफासाइज्जमाणा अणंतगुणा ।

(viii) हे भगवन् ! इन विना सूंघे, विना स्वाद लिए, विना स्पर्श किये हुए पुद्गलों में से कौन किससे अल्प, तुल्य, विशेषाधिक है ? प्रश्न किया ।

हे गौतम ! विना सूंघे हुए पुद्गल सर्व स्तोक है । अनास्वादित पुद्गल उनसे अनन्त-गुणा है । उनसे अस्पर्शित पुद्गल अनन्त-गुणा है ।

(ix) तेइन्दियाणं [8]घाणिंदिय-जिब्भिंदिय-[9]फासिंदियवेमायत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमंति ।

(ix) वे पुद्गल त्रीन्द्रिय जीव के घ्राणेन्द्रिय के रूप में, जिह्वेन्द्रिय के रूप में, स्पर्शनेन्द्रिय के रूप में विमात्रा से बार-बार परिणमित होते है ।

(x) चउरिंदियाणं [10]चक्खिंदिय-घाणिंदिय-जिब्भिंदिय [11]फासिंदियवेमायत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमंति ।

(x) चतुरिन्द्रिय द्वारा गृहीत आहार पुद्गल चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, जिह्वेन्द्रिय, स्पर्शनेन्द्रिय के रूप मे विमात्रा से बार-बार परिणमित होते है ।

---

१. ठिइए - पु० । ठिनीए - वे० म० ॥ २. जाव अणेगाइं - अमो० घा० ॥ ३. ०मावज्जति - लीं० ला २-४ । ०मावज्जंति - अमो० ॥ ४. एएसि - अमो० । एतेसिं - वे० म० ॥ ५. ०माणाइं - पु० । ०इज्जमाणाइ - घा० । अणग्घाइ० - ला २ । ०घाइज्ज० ३ पु० - लीं० ॥ ६. पुग्गला - घा० ॥ ७. अणग्घाइ० - ला २ ॥ ८. घाणेंदिय - अमो० । ९. ०वेमायाए - पु० घा० । वेमायत्ताए - अमो० ॥ १०. चक्खुंदिय - अमो० । ११. ०दिय त्ताए भुज्जो - पु० अमो० घा० वे० म० ॥

विवेचन :–

त्रीन्द्रिय जीवों की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त, उत्कृष्ट उनपचास अहोरात्र की है।

चतुरिन्द्रिय जीवों की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त, उत्कृष्ट छः मास की है।

त्रीन्द्रिय जीवों द्वारा गृहीत आहार घ्राण-रसना-स्पर्श इन्द्रिय में परिणत होता है।

चतुरिन्द्रिय द्वारा ग्रहीत आहार चक्षु, घ्राण, रसना व स्पर्शेन्द्रिय के रूप में परिणत होता है।

अवशेष वर्णन द्वीन्द्रिय जीवों की तरह जानना।

पंचेन्द्रिय तिर्यंच–मनुष्य वर्णन :—

एकेन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय तक विवेचन पूर्व सूत्रों में आ जाने से इस सूत्र में तिर्यंच पंचेन्द्रिय व मनुष्य का विवेचन दिया जा रहा है :—

(पंचेन्द्रिय तिर्यंच मनुष्य)

(५i) [1]पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं [2]ठिई [3]भणिऊणं [4]ऊसासो [5]वेमायाए। आहारो [6]अणाभोगनिव्वत्तिए [7]अणुसमयं अविरहिओ। आभोग-[8]निव्वत्तिओ जहण्णेणं[9] अंतोमुहुत्तस्स, उक्कोसेणं [10]छट्ठभत्तस्स। सेसं जहा चउरिंदियाणं [11]जाव^ [12]चलिअ कम्मं णिज्जरेंति।

(५ii) एवं मणुस्साणं वि। णवरं आभोगणिव्वत्तिए जहण्णेणं [13]अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं [14]अट्ठमभत्तस्स। सोइन्दिय ५ [15]वेमायत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमंति। [16]सेसं जहा चउरिंदियाणं तहेव [17]जाव [18]णिज्जरेंति।

(५i) पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनिक जीवों की स्थिति कहकर, उनका उच्छ्वास विमात्रा से कहा। अनाभोग-निर्वर्तित आहार अविरहित प्रति समय करते हैं। आभोगनिर्वर्तित आहार जघन्य अन्तर्मुहूर्त उत्कृष्ट षष्ठ भक्त-दो दिवस बाद होता है। शेष जिस प्रकार चतुरिन्द्रिय का वर्णन है यावत् चलित कर्म की निर्जरा करते हैं।

(५ii) इसी प्रकार मनुष्यों के विषय में भी जानना। विशेषता यह है कि आभोगनिर्वर्तित आहार जघन्य से अन्तर्मुहूर्त उत्कृष्ट अष्टम भक्त-तीन दिन बीतने पर होता है। श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, एवं स्पर्शनेन्द्रिय रूप में गृहीत आहार को विमात्रा से बार-बार परिणमित करते हैं। शेष चतुरिन्द्रिय की तरह यावत् चलित कर्म की निर्जरा करते हैं।

१. [illegible] - पा० ॥ २. ठिई - वै० म० ३. [illegible] - पा० । [illegible] - वै० म० ॥ ४. [illegible] - पा० । ५. वेमायाए - प्र० । ६. [illegible] - पा० वै० म० ॥ ७. अणुसमयं - प्र० ॥ ८. [illegible]

वानव्यन्तरादि वर्णन :—

तिर्यञ्चों, मनुष्यों के अतिरिक्त तिर्यक् लोक में व्यन्तरादि का निवास होने से उनके बाद व्यन्तर देवों का तथा तिर्यक् लोक से ऊपर ऊर्ध्व लोक मे अन्य देवों का निवास है, अतः उनका वर्णन इस सूत्र में दिया गया है :—

(वाणव्यन्तरादि-चर्चा)

(xiii) वाणमंतराणं ठिईए [1]णाणत्तं। अवसेसं [A]जहा नागकुमाराणं।

(xiv) एवं [2]जोइसियाण वि। णवरं उस्सासो जहण्णेणं [3]मुहुत्तपुहुत्तस्स उक्कोसेण वि [4]मुहुत्तपुहुत्तस्स। आहारो जहण्णेणं [5]दिवसपुहुत्तस्स उक्कोसेण वि [6]दिवसपुहुत्तस्स। सेसं [7]तहेव।

(xv) वेमाणियाणं [8]ठिई [9]भाणियव्वा [10]ओहिया। [11]उस्सासो जहण्णेणं [12]मुहुत्तपुहुत्तस्स, उक्कोसेणं तेत्तीसाए पक्खाणं। आहारो आभोगणिव्वत्तिओ जहण्णेणं [13]दिवसपुहुत्तस्स उक्कोसेणं तेत्तीसाए वाससहस्साणं। [14]सेसं [15]तहेव [B]जाव [17]णिज्जरेंति।

(xiii) वाणव्यन्तर देवों की स्थिति में नानात्व (भेद) है। अवशेष वर्णन जिस प्रकार नागकुमार देवताओं का किया गया है, उसी प्रकार जानना चाहिए।

(xiv) इसी प्रकार ज्योतिष्क देवों के विषय में भी जानना चाहिए।

विशेषता यह है कि उच्छ्वास जघन्य से मुहूर्त्त पृथक्त्व जानना चाहिये।

आहार जघन्य से दिवस पृथक्त्व से उत्कृष्ट से भी दिवस पृथक्त्व के बाद आहार करते हैं। शेष वर्णन पूर्व के समान जानना चाहिये।

(xv) वैमानिक देवों की औधिक स्थिति कहनी चाहिए उनका उच्छ्वास जघन्य से मुहूर्त्त-पृथक्त्व उत्कृष्ट से तेतीस पक्ष के बाद होता है। उन्हो का आभोगनिवर्तित आहार जघन्य से दिवस पृथक्त्व उत्कृष्ट से तेतीस हजार वर्ष के पश्चात् होता है।

अवशेष उसी प्रकार चलितादि से लेकर यावत् निर्जरा करते हैं, यहाँ तक पूर्ववत् जानना चाहिये।

---

१. णाणत्तं परिणमंति अव० - पु० ॥ २. ०याणं - अमो० घा० ॥ ३. ०पुहुत्तस्स - वे० म० । ०त्त पुहुत्त - ला २, ला २ प्रतौ 'पुहुत्त' स्थाने 'पहुत्त' इति । ०पुहुत्तेणं उक्को० - लों० ॥ ४. ०पुहुत्तस्स - वे० म० । ०त्तपहुत्त - ला २ ॥

- पु० । आमोगनिव्वत्तिओ-अमो० ॥ ९. मुहुत्तं उक्को० अमो० ॥ १०. छट्ठम०-अमो० घा० वे० म० । तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामाहारार्थं प्रति यदुक्तम् 'उक्कोसेण छट्ठ भत्तस्स' ति तद् देवकुरूत्तरकुरुतिर्यक्षु लभ्यते - अवृ० । अट्ठम० - पु० ॥ ११. जाव नो अचलियं कम्मं - घा० ॥ १२. चलियं - पु० अमो० वे० म० ॥ १३. ०मुहुत्तस्स - घा० ॥ १४. मनुष्यसूत्रे यदुक्तम् 'अष्टमभक्तस्य' इति तद् देवकुर्वादिमिथुनकनरान् आश्रित्य समवसेयम् - अवृ ॥ १५. वेमाणियाए - अमो० ॥ १६. सेसं तहेव जाव निज्जरेंति - दे० म० । सेसं तहेव जाव चलियं कम्मं णिज्जं० - अमो० ॥ १७. निज्जरणं - लों० ॥

A- 6(4) (VII—VIII—X) + 6(IV)
B- 6(4) (VII—VIII—X) + 6(IV)

विवेचन :–

वानव्यन्तर देवों की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष, उत्कृष्ट एक पल्योपम, ज्योतिष्क देवों की जघन्य स्थिति पल्योपम का अष्टम भाग, उत्कृष्ट एक लाख वर्ष अधिक एक पल्योपम की है।

२ से ९ तक संख्या पृथक्त्व कहलाती है। जघन्य मुहूर्त पृथक्त्व से तात्पर्य दो या तीन लेना चाहिये, उत्कृष्ट से आठ या नौ ग्रहण करना चाहिये।

सूत्र में वैमानिक देवों की स्थिति का सामान्यतः संकेत किया है। जघन्य से एक पल्योपम का कथन सौधर्म देवलोक की जघन्य स्थिति की अपेक्षा और तेंतीस सागरोपम का कथन अनुत्तर विमान देवलोक की अपेक्षा से किया गया है।

श्वासोच्छ्वास और आहार का जघन्य परिमाण जघन्य स्थिति की अपेक्षा, उत्कृष्ट परिमाण उत्कृष्ट स्थिति की अपेक्षा जानना चाहिये। अर्थात् वैमानिक देवलोक में जितने सागरोपम की स्थिति हो, उतने पक्ष बाद श्वासोच्छ्वास व उतने हजार वर्ष बाद आहार ग्रहण समझना चाहिये।

यथा— जस्स जाई सागराइं, तस्स ठिइ तत्तिएहिं पक्खेहिं ।
उस्सासो देवाणं, वाससहस्सेहिं आहारो ॥

आत्मा की आरम्भ विषयक चर्चा :—

अनन्तानन्त संसारिक आत्माएं चतुर्गति चौरासी लाख जीवयोनियों में परिभ्रमण कर रही हैं, जन्म-मरण को प्राप्त होती रहती हैं। अपने कृत कर्मानुसार सुख-दुःख की अनुभूति करती रहती हैं। जिनके विभाग का वर्णन पूर्व के सूत्र पाठों में चौबीस दण्डकों के रूप में कर चुके हैं। जिन दण्डकों में आत्माएं जन्म-मरण करती रहती हैं उन जन्म मरणों का कारण-मूल हेतु क्या है, जिसको जान कर आत्मा-मुक्ति की प्राप्ति कर सकती है। उसी का वर्णन इस सूत्र में किया गया है।

५. ०पुहुत्तस्स - जै० म० ॥ ६. ०पुहुत्तस्स - जै० म० । ०पुहुत्तस्स । [illegible] - हे० ॥ ७. [illegible] ॥
८. ठिती - जै० म० ॥ ९. आणमंति - पा० ॥ १०. ऊससंति - म० ॥ ११. ऊसासो - मु० जै० म० ॥ १२. ०पुहुत्तस्स - जै० म० ॥ १३. [illegible] - मु० पा० ॥ १४. [illegible] - अभी० ॥ १५. [illegible] आहारो य [illegible] [illegible] जहा [illegible] [illegible] । [illegible] आहारो य [illegible] [illegible] जहा [illegible] । [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] - अभी० ॥

A- सू. ६(3),1) १० ६ (3) (IV)
B- सू. ६(1) (IV) १० ६(1) (XIII)

7. आत्मा को आरम्भ विषयक चर्चा -

7.(i) जीवा णं भंते ! किं आयारंभा ? परारंभा ? [1]तदुभयारंभा ?[2]अणारंभा ?

गोयमा ! अत्थेगइया जीवा आयारंभा[3] वि, परारंभा वि तदुभयारंभा वि, णो अणारंभा । अत्थेगइया जीवा णो आयारंभा, णो परारंभा, णो तदुभयारंभा, अणारम्भा ।

(ii) से केणट्ठेणं भंते ! एवं [4]वुच्चइ-अत्थेगइया जीवा आयारम्भा [5]वि ? एवं [6]पडिउच्चारेयव्वं ।

गोयमा ! जीवा दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-संसार समावण्णगा य असंसार-समावण्णगा य । तत्थ णं जे ते [7]असंसार-समावण्णगा ते णं सिद्धा, सिद्धा णं [8]णो आयारम्भा, णो परारम्भा, णो तदुभयारम्भा, अणारम्भा ।

तत्थ णं जे ते संसारसमावण्णगा ते दुविहा पण्णत्ता । तं जहा- [1]संजया य, [2]असंजया य । तत्थ णं जे ते [3]संजया ते दुविहा [4]पण्णत्ता-पमत्त [5]संजया य [6]अप्पमत्त [7]संजया य । तत्थ णं जे ते

(i) हे भगवन् ! क्या जीव आत्मारंभी हैं ? परा-रंभी है ? तदुभयारंभी हैं या अनारंभी है ?

हे गौतम ! कितनेक जीव आत्मारंभी भी है, परारंभी भी हैं और तदुभयारंभी भी हैं। किन्तु अनारंभी नहो हैं।

कितनेक जीव आत्मारंभी नहीं है, परा-रंभी नही है, तदुभयारंभी नहीं है परन्तु अनारंभी हैं।

(ii) हे भगवन् ! किस कारण से इस प्रकार कहा जाता है कि कई जीव आत्मारंभी भी हैं। इस प्रकार यहाँ पर भी प्रश्नों का उच्चारण करना चाहिये।

हे गौतम ! जीव दो प्रकार के कहे गए हैं । संसार-समापन्नक और असंसार-समापन्नक, उनमें से जो असंसार समापन्नक है, वे सिद्ध हैं। सिद्ध न आत्मारंभी न परारंभी न तदुभयारंभी हैं । परन्तु अनारम्भी है। उनमें जो संसार समापन्नक है वे दो प्रकार के प्रज्ञप्त-कहे गये हैं ।यथा— संयत और असंयत ।

उनमें से जो संयत हैं, वे दो प्रकार के कथित हैं।

वह इस प्रकार है। प्रमत्त संयत और अप्रमत्त संयत । उनमें जो अप्रमत्त संयत हैं, वे न आत्मारम्भी है न परारम्भी है न तदु-

१. तदुभयारंभा - ला० १ ॥ २. अनारम्भा - पु० ॥ ३. आतारंभा - वे० ॥ ४. वुच्चति - वे० म० ॥ ५ परारंभा वि तदुभयारंभा वि णो अणारंभा । अत्थेगइया जीवा नो आयारंभा नो परारंभा नो तदुभयारंभा अणारंभा ? गोयमा ! जीवा - म० ॥ ६. ०च्चारेतव्वं - वे० म० ॥ ७. ०वण्णगाय - अमो० ८. णो आयारंभा जाव अणारंभा - पु० । णो आयारंभा जाव अणारंभा - अमो० घा० वे० म० । नो आयारंभा नो परारंभा - म० ॥

[८]अप्पमत्त [९]संजया ते णं णो आयारम्भा, णो [१०]परारम्भा, णो तदुभयारम्भा, अणारम्भा । तत्थ ण जे ते पमत्तसंजया ते [११]सुहं जोगं पडुच्च णो [१२]आयारम्भा, णो [१३]परारम्भा, णो तदुभयारम्भा, अणारम्भा । [१४]असुहं जोगं पडुच्च [१५]आयारम्भा वि, परारम्भा वि, तदुभयारम्भा वि, णो अणारम्भा। तत्थ णं जे ते [१६]असंजया ते [१७]अविरइं पडुच्च [१८]आयारम्भा वि, परारम्भा वि, तदुभयारम्भा वि, णो अणारम्भा ।

से [१९]तेणट्ठेणं [२०]गोयमा ! एवं वुच्चइ-अत्थेगइया जीवा ^जाव अणारम्भा ।

भयारम्भी हैं, परन्तु अनारम्भी हैं। उनमें जो प्रमत्त संयत हैं, वे शुभ योग की अपेक्षा न आत्मारम्भी न परारंभी और न तदुभयारंभी हैं परन्तु अनारम्भी हैं। अशुभ योग की अपेक्षा से आत्मारम्भी भी हैं, परारम्भी भी हैं तदुभयारम्भी भी हैं, अनारम्भी नहीं हैं।

जो असंयत हैं वे अविरति-असंयम की अपेक्षा आत्मारम्भी भी हैं, परारम्भी भी हैं और तदुभयारम्भी भी हैं, अनारम्भी नहीं हैं।

इस अपेक्षा से गौतम ! इस प्रकार कहा जाता है कि कई जीव आत्मारम्भी भी हैं यावत् अनारम्भी भी हैं।

विवेचन–

इस सूत्र में जीव की आरम्भ-अनारम्भ अवस्था को स्पष्ट किया गया है। आरम्भ शब्द के अनेक अर्थ निकलते हैं। प्रस्तुत सूत्र में आरम्भ शब्द का 'आस्रव द्वार में प्रवृत्ति करना' अर्थ अभिहित है।

१-३-५-७-९. संजया - जै० म० ॥ २. ०संजया असंजया - ला० । ३. असंजया - जै० म० ॥ ४. पमत्ता संजया - पु० प्रती० ला० न० जै० म० ॥ ६-८. आयारम्भा - प्रती० पा० ॥ १०. ०रंभा जाव अणारंभा - पु० प्रती० जै० म० ॥ ११. सुहं - पा० । सुभं - जै० म० ॥ १२. ०रंभा जाव अणारंभा - जै० म० ॥ १३. ०रंभा जाव अणारंभा - पु० प्रती० पा० ॥ १४. असुभं - पु० म० जै० म० । असुहं - पा० । असुभओ - ला० ॥ १५. ०रंभा जाव णो अणा - पु० प्रती० पा० जै० म० ॥ १६. असंजया - जै० म० । असंजया - ला० म० ॥ १७. अविरतिं - पु० प्रती० पा० म० जै० म० ॥ १८. रंभा वि जाव णो अणा - पु० प्रती० पा० जै० म० ॥ १९. तेणट्ठेणं - जै० म० । तेणट्ठेणं - ला० म० जै० ॥ २०. गोयमा - जै० म० ॥

A— आयारम्भा वि परारंभा वि तदुभयारंभा वि णो अणारंभा । अत्थेगइया जीवा णो आयारंभा णो परारंभा णो तदुभयारंभा ॥

यह आरम्भ मुख्यतया तीन प्रकार का बतलाया गया है—आत्मारम्भ, परारम्भ, तदुभयारम्भ।

आस्रव द्वार में आत्मा को प्रवृत्त करना या आत्मा द्वारा स्वयं आस्रव द्वार में प्रवृत्त होना आत्मारम्भ है। जो ऐसा करता है वह आत्मारम्भी है। दूसरे को आस्रव द्वार में प्रवृत्त करना या दूसरे द्वारा आरम्भ करवाना परारम्भ है और ऐसा करने वाला परारम्भी है। स्व और पर को आरम्भ में लगाना तदुभयारम्भ है। इस प्रकार करने वाला तदुभयारम्भी है।

जो आत्मारम्भ, परारम्भ, तदुभयारम्भ इन तीनों से रहित होता है वह अनारम्भी है।

प्राणियों के काषायिक योग स्पन्दन रूप आस्रव द्वारा कर्मों का आत्मा में आगमन होता है जिससे आत्मीय स्वरूप उसी तरह मलिन होता है जैसे मेघों के आवरण से सूर्य का प्रकाश विलुप्त होता है। जब आत्मा शुभ योग से सम्पन्न होती है तब वह आरम्भ जन्य पाप से लिप्त नहीं होती।

आस्रव द्वार की प्रवृत्ति से उत्पन्न जीवों की विविधता को शास्त्रकारों ने आत्मारम्भी, परारम्भी, तदुभयारम्भी के रूप में प्रतिपादित किया है।

जीवों को मुख्यतया दो विभागों में विभक्त किया जाता है—(१) संसार समापन्नक (२) असंसार समापन्नक।

असंसार समापन्नक—सिद्ध जीव अनारम्भी है।

संसार समापन्नक अर्थात् संसारी जीवों के दो भेद हैं :— (१) संयत और (२) असंयत।

संयत दो प्रकार के हैं— प्रमत्त संयत और अप्रमत्त संयत। अप्रमत्त संयत आत्माएँ आत्मारंभी परारम्भी, तदुभयारम्भी नहीं है किन्तु अनारम्भी है। प्रमत्त संयत शुभ योग को लेकर आत्मारम्भी, परारम्भी और तदुभयारम्भी नहीं है अनारम्भी है किन्तु अशुभ योग को लेकर आत्मारंभीं परारम्भी तदुभयारंभी हैं, अनारम्भी नहीं है।

प्रस्तुत मूल पाठ के शब्दों में जो शुभ योग का प्रयोग किया गया है उस योग शब्द का एक व्याख्याकार केवल मन, वचन, काय की शुभ प्रवृत्ति ही ग्रहण करते हैं और इसी आधार पर मिथ्यात्वी की क्रिया को भी भगवान् की आज्ञा में प्रतिपादित करते हैं। लेकिन ऐसा मन-वचन-काय का शुभ योग तो सभी गुण स्थानों में मिल सकता है और इस शुभ योग की अपेक्षा से यदि निरारम्भी माना जाय तो मिथ्यादृष्टि में भी ऐसा शुभ योग मिल सकता है। तब वे भी निरारंभी ही होंगे। यदि यह कहा जाय—मिथ्यात्व होने से मिथ्यादृष्टि निरारंभी नहीं है. किन्तु अविरत सम्यक् दृष्टि को तो मिथ्यात्व नहीं होता, तब उसको अनारम्भी माना जाय ? किन्तु सम्यक्त्वी को भी शुभ योग की अपेक्षा निरारम्भी नहीं कहा जा सकता।

[8]अप्पमत्त [9]संजया ते णं णो आयारम्भा, णो [10]परारम्भा, णो तदुभयारम्भा, अणारम्भा। तत्थ णं जे ते पमत्तसंजया ते [11]सुहं जोगं पडुच्च णो [12]आयारम्भा, णो [13]परारम्भा, णो तदुभयारम्भा, अणारम्भा। [14]असुहं जोगं पडुच्च [15]आयारम्भा वि, परारम्भा वि, तदुभयारम्भा वि, णो अणारम्भा। तत्थ णं जे ते [16]असंजया ते [17]अविरइं पडुच्च [18]आयारम्भा वि, परारम्भा वि, तदुभयारम्भा वि, णो अणारम्भा।

से [19]तेणट्ठेणं [20]गोयमा ! एवं वुच्चइ-अत्थेगइया जीवा [A]जाव अणारम्भा।

भयारम्भी हैं, परन्तु अनारम्भी हैं। उनमें जो प्रमत्त संयत हैं, वे शुभ योग की अपेक्षा न आत्मारम्भी न परारंभी और न तदुभयारंभी है परन्तु अनारम्भी हैं। अशुभ योग की अपेक्षा से आत्मारम्भी भी हैं, परारम्भी भी है तदुभयारम्भी भी है, अनारम्भी नहीं है।

जो असंयत हैं वे अविरत-असंयत की अपेक्षा आत्मारम्भी भी हैं, परारम्भी भी हैं और तदुभयारम्भी भी हैं, अनारम्भी नहीं हैं।

इस अपेक्षा से गौतम ! इस प्रकार कहा जाता है कि कई जीव आत्मारम्भी भी हैं यावत् अनारम्भी भी हैं।

विवेचन–

इस सूत्र में जीव की आरम्भ–अनारम्भ अवस्था को स्पष्ट किया गया है। आरम्भ शब्द के अनेक अर्थ निकलते हैं। प्रस्तुत सूत्र में आरम्भ शब्द का 'आस्रव द्वार में प्रवृत्ति करना अर्थ सन्निहित है।

१-३-५-७-९. संजता - वे० म० ॥ १. ०जया असंजया - ला० ॥ २. असंजता - वे० म० ॥ ४. पमत्ता संजया प० पु० अमो० पा० न० वे० म० ॥ ६-८. अपमत - अमो० पा० ॥ १०. ०रंभा जाव अणारंभा - पु० अमो० पा० वे० म० ॥ ११. सुइ - पा० । सुभं - वे० म० ॥ १२. ०रंभा जाव अणारंभा - वे० म० ॥ १३. ०रंभा जाव अणारंभा - पु० अमो० पा० ॥ १४. असुभं - पु० न० वे० म० । असुह - पा० । असुभओ - ला० ॥ १५. रंभा वि जाव नो अणा - पु० अमो० पा० वे० म० ॥ १६. असंजता - वे० म० । अस्संजया - ता० ब० ॥ १७. अविरतिं - पु० अमो० पा० न० वे० म० ॥ १८. रंभा वि जाव नो अणा - पु० अमो० पा० वे० म० ॥ १९. एणट्ठेणं - ब० क० । एतेणट्ठेणं - ता० ब० मं० ॥ २०. गोतमा - वे० म० ॥

A– आयारंभा वि परारंभा वि तदुभयारंभा वि नो अणारंभा। अत्थेगइया जीवा नो आयारंभा नो परारंभा नो तदुभयारंभा ॥

यह आरम्भ मुख्यतया तीन प्रकार का बतलाया गया है—आत्मारम्भ, परारम्भ, तदुभयारम्भ।

आस्रव द्वार में आत्मा को प्रवृत्त करना या आत्मा द्वारा स्वयं आस्रव द्वार में प्रवृत्त होना आत्मारम्भ है। जो ऐसा करता है वह आत्मारम्भी है। दूसरे को आस्रव द्वार में प्रवृत्त करना या दूसरे द्वारा आरम्भ करवाना परारम्भ है और ऐसा करने वाला परारम्भी है। स्व और पर को आरम्भ में लगाना तदुभयारम्भ है। इस प्रकार करने वाला तदुभयारम्भी है।

जो आत्मारम्भ, परारम्भ, तदुभयारम्भ इन तीनों से रहित होता है वह अनारम्भी है।

प्राणियों के कापायिक योग स्पन्दन रूप आस्रव द्वारा कर्मों का आत्मा में आगमन होता है जिससे आत्मीय स्वरूप उसी तरह मलिन होता है जैसे मेघों के आवरण से सूर्य का प्रकाश विलुप्त होता है। जब आत्मा शुभ योग से सम्पन्न होती है तब वह आरम्भ जन्य पाप से लिप्त नहीं होती।

आस्रव द्वार की प्रवृत्ति से उत्पन्न जीवों की विविधता को शास्त्रकारों ने आत्मारम्भी, परारम्भी, तदुभयारम्भी के रूप में प्रतिपादित किया है।

जीवों को मुख्यतया दो विभागों में विभक्त किया जाता है—(१) संसार समापन्नक (२) असंसार समापन्नक।

असंसार समापन्नक—सिद्ध जीव अनारम्भी है।

संसार समापन्नक अर्थात् ससारी जीवों के दो भेद हैं :– (१) संयत और (२) असंयत।

संयत दो प्रकार के हैं— प्रमत्त संयत और अप्रमत्त संयत। अप्रमत्त संयत आत्माएँ आत्मारंभी परारम्भी, तदुभयारम्भी नहीं है किन्तु अनारम्भी है। प्रमत्त संयत शुभ योग को लेकर आत्मारम्भी, परारम्भी और तदुभयारम्भी नहीं है अनारम्भी है किन्तु अशुभ योग को लेकर आत्मारंभीं परारम्भी तदुभयारंभी है, अनारम्भी नही है।

प्रस्तुत मूल पाठ के शब्दों में जो शुभ योग का प्रयोग किया गया है उस योग शब्द का एक व्याख्याकार केवल मन, वचन, काय की शुभ प्रवृत्ति ही ग्रहण करते हैं और इसी आधार पर मिथ्यात्वी की क्रिया को भी भगवान् की आज्ञा में प्रतिपादित करते हैं। लेकिन ऐसा मन–वचन–काय का शुभ योग तो सभी गुण स्थानों में मिल सकता है और इस शुभ योग की अपेक्षा से यदि निरारम्भी माना जाय तो मिथ्यादृष्टि में भी ऐसा शुभ योग मिल सकता है। तब वे भी निरारंभी ही होंगे। यदि यह कहा जाय—मिथ्यात्व होने से मिथ्यादृष्टि निरारंभी नहीं है, किन्तु अविरत सम्यक् दृष्टि को तो मिथ्यात्व नही होता, तब उसको अनारम्भी माना जाय ? किन्तु सम्यक्त्वी को भी शुभ योग की अपेक्षा निरारम्भी नही कहा जा सकता।

अतएव 'सुहं जोगंपडुच्च' के शुभ योग से केवल मन–वचन–काय के शुभ योग से ही तात्पर्य नही है—उपयोग पूर्वक संयमीय आराधना युक्त किये गये कार्य की अपेक्षा शुभ योग वाले प्रमत्त साधु को निरारम्भी बतलाया है। अतः उपयोग पूर्वक योग की प्रवृत्ति को यहाँ शुभ योग कहा गया है।

शरीर के योग से तो तेरहवें गुण स्थान पर्यन्त जीवों द्वारा हिंसा हो सकती है, किन्तु अप्रमत्त उपयोग युक्त कार्य से होने वाली हिंसा को हिंसा नहीं मानी जाती है। प्रतिलेखन करते समय हलन-चलन आदि प्रक्रिया होती है, उसमें जीव घात होता है किन्तु वहाँ उपयोग युक्त शुभ योग की प्रवृत्ति होने से वह जीवघात हिंसा की कोटि में नहीं आता है। ऐसा साधु उपयोग युक्त शुभ योगी होने से अनारम्भी है। इसके विपरीत हलन-चलन आदि क्रिया न करने पर भी अगर अशुभ और उपयोग शून्य स्थिति में है, तो वह आरम्भी ही माना जाएगा।

हिंसा का लक्षण बतलाते हुए वाचक उमास्वाति ने कहा है—"प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा।" (तत्त्वार्थ सूत्र)

प्रमत्त योग से—जीवों का घात करना हिंसा है। प्रमत्त योग से होने वाली योगों की अशुभ प्रवृति से किये जाने वाले जीव घात को हिंसा माना गया है। 'प्राण व्यपरोपण' मात्र को हिंसा नहीं माना है, क्योंकि शरीर के द्वारा हलन-चलन मात्र से सूक्ष्म जीवों, प्राणों का व्यपरोपण हो जाता है, किन्तु मुनि जब बोलते हैं तो भाषा समिति युक्त और चलते हैं तो ईर्यासमिति युक्त चलते हैं। सभी कार्य उपयोग युक्त विवेक से करते हैं, अतः वे पूर्ण अहिंसक हैं। परन्तु जो साधु होने पर भी यतना से क्रिया नही करता है, आरम्भ का त्याग कर दिया है, मगर सावधान और जागरूक नहीं है, वह आत्मारंभी परारंभी, उभयारंभी है किन्तु निरारम्भी नहीं है।

प्रस्तुत मूल पाठ में प्रमत्त साधु को अशुभ योग की अपेक्षा आत्मारम्भी, परारम्भी, तदुभयारंभी बतलाया है। प्रमत्त साधु की आत्मा को अधिकरण बतलाया है। स्थानाङ्ग सूत्र के दसवें स्थान में दुष्प्रयुक्त मन–वचन–काय को भावशस्त्र कहा है। ऐसी स्थिति में जो पक्ष श्रावक को दान देना एकान्त पाप में मानते हैं, उनके अनुसार ऐसे प्रमत्त साधु को भी आहारादि का दान देना एकान्त पाप में होना चाहिये। इस पर यदि यह कहा जाय कि "प्रमादी साधु को उसके प्रमाद की वृद्धि के लिये नहीं, प्रत्युत उसके ज्ञान–दर्शन–चारित्र की उन्नति के लिए दान देते है। इसलिये उसे दान देना शस्त्र को तीक्ष्ण करना नहीं है।" जिस प्रकार प्रमत्त साधु के लिए यह कहा जाता है, उसी प्रकार श्रावक के लिए भी समझना चाहिये। श्रावकों को भी उनके ज्ञान–दर्शन–चारित्र बारह व्रतों की वृद्धि के लिए दान दिया जाता है, उसके दोषों की अभिवृद्धि के लिए दान नहीं दिया जाता है।

अतः उपर्युक्त पाठ से श्रावक को दान देने में एकान्त पाप मानने वालों का निरसन हो जाता है।

संयत विषयक आत्मारंभ आदि की चर्चा के अनन्तर सूत्र में असंयत के आत्मारंभादि सम्बन्धी चर्चा की गई है । सूत्र में असंयत को "अविरइं पडुच्च" अविरति की अपेक्षा से आत्मारंभी, परारंभी और तदुभयारंभी बतलाया है । असंयत में शुभयोग की प्रवृत्ति तो आ सकती है पर त्याग अवस्था में होने वाली सावधानी नहीं आ सकती, क्योंकि अविरति जीव अविरति की अवस्था में रहता हुआ अप्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क आदि के उदय से किसी भी प्रकार का प्रत्याख्यान करने की स्थिति में नहो रहता, ऐसी स्थिति में जब व्रत प्रत्याख्यान ही नही कर सकता है तो व्रत प्रत्याख्यान के अनुपालन में रखी जानेवाली सावधानी का तो उसमें सद्भाव हो ही नहीं सकता । सूत्रकार ने अविरति – विरति (त्याग - प्रत्याख्यान) न होने से असंयत को आत्मारभी आदि बतलाया है ।

इस प्रकार संसार के समस्त प्राणियों को यथायोग्य रुप से आरंभी और अनारंभी के रुप में विभक्त कर दिया गया है । गौतमस्वामी की जिज्ञासाओं का समाधान देकर उसके निष्कर्ष रुप में महाप्रभु महावीर ने फरमाया – हे गौतम ! इस प्रकार से जीव आत्मारंभी, परारंभी और तदुभयारंभी भी होते हैं और अनारंभी भी होते है । आरंभ एव अनारभ का यथार्थ दिग्दर्शन कराकर भव्य आत्माओं को यह स्पष्ट रुप से संकेत दिया है कि हे भव्यात्माओं ! आत्मारंभादि जो भव भवान्तर को बढ़ाने वाले कृत्य हैं उन कृत्यों का परित्याग कर अनारंभीय कृत्यों को स्वीकार करना अभीष्ट रहता है । जब तक सावद्य हिंसाकारी प्रवृत्ति चलती रहेगी, जब तक अनारंभी की स्थिति नहीं बनेगी, तब तक आत्मा कर्मों से अपुनर्भाव के साथ मुक्त नहीं हो सकेगी । कर्मो की पूर्ण मुक्ति के बिना अपवर्ग–मोक्ष की अवस्था प्राप्त नही हो सकती । भव्यात्माएं, उस अपवर्गिक आनंद को प्राप्त करने के लिये आरंभादि से निवृत होकर अनारंभ में प्रवृत्ति करे ।

महाप्रभु और गौतमस्वामी के आरंभ अनारंभ सम्बन्धी प्रश्नोत्तर का यह फलितार्थ परिज्ञात होता है ।

8 चौबीस दण्डकों में आरम्भ चर्चा

इस प्रकार सामान्य से आत्मारंभ, परारंभ तदुभयारंभ, अनारंभ की चर्चा के पश्चात् अब चौबीस दण्डकों मे उनका विचार करते है —

8 (i) नेरइया णं भंते ! किं आयारंभा ? परारम्भा ? तदुभयारंभा ? अणारंभा ?

१ गोयमा ! नेरइया आयारंभा वि जाव^A णो २ अणारंभा। से कणट्ठे णं ?

गोयमा ! ३ अविरइं पडुच्च से तेणट्ठे णं, जाव B णो ४ अणारंभा।

(ii) ५ एवंH ६ असुरकुमारा वि। जावC पंचिंदियतिरिक्खजोणिया।

(iii) मणुस्सा ७ जहा जीवा। णवरं ८ सिद्धविरहिया ९ भाणियव्वा।

(ix) वाणमंतरा जावD वेमाणिया १० जहा ११ णेरइया।

8. (i) भगवन् ! नैरयिक जीव क्या आत्मारंभी है ? परारंभी है ? तदुभयारंभी है ? या अनारम्भी हैं ?

गौतम ! नैरयिक जीव आत्मारम्भी हैं, परारंभी है, तदुभयारम्भी है किन्तु अनारम्भी नही है।

भगवन् ! आप ऐसा किस कारण से कहते है ?

गौतम ! अविरति की अपेक्षा, इस कारण, वे आत्मारम्भी आदि तो है किन्तु अनारम्भी नहीं है।

(ii) इसी प्रकार असुरकुमार देवों के विषय में भी जानना चाहिये। यावत् पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च जीवों तक जानना चाहिए।

(iii) मनुष्यों के लिए पूर्व कथित सामान्य जीव सूत्र के अनुसार कहना चाहिए। विशेषता यह है कि इसमें सिद्ध जीवों की गणना नहीं करनी चाहिए।

(iv) वाण-व्यन्तरों से लेकर वैमानिक देव पर्यन्त वर्णन नैरयिकों की तरह करना चाहिए।

सलेश्य जीवों में आरम्भ चर्चा–

9. (i) १२ सलेस्सा १३ जहाJ ओहियाE।

(ii) १४ कण्हलेसस्स, १५ णीललेसस्स, १६ काउलेसस्स जहा ओहिया जीवाF। णवरं १७ पमत्त-अपमत्ता १८ ण भाणियव्वा। १९ तेउलेसस्स, २० पम्हलेसस्स, २१ सुक्कलेसस्स २२ जहा ओहिया जीवाK। णवरं सिद्धा णं २३ भाणियव्वा।

9. (i) सलेश्य जीवों के विषय में औधिक-सामान्य जीवों के कथन की तरह जानना।

(ii) कृष्ण-नील और कापोत लेश्या वालों के लिये भी सामान्य जीव सूत्र की तरह कहना चाहिए। किन्तु विशेष यह है कि प्रमत्त अप्रमत्त का कथन नहीं करना चाहिए। तेजोलेश्या, पद्मलेश्या, शुक्ल-लेश्या वाले जीवों के लिये औधिक जीव सूत्र की तरह कथन करना चाहिए। विशेषता यह है कि सिद्धो जीव नहीं कहना चाहिए।

---

१. गोतमा - वे० ।। २. ०रंभा से केणट्ठेणं भंते एवं वुच्चइ। गोयमा - पु० समो० पा०। ०रंभा। से केण० - प०। ०रंभा। से केणं० - वे० म०। रंभा वि। सा १ ।। ३. अविरतिं - पु० समो० पा० न० वे० म० ।। ४ ०रंभा एवं

विवेचन :-

नरक के जीव, असुर कुमार से स्तनित कुमार तक के सभी देव, पृथ्वी पानी, अग्नि, वायु, वनस्पतिकाय के जीव द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय प्राणियों को आत्मारंभी, परारंभी, तदुभयारंभी के रूप में विवेचित किया है, क्योंकि ये सभी जीव अव्रती हैं। वानव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक भी अव्रती होने से अनारंभी नहीं है।

तिर्यच पंचेन्द्रियों में यद्यपि श्रावक भी होते हैं तथापि परिपूर्ण विरत न होने से अनारम्भी नहीं हैं।

टीकाकारों ने लेश्या का स्वरूप बतलाते हुए कहा है—

कृष्णादि-द्रव्य-साचिव्यात् परिणामो य आत्मनः ।
स्फटिकस्येव तत्राऽयं, लेश्या शब्दः प्रयुज्यते ॥

कृष्णादि द्रव्यों की सन्निकटता से आत्मा में जिन परिणामों की उद्भूति होती है, उसे लेश्या कहते हैं। यथा– स्फटिक के समीप जिस रंग की वस्तु रखी जाती है, स्फटिक वैसा ही रंग वाला दिखाई देता है। इसी प्रकार आत्मा की स्थिति इन लेश्याओं से बनती है।

जाव - अमो० न० ॥ ५. एवं जाव असुर० - पु० बे० म०। एव जाव पंचिंदियतिरिक्ख जोणिया। मणुस्सा - ला १-२-३ ॥ ६. असुरकुमाराण वि - पु० ॥ ७. जधा - वे० ॥ ८. विरहिता - अमो० बे० म० ॥ ९. भाणेयव्वा - अमो० ॥ १०. तहा। नेर० - न०। जधा - वे० म० ॥ ११. नेरतिया - वे० म० ॥ १२. सलेसा - वे० म० ॥ १३. जधा - वे० म० ॥ १४. किण्ह० - अ० अमो०। किण्हलेस - वे० म० ॥ १५. नीललेस - वे० म० ॥ १६. काउलेसा - वे० म० ॥ १७. पमत्तापमत्ता - न० ॥ १८. अप्पमत्ता - पु० घा० वे० म० ॥ १९. तेउलेसा - वे० म० ॥ २०. पम्हलेसा - वे० म० ॥ २१. सुक्कलेसा - वे० म० ॥ २२. जधा - वे० ॥ २३. भाणितव्वा - वे० ॥

A– परारंभा वि तदुभयारंभा वि ॥

B - गोयमा ! एवं वुच्चइ – नेरइया आयारंभा वि परारंभा वि तदुभयारंभा वि ॥

C– अत्र पृथ्वीकायिक-अप्कायिक-अग्निकायिक-वायुकायिक-वनस्पतिकायिकानाम् पञ्चानाम् स्थावराणा तथा द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियाणां त्रसानां सम्बन्धेऽपि पूर्ववत् प्रश्नप्रतिवचने ज्ञेये ॥

D– जोइसिया ॥

E– सूत्र 7 (i) से सूत्र 7 (ii) तक ॥

F– सूत्र 7 (i) से सूत्र 7 (ii) तक ॥

G– H– 6(2) (i) to 6(2)(vi)

I– सूत्र 8 (i)

J– सूत्र 7 (i) to 7 (ii)

K– सूत्र 7 (i) to 7 (ii)

कृष्ण–नील–कपोत लेश्या में औधिक के समान जानना चाहिये। इनमें प्रमत्त-अप्रमत्त, संयत-असंयत का भेद नहीं है।

तेजोलेश्या, पद्मलेश्या, शुक्ललेश्या में भी औधिक जीव के समान समझना चाहिये। इन लेश्याओं में संयत-असंयत, प्रमादी-अप्रमादी का भेद भी है।

प्रमादी में शुभ तीन लेश्या वाले उपयोग सहित हैं तो अनारंभी और उपयोग रहित हैं तो आरंभादि युक्त समझना चाहिये।

लेश्या में असंसार समापन्नक सिद्धों का कथन नहीं करना चाहिये क्योंकि सिद्ध अलेश्य हैं।

जीव का घात न करना ही आरम्भ का त्याग नहीं है। जीव का घात न करना ही अनारम्भ माना जाय तो पृथ्वीकाय के जीव भी अनारम्भी कहे जायेंगे, क्योंकि वे तो स्थिर पड़े रहते हैं। प्रायः किसी जीव का घात नहीं करते। इतने मात्र से पृथ्वीकाय के जीवों को अनारम्भी नहीं कहा जा सकता। अनारम्भी होने के लिये जीवों का घात न करने के साथ ही रत्नत्रय (ज्ञान-दर्शन-चारित्र) का सद्भाव भी आवश्यक है, जिसमें रत्नत्रय की विद्यमानता है, वही निरारंभी है।

उपर्युक्त मूल पाठ में आगत "पमत्तापमत्ता न भाणियव्वा" पद विशेष चर्चनीय है। क्योंकि इस पद को लेकर लेश्याओं के सम्बन्ध में कुछ मत भिन्नता प्रचलित है।

मूल पाठ में "पमत्तापमत्ता ण भाणियव्वा" का जो प्रयोग किया गया है, उसका टीकानुसार यह अर्थ होता है—

कृष्ण–नील–कापोत इन तीन अप्रशस्त भाव लेश्याओं में प्रमादी-अप्रमादी, दोनों ही प्रकार के साधुत्व का अभाव है। इन अप्रशस्त लेश्याओं में साधुत्व से भिन्न जीव होते हैं। अतः इन अप्रशस्त भाव लेश्याओं में प्रमादी साधुत्व का सद्भाव बताना आगम से सर्वथा विपरीत कथन है।

अगर आगमकार को अप्रशस्त भाव लेश्यात्रय में अप्रमत्त संयत का ही निषेध करना अभीष्ट होता तो वे "पमत्तापमत्ता ण भाणियव्वा" न कहकर "अप्पमत्ता न भाणियव्वा" इतना ही कह देते, जिससे कृष्णादि भाव लेश्या त्रय में प्रमादी का होना और अप्रमादी का नहीं होना स्पष्ट हो जाता।

परन्तु आगमकार को यह अभीष्ट नहीं था, इसीलिए "अप्पमत्ता न भाणियव्वा" ऐसा न कहकर स्पष्ट रूप से "पमत्तापमत्ता न भाणियव्वा" कहा है। जिससे सुस्पष्ट है कि प्रमत्त साधु अप्रमत्त साधु दोनों में ही कृष्णादि भाव लेश्याएँ नहीं होती। टीकाकारों का भी यही अभिमत है—

'कण्हलेसस्से' त्यादि कृष्णलेश्यस्य, नीललेश्यस्य, कापोतलेश्यस्य च जीवराशेर्दण्डको यथा औधिक जीवदण्डकस्तथाऽध्येतव्य :— प्रमत्ताप्रमत्तविशेषणवर्जः, कृष्णादिषु हि अप्रशस्तभावलेश्यासु संयतत्वं नास्ति ।'

टब्बाकार ने भी इसी अर्थ को स्वीकार किया है। यथा 'एतलो विशेष प्रमत्त-अप्रमत्त वर्जित कहिवा। कृष्णादि तीन अप्रशस्त भाव लेश्या विषे संयतपणो नथी।'

प्रस्तुत टब्बा अर्थ भी यह स्पष्ट रूप से बता रहा है कि—कृष्णादि तीन अप्रशस्त भाव लेश्याओं में साधुत्व नही होता है। प्रमत्त-अप्रमत्त दोनों ही अवस्थाओं में रहने वाले साधुओं का निषेध किया गया है।

शतक १ उद्देशक दो में उक्त अप्रशस्त भावलेश्यात्रय में सराग—वीतराग, प्रमत्त—अप्रमत्त इन चारों ही प्रकार के संयतों का निषेध किया गया है। यथा—

सलेस्साणं भंते नेरइया सव्वे समाहारगा ? ओहियाणं सलेस्साणं सुक्कलेसाणं एएसि णं तिन्नं तिण्हं एक्को गमो। णवरं वेदणाए माया-मिच्छादिट्ठी उववन्नगा य अमायिसम्मदिट्ठी उववन्नगा य भाणियव्वा। मणुसा किरियासु सराग-वीयराग-पमत्तापमत्ता न भाणियव्वा। काउलेस्साणं वि एसेव गमो. णवर नेरइए जहा ओहिए दण्डए तहा भाणियव्वा। तेउलेस्सा पउमलेस्सा जस्स अत्थि जहा ओहिओ दण्डओ तहा भाणियव्वा। णवरं मणुस्सा सराग वीयराग न भाणियव्वा।

प्रस्तुत सूत्र में भी स्पष्टतया प्रतिपादित है कि कृष्णादि अप्रशस्त भाव लेश्याओं में सराग—वीतराग प्रमादी—अप्रमादी, चारों प्रकार का साधुत्व नहीं पाया जाता।

इस प्रकार मूल पाठ, टीका, टब्बा आदि से स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि कृष्णादि अप्रशस्त भाव लेश्याओं में साधुत्व नही होता है तथापि कृष्णादि अप्रशस्त भाव लेश्याओ में साधुत्व होने की प्ररूपणा करना नितान्त असत्य एवं मिथ्या हठाग्रह ही है।

यदि कोई प्रस्तुत पाठ का अर्थ यह निकाले कि प्रमादी और सरागी में कृष्णादि भाव लेश्याएँ पाई जाती है और अप्रमादी एवं वीतरागी संयत में नहीं, तो यह कतई उपयुक्त नही है, क्योंकि इसी पाठ में आगे चल कर यह बतलाया है—तेज और पद्म लेश्या में सरागी और वीतरागी दोनों ही प्रकार के साधु नही होते, अर्थात सरागी और वीतरागी दोनो ही प्रकार के साधुओं में तेज और पद्म लेश्या नहीं पाई जाती है। इससे यह तात्पर्य नही है कि सरागी में तेज पद्म लेश्या पाई जाती है और वीतरागी में नही, क्योंकि अष्टम—नवम दशम गुण स्थानवर्ती जीव सरागी ही होते हैं, वीतरागी नहीं। फिर भी उनमें तेज—पद्म लेश्या नही केवल शुक्ल लेश्या ही पाई जाती है। अस्तु जैसे सरागी—

वीतरागी दोनों ही प्रकार के साधुओं में तेज और पद्म लेश्या का निषेध किया है, उसी प्रकार सरागी-वीतरागी प्रमादी-अप्रमादी चारों ही प्रकार के साधुओं में कृष्णादि अप्रशस्त भाव लेश्याओं का निषेध किया गया है।

यदि कोई मिथ्या दुराग्रह से सरागी और प्रमादी में अप्रशस्त भाव कृष्णादि लेश्या के सद्भाव की प्ररूपणा करता है तो उसे सरागी में तेज-पद्म लेश्या भी माननी चाहिये। फिर क्यों नहीं वे सरागी में तेज-पद्म लेश्या स्वीकार करते हैं ? यदि सरागी से तेज-पद्म लेश्या स्वीकार करते हैं तो उन्हें अष्टम-नवम-दशम गुण स्थानवर्ती सरागी आत्माओं में भी तेज-पद्म लेश्या स्वीकार करनी होगी। किन्तु आगम विरुद्ध मान्यता है। आगम में अष्टम-नवम-दशम गुणस्थान में केवल एक शुक्ल लेश्या का ही कथन किया है। सरागी-वीतरागी में तेज और पद्म लेश्या का निषेध किया है, उसी प्रकार सरागी-वीतरागी-प्रमादी-अप्रमादी चारों ही प्रकार के साधुओं में अप्रशस्त कृष्णादि भाव लेश्याओं का निषेध भी समझना चाहिए।

यदि कोई यह प्रश्न उपस्थित करे कि तेज-पद्म लेश्या में सरागी-वीतरागी दोनों ही प्रकार के साधुओं का अभाव प्रतिपादित किया है, अतः संयमी पुरुषों में उक्त दोनों लेश्याएं नहीं होनी चाहिये। यह कथन युक्ति संगत नहीं है, क्योंकि इस पाठ में चार प्रकार के संयति बताये हैं-प्रमादी-अप्रमादी, सरागी और वीतरागी। षष्ठ गुणस्थानवर्ती साधु प्रमादी, सप्तम गुणस्थानवर्ती साधु अप्रमादी अष्टम नवम दशम गुणस्थानवर्ती साधु सरागी और ग्यारहवें आदि गुणस्थानवर्ती साधु वीतरागी माने गए हैं। अतः षष्ठ एवं सप्तम गुण स्थानवर्ती संयतियों में तेज पद्म लेश्या का निषेध नहीं किया है, क्योंकि निषेध सरागी का किया है, जो कि अष्टम, नवम, दशम गुणस्थानवर्ती हैं।

अतः जो व्यक्ति कृष्ण-नील लेश्या वाले (भगवती के) पाठ में कृष्णादि तीन भाव लेश्याओं में सरागी-वीतरागी, प्रमादी-अप्रमादी के होने का निषेध मानते हैं, उनके मत में तेज-पद्म लेश्या में सरागी (आठवें, नौवें व दसवें गुण स्थानवर्ती) वीतरागी के भेद का ही निषेध मानना चाहिये। परन्तु साधु मात्र में तेज-पद्म लेश्या होने का निषेध नहीं है, किन्तु जो कृष्णादि तीन अप्रशस्त भाव लेश्याओं में प्रमादी और सरागी का सद्भाव मानते हैं, तो उसी तरह तेज-पद्म लेश्या में अष्टमादि गुण स्थानवर्ती सरागी साधुओं को क्यों नहीं मानते ? अतः जैसे अष्टमादि गुण स्थानवर्ती साधुओं में तेज-पद्म लेश्या नहीं होती, उसी प्रकार चारों प्रकार के संयति पुरुषों में भी कृष्णादि तीन अप्रशस्त भाव लेश्याओं का सद्भाव नहीं मानना चाहिये।

इस पर भी कोई यह आक्षेप करे कि यदि आगमकार को कृष्णादि तीन अप्रशस्त भाव लेश्याओं में संयति मात्र का ही निषेध करना था, तो पदलाघवात् 'संजया न भाणियव्वा' इतना ही क्यों नहीं कह दिया। इतना कहने से संयति मात्र का निषेध भी हो जाता और पदलाघव भी।

वस्तुतः आगमकार वैयाकरणों की तरह पदलाघव के पक्षपाती नहीं रहे है। आगम की वर्णन शैली सर्वजन सुखावबोधाय होने से पदलाघव करके संकोच करने की नहीं रही है। यथा— जहां पाणानुकंपाए से ही काम चल जाता है वहां जीवाणुकंपाए, भूयाणुकंपाए, सत्तानुकंपाए इत्यादि शब्दों को भी संयोजित किया है, जबकि इन सबका मौलिक अर्थ एक ही है।

इसी प्रकार प्रस्तुत पाठ में भी 'संजया न भाणियव्वा' ऐसा न कहकर प्रमादी-अप्रमादी-सरागी-वीतरागी चारों का उल्लेख कर उनमें कृष्णादि अप्रशस्त भाव लेश्याओं का निषेध किया है।

यह आगमकारों की अपनी वर्णन शैली है जिससे यह समझना अज्ञान मात्र है कि यहां संयति के भेदों का उल्लेख किया है, संयति मात्र का नहीं।

— प्रज्ञापना सूत्र से स्पष्टता —

प्रज्ञापना सूत्र का नाम लेकर कृष्णादि अप्रशस्त भाव लेश्याओं में साधुत्व का सद्भाव मानना भी नितान्त भ्रामक और असत्य है।

प्रथम तो भगवती सूत्र अंग शास्त्र है और प्रज्ञापना सूत्र उपांग शास्त्र है। इसलिए प्रज्ञापना सूत्र में भगवती सूत्र में कथित कृष्णादि अप्रशस्त भाव लेश्याओं में साधुत्व का जो निषेध किया है, उससे विपरीत कथन नहीं हो सकता, क्योंकि अंगों में प्ररूपित सिद्धान्त का उपांग समर्थन करते हैं– खण्डन नहीं।

यहां प्रज्ञापना सूत्र के पाठ से भी स्पष्टीकरण किया जा रहा है :—

कण्हलेस्साणं भंते ! नेरइया सव्वे समाहारा, समसरीरा सव्वे व पुच्छा ?

गोयमा ! जहा ओहिया, नवरं नेरइया वेदणाए मायी मिच्छादिट्ठी उववन्नगा य अमायी सम्मदिट्ठी उववन्नगा य भाणियव्वा, सेसं तहेव जहा ओहियाणं। असुर कुमारा जाव वाणमंतरा, एते जहा ओहिया। णवरं मणुस्साणं किरयाहिं विसेसो जाव तत्थ णं जे ते सम्मदिट्ठी ते तिविहा पण्णत्ता, तंजहा संजया, असंजया, संजयासंजया. जहा ओहियाणं।

(प्रज्ञापना सूत्र १७।२१३)

क्या कृष्ण लेश्या वाले नारकी सब समान आहार वाले एवं समान शरीर वाले होते हैं ?

हे गौतम ! जैसा औधिक दण्डक मे कहा, वैसा ही यहां भी समझना चाहिये। विशेषता यह है कि मायी मिथ्यादृष्टि मरकर नरक में उत्पन्न होते हैं, वे महान वेदना वाले होते हैं और जो सम्यग्दृष्टि मरकर नरक में उत्पन्न होते हैं, वे अल्प वेदना वाले होते हैं। शेष सब को औधिक-सामान्य दण्डक की तरह कहना चाहिये। असुरकुमार से लेकर वाणव्यन्तरों को भी औधिक दण्डकवत् कहना चाहिये।

मनुष्यों में यह अन्तर है कि सम्यग्दृष्टि मनुष्य त्रिविध होते हैं— संयत, असंयत व संयतासंयत। इन सबको ओघिक दण्डकवत् कहना चाहिये।

प्रस्तुत पाठ में 'जहा ओहियाणं' का प्रयोग करके संयति जीवों का भेद ओघिक दण्डक की तरह कहा है। ओघिक दण्डक में संयति के चार भेद प्रतिपादित हैं—प्रमादी-अप्रमादी, सरागी और वीतरागी। भगवती सूत्र के पाठ में उक्त चार प्रकार के साधुओं में कृष्णादि अप्रशस्त भाव लेश्याओं का नहीं होना कहा है, इसलिए इस पाठ में भी यही कथन जानना चाहिए। यहां 'जहा ओहियाणं' कथन करके उक्त चार प्रकार के साधुओं को कृष्ण लेश्या से अलग बतलाया है, उनमें कृष्ण लेश्या का सद्भाव नहीं कहा है, अन्यथा अप्रमादी और वीतरागी में भी कृष्ण लेश्या माननी पड़ेगी, क्योंकि ओघिक दण्डक में समुच्चय लेश्या के अन्दर संयति के प्रमादी-अप्रमादी, सरागी-वीतरागी, चारों ही भेद प्रतिपादित किये हैं। यदि इस पाठ से प्रमादी और सरागी में कृष्ण लेश्या का सद्भाव माना जाय तो फिर इसी पाठ से अप्रमादी और वीतरागी में भी कृष्ण लेश्या का सद्भाव मानना होगा, जो किसी को भी इष्ट नहीं है।

अतः प्रज्ञापनासूत्र के उक्त पाठ से भी यह स्पष्ट प्रमाणित है कि कृष्णादि तीन अप्रशस्त भाव लेश्याओं में उपर्युक्त चारों प्रकार के साधुओं का निषेध किया गया है।

इसलिए प्रज्ञापना सूत्र के पाठ से भी कृष्णादि अप्रशस्त भाव लेश्याओं का साधु संयति में सद्भाव किसी भी प्रकार से सिद्ध नहीं होता।

उत्तराध्ययन सूत्र का प्रमाण—

उत्तराध्ययन सूत्र के चौतीसवें अध्ययन की इक्कीसवी गाथा को लेकर यह कहना कि—

पंचासवप्पवत्तो तीहि अगुत्तो, छसु अविरओ य
तिव्वारम्भपरिणओ, खुद्दो साहसिओ नरो ॥ [अ. ३४ गा. २१]

इस गाथा में 'पंचासवप्पवत्तो' पांच आस्रव में प्रवृत्ति करना कृष्ण लेश्या का लक्षण कहा है। अतः आस्रव में प्रवृत्ति करने वाले संयति में भी कृष्ण लेश्या का सद्भाव सिद्ध होता है ? यह कथन भ्रामक एवं असत्य है।

जो व्यक्ति सामान्य रूप से यदा-कदा प्रमादवश मंद आरम्भ करता है, वह भी पांच आस्रवों में प्रवृत्त कहा जा सकता है, उसमें कृष्ण लेश्या का लक्षण न चला जाय, अतः 'तिव्वारंभ परिणओ' यह विशेषण भी संयुक्त किया गया है। जिससे स्पष्ट कर दिया गया है कि जो तीव्रारंभ करता है, वही कृष्ण लेश्या का परिणामी है, मन्द आरम्भ वाला नहीं।

टीकाकार ने भी यही बात स्पष्ट की है—

"पांच आस्त्रव में प्रवृत्त होना, मन-वचन-काया से गुप्त नहीं रहना, पृथ्वीकायादि का उपमर्दन करना, ये सब सामान्य आरम्भ करने वाले में भी हो सकते हैं, परन्तु उसमें कृष्ण लेश्या का परिणाम नही रहता। इसलिए कृष्ण लेश्या के परिणाम से युक्त व्यक्ति के लिये "तीव्र आरम्भ से युक्त विशेषण लगाया है। उत्कृष्ट हिंसादि में प्रवृत्त व्यक्ति ही कृष्णलेश्या का परिणामी है, सामान्य आरम्भ करने वाला नही।"

जहां नीललेश्या का वर्णन आया है—वहां बतलाया है कि"**इस्सा अमरिस अतवो अविज्ज-माय अहीरिया य।"** [उत्तराध्ययन सूत्र ३४, ३५]

ईर्ष्या, अमर्ष, तप नहीं करना, अविद्या, माया करना एवं निर्लज्जता, ये नील लेश्या के लक्षण है।

माया अप्रमत्त संयत गुण स्थानों में पाई जाती है तो क्या नील लेश्या भी अप्रमत्त स्थानों में होती है? क्या उनमें भी नील लेश्या के परिणाम रहते है? यदि इस पर यह कहे कि उत्तराध्ययन सूत्र गत वर्णित नील लेश्या विशिष्ट माया करने वाले को होती है, सामान्य माया वाले के नहीं, तो इसी प्रकार सहजभाव से यह भी जानना चाहिये कि कृष्ण लेश्या के स्वरुप मे वर्णित पंचास्त्रव की प्रवृत्ति तीव्रारंभ परिणामी की अपेक्षा से है, सामान्य आरम्भ करने वाले की अपेक्षा में नहीं है।

टिप्पणी :—

छठे गुण स्थान में कृष्णादि तीन अप्रशस्त भाव लेश्याओं को सिद्ध करने के लिए गुणस्थानों का आश्रय लिया जाता है, जैसा की किसी ने कहा है :—

"छठे गुणस्थान में छहों लेश्याएं हैं। यदि उनमें भाव कृष्णादि लेश्याएँ मानी जायें तब तो उनमें द्रव्य कृष्णादि लेश्याएँ भी मानी जा सकती हैं और यदि भाव कृष्णादि तीन लेश्याएँ न मानी जायें तो द्रव्यादि तीन लेश्याएँ कैसी आयेंगी, क्योंकी उन भाव लेश्याओं के बिना द्रव्य लेश्याऐं प्राप्त नहीं हो सकती, हां यह हो सकता है कि भाव लेश्याएँ छूट जाने के बाद भी द्रव्य लेश्याएँ कुछ समय तक रह सकती है, किन्तु भाव लेश्या के बिना द्रव्य लेश्या नहीं आ सकती। भाव लेश्या तो उन-उन द्रव्य लेश्याओं के बिना भी आ सकती है। चारित्र (छठे गुण स्थान) में छः लेश्याएँ बताई हैं जबकि जीव सातवें गुण स्थान से छठे में आते है और सातवें स्थान में तीन ही लेश्याएँ है, तो फिर छठे में तीन तो भाव लेश्याएँ और कृष्णादि तीन द्रव्य लेश्या, ये छः मानें तो तीन भाव लेश्याओं का मानना तो ठीक हो जायगा, क्योंकि वे सातवें में थी ही, किन्तु कृष्णादि तीन द्रव्य लेश्या कहाँ से आई? क्योंकि भावलेश्या के बिना द्रव्यलेश्या आ नही सकती, ऊपर बताया जा चुका है। अतः कृष्णादि तीन भाव लेश्याओं के मानने पर ही कृष्णादि तीन लेश्याओं का मानना युक्ति-संगत हो सकेगा।"

साधु में विशिष्ट रूप से आरम्भ या तीव्र अशुभ परिणाम की अवस्था नहीं होती, अतः उनके कृष्ण लेश्या का सद्भाव कथमपि घटित नहीं हो सकता । सामान्य आरम्भ करने वाला चाहे गृहस्थ

उपर्युक्त कथनानुसार यदि छठे गुणस्थान में अप्रशस्त भाव लेश्याएँ मानी गई, तो इस भगवतीसूत्र के मूल पाठ, टीका, टब्बा के विरुद्ध कथन होगा । शास्त्रकारों ने तीन अप्रशस्त भाव-लेश्या में साधु के चारों ही भेदों का निषेध किया है । जो गुणस्थान की दृष्टि से बात कही गई, वह भी आगमिक दृष्टिकोण तथा अनुभूति एवं युक्ति के धरातल पर योग्य नहीं बैठती है । क्योंकि संयत बनने वाले सभी प्रारम्भ में सातवें गुणस्थान में आकर के छठे गुणस्थान में आते है, यह कोई एकान्त नियम नहीं है । तीर्थंकर आदि अत्युत्तम प्रकृति वाले महापुरुषों में तो यह हो सकता है कि वे दीक्षित संयमित होते समय सीधे ही सातवें गुणस्थान में चले जाते हैं, इस प्रकार के विशिष्ट पुरुषों की अपेक्षा से ही गुणस्थान द्वार की मार्गणा का उल्लेख समझना चाहिये, न कि सभी दीक्षित-संयमित होने वाली आत्माओं की अपेक्षा ।

साधु कहलाने वाली आत्माओं की चतुर्भंगी भी आगमकारों ने बतलाई है :—

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता–

१. सीहत्ताए णाममेगे णिक्खंते, सीहत्ताए विहरइ ।
२. सीहत्ताए णाममेगे णिक्खंते सीयालत्ताए विहरइ ।
३. सीयालत्ताए णाममेगं णिक्खंते सीहत्ताए विहरइ ।
४. सीयालत्ताए णाममेगे णिक्खंते सीयालत्ताए विहरइ ।

(स्थानाङ्ग सूत्र, ठाणा ४, तीसरा उद्देशा)

अर्थ–

कोई व्यक्ति सिंह की तरह दीक्षा लेता है और सिंह की तरह पालन करता है । कोई व्यक्ति सिंह की तरह दीक्षा लेता है किन्तु सियार की तरह पालन करता है । कोई व्यक्ति सियार की तरह दीक्षा लेता है । किन्तु सिंह की तरह पालन करता है और कोई व्यक्ति सियार की तरह दीक्षा लेता है और सियार की तरह पालन करता है ।

उपर्युक्त पाठ में सियार की तरह आत्माओं का [illegible] में दीक्षित होना भी कहा गया है । जो सियार की तरह मंद परिणाम वाले [illegible] दीक्षा लेते समय सातवें गुणस्थान की अवस्था तो रहती ही नहीं [illegible] जो सिंह की तरह विशुद्ध उत्कृष्ट शुभ परिणाम वाले [illegible] आदि, सियार की तरह मंद परिणामों में [illegible]

इस प्रकार की [illegible] अनुभव एवं युक्ति के आधार [illegible] सातवें गुणस्थान की अवस्था [illegible] अपेक्षा ही समझनी चाहिये, [illegible]

भी क्यों न हों, उसमें कृष्ण लेश्या का परिणाम नहीं कहा जा सकता तो साधु गृहस्थ की अपेक्षा अधिक विशुद्ध परिणाम वाला होता है अतः उनमें भाव कृष्ण लेश्या का सद्भाव तो सवथा असंभव है।

तो स्थानाङ्ग सूत्र की उपर्युक्त चौभंगी मूल पाठ के साथ संगति कैसे होगी , क्योंकि वहाँ सियाल की तरह ही साधु जीवन का निर्वहन करना भी बतलाया गया है।

अतः साधुत्व की भूमिका मे छठा प्रारम्भिक गुणस्थान है। रहा प्रश्न छठे गुणस्थान में तीन अप्रशस्त द्रव्य लेश्या का, सो वह भी किसी क्रूर-कर्मी चोर के द्वारा अंगुलिमाल की तरह कहीं पकड़े जाकर भयंकर दण्ड यातना भोगने के भय से साधुत्व अंगीकार कर लेने के समय उस आत्मा के अप्रशस्त भाव कृष्णादिक लेश्याएं तो निवृत्त हो जाती है और प्रशस्त भाव लेश्याओ में संयतत्व अंगीकार करता है, उस वक्त अप्रशस्त द्रव्य लेश्याएँ विद्यमान रह सकती है। भाव लेश्याओं की तरह शीघ्रता से उनका परिवर्तन नहीं होता, अतः उस समय की अपेक्षा से छठे गुणस्थान में तीन अप्रशस्त भाव लेश्याओ के बिना भी तीन अप्रशस्त द्रव्य लेश्याएँ तथा प्रशस्त द्रव्य-भाव लेश्याएँ पाई जाती है।

यदि यही माना जाय कि संयम अंगीकार करने वाली सभी भव्य आत्माएं सातवें गुणस्थान मे ही आती हैं तो स्थानाङ्ग सूत्र में जो दीक्षित होने वाली आत्माओं की चौभंगी बतलाई है, वह घटित नहीं हो सकेगी। क्योंकि सियाल की तरह दीक्षा लेने वाले के परिणाम मद और सिंह की तरह दीक्षा लेने वाले के उत्कृष्ट व शुभ परिणाम दोनों ही भिन्न-भिन्न परिणाम हैं। इन दो अवस्थाओ मे होने वाली आत्माएँ सातवें शुभ उत्कृष्ट परिणाम वाले गुणस्थान मे कैसे आ सकती हैं? यदि दोनों का ही सातवें गुणस्थान में समावेश माना जाय तो फिर सियाल और सिंहत्व का भेद ही नही रह पायगा।

अतः सप्तम अप्रमत्त गुणस्थान में सियाल की तरह मंद परिणाम में दीक्षित होने वाले की उपस्थिति कभी भी घटित नही हो सकती है। सियाल की तरह मंद परिणामों में दीक्षा लेने वाली आत्माएँ तो छठे गुणस्थान मे आ सकती है—और सिंह की तरह दीक्षा लेने वाली आत्माएँ सातवें गुणस्थान में आती हैं।

प्रकाण्ड विद्वान शिवशर्म सूरि द्वारा पूर्वो से उद्धृत कर्म प्रकृति नामक ग्रन्थ में शतक बृहच्चूर्णि का उद्धरण देकर यह सिद्ध किया गया है कि—चतुर्थ गुणस्थानवर्ती आत्मा सीधी षष्ठम गुणस्थान में भी जा सकती है।[1]

इससे भी यह स्पष्ट हो जाता है कि चतुर्थ या पंचम गुणस्थानवर्ती आत्माएँ सीधी सप्तम गुणस्थान में ही जाती है, यह अनिवार्य नहीं है।

इस प्रकार से यथार्थ चिन्तन करने पर ही भगवती सूत्र, प्रज्ञापना सूत्र, स्थानांग सूत्र के मूल पाठ, टीका, टब्बा के अर्थ की संगति बैठ सकती है।

---

१. उक्तं च शतक बृहच्चूर्णी—"उवसम सम्मदिट्ठी अंतरकरणट्ठिओ कोई देसविरयं पि लभेइ, कोई पमतापमत्तभावं पि—सासयणो पुण न किं पि लहेइ त्ति" कर्मप्रकृति।

साधु में विशिष्ट रूप से आरम्भ या तीव्र अशुभ परिणाम की अवस्था नहीं होती, अतः उनके कृष्ण लेश्या का सद्भाव कथमपि घटित नहीं हो सकता । सामान्य आरम्भ करने वाला चाहे गृहस्थ

उपर्युक्त कथनानुसार यदि छठे गुणस्थान मे अप्रशस्त भाव लेश्याएँ मानी गई, तो इस भगवतीसूत्र के मूल पाठ, टीका, टब्बा के विरुद्ध कथन होगा । शास्त्रकारों ने तीन अप्रशस्त भाव-लेश्या में साधु के चारों ही भेदों का निषेध किया है । जो गुणस्थान की दृष्टि से बात कही गई, वह भी आगमिक दृष्टिकोण तथा अनुभूति एवं युक्ति के धरातल पर योग्य नहीं बैठती है । क्योंकि संयत बनने वाले सभी प्रारम्भ में सातवें गुणस्थान में आकर के छठे गुणस्थान में आते है, यह कोई एकान्त नियम नही है । तीर्थंकर आदि अत्युत्तम प्रकृति वाले महापुरुषों में तो यह हो सकता है कि वे दीक्षित संयमित होते समय सीधे ही सातवें गुणस्थान में चले जाते हैं, इस प्रकार के विशिष्ट पुरुषों की अपेक्षा से ही गुणस्थान द्वार की मार्गणा का उल्लेख समझना चाहिये, न कि सभी दीक्षित-संयमित होने वाली आत्माओं की अपेक्षा ।

साधु कहलाने वाली आत्माओं की चतुर्भंगी भी आगमकारों ने बतलाई है :—

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता—

१. सीहत्ताए णाममेगे णिक्खंते, सीहत्ताए विहरइ ।
२. सीहत्ताए णाममेगे णिक्खंते सीयालत्ताए विहरइ ।
३. सीयालत्ताए णाममेगं णिक्खंते सीहत्ताए विहरइ ।
४. सीयालत्ताए णाममेगे णिक्खंते सीयालत्ताए विहरइ ।

(स्थानाङ्ग सूत्र, ठाणा ४, तीसरा उद्देशा)

अर्थ—

कोई व्यक्ति सिंह की तरह दीक्षा लेता है और सिंह की तरह पालन करता है । कोई व्यक्ति सिंह की तरह दीक्षा लेता है किन्तु सियार की तरह पालन करता है । कोई व्यक्ति सियार की तरह दीक्षा लेता है। किन्तु सिंह की तरह पालन करता है और कोई व्यक्ति सियार की तरह दीक्षा लेता है और सियार की तरह पालन करता है ।

उपर्युक्त पाठ में सियार की तरह आत्माओं का शिथिल-मंद परिणामों मे दीक्षित होना भी कहा गया है। जो सियार की तरह मंद परिणाम वाले दीक्षार्थी-संयम लेने वाले होते हैं उनके दीक्षा लेते समय सातवें गुणस्थान की अवस्था तो रहती ही नही है, क्योंकि सातवें अप्रमत्त भाव के गुणस्थान की अवस्था तो सिंह की तरह विशुद्ध उत्कृष्ट शुभ परिणाम वाले महापुरुषों में ही हो सकती है । घेवरिया मुनि एवं झांझरिया मुनि आदि, सियार की तरह मंद परिणामों मे दीक्षा लेने वालो के सातवें गुणस्थान की स्थिति नहीं आ सकती है ।

इस प्रकार की अनेक घटनाएं इतिहास के पृष्ठों पर मिलती हैं, जो कि आगमिक दृष्टिकोण से सम्मत, अनुभव एवं युक्ति के आधार से यह सिद्ध करती हैं कि शिथिल मंद परिणामों में संयमित होने वाले व्यक्ति सीधे ही सातवें गुणस्थान की अवस्था में नही आ सकते । अतः गुणस्थान में बताई गई मार्गणा विशिष्ट महापुरुषों की अपेक्षा ही समझनी चाहिये, सर्व साधारण संयमित होने वालों की अपेक्षा नहीं । यदि सर्व साधारण की अपेक्षा मानी गई

भी क्यों न हों, उसमें कृष्ण लेश्या का परिणाम नहीं कहा जा सकता तो साधु गृहस्थ की अपेक्षा अधिक विशुद्ध परिणाम वाला होता है अतः उनमें भाव कृष्ण लेश्या का सद्भाव तो सर्वथा असंभव है।

तो स्थानाङ्ग सूत्र की उपर्युक्त चौभंगी मूल पाठ के साथ संगति कैसे होगी, क्योंकि वहां सियाल की तरह ही साधु जीवन का निर्वहन करना भी बतलाया गया है।

अतः साधुत्व की भूमिका में छठा प्रारम्भिक गुणस्थान है। रहा प्रश्न छठे गुणस्थान में तीन अप्रशस्त द्रव्य लेश्या का, सो वह भी किसी क्रूर-कर्मी चोर के द्वारा अंगुलिमाल की तरह कहीं पकड़े जाकर भयंकर दण्ड यातना भोगने के भय से साधुत्व अंगीकार कर लेने के समय उस आत्मा के अप्रशस्त भाव कृष्णादिक लेश्याएं तो निवृत्त हो जाती है और प्रशस्त भाव लेश्याओं में संयतत्व अंगीकार करता है, उस वक्त अप्रशस्त द्रव्य लेश्याएँ विद्यमान रह सकती है। भाव लेश्याओं की तरह शीघ्रता से उनका परिवर्तन नहीं होता, अतः उस समय की अपेक्षा से छठे गुण-स्थान में तीन अप्रशस्त भाव लेश्याओं के बिना भी तीन अप्रशस्त द्रव्य लेश्याएँ तथा प्रशस्त द्रव्य-भाव लेश्याएँ पाई जाती है।

यदि यही माना जाय कि संयम अंगीकार करने वाली सभी भव्य आत्माएं सातवें गुणस्थान में ही आती हैं तो स्थानाङ्ग सूत्र में जो दीक्षित होने वाली आत्माओं की चौभंगी बतलाई है, वह घटित नहीं हो सकेगी। क्योंकि सियाल की तरह दीक्षा लेने वाले के परिणाम मंद और सिंह की तरह दीक्षा लेने वाले के उत्कृष्ट व शुभ परिणाम दोनों ही भिन्न-भिन्न परिणाम हैं। इन दो अवस्थाओं में होने वाली आत्माएँ सातवें शुभ उत्कृष्ट परिणाम वाले गुण-स्थान में कैसे आ सकती हैं? यदि दोनों का ही सातवें गुणस्थान में समावेश माना जाय तो फिर सियाल और सिंहत्व का भेद ही नहीं रह पायगा।

अतः सप्तम अप्रमत्त गुणस्थान में सियाल की तरह मंद परिणाम में दीक्षित होने वाले की उपस्थिति कभी भी घटित नहीं हो सकती है। सियाल की तरह मंद परिणामों में दीक्षा लेने वाली आत्माएँ तो छठे गुणस्थान में आ सकती है—और सिंह की तरह दीक्षा लेने वाली आत्माएँ सातवें गुणस्थान में आती हैं।

प्रकाण्ड विद्वान शिवशर्म सूरि द्वारा पूर्वो से उद्धृत कर्म प्रकृति नामक ग्रन्थ में शतक बृहच्चूर्णि का उद्धरण देकर यह सिद्ध किया गया है कि—चतुर्थ गुणस्थानवर्ती आत्मा सीधी षष्ठम गुणस्थान में भी जा सकती है।[1]

इससे भी यह स्पष्ट हो जाता है कि चतुर्थ या पंचम गुणस्थानवर्ती आत्माएँ सीधी सप्तम गुण-स्थान में ही जाती है, यह अनिवार्य नहीं है।

इस प्रकार से यथार्थ चिन्तन करने पर ही भगवती सूत्र, प्रज्ञापना सूत्र, स्थानांग सूत्र के मूल पाठ, टीका, टब्बा के अर्थ की संगति बैठ सकती है।

---

१. उक्तं च शतक बृहच्चूर्णौ—"उवसम सम्मदिट्ठी अंतरकरणट्ठिओ कोई देसविरयं पि लभेइ, कोई पमत्तापमत्तभावं पि—सासयणो पुण न किं पि लहेइ त्ति" कर्मप्रकृति।

10. भव की अपेक्षा से ज्ञानादि चर्चा :–

उत्थानिका :—

पूर्व सूत्र में आरम्भ की चर्चा की गई है। आरम्भ से निवृत्ति एवं अनारम्भ में आत्मा की प्रवृत्ति तब होगी, जब वह ज्ञानादि सम्पन्न होगी। एतदर्थ इस सूत्र में ज्ञानादि की व्याख्या की जा रही है।

10.(i) इहभविए भंते ! णाणे ? परभविए णाणे ? [1]तदुभयभविए णाणे ?

गोयमा ! इहभविए वि णाणे, परभविए वि णाणे, तदुभयभविए वि [2]णाणे।

(ii) [5]दंसणं [A]पि[3] [4]।

(iii) इहभविए भंते ! चरित्ते ? [6]परभविए चरित्ते ? [7]तदुभयभविए चरित्ते ?

गोयमा ! इहभविए चरित्ते, णो परभविए [8]चरित्ते, णो तदुभयभविए [9]चरित्ते।

(iv) [B]एवं तवे संजमे।

सूत्र 10. (i) भगवन् ! क्या ज्ञान इह-भविक है? पारभविक है या तदुभय-भविक है ?

गौतम ! इस भव में भी ज्ञान हैं पर भव में भी ज्ञान हैं तदुभयभव में भी ज्ञान हैं।

(ii) दर्शन भी ज्ञान की तरह जानना चाहिए।

(iii) भगवन् ! क्या इस भव में चारित्र है? पर-भव में चारित्र है ? इस भव, पर भव दोनों में चारित्र है ?

गौतम ! इस भव में चारित्र है। परभव में चारित्र नहीं है। इस भव पर भव में चरित्र नहीं है।

(iv) इसी प्रकार तप संयम की वक्तव्यता भी जाननी चाहिए।

---

१. तदुभत्तभविए ? गोयमा - ला २ ॥ २. णाणे य दंसणं वि एवामेव - अमो० ॥ ३. वि - धा० ॥ ४. एमेव। इह भविए वि भंते - ला० ला ३ ॥ ५. प्र इहभविए भंते। दंसणे ·················वि दंसणे - न० ॥ ६. ०विए भंते चरित्ते - अमो०। ०विए वि च० - ला० ला ३ ॥ ७. ०विए वि च० - ला० ला ३ ॥ ८. ०विए वि च० - ला० ॥ ९. प्र० इह भविए भंते ! तवे ··· ········ ·· संयमे न० ॥

A– इह भविए भंते ! दंसणे ? पर भविए दंसणे ? तदुभयभविए दंसणे ? गोयमा इहभविए वि दंसणे, परभविए वि दंसणे तदुभयभविए वि दंसणे ॥

B– इह भविए भंते ! तवे ? परभविए तवे ? तदु भय भविए तवे ? गोयमा ! इह भविए तवे नो पर भविए तवे, नो तदुभयभविए तवे ॥ इह भविए भंते ! संजमे ? पर भविए संजमे ? तदुभय भविए संजमे ?

गोयमा ! इह भविए संजमे नो पर भविए संजमे नो तदुभयभविए संजमे।

विवेचन :-

पूर्व सूत्र में आत्मा को भव-भवान्तर में भटकाने वाले आरम्भादि का वर्णन दिया गया। इस सूत्र में उन आरंभादि से निवृत्त होकर ऊर्ध्वारोहण करने हेतु ज्ञान का विवेचन किया गया है।

जो ज्ञान इस भव में रहता है वह इहभविक कहलाता है। जो परभव में भी रहता है, वह पारभविक ज्ञान कहलाता है।

जो ज्ञान इस भव में रहता है, व पर भव अर्थात् भव-भवान्तर द्वितीयादि भवों में भी रहता है वह तदुभयभविक ज्ञान कहलाता है।

दर्शन भी इस भव, पर भव एवं तदुभय भव में रह सकता है। दर्शन का तात्पर्य यहां सम्यक्त्व से है।

अनादि काल से इस संसार में भटकने वाली आत्मा के लिए सम्यक्त्व–लाभ मुक्ति के मार्ग को प्रशस्त करने वाला बनता है। वाचक उमास्वाति ने भी इसी बात को स्पष्ट करते हुए कहा है :—

सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्राणि मोक्षमार्गः।

(तत्त्वार्थ सूत्र....१)

परन्तु यहां एक जिज्ञासा उठती है कि कहीं तो ज्ञान को पहले लिया है और कहीं दर्शन को। ऐसा क्यों ?

वस्तुतः सम्यग्दर्शन पहले आता है, किन्तु उपकार की दृष्टि से सम्यग्ज्ञान को प्रथम ग्रहण किया जाता है।

अथवा जिस प्रकार बादल के हट जाने से सूर्य का प्रभाव एवं प्रकाश एक साथ ही प्रकट होता है ; उसी प्रकार मिथ्यात्व मोहनीय रूपी मेघ पटल के दूर हो जाने पर सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन एक साथ ही प्रकट होते हैं। एतदर्थ उनमें फल-क्रम की कल्पना नहीं हो पाती। ज्ञान-दर्शन सहभावी है। जहां ज्ञान है–वहां दर्शन है। जहां दर्शन है वहां ज्ञान भी है। कइयों के दृष्टिकोण से ज्ञान को सुज्ञान-सम्यक् बनाने वाला दर्शन है, ज्ञान के बिना सम्यक्त्व (श्रद्धा) का स्वरूप नहीं जाना जा सकता, इसीलिए ज्ञान की महत्ता को बतलाने के लिये सम्भव है सूत्रकार ने ज्ञान को पूर्व में लिया हो।

अपेक्षाकृत दोनों ही कथन सत्य हैं।

चारित्र इहभविक ही है, पारभविक या तदुभयभविक नहीं है।

देशविरति या सर्वविरति चारित्र धारक आत्माओं की उत्पत्ति चार गतियों में से देवगति मे ही होती है। देवों के चरित्र नहीं होता है, उनके विरति का सर्वथा अभाव है, अतः चारित्र पारभविक नहीं होता। दूसरी बात यह है कि सर्वविरति का पालन करने वाले साधक सर्व कर्मों का क्षय करके मोक्ष में चले जाते हैं। मोक्ष में अनुष्ठान युक्त चारित्र नहीं है, क्योंकि कर्म-विमुक्ति के लिए चारित्र का अनुष्ठान किया जाता है और कर्मों के सर्वथा क्षय से ही मोक्ष होता है, तब अनुष्ठान रूप चारित्र की मोक्ष में कोई उपयोगिता नहीं रहती।

चारित्र ग्रहण करते समय साधक यावज्जीवन की प्रतिज्ञा ग्रहण करता है, वह इस भव में ही पूर्ण हो जाती है तथा मोक्ष में कोई नया चारित्र नहीं आता, इस अपेक्षा से मोक्ष में चारित्र नहीं है।

यह ध्यान रहे कि यहां स्वरूपरमण रूप चारित्र ग्रहण नहीं किया है; क्योंकि वह चारित्र तो सिद्धों में अनन्त चतुष्टय-अनन्त चारित्र के रूप में विद्यमान है ही।

यहां सूत्रकार का दृष्टिकोण अनुष्ठान क्रियारूप चारित्र का निषेध का रहा है। अनुष्ठान क्रिया शरीर से होती है और शरीर सिद्धों के नहीं होता है।

जिस प्रकार सम्यक् चारित्र का वर्णन किया गया, उसी प्रकार तप, संयम के विषय में भी जान लेना चाहिये। कुछ व्याख्याकार तप के विषय को लेकर इस प्रकार की धारणा रखते हैं—चारित्र के अन्तर्गत जो अहिंसा-संयम-तप की विद्यमानता है, उनमें से अहिंसा और संयम तो ऊपरी गुण स्थानों में होता है किन्तु तप मिथ्यात्वी को भी होता है।

परन्तु यह धारणा यथार्थता की कसौटी पर कसने पर सही नहीं उतरती, क्योंकि तप चारित्र से अलग नहीं किया जा सकता, चारित्र में ही तप का अन्तर्भाव है। टीकाकार ने भी यही कहा है :—

"अनन्तरं चारित्रमुक्तं तच्च द्विधा तप-संयम-भेदादिति"

अनन्तर चारित्र का जो वर्णन किया गया है, वह दो प्रकार का है :— तप, संयम के भेद से।

अतः टीका से भी यह सुस्पष्ट हो जाता है – तप चारित्र से अलग नहीं है। वस्तु स्थिति भी यही है कि मिथ्यात्व मोह कर्म, अनन्तानुबंधी कषायचतुष्टय आदि के उपशम, क्षयोपशम या क्षय होने पर जीव सम्यग्दृष्टि अवस्था को प्राप्त करता है। तदनन्तर अप्रत्याख्यानावरण कषायचतुष्क का क्षयोपशम या क्षय होकर या होने पर देशचारित्र को प्राप्त करता है। उदाहरणार्थ–जिस जीव के अप्रत्याख्यानावरण चतुष्क का क्षय या क्षयोपशम नहीं हुआ, वह जीव यदि तेला आदि तपस्या करता है तो वह तेला चारित्र के अन्तर्गत तप में गृहीत नहीं हैं, अपितु अभिग्रह एवं देवाराधना आदि विधि के अन्तर्गत माना जायगा।

इस प्रकार तप और संयम चारित्र के ही अंग होने से उनके सम्बन्ध में प्रश्न और उत्तर भी उसी प्रकार के होंगे, जो चारित्र के विषय में प्रतिपादित हैं।

अत: मोक्षमार्ग के हेतुभूत चारित्र और उसी का अंश तप मिथ्यात्व में तो हो ही नहीं सकता। क्योंकि देशचारित्र में भी अप्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क का क्षयोपशम आवश्यक है–जबकि मिथ्यात्वावस्था में अनन्तानुबंधीचतुष्क एवं मिथ्यात्व मोहनीय की स्थिति भी रही हुई है, तब उसमें चारित्र सम्बन्धित तप के सद्भाव की तो कल्पना भी नही की जा सकती। यदि मोक्षमार्ग के हेतुभूत चारित्र से सम्बन्धित तप मिथ्यात्वियों में भी स्वीकार किया गया तो फिर उनकी मिथ्यात्वावस्था में मुक्ति भी माननी होगी, जो किसी को भी इष्ट नहीं है।

अत: सिद्ध है कि चारित्र से सम्बन्धित तप मिथ्यात्वी के नहीं होता। ऐसा तप मिथ्यात्वियों में मानना आगम विरुद्ध धारणा है।

11. असंवुड-संवुड विषयक चर्चा (असंवुड अणगार)

उत्थानिका :—

जो आत्मा पूर्व सूत्र में विवेचित रत्नत्रय युक्त आराधना न कर आस्रव द्वार की ओर प्रवृत्ति करती है, उस आत्मा की क्या स्थिति होती है, इसका वर्णन प्रस्तुत पाठ में किया जा रहा है:—

सूत्र 11(i) [1]असंवुडे णं भंते ! [2]अणगारे किं [3]सिज्झइ ? बुज्झइ ? मुच्चइ ? [4]परिणिव्वाइ ? सव्वदुक्खाणं अंतं [5]करेइ ?

गोयमा ! णो [6]इणट्ठे समट्ठे ।

से [7]केणट्ठेणं Aजाव [8]णो अंतं करेइ ?

गोयमा ! [9]असंवुडे अणगारे आउयवज्जाओ सत्त [10]कम्मपगडीओ सिढिलबंधणबद्धाओ घणियबंधणबद्धाओ [11]पकरेइ, [12]हस्सकाल[13]ठिइयाओ दीहकाल-

सूत्र 11(i) हे भगवन् ! असंवृत अनगार क्या सिद्ध होता है ? बुद्ध होता है ? मुक्त होता है ? परिनिवृत होता है ? सभी दुखों का अन्त करता है ?

हे गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है।

हे भगवन् ! किस कारण से यावत् सब दुःखों का अन्त नहीं करता है ?

हे गौतम ! असंवृत अनगार आयु कर्म को छोड़कर शिथिल बंधन से बंधी हुई सात कर्म प्रकृतियों को गाढ़ बन्धन से बद्ध करता है। ह्रस्वकालीन स्थिति वाली प्रकृतियों को दीर्घकालीन स्थिति वाली करता है। मन्द अनु-

[14]ठिइयाओ [15]पकरेइ, [16]मंदाणुभावाओ [17]तिव्वाणुभावाओ [18]पकरेइ, [19]अप्प-पएसगाओ [20]बहुप्पएसग्गाओ [21]पकरेइ, [22]आउयं च णं कम्मं सिय [23]बंधइ, सिय णो [24]बंधइ, [25]अस्सायावेयणिज्जं च णं कम्मं [26]भुज्जो-भुज्जो [27]उवचिणइ, [28]अणाइयं च णं [29]अणवयग्गं दोहमद्धं [30]चाउरंतं संसारकंतारं अणुपरियट्टइ[31]। से [32]तेणट्ठेणं गोयमा ! [33]असंवुडे अणगारे णो [34]सिज्झइ [B]जाव णो[35] अंतं करेइ[36] ।

भाग वाली प्रकृतियों को तीव्र अनुभाग वाली करता है।

अल्प प्रदेशों को बहुत प्रदेश के रूप में करता है। और आयुष्य कर्म को कदाचित् बांधता है। कदाचित् नहीं बांधता है। असाता वेदनीय कर्म का बार बार उपार्जन करता है। और अनादि अनवदग्र, अनन्त दीर्घ मार्ग वाले चतुर्गति रूप संसार अरण्य जंगल में बार-बार परिभ्रमण करता रहता है। इसलिए गौतम! असंवृत अनगार सिद्ध नहीं होता है। यावत् सभी दु:खों का अन्त नहीं करता है।

विवेचन :–

जिसने आस्रव द्वार को नहीं रोका है अर्थात् जो कर्म-बंध करने वाली क्रियाओं को करता रहता है; वह असंवृत अणगार कहलाता है। जिसकी प्रवृत्ति हिंसा में है, जो असत्य का प्रयोग करता है,

१. अस्संवुडे - ता० ला २ ॥ २. ०गारे सिज्झ० - न० अमो० लो० ॥ ३. सिज्झति बुज्झति मुच्चति - अमो० वे० म० । सिज्झंति बुज्झंति मुच्चंति परिनिव्वायंति सव्वदुक्खाणं अंतं करेंति - ला० ॥ ४. ०निव्वाति - अमो० वे० म० ॥ ५. करेंति - अमो० । करेति - वे० म० ॥ ६. इणमट्ठे - ला २ ॥ ७. ०ट्टेणं भंते जाव अतं न करेति - अमो० ॥ ८. नो सव्वदुक्खाणं अंतं - न० ॥ ९. असंवुडे - ला० ला ३ । अस्सवु० - ला २ ॥ १०. ०पगतीओ - ला २ ॥ ११. पकरेंति - वे० म० । पकरेंति - ला० ॥ १२. हस्सकाल० - पु० न० । रहस्स० - स० । इस्सकाल० - घा० । हुस्स० - लो० । ह्रस्वका० - ला० । हस्स० - ला २-४ ॥ १३. ०ट्ठितीयाओ - अमो० वे० म० ॥ १४. ०ट्ठितीयाओ - पु० अमो० वे० म० ॥ १५-१८-२१. पकरेति - वे० म० ॥ १६. ०भागाओ - ता० मं० वे० म० ॥ १७. ०भागाओ - वे० म० ॥ १९. ०सग्गाओ - पु० घा० न० । ०सयाओ - क० । अप्पपदेस० - अमो० । अप्पपदेसग्गाओ - वे० म० । ०सयाइ बहुपदेसग्गाउ प० - ला ३ ॥ २०. बहुपदेस० - अमो० बहुप्पदेसग्गाओ - वे० म० ॥ २२. आउगं च णं - वे० म० ॥ २३-२४. बंधति - वे० म० ॥ २५. असाया० - घा० अमो० । अस्सातावेदणिज्जं - वे० म० । अस्सायवे - ला २ ॥ २६. भुज्जो उव० - ला० ।. २७. उवचिणाइ - पु० न० । उवचिणाति - वे० म० ॥ २८. अणादीयं च - वे० म० । अणादियं - लो० ला० विना ॥ २९. अणवदग्गं - पु० अमो० न० वे० म० ॥ ३०. चाउरंतं - न० वे० ॥ ३१. परियट्टति - अमो० । ०यट्टंति । से - ला० ला १-२ ॥ ३२. से एणट्ठे - ला २ । से एएणट्ठेण - पु० ॥ ३३. असंवुडे - ला० । ३४. सिज्जइ । संवुडे णं - पु० अमो० । सिज्झति ५ संवुडे - वे० म० ॥ ३५. नो सव्वदुक्खाणं अंतं - घा० न० वे० म० ॥ ३६. करेति - वे० म० ॥

A– भंते ! एवं वुच्चइ । असंवुडे णं अणगारे नो सिज्झइ नो बुज्झइ नो मुच्चइ नो परिनिव्वाइ ॥

B– नो बुज्झइ नो मुच्चइ नो परिनिव्वाइ ॥

अदत्त ग्रहण करता है, ब्रह्मचर्य का विधिवत् पालन नहीं करता तथा अपरिग्रही भी नहीं है, छल-कपट-दम्भ से भरा हुआ है, ऐसा असंवृत अनगार आयु कर्म को छोड़कर शेष सात कर्मों के शिथिल बन्धन को प्रगाढ़ करता है। अल्प स्थितिक कर्मों की दीर्घ स्थिति करता है। मंद रस वाली प्रकृतियों को तीव्र रसवाली करता है। अल्प प्रदेशों वाली प्रकृतियों को बहुत प्रदेश वाली करता है।

असंवृत अनगार में कषाय की तीव्रता एवं योग की अशुभता होने से तज्जन्य स्थिति, अनुभाग और प्रकृति-प्रदेश का बंध भी होता है। यथा—

'जोगा पयडिपएसं, ठिइ अणुभागं कसायओ कुणइ।

प्रकृति और प्रदेश बंध योग से, एवं अनुभाग बंध कषाय से होता है।

आयु कर्म को पृथक बताने का तात्पर्य यह है कि आयु कर्म का बंध जीवन में एक बार ही होता है, वह भी जीवन के त्रिभागादि अवशेष रहने पर अन्तर्मुहूर्त में हो जाता है।

असंवृत अनगार असातावेदनीय कर्म का बार-बार उपचय करता है, और अत्यन्त दुःखी बनता है। इसी बात को सूचित करने के लिये असातावेदनीय का भी पृथक् रूप से उल्लेख किया है।

ऐसा असंवृत अनगार संसार में परिभ्रमण करता है। उस संसार के स्वरूप को बतलाते हुए सूत्रकार ने अनेक विशेषण दिये है :—

अणाइयं— के अनेक अर्थ निकलते है। यथा—

1. अणाइयं = अनादिकम् — जिसकी कोई आदि न हो।
2. अणाइयं = अज्ञातिकम् — जिसमें कोई स्वजन नही होता।
3. अणाइयं = ऋणातीतम् — ऋण से भी अधिक दुःखदायी।
4. अणाइयं = अणातीतम् — अण = पाप, — अतीतम् = अधिक अर्थात् अधिक पापमय।

संसार में पाप तो अनेक है किन्तु साधु होकर आस्रव का सेवन महापाप है।

अणवयग्गं = 'अवयग्ग' शब्द देशी प्राकृत का है। इसका अर्थ 'अन्त' होता है। इसमें निषेध-वाचक 'अण्' लगा देने से इसका अर्थ अनन्त होता है।

अवयग्ग का अर्थ समीप भी होता है जिसका अन्त समीप न हो।

अणवयग्ग से अनग्रासग्रम् भी बनता है, अर्थात् जिसका परिमाण ज्ञात न हो।

दीहमद्धं = दीह का अर्थ लम्बा, अध्व का अर्थ = मार्ग, जिसका मार्ग लम्बा हो अथवा जिसका काल दीर्घ हो उसे भी दीहमद्धं कहते है।

चाउरंत = देवगति–मनुष्यगति–तिर्यंचगति–नरकगति रूप मुख्यतया चातुरन्त विभाग जिसके हैं।

इस प्रकार के विशेषणों से युक्त संसार–कान्तार (वन) में असंवृत अनगार घूमता रहता है

ऐसा असंवृत अनगार सिद्ध–बुद्ध–मुक्त और परिनिर्वाण अवस्था को प्राप्त नहीं होता सिज्झइ, बुज्झइ आदि का अर्थ इस प्रकार है :—

सिज्झइ = चरम भव प्राप्त करके सिद्धि गमन योग्य होता है।

बुज्झइ = केवल ज्ञान प्राप्त करता है।

तात्पर्य यह है कि चरम शरीरी जीव को भावी नय की अपेक्षा सिद्ध कह सकते हैं किन्तु बुद्ध त होगा–जब कैवल्य प्राप्त हो जायगा।

मुच्चइ = कर्मों से मुक्त होता है, अर्थात् कैवल्य प्राप्त हो जाने पर अवशेष कर्म–आयु नाम–गोत्र–वेदनीय को भी निरन्तर क्षीण करता रहता है, और अन्त में कर्मों से मुक्त हो जाता है।

परिणिव्वाइ = भवोपग्राही कर्मों के पुद्गलों को यह आत्मा निरन्तर क्षीण करता रहता है जिससे तज्जन्य आवरण हटता जाता है।

परिपूर्ण आवरण से अनावृत होने से निर्वाण प्राप्त करता है।

सव्व दुक्खाणमंतं करेइ = सभी दुःखों का अन्त करता है। चरम भव के अन्तिम क्षण जब जीव सभी कर्मों को नष्ट कर देता है तब सभी दुःखों का अन्त करता है।

11 (ii) संवृत अनगार

उत्थानिका :—

जो आत्मा रत्नत्रय की आराधना पूर्वक पूर्व सूत्र प्रतिपादित आस्रवद्वार से निवृत होकर संव द्वार में प्रवृति करती है, उसका दिग्दर्शन प्रस्तुत सूत्र में कराया जा रहा है।

(ii) [1]संवुडे णं भंते ! [2]अणगारे [3]सिज्झइ [A]जाव सव्वदुक्खाणं अंतं करेइ।

[4]हंता ! [5]सिज्झइ [B]जाव अंतं [6]करेइ।

से [7]केणट्ठे णं भंते ?

गोयमा ! [8]संवुडे अणगारे आउयवज्जाओ [9]सत्तकम्मपगडीओ [10]घणियवंधणबद्धाओ सिढिलवंधणबद्धाओ

(ii) भगवन् ! क्या संवृत अनगार सिद्ध होता है यावत् सभी दुःखों का अन्त करता है ?

हाँ (गौतम !) सिद्ध होता है। याव सभी दुःखों का अन्त करता है। किस कार से भगवन् ! ऐसा कहा जाता है ?

गौतम ! संवृत अनगार आयुष्य कर्म छोड़कर सात कर्म प्रकृतियों को जो गा बंधन से बंधी हुई हों, उन्हें अल्प बंधन वाल करता है। दीर्घ काल की स्थिति वाली

[११]पकरेइ, [१२]दीहकालठिइयाओ [१३]हस्स-कालठिइयाओ[१४] [१५]पकरेइ । तिव्वाणु-भावाओ[१६] [१७]मदाणुभावाओ [१८]पकरेइ, [१९]बहुप्पएसग्गाओ [२०]अप्पपएसग्गाओ [२१]पकरेइ,आउयं च णं कम्मं ण [२२]बंधइ, [२३]असायावेयणिज्जं च णं कम्मं णो भुज्जो भुज्जो [२४]उवचिणाइ, [२५]अणा-दीयं च णं [२६]अणवदग्गं दीहमद्धं [२७]चाउरंत संसारकंतारं [२८]वीईवयइ । [२९]से तेणट्ठेणं गोयमा ! [३०]एवं वुच्चइ-संवुडे अणगारे [३१]सिज्झइ [C]जाव अंतं [३२]करेइ ।

अल्प काल की स्थिति वाली करता है। तीव्र अनुभाग वाली को मंद अनुभाग वाली करता है। बहु प्रदेश वाली को अल्प प्रदेश वाली करता है। आयुष्य कर्म का (संवृत अनगार) बंध नहीं करता है।

असाता वेदनीय कर्म का बार-बार उपचय नहीं करता है। अनादि अनन्त दीर्घ मार्ग वाले चार गति वाले संसार कांतार (जंगल) का उल्लंघन कर देता है।

गौतम ! इस कारण से इस प्रकार कहा जाता है कि संवृत अनगार सिद्ध होता है। यावत् सभी कर्मों का अन्त करता है।

विवेचनः-

आस्रव द्वार का निरोध कर परिपूर्ण चारित्र की आराधना करने वाला साधक संवृत अनगार कहलाता है। संवृत अनगार चरम-शरीरी-अचरम शरीरी की अपेक्षा से दो प्रकार के होते है। इसी भव में मोक्ष गमन योग्य आत्मा को चरम शरीरी और भवान्तर से मोक्ष जाने वाली आत्मा को

---

१. संवुडे - ला० ॥ २. ०गारे किं सि० - घा० ॥ ३. सिज्झइ, हंता सिज्झइ जाव - अमो० । सिज्झइ ५ हंता - पु०। सिज्झति ५ - वें० म० ॥ ४. हंता । गोयमा सिज्झ० ॥ ५. सिज्झति - वें० म० ॥ ६. करेंति - वें० म० ॥ ७. ०ट्ठेणं जाव अंतं करेइ गोयमा - घा० । ०ट्ठेणं भंते एवं वुच्चइ । गोयमा - पु० । ०ट्ठेण । गोयमा - वें० म० ॥ ८. संवुडे णं अण० - अमो० ॥ ९. ०कम्मप्पग० - स० घा० ॥ १०. ०बद्धाओ सढिल० - ला १ । ०ओ । सिथिल - ला २ ॥ ११-१५-१८-२१. पकरेति - वें० म० ॥ १२. ०ट्ठिइयाओ घा० न० । ०ट्ठितीयाओ - अमो० वें० म० । ०ठिईयाओ - पु० ॥ १३. हस्सकाल० - पु० अमो० घा० न० ला २-४ । हुस्स० - लों० ॥ १४. ०ट्ठिइयाओ - घा० न० । ०ट्ठितीयाओ - अमो० वें० म० ॥ १६-१७. ०भागाओ - वें० म० ॥ १९. बहुपदेसगाओ - अमो० । बहुपए-सग्गाओ - वें० म० ॥ २०. अप्पपदेसगाओ - अमो० ॥ २२. बंधति - वें० म० ॥ २३. अस्साया० - पु० न० वें० म० ॥ २४. उवचिणाति - वें० म० । उवचिणेइ अ० - ला २ ॥ २५. अणाइयं - पु० । अणाईयं - वें० म० ॥ २६. अणवयग्गं - घा०॥ २७. चाउरतं - वें०म०॥ २८. वीइवयइ - पु० । ०वयइ - अमो०घा० । वीतीवतति - क०व०मं०। वीतीवयति - वें०म०॥ २९. से एएणट्ठेणं - पु० । से एतेणट्ठे - ला ४ ॥ ३०. एवं संवुडे - अमो०ला० ला २-३-४॥ ३१. सिज्झति - वें०म०॥ ३२. करेति - वें०म०॥

A-बुज्झइ मुच्चइ परिनिव्वाइ ॥

B-बुज्झइ मुच्चइ परिनिव्वाइ सव्वदुक्खाणं ॥

C-बुज्झइ मुच्चइ परिनिव्वाइ सव्वदुक्खाणं ॥

अचरम शरीरी कहते हैं। यहाँ चरम शरीरी संवृत अनगार से तात्पर्य है, अर्थात् चरम शरीरी इसी भव में मुक्ति में जाएँगे। अतः उनसे यह सूत्र साक्षात् सम्बन्धित है। अचरम शरीरी सात-आठ भव से मोक्ष में जाएँगे, अतः उनके लिये यह सूत्र पराम्परा से सम्बन्धित है। परम्परा से सात-आठ भव ही ग्रहण किये है। क्योंकि जघन्य चारित्राराधना करने वाला भी अधिक से अधिक सात-आठ करके मोक्ष में चला जाता है यथा—'जहण्णियं चरित्ताराहणं आराहित्ता सत्तट्ठभव गहणेहिं सिज्झइ' जबकि असंवृत अणगार की परम्परा अपार्द्धपुद्गल परावर्तन (अर्द्धपुद्गल परावर्तन से कुछ कम) भी हो सकती है। अतः परम्परा से असंवृत अणगार यहां नहीं लिया जा सकता है। संवृत अनगार आराधक होता है, असंवृत अनगार विराधक होता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि प्रस्तुत सूत्र साक्षात् रूप से चरम शरीरी संवृत अणगार से एवं परम्परा से अचरम शरीरी संवृत अनगार से सम्बन्धित है।

सूत्र 12. असंयत जीव की चर्चा—

उत्थानिका :—

पूर्व सूत्र में व्रत नियम प्रत्याख्यान आदि को शुद्धता से पालने वाले संवृत अणगार की अवस्था प्रतिपादित की गई। प्रस्तुत सूत्र में जो व्रत नियमादि का पालन नहीं करता है, वह असंयत है उसकी क्या स्थिति होती है यह बतला रहे है।

सूत्र 12(i) जीवे णं भंते ! [१]असंजए [२]अविरइए [३]अप्पडिहयपच्चक्खायपावकम्मे [४]इओ चुए [५]पेच्चा देवे सिया ?

गोयमा ! अत्थेगइए देवे सिया, [६]अत्थेगइए णो देवे सिया। से [७]केणट्ठेणं [A]जाव [८]इओ चुए पेच्चा अत्थेगइए देवे सिया, अत्थेगइए णो देवे सिया ?

गोयमा ! जे इमे जीवा [९]गामाऽऽगर-णगर-[१०]निगम-रायहाणि-खेड़-कब्बड-[१२]मंडब-दोणमुह-[१३]पट्टणाऽऽसम[१४]सन्निवेसेसु अकामतण्हाए अकामछुहाए

सूत्र 12(i) हे भगवन् ! जीव असंयत अविरत अप्रतिहत पाप कर्म वाला (पाप कर्म को नष्ट नही किया) यहां से मरकर क्या देव होता है ?

हे गौतम ! कितनेक देव होते हैं, कितनेक देव नही होते है।

हे भगवन् ! ऐसा किस कारण से कहते हैं कि यावत् यहां से च्युत होकर कोई देव होते है, कोई देव नहीं होते है।

हे गौतम ! जो ये जीव ग्राम, आकर, नगर निगम, राजधानी, खेट, कर्वट, मंडब, द्रोणमुख, पत्तन आश्रम, सन्निवेश स्थानों में अकाम तृष्णा से, अकाम क्षुधा से, अकाम ब्रह्मचर्य

अकामबभचेरवासेणं [१५]अकामअण्हाणग-सेय-जल्लमल-पंकपरिदाहेणं [१६]अप्प-तरो वा भुज्जतरो वा कालं अप्पाण [१७]परिकिलेसंति, अप्पाणं परिकिलेसित्ता कालमासे काल किच्चा [१८]अन्नयरेसु वाणमंतरेसु [१९]देवलोएसु देवत्ताए उव-वत्तारो [२०]भवंति ।

वास से, अकाम अस्नान–स्वेद जल्ल–मैल तथा पंक से होने वाले परिदाह द्वारा अल्प या अधिक काल तक अपने आपको क्लेशित करते हैं । आत्मा को क्लेशित करके मृत्यु के समय मरकर वाणव्यन्तर जाति के किसी देव लोक में देव के रूप में उत्पन्न होते हैं।

विवेचन :–

संयम रहित–साधुता रहित व्यक्ति को असंयत कहते हैं। प्राणातिपाविरमण आदि कोई व्रत धारण नहीं किया है या–अ=नहीं, वि=विशेष, रति=तल्लीनता अर्थात् जिसकी तप, संयम आदि में कोई विशेष रुचि नही है, उसे अविरत कहते है ।

जो भूत कालीन पाप कर्मों को आत्मनिन्दा-गर्हा आदि से दूर कर देता है, वह प्रतिहत पापकर्मा कहलाता है तथा जिसने भविष्यकालीन पापकर्मों का त्याग कर दिया है, वह प्रत्याख्यात-पापकर्मा कहलाता है । जो इन दोनों से रहित है उसे 'अप्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा कहते है, अथवा मरण से पहले जिसने तप आदि के द्वारा पूर्वकृत पापो का नाश नहीं किया हो और मृत्यु के समय में भी जिसने पाप कर्म का नाश न किया हो, वह अप्रतिहत–प्रत्याख्यात पापकर्मा कहलाता

१. असंजए - पु० न० । असंजते - बे० म० ॥ २. अविरए - पु० अमो० घा० न० । अविरते - बे० म० ॥ ३. ०पच्चक्खाय० - घा० ॥ ४. इतो चुते - अमो० । इतो चूए - बे० म० । इतो चुतो पच्छा दे० - ला० ॥ ५. पिच्चा - अ० क० य० ॥ ६. अत्थेगइया - लों० ॥ ७ ०ट्ठेण भंते जाव - अमो० । ०ट्ठेणं भंते एवं वुच्चइ जीवेणं जाव इओ - घा० ॥ ८. इतो चुते - अमो० । इतो चूए - बे० म० ॥ ९. गामागरनगर० - पु० अमो० घा० न० ॥ १०. नियम - ता० ११. कब्बड - अमो० । कब्बड दोणमुह मडवं पट्टणा० - लों० ला १-३-४ ॥ १२. मंडव - अमो० ॥ १३. पट्टणासम - पु० अमो० घा० न० ॥ १४. ०सम संवाहसण्णि० - घ० ॥ १५. प्र – अकाममोतातवदंस ममग अण्हा-णग० - पु० अमो० घा० न० लों० ला १-४ ॥ १६. अप्पतरं वा भुज्जतरं - पु० घा० न० । अप्पतरो वा भुज्जतरो वा कालं नि प्राकृतत्वेन विभक्ति विपरिणामात् अल्पतरं व भूयस्तरं वा बहुतरं कालं यावत् वा शब्दो देवत्वं प्रति अल्प इतरकालयोः समताभिधानार्थौः अवृ० ॥ १७. ०संति परिकिले० - अमो० ०० । परिकिलेस्संति परिकिलेसित्ता - ला १ ॥ १८. अण्णतरेसु - बे० म० । ०सु वा वाणमंतरेसु वा रे० - ला० ३ ॥ १९. देवलोगेसु - पु० घा० न० म०॥ २०. प्र०– से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ जीवे णं असंजए जाव इओ चुए पेच्चा अत्थेगइए देवे सिया अत्थेगइए नो देवे सिया - घा० ॥

अ– भंते ! एवं वुच्चइ–असंजए अविरए अप्पडिहय–पच्चक्खाय–पावकम्मे ॥

है, या जिसने सम्यक् दर्शन प्राप्त कर पाप कर्मों को नष्ट किया है वह प्रतिहत-पाप-कर्मा और जो सम्यग् दर्शन की प्राप्ति के बाद सर्वविरति द्वारा पापकर्मनिरोध की प्रक्रिया नहीं करता वह अप्रत्याख्यात-पापकर्मा कहलाता है। सम्यक् श्रद्धा रहित अविरत, अप्रतिहत अप्रत्याख्यात कर्मा कहलाता है।

उपर्युक्त अवस्था वाले जीव की कौनसी गति होती है? एतद् विषयक प्रश्न पर भगवान् ने प्रत्युत्तर दिया कि ऐसी अवस्था वाले तिर्यञ्च मनुष्य में से कोई जीव देवलोक में जाते हैं, कोई नहीं जाते हैं।

जो अकाम निर्जरा करने वाले होते हैं, वे देवलोक में जाते है।

मोक्ष भावना से रहित अज्ञानपूर्वक की जाने वाली क्रिया से होने वाली निर्जरा अकाम निर्जरा है। ज्ञानपूर्वक-मोक्ष प्राप्ति की भावना से की जाने वाली क्रिया से होने वाली निर्जरा सकाम निर्जरा है।

सम्यग्-विवेक-विकल मिथ्यादृष्टि जीव ग्राम-नगर आदि किसी भी स्थान में रहता हुआ भूख-प्यास सहता है, ब्रह्मचर्य का पालन करता हैं, स्नान नहीं करता, स्वेद (पसीना), मल्ल (पसीने पर लगी रज), मल (जलरज का जम जाना), पंक (जिससे शरीर पर कीचड़ सा बन जाना आदि अवस्था को अल्प या बहुत काल तक सहन करता है। इस प्रकार सुज्ञान विकल आचरण से की गई अकाम निर्जरा से वह मिथ्यादृष्टि आत्मा व्यन्तरदेव होता है।

सकाम निर्जरा करने वाली भव्य आत्मा तो ऊँचे देवलोक में उत्तमदेव बनती है। सर्वथा कर्म क्षय करने पर देवलोकों से परे चिर स्थायी मुक्ति में भी जा सकती है।

सूत्रगत ग्राम-नगर आदि शब्दों की परिभाषाएं:—

ग्राम—देश के मनुष्यों के लिए जो आश्रय रूप स्थान हो, उसे ग्राम कहते हैं। जहां सामान्य बुद्धि वाले और विशेष बुद्धि वाले दोनों प्रकार के लोग रहते हों, उसे ग्राम कहते हैं।

आकर—खान, खदान को आकर कहते हैं। जिस स्थल पर अनेक प्रकार की धातुएँ निकलती हों, उसे आकर कहते हैं।

नगर—जहां कर (टैक्स) न लगे, उसे नगर कहते है। नागरिक-व्यापारियों में जो क्रय-विक्रय होता-उस पर राजकीय कर नहीं लगता था जिससे अच्छी तरह व्यापार कर नगर की गरिमा को बढ़ा सकें। ग्रामीणजनों की श्री वृद्धि में भी सहायक बन सके (किन्तु आज की स्थिति-व्यवस्था ठीक विपरीत लगती है।)

निगम—जिस स्थल पर क्रय-विक्रय प्रचुर मात्रा में होता हो, जहां बहुतायत से व्यापारियों का निवास हो, उसे निगम कहते हैं। आज की भाषा में जिसे 'मंडी' भी कहा जा सकता है।

राजधानी—जिस स्थल पर स्थायी रूप से राजा का निवास (प्रासाद) स्थल हो उसे राजधानी कहते हैं।

खेट—जिस छोटी बस्ती के चारों ओर धूलि का प्राकार (परकोटा) हो उसे खेट या खेड़ा कहते है।

कर्बट—कुत्सित (उजड़े हुए) नगर को कर्वट कहते हैं जिसकी गणना न नगर में हो सके न ग्राम में, ऐसी बस्ती को कर्वट कहते हैं।

मडम्ब—जिस बस्ती के चारों तरफ ढाई २ कोस तक दूसरी बस्ती न हो, उसे मडम्ब कहते है।

द्रोणमुख—जिस ग्राम-बस्ती आदि में जाने के लिए जल और स्थल दोनों मार्ग हों, उसे द्रोणमुख कहते है।

पट्टन—जहां पर देश-देशान्तर का माल आता हो। इसके दो भेद हैं–जल पट्टन, स्थल पट्टन। जो जल के मध्य या किनारे पर स्थित हो उसे जल-पट्टन और जो स्थल में हो–जहा स्थल मार्ग से माल उतरता हो उसे स्थल पट्टन कहते है या जहा हाथी--घोडे-रत्न आदि बहुमूल्य वस्तुओं का क्रय--विक्रय होता हो, उसे पट्टन कहते है।

आश्रम—जिस स्थल पर कदमूल खाने वाले तापसों का निवास हो, उसे आश्रम कहते है।

सन्निवेश—जहां गोरस-दुग्ध-दधि आदि का विक्रय करने वाले व्यक्तियों का निवास हो, उसे सन्निवेश कहते है-सेना आदि के पड़ाव को भी सन्निवेश कहते है।

— व्यन्तरों के स्थान —

उत्थानिका :—

असंयत आत्मा भी शुभ योग के माध्यम से पुण्य-प्रकृति का बंध करती है तथा-असंक्लिष्ट परिणामों के साथ पुण्य की प्रबलता से मनुष्य-तिर्यंच की स्थिति को छोड़कर संचित पुण्य कर्म को भोगने के लिए देवलोक में भी प्रयाण करती है। कई आत्माएं व्यन्तर देवों में भी जाती है। उन व्यन्तर देवों के देवलोक की क्या स्थिति है—इसका प्रस्तुत सूत्र में वर्णन किया जा रहा है।

(ii) केरिसा णं भंते ! तेसिं वाणमंतराणं देवाणं [1]देवलोगा पण्णत्ता ?

गोयमा ! से जहानामए [2]इहं [3]मणुस्सलोगम्मि [4]असोगवणे इ वा, [5]सत्तवण्णवणे इ वा, [6]चंपयवणे इ वा, [7]चूय-

(ii) हे भगवन् ! किस प्रकार के उन वानव्यन्तर देवों के देवलोक कहे गये हैं ?

हे गौतम ! वे इस प्रकार है। इस मनुष्य-लोक में अशोक वन, सप्तपर्ण वन, चंपक वन, आम्रवन, तिलकवृक्ष वन, अलाबु वन, न्यग्रोध वन, छत्रोघ का वन, असन (बीजक वृक्ष)

वणे इ वा, तिलगवणे इ वा, [८]लउयवणे इ [९]वा, [१०]निग्गोहवणे इ वा, [११]छत्तोहवणे इ वा, असणवणे इ वा, सणवणे इ वा, अयसिवणे इ वा, [१२]कुसुंभवणे इ वा, सित्तत्थवणे इ वा, [१३]बंधुजीवगवणे इ वा, [१४]णिच्चं [१५]कुसुमिय, माइय, लवइय, थवइय, [१६]गुलुइय, [१७]गोच्छिय, [१८]जमलिय, [१९]जुवलिय,

[१]विणमिय, पणमिय सुविभत्त–[२]पिंडिमंजखिडेंसगधरे [३]सिरीए अतीव अतीव [४]उवसोभेमाणे चिट्ठइ, [५]एवामेव तेसिं वाणमंतराणं देवाणं [६]देवलोगा जहण्णेणं [७]दसवाससहस्सट्ठितीएहिं उक्कोसेणं [८]पलिओवमट्ठितीएहिं बहूहिं वाणमंतरेहिं [९]देवेहिं य देवीहि य [१०]आइण्णा [११]वितिकिण्णा उवत्थडा संथडा फुडा [१२]अवगाढगाढा सिरीए [१३]अतीव अतीव [१४]उवसोभेमाणा-चिट्ठंति। [१५]एरिसगा णं [१६]गोयमा ! [१७]तेसिं वाणमंतराणं देवाणं देवलोगा [१८]पण्णत्ता। से तेणट्ठेणं [१९]गोयमा ! एवं [२०]वुच्चइ-जीवे णं [२१]असंजए ^जाव देवे सिया।

का वन, सण (पाट) का वन अलसी का वन, कसुंबा का वन, सरसों का वन, बन्धुजीवक का वन, नित्य कुसुम युक्त हुआ, मौर (मंजरी) से युक्त हुआ, लवकित-पल्लवों से युक्त हुआ, स्तवित फूलों के गुच्छों से युक्त हुआ लता समूह से युक्त हुआ, गुच्छों से युक्त हुआ, यमलित–समान श्रेणी के वृक्षों वाला, युगलित–दो वृक्षों से युक्त–युगल वृक्षों वाला, विनमित फल–फूल के भार से लदा हुआ (झुका हुआ) प्रणमित–फल के भार से विशेष रूप से झुका हुआ, अत्यन्त विभाग वाली, पिंडी–मंजरी के कर्णाभूषण युक्त, वन श्री से अतीव अतीव बहुत–बहुत शोभित होता है। इसी प्रकार के वानव्यन्तर देवों के देवलोक जघन्य से, दस हजार वर्ष की स्थिति वाले उत्कृष्ट से पल्योपम की स्थिति वाले, बहुत वानव्यन्तर देवों से देवियों से आकीर्ण-व्याप्त व्याकीर्ण-विशेष व्याप्त, उपस्तीर्ण परस्पर आच्छादित परस्पर सम्मिलित स्फुट प्रकाश युक्त अत्यन्त अवगाढ दैविक लक्ष्मी (शोभा) से अतीव अतीव उपशोभित हैं।

हे गौतम ! उन वाणव्यन्तर देवों के देवलोक इस प्रकार प्रज्ञप्त कहे गये हैं।

इसीलिए गौतम ! ऐसा कहा जाता है कि असंयत जीवों में से कोई मरकर देव होते हैं। कोई नहीं होते हैं।

विवेचन :–

इस सूत्र में वाण-व्यन्तर देवताओं के देवलोक का वर्णन किया है। जिस प्रकार अशोक (वृक्ष) वन आदि पल्लवित, पुष्पित–फलित होते हुए अतीव शोभित होते हैं, इसी प्रकार व्यन्तर जाति के देव-

१. देवलोया - पा० ॥ २. इह - असो० पा० । इहं असोगवणे - न० मे० म० । इहं माणुस्सलोगम्मि असो० - पा० ला १-२-३ । इहं मणुस्सलोगे असो० - ला ४ ॥ ३. मणुस्सलोगंसि - अ० म० प० मं० म० ॥ ४. 'असोगवने इ वा'

लोक शोभित होते हैं। इसीलिए उन्हें आवासों में उत्पन्न, वनों में क्रीड़ा करने वाले वाण-व्यन्तर देव कहते है। वह स्थान देव-देवियों से परिवृत्त होता है। इनकी जघन्य दस हजार वर्ष की और उत्कृष्ट एक पल्योपम की स्थिति होती है।

— प्रथम उद्देशक उपसंहार —

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति भगवं [1]गोयमे समणं भगवं महावीरं [2]वंदइ णमंसइ वंदित्ता णमंसित्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे [3]विहरइ।

हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है। ऐसा कह कर भगवान् गौतम श्रमण भगवान् महावीर स्वामी को वंदन करते है, नमस्कार करते हैं। वन्दना नमस्कार कर संयम तप से अपनी आत्मा को भावित करते हुए भू-मण्डल पर विचरण करते है।

प्रत्येतस्य अशोकवनमिति वा तथा 'अशोकवने इ व' इति द्वावयौ - अवृ०। एतदनुसारेण "सत्तवण्णवणे इ वा" इत्यादिपदानां वृतिव्याख्याऽप्यवबोद्धव्या ।। ५. सत्ति० - म०। सत्तिवण्ण० ला १-२ ।। ६. चंपगवणे - बे० म० ।। ७. चूतवणे - बे० म० ।। ८. लाउयवणे - पु० अमो० घा० अ० क० ब० म०। लोअ० - मं० ।। ९. वा छत्तोयवणे इ वा निग्गोहवणे इ वा असण० - लो०। वा छत्तोववणे ति वा असण० - ला १ ।। १०. नगोहवणे - न०। णिगोह० - स०। निग्गोहवणे - णत्थि अ० क० ता० ।। ११. छत्तोववणे - पु० बे० म०। छत्तोअ० - क०। छिन्नो० - व०। छन्नो - स०। छत्तोहवणे - णत्थि मं०। छत्तोहवणे इ वा प्रत्यन्तरे - ला १ टीका ।। १२. कुसुंभवण इ वा - घा० ।। १३. ०जीववणे इ वा - अमो०। ०वणे त्ति वा कुसुमियमोइय० - ला० ला २-३ ।। १४. णिच्चं - णत्थि अ० क० ता० व० ।। १५. कुसुमितमाइतलवइत - बे० म०। कुसुमियमोयरिय० - दुर्ग वि०। कुसुमियमोइय० - ला २। ०माईय० - ला १ १६. गुलइय - पु०। गुलुइत - बे० म० ।। १७. गुच्छिय - बे० म०। यद्यपि च स्तवक गुच्छयोः अविशेषः नामकोशे अधीत तथापि इह पुष्प पत्रकृतो विशेषो भावनीय. - अवृ० ।। १८. जमइय - अ०। जमलित - बे० म० ।। १९. जुवलिय - पु० अमो० न०। जुयलिय - घा०। जुवलित - बे० म० ।।

१. विणमित पणमित - बे० म० ।। २. ०वडिंगघरे - अमो०। ०वडिंसगघरे - घा०। ०रिवेडि० - क० लो०। ०वेण्टमंजरी० - ता०। पडिमंजरी० - ला ३ ।। ३. ०ए अईव उव० - लो०। ०ए अईव अईव उव० - घा० बे० म०।। ४. ०माणे उवसोभेमाणे चिट्ठइ - पु० अमो० घा० न०। ०माणे उवसोभेमाणे चिट्ठंति - बे० ०० ।। ५. एवमेय - ता० मं० ।। ६. देवलोया - अमो० ।। ७. ठिईएहिं - अमो०। ठिइएहिं - घा०। ट्ठितिएहिं - लो० ।। ८. ०वमट्ठितीएहिं - पु० न० बे० म०। ०वमट्ठिईएहिं - अमो०। ०वमठिइएहिं - घा०। ०मट्ठितिएहिं - लो० ।। ९. देवेहिं महेवीहि य आ० - पु० ला १। देवेहि य - अमो०। देवेहिं देवी० - घा० ।। १०, आतिण्णा - अमो० ।। ११. विनिण्णा - अमो० व० वृपा० क०। विइण्णा - घा० ला ४। वितिकिण्णा - णत्थि वृ० ।। १२. ०गाढगाढमिरीए - पु० अमो०। ओगाढ० - घा०। अवगाढ सि० - ला ३। अवगाहगाढा सि० - ला २ ।। १३. अईव अईव - घा० ।। १४. ०माणा उवसोभेमाणा चिट्ठंति - अमो० घा० न० ।। १५. एरिसिगा - ला १ ।। १६-१९. गोयमा - बे० म० ।। १७. तेसिं णं वाण० - घा० ।। १८. पण्णत्ता। सेवं - घा० ।। २०. वुच्चंति - बे० म० ।। २१. असंजए - न० बे० म० ।।

^— अविरए अप्पडिहय पच्चक्खाय पाव कम्मे इओ चुए पेच्चा अत्थेगइए ।।

१. गौतमे - बे० म० ।। २. वंदति नमंसति - पु० न० बे० म०। वंदंति णमंसंति - ला० ।। ३. विहरंति - पु० न० बे० म० ।।

विवेचनः–

भगवान् के मुख से चलमाणे-चलिए से लेकर व्यन्तरों के देवलोक तक का यथातथ्य वर्णन श्रवण कर गौतम स्वामी बोले :—

'सेवं भते ! सेवं भंते !'

हे भगवन् ! आपने जैसा कहा–वैसा ही है, इसमें अंश मात्र भी शंका का स्थान नहीं है।

आपकी पवित्र आत्मा में अनन्त ज्ञानोदधि समाहित है, अतएव आपके वचन सर्वांगतः निस्संदेह है। गुणानुवाद की प्रस्तुति के साथ गौतम स्वामी ने भगवान् को वन्दन-नमस्कार किया और तपसंयम की आराधना करते हुए विचरने लगे।

ज्ञान की परिपूर्ण समुपलब्धि के लिये जिज्ञासु को विनम्रता परमावश्यक है। परम साधनानिष्ठ गौतम स्वामी की विनयशीलता साधक के लिये परम आदर्शभूत है।

—* प्रथम उद्देशक समाप्त *—

बितिओ उद्देसो - द्वितीय उद्देशक

प्राथमिक

प्रथमोद्देशक से सूत्रकार ने संसारी जीवों को मुख्यतया चौबीस विभागों—दण्डकों में विभक्त कर उनकी स्थिति—आहार—श्वासोच्छ्वास आदि का वर्णन किया है।

प्रस्तुत उद्देशक में जीव के चौबीस दण्डकों में परिभ्रमण करने का मूल—भूत कारण प्रतिपादित किया गया है। अनन्तानंत आत्माएँ इस संसार में चौरासी लाख जीव योनियों में परिभ्रमण कर रही हैं। भौतिक सुख—दुःख के झूले में झूल रही है। कई आत्माएँ स्वर्गीय सुखानुभूति करती हैं, तो कई आत्माएँ नरक के भयंकर दुःखों से पीड़ित हो रही हैं, तो अनेक आत्माएँ तिर्यञ्च—मनुष्य के सुख—दुःख का संवेदन कर रही है ;

इसका मूल कारण क्या है ?

जब तक इसका स्पष्टाववोध नहीं हो जाता, तब तक आत्मा संसार से उपरत होकर मोक्षमार्ग में विचरण नहीं कर सकती। इस लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए सूत्रकार ने द्वितीय उद्देशक के प्रारम्भ में कर्म—वेदन की प्रक्रिया प्रस्तुत की है।

सभी आत्माओं का मौलिक स्वरूप एक समान होते हुए भी कर्मों के कारण वे विभिन्न अवस्थाओं में प्रतिभासित होती है। जिस प्रकार हजार-हजार वाल्ट (Volt) के हजारों बिजली के बल्बों को काले—नीले—हरे आदि रंगों के आवरणों से परिवेष्टित कर देने पर उनका एक रूप प्रकाश भी रंगीन बन जाता है। समान शक्ति सम्पन्न होते हुए भी जितना—जितना क्षेत्र उन्हें प्राप्त होता है, वे उतने उतने को ही प्रकाशित करते हैं।

इसी प्रकार संसारी आत्माएँ भी कर्मों के विभिन्न रंगों से रंगीन बनी हुई हैं तथा कर्म परतंत्रता से यथा उपलब्ध क्षेत्र में ही स्थित हैं।

वह कर्म आत्मा के साथ किसी प्रकार संयोजित होकर आत्मा को सांसारिक बंधनों में आवेष्टित करता रहता है, इसका वर्णन अग्रिम सूत्र में किया जा रहा है:—

बितिओ उद्देसो : दुक्खे | द्वितीय उद्देशक : दुःख

13 उपक्रम—

सूत्र 13 रायगिहे [1]नगरे समोसरणं। परिसा [2]निग्गया जाव[A] एवं [3]वयासी-

सूत्र 13 राजगृह नगर में भगवान् महावीर पधारे, समवसरण की रचना हुई परिषद् निकली यावत् परिषद् भगवान् के दर्शन व उपदेश श्रवण कर अपने २ स्थान पर चली गई तब भगवान् से गौतम स्वामी ने विनम्रता के साथ इस प्रकार प्रश्न किया।

14. जीव के स्वकृत-दुःख वेदन सम्बन्धी चर्चा—

सूत्र 14 जीवे णं भंते ! [4]सयंकडं दुक्खं [5]वेदेइ ?

गोयमा । अत्थेगइयं [6]वेदेइ, अत्थेगइयं नो [7]वेदेइ । से केणट्ठेणं भंते ! एवं [8]वुच्चइ–अत्थेगइयं [9]वेदेइ, अत्थेगइयं नो [10]वेदेइ ?

गोयमा ! उदिण्णं [11]वेदेइ, अणुदिण्णं नो [12]वेदेइ, [13]से [14]तेणट्ठेण एवं [15]वुच्चइ--अत्थेगइयं [16]वेदेइ, [17]अत्थेगइयं नो [18]वेदेइ । [20]एव [21]चउव्वीस दंडएणं जाव [22]वेमाणिए ।

सूत्र 14 भगवन् ! क्या जीव स्वयं कृत दुःख का वेदन करता है ?

गौतम ! किसी कर्म का वेदन करता है, किसी कर्म का वेदन नहीं करता है।

भगवन् ! ऐसा किस कारण से कहा जाता है कि किसी दुःख का वेदन करता है, किसी दुःख का वेदन नहीं करता है।

गौतम ! उदीर्ण का वेदन करता है, अनुदीर्ण का वेदन नहीं करता है।

इस कारण हे गौतम ! मैं ऐसा कहता हूं किसी कर्म का वेदन करता है, किसी दुःख (कर्म) का वेदन नहीं करता है। इसी प्रकार यावत् नैरयिक से लेकर वैमानिक तक चौवीस दण्डकों के संबंध में प्रश्नोत्तर समझ लेना चाहिए।

---

१. णयरे - अमो० पा० ॥ २. णिग्गया - पा० । निग्गता - बे० म० ॥ ३. वदासी - बे० म० ॥ ४. सयकडं - अमो० ॥ ५. वेएइ - पा० । वेदेंति - बे० म० ॥ ६-७ वेएइ - पु० पा० । वेदेंति - बे० म० । ८. वुच्चइ - ला० ॥ ९. वेएइ - पा० । वेदेंति - बे० म० ॥ १० वेएइ - पु० पा० । वेदेंति - अमो० बे० म० ॥ ११ वेएइ - पु० पा० । वेदेंति णो अणुदिण्णं वेदेंति - अमो० । नो अणुदिण्णं वेदेइ - न० । वेदेंति - बे० म० । ० ति नो अणुदिन्नं वेदेंति - ला १ । ० ति नो अणुदियं वेदेंति - ला २ ॥ १२- १६- १८- वेएइ - पु० पा० । वेदेंति - बे० म० ॥ १३. से एएणट्ठेणं - लों० ॥ १४. ० ट्ठेणं । गोयमा एवं - न० । ०ट्ठेणं एवं जाव वेमाणिए - ला १ - २ ॥ १५. वुच्चति - बे० म० ॥ १७. अत्थेगतियं - पु० ॥ २० एवं जाव - म० ॥ २१. चउवीस - अमो० ॥ २२ वेमाणिया - लों० ॥

A- धम्मो कहिओ ! परिसा पडिगया• सूत्र ५(भ०) १०-१ १४) •ओ. सू. ५२-८१ (App. 'd')

सूत्र 15. जीवा णं भंते ! सयंकडं दुक्ख वेदेंति[१] ?

गोयमा ! [२]अत्थेगइयं [३]वेदेंति, [४]अत्थेगइयं नो [५]वेदेंति । से [६]केणट्ठेणं एवं [७]वुच्चइ-अत्थेगइयं वेदेंति, अत्थेगइयं नो वेदेंति ।

गोयमा ! उदिण्णं [८]वेदेंति, णो [९]अणुदिण्णं [१०]वेदेंति, से [११]तेणट्ठेणं एवं [A]जाव वेमाणिया ।

सूत्र 15. हे भगवन् ! क्या समस्त जीव स्वयं कृत दुःख का वेदन करते हैं ?

हे गौतम ! समस्त जीव किसी दुःख का वेदन करते हैं। किसी दुःख का वेदन नहीं करते हैं।

हे भगवन् ! आप ऐसा किस कारण से कहते है कि किसी दुःख का वेदन करते हैं, किसी दुःख का वेदन नहीं करते है।

हे गौतम ! उदीर्ण का वेदन करते है किंतु अनुदीर्ण-उदय को अप्राप्त का वेदन नही करते हैं।

इसीलिए गौतम ! समस्त जीव स्वयंकृत किसी दुःख का वेदन करते हैं और किसी स्वयंकृत दुःख का वेदन नही करते हैं। इसी प्रकार वैमानिक पर्यन्त चौबीसों दण्डकों में कहना चाहिए।

सूत्र 16. आयु-वेदन सम्बन्धी चर्चा—

सूत्र 16. जीवे णं भंते ! [१२]सयंकडं आउयं [१३]वेदेइ ?

गोयमा ! अत्थेगइयं [१४]वेदेइ, अत्थेगइयं नो [१५]वेदेइ । जहा दुक्खेणं दो दंडगा तहा [१६]आउएणं वि दो दंडगा-[१७]एगत्तपुहुत्तिया, एगत्तेणं [B]जाव वेमाणिया, [१८]पुहुत्तेणं वि तहेव ।

सूत्र 16 भगवन् ! जीव क्या स्वयंकृत आयु का वेदन करता है ?

हे गौतम ! एक जीव किसी आयु कर्म का वेदन करता है किसी आयुकर्म का वेदन नहीं करता है। एकत्व पृथकत्व अर्थात् एक वचन बहु वचन की अपेक्षा जिस प्रकार दुःख के दो दण्डक प्रतिपादित किये, उसी प्रकार आयु कर्म के भी दो दण्डक कह देने चाहिए।

एक वचन से यावत् वैमानिक तक पृथक्त्व बहुवचन से भी उसी प्रकार वैमानिक तक कहना-जानना चाहिए।

१. वेएन्ति - पु० ॥ २. अत्थेगइया - अमो० ॥ ३-५. वेयन्ति - पु० ॥ ४. अत्थेगइया - अमो० । अत्थेगईए नो वेदेंति । से - ला० ॥ ६. ०ट्ठेणं ? गोयमा ! उदिन्नं - पु० घा० वे० म० । ०ट्ठेणं भंते एवं - अमो० घा० ॥ ७. वुच्चइ गोयमा-उदिण्णं - अमो० ॥ ८. वेयन्ति - पु० । ०ति एवं जाव वेमा० - ला १ ॥ ९. ०दिन्नं से एएणट्ठेणं - लो० ॥ १०. वेयन्ति - पु० । वेदेंति एवं जाव - अमो० ला २ । ११. ०ट्ठेणं गोयमा एवं वुच्चइ-अत्थेगइयं वेदेंति अत्थेगइयं नो वेदेंति एवं जाव - म० ॥ १२. सयंकयं - लो० ॥ १३. वेएइ - पु० घा० । वेदेति - अमो० । वेएइ - घा० । वेदेति - वे० म० ॥ १४. वेएइ - पु० घा० । वेदेति - अमो० । वेदेति जधा दुक्खेणं - वे० । वेदेति जहा - म० ॥ १५. वेएइ - पु० घा० । वेदेति अमो० ॥ १६. आउएण वि - पु० वे० म० । आउएण वि एगत्त० - अमो० । आउएणं दो -

विवेचन :-

संसारी जीव के साथ अनादिकाल से कर्म का सम्बन्ध चला आ रहा है। एक क्षण के लिए भी संसारी जीव कर्म से सर्वथा मुक्त नही बने हैं। उन कर्मों के वश जीवात्माएँ निरन्तर संसार-चक्र में घूम रही हैं। दुःखों से पीडित और क्लान्त हो रही हैं।

ऐसी दुःखानुभूति क्या जीव को स्वयंकृत कर्मों से होती है या परकृत कर्मों से होती है। इस विषयक् गौतमस्वामी द्वारा प्रश्न करने पर भगवान् ने फरमाया—जीव स्वयंकृत कर्मों में से किसी कर्म को भोगता है किसी को नहीं भोगता है अर्थात् स्वाभाविक रूप से उदय प्राप्त या उदीरणा विशेष से जो कर्म उदय में आए हैं उन्हे भोगता है। जो कर्म अभी तक उदय में नही आए हैं उन्हें नहीं भोगता है।

प्रश्न:— प्रस्तुत पाठ में वेदन सम्बन्धी प्रश्न किया गया है। इस प्रश्न का तात्पर्य यह है कि जीव जिन कर्मों को जिन अध्यवसायों में बांधता है, उन कर्मों को उन्हीं अध्यवसायों की परिधि में भोगता-वेदन करता है या नहीं ?

उत्तर:— यह प्रश्न यद्यपि वर्तमान काल से सम्बन्धित है, तथापि उपलक्षण से इसे त्रिकाल से सम्बन्धित किया जा सकता है। इसका त्रैकालिक सम्बन्ध लेने पर इसकी व्याख्या निम्न प्रकार से होगी :—

कई जीव जिन भावों से कर्म बांधते हैं, उन्ही अध्यवसायों की परिधि में अर्थात् कर्मों का उसी रूप में वेदन करते हैं। कई जीव जिन अध्यवसायों में बांधते हैं, उन्ही अध्यवसायों की परिधि में वेदन करते भी हैं और नही भी करते है। इस अर्थ से जिज्ञासु शंकाशील बन सकता है कि किये हुए कर्मों का भोग वेदन किये बिना आत्मा उन कर्मों से मुक्त नहीं बनती। जबकि 'नो वेएइ'— से यह बताया कि कर्म वेदन नहीं करता।

इस प्रकार परस्पर विरुद्ध भासित होने वाले विषय का तात्पर्यार्थ यह है कि—जिन आत्माओं ने जिन अध्यवसायो में अनिकाचित कर्मों का बन्धन किया है, उनमें से कई कर्म संक्रमणादि करण सम्बन्धी प्रक्रियाओं से भिन्न अध्यवसायों वाले सजातीय कर्म में परिवर्तित हो जाते हैं।

उदाहरण के तौर पर मतिज्ञानावरण कर्म का बन्ध जिन अध्यवसायों में हुआ है, उस मति ज्ञानावरण का श्रुतज्ञानावरण में संक्रमण हो जाने पर उस कर्म के वेदन में मतिज्ञानावरण के अध्य

पा० ॥ १७. ०णोहत्तिया - अमो० ब० मं० म० पे० म० । ०पुहत्तिया - पा० । पोहत्तिया । नेरइया - न० । ०पु तिया । णेरइयाणं - ला० । ०ववोहत्तिया । णेरइयाणं - ला १-२ । ०त्तपुहत्ता णेरइयाणं - ला ३ । एक वचन बहु वचन युक्ता इत्यर्थः ॥ १८. पुहुत्तेण ति - पु० । पुहुत्तेण वि - पा० पे० म० ; पुहुत्तेणं - ब० मं० म० ॥

A–B– पूरक पाठ 1 से 24 तक ॥

वसायों की स्थिति नहीं होती है। श्रुतज्ञानावरण के अध्यवसायो की परिधि में वह जीव उस कर्म का वेदन करता है, इस अभिप्राय: से 'नो वेएइ' 'वेदन नही करते है' ऐसा कहा गया है।

सहसा परस्पर विरोधाभास प्रतीत होने पर भी आगमों में कतई विरोध नहीं है। यहाँ पर शास्त्रकार की शैली समझना अभीष्ट है।

जीव के द्वारा स्वयंकृत कर्मों का ही फल-परिभोग प्रतिपादित होने से परकृत कर्मभोग का स्पष्टतया निषेध हो जाता है अर्थात् जीव परकृत कर्मों का फल-परिभोग नहीं करता है। यदि जीव परकृत कर्म का फलभोग भो करने लग जाय, तो संसार की व्यवस्था ही नहीं रह पाएगी। लौकिक-लोकोत्तर दोनों ही व्यवहारों में अव्यवस्था हो जाएगी। यज्ञदत्त के भोजन करने से देवदत्त की भूख नहीं मिटती, जो कि प्रत्यक्ष सिद्ध है। उसी प्रकार यज्ञदत्त के द्वारा कृत कर्म का फलभोग देवदत्त कैसे कर सकता है? यदि व्यक्ति दूसरे के कर्म का भी फल भोगता है तो उसको शुभाशुभ फलभोग भी एक साथ करना पड़ेगा। दूसरे के कर्मफल भोगने के कारण कोई भी प्राणी सुखी नहीं हो सकेगा, क्योंकि उसे दूसरों को अशुभ कर्म भोगने पड़ेगे। इसी प्रकार कोई भी जीव अशुभ कर्म करके भी दुःखी नही बन पाएगा, क्योंकि वह दूसरे के शुभ कर्म से सुखी बन जाएगा और किसी भी मनुष्य को मुक्ति की भी प्राप्ति नही हो सकेगी, क्योंकि उसे परकृत कर्म भोगने पड़ेंगे। इस प्रकार से कृत कर्म-प्रणाश, अकृत कर्म-भोग आदि दोषापत्ति आएगी।

अतएव आगम वाक्य सत्य है कि जीव स्वयंकृत कर्म का ही भोग करता है, अन्य का नही। स्वयं द्वारा कृत कर्म का भोग भो स्वयं को ही करना पड़ता है–चाहे शुभ हो या अशुभ। यदि आत्मा पर-कृत कर्म भोगने लगे तो स्वकृत कर्म निष्फल हो जायेंगे।

मूल पाठ में केवल 'दुक्ख'[1] शब्द ही बतलाया है, इससे यह नही समझना चाहिये कि पर-कृत दुःख का भोग तो नही होता, किन्तु सुख का भोग हो सकता है। क्योंकि शास्त्रकार की दृष्टि मे मुक्ति का सुख ही वास्तविक सुख के रूप में मान्य है। अत: सासारिक सुख भी अपेक्षा से दुःख के रूप में ही है। ऐसा सुख पराधीन भी है, क्योंकि वह भोग्य पदार्थो के, इन्द्रियों के, शारीरिक शक्ति के अधीन है। जहां-पराधीनता है, वहां सुख नही, दुःख है। सासारिक सुख-सुख नही अपितु सुखाभास के रूप में है, अतः शास्त्रकारों ने दु.ख मे ऐसे सुख को भी समाहित कर लिया है।

अत: जीव स्वयंकृत कर्म भोगता है, परकृत नही। यह एक वचन सम्बन्धी कथन नरक से लेकर वैमानिक पर्यन्त कह देना चाहिये। इसी प्रकार बहुवचन से संसार के सारे जीवों के विषय में भी यह कथन समझना चाहिये।

---

१. दुःख शब्द का एक अर्थ कर्म भी लिया जाता है, यथा— दुःखतया-कर्मतया क्रियन्ते। इस दृष्टिकोण से कर्म में साता कर्मजनित सुख और पापकर्म जनित दुःख दोनों का समावेश हो जाता है। अतः दुःख शब्द से सुख शब्द भी गृहीत है।

कभी कभी एक वचन सम्बन्धी प्रश्न के उत्तर से बहुवचन-सम्बन्धी प्रश्न के उत्तर में अन्तर आ जाता है। यथा— एक जीव आश्रयी सम्यक्त्वादि (सम्यक्त्व, मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान) की स्थिति छियासठ सागरोपम से कुछ अधिक प्रतिपादित है और सर्व जीवों की अपेक्षा सदा काल की है ऐसा ही अन्तर उपर्युक्त प्रश्न के बहुवचन में भी है या नहीं ? इसका स्पष्टीकरण करने के लिये गौतम स्वामी ने बहुवचन सम्बन्धी अलग से प्रश्न किया या अत्यन्त अव्युत्पन्न (मंद) मति वाले शिष्यों को भी समझाने के लिये प्रश्न किया है।

वैसे तो कर्मों के वर्णन में आयुष्य कर्म भी आ जाता है, तथापि आयु का अलग से वर्णन करने का आशय यह है कि नरक-तिर्यञ्च आदि के व्यवहार में आयुष्य कर्म की मुख्यता रहती है। दूसरी बात यह है कि सात कर्मों के वेदन का तो जीव को स्पष्टावबोध होता है, किन्तु आयु कर्म के वेदन का स्पष्ट बोध नहीं होता है। इस कारण कोई जिज्ञासु यह न समझ लें कि आयु कर्म का वेदन होता भी है या नहीं ? इसका बोध कराने के लिए भी अलग से प्रश्न किया गया है, अर्थात् आयु कर्म का निश्चित रूप से वेदन होता है। जीव स्वयंकृत आयु का ही वेदन करता है, अन्य कृत का नहीं। स्वोपार्जित आयु भी जितनी-जितनी उदय में आती है, उतनी-उतनी भोगता है। यथा — किसी मनुष्य ने देवायु बांधी है, किन्तु अभी पूर्वबद्ध उदय प्राप्त मनुष्यायु का भोग कर रहा है। अभी देवायु को नहीं भोग रहा है उसका भी यथा समय भोग करेगा।

चौवीस दण्डकों में आयु के विषय में भी यही बात समझनी चाहिये।

टीकाकार ने आयुष्य बंध के विषय में वृद्ध परम्परा को लक्ष्य में रखते हुए कहा है—"एतच्चेयं वृद्धोक्त भावना-यदा सप्तमक्षितावायुर्बद्धं पुनश्च कालान्तरे परिणामविशेषात्तृतीय-धरणी प्रायोग्यं निर्वर्त्तितं वासुदेवेनेव तत्तादृशं अङ्गीकृत्योच्यते।"

कृष्ण वासुदेव ने पूर्व में सप्तम नरक की आयुष्य का बंध कर लिया था, पश्चात् परिणाम विशेष से तृतीय नरक के आयुष्य का बंध किया।

आयुबन्ध के विषय में टीकाकार ने तथा पूर्व व्याख्याकारों ने जो अभिमत प्रतिपादित किया उसे आपेक्षिक दृष्टिकोण से समझने पर विरोधाभास की स्थिति नहीं रहती है। आत्मा प्रति समय सात ...ओं के बंध का प्रसंग उपस्थित करती है। सात कर्म का बंध तो निरन्तर करती रहती है। ... ...होता, किन्तु आयु कर्म के दलिक तो प्रति समय संगृहीत होते रहते हैं। ... ...े दलिक आयु बंध के रूप में आबद्ध हो जाते हैं।

...-वर्गणा का संचय नहीं हो तो बंध के समय ... कर्म के दलिक भी समय-समय पर संचित ... ...से टीकाकार के अभिप्राय को समझा ...

टीकाकार ने जो वासुदेव के सप्तम नरक के योग्य कर्म—दलिकों का आत्मा के साथ बद्ध हो जाने का उल्लेख किया है, वह कथन बंध रूप में न लेकर दलिक संचय के रूप में लेना सिद्धान्त संगत लगता है।

17. चौबीस दण्डक में समानत्व चर्चा— (नैरयिक विषयक)

उत्थानिका :—

पूर्व सूत्र में सामान्य रूप से सभी जीवों के दु.ख वेदन सम्बन्धी विचार किया गया। दुःख का वेदन शरीर से ही किया जाता है। इसलिए प्रस्तुत सूत्र में शरीर सम्बन्धी विचार किया गया है। सभी दण्डकों पर अलग २ विचार करने से पहले नरक सम्बन्धी विचार प्रस्तुत किया जा रहा है।

सूत्र 17.(i) नेरइया णं भंते ! सव्वे [१]समाहारा, सव्वे समसरीरा, सव्वे समुस्सास-[२]नीसासा ?

गोयमा ! णो [३]इणट्ठे-समट्ठे । से केणट्ठेणं भंते ! एवं [४]वुच्चइ-नेरइया नो सव्वे [५]समाहारा, नो सव्वे समसरीरा, नो सव्वे समुस्सास-नीसासा[६] ?

गोयमा ! नेरइया दुविहा पण्णत्ता । तं जहा—महासरीरा य अप्पसरीरा य । तत्थ [७]णं जे ते [८]महासरीरा [९]ते [१०]बहुतराए पोग्गले आहारेंति, बहुतराए पोग्गले [११]परिणामेंति, [१२]बहुतराए [१३]पोग्गले [१४]उस्ससंति, [१५]बहुतराए [१६]पोग्गले नीससंति, अभिक्खणं आहारेंति, अभिक्खणं [१७]परिणामेंति, अभिक्खणं [१८]ऊससंति, अभिक्खणं [१९]नीससंति ।

तत्थ णं जे ते अप्पसरीरा ते णं

सूत्र 17.(i) हे भगवन् ! समस्त नारकीय जीव क्या समान आहार वाले होते हैं ? समान शरीर वाले होते हैं। समान उच्छ्वास-निःश्वास वाले होते है।

हे गौतम ! यह अर्थ समर्थ-युक्त नहीं हैं।

हे भगवन् ! ऐसा किस कारण से कहा जाता है कि नैरयिक जीव समान आहार वाले नहीं हैं, समान शरीर वाले नही है, समान उच्छ्वास-निःश्वास वाले नहीं हैं।

हे गौतम ! नैरयिक जीव दो प्रकार के प्रतिपादित किये गए हैं। यथा-महान शरीर वाले और अल्प शरीर वाले, उनमें जो महान शरीर वाले है, वे बहुत से पुद्गलों का आहार करते हैं। बहुत से पुद्गलों को अपने शरीर रूप में परिणमित करते हैं बहुत से पुद्गलों को उच्छ्वास रूप में ग्रहण करते हैं और बहुत से पुद्गलों को निःश्वास रूप से छोड़ते हैं। शीघ्रता से (बार-बार) आहार करते है, परिणमित करते हैं। उच्छ्वास ग्रहण करते हैं निःश्वास छोड़ते हैं।

तथा जो अल्प शरीर वाले नारक जीव हैं, वे अल्पतर पुद्गलों का आहार करते है ? अल्पतर पुद्गलों को शरीर रूप में परिणमित

कभी कभी एक वचन सम्बन्धी प्रश्न के उत्तर से बहुवचन-सम्बन्धी प्रश्न के उत्तर में अन्तर भी आ जाता है। यथा— एक जीव आश्रयी सम्यक्त्वादि (सम्यक्त्व, मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान) की स्थिति छियासठ सागरोपम से कुछ अधिक प्रतिपादित है और सर्व जीवों की अपेक्षा सदा काल की है। ऐसा ही अन्तर उपर्युक्त प्रश्न के बहुवचन में भी है या नहीं ? इसका स्पष्टीकरण करने के लिये गौतम स्वामी ने बहुवचन सम्बन्धी अलग से प्रश्न किया या अत्यन्त अव्युत्पन्न (मंद) मति वाले शिष्यों को भी समझाने के लिये प्रश्न किया है।

वैसे तो कर्मों के वर्णन में आयुष्य कर्म भी आ जाता है, तथापि आयु का अलग से वर्णन करने का आशय यह है कि नरक-तिर्यञ्च आदि के व्यवहार में आयुष्य कर्म की मुख्यता रहती है। दूसरी बात यह है कि सात कर्मों के वेदन का तो जीव को स्पष्टाववोध होता है, किन्तु आयु कर्म के वेदन का स्पष्ट बोध नहीं होता है। इस कारण कोई जिज्ञासु यह न समझ लें कि आयु कर्म का वेदन होता भी है या नहीं ? इसका बोध कराने के लिए भी अलग से प्रश्न किया गया है, अर्थात् आयु कर्म का निश्चित रूप से वेदन होता है। जीव स्वयंकृत आयु का ही वेदन करता है, अन्य कृत का नहीं। स्वोपार्जित आयु में भी जितनी-जितनी उदय में आती है, उतनी-उतनी भोगता है। यथा — किसी मनुष्य ने देवायु बांध ली है, किन्तु अभी पूर्ववद्ध उदय प्राप्त मनुष्यायु का भोग कर रहा है। अभी देवायु को नहीं भोग रहा है, उसका भी यथा समय भोग करेगा।

चौवीस दण्डकों में आयु के विषय में भी यही बात समझनी चाहिये।

टीकाकार ने आयुष्य बंध के विषय में वृद्ध परम्परा को लक्ष्य में रखते हुए कहा है—"एतच्च नेयं वृद्धोक्त भावना-यदा सप्तमक्षितावायुर्वद्धं पुनश्च कालान्तरे परिणामविशेषात्तृतीय-पृथ्वी-प्रायोग्यं निर्वर्तितं वासुदेवेनेव तत्तादृशं अङ्गीकृत्योच्यते।"

कृष्ण वासुदेव ने पूर्व में सप्तम नरक की आयुष्य का बंध कर लिया था, पश्चात् परिणाम-विशेष से तृतीय नरक के आयुष्य का बंध किया।

आयुबन्ध के विषय में टीकाकार ने तथा पूर्व व्याख्याकारों ने जो अभिमत प्रतिपादित किया, उसे आपेक्षिक दृष्टिकोण से समझने पर विरोधाभास की स्थिति नहीं रहती है। आत्मा प्रति समय सात-आठ कर्मों के बंध का प्रसंग उपस्थित करती है। सात कर्म का बंध तो निरन्तर करती रहती है। आयु कर्म का बंध निरन्तर नहीं होता, किन्तु आयु कर्म के दलिक तो प्रति समय संगृहीत होते रहते हैं। जब बंध का प्रसंग आता है, तब वे ही दलिक आयु बंध के रूप में आवद्ध हो जाते हैं।

यदि प्रति समय आयु कर्म के योग्य कर्म-वर्गणा का संचय नहीं हो तो बंध के समय सहसा तद्योग्य कर्म का बंध कैसे हो सकता है। अत: आयु कर्म के दलिक भी समय-समय पर संचित होते रहते हैं, परन्तु बंध तो समय पर ही होता है। इस दृष्टि से टीकाकार के अभिप्राय को समझा जा सकता है।

टीकाकार ने जो वासुदेव के सप्तम नरक के योग्य कर्म–दलिकों का आत्मा के साथ बद्ध हो जाने का उल्लेख किया है, वह कथन बंध रूप में न लेकर दलिक संचय के रूप में लेना सिद्धान्त संगत लगता है।

17. चौबीस दण्डक में समानत्व चर्चा— (नैरयिक विषयक)

उत्थानिका :—

पूर्व सूत्र में सामान्य रूप से सभी जीवों के दु.ख वेदन सम्बन्धी विचार किया गया। दुःख का वेदन शरीर से ही किया जाता है। इसलिए प्रस्तुत सूत्र में शरीर सम्बन्धी विचार किया गया है। सभी दण्डकों पर अलग २ विचार करने से पहले नरक सम्बन्धी विचार प्रस्तुत किया जा रहा है।

सूत्र 17.(i) नेरइया णं भंते! सव्वे [१]समाहारा, सव्वे समसरीरा, सव्वे समुस्सास-[२]नीसासा ?

गोयमा! णो [३]इणट्ठे-समट्ठे। से केणट्ठेणं भंते! एवं [४]वुच्चइ-नेरइया नो सव्वे [५]समाहारा, नो सव्वे समसरीरा, नो सव्वे समुस्सास-नीसासा[६] ?

गोयमा! नेरइया दुविहा पण्णत्ता। तं जहा–महासरीरा य अप्पसरीरा य। तत्थ [७]णं जे ते [८]महासरीरा [९]ते [१०]बहुतराए पोग्गले आहारेंति, बहुतराए पोग्गले [११]परिणामेंति, [१२]बहुतराए [१३]पोग्गले [१४]उस्ससंति, [१५]बहुतराए [१६]पोग्गले नीससंति, अभिक्खणं आहारेंति, अभिक्खणं [१७]परिणामेंति, अभिक्खणं [१८]ऊससंति, अभिक्खणं [१९]नीससंति।

तत्थ णं जे ते अप्पसरीरा ते णं

सूत्र 17.(i) हे भगवन्! समस्त नारकीय जीव क्या समान आहार वाले होते हैं? समान शरीर वाले होते हैं। समान उच्छ्वास-निःश्वास वाले होते है।

हे गौतम! यह अर्थ समर्थ-युक्त नहीं है।

हे भगवन्! ऐसा किस कारण से कहा जाता है कि नैरयिक जीव समान आहार वाले नहीं है, समान शरीर वाले नहीं है, समान उच्छ्वास-निःश्वास वाले नहीं हैं।

हे गौतम! नैरयिक जीव दो प्रकार के प्रतिपादित किये गए हैं। यथा-महान शरीर वाले और अल्प शरीर वाले, उनमें जो महान शरीर वाले हैं, वे बहुत से पुद्गलों का आहार करते हैं। बहुत से पुद्गलों को अपने शरीर रूप में परिणमित करते हैं बहुत से पुद्गलों को उच्छ्वास रूप में ग्रहण करते है और बहुत से पुद्गलों को निःश्वास रूप से छोड़ते है। शीघ्रता से (बार-बार) आहार करते है, परिणमित करते है। उच्छ्वास ग्रहण करते हैं निःश्वास छोड़ते हैं।

तथा जो अल्प शरीर वाले नारक जीव हैं, वे अल्पतर पुद्गलों का आहार करते हैं? अल्पतर पुद्गलों को शरीर रूप में परिणमित

अप्पतराए [1]पोग्गले आहारेंति, अप्पतराए [2]पोग्गले [3]परिणामेंति, अप्पतराए [4]पोग्गले [5]उस्ससंति, अप्पतराए पोग्गले नीससंति। आहच्च आहारेंति, आहच्च परिणामेंति, आहच्च [6]उस्ससंति, आहच्च नीससंति। से तेणट्ठेणं [7]गोयमा! एवं वुच्चइ-नेरइया[8] नो सव्वे [9]समाहारा, नो सव्वे समसरीरा, नो सव्वे समुस्सास-नीसासा[10]।

करते हैं। अल्पतर पुद्गलों को उच्छ्वास रूप से ग्रहण करते है। अल्पतर पुद्गलों को निःश्वास रूप से छोड़ते है। कदाचित् आहार करते हैं। कदाचित् परिणमित करते हैं। कदाचित् उच्छ्वास रूप में ग्रहण करते हैं। कदाचित् निःश्वास रूप से छोड़ते हैं।

हे गौतम! इस कारण से ऐसा कहा जाता है कि सभी नैरयिक जीव समान आहार वाले नही होते। समान शरीर वाले नही होते, समान उच्छ्वास-निःश्वास वाले भी नहीं होते है।

विवेचन :-

नारकी जीवों के आहारादि की तरतमता उनके शरीर पर निर्भर है। अल्प शरीर वाले नारकी जीव का अल्प आहार, अल्प परिणमन, अल्प ही उच्छ्वास-निःश्वास होता है। महान (स्थूल) शरीर वालों का आहार, परिणमन, उच्छ्वास-निःश्वास आदि बहुत मात्रा में होता है। यहां अल्पता-बहुलता का कथन आपेक्षिक समझना चाहिये।

नारकी जीवों की शारीरिक अवगाहना अलग-अलग प्रकार की वतलाई गई है, यथा—

पहली नारकी की ७¾ धनुष ६ अंगुल
दूसरी नारकी की १५½ धनुष १२ अंगुल,

---

१. समाहारगा - लो। एतत् 'समाहारा' इत्यादिकं सर्वनिरूपणं प्रज्ञापनासूत्रे लेश्यापदे सविस्तरं वर्तते॥ २. ०णिस्सासा - अमो० ता०। ०नीसासा ? नो - लो०॥ ३. इणत्थे समत्थे - ला १॥ ४ वुच्चति - वे० स०॥ ५. ०हारा णो सव्वे समुस्सास० - अमो०॥ ६. ०निस्सासा - पु० अमो० वे० म०॥ ७. 'तत्थ ण जे ते' इत्यादि ये ते इह 'ये' इत्येतावतैव अर्थसिद्धो यत् 'ते' इति उच्यते तद् भाषामात्र-मेव - अवृ०॥ ८. महस्सरी० - ला २॥ ९. ते णं बहु० - घा०। १०-१२-१५. बहुतराए - ला ३॥ ११. ०मेंति बहु बहु० - घा०। परिणामंति - ता०। परिणामश्च अपृष्टोऽपि आहारकार्यम् इति कृत्वा उक्तः - अवृ०॥ १३. पोग्गले णिस्ससंति बहु० - ला १॥ १४. ऊससंति - अमो०॥ १६. ०ले उस्ससति अ० - ला १॥ १७. परिणमंति - ला०॥ १८. ऊससंति - पु० अमो० वे० म०। उस्सासंति - घा० न०॥ १९. निस्ससंति - वि० म०॥

१. पुग्गले - पु० वे० म०॥ २. पुग्गले - पु० वे० म०॥ ३. परिणामंति - ला०॥ ४. ०ले नीससं० - ला०॥ ५. ऊससंति - अमो०॥ ६. ऊससंति - अमो० ला०॥ ७. गोयमा। ०नेरइया - लो०॥ ८. नेरइया सव्वे नो समाहारा॥ नेरतिया णं - ला १-२॥ ९. ०हारा जाव नो सव्वे समुस्सास - पु० अमो० वे० म०॥ १०. ०निस्सासा - पु० वे० म०॥

तीसरी नारकी की ३१$\frac{1}{4}$ धनुष,
चौथी नारकी को ६२$\frac{1}{2}$ धनुष,
पांचवी नारको को १२५ धनुष,
छठी नारकी की २५० धनुष,
सातवीं नारकी की ५०० धनुष।

यह अवगाहना-शरीर-परिमाण उत्कृष्टता की अपेक्षा से है, जघन्य से सभी नैरयिकों की अंगुल के असंख्यातवां भाग अवगाहना है। उत्तर वैक्रिय शरीर की अपेक्षा नैरयिकों का जघन्य शरीर-परिमाण अंगुल का संख्यातवा भाग और उत्कृष्ट शरीर परिमाण भव धारणीय शरीर की अपेक्षा दुगुना-दुगुना जानना चाहिये।

इन विभिन्न नारकियो को अपेक्षा ही शरीर की अल्पता, बहुलता का परिमाण जानना चाहिये।

स्थूल शरीर वाले नैरयिक के आहारादि की बहुलता अपेक्षाकृत सूक्ष्म (छोटे) शरीर वाले नैरयिक के आहारादि को अल्पता की अपेक्षा से प्रतिपादित की है। लौकिक व्यवहार में भी यही देखा जाता है–स्थूल शरीर वाला अधिक आहारादि करता है, अल्प शरीर वाला अल्पाहारादि। यह लौकिक व्यवहार बहुलता से समझना चाहिए।

बड़े शरीर वाले नैरयिक का आहार अधिक होने से तत्संबन्धित परिणमन भी अधिक होता है। उन्हें ताड़ना-तर्जना तथा क्षेत्रादि से उत्पन्न होने वाली पीड़ा भी अधिक होती है। इन्हीं दुःखों की अधिकता से श्वासोच्छ्वास की प्रक्रिया भी अधिक तीव्र होती है, क्योंकि व्यावहारिक स्तर पर भी देखा जाता है कि दुःख में व्यक्ति शीघ्रता से श्वासोच्छ्वास का ग्रहण-विसर्जन करता रहता है। अल्प शरीर वाले नैरयिक के कदाचित् आहारादि ग्रहण के विषय में और भी कई दृष्टिकोण हैं। पहला दृष्टिकोण तो आभोग-अनाभोग से सम्बन्धित है। अनाभोग आहार तो निरन्तर चालू रहता है। आभोग-आहार में इच्छा पूर्वक आहार लेने का प्रसंग है। पहले इच्छा हुई और आहार ग्रहण किया, उस गृहीत आहार से तृप्ति नही हुई। पुनः इच्छा की–आहार ग्रहण करूं और आहार ग्रहण करता है। लालसा तो निरन्तर है किन्तु इच्छा करने में अन्तर्मुहूर्त काल व्यतीत हो जाता है। इस अपेक्षा से कदाचित् आहारादि ग्रहण करने का आशय समझा जा सकता है।

दूसरा दृष्टिकोण यह है कि शास्त्रकारों ने नरकायु के उदय से ही जीव को नैरयिक शब्द से सम्बोधित किया है। पूर्व शरीर छोड़ते ही नैरयिक शब्द का प्रयोग नरक में जाने वाले जीव के लिये हो जाता है। जहां अनाहरक रूप अन्तराल की अवस्था आती है, वहां दोनों ही प्रकार का आहार नहीं है।

इस अपेक्षा से भी कदाचित् आहारादि का ग्रहण समझा जा सकता है।

जब नरक भूमि में आत्मा पहुंच जाती है, उस समय प्रथम समय की स्थिति में गृहीत आहार पर्याप्ति की संरचना में चलता है। पर्याप्ति संरचना में अनाभोग आहार जो प्रारम्भ हुआ है, वह निरन्तर तत्सम्बन्धी आयुष्य की समाप्ति तक रहेगा, परन्तु मनः पर्याप्ति की पूर्णता नहीं होती है, तब तक आभोग आहार नहीं हो सकता। यह दृष्टिकोण भी कदाचित् आहार के विषय में लिया जा सकता है। आहार की कदाचित्ता से तत्सम्बन्धी परिणमन की कदाचित्ता भी स्पष्ट हो जाती है।

श्वासोच्छ्वास की कदाचित्ता के विषय में पूर्व शरीर के परित्याग के बाद नवीन शरीर की उत्पत्ति के पश्चात् श्वासोच्छ्वास की पर्याप्ति पूर्ण नहीं होती, तब तक श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति के माध्यम से होने वाली श्वासोच्छ्वास की प्रक्रिया नहीं बनती। श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति पूर्ण होने के बाद निरन्तर श्वासोच्छ्वास चलता है। इस दृष्टिकोण से कदाचित् श्वासोच्छ्वास समझना चाहिये।

उपर्युक्त दृष्टिकोण से प्रथमोद्देशक में निरन्तर आहारादि के विषय में जो कहा है और द्वितीयोद्देशक में कदाचित् आहारादि के विषय में जो कहा है, उनमें परस्पर कोई विरोध नहीं है। सर्वज्ञ की वाणी में निश्चित रूप से कोई विरोध नहीं होता।

कहने का तात्पर्य यह है कि समस्त नारकी जीवों के आहार परिणमन, श्वासोच्छ्वास, शरीर एक समान नहीं होते हैं।

भगवान् ने जो समाधान दिया उससे एक प्रश्न उपस्थित होता है कि गौतम स्वामी ने तो आहार के विषय से पहले प्रश्न किया, पश्चात् शरीर के विषय में प्रश्न किया—यथा नेरइयाणं भंते-सव्वे समाहार ! समसरीरा…… ? किन्तु भगवान् ने पहले शरीर के विषय में समाधान दिया; तदनन्तर पश्चात् आहार के विषय मे कथन किया, ऐसा क्यों ?

शरीर के परिणाम का विज्ञान प्राप्त किये बिना आहार की स्थिति सहजता से समझ में नहीं आ सकती, क्योंकि शरीर के होने पर ही आहार होता है, बिना शरीर के आहार ग्रहण सम्भव नहीं है, अतः भगवान् ने शरीर विषयक प्रश्न का समाधान पहले दिया, बाद में आहार विषयक शंका का निराकरण किया है, ताकि सरलता से समझा जा सके।

17 (II) नैरयिक कर्मादि सम्बन्धी विचार

उत्थानिका :—

पूर्व सूत्र में नैरयिक के आहार, शरीर, श्वासोच्छ्वास, सम्बन्धी प्रश्नों पर विचार किया गया। वह शरीर कर्मों के परिणाम स्वरूप होता है। अतः इस सूत्र में नैरयिकों के समान—कर्मादि विषयक प्रश्न किये गए हैं।

(ii) नेरइया णं भंते। सव्वे समकम्मा ?

गोयमा ! णो [1]इणट्ठे-समट्ठे ।

से [2]केणट्ठेणं ?

गोयमा ! नेरइया दुविहा पण्णत्ता ! तं जहा- पुव्वोववन्नगा य पच्छोववन्नगा य। तत्थ णं जे ते पुव्वोववन्नगा ते णं [3]अप्पकम्मतरागा। तत्थ णं जे ते पच्छोववन्नगा ते णं [4]महाकम्मतरागा । से तेणट्ठेणं [5]गोयमा ।

(iii) नेरइया णं भंते! [6]सव्वे समवन्ना?

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे । से [7]केणट्ठेणं [8]तहेव ?

गोयमा ! जे ते पुव्वोववन्नगा ते णं [9]विसुद्धवन्नतरागा तत्थ णं जे ते पच्छोववन्नगा ते णं [10]अविसुद्धवन्नतरागा[11], तहेव से [12]तेणट्ठेणं० ।

(iv) नेरइया णं भंते ! सव्वे [1]समलेस्सा ?

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे । से केणट्ठेणं ^जाव नो सव्वे [2]समलेस्सा ?

गोयमा ! नेरइया दुविहा पण्णत्ता ! तं जहा- पुव्वोववन्नगा य पच्छोववन्नगा

(ii) भगवन् ! क्या सभी नारकीय जीव समान कर्म वाले होते हैं।

हे गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है, युक्ति-युक्त नहीं है।

हे भगवन् ! इसका क्या कारण है ?

हे गौतम ! नैरयिक दो प्रकार के बतलाये गए हैं। यथा-पूर्वोपपन्नक और पश्चादुपपन्नक इनमें से जो पूर्वोपपन्नक है, वे नारकी अल्प कर्म वाले हैं। जो पश्चात् उत्पन्न होने वाले नारकी जीव हैं वे महाकर्म वाले हैं।

इस कारण गौतम ! मैं ऐसा कहता हूँ कि सभी नारकी जीव समान कर्म वाले नहीं होते।

(iii) हे भगवन् ! क्या नारकी जीव समान वर्ण वाले होते है ?

हे गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है।

हे भगवन् ! ऐसा किस कारण से फरमाते है ? इत्यादि प्रश्न का स्वरूप उसी प्रकार समझ लेना चाहिए।

हे गौतम ! नैरयिक दो प्रकार के कहे गये हैं, पूर्वोपपन्नक-पश्चादुपपन्नक । उनमें जो पूर्वोपपन्नक हैं, वे विशुद्ध वर्ण वाले होते हैं। तथा जो पश्चात् उत्पन्न होने वाले नारकी जीव हैं वे अविशुद्ध-अशुद्ध वर्ण वाले होते है।

इसलिए गौतम ! मैं ऐसा कहता हूँ कि समस्त नारकी जीव समान वर्ण वाले नहीं होते है।

(iv) हे भगवन् ! सभी नैरयिक जीव समान लेश्या वाले हैं ?

हे गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है।

हे भगवन् ! आप ऐसा किस उद्देश्य से कहते हैं कि यावत् समस्त नारकी जीव समान लेश्या वाले नहीं होते है ?

हे गौतम ! नैरयिक दो प्रकार के प्रज्ञप्त हैं। यथा-पूर्वोपपन्नक, पश्चादुपपन्नक उनमें से जो

१. तिणट्ठे - क० मं० ॥ २. ०ट्ठेणं भंते एवं वुच्चइ गोयमा। णेरइया - अगो० घा० ॥ ०ट्ठेणं भंते एवं वुच्चइ-नेरइया नो सव्वे समकम्मा गोयमा - न० ॥ ३. ०कम्मतरा तत्थ - अमो० ॥ ४. ०कम्मतरा से - अमो० ॥ ५. गोयमा एवं

य। तत्थ णं जे ते पुव्वोववन्नगा ते णं [3]विसुद्धलेसतरागा। तत्थ णं जे ते [4]पच्छोववन्नगा ते णं [5]अविसुद्धलेसतरागा। से [6]तेणट्ठेणं[B]० ॥

पूर्वोपपन्नक हैं वे विशुद्ध लेश्या वाले हैं तथा जो पश्चात् उत्पन्न होने वाले नारकी जीव हैं, वे अविशुद्ध-अशुद्ध लेश्या वाले होते हैं।

इसलिए हे गौतम ! मैं ऐसा कहता हूँ कि समस्त नारकी जीव समान लेश्या वाले नहीं होते हैं।

विवेचन :–

नारक जीव दो प्रकार के प्रतिपादित किये गए है– पूर्वोपपन्नक और पश्चादुपपन्नक। पूर्व में उत्पन्न होने वाले नैरयिक पूर्वोपपन्नक तथा पश्चात् उत्पन्न होने वाले नैरयिक पश्चादुपपन्नक हैं। पूर्वोपपन्नक नैरयिक पश्चादुपपन्नक नैरयिकापेक्षा अल्पकर्मी, विशुद्ध वर्णी, विशुद्ध लेश्या वाले होते हैं।

जो जीव नरक में पूर्व में ही उत्पन्न हो चुके हैं वे जीव नरकायु और अन्य सात कर्मों का बहुतांश भोग चुके हैं, अल्पांश अवशेष रहा है, अतः वे अल्पकर्मी हैं' किन्तु पश्चात् उत्पन्न होने वाले जीवों ने अभी नरकायु तथा अन्य सात कर्म का अल्पांश भोगा है, बहुत अंश बाकी है, अतः वे महाकर्मी हैं। यह कथन समान स्थिति वाले नारकी जीवों की अपेक्षा से समझना चाहिये। जैसे कि रत्नप्रभा-पृथ्वी में एक जीव अभी दस हजार वर्ष की स्थिति बांधकर उत्पन्न हुआ है, इससे बहुत पहले दूसरा जीव इसी रत्नप्रभा पृथ्वी में एक सागर की आयुष्य बांधकर उत्पन्न हो चुका है। ऐसा जीव बहुत सी स्थिति भोग चुका है, केवल एक पल्योपम की स्थिति अवशेष है, तथापि यह जीव दस हजार वर्ष की स्थिति बांधकर पश्चात् उत्पन्न होने वाले जीव की अपेक्षा महाकर्मी-महावर्णी तथा अशुद्ध लेश्या वाला है। क्योंकि पूर्व उत्पन्न होने वाले नारकी जीव की स्थिति अभी भी एक पल्योपम अवशेष है, जबकि पश्चात् उत्पन्न

वुच्चइ। णेरइ० - अमो०। गोयमा एवं वुच्चइ-नेरइया नो सव्वे सम्मकम्मा - न० वे० ॥ ६. समवण्णगा? गोयमा - अमो० ला २। ०वन्ना? णो इणट्ठे - ला० ॥ ७. प्र०– ट्ठेणं भंते एवं वुच्चइ। नेरइया नो सव्वे समवण्णा। गोयमा नेरइया दुविहा पण्णत्ता तंजहा पुव्वोववन्नगा य पच्छोववन्नगा य तत्थ णं जे ते पुव्वो० - न० ॥ ८. तहेव - अमो० घा० वे० म०। तह चेव गोयमा नेरइया दुविहा पण्णत्ता तजहा पुव्वोववन्नगा य पच्छोववन्नगा य तत्थ णं जे ते पुव्वो० - घा०। तं चेव - ला १ ॥ ९. ०तरागा तहेव से तेणट्ठेण गोयमा। णर० - अमो०। ०तरागा तहेव से तेणट्ठेणं। ०नेरइया - वे० म० ॥ १०. अविसुद्धवन्नत० - पु० ॥ ११. ०गा से तेणट्ठेणं गोयमा। एवं०। नेर० - घा०। तराग से गोयमा एवं वुच्चइ णेरइया नो सव्वे समवण्णा नेरइया - न० ॥ १२. ०ट्ठेणं एवं ॥ नेर० - पु० ला १ ॥

१. समलेसा - वे० म० ॥ २. समलेआ - वे० म० ॥ ३. विसुद्धलेस्सतरागा - पु० घा० न० ॥ ४. ०वण्णगा तहेव तेणं अवि० - लो० ॥ ५. अविसुद्धलेस्सतरागा - पु० घा० न०। हस्तलिखित पुस्तिकासु लेसा, लेस्सा, लेस, लेस्स, इत्येवं पाठाः प्राप्यन्ते 'न दीर्घानुस्वारात्' इति नियमं समाश्रित्य उच्चारणापेक्षयापि च अत्र लेसा, लेस इति पाठो ऽस्मत्तर. स्वीकृतः ॥ ६. ०ट्ठेणं। गोयमा - अमो०। ०ट्ठेण गयोमा एवं वुच्चइ नेरइया नो सव्वे समलेस्सा - न० ॥

पाठपूर्ति A– भंते एवं वुच्चइ नेरइयाणं ॥

पाठपूर्ति B– गोयमा एवं वुच्चइ नेरइयाणं सव्वे नो समलेसा ॥

होने वाले की दस हजार वर्ष की स्थिति है। अतः यह जीव पूर्व उत्पन्न होने वाले एक सागरोपम की आयु वाले नारकी जीव की अपेक्षा अल्पकर्मी, विशुद्ध वर्णी, विशुद्ध लेश्या वाला है।

समान स्थिति वाले पश्चात् उत्पन्न नारकी जीवों की अपेक्षा, पूर्व उत्पन्न वाले नारकी जीव अल्पकर्मी आदि संभवित है।

इसी बात को और अधिक स्पष्ट करने के लिये एक उदाहरण है—

किसी अपराध में पकड़े जाने के कारण एक व्यक्ति को पांच वर्ष का कारावास मिला। पहले तो जेल में जाते समय वह व्यक्ति घबराया, दुःखी हुआ, मगर जैसे-जैसे उसकी अवधि कम होती जाती है वैसे-वैसे उसे बाह्य और आन्तरिक रूप में, शांति की अनुभूति होने लगती है। उस व्यक्ति की कारावास की अवधि समाप्त होने के पहले ही दूसरे एक व्यक्ति को भी इसी प्रकार के अपराध में पकड़े जाने के कारण पांच वर्ष का कारावास मिला। दोनों व्यक्तियों की समय मर्यादा समान होते हुए भी पूर्व में आने वाले व्यक्ति की अपेक्षा पश्चात् आने वाला व्यक्ति अधिक दुःखी, दीर्घ अवधि वाला और शारीरिक मानसिक दोनों दृष्टि से अशांत होता है।

इसी प्रकार तिर्यञ्च और मनुष्य भव के अन्दर नारक का समान आयुष्य बांधने वाले जीवों की स्थिति होती है। वे भी नरक रूप कारावास में उत्पन्न होते हैं। उनमें समान स्थिति वाले नारकी जीवों में जो पूर्व में नरक रूप-कारावास में उत्पन्न हो चुका है वह पश्चात् उत्पन्न होने वाले की अपेक्षा अल्पकर्मी, शुद्धवर्णी, शुद्ध लेश्यी होता है तथा पश्चात् उत्पन्न होने वाला नारकी जीव पूर्वोत्पन्न की अपेक्षा महाकर्मी, अविशुद्ध वर्णी, अविशुद्ध लेश्यी होता है।

प्रस्तुत पाठ में कर्म के बाद वर्ण का वर्णन आया है। अतः वर्ण से मुख्यतया कर्म और नो कर्म का वर्ण लेना उपयुक्त है। वर्ण से द्रव्य लेश्या का सम्बन्ध गौण रूप से लिया जा सकता है। यदि वर्ण से द्रव्य लेश्या ली जाती तो वर्ण शब्द न लागाकर सीधा ही द्रव्य लेश्या शब्द का प्रयोग किया जाता, किन्तु ऐसा नहीं किया गया।

नैरयिक वेदनादि विचार :—

उत्थानिका :—

पूर्व सूत्र में नैरयिकों के कर्म वर्ण लेश्या सम्बन्धी विचार किया गया। कर्म और लेश्या के अनुसार ही नैरयिक वेदना की अनुभूति करते हैं। अतः इस सूत्र में नैरयिकों के वेदनादि सम्बन्धी प्रश्न किये गये हैं।

(४) नेरइया णं भंते ! सव्वे [१]समवेयणा ? गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे । से [२]केणट्ठेणं ?	(४) भगवन् ! क्या नारकी जीव सभी समान वेदना वाले होते हैं ? गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है। भगवन् ! आप ऐसा किस कारण से फरमाते हैं।

गोयमा ! नेरइया [3]दुविहा पण्णत्ता । तं जहा- सन्निभूया य, [4]असन्निभूया य । तत्थ णं जे ते सन्निभूया, ते णं [5]महावेयणा । तत्थ णं जे ते असन्निभूया ते णं अप्पवेयणतरागा । से तेणट्ठेणं [6]गोयमा ।

(vi) [7]नेरइया णं भंते । सव्वे समकिरिया ?

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे । [8]से [9]केणट्ठेणं ?

गोयमा ! नेरइया तिविहा पण्णत्ता । तं जहा- [10]सम्मदिट्ठी, [11]मिच्छादिट्ठी, [12]सम्ममिच्छदिट्ठी । तत्थ णं जे ते [13]सम्मदिट्ठी [14]तेसिं णं चत्तारि किरियाओ [15]पण्णत्ताओ । तं जहा-आरंभिया, [16]परिग्गहिया, मायावत्तिया, [17]अप्पच्चक्खाणकिरिया ।

तत्थ णं जे ते [1]मिच्छादिट्ठी [2]तेसिं णं पंच [3]किरियाओ [4]कज्जंति । तं [5]जहा-आरंभिया [A]जाव मिच्छादंसणवत्तिया । एवं [6]सम्मामिच्छादिट्ठीणं पि । से तेणट्ठेणं गोयमा ।

गौतम ! नैरयिक दो प्रकार के प्रतिपादित हैं । यथा- संज्ञिभूत और असंज्ञिभूत । उनमें जो संज्ञिभूत है, वे महान् वेदना वाले होते हैं। तथा जो असंज्ञिभूत नैरयिक हैं वे अल्प वेदना वाले होते हैं ।

इसलिए गौतम ! मैं ऐसा कहता हूँ कि समस्त नारक जीव समान वेदना वाले नहीं होते हैं ।

(iv) भगवान् ! सभी नैरयिकों के समान क्रिया होती है ?

गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है ।

भगवन् ! ऐसा किस कारण से ?

गौतम ! नैरयिक जीव तीन प्रकार के कहे गए हैं । यथा– सम्यक् दृष्टि, मिथ्यादृष्टि, सम्यग्-मिथ्या दृष्टि ।

उनमें जो सम्यग् दृष्टि है उनके चार क्रियाएँ होती हैं । यथा आरम्भिकी, पारिग्रहिकी, मायाप्रत्यया और अप्रत्याख्यान क्रिया। उनमें जो मिथ्यादृष्टि नारकी जीव है वे पांच क्रिया वाले होते हैं । यथा– आरम्भिकी यावत् मिथ्यादृष्टि प्रत्यया क्रिया ।

गौतम ! इसी प्रकार सम्यग्-मिथ्यादृष्टि नैरयिक के विषय में भी समझना चाहिए।

इसलिए गौतम ! मै ऐसा कहता हूँ कि सभी नारक जीव समान क्रिया वाले नहीं हैं।

१. समवेदणा - अमो० वे० म० ॥ २. ०ट्ठेणं भंते । एवं वुच्चइ-नेरइया नो सव्वे समवेयणा । गोयमा - न० ॥ ३. ह° सण्णिभूया - ला० १ ॥ ४. ०भूआ य - ला० ॥ ५. महावेदणा - अमो० ॥ ६. गोयमा एवं वुच्चइ नेरइया नो सव्वे समवेयणा - न० । गोयमा एवं वुच्चइ नेरइयाणं सव्वे नो समवेयणा - वे० ॥ ७. नेरइया सव्वे - पु० ॥ ८. से केण° गो० णेरतिया तिविहा - ला १ ॥ ९. ०ट्ठेणं भंते । गोयमा - अमो० । ०ट्ठेणं भंते एवं वुच्चइ । नेरइया नो सव्वे सम° किरिया - न० ॥ १०. सम्मदिट्ठी य मिच्छादिट्ठी य सम्ममिच्छदिट्ठी य -अमो० । सम्मा० - अ० ॥ ११. मिच्छादिट्ठी°

vii) **नेरइया णं भंते ! सव्वे समाउया ? सव्वे समोववन्नगा ?**

गोयमा ! णो [9]इणट्ठे समट्ठे । से [10]केणट्ठेणं ?

गोयमा ! नेरइया चउव्विहा पण्णत्ता । तं जहा- अत्थेगइया समाउया समोववन्नगा, अत्थेगइया समाउया विसमोववन्नगा, अत्थेगइया विसमाउया समोववन्नगा, अत्थेगइया विसमाउया विसमोववन्नगा । से [11]तेणट्ठेणं [12]गोयमा !

(vii) हे भगवन् ! क्या सभी नैरयिक जीव-समान आयु वाले होते हैं । समोपपन्नक है ?

हे गौतम ! यह अर्थ समर्थ नही हैं । भगवन् ऐसा किस कारण से ?

गौतम ! नैरयिक जीव चार प्रकार के कहे गए हैं । यथा- कोई कोई समान आयु वाले और समोपपन्नक होते है । और कोई कोई समान आयु वाले और विषमोपपन्नक होते हैं । कोई २ विषम आयु वाले और समोपपन्नक होते हैं और कोई २ विषम आयु वाले और विषमोपपन्नक होते हैं ।

इसलिए गौतम ! मैं ऐसा कहता हूं कि सभी नैरयिक समान आयु वाले नहीं होते हैं ।

विवेचन :-

नैरयिक समान वेदना वाले होते हैं या नही ? इस बात का स्पष्टीकरण करने के लिये भगवान् ने नैरयिक जीवों के दो भेद प्रतिपादित किये हैं –१. संज्ञिभूत २. असंज्ञिभूत ।

टीकाकार ने संज्ञा का अर्थ इस प्रकार किया है । संज्ञिभूत—सम्यग्दर्शन अर्थात् शुद्ध श्रद्धा । उससे युक्त को संज्ञी कहते है और जिस जीव को सम्यक्त्व प्राप्त हुआ है, उसे संज्ञिभूत कहते हैं । अथवा जो पहले असंज्ञी-मिथ्यादृष्टि था, किन्तु अब संज्ञी—सम्यग्दृष्टि बन गया है, उसे भी संज्ञिभूत कहते है ।

असंज्ञिभूत से मिथ्यादृष्टि अर्थ लिया गया है ।

धा० न० ॥ १२. सम्मामिच्छद्दिट्ठी - पु० न० बे० म० । सम्मामिच्छदिट्ठी - घा० । सम्मामिच्छा० - ता० मं० ॥ १३. सम्मादिट्ठी - बे० म० ॥ १४. तेसि - घा० । लिखितासु पुस्तिकासु 'तेसि णं' 'एएसि णं' इत्येवं प्रकाराणि रूपाणि प्राय उपलभ्यन्ते । व्याकरणदृष्ट्या तु 'तेसि णं' 'एएसि ण' इति रूपाणि यत्र तु 'णं' नास्ति तत्र तैरेव लिपिकारैः तेसि पंच इत्येवं रूपं लिखितम् ॥ १५. पन्नता तंजहा - घा० ॥ १६. पारिग० - न० बे० म० ॥ १७. अपच्च० - घा०म०बे० ॥

१. मिच्छद्दिट्ठी - अमो० घा० । मिच्छदिट्ठी - न० ॥ २. तेसि पंच - ला० ॥ ३. किरिया क० - ला० ॥ ४. किज्जंति - अ० क० व० ॥ ५. तंजहा - णत्थि पु० ॥ ६. सम्ममिच्छद्दिट्ठीणं - अमो० । सम्ममिच्छादिट्ठी - घा० । सम्मामिच्छ० - न० ॥ ७. वि - घा० ॥ ८. गोयमा एवं वुच्चइ नेरइया नो सव्वे समकिरिया - न० । एवं वुच्चइ नेरइयाणं सव्वे नो समकिरिया - बे० ॥ ९. ०ट्ठे समट्ठे - ला० ॥ १०. ०ट्ठेणं भंते एवं वुच्चइ ? गोयमा - अमो० । ०ट्ठेणं एवं गोयमा । नेर० - ला० ॥ ११. ०ट्ठेणं । असुर० - ला० ॥ १२. गोयमा एवं वुच्चइ नेरइया नो सव्वे समाउया नो सव्वे समोववन्नगा - न० । एवं वुच्चइ नेरइयाणं सव्वे नो समाउया नो समोववन्नगा - बे० ॥

A- परिग्गहिया मायावत्तिया अपच्चक्खाणकिरिया ।

संज्ञि भूत–असज्ञिभूत का अर्थ दूसरी प्रकार से यह भी होता है, यथा—संज्ञिभूत का अर्थ संज्ञी पंचेन्द्रिय, जो जीव नरक में जाने से पूर्व संज्ञी पंचेन्द्रिय था और जो जीव नरक में जाने से पूर्व असंज्ञी था, उसे असंज्ञिभूत कहते है।[1]

अपर अर्थ—संज्ञिभूत जो सभी पर्याप्तियों से पूर्ण हो चुका है–उससे लिया जाता है। असंज्ञिभूत से तात्पर्य जिस जीव की पर्याप्तियां अभी तक पूर्ण नही हुई है, उससे है।

संज्ञिभूत–असंज्ञिभूत शब्दों के उपर्युक्त सभी अर्थ अपेक्षाकृत संगत हैं।

संज्ञिभूत जो सम्यग्दृष्टि नैरयिक है, वह नरकगत महान् दुःखों का अनुभव कर अपने पूर्वकृत कर्मों पर विचार करता हुआ बहुत अनुताप करता है— अहो! मैंने पूर्व जन्म में अरिहन्त देव द्वारा प्ररूपित पाप पंक परिहारक, परमाह्लादकारक धर्म का आचरण नहीं किया किन्तु क्षण भर सुख देने वाले अर्थात् सुखाभास के रूप में प्रतीत होने वाले महान दुःखो के स्रोत कामभोग में ही आसक्त रहकर मानव-जन्म को व्यर्थ ही गंवा दिया.......। इस प्रकार का भयकर अनुताप संज्ञिभूत नैरयिक को होता है–शारीरिक वेदना के साथ उसकी मानसिक वेदना भी बढ़ जाती है, जिससे संज्ञिभूत नारकी को महान वेदना ह ती है।

असंज्ञिभूत–मिथ्यादृष्टि को यह ज्ञान नहीं हो पाता है– ....'मैं पूर्वकृत कर्मों का फल परिभोग कर रहा हूँ। पूर्व जन्म मे किये गए पापों की परिणति महान् दु.ख के रूप में सामने आ रही है।' ····इसका बोध असंज्ञिभूत–मिथ्यादृष्टि जीव को न होने से उन्हे तत्सम्बन्धी पश्चाताप नहीं होता और

१. कई व्याख्याकार प्रथम नरक, भवनपति, व्यन्तर देवों मे असंज्ञी जीवों का आगमन नहीं मानते हैं, किन्तु उपर्युक्त पाठ मे असंज्ञी जीवो का आगमन भी नरकादि मे सिद्ध होता है। अतः उनमे असंज्ञी का अपर्याप्त भेद है और इसका सद्भाव होने से उनमे नपुंसक वेद भी पाया जाता है, परन्तु वह अवस्था अन्तर्मुहूर्त काल तक होती है इसलिए उसकी विवक्षा न करके भगवती सूत्र में असुरकुमार मे नपुंसक वेद का निषेध किया है, जैसे भगवती सूत्र श० ३०, उ० १ मे सम्यग्दृष्टि द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीव भी विशिष्ट सम्यक्त्व का अभाव होने से क्रियावादी एवं विनयवादी होने का निषेध किया है परन्तु सम्यक्त्व का सर्वथा अभाव होने से नही। उसी तरह भगवती सूत्र में भवनपति एवं व्यन्तर देवों मे विशिष्ट असंज्ञी का अपर्याप्त भेद नही होने से उसमें नपुंसक वेद का निषेध किया है, परन्तु असंज्ञी के अपर्याप्त का सर्वथा अभाव होने से नहीं।

असंज्ञी से मरकर प्रथम नरकादि मे जन्म लेने वाले जीवों में असंज्ञी का अपर्याप्त भेद होता है, क्योंकि आगम में सर्वत्र उन्हें असंज्ञी कहा है। यदि आगमकार को उनमें असंज्ञी का भेद मानना इष्ट नहीं होता, तो जैसे छोटे-बालक बालिका को असंज्ञी कहकर भी संज्ञी कहा है, उसी तरह असंज्ञी से मरकर प्रथम नरक, भवनपति एवं व्यंतर देवों में जन्म लेने वाले जीवों को अवश्य ही संज्ञी कहते, परन्तु आगम में उन्हें कहीं भी संज्ञी नहीं कहा है। कुछ टीकाकारों ने तो स्पष्ट रूप मे उनमें असंज्ञी के भेद का उल्लेख किया है। इसलिए पूर्वोक्त दृष्टान्तों के आधार पर प्रथम नरक, भवनपति एवं व्यन्तर देवों मे असंज्ञी के अपर्याप्त भेद के होने का निषेध करना आगम ज्ञान से अनभिज्ञता प्रकट करना है।

न ही विशेष कोई मानसिक अनुताप होता है। इसीलिए–असंज्ञिभूत नैरयिक को अल्पवेदना का अनुभव होता है। संज्ञी पंचेन्द्रिय यदि में नरक में जाता है, तो तीव्र अशुभ-परिणाम होने पर सातवीं नरक ""वी में भी जा सकता हैं। असंज्ञी जीव अपने कर्मोदय से अपेक्षाकृत तीव्र वेदना रहित रत्नप्रभा रकी में जा सकते हैं।

संज्ञीभूत का अर्थ संज्ञी पंचेन्द्रिय से भी यह सिद्ध होता है कि संज्ञी पंचेन्द्रिय-संज्ञीभूघ जीव आगे ली नरक पृथ्वियों में जाने से महान् दु ख का अनुभव करते हैं। असंज्ञी जीव–असंज्ञिभूत जीव रत्न-भा में जाने से अल्पवेदना का अनुभव करते हैं।

सभी पर्याप्तियों से पूर्ण संज्ञिभूत नैरयिक को महान् वेदना होती है–क्योंकि सब पर्याप्तियां र्ग होने से शारीरिक स्थिति सक्षम हो चुकी है। सभी पर्याप्तियों से अपूर्ण असंज्ञिभूत नैरयिक को कार्य-ारी शक्ति के पूर्ण न होते तक अल्प वेदना होती है।

संज्ञिभूत और असंज्ञिभूत शब्दों का प्रयोग आपेक्षिक दृष्टि से किया गया है। ये दोनों भेद ख्यतया द्रव्यमन वाले नेरयिकों में घटित किये है। जिन नैरयिकों के मिथ्यात्व मोह का क्षय, क्षयो-ाम हो चुका है, वे नैरयिक संज्ञिभूत की सज्ञा से अभिव्यंजित किये गये हैं। अतः जो सम्यग्दृष्टि नैर-क हैं, उनको वेदना अपेक्षा से अधिक मानी गई है। क्योंकि सम्यग्दृष्टि हो जाने से मानसिक विकास अन्तर आ जाता है और मिथ्यादृष्टि जीव के मिथ्यात्व का उदय होने से सम्यग्दृष्टि के समकक्ष मान-क विकास की स्थिति न होने से 'कम वेदन' बतलाया है। परन्तु यह बात बहुलता की दृष्टि से सम-ना चाहिये, कहा गया है कि— प्राधान्येन व्यपदेशाः भवति–प्रधानता से कथन होता है।

अतः गौण रूप से विकास की स्थिति को, और वेदना की स्थिति को, विकास को तरतमता के ाथ लिया जाता है, इसीलिए असंज्ञिभूत मिथ्यादृष्टि में भी उपर्युक्त संज्ञा वाले मानसिक विकास को रतमता पाई जा सकती है। तदनुसार वेदना का कम व ज्यादा अनुभव का प्रसंग आ सकता है वैसे ो उपर्युक्त संज्ञीभूत सम्यग्दृष्टि आत्मा में भी विकास की तरतमता से वेदन सम्बन्धी तरतमता पाई ा सकती है। इसका निष्कर्ष यह है कि नेरयिकों के वेदन में दो दृष्टिकोण रहे हुए हैं एक सम्यग्दृष्टि ा और दूसरा मिथ्या दृष्टि का।

सम्यक्त्वी जीव में वेदन की दो प्रक्रियाएँ फलित होती है। जो जीव मार खाते-खाते परिणाम ी विशुद्धि से सम्यक्त्वी बन गये, वे कृत दोषों का अत्यधिक पश्चात्ताप करने लगते हैं तथा सोचते हैं क......अहो ! मैंने पूर्व में दुष्कृत्य किये, जिससे मुझे यह महावेदना भोगनी पड़ रही है। इस दृष्टि से शरीर की अवगाहना चाहे छोटी हो या बड़ी, किन्तु वेदना का संवेदन ऐसे जीव, अधिक करेंगे ! दूसरा दृष्टिकोण यह है कि सम्यक्त्वी जीव जो कि विशिष्ट सम्यक्त्व को पा गए हैं वे पश्चात्ताप के साथ धैर्य का अवलम्बन भी लेंगे और सोचेंगे कि अब मैं इन वेदनाओं से पीड़ित होकर अधिक हाय हाय करूंगा

तो नवीन कर्मों का बन्ध अत्यधिक होगा। यदि मैं इन कृत्यों को अपने ही द्वारा कृत समझ कर समता से वेदन करूंगा तो नवीन कर्म बन्धन की अत्यधिकता नहीं होगी। ऐसा सोचकर समभाव की मात्रा के साथ जो वेदन होगा, वह कम होगा।

मिथ्यादृष्टि जीव में भी दो तरह के जीव बहुलता से पाये जाते हैं। एक मिथ्यात्वी अधिक संवेदनशील होता है और दूसरा कम संवेदनशील। अधिक संवेदनशील मिथ्यादृष्टि नैरयिक, अवगाहना की अपेक्षा अल्प शरीर वाला होता हुआ भी दुःख का संवेदन अधिक करेगा।

दूसरा कम संवेदनशीलता रखने वाला नैरयिक चाहे स्थूल शरीर वाला हो और चारों तरफ से आघात भी पड़ रहे हों तथापि अपेक्षाकृत दुःख का संवेदन अल्प करेगा।

तात्पर्य यह है कि जिन आत्माओं को संवेदनशीलता अधिक होगी वे अधिक दुःख का संवेदन करेंगे और यदि संवेदनशीलता कम है तो दुःख संवेदन भी कम करेंगे।

शरीर की स्थूलता या अल्पता दुःख वेदन का हेतु न होकर मानसिक संवेदन की कमी या अधिकता ही संवेदन की न्यूनाधिकता का कारण है। शरीर की स्थूलता और सूक्ष्मता की अपेक्षा कदाचित् आहारादि का दृष्टिकोण सामान्य अपेक्षा में लिया जा सकता है परन्तु गम्भीर चिन्तन करने पर तो नारकी जीव के कदाचित् आहारादि को, संवेदनशीलता की अधिकता और अल्पता के दृष्टिकोण से देखा जाना चाहिए।

नैरयिक क्रिया :— नैरयिक जीव तीन प्रकार के होते हैं—

१. सम्यग्दृष्टि, २. मिथ्यादृष्टि, ३. मिश्रदृष्टि।

ये नैरयिक जिस कार्य द्वारा कर्म-पुद्गलों से लिप्त होते हैं उसे क्रिया कहते हैं। यहां उसी क्रिया से तात्पर्य है। ऐसी क्रियाएँ मुख्यतया पांच प्रकार की हैं, यथा—

१. आरंभिकी, २. पारिग्रहिकी, ३. माया प्रत्यया, ४. अप्रत्याख्यानकी, ५. मिथ्यादर्शन प्रत्यया।

१. आरंभिकी :— पृथ्वीकायिक आदि षट्काय जीवों का हनन करना, आरंभिकी क्रिया है। प्रमत्त योग से होने वाली असावधानी भी क्रिया का अंग ही है।

२. पारिग्रहिकी :— धर्मोपकरण के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं को रखना परिग्रह है। धर्मोपकरण पर भी ममता परिग्रह ही है। अर्थात् मूर्च्छा-ममत्व भाव से लगने वाली क्रिया पारिग्रहिकी है।

३. माया प्रत्यया :— सरलता रहित, छल-छद्मपूर्वक की जाने वाली क्रिया को माया प्रत्यया कहते हैं। काम-क्रोध-मान-मोह आदि भी माया के ही उपलक्षण होने से तत्सम्बन्धित क्रिया भी इसी के अन्तर्गत है।

४. अप्रत्याख्यान क्रिया :— अल्पांश में भी व्रत-प्रत्याख्यान ग्रहण नहीं करने वाले की क्रिया अप्रत्याख्यानकी है। अर्थात् अव्रत से होने वाला कर्म बंध अप्रत्याख्यानकी है।

५. मिथ्यादर्शन प्रत्यया :— चैतन्य को जड़, जड़ को चैतन्य, धर्म को अधर्म, अधर्म को धर्म, साधु को असाधु, असाधु को साधु इत्यादि विपरीत श्रद्धान से और तत्त्व के अश्रद्धान से लगने वाली क्रिया मिथ्यादर्शन प्रत्यया क्रिया है।

कई स्थलों पर मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय, अशुभ योग को कर्मबंध का कारण बतलाया है, तथापि इनमें मौलिक अन्तर नही है। आरम्भ परिग्रह योग के अन्तर्गत हैं और योग आरम्भ परिग्रह रूप है। प्रमाद की स्थिति तो सभी के साथ विद्यमान है। अवशेष मिथ्यात्व, अविरति, कषाय तीनों स्थलों पर समान रूप से स्थित है।

सम्यग्दृष्टि नैरयिक आत्मा को मिथ्यादर्शन प्रत्यय के अतिरिक्त शेष चार क्रियाएँ लगती हैं किन्तु मिथ्यादृष्टि और मिश्रदृष्टि के उपर्युक्त पाचो क्रियाएँ लगती है।

हल, कुदाली आदि न होते हुए भी तत्सम्बन्धी योग होने से नैरयिकों को आरम्भिकी क्रिया लगती है। तत्सम्बन्धी योग होने से बाह्य परिग्रह न होने पर भी तत्सम्बन्धित ममता से पारिग्रहिकी क्रिया लगती है। नरक जीवो में क्रोध की अधिकता रहती है। क्रोध माया का उपलक्षण होने से उन्हे माया प्रत्यया क्रिया लगती है। भोग-विलास भी प्रायः नही है और न ऐसी कोई अनुकूलता हो दिखलाई दे रही है, तथापि उन पर मोह की स्थिति होने से अप्रत्याख्यानकी क्रिया लगती है।

नैरयिक समानायु—

क्या सभी नारकी समान आयु वाले होते है?

भगवान् ने फरमाया—नही, नैरयिको की चार प्रकार की अवस्था होती है :—

१. समायुष्क-समोपपन्नक :— समान आयु वाले एक साथ उत्पन्न हुए, यथा—दस हजार वर्ष की आयु बांधने वाली आत्माएँ एक साथ नरक में उत्पन्न हुई।

२. समायुष्क-विषमोपपन्नक :— कोई जीव समान आयु तो हैं परन्तु विषम उत्पत्ति वाले होते हैं। यथा—दस हजार की स्थिति वाले दो जीवों में से एक पहले उत्पन्न हुआ और एक बाद में उत्पन्न हुआ।

३. विषमायुष्क-समोपपन्नक :— विषम आयुष्य वाले समान रूप में उत्पन्न हुए, यथा—किसी की आयु समान तो नहीं, परन्तु नरक में एक साथ उत्पन्न हुए है, यथा—एक दस हजार की आयुष्य वाले एवं दूसरे पल्योपम की आयुष्य वाले जीव की एक साथ नरक में उत्पत्ति होना।

४. विषमायुष्क-विषमोपपन्नक :— भिन्न-भिन्न आयुष्य वाले भिन्न-भिन्न रूप मे उत्पन्न हुए। यथा एक जीव ने सात सागर की स्थिति बांधी और एक जीव ने दस सागर की। दोनो ही भिन्न-भिन्न समय में उत्पन्न हुए।

नारकी प्रकरण में नारकी जीवों के विभिन्न प्रकार के भेद करके व्याख्या प्रस्तुत की गई है जो कि आपेक्षिक दृष्टिकोण से उपयुक्त—सगत है।

18. असुरकुमारदि समानत्व चर्चा :—

उत्थानिका :—

दण्डकों में क्रमश: नारकी के बाद भवनपति आते हैं ? अत: नैरयिकों का वर्णन करने के बाद असुरकुमारादि सम्बन्धी विचार किया गया है :—

सूत्र. 18(i) असुरकुमारा णं भंते ! सव्वे [1]समाहारा ? सव्वे [2]समसरीरा? [A]जहा[3] नेरइया तहा भाणियव्वा। नवरं कम्मवण्ण [4]लेस्साओ [5]परिवण्णेयव्वाओ [6]पुव्वोववण्णगा [7]महाकम्मतरागा, [8]अविसुद्धवण्णतरागा [9]अविसुद्धलेसतरागा। [10]पच्छोववन्नगा पसत्था। सेसं [11]तहेव।

(ii) एवं [B]जाव थणियकुमारा णं।

18. (i) भगवन् ! असुरकुमार देव क्या समान आहार वाले और समान शरीर वाले होते हैं।

गौतम ! जैसा नैरयिकों के लिए कथन किया है, उसी प्रकार यहां भी कथन करना चाहिए। विशेषता यह है कि असुरकुमारों के कर्म, वर्ण और लेश्या नैरयिकों से विपरीत कहना चाहिए। अर्थात पूर्वोपपन्नक (पूर्वोत्पन्न) असुरकुमार महाकर्म वाले अविशुद्ध वर्ण वाले अविशुद्ध लेश्या वाले हैं। जबकि पश्चादुपपन्नक (बाद में उत्पन्न होने वाले) प्रशस्त हैं। शेष सब पहले के समान समझना चाहिए।

(ii) इसी प्रकार (नागकुमारों से लेकर) स्तनित कुमारों तक समझना चाहिए।

१. समाहारगा - अ० ता० व० मं०। समाहारका सव्वे - ला १।। २. ०सरीरा सव्वे समुस्सासनीसासा - धा०।। ३. जधा - बे०।। ४. ०लेसाओ - बे० म०।। ५. परिवत्तेयव्वाओ - न०। परित्थल्लेयव्वाओ - बे० म० ता०। परित्थणो तव्वाओ - मं०। परित्थल्लेयव्वाओ। पुढवि० - ला २। परिवण्णेयव्वाओ एवं जाव थणिय कुमाराणं। पुढविकाइया णं भंते ! आहार० - ला०। अत्र मूलपाठस्य 'परित्थल्लेयव्वाओ' पदस्य अयमर्थ :— 'परित्थल्लेयव्वाओ' पर्यस्तयितव्या: विपरिवर्तनीया: अर्थात् यथा-ये नैरयिका: पूर्वोपपन्नका: ते अल्पकर्मतरा: इत्यादिकं यद् निरूपितम् तद् अत्र असुरकुमाराणां प्रकरणे विपरीतं भावनीयम् यथा असुरकुमारा: पूर्वोपपन्नका: ते महाकर्मतरा: इत्येवं विपर्यस्य सर्वं ज्ञेयम् एवमेव वर्णलेश्यापेक्षयाऽपि विपरीतं बोध्यम्।। ६. पुव्वोववन्ना म० - लो०।। ७. महाकम्मतरा अवि० - अमो० धा० न० लो०।। ८. ०वण्णतरा अवि० - अमो० धा० न० लो०।। ९. ०लेसतरा पच्छो० - अमो० धा० न० लो०।। १०. पच्छोववण्णा - धा० न० - पच्छोववन्ना प० - लो०।। ११. तं चेव एवं - अमो०। पुव्वोववन्नगा....सेसं तहेव पाठो नास्ति - अ० क० ता० स०।।

A– सूत्र 17 (i) से सूत्र 17 (vii) तक।।

B– जाव पदेन असुरकुमारवत् नागकुमारा सुवण्ण, विज्जु, अग्गि, दीव, उदधि, दिस्, वायुकुमारा य।।

विवेचनः–

इस सूत्र में असुरकुमारादिक देवों के सम्बन्ध में आहारादि का वर्णन किया है। कर्म वर्ण, लेश्या के अतिरिक्त सभी बातें नैरयिकों के समान है। कर्म, वर्ण, लेश्याओं में नैरयिकों से विपरीत स्थिति है।

असुरकुमार देव भी अल्प शरीर एवं महाशरीर वाले होते हैं। अल्प शरीर वाले असुरकुमार अल्प पुद्गलों का आहार ग्रहण करते है। बार-बार आहार नहीं करते, बार-बार श्वासोच्छ्वास नहीं लेते। महाशरीर वाले असुरकुमार बहुत पुद्गलों का आहार करते हैं। बार-बार आहार ग्रहण करते हैं, बार-बार श्वासोच्छ्वास लेते हैं।

असुरकुमारों का भवधारणीय शरीर जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग और उत्कृष्ट सप्त हस्त प्रमाण है। उत्तर वैक्रिय शरीर की अपेक्षा जघन्य अंगुल के संख्यातवें भाग और उत्कृष्ट एक लक्ष योजन प्रमाण है।

यहां असुरकुमारों के आहार का ग्रहण[1] आहार के संकल्प की अपेक्षा समझना चाहिये।

शरीर की अल्पता, स्थूलता से आहार का कथन आपेक्षिक समझना चाहिये, यथा– सात हाथ वाले शरीर की अपेक्षा छः हाथ वालें का आहार कम है, परन्तु पांच हाथ वाले की अपेक्षा छः हाथ वाले का आहार अधिक है।

बार-बार आहार एवं श्वासोच्छ्वास का ग्रहण भी अपेक्षा भेद से ही समझा जा सकता है। यथा–कोई एक असुरकुमार देव चतुर्थ भक्त एक दिन के अन्तर से आहार करता है, सात स्तोक से श्वासोच्छ्वास लेता है और एक असुरकुमार देव एक हजार वर्ष के बाद आहार ग्रहण करता है, एक पक्ष से श्वासोच्छ्वास लेता है। एक हजार वर्ष से आहार व एक पक्ष से श्वासोच्छ्वास लेने की अपेक्षा चतुर्थ भक्त से आहार और सात–स्तोक से श्वासोच्छ्वास का ग्रहण 'बार-बार' कहा जा सकता है। या फिर अल्प शरीरी का अल्पाहार, अल्प श्वासोच्छ्वास तथा कदाचित् आहार और कदाचित् श्वासोच्छ्-वास अन्तराल की अपेक्षा से कहा गया है, क्योंकि अल्प शरीर वालों के आहार और श्वासोच्छ्वास में अन्तराल–अन्तर बहुत पड़ जाता है।

यद्यपि महाशरीर वालों के भी आहार आदि ग्रहण में अन्तराल पड़ता है किन्तु वह अन्तर अन्य अल्प शरीर वाले की अपेक्षा अत्यल्प है; नगण्य है। इसीलिए अल्प शरीर वालों की अपेक्षा महाशरीरी का आहार 'अभीक्ष्णं–बारम्बार करना विवेचित है। यथा—प्रथम देवलोक के देव का शरीर सप्त हस्त प्रमाण है। उनका आहार दो हजार वर्ष के अन्तर से तथा श्वासोच्छ्वास दो पक्ष के अन्तर से होता है। अनुत्तर विमान के देवों का शरीर एक हाथ प्रमाण है। उनका आहार तेतीस हजार वर्ष में तथा

---

१. आहार ग्रहण का मन होते ही इष्ट कान्त आदि आहार के पुद्गल आहार के रूप में परिणत हो जाते है।

श्वासोच्छ्वास ३३ पक्ष से होता है। अनुत्तर विमान के देवों की अपेक्षा से प्रथम देवलोक के देवों का आहार श्वासोच्छ्वास अभीक्ष्ण-पुनः पुनः होता है। यही अवस्था असुरकुमारादि देवों के विषय में भी समझनी चाहिये।

अल्प शरीर और महाशरीर वाले देवों द्वारा ग्रहीत आहारादि में एक दृष्टिकोण यह भी हो सकता है कि पर्याप्त अवस्था में रहने वाले असुरकुमार लोमाहारी होने से पुनः पुनः आहार ग्रहण करते हैं। अपर्याप्त अवस्था में रहने वाले असुरकुमार देव लोमाहार नहीं करते, ओजाहार ही करते हैं। अतः महाशरीर वाले पुनः पुनः आहार करते हैं।

कर्म, वर्ण लेश्या की अपेक्षा से नैरयिकों से असुरकुमारों में विपरीतता बतलाई है। पूर्वोपपन्नक देव महाकर्म वाले, अविशुद्ध वर्ण वाले और अविशुद्ध लेश्या वाले होते हैं। पश्चादुपपन्नक देव अल्प कर्म वाले, विशुद्ध वर्ण वाले, विशुद्ध लेश्या वाले होते हैं।

यहां पर असुरकुमार देवों का सामान्य प्रतिपादन हुआ है। पूर्वोत्पन्न देव के लिये बहुकर्मी, अविशुद्धवर्णी अविशुद्ध लेश्यी का जो कथन है, वह बहुलता से परमाधार्मिक देवों के विषय में जानना चाहिये। परमाधार्मिक देवों से भिन्न जो असुरकुमार हैं, उनमें मुख्य गौण भाव से आपेक्षिक दृष्टिकोण लेना चाहिये। संज्ञिभूत और असंज्ञिभूत की दृष्टि से जो विवेचना है, उस विवेचना में भी संज्ञिभूत में सम्यग्दृष्टि आत्माओं का ग्रहण है। सम्यग्दृष्टि आत्मा पूर्वोत्पन्न की स्थिति में होने पर भी पश्चादुपपन्न की अपेक्षा से अल्पकर्मी, आपेक्षिक शुभवर्ण शुभ लेश्या वाले होते हैं। इसका कारण यह है कि सम्यग्दृष्टि से सम्पन्न जिस आत्मा का पहले जन्म हुआ है, उस आत्मा के अधिक कर्म थे, वह कम हुए और तत्सम्बन्धी वेदना के अनुभव में भी-पश्चात्ताप आदि का पुट एवं उदयजनित अशुभ कर्मों का यथा सम्भव समभाव के साथ वेदन होने से नवीन कर्मों का बंध कम हुआ है। जो कर्म मन्दतीव्रता पूर्वक बंधे हैं, उनका वर्ण एवं लेश्या भी उपर्युक्त आपेक्षिक दृष्टि से शुभ समझनी चाहिये।

जो असंज्ञिभूत-मिथ्यादृष्टि एवं मिश्र दृष्टि देव हैं, उनकी अवस्था बहुलता से सामान्य देव वर्णन की तरह जानना चाहिये। जहां असंज्ञिभूत से दृष्टिकोण अपर्याप्त अवस्था से लिया जाता है-वहां बहुकर्म होने पर भी शुभवर्ण, शुभ लेश्या परमाधार्मिक देव की अपेक्षा से मानना चाहिये; क्योंकि अपर्याप्त अवस्था में रहने वाला देव विशेष कर्म बांधने या तोड़ने की स्थिति में नहीं रहता। इस अपेक्षा से पूर्वोत्पन्न और पश्चादुपपन्न की कर्म वर्ण लेश्या की दृष्टि से प्रायः तुल्यता रहती है।

इसका कारण यह है कि पहले उत्पन्न होने वाले असुरकुमार देव अहंकारी बनकर नारकी जीवों को बहुत कष्ट और त्रास पहुँचाते हैं। उस कष्ट को सहन करने से नैरयिकों के तो निर्जरा होती है, किन्तु असुरकुमारादि देव नये नये कर्मों का बंध कर लेते हैं। तीव्रतर अशुभ भावना होने से अपनी अशुद्धता बढ़ाते हैं। जिससे उनका पुण्य क्षीण-नष्ट होने लगता है। पुण्य के क्षीण होने से तथा अशुभ

कर्मों का बंध होने से उनको (देवों को) कर्म–वर्ण और लेश्या भी अशुद्ध बन जाती है। पश्चादुपपन्नक देव नैरयिकों को इतना त्रास नहीं पहुँचा पाते हैं जितना कि पूर्वोपपन्नक देव दीर्घावधि से पहुँचाते आ रहे हैं। इसलिये पूर्वोपपन्नक देवों की अपेक्षा पश्चादुपपन्नक देव अल्पकर्म वाले, शुद्ध वर्ण वाले और शुद्ध लेश्या वाले होते हैं।

बद्धायुष्क की अपेक्षा से विचार किया जाय तो पूर्वोत्पन्न असुरकुमार नारकी जीवों को त्रास पहुँचाने के कारण तिर्यञ्च आयुष्य बांधते हैं, जिससे वे अशुद्ध कर्म, वर्ण लेश्या वाले होते हैं किन्तु पश्चादुपपन्नक देवों ने परलोक की आयुष्य का बन्धन नहीं किया है, पूर्व का पुण्य प्रभाव चल रहा है। इस कारण वे विशुद्ध कर्म–वर्ण और लेश्या वाले होते हैं।

असुरकुमारादि का वेदना-विषयक वर्णन नारकी जीवों की तरह ही जानना चाहिए। जो दृष्टिकोण नारकियों के लिए प्रतिपादित है, वही यहाँ पर भी समझना चाहिये।

विशेष ज्ञातव्य यह है कि संज्ञिभूत असुरकुमार देव चारित्र के विराधक होते हैं। चारित्र की विराधना के कारण उन्हें पश्चात्तापजन्य वेदना बहुत होती है–जो असंज्ञिभूत असुरकुमारों को नहीं होती इसलिए संज्ञिभूत देव को महावेदना वाला एवं असंज्ञिभूत को अल्पवेदना वाला कहा है।

या फिर पूर्वभव में जो समानायुष्क थे, वे संज्ञी या पर्याप्त अवस्था को प्राप्त देव संज्ञिभूत होते हैं, इन्हें शुभ वेदन की अपेक्षा महावेदना होती है। इससे विपरीत असंज्ञिभूत को अल्पवेदना होती है।

यह सारा वर्णन स्तनितकुमारदेव पर्यन्त एक समान ही जानना चाहिये।

19. पृथ्वीकायिकादि समानत्व चर्चा :—

उत्थानिका :—

भवनपतियों के बाद क्रमशः स्थावर आते हैं। उनमें भी पृथ्वीकाय पहले हैं। तदनुसार प्रथम पृथ्वीकाय सम्बन्धी और बाद में अवशेष चार स्थावर का और क्रम प्राप्त द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय का वर्णन किया गया है।

सूत्र 19.(i) [1]पुढविक्काइयाणं आहार-कम्म-वण्ण-लेस्सा[2] [A]जहा नेरइयाणं।

(ii) [3]पुढविक्काइयाणं भंते ! सव्वे [4]समवेयणा ?

[5]हंता, [6]समवेयणा। से [7]केणट्ठेणं [8]भंते ! समवेयणा ?

सूत्र 19.(i) पृथ्वीकायिक जीवों का, आहार, कर्म, वर्ण, लेश्या नैरयिकों के समान समझना चाहिए।

(ii) क्या समस्त पृथ्वीकायिक जीव समान वेदना वाले हैं ?

हाँ गौतम ! समान वेदना वाले हैं।

भगवन् ! आप ऐसा किस कारण से कहते हैं कि सभी पृथ्वीकायिक जीव समान वेदना वाले हैं ?

करते हैं, कदाचित् श्वासोच्छ्वास लेते हैं। पर्याप्त और अपर्याप्त अवस्था के लिए भी यही कथन कि जा सकता है।

कर्म, वर्ण और लेश्या का वर्णन नैरयिकों की तरह ही पृथ्वीकाय का भी है।

पृथ्वीकाय जीव असंज्ञी है, असंज्ञिभूत वेदना वेदते हैं क्योंकि वे सभी मिथ्यादृष्टि और असंज्ञी होने से मूर्छित पुरुषों के समान अव्यक्त वेदना वेदते हैं। हमारे पूर्व कर्मों का फल है, हमें कौन पीड़ा दे रहा है, कौन मारता–काटता हैं आदि का ज्ञान उन्हें नहीं होता। इसलिए पृथ्वीकायिक जीवों को अव्यक्त वेदना वेदने वाले कहा है।

पृथ्वीकायिक जीव मायाचार करते हुए तो दिखलाई नहीं देते, फिर उन्हें मायी मिथ्यादृष्टि कैसे कहा गया ?

आगमकार का मायी मिथ्यादृष्टि कहने का तात्पर्य यह हो सकता है कि पृथ्वीकायिक जीवों में प्रायः मायी मिथ्यादृष्टि जीव उत्पन्न होते हैं। जैसा कि कहा है :—

उम्मग्गदेसओ मग्गणासओ गूढहियय माइल्लो।
सढसीलो य ससल्लो, तिरियाउं बंधए जीवो॥

उन्मार्ग का उपदेशक, सन्मार्ग–विनाशक, गूढ़ हृदयी–हृदय में गांठ रखने वाला, शठ-स्वभाव वाला, शल्ययुक्त जीव पृथ्वीकाय आदि तिर्यञ्चयोनि मे उत्पन्न होता हैं।

माया का अपर अर्थ अनन्तानुबंधी कषाय से संयोजित किया जाता है। अनन्तानुबंधी कषाय वाला मिथ्यादृष्टि होता है। इसलिए पृथ्वीकाय जीव के नियमतः पांचों क्रियाएँ लगती हैं।

पृथ्वीकाय की तरह ही अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, द्वीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय का वर्णन भी जानना चाहिये।

सूक्ष्म स्थावर जीव मात्र स्वकृत वेदना का वेदन करते हैं। परकृत वेदना उनमें नहीं होती किन्तु बादर स्थावर तथा विकलेन्द्रिय जीव स्व और परकृत (दूसरों द्वारा दी गई), दोनों ही वेदनाओं का वेदन करते हैं।

यद्यपि द्वीन्द्रिय जीव अपर्याप्त अवस्था में अल्प समय के लिए सम्यग्दृष्टि होते हैं, किन्तु उस सम्यग्दर्शन की मात्रा अत्यल्प तथा गिरती हुई अवस्था में होती है। यहां ऐसे सम्यग्दर्शन की विवक्षा न होने से सभी को पांचों क्रियाएँ लगती हैं।

इन जीवों की वेदना में यद्यपि बाह्य रूप से अन्तर दिखलाई देता है किन्तु सामान्य रूप से सभी अनिदा-अनाभोग अव्यक्त वेदना वेदते हैं।

उत्थानिका :—

चतुरेन्द्रिय का वर्णन होने के बाद क्रमप्राप्त पंचेन्द्रिय आता है। अतः इस सूत्र में तिर्यंच-पंचेन्द्रिय का वर्णन किया जा रहा है :—

सूत्र 21.(i) पंचिदियतिरिक्खजोणिया [A]जहा नेरइया। णाणत्तं किरियासु-(ii) पंचिदियतिरिक्खजोणिया णं भंते! सव्वे समकिरिया?

गोयमा! णो इणट्ठे समट्ठे। से [1]केणट्ठेणं भंते! एवं [2]वुच्चइ?

गोयमा! पंचिदियतिरिक्खजोणिया [3]तिविहा पण्णत्ता। तं जहा- [4]सम्मदिट्ठी, [5]मिच्छादिट्ठी, [6]सम्मामिच्छादिट्ठी। तत्थ णं जे ते [7]सम्मदिट्ठी, ते दुविहा पण्णत्ता, तं जहा- [8]अस्संजया य, [9]संजयासंजया य। तत्थ णं जे ते [10]संजयासंजया तेसि णं तिण्णि किरियाओ कज्जंति, तं जहा- [11]आरंभिया, [12]परिग्गहिया, [13]मायावत्तिआ। [14]असंजयाणं [B]चत्तारि। [15]मिच्छादिट्ठीण [C]पंच। [16]सम्मामिच्छादिट्ठीणं पंच।

सूत्र 21.(i) पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च योनि का वर्णन, जैसा नैरयिकों का वर्णन कहा है, उसी प्रकार जानना चाहिए। केवल क्रियाओं में भिन्नता है।

(ii) भगवन्! पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च-योनिक जीव क्या सब समान क्रिया वाले हैं?

गौतम! यह अर्थ समर्थ नहीं है।

भगवन्! ऐसा किस कारण कहा जाता है।

गौतम! पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च योनिक तीन प्रकार के कहे गए है; यथा सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, उनमें जो सम्यग्दृष्टि हैं, वे दो प्रकार के हैं। यथा असंयत और संयतासंयत। उनमें से जो संयतासंयत है वे तीन क्रियाओं वाले होते है। यथा आरंभिकी, परिग्रहीकी, मायाप्रत्यया, असंयत के (अप्रत्याख्यानी क्रिया सहित) चार क्रियाएं होती हैं। मिथ्यादृष्टि एवं सम्यग्मिथ्यादृष्टि को पांच क्रियाएँ लगती है।

---

१. ०ट्ठेणं? गोयमा! पंचि० - पु० वे० म०। ०ट्ठेणं भंते? गोयमा! पंचिंदिय - अमो०॥ २. वुच्चइ पंचिंदियतिरिक्खजोणिया नो सव्वे समकिरिया गो० - न०॥ ३. तिविधा - वे०॥ ४. समद्दिट्ठी - पा०। सम्मद्दिट्ठी - वे० म०॥ ५. मिच्छद्दिट्ठी - अमो० न०॥ ६. सम्मामिच्छद्दिट्ठी - अमो०। सम्मामिच्छ० - न०॥ ७. सम्मद्दिट्ठी - वे० म०। समदिट्ठी - ला०॥ ८. असंजया - अमो० न०। असंजया संजया० - पा०। अस्संजता - वे० म०। अस्संजयासं० - ला०॥ ९-१०. संजतासंजता - वे० म०॥ ११. आरम्भिया - म०॥ १२. पारिग्ग० - न० वे० म०॥ १३. ०वत्तिया - पु० अमो० न० वे० म०॥ १४. असंजताणं - वे० म०। अस्संज० - लों०॥ १५. मिच्छद्दिट्ठीणं - अमो०

विवेचन :-

प्रस्तुत सूत्र में पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्च योनिक जीवों का वर्णन नैरयिक की तरह प्रतिपादित कि गया है। महाशरीर वाले जो वार-वार आहार ग्रहण करते हैं, वार-वार श्वासोच्छ्वास लेते हैं, संख्यात वर्ष की आयु वाले तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय की अपेक्षा से समझना चाहिये। क्योंकि असंख्यात वर्ष आयु वाले तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय तो छट्ठ भक्त-दो दिन के अन्तराल से आहार ग्रहण करते हैं।

अपर्याप्त अवस्था में लोमाहार एवं श्वासोच्छ्वास की स्थिति न होने से अपर्याप्त तिर्यञ्च पं न्द्रिय कदाचित् आहार और कदाचित् श्वासोच्छ्वास ग्रहण करते हैं। पर्याप्त अवस्था में तो लोमाह और श्वासोच्छ्वास दोनों ही विद्यमान होने से वार-वार आहार होता है।

पूर्वोत्पन्न तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय अल्पकर्मी और पश्चादुपपन्न महाकर्मी होते हैं। इसका कारण यह कि उस भव योग्य आयुष्य आदि का अधिक अंश वेदन कर लेने से पूर्वोत्पन्न अल्पकर्मी तथा पश्च पपन्नक के लिये आयुष्यादि का अधिक अंश वेद्य-भोगना अवशेष होने से महाकर्मी कहा है।

वर्ण, लेश्या आदि के कथन में भी जो पूर्वोत्पन्न तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय तरुण अवस्था में है–वह शु वर्ण और शुभ लेश्या वाला है। पश्चादुपपन्नक तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय जो (बाल्यावस्था) में है, वह अशुभ व और अशुभ लेश्या वाला है।

सम्यग्दृष्टि संयतासंयत (श्रावक) तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय के तीन क्रियाएँ होती हैं :—

(१) आरंभिकी क्रिया, (२) पारिग्रहिकी क्रिया, (३) मायाप्रत्यया क्रिया।

असंयत सम्यक्दृष्टि के चार क्रियाएँ होती हैं—उक्त तीन के साथ एक अप्रत्याख्यानी क्रि और होती है।

मिथ्यादृष्टि–सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीवों में मिथ्यादर्शन प्रत्यया क्रिया सहित पांचों क्रि होती हैं।

22. मनुष्यदेव विषयक समानत्व चर्चा :—

उत्थानिका :—

तिर्यञ्च के बाद क्रम प्राप्त मनुष्य का वर्णन आता है। अतः तिर्यञ्चों का वर्णन करने के ब मनुष्य सम्बन्धी विचार किया गया है।

न॰ ॥ १६. सम्ममिच्छद्दिट्ठीणं - अमो॰ । सम्मामिच्छ॰ - न॰ ॥

A– सूत्र 17 (i) से सूत्र 17 (v) तक, सूत्र 17 (vii) ॥

B– आरम्भिया परिग्गहिया मायावत्तिआ अपच्चक्खाणकिरिया ॥

C– आरम्भिया परिग्गहिया मायावत्तिआ अपच्चक्खाणकिरिया मिच्छादंसणवत्तिआ ॥

सूत्र 22.(i) [१]मणुस्सा [२]जहा नेरइया। नाणत्तं- जे [३]महासरीरा ते बहुतराए पोग्गले [४]आहारेंति, ते आहच्च आहारेंति। जे अप्पसरीरा [५]ते [६]अप्पतराए पोग्गले आहारेंति, अभिक्खणं आहारेंति। सेसं जहा नेरइयाणं [A]जाव [७]वेयणा।

(ii) मणुस्सा णं भंते। सव्वे [८]समकिरिया?

गोयमा! णो [९]इणट्ठे समट्ठे। से [१०]केणट्ठेणं?

गोयमा। [११]मणुस्सा तिविहा पण्णत्ता- तं जहा- [१२]सम्मदिट्ठी, [१३]मिच्छादिट्ठी, [१४]सम्मामिच्छादिट्ठी। तत्थ णं जे ते [१५]सम्मदिट्ठी ते [१६]तिविहा पण्णत्ता। तं जहा–[१७]संजया, संजयासंजया, [१८]अस्संजया। तत्थ णं जे ते [१९]संजया ते दुविहा पण्णत्ता, तं जहा- [२०]सरागसंजया य, [२१]वीयरागसंजया य। तत्थ णं [२२]जे ते [२३]वीयरागसंजया, ते णं अकिरिया। तत्थ णं जे ते [२४]सरागसंजया ते दुविहा पण्णत्ता तं जहा-

[१]पमत्तसंजया य [२]अप्पमत्तसंजया य। तत्थ णं जे ते अप्पमत्तसंजया तेसि णं एगा मायावत्तिया किरिया [४]कज्जइ।

सूत्र 22.(i) मनुष्यों का वर्णन नैरयिकों की तरह जानना चाहिए। विशेषता यह है कि जो महाशरीरी हैं वे बहुत बहुत पुद्गलों का आहार ग्रहण करते हैं और वे कभी २ आहार करते है। जो अल्प शरीर वाले हैं वे अल्पतर पुद्गलों का आहार करते हैं और बार २ आहार करते है। वेदना तक का शेष वर्णन नैरयिकों की तरह ही यहाँ जानना चाहिए।

(ii) हे भगवन्! क्या सभी मनुष्य समान क्रिया वाले होते है?

हे गौतम! यह अर्थ संगत नहीं हैं।

भगवन्! ऐसा किस कारण?

गौतम! मनुष्य तीन प्रकार के प्रतिपादित किए गये हैं। यथा सम्यग्दृष्टि-मिथ्यादृष्टि-सम्यग्मिथ्यादृष्टि। उनसे जो सम्यग्दृष्टि मनुष्य हैं वे तीन प्रकार के कहे गए हैं। यथा-संयत, संयतासंयत (श्रावक) और असंयत। उनमें जो संयत है, वे दो प्रकार के हैं, यथा-सराग संयत और वीतराग संयत। उनमें जो वीतराग संयत है, वे क्रियारहित हैं। उनमें जो सराग संयत हैं वे दो प्रकार के है। यथा-प्रमत्त संयत और अप्रमत्त संयत। उनमें जो अप्रमत्त संयत हैं उनके एक माया प्रत्यया क्रिया लगती है।

तत्थ णं जे ते [5]पमत्तसंजया तेसि णं दो [6]किरियाओ [7]कज्जंति, तं जहा-[8]आरंभिया य, [9]मायावत्तिया य। तत्थ णं जे ते [10]संजयासंजया तेसि णं [11]आइल्लाओ तिन्नि किरियाओ [12]कज्जंति तं जहा–आरभिया [13]परिग्गहिया मायावत्तिया। [14]असंजयाणं [15]चत्तारि किरियाओ [16]कज्जंति, तं जहा-आरंभिया, [17]परिग्गहिया, मायावत्तिया, [18]अप्पच्चक्खाणपच्चयाकिरिया। मिच्छादिट्ठीणं [19]पंच– आरंभिया, [20]परिग्गहिया, मायावत्तिया, [21]अपच्चक्खाणपच्चया, मिच्छादंसणवत्तिया। [22]सम्मामिच्छादिट्ठीणं पंच।

किन्तु उनमें जो प्रमत्त संयत हैं, उनके दो क्रियाएँ लगती हैं। यथा–आरम्भिकी और माया प्रत्यया।

जो संयतासंयत हैं उनके आदि की तीन क्रियाएँ लगती हैं। यथा आरम्भिकी, पारिग्रहिकी, माया प्रत्यया।

असंयति को चार क्रियाएँ लगती हैं। यथा आरंभिकी, पारिग्रहिकी, माया प्रत्यया, अप्रत्याख्यान प्रत्यया क्रिया।

मिथ्यादृष्टि को पांचों क्रिया लगती हैं। आरम्भिकी, पारिग्रहिकी, माया प्रत्यया, अप्रत्याख्यान प्रत्यया और मिथ्यादर्शन प्रत्यया क्रिया। सम्यग्मिथ्यादृष्टि (मिश्रदृष्टि) को भी पांच क्रिया लगती हैं।

---

१. प्र० मणुस्सा णं भंते······ ···मणुस्सा नो सव्वे समवेयणा - न० ॥ २. 'जहा' 'तहा' स्थाने विशेषतः 'जधा' 'तधा' इत्येव पाठ - ला १ ॥ ३. ०रीरा ते आहच्च आहारेंति - अमो० वे० म० ॥ ४. रेंति आह० - पु० ॥ ५. ते प्रति-पत्तणं - वे० म० ॥ ६. ०राए आहारेंति - पु० ॥ ७. वेदणा - अमो० ॥ ८. ०रिया? नो - लाँ० ॥ ९. तिन्नि - पु० ॥ १०. ०ट्ठेणं भंते! गोयमा - अमो० धा० । ०ट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ मणुस्सा नो सव्वे समकिरिया! गोयमा - न० ॥ ११. मणूसा नि० - लाँ० ॥ १२. ०द्दिट्ठी - अमो० वे० म० । सम्मद्दिट्ठी - धा० ॥ १३. ०द्दिट्ठी - अमो० । मिच्छादिट्ठी - न० ॥ १४. सम्ममिच्छद्दिट्ठी - अमो० । सम्मामिच्छद्दिट्ठी - धा० लाँ० । सम्मामिच्छ० - न० ॥ १५. सम्मादिट्ठी - अमो० । सम्मद्दिट्ठी - धा० वे० म० ॥ १६. तिविधा - वे० ॥ १७. संजया असंजया संजयासंजया तत्थ - पु० । संजया य असंजया य संजयासंजया य तत्थ - अमो० । संजया असंजया संजयासंजया तत्थ - न० संजता असंजता संजतासंजता य - वे० म० । संजता संजतासंजता असंजता - लाँ० ॥ १८. असंजया - धा० ॥ १९. संजता - वे० म० ॥ २०. सरागसंजता - वे० म० ॥ २१. वीतराग संजया य - न० । वीतराग संजता - वे० म० ॥ २२. जे वीय० - धा० । २३. वीतराग संजता - वे० म० । वीतरागसंजया - न० ॥ २४. सरागसंजता वे० म० ॥

जावपूर्ति :- A- समकम्मा समवण्णा समलेस्सा सम ॥

१. ०संजता - वे० म० ॥ २. अपमत्त० - पु० अमो० धा० । ०संजता - वे० म० ॥ ३. पमत्त० - अमो० धा० ०संजता - वे० म० ॥ ४. कज्जंति - वे० म० ॥ ५. ०संजता - वे० म० ॥ ६. किरिया कज्ज० - अमो० ॥

विवेचन-

प्रस्तुत सूत्र में मनुष्य सम्बन्धी वक्तव्यता विस्तृत रूप से विवेचित की गई है।

सामान्य रूप से तो नैरयिकों की तरह ही मनुष्यों का भी प्रतिपादन किया गया है। शरीरादि विषयों पर कुछ विभिन्नता भी प्रतिपादित है।

महाशरीरी मनुष्य कदाचित् आहार ग्रहण करते हैं तथा बहुत से पुद्गलों का आहार ग्रहण करते हैं। महाशरीरी से तात्पर्य यहां भोग भूमिज-देवकुरु और उत्तर कुरु वाले मनुष्यों से है। उनकी अवगाहना तीन गव्यूति प्रमाण होती है किन्तु वे आहार अष्टम भक्त (तीन दिन के अन्तराल) से ग्रहण करते हैं। अल्प शरीरी मनुष्य अल्प पुद्गलों का आहार बार-बार करते हैं।

यहाँ यह सहज जिज्ञासा होती है कि देवकुरु उत्तरकुरु वाले मनुष्यों को बहुत पुद्गलों का आहारी कैसे कहा ? क्योंकि वे तो सारयुक्त पुद्गलों का आहार करते हैं।

यथार्थ में देवकुरु उत्तरकुरु के मनुष्यों का आहार बाह्य रूप से स्थूल दृष्टि से अल्प दिखता है, किन्तु उसमें अल्प शरीरी द्वारा ग्राह्य पुद्गलों की अपेक्षा अधिक पुद्गल होते हैं। सारभूत आहार में जितने पुद्गल होते हैं, निस्सार में उतने नहीं होते हैं। इसीलिए उन्हें बहुत पुद्गलों का आहार करने वाला कहा गया है।

अल्प शरीरी से मल-मूत्र में उत्पन्न होने वाले अंगुल के असंख्यातवें भाग की अवगाहना वाले सम्मूर्छिम मनुष्य भी ग्रहण किये गए हैं।

पूर्वोत्पन्न मनुष्यों के जो शुभ वर्णादि कहे गए हैं, वे इस प्रकार समझने चाहिये।

मनुष्य के शुभ कर्म, वर्ण और लेश्या आदि को सामान्य रूप से नैरयिकों के समान बतलाते हुए भी कुछ नानत्व-भिन्नता का कथन भी किया है। उस नानत्व से अनेक दृष्टिकोण फलित होते हैं। एक क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि मनुष्य पूर्वोत्पन्न है और एक क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि मनुष्य पश्चादुपपन्न है। उनमें पूर्वोत्पन्न सम्मग्दृष्टि मनुष्य भावों की विशुद्धि से कर्म, वर्णादि की अपेक्षा शुद्ध बन जाता है, किन्तु पश्चादुपपन्नक क्षायोपशमिक मनुष्य ही यदि क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त कर लेता है तो पूर्वोत्पन्न की अपेक्षा

कज्जइ - अमो० ॥ ८. आरंभिया मायाव० - घा० । आरम्भिया - म० ॥ ९ ०निया सत्य ण - घा० ॥ १०. संजना-संजता - वे० म० ॥ ११. आदिमाओ - अमो० क० ता० म० । आइमाओ - लों० ला १ । आइमायाओ - ला० ॥ १२. कज्जंति असंजयाणं - अमो० । कज्जंति अस्संजताणं - वे० म० ॥ १३. ०हिया मापा० - पु० । पारिग्गहिया मापा० - घा० न० ॥ १४. अस्संजयाणं - पु० ॥ १५. अत्र आद्याः चतस्रः क्रिया बोध्या ॥ १६. ०नि आरं० - पु० न० वे० म० । ०नि मिच्छादिट्ठीणं - अमो० ॥ १७. पारिग्गहिया - घा० न० ॥ १८. अपच्चक्खाण वत्तिया मिच्छा० - घा० । अपच्चक्खाणकिरिया - न० ॥ १९. पंच सम्मामिच्छदिट्ठीणं - अमो० । पंच तंजहा आर० - घा० । पंच सम्मा० - वे० म० ॥ २०. पारिग्ग० - घा० न० ॥ २१. मक्खाणवत्तिया - घा० । ०क्खाणकिरिया - न० ॥ २२. सम्मामिच्छ० - पु० न० । सम्ममि० - लों० ॥

से शुद्ध बन सकता है। यदि वह पश्चादुपपन्न क्षयोपशमिक मनुष्य मिथ्यात्वी या मिश्र दृष्टि वाला रह जाय तो पूर्वोत्पन्न की अपेक्षा अशुद्ध कर्म, वर्णादि वाला भी बन जाता है।

इस प्रकार पूर्वोत्पन्न और पश्चादुपपन्न मनुष्य के कर्म-वर्णादि में विशुद्धाविशुद्धि की अपेक्षा चतुर्भंगी भी बन सकती है। यही मिथ्यादृष्टि मनुष्यों के विषय में भी घटित कर लेना चाहिये। उदाहरण के रूप में समझ लीजिये-एक पश्चादुपपन्न मिथ्यादृष्टि मनुष्य शुक्ल लेश्या वाले परिणामों से कृष्ण लेश्या वाले परिणाम की ओर बढ़ रहा है, किन्तु पूर्वोत्पन्न मिथ्यादृष्टि मनुष्य कृष्ण लेश्या के परिणामों से शुक्ल लेश्या के परिणामों में निरन्तर बढ़ रहा है तो उस पूर्वोत्पन्न मिथ्यादृष्टि मनुष्य के वर्णादि की अपेक्षा पश्चादुपपन्न के वर्णादि विशुद्ध होते हैं। इसी अपेक्षा से चारों भंग घटाये जा सकते हैं।

संमूर्छिम मनुष्य— पश्चादुपपन्न संमूर्छिम मनुष्य यदि विशुद्ध बनकर संमूर्छिम से अतिरिक्त आयुष्य का बंध करते हैं और पूर्वोत्पन्न संमूर्छिम मनुष्य उसी से मरकर उसी में जाने वाले हैं, तो पूर्वोत्पन्न संमूर्छिम मनुष्य की अपेक्षा पश्चादुपपन्न संमूर्छिम मनुष्य के कर्म, वर्ण लेश्यादि विशुद्ध बन जाते हैं। इसी प्रकार के दृष्टिकोण से इसी के अन्य भंग बनाये जा सकते हैं।

मनुष्यों के तीन भेद बतलाये हैं— सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि, मिश्रदृष्टि।

सम्यग्दृष्टि के तीन भेद हैं, उनके भी आवान्तर भेद और हैं उनमें भिन्न-भिन्न क्रियाएँ बतलाई हैं।

जिसकी यथातथ्य श्रद्धा हो, उसे सम्यक्त्वी कहते हैं। जिसकी विपरीत अतात्विक श्रद्धा हो, उसे मिथ्यादृष्टि कहते हैं, जिसकी सत्य-असत्य मिश्रित आस्था हो उसे मिश्रदृष्टि कहते हैं।

जो चारित्र का पालन करता है और जिसके संज्वलन कषाय उपशमित या क्षपित नहीं हुए हैं, उसे प्रमत्त सराग संयति कहते हैं।

जिसके सम्पूर्ण कषायों का सर्वथा क्षय हो गया है, उसे 'क्षीण कषाय वीतराग संयत' कहते हैं।

जिसके सम्पूर्ण कषाय का उपशमन हो गया है, उसे 'उपशान्त कषायी वीतराग संयत' कहते हैं। ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती उपशान्त कषाय वीतरागी और बारहवें, तेरहवें, चौदहवें गुणस्थानवर्ती आत्माएँ 'क्षीण कषायी वीतराग संयत' कहलाती हैं।

वीतराग संयत में कर्म बंधन की हेतुभूत क्रिया नहीं होती है। इसलिये तदपेक्षया वे 'अक्रिय' अक्रिय कहे जाते हैं। यद्यपि सयोगी वीतराग संयत में योग की प्रवृत्ति से होने वाली ईर्यापथिक क्रिया रहती है, किन्तु वह क्रिया नगण्य होने से, केवल योग प्रवृति रूप होने से और कषाय रहित होने से यहां उसे क्रिया के रूप में नहीं माना गया है।

अप्रमत्त संयत में एक माया प्रत्यया क्रिया होती है। क्योंकि उसमें कषाय की स्थिति रहती है। टीकाकार का यह कहना है कि **'कदाचिदुड्डाहरक्षणप्रवृतानामक्षीणकषायत्वादिति'** उड्डाह्-धर्म पर आए हुए कलंक को दूर करने के लिए या धर्म की होती हुई हँसी से उसका रक्षण करने के लिए कभी-अप्रमतसंयत माया प्रत्यया क्रिया का सेवन करते है। किन्तु छद्मस्थ अप्रमत गुणस्थान का समय बहुत कम होता है। इसलिये ऐसी क्रियाएँ प्रमत्त संयत में ही संभवित हैं। अप्रमत्त संयत में भी वह क्रिया कायम रह सकती है।

अप्रमत्त संयत लब्धि का प्रयोग नही करता है, तब उड्डाह निमित्त लब्धि का प्रयोग अप्रमत्त संयति कैसे कर सकते हैं ?

मगध सम्राट् राजा श्रेणिक ने छल-छद्म की नीति से जैन मुनियों को निकृष्ट बतलाने की भावना से जिस मकान में लब्धि सम्पन्न अप्रमत्त मुनि विराजमान थे, उस मकान में एक नगरवधू को रात्रि के समय प्रवेश करा कर द्वार बंद करवा दिया। ऐसी विचित्र स्थिति को समझ कर मुनिराज ने वीतराग देव की शासन गरिमा को अक्षुण्ण रखने के लिये लब्धि प्रयोग से वेश परिवर्तन किया। यहां यह जिज्ञासा हो सकती है कि-सातवां गुणस्थान अप्रमत्त संयत गुणस्थान है। लब्धि का प्रयोग प्रमाद है अतः वह लब्धि प्रयोग सातवें गुणस्थान में कैसे सम्भव है ? इसका समाधान इस प्रकार दिया जा सकता है कि लब्धि प्रयोग की पूर्व और पश्चात्वर्ती अवस्था अप्रमत्त अवस्था होते हुए भी लब्धि जन्य स्थिति से वह सम्बद्ध है। छठे से सातवें और सातवें से छठे गुणस्थान मे आना-जाना चलता रहता है अतएव पूर्वोत्तर भाव की अपेक्षा से सातवें गुणस्थान में लब्धि प्रयोग कहा गया है। लब्धि प्रयोग के पूर्व और लब्धि प्रयोग के पश्चात् अप्रमत्त भाव ही रहता है। केवल लब्धि प्रयोग के समय प्रमत्त भाव रहता है।

प्रमत्त सराग-संयमी को दो क्रियाएँ होती है—आरंभिकी और माया प्रत्यया।

माया प्रत्यया तो संज्वलन कषाय की स्थिति रहने से साधक को लगती है। आरम्भिकी क्रिया साधक के द्वारा प्रमादपूर्वक असावधानी से चलने-फिरने के कारण लगती है।

संयतासंयत-देश विरत को तीन क्रियाएँ लगती हे। अप्रत्याख्यानकी, मिथ्यादर्शन प्रत्यया क्रिया नहीं लगती है। असंयत के अप्रत्याख्यानकी सहित चार और मिथ्यादृष्टि और मिश्रदृष्टि के मिथ्यादर्शन प्रत्यया सहित पांचों क्रियाएँ लगती है।

शास्त्रकार ने संयतासंयत (श्रावक) में तीन ही क्रियाएँ बतलाई हें। अव्रत की क्रिया श्रावक में नही बतलाई है।

आज के युग में कई व्याख्याकार श्रावक में अव्रत की क्रिया मानते हैं। उनका कहना है कि श्रावक जो तपस्यादि करता है, वह तो व्रत में है किन्तु उसका पारणा अव्रत में है, खाना-पीना-वस्त्र-मकान आदि क्रियाएँ अव्रत में आती हैं।

किन्तु उनकी यह व्याख्या किंवा धारणा यथोचित नहीं है क्योंकि आगम में उस व्रती के अव्रत की क्रिया लगना कहा है, जिसमें थोड़ा सा-स्वल्प-सा भी व्रत नहीं होता है। किन्तु श्रावक तो देशव्रती है, तब उसे अव्रत की क्रिया कैसे लग सकती है? जब श्रावक को अव्रत की क्रिया नहीं लगती है तब उसे अन्न-पान आदि की सहायता देना अव्रत का पोषण नहीं हो सकता।

प्रज्ञापना सूत्र में भी श्रावक को अव्रत की क्रिया लगने का निषेध किया गया है।

कति णं भंते। किरियाओ पण्णत्ताओ?

गोयमा! पंच किरियाओ पण्णत्ताओ तंजहा-आरंभिया, परिग्गहिया, मायावत्तिया, अपच्चक्खाण किरिया मिच्छादंसणवत्तिया।

आरंभियाणं भंते! किरिया कस्स कज्जइ?
गोयमा! अण्णयरस्स वि पमत्त संजयस्स।
परिग्गहियाणं भंते! किरिया कस्स कज्जइ?
गोयमा! अण्णयरस्सवि संजयासंजयस्स।
मायावत्तियाणं भंते! किरिया कस्स कज्जइ?
गोयमा! अण्णयरस्स वि अप्पमत्त संजयस्स।
अप्पच्चक्खाणं भंते! किरिया कस्स कज्जइ?
गोयमा! अण्णयरस्स वि अप्पच्चक्खाणिस्स।
मिच्छादंसणवत्तियाणं भंते! किरिया कस्स कज्जइ?
गोयमा! अण्णयरस्स वि मिच्छादंसणिस्स।

हे भगवन्! क्रिया कितने प्रकार की होती है?

हे गौतम क्रिया पांच प्रकार की होती हैं यथा—१. आरंभिकी, २. पारिग्रहिकी, ३. मायाप्रत्यया ४. अप्रत्याख्यानकी, ५. मिथ्यादर्शन प्रत्यया।

हे भगवन्! आरंभिकी क्रिया किसको लगती है?

हे गौतम! किसी-किसी प्रमत्तसंयत को भी लगती है, जब वह प्रमादवश अपने शरीरादि का दुष्प्रयोग करता है, तब उससे पृथ्वी आदि जीवों की विराधना होने से आरंभिकी क्रिया लगती है। यहां जो "अपि" शब्द का प्रयोग किया गया है, उसका अर्थ यह है कि जब प्रमत्त संयत को भी आरंभिकी क्रिया लग सकती है, जब उससे नीचे वाले सभी गुण स्थानों में तो आरंभिकी क्रिया लगती ही है। आगे भी 'अपि' शब्द से इसी प्रकार अर्थ ग्रहण करना चाहिये।

हे भगवन्! पारिग्रहिकी क्रिया किसको लगती है?
देश-विरत श्रावक को भी पारिग्रहिकी क्रिया लगती है।

※ हे भगवन् ! माया-प्रत्यया क्रिया किसको लगती है ?

हे गौतम ! माया प्रत्यया क्रिया किसी-किसी अप्रमत्त संयत को भी लगती है, क्योंकि अपने प्रवचन की बदनामी को दूर करने के लिए लब्धिप्रयोग आदि से माया प्रत्यया क्रिया लगती है।

※ हे भगवन् ! अप्रत्याख्यानिकी क्रिया किसको लगती है ?

हे गौतम ! जो थोड़ा-सा भी प्रत्याख्यान नहीं करता, उसे अप्रत्याख्यानिकी क्रिया लगती है।

※ हे भगवन् मिथ्यादर्शन-प्रत्यया क्रिया किसको लगती है ?

हे गौतम ! जो पुरुष आगमोक्त वाणी के एक वचन पर भी अविश्वास रखता है, उसके मिथ्यादर्शन-प्रत्यया क्रिया लगती है।

प्रस्तुत पाठ में यह स्पष्ट बतलाया है कि जो थोड़ा-सा भी प्रत्याख्यान (व्रत) नहीं करता है, उसे अप्रत्याख्यान (अव्रत) की क्रिया लगती है। टीकाकार ने यह भी लिखा है:—

'अपच्चक्खाण किरिया इति अप्रत्याख्यानं मनागपि विरतिपरिणामाभावः तदेव क्रिया अप्रत्याख्यान क्रिया'

(प्रज्ञापना सूत्र पद २२)

उपर्युक्त दृष्टिकोण से यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रावक को अव्रत की क्रिया नहीं लगती है। जो वह आहार-पानी ग्रहण करता है, वस्त्र-मकानादि का उपयोग करता है; वे न व्रत में हैं और न ही अव्रत में, किन्तु उसकी ममता परिग्रह में है। भगवान् ने व्रत-अव्रत को तो आत्मा का परिणाम बतलाया है[1]। जबकि श्रावक के अन्न-वस्त्र आदि तो प्रत्यक्ष रूप से रूपी और अजीव हैं। अतः वे व्रत और अव्रत की सीमा में नहीं आ सकते।

प्रज्ञापना सूत्र में श्रावक को अव्रत की क्रिया लगने का स्पष्ट निषेध किया है तथा—

अपच्चक्खाण किरिया पुच्छा ?

जस्स णं भंते ! आरंभिया किरिया कज्जइ, तस्स

गोयमा ! जस्स णं जीवस्स आरंभिया किरिया कज्जइ, तस्स अपच्चक्खाण किरिया सिय कज्जइ सिय नो कज्जइ जस्स पुण अपच्चक्खाण किरिया कज्जइ तस्स आरंभिया किरिया नियमा। एवं मिच्छादंसण वत्तियाए वि समं एवं-परिग्गहिया वि तीहिं उवरिल्लाहिं समं संचारेतव्वा। जस्स मायावत्तिया किरिया कज्जइ तस्स उवरिल्लाओ दो वि सिय कज्जंति, सिय णो कज्जंति। जस्स

१. तेरह पंथ के आद्य आचार्य भिक्षुजी ने भी व्रत और अव्रत को जीव और अरूपी कहा है। उन्होंने तेरह द्वार के छठे रूपी-अरूपी द्वार में लिखा है:—'अव्रत आश्रव ने अरूपी किण न्याय कहीजे। जे अत्याग भाव परिणाम जीवरा अरूपी छे.।'

उवरिल्लाओ दो कज्जन्ति तस्स मायावत्तिया नियमा कज्जन्ति। जस्स-अपच्चक्खाण किरिया कज्ज तस्स मिच्छादंसणवत्तिया किरिया सिय कज्जइ, सिय णो कज्जइ। जस्स पुण मिच्छादंसणवत्ति किरिया कज्जइ, तस्स अपच्चक्खाण किरिया नियमा कज्जइ।

"हे भगवन् ! जिसको आरंभिकी क्रिया लगती है, क्या उसको अप्रत्याख्यानिकी क्रिया लगती है ?

हे गौतम ! जिसे आरंभिकी क्रिया होती है, उसे अप्रत्याख्यानिकी क्रिया होती भी है और नहीं भी होती। परन्तु जिसे अप्रत्याख्यानिकी क्रिया होती है, उसे आरंभिकी क्रिया अवश्य होती है।

आरंभिकी क्रिया छठे गुणस्थान पर्यन्त होती है, परन्तु पंचम और षष्ठ गुणस्थान में प्रत्याख्यान होने से अप्रत्याख्यानिकी क्रिया नहीं होती। इसलिए यहाँ आरंभिकी क्रिया के साथ अप्रत्याख्यानकी क्रिया की भजना कही है। परन्तु चतुर्थ गुणस्थान तक के जीवों में अप्रत्याख्यानकी क्रिया होती है और उनमें आरंभिकी क्रिया भी होती है। अत अप्रत्याख्यानकी क्रिया के साथ आरंभिकी क्रिया की नियमा है।"

आरम्भिकी क्रिया के साथ शेष चार क्रियाओं की नियम-भजना का विचार किया गया है। अब पारिग्रहिकी क्रिया के साथ उसके आगे की क्रियाओं की नियमा-भजना का विचार कर रहे हैं—

"हे भगवन् ! जिसको पारिग्रहिकी क्रिया होती है, क्या उसे अप्रत्याख्यानिकी क्रिया होती है ?

हे गौतम ! जिसे पारिग्रहिकी क्रिया होती है, उसे अप्रत्याख्यानिकी क्रिया होती भी है और नहीं भी। परन्तु जिसे अप्रत्याख्यानिकी क्रिया होती है, उसे पारिग्रहिकी क्रिया अवश्य होती है। पारिग्रहिकी क्रिया पंचम गुणस्थान तक होती है, क्योंकि श्रावक परिग्रहधारी होता है। परन्तु पंचम गुणस्थान में अप्रत्याख्यानिकी क्रिया नहीं होती, क्योंकि श्रावक प्रत्याख्यानी होता है। अतः पारिग्रहिकी के साथ अप्रत्याख्यानिकी भजना कही है। चतुर्थ गुणस्थान तक अप्रत्याख्यानिकी क्रिया होती है, वहाँ पारिग्रहिकी क्रिया भी विद्यमान है। इसलिए अप्रत्याख्यानिकी क्रिया के साथ पारिग्रहिकी क्रिया की नियमा है।"

पारिग्रहिकी क्रिया के साथ उसके आगे की क्रियाओं की नियमा-भजना कही गयी है। अब माया प्रत्यया क्रिया के साथ उसके आगे की क्रियाओं की नियमा-भजना कह रहे हैं :—

"हे भगवन् ! जिसे माया प्रत्यया क्रिया होती है, क्या उसे अप्रत्याख्यानिकी क्रिया होती है ?

हे गौतम ! जिसे माया प्रत्यया क्रिया होती है, उसे अप्रत्याख्यानिकी क्रिया होती भी है और नहीं भी होती है। परन्तु जिसे अप्रत्याख्यानिकी क्रिया होती है, उसे माया प्रत्यया अवश्य होती है। माया प्रत्यया क्रिया पंचम आदि गुणस्थानों में भी पाई जाती है, परन्तु वहाँ अप्रत्याख्यानिकी क्रिया नहीं होती, क्योंकि वे प्रत्याख्यानी होते हैं, इसलिए माया-प्रत्यया क्रिया के साथ अप्रत्याख्यानिकी क्रिया

को भजना कही है। चतुर्थ गुणस्थान पर्यन्त के जीवों में अप्रत्याख्यानिकी क्रिया होती है और उनमें माया प्रत्यया क्रिया भी होती है। अतः अप्रत्याख्यानिकी क्रिया के साथ माया-प्रत्यया क्रिया की नियमा कही गई है।

प्रस्तुत पाठ में पारिग्राहिकी क्रिया के साथ अप्रत्याख्यानिकी क्रिया की भजना प्रतिपादित की गई है। यह कथन तब ही घटित हो सकता है, जब किसी गुणस्थान में परिग्रह तो हो, परन्तु अप्रत्याख्यान–अव्रत न हो। ऐसा गुणस्थान पांचवें देश विरत के अतिरिक्त कोई नहीं है। क्योंकि षष्ठ आदि गुणस्थानों में परिग्रह नहीं होता तो पंचम के पूर्व गुणस्थानों में परिग्रह के साथ अप्रत्याख्यान भी विद्यमान है।

एक देशविरत श्रावक का पाँचवां गुणस्थान ही ऐसा है जिसमें परिग्रह तो है, परन्तु अप्रत्याख्यान नहीं है। प्रस्तुत पाठ में जो परिग्रह के साथ अप्रत्याख्यान की भजना कही है–वह पांचवें गुणस्थान की अपेक्षा से ही समझना चाहिये।

दूसरी बात यह है कि अप्रत्याख्यानिकी क्रिया अप्रत्याख्यान कषाय चतुष्क के होने पर ही लगती है। पंचम-गुणस्थान में अप्रत्याख्यान कषाय चतुष्क का उदय नहीं होता, अतः श्रावक को अप्रत्याख्यानिकी क्रिया नहीं लगती।

सूत्र कृताङ्ग सूत्र एवं औपपातिक सूत्र का प्रमाण देकर श्रावक में अव्रत की क्रिया कहना, सत्य नहीं है। मूल पाठ में कहा है कि 'श्रावक अठारह पाप से अंशतः हटा है और अंशतः नहीं हटा है—

वह मूल पाठ निम्न है:—

"एगच्चाओ पाणाइवायाओ पडिविरया जाव-जीवाए एगच्चाओ अपडिविरया एवं जाव परिग्गाहाओ पडिविरया एगच्चाओ अपडिविरया। एगच्चाओ कोहाओ, माणाओ, मायाओ, लोहाओ, पेज्जाओ. दोसाओ, कलहाओ, अब्भक्खाणाओ, पेसुणाओ, परपरिवायाओ, अरति-रतिओ, माया मोसाओ, मिच्छादंसण सल्लाओ पडिविरया जाव-जीवाए एगच्चाओ अपडिविरया जावज्जीवाए"

(औपपातिक सूत्र, प्रश्न १२)

"श्रावक यावज्जीवन प्राणातिपात से लेकर परिग्रहपर्यन्त एक अंश से निवृत्त और एक अंश से निवृत्त नहीं है। इस तरह क्रोध, मान, माया, लोभ, राग-द्वेष, कलह, अभ्याख्यान, पैशुन्य, परपरिवाद, रति-अरति, माया–मृषा और मिथ्यादर्शन शल्य के एक अंश से हटा है और एक अंश से नहीं हटा है।"

इस आधार पर यह कहना कि श्रावक जिस अंश में पाप से नहीं हटा है, वह अव्रत में है, तो अठारह पाप में मिथ्यादर्शन शल्य भी है। श्रावक उसमें भी अंशतः हटा है, तब जिस अंश में श्रावक मिथ्यादर्शन से नहीं हटा है, उस अंश में उसे मिथ्यादर्शन की क्रिया भी लगनी चाहिये। इस पर यदि यह कहें कि श्रावक हालांकि मिथ्यादर्शन पाप से पूरा नहीं हटा, किन्तु सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाने से

मिथ्यादर्शन प्रत्यया क्रिया नहीं लगती है। उसी प्रकार अठारह पापों के जिस अंश से श्रावक नहीं हटा है, उसका सेवन करने पर भी प्रत्याख्यान होने से उसे अप्रत्याख्यानिकी क्रिया नहीं लगती है।

शास्त्रों में स्थान-स्थान पर श्रावक के तीन क्रियाओं का ही विधान किया है। अप्रत्याख्यानिकी व मिथ्यादर्शन-प्रत्यया का कहीं पर भी विधान श्रावक के लिए नहीं किया है।

कदाचित् कोई यह कहे कि श्रावक में परिपूर्णतः अव्रत नहीं पाया जाता, अतः अव्रत की क्रिया का विधान नहीं किया। यदि ऐसा है तो श्रावक में माया भी एक देश से ही पाई जाती है, तब माया-प्रत्यया क्रिया भी नहीं लगनी चाहिए, किन्तु मायाप्रत्ययाक्रिया तो शास्त्रकार ने बतलाई है। परन्तु अव्रत-अप्रत्याख्यानिकी क्रिया श्रावक के लिए नहीं बतलाई गई है, क्योंकि श्रावक के अव्रत की क्रिया लगती ही नहीं है।

जहां भगवान् ने प्रमाद के योग से लगने वाली क्रिया की भी गणना की है, जैसे प्रमत्त संयत में इसीलिये आरम्भिकी और माया-प्रत्यया क्रिया बतलाई है, वहां यदि श्रावक में देश से भी अव्रत होता तो शास्त्रकार श्रावक में अवश्य ही चार क्रियाएँ बतलाते।

व्यवहारिक दृष्टि से भी चिन्तन किया जाय तो यह बात सुस्पष्ट हो जाती है कि श्रावक को अव्रत की क्रिया नहीं लगती।

एक मास खमण की तपस्या करने वाला तपस्वी जब पारणा करता है, तब पारणे के दिन दाल का पानी या आंशिक दुग्ध ही ग्रहण कर पाता है। चाहे कितनी ही भूख हो, किन्तु पारणे के दिन उसे अल्प पदार्थ ही दिया जाता है। हालांकि उससे तपस्वी की उदरपूर्ति नहीं हो पाती, तथापि अब उसे तपस्या नहीं कहला सकती, क्योंकि पारणा हो चुका है। चाहे उसने दो चम्मच जितना दाल का पानी ही क्यों न लिया हो, अब उसके तपस्या नहीं रहती।

इसी प्रकार जिस सम्यक्त्वी ने व्रत ग्रहण की भावना से व्रत का एक अंश भी ग्रहण कर लिया है, जो व्रत अंगीकार करने लग गया है उसे अव्रती नहीं कह सकते और न ही उसके अव्रत की क्रिया ही लगती है। भगवान् ने 'चलमाणे चलिए' कहा है कि 'चलते हुए को चला' कहना। जो व्यक्ति अभी अपने गन्तव्य के लिये चल रहा है। ऐसे व्यक्ति के लिए भी भगवान् ने 'चला' कहा है। क्योंकि उसने स्थान के लिये अपनी गति क्रिया प्रारम्भ कर दी है। उसे अब अचल—'नहीं चला' ऐसा नहीं कह सकते।

उसी प्रकार जिस सम्यक्त्वी ने व्रत के पथ पर चलकर एक व्रत भी ग्रहण कर लिया है, उसे अव्रती नहीं कह सकते। जिस तपस्वी ने दाल का पानी ही लिया हो, उसके अब तपस्या नहीं रह सकती, उसी प्रकार जिस सम्यक्त्वी ने एक व्रत भी ग्रहण कर लिया है, वह अब अव्रती नहीं कहला सकता। शास्त्रों में उसे व्रती कहा है, उसके अव्रत की क्रिया नहीं लगती।

विषय को स्पष्ट करने के लिए एक रूपक और लिया जा सकता है—एक पुरुष का किसी कन्या के साथ विवाह किया गया। पुरुष और स्त्री का केवल 'हस्तमिलाप सम्बन्ध ही हुआ। इसके अतिरिक्त और कोई सांसारिक सम्बन्ध उनके साथ नहीं हुआ। ऐसी स्थिति में पुरुष को विवाहित कहा जायगा या अविवाहित कहा जायगा ? उत्तर होगा – वह पुरुष विवाहित कहा जायगा। चाहे हस्तमिलाप के अतिरिक्त उस पुरुष का स्त्री के साथ कोई सम्बन्ध नहीं हुआ, मात्र हस्तमिलाप के सम्बन्ध से वह विवाहित है, अविवाहित नहीं।

इसी प्रकार जिस सम्यक्त्वी ने अभी तक एक भी व्रत स्वीकार नहीं किया है, वह अव्रती है, अत: उसके चारों क्रियाएँ लगती हैं। किन्तु जिस पुरुष ने कोई एक व्रत भी स्वीकार कर लिया है, वह व्रती बन जाता है, उसे अब अव्रती नहीं कह सकते। अव्रत की क्रिया अब उसे नहीं लगती। जैसे हस्तमिलाप के सम्बन्ध मात्र से व्यक्ति विवाहित माना जाता है, अविवाहित नही।

उसी प्रकार एक व्रत को ग्रहण कर लेने मात्र से सम्यक्त्वी व्रती हो जाता है, अव्रती नहीं। उसे अब अव्रती नहीं कह सकते।

गुणस्थान दृष्टि से भी यही बात सामने आती है। चतुर्थ गुणस्थानवर्ती अविरत सम्यग्दृष्टि जीव चौथे गुणस्थान में तभी तक रहता है, जब तक वह एक भी व्रत ग्रहण नहीं करता जिस दिन उसने एक भी व्रत ग्रहण" कर लिया, उस दिन वह चौथे गुणस्थान में नहीं रह सकता, पांचवे देश विरत-श्रावक के गुणस्थान में आ जाता है। इसीलिये देवगण एक नवकारसी के व्रत को भी अंगीकार नहीं कर पाते, क्योंकि वे अविरति हैं, चतुर्थ गुणस्थानवर्ती हैं।

अतः स्पष्ट है कि एक भी व्रत को अंगीकार करने वाला जीव चौथे गुणस्थान में नहीं रहता, पांचवे-श्रावक गुणस्थान में आ जाता है। उसी प्रकार देशव्रत ग्रहण करने वाले श्रावक को अव्रत की क्रिया लग ही नही सकती, क्योंकि वह अव्रत से व्रत में आ चुका है। ऐसे श्रावक में अव्रत की क्रिया मानना सत्य से विपरीत एवं आगम विरुद्ध प्ररूपणा है।

23. देव-वर्णन

उत्थानिका :—

तिर्यञ्च मनुष्य के पश्चात् क्रमप्राप्त देवों का वर्णन आता है। भवनपति देवों का वर्णन पूर्व में किया जा चुका है। अतः इस सूत्र में व्यन्तर देवों आ वर्णन किया गया है।

मिथ्यादर्शन प्रत्यया क्रिया नहीं लगती है। उसी प्रकार अठारह पापों के जिस अंश से श्रावक नहीं हुआ है, उसका सेवन करने पर भी प्रत्याख्यान होने से उसे अप्रत्याख्यानिकी क्रिया नहीं लगती है।

शास्त्रों में स्थान-स्थान पर श्रावक के तीन क्रियाओं का ही विधान किया है। अप्रत्याख्यानिकी व मिथ्यादर्शन-प्रत्यया का कहीं पर भी विधान श्रावक के लिए नहीं किया है।

कदाचित् कोई यह कहे कि श्रावक में परिपूर्णत: अव्रत नहीं पाया जाता, अत: अव्रत की क्रिया का विधान नहीं किया। यदि ऐसा है तो श्रावक में माया भी एक देश से ही पाई जाती है, तब माया-प्रत्यया क्रिया भी नहीं लगनी चाहिए, किन्तु मायाप्रत्ययाक्रिया तो शास्त्रकार ने बतलाई है। परन्तु अव्रत-अप्रत्याख्यानिकी क्रिया श्रावक के लिए नहीं बतलाई गई है, क्योंकि श्रावक के अव्रत की क्रिया लगती ही नहीं है।

जहां भगवान् ने प्रमाद के योग से लगने वाली क्रिया की भी गणना की है, जैसे प्रमत्त संयत में, इसीलिये आरम्भिकी और माया-प्रत्यया क्रिया बतलाई है, वहां यदि श्रावक में देश से भी अव्रत होता तो शास्त्रकार श्रावक में अवश्य ही चार क्रियाएँ बतलाते।

व्यवहारिक दृष्टि से भी चिन्तन किया जाय तो यह बात सुस्पष्ट हो जाती है कि श्रावक को अव्रत की क्रिया नहीं लगती।

एक मास खमण की तपस्या करने वाला तपस्वी जब पारणा करता है, तब पारणे के दिन दाल का पानी या आंशिक दुग्ध ही ग्रहण कर पाता है। चाहे कितनी ही भूख हो, किन्तु पारणे के दिन उसे अल्प पदार्थ ही दिया जाता है। हालांकि उससे तपस्वी की उदरपूर्ति नहीं हो पाती, तथापि अब उसके तपस्या नहीं कहला सकती, क्योंकि पारणा हो चुका है। चाहे उसने दो चम्मच जितना दाल का पानी ही क्यों न लिया हो, अब उसके तपस्या नहीं रहती।

इसी प्रकार जिस सम्यक्त्वी ने व्रत ग्रहण की भावना से व्रत का एक अंश भी ग्रहण कर लिया है, जो व्रत अंगीकार करने लग गया है उसे अव्रती नहीं कह सकते और न ही उसके अव्रत की क्रिया ही लगती है। भगवान् ने 'चलमाणे चलिए' कहा है कि 'चलते हुए को चला' कहना। जो व्यक्ति अभी अपने गन्तव्य के लिये चल रहा है। ऐसे व्यक्ति के लिए भी भगवान् ने 'चला' कहा है। क्योंकि उसने जाने के लिये अपनी गति क्रिया प्रारम्भ कर दी है। उसे अब अचला—'नहीं चला' ऐसा नहीं कह सकते।

उसी प्रकार जिस सम्यक्त्वी ने व्रत के पथ पर चलकर एक व्रत भी ग्रहण कर लिया है, उसे अव्रती नहीं कह सकते। जिस तपस्वी ने दाल का पानी ही लिया हो, उसके अब तपस्या नहीं हो सकती। उसी प्रकार जिस सम्यक्त्वी ने एक व्रत भी ग्रहण कर लिया है, वह अब अव्रती नहीं कहला सकता। शास्त्रों में उसे व्रती कहा है, उसके अव्रत की क्रिया नहीं लगती।

विषय को स्पष्ट करने के लिए एक रूपक और लिया जा सकता है—एक पुरुष का किसी कन्या के साथ विवाह किया गया। पुरुष और स्त्री का केवल 'हस्तमिलाप सम्बन्ध ही हुआ। इसके अतिरिक्त और कोई सांसारिक सम्बन्ध उनके साथ नहीं हुआ। ऐसी स्थिति में पुरुष को विवाहित कहा जायगा या अविवाहित कहा जायगा ? उत्तर होगा - वह पुरुष विवाहित कहा जायगा। चाहे हस्तमिलाप के अतिरिक्त उस पुरुष का स्त्री के साथ कोई सम्बन्ध नहीं हुआ, मात्र हस्तमिलाप के सम्बन्ध से वह विवाहित है, अविवाहित नही।

इसी प्रकार जिस सम्यक्त्वी ने अभी तक एक भी व्रत स्वीकार नही किया है, वह अव्रती है, अत: उसके चारों क्रियाएँ लगती हैं। किन्तु जिस पुरुष ने कोई एक व्रत भी स्वीकार कर लिया है, वह व्रती बन जाता है, उसे अब अव्रती नहीं कह सकते। अव्रत की क्रिया अब उसे नही लगती। जैसे हस्तमिलाप के सम्बन्ध मात्र से व्यक्ति विवाहित माना जाता है, अविवाहित नही।

उसी प्रकार एक व्रत को ग्रहण कर लेने मात्र से सम्यक्त्वी व्रती हो जाता है, अव्रती नहीं। उसे अब अव्रती नहीं कह सकते।

गुणस्थान दृष्टि से भी यही बात सामने आती है। चतुर्थ गुणस्थानवर्ती अविरत सम्यग्दृष्टि जीव चौथे गुणस्थान में तभी तक रहता है, जब तक वह एक भी व्रत ग्रहण नहीं करता जिस दिन उसने एक भी व्रत ग्रहण" कर लिया, उस दिन वह चौथे गुणस्थान में नहीं रह सकता, पांचवे देश विरत-श्रावक के गुणस्थान में आ जाता है। इसीलिये देवगण एक नवकारसी के व्रत को भी अंगीकार नहीं कर पाते, क्योंकि वे अविरति हैं, चतुर्थ गुणस्थानवर्ती हैं।

अत: स्पष्ट है कि एक भी व्रत को अंगीकार करने वाला जीव चौथे गुणस्थान में नहीं रहता, पांचवे-श्रावक गुणस्थान में आ जाता है। उसी प्रकार देशव्रत ग्रहण करने वाले श्रावक को अव्रत की क्रिया लग ही नहीं सकती, क्योंकि वह अव्रत से व्रत में आ चुका है। ऐसे श्रावक में अव्रत की क्रिया मानना सत्य से विपरीत एवं आगम विरुद्ध प्ररूपणा है।

23. देव-वर्णन

उत्थानिका :—

तिर्यञ्च मनुष्य के पश्चात् क्रमप्राप्त देवों का वर्णन आता है। भवनपति देवों का वर्णन पूर्व में किया जा चुका है। अत: इस सूत्र में व्यन्तर देवों आ वर्णन किया गया है।

सूत्र 23. [1]वाणमंतर[2] [3]जोतिस-वेमाणिया जहा[A] असुरकुमारा । नवरं [4]वेयणाए णाणत्तं-[5]मायामिच्छादिट्ठी-उववन्नगा य [6]अप्पवेयणतरा, [7]अमायिसम्मदिट्ठीउववन्नगा य महावेयण-[8]तरागा भाणियव्वा [9]जोइस-[10]वेमाणिया ।

सूत्र 23. वानव्यन्तर ज्योतिष्क और वैमानिकों का वर्णन असुरकुमार की तरह जानना चाहिए। विशेषता यह है कि वेदना में भिन्नता है। (ज्योतिष्क और वैमानिक) यदि मायी मिथ्यादृष्टि उत्पन्न हुए हों तो अल्प वेदना वाले होते हैं। अमायी सम्यग्दृष्टि उत्पन्न हुए हों तो महाविदना वाले होते हैं। ऐसा कहना चाहिए। यही कथन ज्योतिष्क वैमानिकों के विषय में भी जानना चाहिए।

विवेचन:–

व्यन्तर–ज्योतिष्क और वैमानिकों का वर्णन असुरकुमारों की तरह जानना चाहिये।

अल्पशरीर और महाशरीर का वर्णन अपनी–अपनी अवगाहना के अनुसार समझना चाहिये

देवों की अवगाहना:—

भवनपति–वाणव्यन्तर–ज्योतिष्क और पहले–दूसरे देवलोक की अवगाहना–सात हस्त प्रमाण
तीसरे–चौथे देवलोक की षट् हस्त प्रमाण ।
पांचवें–छठे देवलोक की–पांच हस्त प्रमाण ।
सातवें–आठवें देवलोक की–चार हस्त प्रमाण ।
नौवें व दसवें, ग्यारहवें, बारहवें देवलोक की—तीन हस्त प्रमाण ।
नवग्रैवेयक की दो हस्त प्रमाण ।
पांच अनुत्तर विमान की एक हस्त प्रमाण ।
सर्वार्थ सिद्ध देवलोक की—मुण्ड हस्त प्रमाण ।

१. प्र०–भणुस्सा णं भंते"""नो सव्वे समोववन्नगा - न० । २. अस्य रचना सुस्पष्टास्ति यथा–वाणमंतरा जहा असुर कुमाराणं । एवं जोइसिय वेमाणियाणं वि णवरं ते वेदणाए दुविहा पण्णता तंजहा माइमिच्छादिट्ठी उववन्नगा य अमाइसम्मद्दिट्ठी उववन्नगा य । तत्थ णं जे ते माइमिच्छद्दिट्ठीउववन्नगा ते णं अप्पवेदणतरागा । तत्थ णं जे अमाइसम्मद्दिट्ठीववन्नगा ते णं महावेदणतरागा । प्रज्ञापना० १७/१ ॥ वाणमंतरा जोइस - लों० । ३. जोइस - अमो० घा० । जोदिस - ला १ ॥ ४. वेदणाए - अमो० । ०णाए मायामिच्छद्दिट्ठी० - लां० ॥ ५. मायीमिच्छादिट्ठी० अमो० । मायिमिच्छा० - घा० वे० म० । मायिमच्छ० - न० ॥ ६. अप्पवेयण० - अमो० न० । अप्पवेयणतरागा घा० ॥ ७. अमायीसम्मद्दिट्ठी - अमो० । ०सम्मद्दिट्ठी० - घा० वे० म० ॥ ८. ०तरा भाणि० - अमो० न० । मह वेयणातरागा - घा० । ०णतरा भा० - लों० ॥ ९. जोतिसवेमाणिया - पु० न० वे० म० ॥ १०. वेमणियाय - अमो०

A– सूत्र 18 (i) (ii)

असुरकुमार की तरह जो संज्ञिभूत वाणव्यन्तर देव हैं, वे महावेदना वाले होते हैं। असंज्ञिभूत देव अल्प वेदना वाले होते हैं। क्योंकि व्यन्तरों में असंज्ञिभूत जीव उत्पन्न हो सकते हैं, यथा—

असण्णीणं, जहण्णेणं भवणवासिसु–उक्कोसेणं वाणमंतरेसु।

असंज्ञिजीव जघन्य से भवनपति में और उत्कृष्ट से वानव्यतर में उत्पन्न होते है।

ज्योतिष्क और वैमानिक देवों में असंज्ञीजीवों की उत्पत्ति नहीं होती। अत: तद् विषयक वेदना भी नही होती है।

ज्योतिषी देवों के दो भेद हैं—१. माया मिथ्यादृष्टि उपपन्नक, २. अमायि–सम्यग्दृष्टि उपपन्नक। मिथ्यादृष्टि को कम वेदना और सम्यग्दृष्टि को अधिक वेदना होती है।

सम्यग्दृष्टि की वेदना शुभ और साता रूप ही होती है। अशुभ रूप नहा होती है।[1]

24. चौबीस दण्डक में लेश्या की अपेक्षा समाहारादि विचार :—

उत्थानिका :—

पूर्व सूत्रों में आहार कर्म-वर्ण लेश्या आदि सम्बन्धी वक्तव्यता प्रस्तुत की गई। अब अग्रिम सूत्रों में चौवीस दण्डकों के अन्दर विशेषत: लेश्या सम्बन्धी वक्तव्यता प्रस्तुत की जा रही है।

सूत्र 24. [1]सलेस्सा णं भंते ! नेरइया [2]सव्वे समाहारगा ?

[A]ओहियाणं, [3]सलेस्साणं, [4]सुक्कलेस्साणं, [5]एएसि णं तिण्हं [6]एक्को गमो। [7]कण्हलेस्साणं, [8]नीललेस्साणं पि [9]एक्को गमो, नवरं [10]वेदणाए–[11]मायिमिच्छादिट्ठीउववन्नगा य, [12]अमायिसम्मदिट्ठीउववन्नगा य भाणियव्वा। मणुस्सा किरियासु सराग-[13]अविराग-पमत्ताऽपमत्ता न भाणियव्वा। [14]काउलेस्साए वि [15]एसेव गमो। नवरं [16]नेरइए जहा ओहिए

सूत्र 24. भगवन् ! सलेश्य नैरयिक क्या सभी समान आहार वाले होते हैं।

गौतम ! औधिक (सामान्य) सलेश्य और शुक्ल लेश्या वाले, इन तीनों का एक गम-पाठ कहना चाहिए। कृष्ण लेश्या, नील लेश्या वालों का भी गम समान पाठ जानना चाहिए। परन्तु वेदना में मायीमिथ्यादृष्टि उपपन्नक और अमायी सम्यग्दृष्टि उपपन्नक कहना चाहिए।

मनुष्य सम्बन्धी किया सूत्र में कृष्ण लेश्या नील लेश्या वाले मनुष्य में सराग, वीतराग, प्रमत्त, अप्रमत्त का कथन नहीं करना चाहिए। कापोत लेश्या का भी यही गम-पाठ जानना चाहिए। किन्तु कापोत लेश्या वाले नैरयिक का कथन औघिक दण्डक के समान करना चाहिए।

---

१. एतद् विषयक वर्णन नैरयिक वेदना विचार प्रकरण में किया गया है। वहां से समझ लेना चाहिए।

दंडए तहा भाणियव्वा । [१७]तेउलेस्सा, [१८]पम्हलेस्सा [१९]जस्स अत्थि जहा [२०]ओहिओ दंडओ तहा भाणियव्वा । नवरं-मणुस्सा [२१]सरागा, वीयरागा य न भाणियव्वा । गाहा–

[२२]दुक्खाऽऽउए उदिण्णे, आहारे, कम्म-वण्ण-लेस्सा[२३] य । [२४]समवेयण समकिरिया [२५]समाउए चेव [२६]बोद्धव्वा ॥१॥

तेजो लेश्या पद्म लेश्या वालों को और दण्डक की तरह ही कहना चाहिए।

मनुष्यों में सराग और वीतराग भेद न कहना चाहिए।

गाथा :–

दु:ख कर्म और आयुष्य ये उदीर्ण हो त वेदते हैं। आहार, कर्म, वर्ण, और लेश्या, स वेदन सम क्रिया और समायुष्क इ संबन्ध में पूर्व कथनानुसार जानना चाहि

विवेचन :–

प्रस्तुत सूत्र में लेश्या के सम्बन्ध में विचार किया गया है। पूर्व में जो नैरयिक सम्बन्धी वक्तव्यता दी गई है, वह सामान्यपेक्षा थी। अब लेश्या के सम्बन्ध में नैरयिक सम्बन्धी प्रश्न किये जा रहे हैं।

क्या लेश्या वाले सभी नैरयिक समान आहार करने वाले हैं? इस प्रश्न के समाधान में भगवान ने फरमाया कि सलेश्य नारक के दो भेद होते हैं— (१) अल्प शरीरी (२) महाशरीरी। उन अल्प-महाशरीरी लेश्या वाले नैरयिकों की आहारादि वक्तव्यता पहले के समान ही जानना चाहिये।

१. सलेसा णं - वे० म० ॥ २. सव्वे कि समा० - घा० ॥ ३. सलेसाणं - वे० म० ॥ ४. ०लेसाणं - वे० म० ॥ ५. एतेसि - न० ॥ ६. एक्को त्ति एक. समान:— तुल्य: गम. पाठ. ॥ ७. कण्हलेस णील० - अमो० वे० म० । कण्ह-लेस्स-नील० - न० । कण्हलेस्सा - ता० मं० ॥ ८. ०लेसाणं - वे० म० ॥ ९. एगोगमो - अमो० न० । एगो - पु० ता० ब० । एगो - लों० ॥ १०. वेयणाए - घा० ॥ ११. मायीमिच्छादिट्ठी० - अमो० ॥ ०मिच्छादिट्ठी० - घा० । मायिमिच्छ० - न० । मायमिच्छदि० - ला० ॥ १२. अमायीसम्मदिट्ठी - अमो० । ०सम्मदिट्ठी० - घा० वे० म० ॥ १३. वीयराग पमत्तापमत्ता - पु० न० वे० म० । वीतराग अपमत्तापमत्ताणं भा० - अमो० । वीयरागा पमत्तअपमत्ता य भा० - ला० । पमत्तऽप्पम० - लों० ॥ १४. काउलेसाए वि - पु० । काउलेस्साण वि एवमेव गमो णवरं - अमो० । काउल्लेस्साण वि - न० । काउलेसाण - वे० म० ॥ १५. एमोव - अ० ॥ १६. नेरइया - घा० । नेरइय - न० ॥ १७. तेउलेसा - वे० म० ॥ १८. पम्हलेसा - वे० म० ॥ १९. जस्सत्थि - क० ता० ब० ॥ २०. ०हिओ तहा भाणि० - अमो० ॥ २१. सराग वीतरागा ण भा० - अमो० ला० लों० । सरागवीयरागा न - न० ॥ २२. दुक्खाउए - पु० अमो० घा० न० ॥ २३. लेसा य - वे० म० ॥ २४. समवेदण - वे० म० ॥ २५. समाउया - अमो० ॥ २६. बोधव्वा - अमो० घा० न० ॥

A—सूत्र 17 (i) से सूत्र 17 (vii) तक ॥

आहार की वक्तव्यता की तरह ही शरीर, श्वासोच्छ्वास कर्म, वर्ण, लेश्या, वेदना, क्रिया, उपपात के लिए भी इसी प्रकार की वक्तव्यता कहनी चाहिये।

औधिक वक्तव्यता के पश्चात् विशेष वक्तव्यता--प्रतिपादित की गई है--

कृष्ण लेश्या के जीव सभी समान आहारी नहीं होते हैं। कृष्ण लेश्या के अवान्तर भेद संख्यातीत होते हैं। कृष्ण लेश्या अपेक्षाकृत विशुद्ध भी होती है, अविशुद्ध भी होती है। गहरे काले रंग से हल्का काला रंग जैसे विशुद्ध होता है, उसी प्रकार गहरी कृष्ण लेश्या की अपेक्षा हल्की कृष्ण लेश्या विशुद्ध होती है। इसीलिए एक कृष्ण लेश्या वाले के नरक गति होती है तो एक कृष्ण लेश्या वाले की भवनपति देवों में उत्पत्ति होती है।

कृष्ण लेश्या में अल्प शरीरी, महाशरीरी भेद होने से आहार की समानता नहीं रहती है।

कृष्ण-नील कपोत लेश्या में सराग-संयत, वीतराग संयत, प्रमत्त संयत, अप्रमत्त संयत भेद नहीं कहने चाहिये। अर्थात् इन लेश्याओं में सराग-संयत आदि उपर्युक्त संज्ञा वाली आत्माएँ नहीं होती हैं, क्योंकि साधु में तीन अप्रशस्त भाव लेश्याओं का निषेध किया गया है। आदि की तीन लेश्याओं में साधुत्व होने की प्ररूपणा-सर्वथा असत्य है।

उत्थानिका :--

पूर्व सूत्र में लेश्या की सामान्य वक्तव्यता दी गयी। प्रस्तुत सूत्र में उसके भेद विषयक विचार किया जा रहा है।

सूत्र 25 [१]कइ णं भंते। [२]लेस्साओ पण्णत्ताओ।

गोयमा! [३]छल्लेसाओ [४]पण्णत्ताओ। तं [५]जहा-[६]लेस्साणं [७]बीयओ उद्देसओ [८]भाणियव्वो जाव[A] इड्ढी।

सूत्र 25 हे भगवन् लेश्याएँ कितनी कही गई हैं।

गौतम! लेश्याएँ छः कही गयी है। यथा कृष्ण लेश्यादि। यहां प्रज्ञापना सूत्र में कथित लेश्या पद का द्वितीय उद्देशक ऋद्धि की वक्तव्यता तक कहना चाहिए।

---

१. कति णं - वे० म० ॥ २. लेसाओ - वे० म० ॥ ३. छल्लेसाओ - पु० वे० म० । छल्लेस्साओ - अमो० पा० न० ॥ ४. पन्नता तंजहा पु० ॥ ५. प्र०-०हा कण्हलेस्सा, नीललेस्सा, काउलेस्सा, तेउलेस्सा, पम्हलेस्सा सुक्कलेस्सा न० ॥ ६. लेसाणं - पु० वे० म० ॥ ७. बीओ० उद्दे० अमो० वे० म० । बीओ उद्देसो पा० न० । बितिओ - क० । बीर उद्देसउ भा० - ला० । ८. भाणेयव्वो - अमो० ॥

A-प्रज्ञा. सूत्र 1156 to 1198 पृष्ठ ॥ (Appendix E)

विवेचनः—

लेश्याएँ छह प्रकार की होती हैं—कृष्ण लेश्या, नील लेश्या—कापोत लेश्या, तेजो लेश्या, पद्म-लेश्या और शुक्ल लेश्या।

इनमें आदि की तीन लेश्याएँ अप्रशस्त और अन्त की तीन लेश्याएँ प्रशस्त होती हैं।

इन्हें समझने के लिए एक रूपक प्रस्तुत किया जाता है :—

छह व्यक्ति वन-भ्रमण कर रहे थे, भ्रमण करते हुए उन्हे भूख लगी। क्षुधा शांति के लिए इधर उधर देखने पर उन्हें आम्र वृक्ष दिखलाई दिया। सभी ने आम खाने का निश्चय किया।

यहां तक तो छह व्यक्तियों के विचारों में समानता रही। किन्तु आम ग्रहण की विधि में अन्तर आ गया। पहले व्यक्ति ने कहा·······भूख तेजी से लग रही है, अपने पास कुल्हाड़ी है—सब मिलकर वृक्ष को काट कर नीचे गिरा दें। फिर आराम से खाएँगे। थोड़े से आम खाने के लिए वृक्ष को जड़ मूल से उखाड़ने में कितनी हानि होगी, इसका उसने विचार नहीं किया।

दूसरे ने कहा—पेड़ को गिराने से कोई तात्पर्य नहीं है, हमें तो आम खाने हैं, अतः आम की बड़ी-बड़ी डालियों को गिरा देना चाहिये, अर्थात् आम की डालियों को काटना चाहिये।

तीसरे ने कहा —बड़ी-बड़ी डालियों को काटने से क्या मतलब निकलेगा ? लकड़ियों और पत्तों का ढेर हो जाएगा। आम तो छोटी-छोटी शाखाओं में लगे हैं, अतः उन्हें ही काटना चाहिये, जिससे आम भी मिल जाएँगे और लकड़ियों और पत्तों का ढेर नहीं लगेगा।

चौथे ने कहा—यह बात भी उचित नहीं है, क्योंकि छोटी-छोटी डालियों को काटने से भी लकड़ियों और पत्तियों का ढेर लग जायगा।। हमें तो फल खाने से मतलब है, अतः फलों के गुच्छे ही तोड़ लें।

पाँचवें ने कहा—कच्चे और पक्के दोनों ही फल तोड़ने से क्या मतलब निकलेगा। यह तो स्वार्थ लिप्सा होगी। यदि पहले आने वाले व्यक्ति भी यह करते तो हमें आम ही नहीं मिलते। अतः हमें तो केवल पके हुए फल ही तोड़ना चाहिए।

छठे ने कहा—हमें तो अपनी क्षुधा शांत करनी है, आम खाने से मतलब है, पेड़-शाखाओं प्रशाखाओं, गुच्छों आदि को तोड़ने से कोई लाभ नहीं। पके हुए काफी आम तो वृक्ष के नीचे गिरे पड़े हैं, क्योंकि आम्र वृक्ष इतना उदार होता है कि आमों के पकने पर उन्हें छोड़ देता है। अतः हमें इन्हीं आमों से अपने उदर की पूर्ति कर लेनी चाहिये।

प्रस्तुत रूपक में सभी का आम्रफल खाने रूप अभिप्राय: एक होते हुए भी ग्रहण विधि के विषय में विचार की भिन्नता है। वैसे ही संसार के मनुष्य भी छह प्रकार के होते हैं। कई व्यक्ति अपनी सुख सुविधा के लिए दूसरों की जड़ काट देते हैं और कई दूसरों को हानि नहीं पहुँचाते हुए अपनी जीविका निर्वाह करते हैं।

अपने तुच्छ स्वार्थ के पीछे महारम्भ करना और दूसरों को हानि पहुँचाना कृष्ण लेश्या है।

इसके बाद ज्यों-ज्यों आरम्भ की स्थिति कम पड़ती है, दया की भावना जागृत होती है, त्यों-त्यों लेश्याओं में परिवर्तन होता रहता है। अग्रिम लेश्याओं की प्राप्ति होती रहती है।

यद्यपि लेश्याओं के अवान्तर भेद असंख्य होते हैं–किन्तु उनका वर्गीकरण प्रमुख रूप से छ: भागों में किया गया हैं, उन लेश्याओं में से नैरयिकों में तीन लेश्याएँ होती है–कृष्ण–नील–कापोत। पृथ्वी, पानी, वनस्पति में तेजो सहित चार लेश्याएँ होती है। तेउ-वायु, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय में आदि की तीन लेश्याएँ होती हैं। तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय और मनुष्य में छहों लेश्याएँ होती है। भवनपति, व्यन्तर में चार लेश्याएँ होती है। ज्योतिष्क देवलोक में तथा प्रथम-दूसरे देवलोक में तेजोलेश्या होती है। तीसरे-चौथे-पांचवें देवलोक में पद्म लेश्या होती है। आगे के देवलोकों में शुक्ल लेश्या होती है।

ऋद्धि के विषय में–कृष्ण लेश्या से नील लेश्या वाला महाऋद्धि वाला होता है। इस प्रकार सबसे अधिक ऋद्धिमान शुक्ल लेश्या वाला होता है। सबसे कम ऋद्धिमान कृष्णलेश्यी होता है।

26-27-28-29. जीवों का संसार संस्थानकाल एवं अल्पबहुत्व :—

उत्थानिका :—

लेश्याएँ जीव को लोक में परिभ्रमण कराती हैं। अर्थात् जब तक आत्मा लेश्या से सम्बन्धित होती है, तब तक मुक्ति प्राप्त नही कर सकती, संसार में ही रहती हैं। वह संसार संस्थान काल कितने प्रकार का है? इसका वर्णन प्रस्तुत सूत्र में दिया है।

सूत्र 26. जीवस्स णं भंते ! [1]तीतद्धाए आदिट्ठस्स कइविहे संसारसंचिट्ठणकाले पण्णत्ते ?

गोयमा ! चउव्विहे संसारसंचिट्ठण-काले पण्णत्ते। तं जहा- णेरइयसंसार-संचिट्ठणकाले, [2]तिरिक्खजोणियसंसार-संचिट्ठणकाले, मणुस्ससंसारसंचिट्ठणकाले, [3]देवसंसारसंचिट्ठणकाले य पण्णत्ते।

सूत्र 26. भगवन् ! अतीतकाल में आदिष्ट-नारक आदि विशेषण विशिष्ट जीवों का संसार संस्थान काल कितने प्रकार का कहा गया है ?

गौतम ! चार प्रकार का संसार-संस्थान-काल कहा गया है। यथा– नैरयिक संसार संस्थान काल, तिर्यञ्च संसार संस्थान काल, मनुष्य संसार संस्थान काल और देव संसार संस्थान काल।

सूत्र 27. (i) [4]नेरइयसंसारसंचिट्ठण-काले, णं भंते ! [5]कतिविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! तिविहे पण्णत्ते । तं जहा-सुन्नकाले, असुन्नकाले, [6]मिस्सकाले ।

(ii) [7]तिरिक्खजोणियसंसारसंचिट्ठण-काले पुच्छा ।

गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-[1]असुन्नकाले य [2]मिस्सकाले य ।

(iii) [3]मणुस्साण य, देवाण य जहा नेरइयाणं ।

सूत्र 28.(i) [4]एयस्स णं भंते ! नेरइय-संसारसंचिट्ठण [5]कालस्स, सुन्नकालस्स असुन्नकालस्स, [6]मीसकालस्स य कयरे कयरेहिंतो [7]अप्पे वा, बहुए वा, तुल्ले वा, विसेसाहिए वा ?

गोयमा ! [8]सव्वत्थोवे असुन्नकाले, [9]मिस्सकाले अणंतगुणे, सुन्नकाले अणंतगुणे ।

(ii) [1]तिरिक्खजोणियाणं [2]सव्वथोवे असुन्नकाले [3]मिस्सकाले अणंतगुणे ।

(iii) [4]मणुस्स-देवाण य [A]जहा नेर-इयाणं ।

सूत्र 29. एयस्स णं भंते ! [5]नेरइय-संसारसंचिट्ठणकालस्स [B]जाव [6]देव-संसारसंचिट्ठणकालस्स [C]जाव [7]विसेसा-हिए वा ?

सूत्र 27(i) भगवन् ! नैरयिक संसार-संस्थान काल कितने प्रकार का है ?

गौतम ! तीन प्रकार का कहा गया है ? यथा—शून्य काल, अशून्य काल और मिश्र-काल ।

(ii) भगवन् ! तिर्यञ्च संसार संस्थान काल कितने प्रकार का है ?

गौतम ! दो प्रकार का यथा—अशून्य काल, और मिश्र काल ।

(iii) मनुष्यों और देवों का संसार संस्थान काल नैरयिकों की तरह कहना चाहिए ।

सूत्र 28. (i) भगवन् ! नैरयिक संसार-संस्थान काल के जो शून्य काल अशून्य काल और मिश्रकाल भेद हैं, उनमें से कौन किससे कम, बहुत, तुल्य या विशेषाधिक है ?

गौतम ! सबसे कम अशून्य काल है । मिश्र-काल उससे अनन्त गुणा है । शून्यकाल उससे भी अनन्त गुणा है ।

(i) तिर्यञ्च योनिकों में सर्व स्तोक अशून्यकाल है । उसमें मिश्रकाल अनन्त गुणा है ।

(iii) मनुष्य और देवों के संसार संस्थान-काल का अल्प बहुत्व नैरयिक के संसार संस्थान काल की तरह जानना चाहिए ।

सूत्र 29 भगवन् ! इस नैरयिक–तिर्यञ्च–मनुष्य और देव संसार संस्थान काल में कौन किससे कम, ज्यादा, तुल्य और विशेषाधिक है ?

गोयमा ! [8]सव्वत्थोवे [9]मणुस्ससंसारसंचिट्ठणकाले, नेरइयसंसारसंचिट्ठणकाले असंखेज्जगुणे, देवसंसारसंचिट्ठणकाले असंखेज्जगुणे, [10]तिरिक्खजोणियसंसारसंचिट्ठणकाले अणंतगुणे।

गौतम ! मनुष्य संसार संस्थान काल सर्व स्तोक है, उससे नैरयिक संसार संस्थान काल असंख्यात गुणा है, उससे देव संसार संस्थान काल असंख्यात गुणा है और उससे तिर्यञ्च योनिक संसार संस्थान काल अनन्त गुणा है।

विवेचन–

एक भव से दूसरे भव में भ्रमण करना संसार संस्थान काल कहलाता है। यह आत्मा नारकी, तिर्यञ्च, मनुष्य देव, चारों ही गतियों में परिभ्रमण करती रहती है।

पशु मरकर पशु ही होता है, मनुष्य मरकर मनुष्य ही होता है, यह जो कहा जाता है, वह सत्य नहीं है।

---

१. तीयद्धाए - अमो० ॥ २. तिरिक्खमणुस्सदेवसंसार० - ला १ ॥ ३. ०काले। णेरइय - अमो० न०। ०काले य। णेरइय - घा०। ०काले पण्ण० - अ० क० ता० ब० मं० स० ॥ ४. ०संसारचिट्ठणकाले - न०। नेरइयाणं० - अ० ब० स०। नेरइया णं संचिट्ठण० - ला १ ॥ ५. कइविहे - अमो० घा० ॥ ६. मिस्साका० - ला १ ॥ ७. ०संसारपुच्छा गोयमा ! - पु०। ०जोणिसंसार० - क० अ० ता० ब० मं०। ०संसार ०पुच्छा - लों० ॥

१. ०काले मिस्स० - घा० ॥ २. मिस्साका० - ला १ ॥ ३. प्र० मणुस्ससंसारसंचिट्ठणकाले णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ? गोयमा ! तिविहे पण्णत्ते तंजहा–सुन्नकाले, असुन्नकाले, मिस्सकाले देवसंसारसंचिट्ठणकाले णं भंते–कतिविहे पण्णत्ते ? गोयमा ! तिविहे पण्णत्ते तंजहा–सुन्नकाले असुन्नकाले मिस्सकाले। एतस्स णं - न० ॥ ४. एतस्स णं भंते - न० ॥ ५. ०लस्स असुन्नकालस्स मीसकालस्स सुण्णकालस्स य - लों० ॥ ६. ०स्स कयरे - अमो०। मीसाकालस्स - ना० ब० मं० ॥ ७. अप्पा वा - पु० ॥ ८. सव्वत्थोवा - अमो० ॥ ९. मीसकाले - अमो० ॥

१. ०जोणियाण - घा० ॥ २. सव्वत्थोवे - अमो० घा० न० ॥ ३. मीसकाले - अमो० ॥ ४. मणुस्साण य देवा० - अमो० घा०। मणुस्सा देवा य - लों० ॥ ५. नेरइयस्स० - पु० ॥ ६. ०ट्ठण जाव विसे० - पु० वे० म०। ०ट्ठणकाले जाव - ला०। अत्र० 'संचिट्ठण०' इति '०संचिट्ठणकालस्स' इत्यस्य संक्षिप्तं रूपम् ॥ ७. विसेसाधिए या - वे० ॥ ८. सव्वथो० - लों० ॥ ९. माणुस्स० - ला० ॥ १०. ०जोणिए अणंत० - पु० ॥

A– सव्वत्थोवे असुन्नकाले मिस्सकाले अणंतगुणे सुन्नकाले अणंतगुणे ॥

B– तिरिक्ख जोणिय संसार संचिट्ठणकालस्स मणुस्ससंसार संचिट्ठणकालस्स ॥

C– कयरे कयरेहिंतो अप्पे वा २ बहुए वा ? तुल्ले वा ?

नरक में आत्मा ने कितना काल व्यतीत किया? इसके उत्तर में भगवान् ने फरमाया—इस आत्मा ने तीन प्रकार से काल व्यतीत किया—शून्यकाल, अशून्यकाल और मिश्रकाल।[1]

वर्तमान समय में सात नरकों में जितने जीव विद्यमान है, उनमें से जितने समय तक न तो कोई जीव मरे और न ही नया उत्पन्न हो, अर्थात् उतने ही जीव जितने समय तक विद्यमान रहें, उसे अशून्य काल कहते हैं। तात्पर्य यह है कि नरक में ऐसा भी समय आता है, जब न वहां कोई मरता है और न जन्म लेता है। वह समय अशून्यकाल कहलाता है।[2]

वर्तमान काल में नरकों में जितने नैरयिक विद्यमान हैं, उनमें से एक-एक के निकलने से लगाकर जब तक एक नैरयिक ही अवशेष रह जाता है, अर्थात् वर्तमान में विद्यमान नैरयिकों का निकलना जब से प्रारम्भ हुआ है वहां से लेकर जब मौजूदा नैरयिकों में से एक नैरयिक अवशेष रह जाता है उस तक के काल को मिश्रकाल कहते हैं।[3]

निर्दिष्ट वर्तमान काल के नारकी जीव सबके सब निकल जायें, एक भी अवशेष न रहे और उनके स्थान पर नये नारकी जीव आ जायें, उस समय के काल को शून्यकाल कहा जाता है।[1]

परिभाषा बतलाने में क्रम परिवर्तन सहज अवबोध कराने के लिये किया गया है।

इस जीव ने नरक में कई अवस्थाओं का अनुभव किया है। कभी अकेला ही रहा है तो कभी साथियों के साथ रहा है, कभी ऐसी अवस्था में भी रहा है, जब पहले वाले साथियों में से कोई भी शेष नहीं रहा है।

---

१. सुण्णा–सुण्णो मोसो तिविहो संसार चिट्ठणा कालो।
तिरियाणं सुण्णवज्जो, सेसाणं होइ तिविहो वि॥

संसार संस्थान काल तीन प्रकार का है :— १. शून्यकाल २. अशून्यकाल और ३. मिश्रकाल। तिर्यंच में शून्यकाल नहीं होता। शेष तीनों गतियों में तीनों काल है।

२. आइट्ठ समयाणं, णेरइयाणं न जाव इक्को वि।
उव्वट्टइ अण्णो वा, उववज्जइ सो असुण्णो उ॥

आदिष्ट समय वाले नारकी जीवों में से जब तक मरकर एक भी वहां से नहीं निकलता है और न ही कोई यहाँ उत्पन्न होता है तब तक का काल अशून्य काल कहलाता है।

३. उव्वट्टे एक्कंमि वि ता, मोसो धरइ जाव एक्कोवि।
णिल्लेविएहिं सव्वेहिं, वट्टमाणे हि सुण्णो उ॥

एक एक के उद्वर्तन से लगाकर जब उनमें से मात्र एक जीव अवशेष रहे वहां तक के काल को मिश्रकाल कहते हैं। अर्थात् निर्दिष्ट समय के सभी जीव वहां से निकल जावें, एक भी अवशेष न रहे, उसे शून्यकाल कहते हैं।

मिश्रकाल में वर्तमान के ही नारक जीव नहीं माने गए हैं किन्तु जिस काल में नरक के जीव थे वे निकलकर किसी भी योनि में चले गए हों, उनका यहां परिगणन होता है, क्योंकि उन जीवों का त्रस वनस्पति आदि में भी अनन्तकाल तक परिभ्रमण होता है। अन्यथा अशून्यकाल से मिश्रकाल की अनन्त-गुणितता नहीं घट सकती।

अशून्यकाल-विरहकाल नारकों का उत्कृष्ट बारह मुहूर्त का होता है तथा नरकायु असंख्यात-काल की होती है तब अशून्यकाल (बारह मुहूर्त का विरह काल) से मिश्रकाल अनन्त गुणा कैसे घटित होगा ? असंख्यात गुणा ही सिद्ध होगा। अतः नारक जीव नरक में जब तक विद्यमान हो तब तक ही मिश्रकाल नहीं समझना चाहिए किन्तु नरक से निकलकर दूसरी योनि में परिभ्रमण कर पुनः पुनः नरक में आवे तब तक के समय को मिश्रकाल में गिनना चाहिये।

तिर्यञ्च योनि में दो ही संस्थान काल हैं—अशून्य काल और मिश्रकाल। शून्यकाल नहीं होता है। तिर्यञ्च में वनस्पतिकाय के जीव अनन्तानन्त के रूप में विद्यमान हैं, वे सबके सब निकल कर अन्य योनि में नहीं समा सकते, न ही सब निकल पाते है। अतः तिर्यञ्चों में शून्यकाल नही होता है। तिर्यञ्च में जीव सदा उत्पन्न होते रहते हैं, जन्म-मरण करते रहते हैं उनमें विरह नहीं पड़ता अतः तिर्यञ्च में शून्यकाल नही होता। नरक और देवयोनि में तीनों ही काल विद्यमान हैं, अतः उनका वर्णन पूर्वोक्त नारकियों की तरह ही जानना चाहिए।

तीन कालों का अल्प बहुत्व—

सबसे कम अशून्य काल हैं, क्योंकि अशून्य काल उत्कृष्ट से उत्कृष्ट बारह मुहूर्त प्रमाण ही है। मिश्रकाल अशून्य से अनन्त गुणा है, क्योंकि जीव नरक से निकल कर दूसरी वनस्पति आदि में घूमकर पुनः आवे, तब तक का काल मिश्रकाल के अन्तर्गत है। नरक से निकलकर जीव वनस्पति में चले जायें, तो वहां अनन्तकाल तक रह सकते हैं।

तिर्यञ्चों की अपेक्षा सबसे कम अशून्य काल है। क्योंकि उनमें बारह मुहूर्त का विरह काल होता है। सन्नी तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय का विरहकाल बारह मुहूर्त प्रमाण है। तीन विकलेन्द्रिय, संमूर्च्छिम-तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय का विरह काल उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त का है। पृथ्वीकायादि पांच स्थावरों का विरहकाल नहीं होता, क्योंकि समय समय पर प्रति समय असंख्य जीव एक दूसरे में उत्पन्न होते रहते हैं।

बारह मुहूर्त का विरहकाल जो संज्ञी तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय का बतलाया है, वह अन्य तीन गतियों में से आकर उत्पन्न नहीं होने की अपेक्षा से है। मिश्रकाल अनन्तगुणा है। नरक की तरह ही यहां पर भी जान लेना चाहिये।

मनुष्य और देवों के संस्थान काल का अल्प बहुत्व नारकियों की तरह जानना चाहिये।

30. अन्तक्रिया सम्बन्धी—चर्चा :—

उत्थानिका :—

जो सब कर्मों का क्षय कर देता है और संसार संस्थान काल में नहीं रहता है, उसको जो अन्त क्रिया होती है उसे इस सूत्र में बताया जा रहा है।

सूत्र 30. जीवे णं भंते ! अंतकिरियं करेज्जा ?

गोयमा ! [1]अत्थेगइए करेज्जा, [2]अत्थेगइए नो करेज्जा। [A]अंतकिरिया-पयं[3] [4]नेयव्वं ।

सूत्र 30. भगवन् ! जीव अन्त क्रिया (मोक्ष-प्राप्ति) करता है ?

गौतम ! कोई जीव करता है, कोई जीव नहीं करता है। प्रज्ञापना सूत्र का अन्तक्रिया पद जानना-कहना चाहिए।

विवेचन :–

अपुनर्भाव से जो क्रिया की जाती है— जिस क्रिया के करने के बाद पुनः दूसरी क्रिया करने की आवश्यकता न पड़े, ऐसी क्रिया जो कर्मों का सर्वथा अन्त करने वाली हैं, वह अन्त क्रिया कहलाती है। संसारी जीव संसार में ही परिभ्रमण करता रहेगा, मुक्ति में नहीं जा सकता, इसका निराकरण गौतम स्वामी के इस प्रश्न से हो जाता है। भगवान् ने रत्नत्रय को निर्मल आराधना करने वाले के अन्त क्रिया-मोक्ष प्राप्ति होने का कथन किया है।

उस अन्त क्रिया का विस्तृत वर्णन प्रज्ञापना सूत्र के बीसवें पद से जाना जा सकता है।

अभव्य जीव अन्त क्रिया नहीं करते हैं। भव्य जीव ही अन्तः क्रिया करते हैं।[1] उनमें भी उसी भव में अन्त क्रिया करने वाले मनुष्य ही होते हैं। अन्य नरकादि दण्डकों में रहने वाली आत्माओं के भी अन्त क्रिया मनुष्य भव में करनी होती है। मुक्ति-मनुष्य-भव से ही होती है। नारकी आदि में जो अन्त क्रिया का प्रतिपादन किया है, वह भविष्य की अपेक्षा जानना चाहिए। नारकियों में अन्तः क्रिया की शक्ति तो विद्यमान है। किन्तु उसकी अभिव्यक्ति नरक भव में नहीं होती है। यह अभिव्यक्ति मनुष्य भव में ही होती है।

---

१. अत्थेगतिया - पु० । अत्थेगतिए - वे० म० ॥ २. अत्थेगतिया - पु० । अत्थेगतिए - वे० म० ॥ ३. ०पयं - अमो० वे० म० ॥ ४. णेयव्वम् - पा० । नेतव्वं - अमो० ॥

A– पण्णवणा २० वीसइमं अंतकिरियापयं सु. 1406 to 1473 पुण्य० (Appendix F)

टिप्पण :— १. विशेषावश्यक भाष्य के अनुसार भव्य में भी जाति–भव्य जीव अन्तः क्रिया नहीं करते।

31. असंयतभव्य-द्रव्यदेवादि सम्बन्धी चर्चा :—

उत्थानिका :—

जब जीव अन्त-क्रिया नहीं कर पाता हैं तब कर्म की सत्ता अवशेष रह जाती है जिससे उसकी मुक्ति नहीं हो सकती ऐसा जीव अपने पुण्यकर्म से देवलोक को प्राप्त होता है। देवलोक में किस आत्मा का कहां उपपात हो सकता है, यह प्रस्तुत सूत्र में बतलाया जा रहा है –

सूत्र 31. अह भंते ! [१]असंजयभविय-दव्वदेवाणं, अविराहियसंजमाणं विराहियसंजमाणं अविराहियसंजमासंजमाणं विराहियसंजमासंजमाणं, असण्णीणं, तावसाणं कंदप्पियाणं, [२]चरगपरिव्वायगाणं, [३]किव्विसियाणं, [४]तेरिच्छियाणं, आजीवियाणं, [५]आभिओगियाणं, [६]सलिंगीणं, दंसणवावन्नगाणं, [७]एएसि णं [८]देवलोगेसु उववज्जमाणाणं कस्स [९]कहिं उववाए पण्णत्ते ?

गोयमा ! [१०]असंजयभवियदव्व-देवाण जहण्णेणं भवणवासीसु, उक्कोसेण [११]उवरिमगेविज्जएसु । अविराहिय-संजमाणं जहण्णेणं सोहम्मे कप्पे, उक्कोसेणं [१२]सवट्ठसिद्धे [१३]विमाणे।

सूत्र 31 भगवन् ! असंयत भव्य द्रव्य देव अविराधित (अखण्डित) संयमवाला, विराधित संयमवाला, अविराधित संयमासंयमवाला (देश विरत), विराधित संयमासंयमवाला, असंज्ञी, तापस, कांदर्पिक, चरक परिव्राजक, किल्विषिक, तिर्यञ्च, आजीविक, आभियोगिक, श्रद्धा भ्रष्ट स्वलिंगी, दर्शन व्यापन्नक, इनकी देवलोक मे उत्पत्ति होने पर किसकी कहाँ उत्पत्ति–प्रज्ञप्त है– कही गयी है।

गौतम ! असंयत भव्य-द्रव्य-देव की जघन्य से भवनपति मे, उत्कृष्ट से उपरिमग्रैवेयक में उत्पत्ति होती है । अविराधित संयमी की जघन्य से सौधर्मकल्प में उत्कृष्ट से सर्वार्थ सिद्ध में विमान उत्पत्ति होती है।

१. असमंजय - ला० । अत्र'असंजयभवियदव्वदेव' पदस्य विवरणे वृत्तौ प्रज्ञापनासूत्रवचनानि समुद्धृत्य सविस्तरा चर्चा कृताऽस्ति, एतेषां च 'असंयतभव्यद्रव्यदेव' प्रभृतीना चतुर्दशानामपि पदानां लक्षणानि वृत्तौ मतान्तरपूर्वकं विशिष्ट–विप्रतिपत्तिनिराकरणपूर्वकं च सविस्तरं प्रदर्शितानि ॥ २. चरगपरिव्वायगाणं - अमो० ॥ ३. किब्बिसियाणं - न० ॥ ४. तिरिच्छि० - अमो० ला० । तेरच्छियाणं - अ० व० स० ॥ ५. आभियोगियाणं - अ०व०मं०ला० । आभीगियाणं- म० ॥ ६. सलिंगी द० - अमो० । सलिंगिदंसणं - धा० । सलिंगाणं - ला१ । सलिंगीणं एएसि लॉ० ॥ ७. एतेसि न० ॥ ८. देवलोएसु - अमो० ॥ ९. कहि - ला० ॥ १०. अस्सजय० - पु० । अस्सजन० - वे० म० ॥ ११. ०गेवेज्जएसु– अमो० न० ॥ १२. सव्वट्ठं - न० । ०सिद्धे विरा० - ला० ॥ १३. विमाणं - अमो० ॥

विराहियसंजमाणं [१]जहण्णेणं भवणवासीसु, [२]उक्कोसेणं [३]सोहम्मे कप्पे। [४]अविराहियसंजमासंजमाणं [५]जहण्णेणं सोहम्मे कप्पे, उक्कोसेणं अच्चुए कप्पे। विराहियसंजमासंजमाणं [६]जहण्णेणं भवणवासीसु उक्कोसेणं [७]जोतिसिएसु। असण्णीणं [८]जहण्णेणं भवणवासीसु, उक्कोसेणं [९]वाणमंतरेसु। अवसेसा सव्वे [१०]जहण्णेणं भवणवासीसु, [११]उक्कोसगं वोच्छामि-तावसाणं [१२]जोतिसिएसु। कंदप्पियाणं [१३]सोहम्मे कप्पे। चरग-परिव्वायगाणं बंभलोए कप्पे। [१४]किव्विसियाणं [१५]लंतगे कप्पे। [१६]तेरिच्छियाणं सहस्सारे कप्पे। [१७]आजीवियाणं अच्चुए कप्पे। [१८]आभिओगियाणं अच्चुए कप्पे। [१९]सलिंगीणं [२०]दंसणवावन्नगाणं [२१]उवरिमगेविज्जएसु।

विराधित संयमी की जघन्य से भवनपति में उत्कृष्टतः सौधर्म कल्प में उत्पत्ति होती है।

अविराधित संयमासंयमी की जघन्य से सौधर्म कल्प में, उत्कृष्ट से अच्युत कल्प में उत्पत्ति होती है।

विराधित संयमासंयमी जघन्यतः भवनपति में उत्कृष्टतः ज्योतिष्क देवों में, असंज्ञी जीवों की जघन्य भवनवासियों में और उत्कृष्ट वाणव्यन्तरों में उत्पत्ति हो सकती है।

अवशेष सभी की जघन्यतः भवनपति में उत्पत्ति होती है। उत्कृष्टतः उत्पत्ति निम्न प्रकार से होती है—तापसों को ज्योतिष्क देवलोक में, कांदर्पिकों की सौधर्म कल्प में, चरक परिव्राजकों की ब्रह्मलोक कल्प में, किल्विषिकों की लान्तक कल्प में, तिर्यंचों की सहस्रार कल्प में, आजीविकों की अच्युत कल्प में, आभियोगिकों की भी अच्युत कल्प में स्वलिंगी-दर्शन व्यापन्नक-दर्शन भ्रष्ट स्वलिंग-धारियों की उत्कृष्टतः उत्पत्ति उपरी ग्रैवेयकों में हो सकती है।

विवेचन—

प्रस्तुत सूत्र में असंयत, संयतासंयत, संयत आदि का उपपात क्षेत्र प्ररूपित किया गया है।

जो चारित्र परिणाम से शून्य है वह असंयत है, किन्तु देव बनने योग्य है, वह असंयत भव्य-द्रव्य देव कहलाता है। तात्पर्य यह है कि जो चारित्र पर्याय से रहित है, किन्तु अनागत में देव बनने की योग्यता रखने वाला है, उसे असंयत भव्य-द्रव्य देव कहते हैं।

१-५-६-८-१०—जह० लों० ला० ॥ २. उक्कोसभो सो ला १ ॥ ३. सोधम्मे बे० म० ॥ ४. ०मसंजमाणं बे० म० ॥ ७. जोइसिएसु अमो० पा० म० ॥ ९. ०मंतरेसु पा० ॥ ११. उक्कोसेणं अमो० पा० म० ॥ १२. जोति-सिएसु अमो० पा० ॥ १३. सोहम्मे। चरग पु० ॥ १४. किब्बिसि म० ॥ १५. लंत कप्पे लों० ॥ १६. तिरिच्छ अमो०। तेरिच्छिया मं लों० ॥ ०विया अं लो ॥ १८. ०गिया अच्चु अमो० लों० ॥ १९. सलिंगी दंसण पा० लों० ला १ ॥ २०. ०न्नगा उवरि अमो० ॥ २१. ०गेवेज्जगेसु पु० बे० म० ॥

असंयत भव्य-द्रव्य देव से केवल मिथ्यात्वी ही ग्रहण किया जाता है—क्योंकि उसका देवलोक में उत्कृष्ट उपपात ग्रैवेयक तक का प्रतिपादित किया गया है। असंयत भव्य-द्रव्य देव में मिथ्यात्वी का ही उपपात ग्रैवेयक तक हो सकता है, अन्य का नहीं। ऐसा मिथ्यात्वी भी साधु वेशधारी एवं साधुता के गुणों से रहित ही ग्रहण किया गया हैं। श्रावक एवं सम्यक्त्वी में ऐसी कठोर क्रिया नहीं होती है जिसके फलस्वरूप वे ग्रैवेयक तक जा सकें। ऐसी क्रिया साधु वेश में ही हो सकती है। साधु तो अनुत्तर विमान व मोक्ष तक जा सकता है, किन्तु आन्तरिक भावना रहित वेशधारी साधु यदि उत्कृष्ट क्रिया करता है तो ग्रैवेयक तक जा सकता है। प्रकरण में स्वलिंगी मिथ्यात्वी ही असंयत भव्य-द्रव्य देव से ग्रहीत है। असंयत भव्य-द्रव्य देव से सभी टीकाकारों, व्याख्याकारों, विवेचनकारों ने केवल स्वलिंगी मिथ्यात्वी ही ग्रहण किया है। उनमें उनका प्रमाण-तर्क यह है कि शास्त्रकार ने असंयत भव्य-द्रव्य देव की उत्कृष्ट उत्पत्ति ग्रैवेयक की बताई है और ग्रैवेयक में स्वलिंगी मिथ्यात्वी जा सकता है।

यथार्थता के परिपेक्ष्य में चिन्तन किया जाय तो असंयत भव्य-द्रव्य देव से सम्यक्त्वी और मिथ्यात्वी दोनों का ही ग्रहण होता है। क्योंकि असंयत भव्य-द्रव्य देवत्व दोनों के लिये ही समान है, अर्थात् उसका लक्षण दोनों में घटित होता है। शास्त्रकार ने उत्कृष्ट उत्पत्ति जो ग्रैवेयक तक की प्रतिपादित की है, वह सम्मिलित रूप से समझना चाहिये।

जैसे कि देव की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष की, उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागरोपम की होती है, तो उत्कृष्ट स्थिति सभी देवों को नहीं अपितु अनुत्तर विमानगत देवों की ही होती है। जबकि सामान्य से देव की उत्कृष्ट स्थिति बताई है, फिर भी उनमें अनुत्तर विमान की ही ग्रहण की जाती है। इससे सागरोपम से कम स्थिति वाले सभी देवों का ग्रहण हो जाता है उनका कोई अपलाप या निषेध नहीं होता है क्योंकि उत्कृष्ट स्थिति के अन्दर सारी मध्यम स्थितियां समाहित हो जाती हैं।

ठीक इसी प्रकार असंयत भव्य-द्रव्य देव के विषय में भी विचार करना चाहिये, क्योंकि इसके अन्तर्गत मिथ्यात्वी और सम्यक्त्वी दोनों ही आ जाते हैं। जघन्य उपपात उनका भवनपति और उत्कृष्ट उपपात ग्रैवयक बताया गया है। हाँ, यह सम्भव है कि उत्कृष्ट उपपात ग्रैवेयक में स्वलिंगी उत्कृष्ट क्रिया करने वाले मिथ्यात्वी का ही होता है किन्तु इतने मात्र से अन्य मिथ्यात्वी के उपपात का अपलाप नहीं हो जाता और न ही सम्यक्त्वी के उपपात का खण्डन होता है। उनका उपपात ग्रैवेयक से नीचे के देवलोकों में जहां पर भी होता है, वहां का ग्रहण मध्यम उपपात में आ जाता है।

शास्त्रकार के कहने का तात्पर्य यह है कि जघन्य उपपात भवनपति से लेकर अधिक-से-अधिक असंयत भव्य-द्रव्य देव का उपपात ग्रैवेयक तक हो सकता है। अब उसके अन्तर्गत भेदों में किसका उपपात कहां-कहां होता है, उसे यथायोग्य समझ लेना चाहिये। जिस प्रकार कि देवों को स्थिति दस

हजार वर्ष की एवं उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागरोपम की बताने पर मध्य की स्थिति भी मध्यवर्ती देवलोकों में जानी जाती है।

एक विशेष बात यह है कि शास्त्रकारों को केवल असंयत भव्य-द्रव्य देव से केवल स्वलिंगी मिथ्यात्वी ही अभीष्ट होता तो स्वलिंगी मिथ्यात्वी भव्य-द्रव्य देव के रूप में कह देते। असंयत भव्य-द्रव्य देव कहकर अति व्याप्ति दोष क्यों आने देते ? पर ऐसी बात नहीं है।

दूसरी बात यह है कि अगले प्रश्नों में जहां किल्विष निह्नव का उपपात बताया है, वहीं पर सम्यक्त्वी का उपपात नहीं बताया है। यदि भव्य-द्रव्य देव से केवल मिथ्यात्वी-शास्त्रकार को अभीष्ट होता तो अवश्य ही सम्यक्त्वी के उपपात का आगे कथन कर देते। जबकि श्रद्धा-भ्रष्ट वेष धारियों का जघन्य उत्कृष्ट उपपात तो अलग से 'दंसणवावन्नगाणं' का कथन कर शास्त्रकार ने बतलाया, किन्तु सम्यक्त्वी का नहीं बतलाया है।

इन अनेक दृष्टिकोणों से यह फलित होता है कि—असंयत भव्य-द्रव्य देव में केवल स्वलिंगी मिथ्यात्वी ग्रहीत नहीं है, अपितु सम्यक्त्वी-मिथ्यात्वी दोनों का ही ग्रहण प्रमाणित होता है।

प्रश्न—भव्य या अभव्य मिथ्यादृष्टि को श्रमणगुणों का धारक कैसे कहा ?

उत्तर—असंयत भव्य-द्रव्य देव मिथ्यात्व की अवस्था वाला होता है तथापि जब वह साधुओं का राजा, महाराजा, चक्रवर्तियों द्वारा वन्दन अभिनन्दन देखता है, तब अपनी पूजा-प्रतिष्ठा कराने का भाव उसमें जागृत होता है, जिसके लिये वह दीक्षा लेकर बाह्यरूप से पूजा-प्रतिष्ठा की भावना में संयमपर्याय का पालन करता है, आत्मशुद्धि की भावना उसमें नहीं होती। ऐसा व्यक्ति श्रमणाचार करते हुए भी चारित्र परिणाम से शून्य होने के कारण मिथ्यात्वोदय से असंयत ही कहा जाता है।

ऐसे असंयत का देवलोक में उपपात जघन्य भवनपति में और उत्कृष्ट नव ग्रैवेयक में प्रतिपादित किया गया है।

जिसने कभी चारित्र पर्याय का भंग नहीं किया है ऐसे अविराधक संयमी का उपपात जघन्य सौधर्म देवलोक में और उत्कृष्ट सर्वार्थ सिद्ध विमान में होता है।

संयम तो आस्रवों का निरोधक है, उसमे कर्म बंधन नहीं होता. अतः देवलोक की प्राप्ति संयम से नहीं, अपितु अवशेष विद्यमान-संज्वलन कषाय से होती है। चारित्र कषाय का परिमार्जन शुद्धिकरण करता है, तथापि जो कुछ भी कषाय अवशेष रह जाता है, उसके फलस्वरूप संयमी को स्वर्ग की प्राप्ति होती है। प्राप्ति करने वाला संयमी होने से यहां गौतम स्वामी ने संयमी के नाम से ही प्रश्न किये हैं।

हालांकि प्रमत्त संयतादि में थोड़ा-सा कषाय रहता है, किन्तु आंशिक संज्वलन रूप में होने से वह सामायिक छेदोप स्थापनीय चारित्र का अवरोधक नहीं होता है, किन्तु यथाख्यात चारित्र का बाधक होता है।

जो महाव्रत ग्रहण करके भी उसका पालन नहीं करता है, निर्ग्रन्थ समाचारी से विपरीत आचरण करता है, ऐसा विराधक संयमी जघन्य से भवनपति में उत्कृष्ट से सौधर्मकल्प में उत्पन्न हो सकता है।

जब से देश विरत (आंशिक संयम) ग्रहण किया है, तभी से उसका जो यथावत् पालन कर रहा है, कभी भी व्रतों को खंडित नहीं किया है ऐसे आराधक संयमासंयमी का जघन्यतः सौधर्म देवलोक में और उत्कृष्टतः अच्युत कल्प में उपपात होता है।

जो व्रतों की विराधना करने वाला संयमासंयमी श्रावक है उसका जघन्यतः भवनपति में उत्कृष्टतः ज्योतिष्क देवों में उपपात हो सकता है।

मूलपाठ में विराधक साधु और विराधक श्रावक व्रतों के विराधक होते हैं न कि सम्यक्त्व के। सम्यक्त्व तो उनके विद्यमान रहता है। यदि सम्यक् दृष्टि भाव के भी विराधक होते तो शास्त्रकार जघन्य भवनपति आदि विशेषण नहीं देते। क्योंकि मिथ्यात्वी तो देवलोक में नवग्रैवेयक तक भी जा सकता है। उपर्युक्त सम्यक्त्वावस्था में भवनपति तथा ज्योतिष्क आयुबंधन का शास्त्रकारों ने विधान किया है।

जो व्यक्ति सम्यक्त्वी तिर्यञ्च-मनुष्य के लिये वैमानिक से अतिरिक्त आयुष्य बंधन का निषेध करते हैं उनका यह कथन उपर्युक्त शास्त्रीय कथन से विरुद्ध है।

यदि कोई व्यक्ति यह तर्क दे कि विराधक साधु या विराधक श्रावक सम्यक्त्व से गिरकर मिथ्यात्व दशा में आने पर भवनपति या, ज्योतिष्क देवों की आयु का बंध करते हैं तो उनका यह कथन संगत प्रतीत नही होता। सूत्र का यदि ऐसा आशय होता तो भवनपति आदि विशिष्ट आयुष्यबंध के कथन क. कोई आवश्यकता नहीं होती। क्योंकि मिथ्यात्वावस्था में तो चारों गतियों में से किसी भी गति का आयुष्य बंध हो सकता है। वहां फिर भवनपति या ज्योतिषीदेव का आयुष्य बंध ही आवश्यक नहीं होता।

किन्तु शास्त्रकारों ने विराधक साधु के लिये जघन्य भवनपति और विराधक श्रावक के लिये जघन्य भवनपति और उत्कृष्ट ज्योतिषी का ही कथन किया है। इससे स्पष्ट है कि विराधक साधु और विराधक श्रावक व्रतों के विराधक हैं सम्यक्त्व के नहीं। इस प्रमाण से यह जाना जाता है कि सम्यक्त्वी वैमानिक के अतिरिक्त अन्य देव आयुष्य का बंध भी करते हैं।

किल्विषिक—किल्विष का अर्थ है पाप । जो पापकारी कार्य करता हो, उसे किल्विषिक कहते हैं । किल्विषिक व्यवहार वाले चारित्रवान भी होते हैं । ज्ञानादि का अवर्णवाद करने के कारण किल्विषिक कहलाते हैं ।

यथा–ज्ञान, केवली, धर्माचार्य तथा सभी साधुओं का अवर्णवाद करने वाला पापमयी भावना रखने वाला किल्विषिक कहलाता है ।[1]

तिर्यञ्च—तिर्यञ्चों में भी संज्ञी तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय—गाय, घोड़ा आदि देवलोक में सहस्रार कल्प तक उत्पन्न हो सकते हैं ।

आजीविक—आजीविक अनेक तरह के हो सकते हैं । खास—प्रकार के पाखंडी आजीविक कहलाते हैं । नग्न रहने वाले गोशालक के शिष्य अविवेकी लोगों द्वारा ख्याति पाने के लिये लब्धि प्रयोग करने वाले, महिमा-पूजा के लिए तप-चारित्र का अनुष्ठान करने वाले, इस प्रकार अज्ञानीजनों में चमत्कार दिखाने वाले आजीविक कहलाते हैं ।

आभियोगिक—विद्या और मंत्र द्वारा दूसरों को वश में करने को अभियोग कहते हैं । वह अभियोग द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार का है । चूर्णादिका योग बताना द्रव्याभियोग और मंत्रादि से किसी को वश में करना भावाभियोग है । अर्थात् जो व्यवहार से तो संयम का पालन करता है, किन्तु मंत्रादि द्वारा दूसरों को अपने अधीन बनाता है उसे अभियोगिक कहते हैं ।[2]

जो सौभाग्य आदि के लिए स्नान बताता है, भूति कर्म (रुग्ण को भभूत देने का काम) करता प्रश्नाप्रश्न-प्रश्न और स्वप्न का फल बताकर आजीविका करता है, ऋद्धि रस और साता का गर्व करने वाला, व्यवहार से साधु कहलाने वाला आभियोगिक होता है ।

स्वलिंगी दर्शन व्यापन्नक—स्वलिंगी-निह्नव जो साधु के वेश में होता हुआ साधुत्व भावना से रहित, दर्शन भ्रष्ट-सम्यक्त्व रहित को स्वलिंगी-दर्शन व्यापन्नक कहते हैं ।

यहां यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि विराधक संयमी का उत्पाद प्रथम देवलोक का प्रतिपादित किया है–जबकि सुकुमारिका के भव में द्रौपदी संयम की विराधिका होने पर भी ईशान देवलोक में गई थी ।

---

१ णाणस्स केवलीणं, धम्मायरियस्स सव्वसाहूणं ।
माई अवण्णवाइ किब्बिसियं भावणं कुणइ ॥

२ कोउय भूइ कम्मे, पसिणापसिणे निमित्तमाजीवी ।
इड्ढि-रस-सायगरुओ, अहिओगं भावणं कुणइ ॥

इसका समाधान यह है कि सुकुमारिका ने मूलगुण की विराधना नहीं की थी। वह उत्तर गुण की विराधिका थी। उसमें बुक्कसपन की अवस्था थी अर्थात् शोभा की दृष्टि से बार-बार हाथ-मुंह धोने आदि से उसका चारित्र कबरा हो गया था। उसने संयमीय उत्तर गुण की विराधना की थी। मूल गुण की नहीं। यहां संयम की विराधना का उत्पाद जो प्रथम देवलोक में बताया है वह मूलगुण की विराधना की अपेक्षा से जानना चाहिये। 'बुक्कसनियठा' वाला उत्तर गुण का प्रतिसेवी होता हुआ भी बारहवें देवलोक में जाता है।

अत: स्पष्ट है कि मूलगुण के विराधक का उत्कृष्ट उत्पाद प्रथम देवलोक में बतलाया है।

असंज्ञी जीव का जघन्य उत्पाद भवनपति और उत्कृष्ट उत्पाद वाणव्यंतर बतलाया है। इससे यह आशंका हो सकती है कि क्या भवनपति से व्यन्तर बड़े हैं जबकि भवनपति-चमरेन्द्र बलेन्द्र की आयुष्य सागरोपम से भी अधिक होती है।

इसका समाधान यह है कि कई वानव्यंतर भवनपतियों से भी उत्कृष्ट ऋद्धि वाले होते हैं और कई भवनपति वानव्यंतरों से कम ऋद्धि वाले भी होते हैं। अत: असंज्ञी के उत्पाद का कथन निर्दोष प्रमाणित होता है।

32, 33, 34. असंज्ञी आयुष्य सम्बन्धी चर्चा—

उत्थानिका :—

पूर्व सूत्र में संज्ञी-असंज्ञी जीवों के उपपात विषयक वर्णन दिया गया था। अब इस सूत्र में असंज्ञी जीवों के आयुष्य विषयक वर्णन किया जा रहा है।

सूत्र 32 [1]कइविहे णं भंते ! [2]असण्णि-आउए पण्णत्ते ?	सूत्र-३२ भगवन् ! असंज्ञी का आयुष्य कितने प्रकार का कहा गया है ?
गोयमा ! चउव्विहे [3]असण्णिआउए पण्णत्ते। तं [4]जहा नेरइय-[5]असण्णिआउए, [6]तिरिक्ख-मणुस्स-[7]देव-असण्णिआउए।	चार प्रकार का असंज्ञी आयुष्य कहा गया है। यथा नैरकीय असंज्ञी आयुष्य, तिर्यञ्च असंज्ञी आयुष्य, मनुष्य असंज्ञी आयुष्य और देव असंज्ञी आयुष्य।

१. कतिविहे - पु० म० बे० म ॥ २. ०ण्णियाउए - अमो० बे० म० ॥ ३. ०ण्णियाउए - अमो० बे० म० लों० ॥ ४. नेरइयस्स - ता० ॥ ५. ०ण्णियाउए - अमो० बे० म० लों० ॥ ६. तिरिक्खजोणिय असण्णियाउए मणुस्स असण्णिआउए देव असण्णियाउए - अमो०। तिरिक्खजोणिय असण्णिआउए मणुस्सअसण्णियाउए देवअसण्णिआउए - भा० म० बे० म० ॥

त्र 33 असण्णी णं भंते ! जीवे किं रइयाउयं [८]पकरेइ, [९]तिरिक्ख-मणु-वाउयं [१०]पकरेइ ?

हंता, गोयमा ! [११]नेरइयाउयं पि पकरेइ, [१२]तिरिक्ख-[१३]मणु-देवाउयं पि पकरेइ । नेरइयाउयं पकरेमाणे जहण्णेणं स वाससहस्साइं, उक्कोसेणं पलिओवमस्स [१४]असंखेज्जइ-भागं [१५]पकरेइ । तिरिक्खजोणियाउयं पकरेमाणे जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं पलिओवमस्स [१]असंखेज्जइभागं पकरेइ । [२]मणुस्साउयं वि एवं चेव । [३]देवाउयं [A]जहा [४]नेरइयाउए ।

सूत्र 34 एयस्स णं भंते ! [५]नेरइयअसण्णिआउयस्स [६]तिरिक्ख-मणु-देव-[७]असण्णिआउयस्स कयरे [८]कयरेहिंतो [B]जाव [९]विसेसाहिए वा ?

सूत्र-३३ भगवन् ! असंज्ञी क्या नैरयिकायु बांधता है ? तिर्यंच, मनुष्य या देव आयु का बंध करता है ।

हां गौतम ! असंज्ञी जीव, नैरयिक, तिर्यंच, मनुष्य, देवायुष्य का बंध करता है । नैरयिकायुष्य का बंधन कर लेने पर जघन्य से दस हजार वर्ष और उत्कृष्टतः पल्योपम का असंख्यातवां भाग प्रमाण आयुष्य बांधता है । तिर्यंच योनि का आयुष्य बांधने वाला असंज्ञी जीव जघन्य से अन्तर्मुहूर्त, उत्कृष्ट से पल्योपम का असंख्यातवें भाग प्रमाण बंधन करता है । मनुष्य आयु का बंध भी इसी प्रकार जानना चाहिए। देवायुष्य का नैरयिकायुष्क की तरह बंध जानना चाहिए ।

सूत्र-३४ भगवन् ! यह नैरयिक असंज्ञी आयुष्य तिर्यंच मनुष्य-देव असंज्ञी आयुष्य में कौन किससे अल्प बहुत तुल्य या विशेषाधिक है ?

७. देव । असण्णी - पु० । देव० मो० ला० ॥ ८. पकरेति - वे० म० ॥ ९. तिरिक्खजोणियाउयं पकरेइ, मणुस्स देवाउयं पकरेइ ? गोयमा - अमो० । तिरिक्खजोणियाउयं पकरेइ मणुस्साउयं पकरेइ देवाउयं पकरेइ ? गोयमा ! पा० । तिरिक्खजोणियाउयं पकरेइ, मणुस्साउयं पकरेइ देवाउयं पकरेइ ! हंता गोयमा ! न० वे० म० ॥ १०. पकरेति । ला० । ०रेइ । मो० निरयाउ० मो० ॥ ११. ०उय ०पक - अमो० ॥ १२. तिरिक्खजोणियाउयं पि पकरेइ मणुस्साउयं पि पकरेइ देवाउयं पि - पा० न० वे० म० ॥ १३. मणुस्स देवाउयं पकरेइ अमो० ॥ १४. असंखेज्जति भाग० ला० ॥ १५. पकरेति - पु० वे० म० ॥

१. असंखेज्जभाग पकरेइ - पा० ॥ २. ०स्साउए वि एवं - पु० अमो० वे० म० । प्र० - पकरेमाणे जहण्णेणं अंतोमु० उक्कोसेणं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागं पकरेइ । देवा० - न० ॥ ३. देवाउए - अमो० पा० । ०उयं पकरेमाणे जहा - वे० म० ॥ ४. नेरइया ! एवमा - पु० वे० म० ॥ ५. नेरइयस्स ०अस मो० ॥ ६. तिरिक्ख जोणिय असण्णि आउयस्स मणुस्स असण्णि आउयस्स देव ०असण्णि - अमो० पा० न० वे० म० ॥ ७. ०यस्स य कयरे - पा० वे० म० ॥ ८. कयरे जाव - पु० । कयरेहिंतो अप्पे वा बहुए वा तुल्ले वा विसे - पा० ॥ ९. विसेसाहिया - ला० ? ॥

A—पकरेमाणे जहण्णेणं दस वास-सहस्साइं उक्कोसेणं पलिओवमस्स असंखेज्जइ भागं पकरेइ ॥
B—अप्पे वा ? बहुए वा ? तुल्ले वा ? ॥

गोयमा ! [10]सव्वत्थोवे [11]देवअसण्णिआउए, [12]मणुस्सअसण्णिआउए[13], असंखेज्जगुणे, [14]तिरियअसंण्णिआउए असंखेज्जगुणे, [15]नेरइय-[16]असण्णिआउए असंखेज्जगुणे ।

[18]सेवं भंते ! सेवं भंते ! [17]त्ति

गौतम ! सबसे अल्प देव असंज्ञी आयुष्य है । मनुष्य असंज्ञी आयुष्य उससे असंख्यातगुणा है । तिर्यञ्च असंज्ञी आयुष्य उससे असंख्यात गुणा है । नैरयिक असंज्ञी आयुष्य उससे असंख्यातगुणा है । भगवन् ! जैसा आप फरमाते है, उसी प्रकार है । भगवन् !...... .... इस प्रकार कह कर गौतम स्वामी तप संयम से अपनी आत्मा को भावित करते हुए विचरने लगते हैं ।

विवेचन :-

प्रस्तुत सूत्र में असंज्ञी जीव के आयुष्य सम्बन्धी वर्णन दिया गया है । जो जीव वर्तमान में असंज्ञी है और पर भव का आयुष्य बाधता है उसे 'असंज्ञी जीव आयुष्य' कहते हैं ।

असंज्ञो जीव नेरयिक तिर्यञ्च मनुष्य देव चारों प्रकार की आयुष्य का उपार्जन करता है ।

असंज्ञी जीव नरक की जघन्य आयु दस हजार वर्ष की बांधता है । यह आयुष्य रत्न प्रभा नरक के प्रथम पाथडे की अपेक्षा से जानना चाहिये, क्योंकि प्रथम-पाथडे की जघन्य दस हजार वर्ष उत्कृष्ट ९० हजार वर्ष की स्थिति है । उत्कृष्ट नारकी का आयुष्य पल्योपम का असंख्यातवां भाग है, जो कि रत्नप्रभा के चौथे पाथडे की अपेक्षा से है । रत्नप्रभा के द्वितीय पाथडे की जघन्य स्थिति दस लाख वर्ष की[1] उत्कृष्ट नव्वे लाख वर्ष, तीसरे पाथडे की जघन्य नव्वे लाख वर्ष की, उत्कृष्ट पूर्व कोटि वर्ष की, उत्कृष्ट सागरोपम के दसवें भाग की स्थिति बन जाती है । वह स्थिति चौथे पाथडे में पल्योपम का असंख्यातवां भाग प्रमाण होती है ।

पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण जो असंज्ञी तिर्यञ्च और मनुष्य की आयु कही गई है, वह युगलिक तिर्यञ्च-मनुष्य की समझनी चाहिये ।

१०.सव्वथोवे घा० । सव्वत्थोवा देवासन्निआ० - ला० ॥ ११. देव असन्निआउ० - लो० ॥ १२. मणुस्साआउए - घा० । मनुस० संखेज्जगुणे ला० ॥ १३. ०ए ०संखेज्ज - असो० अ० क० ब० म० ॥ १४. तिरिय आउए - घा० । तिरिक्ख जोणिय असण्णिआउए - न० चे० म० । तिरिय० - असं खेज्ज० ला० ॥ १५. नेरइए आउए घा० ॥ १६. ०असण्णि-आउये - बे० म० ॥ १७. त्ति पढमसए द्वितीयोद्देशकः - ला० ॥ १८. प्र० ति भगव गोयमे समणं भगवं महावीरं वंदति नमंसति वंदित्ता नमंसित्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरति न० ॥

१ प्रथम पाथडे की उत्कृष्टायु ९० हजार वर्ष की और द्वितीय पाथडे की जघन्य १० लाख वर्ष की है । इससे यह सिद्ध होता है कि ९० हजार वर्ष के बाद १० लाख वर्ष के पूर्व तक किसी भी स्थिति वाला नारकी नहीं होता क्योंकि वस्तु स्वभाव ही ऐसा है ।

असंज्ञी जीव देवायुष्य की पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण बतलाई है। वह भवनपति और वाणव्यन्तर देवों की अपेक्षा से है। पल्योपम के असंख्यातवें भाग को क्रोड पूर्व से अधिक नहीं जानना चाहिये।

भगवान के उत्तर को सुनकर गौतम स्वामी श्रद्धावनत् हो गए, तथा प्रभु के वचनों को स्वीकार करते हुए बोले कि 'सेवं भंते-सेवं भंते' हे भगवन् ! जैसा आपने फरमाया है ठीक वैसा ही है, उसी प्रकार (सत्य) है। इसमें अंशमात्र भी शंका नहीं की जा सकती है।

द्वितीय उद्देशक समाप्त

तृतीय उद्देशक

प्राथमिक

चौवीस दण्डकों में कांक्षामोहनीय कर्म सम्बन्धी षड्द्वार-विचार

द्वितीय उद्देशक के अन्त में असंज्ञी जीवों का आयुष्य सम्बन्धी विचार किया गया था। जीव आयुष्य का बन्धन मुख्यतया मोह के कारण करता है। जब आयुष्य का बंधन होता है, तब अवशेष सात कर्मों का बंधन भी जीव करता है।

संसारी आत्माएँ प्रति समय सात-आठ कर्मों का बंधन करती हैं। जिस समय आयुष्य कर्म का बंधन नहीं करती है, उस समय सात कर्मों का बंधन करती है और जिस समय आयुष्य कर्म का बँधन करती हैं, उस समय आठों ही कर्मों का बंध करती है।

आयुष्य सम्बन्धी कुछ विचार पूर्व उद्देशक में किया गया है। अब इस उद्देशक में मोह सम्बन्धी विचार किया जा रहा है, क्योंकि आत्मा विशेषतः मोह से आयुष्य कर्म का बन्धन करती है।

जीवों का संसार में परिभ्रमण करने का मूल कारण ही मोह है। मोह से ही आत्माएँ चार गति-चौरासी लाख जीव योनि में परिभ्रमण कर रही हैं। यह एक ऐसा गहरा रंगीन पट्ट है जो कि आत्मिक चेतना को विकृत कर रहा है। उसकी अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त चारित्र और अनन्त सुख की शक्ति को प्रकट नहीं होने दे रहा है।

कर्मों को तोड़कर मोक्ष की ओर प्रयाण करने के लिए आत्मा को मोह कर्म का स्वरूप समझना आवश्यक है क्योंकि बिना ज्ञान एवं चारित्र के, कर्मों को आत्मा से विलग नहीं किया जा सकता।

अतः प्रस्तुत उद्देशक में कांक्षामोहनीय कर्म का स्वरूप बतलाया जा रहा है—

तइओ उद्देसो : कंखपओसे | तृतीय उद्देशक : कांक्षा-प्रदोष

चौबीस दण्डकों में कांक्षामोहनीय कर्म सम्बन्धी षड्द्वार विचार—

सूत्र 35 (i) [1]जीवा णं भंते ! कखामोहणिज्जे कम्मे कडे ? हंता, कडे ।

(ii) से भंते ! किं देसेणं [2]देसे कडे ? देसेणं सव्वे कडे ? सव्वेणं देसे कडे ? सव्वेणं सव्वे कडे ?

गोयमा ! नो देसेणं देसे कडे, नो देसेणं सव्वे कडे, नो सव्वेणं देसे कडे, सव्वेणं सव्वे कडे ।

सूत्र 35 (i) भगवन् ! क्या जीवों का कांक्षामोहनीय कर्म किया हुआ है ? कृत किया निष्पादित है ?
हां गौतम ! कृत है ।

(ii) भगवन् ! क्या वह देश से देश कृत है । देश से सर्वकृत है ? या सर्व से देश कृत है ? या फिर सर्व से सर्वकृत है ?

गौतम ! देश से देश कृत नहीं है । देश से सर्व कृत नहीं है । सर्व से देश कृत नहीं है । सर्व से सर्वकृत है ।

सूत्र 36 (i) नेरइया णं भंते ! कंखामोहणिज्जे कम्मे [3]कडे ? हंता, कडे [A]जाव [4]सव्वेणं सव्वे [5]कडे ।

(ii) एवं [B]जाव वेमाणियाणं दडओ भाणियव्वो ।

सूत्र 36 (i) भगवन् ! नैरयिकों के कांक्षामोहनीय कर्म कृत है ?
हां गौतम ! कृत है ।

(ii) यावत् सर्व से सर्वकृत है । इसी प्रकार यावत् वैमानिक तक चौबीस ही दण्डकों में कहना चाहिए ।

सूत्र 37 (i) जीवा णं भंते ! कंखामोहणिज्जं कम्मं [6]करिंसु ? हंता, करिंसु ।

सूत्र 37 (i) भगवन् ! क्या जीव ने कांक्षामोहनीय कर्म उपार्जन किया है ?
हां गौतम ! किया है ।

---

१. जीवे णं - ला० १ ॥ २. देसे १ । देसे० - म० ॥ ३. कडे जाव सव्वेणं - लो० ॥ ४. सव्वेणं कडे - प० ॥ ५. कडे जाव वेमा० - लो० ला० ॥ ६. करेंसु - लो० । करिंसु - ला० ॥

A. से भंते किं देसेण देसे कडे देसेणं सव्वे कडे सव्वेणं देसे कडे सव्वेणं सव्वे कडे । गोयमा नो देसेणं देसे कडे नो देसेण सव्वे कडे नो सव्वेणं देसे कडे ॥

B. सूत्र २६ वाणमंतर-जोतिस-वेमाणिया जहा असुरकुमारा सू. 18 (i) असुरकुमाराणं भंते [illegible] जहा नेरइया तहा भाणियव्वा । व. सूत्र 17 (i) to 17 (vii)

(ii) तं भंते ! किं देसेणं देसं [1]करिंसु ? [2]एएणं अभिलावेणं [3]दंडओ भाणियव्वो, [A]जाव वेमाणियाणं ।

(iii) एवं [4]करेंति । एत्थ वि दंडओ [B]जाव वेमाणियाणं ।

(iv) एवं [6]करेस्संति । एत्थ वि दंडओ [C]जाव वेमाणियाणं ।

(v) एवं [8]चिए, चिणिंसु, चिणिंति, [9]चिणिस्संति । [10]उवचिए-[11]उवचिणिंसु, उवचिणंति, [12]उवचिणिस्संति । [13]उदीरेंसु, उदीरेंति, उदीरिस्संति । [14]वेदेंसु, [15]वेदेंति, वेदिस्संति । [16]निज्जरेंसु, निज्जरेंति, निज्जरिस्संति । गाहा—

[17]कड [18]चिया, उवचिया, उदीरिया, [19]वेदिया य णिज्जिण्णा । आदितिए [20]चउभेदा, तियभेदा [21]पच्छिमा तिण्णि ॥१॥

(ii) भगवन् ! उनका उपार्जन देश से देश कृत किया है । यावत् सर्व से सर्वकृत किया है ? आदि चारों भंग कहना चाहिए ।

हे गौतम ! सर्व से सर्वकृत है, इस प्रकार का अभिलाप नैरयिकों से लेकर यावत् वैमानिकों पर्यन्त चौवीस ही दण्डकों में कहना चाहिए ।

(iii) इस प्रकार करते है, यह अभिलाप भी वैमानिक पर्यन्त चौवीस दण्डकों से कहना चाहिए ।

(iv) इस प्रकार करेंगे, ऐसा अभिलाप भी वैमानिक तक चौवीस ही दंडकों में कहना चाहिए ।

(v) इस प्रकार चय, चय किया, चय करते हैं और चय करेंगे ।

उपचय, उपचय किया, उपचय करते हैं, उपचय करेंगे । उदीरणा की, उदीरणा करते हैं, उदीरणा करेंगे । वेदन किया, वेदन करते हैं, और वेदन करेंगे । निर्जीर्ण किया, निर्जीर्ण करते हैं, निर्जीर्ण करेंगे ।

गाथा—कृत, चित, उपचित, उदीरित वेदित और निर्जीर्ण । इनमें आदि के तीन कृत चित उपचित में प्रत्येक के चार-चार भेद होते हैं । सामान्य क्रिया, भूत क्रिया, वर्तमान क्रिया, भविष्य क्रिया पिछले तीन भेदों में उदीरित वेदित निर्जीर्ण में तीन काल संबंधी तीन ही क्रियाएँ कहनी चाहिए ।

मू. ३७ १. प्र० - देसेणं सव्वं करिंसु ? सव्वेण देसं करिंसु ? सव्वेणं सव्व करिंसु गोयमा ! नो देसेणं देसं करिंसु, नो देसेणं सव्वं करिंसु, नो सव्वेणं देसं करिंसु, सव्वेणं सव्वं करिंसु । - न० ॥ २. एतेणं - बे० म० ॥ ३. दंडओ जाव वेमाणियाणं - अमो० बे० म० ॥ ४. करंति - अमो० ॥ ५. ०णिया । एवं - लों० ला० ॥ ६. करिस्स० - अमो० धा० न० लों० ॥ ७. ०णिया । एवं - लों० ला० ॥ ८. चिते - बे० म० । चिने वि चिणंसु - ला० ९. ०ति उवचि० - पा० १०. उवचिने - बे० म० ११. उवचिणंसु - ला० ॥ १२. उवचिणस्संति ला० । ०स्संति उदीरिए उदीरेंसु - लों० १३. उदीरेंसु - पु० अमो० धा० न० बे० म० । उदीरेंति उदीरिसु उदीरिस्स - ला० ॥ १४. वेदिंसु - पु० बे० म० । वेदेंसु वेदेंति - ला० २ ॥ १५. वेदंति - पु० ॥ १६. निज्जरेंसु ला० २ । एवमेव अन्यक्रियापदेषु अपि अनुस्वार रहितानि रूपाणि अधिकानि उपलभ्यते ॥ १७. कडे चिए य उवचिए - अमो० । कड़चिय उवचिय - पा० । १८. चिय उवचिय - न० । चित उवचित - बे० म० ॥ १९. वेदया - धा० ॥ २०. चवभेया तियभेदा - अमो० धा० ॥ २१. पच्छमा - ला० १.२ ॥

A-B-C-सूत्र २३ वाणमंतर-जोतिस-वेमाणिय जहा असुरकुमार

(अ) सूत्र 18 (i) असुरकुमाराणं भंते सव्वे समाहारा सव्वे समसरीरा जहा नेरइया तहा भाणियव्वा ।

(ब) सूत्र 17 (i) to 17 (vii)

विवेचनः—

इस सूत्र में कांक्षामोहनीय कर्म का ग्रहण किया गया है । मूल पाठ में कांक्षामोहनीय शब्द के संदर्भ में अन्य किसी भी शब्द का उल्लेख नहीं है, जिससे यह अर्थ लिया जा सके कि यह कांक्षामोहनीय कर्म मिथ्यात्व से सम्बन्धित है या अन्य से भी सम्बन्धित है ? कांक्षामोहनीय शब्द से टीकाकार ने एवं अन्य व्याख्याकार ने सिर्फ मिथ्यात्व ग्रहण किया है । एक व्याख्याकार ने इसके लिए यह तर्क दिया कि प्रथम उद्देशक में 'कंखपओसे' शब्द आया है जिस शब्द के आधार पर वे कांक्षा-मोहनीय से मिथ्यात्व को ही ग्रहण करते हैं परन्तु यह अर्थ प्रकरण से मूल सूत्र से मेल नहीं खाता है। यदि शास्त्रकारों को कांक्षामोहनीय कर्म से सिर्फ मिथ्यात्व मोह ही लेना था तो मूल में ही कांक्षामोहनीय शब्द के बदले में मिथ्यात्व-मोहनीय शब्द रख देते । परन्तु ऐसा नहीं किया गया । इससे भी यह स्पष्ट होता है कि कांक्षामोहनीय कर्म समस्त मोह कर्म से सम्बन्धित है जिसमें दर्शनमोह एवं चारित्र मोह दोनों का समावेश हो जाता है ।

शतक के प्रारम्भ में प्रतिपादित उद्देशा सम्बन्धी गाथा में जो 'कंखपओसे' शब्द आया है, इसका सिर्फ 'कांक्षा-प्रदोष' इतना ही अर्थ फलित होता है । यदि यह दर्शनमोहनीय अथवा मिथ्यात्व-मोहनीय के भेदों को ही संग्रहीत करने वाला होता तो 'कंखपओसे' न देकर 'संकापओसे' दे देते। सम्यक्त्व को दूषित करने वाला मिथ्यात्व का पहला भेद ही 'शंका' है । उसका यहां ग्रहण न कर कांक्षा शब्द ग्रहण किया गया है और इसे भी मिथ्यात्व तक सीमित रखा गया तो फिर शंका दोष छूट जायेगा जो कि मिथ्यात्व का एक अंग है । उसका छूटना किसी को भी अभीष्ट नहीं है।

'कांक्षा-प्रदोष' यह शब्द सिर्फ मिथ्यात्व का ही न होकर समग्र मोहनीय कर्म से सम्बन्धित है।

उसमें दर्शन मोहनीय एवं चारित्र मोहनीय दोनों का ग्रहण हो जाता है । यहां कोई यह तर्क कर सकता है कि यदि 'कांक्षा-प्रदोष सामान्य-मोहनीय का ही द्योतक है तो फिर 'कांक्षा-प्रदोष' शब्द के स्थान पर सामान्य रूप में मोहनीय शब्द ही क्यों न दे दिया ? इसका उत्तर यह है कि इसी शतक के उद्देशक तीन में जो प्रारम्भिक वर्णन आया है, वह सामान्य मोह का नहीं किन्तु विशिष्ट मोह से सम्बन्धित है । उस विशिष्ट मोह की सूचना देने के लिए 'कांक्षा-प्रदोष' शब्द का प्रयोग किया गया है।

'कांक्षा' का अर्थ यह है कि अत्यधिक मोहजनित आसक्ति के साथ किसी की भी आकांक्षा-इच्छा की जाय तो उसके परिणाम स्वरूप साधारण मोह कर्म का बंधन न होकर उस आत्मा के विशिष्ट मोह कर्म का बंधन हो जायेगा । 'कांक्षा' अन्य दर्शनों के आडम्बर आदि को देखकर भी की जा सकती है और निर्दोष चारित्र वाले साधु को देखकर भी उस प्रकार की आकांक्षा जा सकती है । इसलिए अत्यधिक आसक्ति पूर्वक समग्र मोह सम्बन्धी कोई भी आकांक्षा है तो समग्र कांक्षा-मोहनीय (दर्शन मोहनीय-चारित्र मोहनीय) का वेदन है न कि सिर्फ मिथ्यात्व-मोहनीय का । यह अर्थ करने पर ही पूर्वापर सूत्रों ...। अगले सूत्र में कहा है कि—

कहण्णं भंते ! जीवा कंखा मोहणिज्जं कम्मं बंधंति ?
गोयमा ! पमाद-पच्चयं जोग निमित्तं वा"

इसी प्रकरण में कंखा मोहनीय कर्म के बंधन के कारण प्रमाद और योग बताये हैं। यदि 'कांक्षा-मोहनीय' शब्द से मात्र मिथ्यात्व ही होता तो फिर मिथ्यात्व मोहनीय कर्म बंधन के कारण शंका कांक्षा विचिकित्सा आदि का उल्लेख होता—न कि प्रमाद या योग का।

प्रमाद के कारण बताते हुए प्रमाद के भेदों में मिथ्यात्व, अव्रत और कषाय का भी ग्रहण किया है। इससे भी यह स्पष्ट होता है कि कांक्षा मोहनीय कर्म सिर्फ मिथ्यात्व का द्योतक नहीं है।

कांक्षा मोहनीय कर्म का अर्थ मात्र मिथ्यात्व से नहीं लिया गया है इसी को अग्रिम सूत्र भी प्रमाणित कर रहा है—यथा—

"गोयमा ! तेहिं तेहिं कारणेहिं नाणंतरेहिं दसणंतरेहिं........
समणा निग्गंथा कंखामोहणिज्जं कम्मं वेइंति।"

इस पाठ में श्रमण निर्ग्रन्थ के भी कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन बतलाया है जो कि सम्यक्त्व से युक्त है। अतः कांक्षा मोहनीय कर्म मात्र मिथ्यात्व का ही द्योतक न होकर समग्र मोहनीय कर्म का परिचायक है।

यह अर्थ करने से ही पूर्वापर पाठों के अर्थ में संगति बैठ सकती है। केवल मिथ्यात्व अर्थ 'कांक्षा-प्रदोष' से लिया गया तो मूल पाठों में परस्पर विरोध आयेगा, जो किसी को भी अभीष्ट नहीं होगा।

जैन-धर्म विरक्ति प्रधान है। वह भौतिक वस्तुओं से अरुचि उत्पन्न करता है। सांसारिक आमोद-प्रमोद से हटाकर आध्यात्मिक साधना के कंटकाकीर्ण पथ पर बढ़ने के लिए प्रेरित करता है जो कार्य बिल्कुल ही नीरस है किन्तु चार्वाक दर्शन कितना सुखद एवं सरस है जो 'ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्' के सिद्धांत को बतलाता है। 'यावत् जीवेत् सुखं जीवेत्' जब तक जीयो—सुख पूर्वक जीयो। भौतिक वस्तुओं के आनन्द को प्राप्त करो। यदि उसके लिए पैसा न हो तो ऋण ले लो। परलोक का किंचित् भी भय नहीं। क्योंकि—'भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः'। शरीर के भस्म हो जाने पर कोई पुनरागमन नहीं होता। आत्मा-परमात्मा नाम की कोई चीज नहीं है। इसी प्रकार कांक्षा-मोहनीय कर्म वाला कोई व्यक्ति बौद्ध धर्म की अभिलाषा करता है—सोचता है कि बौद्ध धर्म में कहा है—

मणोण्णं भोयणं भुच्चा, मणोण्णं सयणासणं।
मणोण्णंमि अगारंमि, मणोण्णं झायए मुणी॥

मनोज्ञ-सुस्वादु भोजन खा करके, मनोज्ञ शयनासन पर शयन करके तथा मनोज्ञ-सुन्दर मकान में रहकर के मुनि मनोज्ञ ध्यान ध्याता है।

इस प्रकार अन्य दर्शनों एवं धर्मों के बाह्याडम्बर एवं भौतिक सुखों को देखकर जैनधर्म को त्यागने की तथा अन्य धर्म को ग्रहण करने की अभिलाषा करता है। वह कांक्षामोहनीय के परिणाम स्वरूप ही होती है। संशयमोहनीय, पर पाखंड प्रशंसा आदि भी कांक्षामोहनीय के अन्तर्गत ही आते हैं।

ऐसा कांक्षामोहनीय कर्म जीव के द्वारा किया जाता है या बिना किये ही कर्मरूप में परिणत हो जाता है ? यदि अकृत-बिना किये ही कर्म रूप में परिणत हो जाय तो जगत् की व्यवस्था ही उथल-पुथल हो जायगी। इसलिए कांक्षामोहनीय कर्म के विषय में भी भगवान् ने फरमाया कि वह जीव के द्वारा किया जाता है। वह किस प्रकार किया जाता है, यह बताने के लिए चार भंग कहे गये हैं—

१. देश से देशकृत।
२. देश से सर्वकृत।
३. सर्व से देशकृत।
४. सर्व से सर्वकृत॥

प्रत्येक कार्य चार प्रकार से होता है। उदाहरणार्थ एक व्यक्ति हाथ से शास्त्र के पन्ने (पत्र) को ही ग्रहण करता है। हाथ शरीर का एक देश है। पन्ना भी शास्त्र का एक देश है। यह एक देश से, एक देश का ग्रहण करना कहलाता है।

एक व्यक्ति हाथ से शास्त्र के समस्त पन्ने उठा लेता है तो यह देश से सर्व का ग्रहण करना कहलाता है। कोई व्यक्ति सारे शरीर से शास्त्र के एक पन्ने (पत्र) को ही ग्रहण करता है। तो यह सर्व से देश का ग्रहण करना कहलाता है। परन्तु एक व्यक्ति सारे शरीर से सारे शास्त्र को उठा लेता है तो वह सर्व से सर्व का ग्रहण कहलाता है।

इसी प्रकार प्रस्तुत प्रकरण में भंगों में प्रयुक्त प्रथम देश शब्द का अर्थ आत्मा का एक देश और दूसरे देश का अर्थ—एक समय में गृहीत कर्म का एक देश लिया गया है।

यदि आत्मा के एक देश से कर्म का एक देश किया गया हो तो वह देश से देशकृत कहलाएगा।
आत्मा के एक देश से सर्व कर्म किया गया हो तो देश से सर्वकृत कहलावेगा।
सम्पूर्ण आत्मा से कर्म का एक देश किया हो तो सर्व से देशकृत कहलावेगा।
सम्पूर्ण आत्मा से सम्पूर्ण कर्म किया गया हो तो सर्व से सर्वकृत रूप चतुर्थ भंग होगा।

कांक्षा मोहनीय कर्म सम्पूर्ण आत्मा से सम्पूर्ण रूप से ग्रहण किया गया है अर्थात् सर्व से सर्वकृत है। चौभंगी का चतुर्थ भंग ही यहां ग्रहण किया गया है।

इसका कथन दूसरी प्रकार से भी किया जा सकता है। एक प्रदेश में अवगाढ़ कर्म योग्य सभी पुद्गलों का जीव सर्वात्म प्रदेशों से बंध करता है। जिस क्षेत्र में आत्म प्रदेश विद्यमान हो, उसी आकाश प्रदेश में स्थित कर्म पुद्गल एक प्रदेशावगाढ़ कहलाते हैं। जिस हेतु से आत्मा कर्म करता है वह हेतु सभी कर्म प्रदेशों का है। समस्त आत्म प्रदेशों द्वारा एक समय में बंधने योग्य कांक्षामोहनीय कर्म पुद्गलो का ग्रहण सर्व से सर्वकृत है।

चौवीस ही दण्डकों में कांक्षामोहनीय कर्म को 'सव्वेणं सव्वे कडे' के रूप में ग्रहण करना चाहिए। अर्थात् चौवीस दण्डक-गत जीवों के द्वारा समस्त आत्म-प्रदेशों से समस्त रूप से कांक्षा-मोहनीय कर्म उपार्जित किया जाता है।

कर्म, क्रिया से निष्पाद्य होते हैं। क्रिया त्रिकाल से सम्बन्धित होती है। अतीत काल में क्रिया की गई, वर्तमान में क्रिया की जा रही है और भविष्य काल में क्रिया की जाएगी।

जीवों ने कांक्षामोहनीय कर्म 'सर्व से सर्वकृत' किया, कर रहे हैं, और करेंगे। यह त्रिकाल सम्बन्धी क्रिया चौवीस ही दण्डकों मे जाननी चाहिए। कृत की तरह ही चित्त, उपचित्त, उदीरित, वेदित और निर्जीर्ण के विषय में त्रिकाल सम्बन्धी प्रश्नों की संयोजना कर लेनी चाहिये।

कृत, चित, उपचित इन तीन पदों में सामान्य क्रिया भी होती है। अतः तीनों के इन त्रिकाल सम्बन्धी तीन क्रियाओं के अतिरिक्त सामान्य क्रिया भी होती है। अतः इनके चार-चार भेद होते हैं। अवशेष, उदीरित, वेदित, निर्जीर्ण के सामान्य क्रिया का भेद न होने से तीन-तीन भेद ही जानने चाहिये। कृत, चित, उपचित कर्म सत्तर कोड़ा-कोड़ी सागरोपम तक आत्मा के साथ सम्बद्ध रह सकते हैं इसलिए इन तीन पदों मे तीन काल बतलाने के साथ ही सत्ता रूप सामान्य काल बतलाने के लिये सामान्य क्रिया का भी प्रयोग किया गया है। उदीरणादि चिरकाल पर्यन्त नही रहते, इसलिये सामान्य क्रिया का भेद उसमें नही होता।

चयादि का स्वरूप बतलाया जाता है—

चय—जो कर्म पूर्व में उपार्जित किये जा चुके हैं उनमें प्रदेश और अनुभाग की वृद्धि करना चय कहलाता है।[1]

उपचय—बार-बार चय करना उपचय कहलाता है।[2]

---

१. चयः—प्रदेशानुभागादेर्वर्द्धनम्।

२. उपचयः—तदेव पौनःपुन्येन।

अन्य व्याख्याकार इसका दूसरी प्रकार से अर्थ करते हैं। कर्म पुद्गल के ग्रहण को वे 'चय' कहते हैं। आबाधाकाल पूर्ण होने पर ग्रहण किये गए पुद्गलों का वेदन करने के लिये निषेचन करने को उपचय[1] कहते हैं।

अबाधाकाल—कर्म-बंध होने के पश्चात् जब तक उदय में न आये, तब तक के काल को अबाधा काल कहते हैं। अर्थात् 'जितने समय तक कर्म अपना फल न दे, उतने काल को अबाधाकाल कहते हैं. कर्म की स्थिति जितने कोडा-कोडी सागरोपम की होती है, उतने ही सौ वर्ष का अबाधाकाल होता है।

निषेचन—निषेचन का अर्थ है कर्म दलिकों को उदियावलि में स्थापित करना। जीव पहली स्थिति में बहुत कर्म दलिकों का निषेचन करता है। यावत् अन्तिम स्थिति में अत्यल्प दलिकों का निषेचन करता है।[2]

उदीरणा—जो कर्म उदय में नहीं आए हैं उन्हें प्रयत्न विशेष से खींचकर उदय में लाना उदीरणा है।[3]

वेदना—उदय प्राप्त कर्मों का अनुभवन वेदना है।[4]

निर्जरा—जीव प्रदेशों से कर्मों का आंशिक रूप से पृथक् होना निर्जरा है। अर्थात् स्थिति परिपाक से कर्मों का आत्म प्रदेशों से अलग हो जाना निर्जरा है।[5]

38, 39, 40. कांक्षामोहनीय वेदन कारण चर्चा—

उत्थानिका:—

पूर्व सूत्र में कांक्षामोहनीय कर्म के कृत, चित, उपचित, उदीरित, वेदित, निर्जीर्ण सम्बन्धी प्रक्रिया बतलाई गई है, किन्तु उस कांक्षामोहनीय कर्म का जीव किस प्रकार वेदन करते हैं, इसका वर्णन नहीं दिया गया है। अतः इस सूत्र में कांक्षामोहनीय कर्म के वेदन का प्रकार बतला रहे हैं।

---

१. उपचय—अन्ये त्वाहु—चयनं-कर्म पुद्गलोपादनमात्रम् उपचयनं तु चितस्याबाधाकालं मुक्त्वा वेदनार्थं निषेकः।

२. निषेचन—प्रथमस्थितौ बहुतरं कर्म दलिकं निषिञ्चति ततो द्वितीयायां विशेषहीनम् यावदुत्कृष्टायां विशेषहीनम् निषिञ्चति उक्तं च-मोत्तूण सगमबाहं पढमाइठिइए बहुतरं दव्वं।
सेसे विसेस हीणं, जावुक्कोसंति सव्वासिं ॥'

३. उदीरणम्—अनुदितस्य करणविशेषादुदयप्रवेशनम्।

४. वेदना—वेदनम् अनुभवनम्

५. निर्जरणम्—जीव प्रदेशेभ्यः कर्म प्रदेशानां शातनं।

सूत्र 38 जीवा णं भंते ! कंखामोहणिज्जं कम्मं वेदेंति ?

[1]हंता, गोयमा ! [2]वेदेंति ।

सूत्र 38 भगवन् ! क्या जीव कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन करते है ?

हां गौतम ! वेदन करते हैं ।

सूत्र 39 [3]कहं णं भंते ! जीवा कंखामोहणिज्जं कम्मं वेदेंति ?

गोयमा ! तेहिं तेहिं कारणेहिं [4]संकिया [5]कंखिया [6]वितिगिंछिया [7]भेदसमावन्ना [8]कलुससमावन्ना एवं खलु जीवा कंखामोहणिज्जं कम्मं वेदेंति ।

सूत्र 39 भगवन् ! किस प्रकार जीव कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन करते है ?

गौतम ! उन कारणों से कांक्षायुक्त विचिकित्सा-युक्त, भेद समापन्न, कलुष समापन्न होकर, इस प्रकार जीव कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन करते हैं ।

आराधक स्वरूप—

सूत्र 40 (i) से णूणं भंते ! तमेव सच्चं णीसंकं जं जिणेहिं [9]पवेइयं ?

हंता, गोयमा ! तमेव सच्चं णीसंकं जं जिणेहिं [10]पवेइयं ।

सूत्र 40 (i) भगवन् ! क्या वही सत्य और निःशंक है जो जिनेश्वरो के द्वारा प्रवेदित है ?

हां गौतम ! वही सत्य और निःशंक है जो कि जिनेश्वरों द्वारा प्रवेदित है ।

(ii) से णूणं भंते ! एवं [11]मणं धारेमाणे, एवं [12]पकरेमाणे, [13]एवं [14]चिट्ठेमाणे, एवं संवरेमाणे आणाए [15]आराहए [16]भवति ?

हंता, गोयमा ! एवं [17]मणं धारेमाणे [A]जाव [18]भवति ।

(ii) भगवन् ! वही सत्य और निःशंक है । इस प्रकार मन में धारण करता हुआ, इसी प्रकार आचरण करता हुआ, इसी प्रकार रहता हुआ, इसी प्रकार संवर करता हुआ, क्या भगवान् की आज्ञा की आराधना करने वाला होता है ?

हां गौतम ! इस प्रकार मन में धारण करता हुआ, यावत् भगवान् की आज्ञा की आराधना करने वाला होता है ।

---

१. हंता वेदेंति - पु० अमो० न० वे० म० ॥ २. वेदंति - ला० ॥ ३. कह णं - अमो० पा० प० लों० । कहण्णं - न० ॥ ४. संकिया - वे० ॥ ५. कंखिया विनिकिछिता - वे० ॥ ६. ०गिच्छिया - पु० अमो० । विनिगंछिया - अ० ब० म० । वितिगिच्छिता - क० । विनिकिछिगा - गं० ॥ ७. ०समावण्णगा - अमो० ॥ ८. कलुसं स० - ला० २ । केससमा० ला० ३ ॥ ९. पवेदितं - वे० म० ॥ १०. पवेदितं - पु० वे० म० ॥ ११. मणे - अमो० । मणं पधा० - ला० ॥ १२. एवं करेमाणे - घा० । ०माणे आणाए - ला० ३ ॥ १३. एवं चिंतेमा० - ला० ॥ १४. "मनः चेष्टयन् गान्यमतानि सत्यानि इत्यादिचिन्तायां व्यापारयन् चेष्टमानो वा विधेयेषु तपोध्यानादिषु - अवृ० ॥ १५. आराहो भ० - ला० ॥ १६. भवइ - अमो० पा० । ०ति ? गो० एवं मणं धरेमा० - ला० ॥ १७. मणे. - अमो० पा० ॥ १८. भवइ - पु० अमो० पा० ॥

A. एवं पकरेमाणे एवं चिट्ठेमाणे एवं संवरेमाणे आणाए आराहए ॥

विवेचनः–

प्रस्तुत सूत्र में कांक्षामोहनीय कर्म वेदन के प्रकार विषयक चर्चा की गई है। क्या, जीव कांक्षा-मोहनीय कर्म का वेदन करते हैं ? यह प्रश्न पहले भी किया गया है और यहां पुनः किया गया है किन्तु तत्सम्बन्धी नया दिशा निर्देश देने वाला होने से पुनरुक्ति दोष की कोटि में नही आता है।[1]

जीव कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन शंकादि कारणों से करते हैं। इनका स्वरूप इस प्रकार है–

शंका—वीतराग देव ने अनन्त ज्ञान द्वारा जिन तत्वों का प्रतिपादन किया गया है, उन पर शंका करना और यह सोचना कि कौन जाने यह सत्य है या नहीं ? इस प्रकार का संदेह करना शंका है।[2]

कांक्षा—देशतः (एक देश से) या सर्वतः (सभी प्रकार से) अन्य दर्शनों की अभिलाषा करना कांक्षा है। जो कि कांक्षामोहनीय कर्म के वेदन का कारण होता है।[3]

विचिकित्सा—फल के विषय में संशय करना। यथा—मैं इतनी तपश्चर्या कर रहा हूँ, दुःसाध्य ब्रह्मचर्य का पालन करता हूँ। सामायिक प्रतिक्रमण आदि धर्म ध्यान भी करता हूँ किन्तु अभी तक कुछ भी फल की प्राप्ति नही हुई है। जब अब तक भी कुछ नहीं मिला तो कौन जाने आगे भी कुछ मिलेगा या नही ?[4]

भेदसमापन्नता—बुद्धि में द्वैधीभाव आ जाना। यथा—जिन शासन यह है या दूसरा है, इस प्रकार जिन शासन के विषय में जिसकी बुद्धि भेद को प्राप्त हो गई है।

या अनध्यवसाय–अनिश्चित ज्ञान वाले को भेद समापन्न कहते है।[5]

या पूर्व में उत्पन्न शंका, कांक्षा से जिसकी मति अस्थिर व विभ्रम युक्त हो चुकी है, उसे भी भेद समापन्न कहते हैं।

---

१ पुव्वी भणियं पिच्छा जं भण्णइ तत्थ कारणं अत्थि।
पडिसेहो य अणुण्णा–हेउविसेसोवलंभो त्ति ॥

एक बार कही हुई बात को फिर कहने के कारण ये हैं—प्रतिषेध, अनुज्ञा और एक प्रकार के हेतु का कथन। पहले की बात का प्रतिषेध करने के लिए, पहले की बात का अनुमोदन करने के लिए या उसमें कोई विशेष बात बताने के लिए, उसी बात को दोहराने पर पुनरुक्ति दोष नहीं लगता।

२. शङ्किता—जिनोक्त पदार्थान् प्रति सर्वतो देशतो वा संजातसंशयाः।

३. कांक्षिता—देशतः सर्वतो या संजातान्यान्य-दर्शन ग्रहाः।

४. विचिकित्सिता—विचिकित्सिताः संजातफल विषमशंका।

५. भेद समापन्ना—किमिदं जिन शासनं अहोस्विद इदं इत्येवं जिन शासन स्वरूपं प्रति मतिद्वैधी भावं गता अनध्यवसाय रूपं वा मतिभङ्गं गताः अथवा यत एवं शंकितादि विशेषणा अत एव मतद्वैधी भावं गता।

कलुषसमापन्नता—विपरीत बुद्धि वाला कलुष समापन्नक है। जिन भगवान् ने जिस वस्तु का जिस रूप में स्वरूप बतलाया है उसे उस रूप में स्वीकार न कर विपरीत रूप से समझना कलुष समापन्न है।[1]

जो बात जिन भगवान् ने प्ररूपित की है, वह बात बिल्कुल सत्य और निःशंक है। क्योंकि जिन रागद्वेष के विजेता एवं पूर्ण ज्ञानी होते है, जिन भगवान् के वचनों पर जो अटल श्रद्धा और विश्वास रखता है, उसी प्रकार का कथन और आचरण करता है तो भगवदाज्ञा का आराधक होता है। सत्य का उपासक होता है और मुक्ति का राही बनता है।[2]

[विचिकित्सा—विचिकित्सा का टीकाकार ने स्पष्ट अर्थ 'फल में होने वाले संदेह' विषयक किया है। यही अर्थ वास्तविक है। किन्तु कुछ ग्रन्थों में विचिकित्सा का अर्थ 'साधु के मलिन वस्त्र को देखकर घृणा करना' ऐसा किया है वह शास्त्र-टीका एवं व्यावहारिक दृष्टि से भी विरुद्ध है क्योंकि यह सम्यक्त्व सम्बन्धी दोष होने से देव-गुरु धर्म के विषयक है, न कि मलिन वस्त्र विषयक।]

41. अस्तित्व-नास्तित्व परिणमन चर्चा—

उत्थानिका :—

पूर्व सूत्रों में जिन वचनो पर श्रद्धा और विश्वास के विषय में बतलाया गया है। इस सूत्र में जिन भगवान् द्वारा प्ररूपित वस्तु के अस्तित्व और नास्तित्व के विषय में बतलाया जा रहा है।

सूत्र 41 (i) से नूणं भंते ! अत्थित्तं अत्थित्ते परिणमइ, नत्थित्तं नत्थित्ते [1]परिणमइ ?

हंता, गोयमा ! [A]जाव [2]परिणमइ ।

(ii) जं [3]तं भंते ! अत्थित्तं अत्थित्ते [4]परिणमइ, नत्थित्तं नत्थित्ते [5]परिण-

सूत्र 41 (i) भगवन् ! क्या यह बात निश्चित है कि अस्तित्व-अस्तित्व रूप में परिणमता है। तथा नास्तित्व-नास्तित्व रूप में परिणत होता है।

हां गौतम ! अस्तित्व-अस्तित्व रूप में परिणमित होता है। और नास्तित्व-नास्तित्व रूप में परिणत होता हैं।

(ii) भगवन् यदि यही बात है कि अस्तित्व-अस्तित्व रूप में परिणमित होता है। नास्तित्व-नास्तित्व

१. कलुष समापन्ना—न एतद् एवं इत्येवं मतिविपर्यासं गता:

२. उपर्युक्त मूल पाठ और विवेचन में—मुख्यतया मिथ्यात्व मोह सम्बन्धी कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन किस प्रकार होता है, यह बतलाया है। चारित्र मोहनीय सम्बन्धी कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन अगले सूत्रों में बतलाया जाएगा।

१. परिणमति - बे० म० । ०णमंति ? हंता - ला० ॥ २. परिणमति - बे० म० ॥ ३. जण्णं भंते - पु० । जं णं भंते - पा० म० मु० ला० २ । जं भंते - ता० ॥ ४-५-९-१०-१२-१३-१४-१५-१६. परिणमति - बे० म० ॥ ६. पओगसा

मइ, तं किं [६]पयोगसा, वीससा ?

गोयमा ! [७]पयोगसा वि तं, वीससा वि तं।

(iii) जहा ते भंते ! अत्थित्तं अत्थित्ते परिणमइ, [८]तहा ते नत्थित्तं नत्थित्ते [९]परिणमइ ? जहा ते नत्थित्तं नत्थित्ते [१०]परिणमइ, तहा ते अत्थित्तं अत्थित्ते [११]परिणमइ ?

हंता, गोयमा ! जहा मे अत्थित्तं अत्थित्ते [१२]परिणमइ तहा मे नत्थित्तं नत्थित्ते [१३]परिणमइ, जहा मे नत्थित्तं नत्थित्ते [१४]परिणमइ तहा मे अत्थित्तं अत्थित्ते [१५]परिणमइ !

(iv) से णूण भंते ! अत्थित्तं अत्थित्ते गमणिज्जं ? [१]जहा[A] परिणमइ दो आलावगा [२]तहा ते इह गमणिज्जेण वि दो [३]आलावगा [४]भाणियव्वा । [B]जाव-[५]जहा मे अत्थित्तं अत्थित्ते गमणिज्जं।

रूप में परिणत होता है। तो क्या वह प्रयोग से–जीव के व्यापार से परिणमित होता है। या विस्रसा-स्वभाव से परिणमित होता है ?

गौतम ! वह प्रयोग और विस्रसा दोनों से परिणमित होता है।

(iii) भगवन् ! जिस प्रकार आपके वचनानुसार अस्तित्व-अस्तित्व के रूप में परिणमित होता है। तो क्या उसी प्रकार नास्तित्व-नास्तित्व के रूप में परिणमित होता है, जैसे नास्तित्व नास्तित्व रूप में परिणमित होता है उसी प्रकार क्या अस्तित्व भी अस्तित्व के रूप में परिणमित होता है ?

हां गौतम ! मेरे स्पष्टावभासी ज्ञान के अनुसार जैसे अस्तित्व, अस्तित्व के रूप में परिणमित होता है, उसी प्रकार नास्तित्व, नास्तित्व के रूप में परिणमित होता है। जिस प्रकार मेरे ज्ञानानुसार नास्तित्व, नास्तित्व के रूप में परिणमित होता है। उसी प्रकार अस्तित्व अस्तित्व के रूप में परिणमित होता है।

(iv) भगवन् ! क्या अस्तित्व-अस्तित्व के रूप में गमनीय है ?

गौतम ! जिस प्रकार परिणत-पद के दो आलापक कहे गये हैं, उसी प्रकार यहां गमनीय पद के भी दो आलापक जानने चाहिए, यावत् मेरे ज्ञानानुसार अस्तित्व-अस्तित्व के रूप में गमनीय हैं।

वीससा - अमो० लो० ला० । पओगसा वीससा वा - पा० । इदृशा. अन्ते 'सा' युक्ताः तृतीया विभक्तौ प्रयोगा प्राचीन बौद्धशास्त्रे प्रयुक्तायां मागधीभाषायाम् पालीभाषायामपि दृश्यन्ते–"बलसा जवसा । या कामिभुजसा ' ... प्रकाशे नामकल्पे अकारान्त 'बुद्ध' शब्दरूपेषु टिप्पणे ॥ ७. पओग० - अमो० पा० । म० वीससा वि तं - सा० ॥ ८. तथा - बे० ॥

A. अत्थित्तं अत्थित्ते परिणमइ नत्थित्तं नत्थित्ते ॥

१. जथा - बे० ॥ २. तहा गमणि० - अमो० पा० । तथा गम० - बे० । तहागम० - म० ॥ ३. इमौ द्वौ आलापकौ पू... निरूपितौ ॥ ४. भाणितव्वा - बे० म० ॥ ५. तहा मे - अमो० पा० न० म० । तथा - बे० ॥

A-B. नत्थित्तं नत्थित्ते गमणिज्जं ? हंता, गोयमा ! अत्थित्तं अत्थित्ते गमणिज्जं । नत्थित्तं नत्थित्ते गमणिज्जं । जं णं भंते ! अत्थित्तं अत्थित्ते गमणिज्जं, नत्थित्त नत्थित्ते गमणिज्जं तं किं पयोगसा ? वीससा ? गोयमा ! पयोगसा वि तं, वीससा वि तं ॥

(४) [1]जहा ते भंते! एत्थं गमणिज्जं, [2]तहा ते [3]इहं गमणिज्जं ? [4]जहा ते [5]इहं गमणिज्जं [6]तहा ते [7]एत्थं गमणिज्जं ? हंता, गोयमा ! जहा मे [8]एत्थं [9]गमणिज्जं [A]जाव तहा मे [10]एत्थं गमणिज्जं ।

(४) भगवन् ! जैसे आपकी आत्मा में अस्तित्व रूप गमनीय है । उसी प्रकार क्या उसी आत्मा में नास्तित्व रूप भी गमनीय है ?
जिस प्रकार भगवन् ! आपकी आत्मा में नास्तित्व रूप गमनीय है । क्या उसी प्रकार उसी आत्मा में अस्तित्व रूप भी गमनीय है ?
गौतम ! जैसी मेरी आत्मा में अस्तित्व रूप गमनीय है यावत् उसी प्रकार मेरी आत्मा में नास्तित्व रूप भी गमनीय है ।

विवेचन :-

वस्तु का स्व द्रव्य-क्षेत्र-काल--भाव के रूप में विद्यमान होना अस्तित्व और पर-द्रव्य क्षेत्रकाल भाव का अभाव रूप से विद्यमान होना नास्तित्व रूप में अस्तित्व है ।

गौतम स्वामी भगवान् से प्रश्न करते है—भगवन् ! क्या जो वस्तु है वह अपने अस्तित्व में और जो नहीं है। वह अपने नास्तित्व में परिणत होती है ?

'अंगुली का अंगुली के रूप में होना अस्तित्व कहलाता है । यह अस्तित्व का मात्र कथन नहीं है अपितु अंगुली की लम्बाई-चौड़ाई आदि पर्यायें तद्रूप ही हैं। अंगुली का स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में परिणमन होना अस्तित्व का अस्तित्व के रूप में परिणमन कहलाता है ।

अंगुली आदि कोई भी सत् पदार्थ क्यों न हो जिसका अस्तित्व है वह अपनी पर्याय से भिन्न नहीं है पर्याय की विद्यमानता में भी अस्तित्व, अस्तित्व के रूप में ही है । अंगुली चाहे टेढी या सीधी किसी भी अवस्था से क्यों न हो वह अपनी पर्याय से अस्तित्व रूप में परिणत होती है। सीधी होना या टेढी होना यह अंगुली का ही धर्म है । तात्पर्य यह है कि जिसका अस्तित्व है वह स्वकीय द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में परिणत होता है ।

वस्तु के अनन्त पर्याय हैं, अनन्त कोण हैं । उन अनन्त पर्यायों में परिवंतन होता रहता है किन्तु उनके बीच रहने वाली सत् रूप शाश्वत् सत्ता में कोई परिवर्तन नहीं होता अर्थात् सत् रूप अस्तित्व, अस्तित्व ही रहेगा, नास्तित्व नहीं हो सकता । तरंगित समुद्र की प्रतीति निस्तरंग समुद्र से भिन्न होती है। निस्तरंगित होना और तरंगित होना दोनों पर्यायें है । इन दोनों पर्याय के बीच जो अस्तित्व है वह दोनों ही अवस्था में कायम रहता है ।

---

१. जधा - वे० । जहा ते एत्थं - ला० ॥ २. तधा - वे० ॥ ३. इह - अमो ॥ ४. जधा - वे० ॥ ५. इह - अमो० ॥ ६. तधा - वे० ॥ ७-८. इत्थं - अमो० ला० ॥ ९. ०ज्जं तहा मे - अमो० ॥ १०. इह ग० - अमो० । इत्थं - ला० ॥ A. तहा मे इहं गमणिज्जं । जहा मे इहं गमणिज्जं ॥

स्वर्ण से मुकुट बना लिया जाय या कुण्डल या फिर अन्य कोई भी आभूषण बनाया जाय। उनमें स्वर्ण की पर्यायों में परिवर्तन होता रहेगा किन्तु स्वर्ण की शुद्ध सत्ता तो प्रत्येक अवस्था में विद्यमान रहेगी। उसे असत् के रूप में परिणमित नहीं किया जा सकता।

एक ही पदार्थ में अस्तित्व और नास्तित्व दोनों धर्म भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से विद्यमान रहते हैं। अर्थात् एक ही पदार्थ अस्ति रूप भी है और नास्ति रूप भी है।

अस्तित्व और नास्तित्व परस्पर विरोधी धर्म होते हुए भी अपेक्षा भेद से एक ही वस्तु में रह सकते है। इन दोनों में इतना साहचर्य सम्बन्ध होता है कि जहां अस्तित्व है, वहां नास्तित्व है और जहां नास्तित्व है वहां अस्तित्व अवश्यमेव है। इसे अपेक्षाभेद से समझना चाहिए। एक ही अपेक्षा से अस्तित्व नास्तित्व का प्रतिपादन करने पर विरोध आ सकता है। भिन्न-भिन्न अपेक्षा भेदों से एक ही वस्तु में अस्तित्व और नास्तित्व मानने पर विरोधावकाश नहीं रहता। तथा—घट-घट से अस्ति रूप है किन्तु पट रूप से नास्ति रूप है। घट स्वद्रव्यादि की अपेक्षा अस्तिरूप है और पर द्रव्यादि की अपेक्षा से नास्तिरूप है। यदि घट को पर द्रव्यादि की अपेक्षा नास्ति रूप न माने तो वह पट भी हो जायगा। तब संसार की प्रतिनियत पदार्थ व्यवस्था ही नही रह पायगी।

एक जलता हुआ दीपक मान लीजिए, हवा के झोंके से बुझ गया। तब प्रकाश मूलतः नष्ट नहीं हुआ किन्तु उसका पर्यायान्तर हो गया अर्थात् अंधकार के रूप में परिणत हो गया क्योंकि प्रकाश और अंधकार में पौद्‌गलिकता तो समान रूप में विद्यमान रहती है। प्रकाश और अंधकार की अवस्थाओं में भी पुद्‌गल द्रव्य तो वही है।

कुछ दार्शनिक अंधकार को अभाव के रूप में प्रतिपादित करते हैं किन्तु उनका यह मानना युक्ति संगत नही है। वास्तव में अंधकार, प्रकाश का अभाव नहीं पर्यायान्तर है। आधुनिक वैज्ञानिकों ने भी इस विषय को स्पष्ट करते हुए बतलाया है कि जैसे मोमबत्ती के जल जाने पर लोग समझते हैं कि वह नष्ट हो गई किन्तु वह नष्ट नही हुई अपितु उसके पुद्‌गल बिखर जाते हैं। यदि जलती हुई मोमबत्ती के पास यन्त्र रख दिया जाय तो उसके सारे परमाणु-पुद्‌गल उसमें एकत्रित हो जाते हैं, जिससे पुनः मोमबत्ती बनाई जा सकती है। इसी प्रकार आक्सीजन और हाईड्रोजन हवा के मिल जाने से पानी की उत्पत्ति होती है। पानी के न रहने पर यह समझना कि पानी नष्ट हो गया है गलत है। क्योंकि वह हवा के रूप में परिणमित होता है। इसी प्रकार दीपक के बुझ जाने पर प्रकाश का नाश नहीं होता किन्तु वह अंधेरे के रूप में बदल जाता है।

कहने का आशय यह है कि इस रूपान्तरण को ही सामान्य जन-मानस नाश होना मानते है किन्तु वस्तुतः पदार्थ का नाश नहीं होता।[1]

---

१. एतद् विषयक विशद विवेचन जैन न्याय ग्रन्थ-रत्नाकरावतारिका आदि में मिलता है वहीं से द्रष्टव्य है।

कुछ दर्शनकार अत्यन्ताभाव को ही नास्तित्व के रूप में मानते हैं जैसे ख पुष्प (आकाश कुसुम) खर विषाण (गधे के सींग) किन्तु यहां पर नास्तित्व से वस्तु का सर्वथा अत्यन्ताभाव नहीं लेना चाहिये। खर विषाण से यह नहीं लेना चाहिए कि खर या विषाण स्वतन्त्र रूप से भी विद्यमान नहीं है। खर और विषाण का स्वतन्त्र अस्तित्व तो है ही किन्तु उनका संयुक्त अस्तित्व (खर में विषाण) नहीं होने से खर विषाण को नास्तित्व के रूप में लिया जाता है। इसी प्रकार 'ख पुष्प' के विषय में भी समझना चाहिये।

जो नास्तित्व है कभी अस्तित्व के रूप में परिणमित नहीं होगा, जो अस्तित्व है वह कभी नास्तित्व के रूप मे नही बदलेगा।

स्वभावतः और प्रयोगतः—

अस्तित्व का अस्तित्व के रूप में परिणमन या नास्तित्व का नास्तित्व के रूप में परिणमन स्वभाव से एवं प्रयोग से, दोनों प्रकार से होता है।

प्रयोग का तात्पर्य जीव का व्यापार है। जीव के पुरुषार्थ से भी अस्तित्व, अस्तित्व के रूप में परिणमित होता है यथा–कुंभकार के व्यापार से मिट्टी के पिण्ड का घट रूप में परिणमन होना या मनुष्य की क्रिया से सीधी अंगुली को टेढी कर देना। यह प्रयोगतः अस्तित्व का अस्तित्व में परिणमन हुआ। स्वभावतः परिणमन—यथा–काले बालों का श्वेत हो जाना, शरीर पर झुर्रियां पड़ जाना आदि।

नास्तित्व का नास्तित्व में, प्रयोगतः और स्वभावतः दोनों प्रकार से परिणमन होता है। नास्तित्व का नास्तित्व रूप से प्रयोगात्मक परिणमभ–यथा मिट्टी के ढेले में पट का नास्तित्व था। जब मिट्टी को कुंभकार ने घड़े के रूप मे परिणत किया। तब उसमें पट का नास्तित्व रूप प्रयोगतः घडे के रूप में परिणत हो गया।

नास्तित्व का नास्तित्व रूप में स्वभावतः परिणमन यथा–घट में पट का नास्तित्व रूप है। जब वह घट स्वाभावकि रूप में टूट-फूट कर और मिट्टी के रूप में परिणमित हो जाता है तब उस मिट्टी में घट का नास्तित्व का स्वभावतः परिणमन हुआ।

इस कथन से यह तात्पर्य नहीं लेना चाहिये कि स्वभाव या प्रयोग से नास्तित्व अस्तित्व के रूप में परिणमित हो सकता है या अमुक परिणमन स्वभाव से और अमुक परिणमन प्रयोग से होता है, यह नहीं समझना चाहिये।

गौतमस्वामी ने प्रश्न किया—भगवन् सामान्य रूप से तो अस्तित्व और नास्तित्व की सत्ता, अस्तित्व और नास्तित्व रूप में ही रहती है किन्तु जब कारण आ जाता है जैसे—पानी के प्रभाव से

अग्नि का शीतल होना, तद्योग्य निमित पाकर विष का अमृत हो जाना। इन विशेष अवस्थाओं में क्या अस्तित्व-नास्तित्व की सत्ता उसी रूप में रहती है ?

भगवान् ने कहा—हां गौतम ! चाहे जितना प्रबल कारण आ जाय, किन्तु अस्तित्व-अस्तित्व रूप ही रहता है और नास्तित्व-नास्तित्व रूप ही रहता है। अग्नि का शीतल हो जाना-विष का अमृत हो जाना अस्तित्व का नास्तित्व रूप में परिणमन नहीं है। वस्तु में अनन्त धर्मों की सत्ता होती है। यह नहीं समझना चाहिये कि जिस वस्तु में जो धर्म प्रसिद्ध है, उसी की सत्ता रहती है अन्य की नहीं। यदि यह मानें तो अग्नि कभी शीतल ही नहीं हो सकती, जैसे दीपक प्रकाशमय है किन्तु बुझ जाने पर अंधकार के रूप में परिणमित हो जाता है। यह परिणमन अस्तित्व का अस्तित्व रूप में हुआ है। जैसे दीपक में परिवर्तन हुआ, उसी प्रकार आत्म शक्ति से भी वस्तु मे परिवर्तन हो जाता है जैसे अग्नि का शीतल हो जाना, विष का अमृत हो जाना। यह सभी अस्तित्व का अस्तित्व रूप में परिणमन है। स्वभाव और प्रयोग दोनों ही स्थितियों में अस्तित्व का नास्तित्व और नास्तित्व का अस्तित्व रूप में परिणमन नहीं हो सकता।

अस्तित्व का अस्तित्व रूप में परिणमन और नास्तित्व का नास्तित्व के रूप में परिणमन होता है। अतः उसका उसी रूप में कथन किया गया है।

गौतम स्वामी ने प्रश्न किया है— हे भगवन् ! जैसे आपके केवलालोक में एत्थ—यहां आत्मा में अस्तित्व रूप गमनीय हैं उसी प्रकार इहं— इधर उसी आत्मा में परात्मरूप नास्तित्व भी क्या गमनीय है ?

भगवान् ने फरमाया— हां गौतम ! जैसे मेरे केवलालोक में एत्थ— स्वात्मा के अस्तित्व में अस्तित्व रूप गमनीय है। उसी प्रकार इह—उसी स्वात्मा के नास्तित्व रूप से परात्मा भी गमनीय है। जिस प्रकार स्वात्मा में नास्तित्व रूप से परात्मा गमनीय है। उसी प्रकार स्वात्मा में अस्तित्व रूप से स्वात्मा गमनीय है।

इस प्रकरण में एक विशिष्ट वस्तु स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है। विश्व में विभिन्न मत सम्प्रदाय भूतकाल में थे, वर्तमान-काल में है और भविष्य में रहेंगे। जिस प्रकार अंधकार तीनों काल में रहता है। उसी प्रकार अपूर्णता तीनों कालों में न्यूनाधिक रूप से व्यक्तियों में पाई जाती है। अपूर्ण व्यक्ति वस्तु के अनन्त धर्मात्मक समग्र स्वरूप को नहीं जान सकता है और न ही देख सकता है। किन्तु साधना की दृष्टि से जो परिपूर्ण बन चुका है, वह समग्र वस्तु स्वरूप को अनंत धर्मात्मक समग्र स्वरूप मे जानता और देखता है। वे अनंत धर्म एक ही वस्तु में अस्तित्व रूप मे घट सकते है। नास्तित्व रूप में घट सकते हैं। शंका हो सकती है कि अस्तित्व और नास्तित्व दोनों अंधकार और प्रकाश की तरह

भिन्न-भिन्न तत्त्व माने गये हैं। दोनों भिन्न तत्व एक ही वस्तु में किस प्रकार रह सकते हैं ? इस प्रश्न के विरोधाभास में अविरोध की अवस्था प्ररूपित करते हुए सर्वज्ञ सर्वदर्शी प्रभु महावीर ने केवलालोक के प्रकाश में फरमाया कि एक ही वस्तु में अनन्त धर्म एक ही साथ अस्तित्व रूप में रह सकते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि जिस वस्तु का स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से सम्बन्धित जो धर्म हैं वे जिस प्रकार अस्तित्व रूप से रहे हुए हैं उसी प्रकार उस वस्तु से भिन्न जो अनन्तानन्त पदार्थ हैं वे सभी अपने-अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की दृष्टि से तो अस्तित्व रूप में है परन्तु परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की दृष्टि से एक दूसरे में नास्तित्व रूप से रहते हैं अर्थात् स्वद्रव्यादि चतुष्टय से तो अस्तित्व रूप में है और पर द्रव्यादि चतुष्टय के समग्र धर्म उस वस्तु में नास्तित्व रूप से रहे हुए हैं। एक आत्मा में जितने गुण अस्तित्व रूप में रहे हुए हैं तो क्या वे अस्तित्व रूप गुण अस्तित्व रूप में ही परिणमन करते हैं परन्तु उसी आत्मा में जो नास्तित्व रूप गुण रहे हुए हैं वे अस्तित्व रूप गुण में तो परिणमन नहीं होते किन्तु नास्ति रूप में परिणमित होते हैं यथा—

मेरी आत्मा में चैतन्य गुण मेरी आत्मा के स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की स्थिति में यहां अस्तित्व रूप में परिणमित होते हैं वैसे ही मेरी आत्मा में नास्तित्व रूप अस्तित्व में परिणत होता है। इस आशय को स्पष्ट करने के लिए 'इहं' शब्द और 'एत्थ' शब्द का ही वस्तु के लिए प्रयोग किया गया है।

'इद' से यह और 'एतद्' से भी यह अर्थ ध्वनित होता है। यह दोनों शब्द एक ही वस्तु रूप अर्थ के द्योतक है। अस्तित्व और नास्तित्व को परिणति के विषय में जो बात कही गई है। वही बात अगले सूत्र में 'गमनीय' शब्द के प्रयोग के साथ कही गई है। गमनीय शब्द का अर्थ जानना भी है और प्राप्त करना भी है।

इससे तात्पर्य यह है कि उसी वस्तु में अस्तित्व रूप गुण को अस्तित्व रूप से जानो और अस्तित्व रूप में प्राप्त करो। उसी वस्तु में जितने नास्तित्व रूप धर्म है उसको नास्तित्व रूप मे जानो और नास्तित्व रूप से प्राप्त करो। इस प्रकार एक ही वस्तु में नितान्त विरुद्ध दिखने वाले धर्मों को अस्तित्व और नास्तित्व रूप शब्दों की अभिव्यञ्जना से अविराधित अविसंवादी रूप से प्रतिपादन किया गया है। इसी प्रकार जिस किसी भी स्वतन्त्र पदार्थ या वस्तु को लेकर स्व-द्रव्य-क्षेत्र-काल भाव को दृष्टि से अस्तित्व और परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की दृष्टि से नास्तित्व रूप से परिणमन होना स्वतः फलित हो जाता है।

इस प्रकार अनन्त धर्मों को एक ही वस्तु के आधार मे प्रतिपादन करने वाले सर्वज्ञ सर्वदर्शी वीतराग देवों ने वस्तु स्वरूप को भव्य रूप से प्रतिपादित किया है।

42, 43. कांक्षामोहनीय कर्मबंध के कारणों की परंपरा—

उत्थानिका :—

पूर्व सूत्र में अस्तित्व और नास्तित्व के विषय में विचार किया गया। अस्तित्व सम्पन्न आत्मा कर्मों का बंधन भी करती है। उस बंधन का कुछ न कुछ कारण होना चाहिए। क्योंकि बिना कारण के कर्म बंधन नहीं होता। यदि बिना कारण के कर्मों का बंधन होने लग जाय तो सिद्ध और संसारी आत्मा में कोई भेद नहीं होगा। ऐसी स्थिति में सब आत्माएँ कर्म बद्ध हो जायेगी। कोई भी आत्मा कर्मों से मुक्त नहीं हो पायेगी। अतः संसारी आत्मा के अस्तित्व को और मुक्त आत्मा के अस्तित्व को अलग बतलाने के लिए तथा कर्म बंधन का कारण बतलाने के लिए अग्रिम सूत्र का कथन किया जा रहा हैं–

सूत्र 42 जीवा णं भंते ! कंखामोहणिज्जं कम्मं बंधंति !	सूत्र 42 भगवन् ! क्या जीव कांक्षामोहनीय कर्म बांधते हैं ?
[1]हंता, गोयमा ! बधंति।	हां गौतम ! बांधते हैं।
सूत्र 43 (i) [2]कहं णं भंते ! जीवा कंखामोहणिज्जं कम्मं बंधंति ?	सूत्र 43 (i) भगवन् ! जीव कांक्षामोहनीय कर्म किस कारण से बांधते हैं ?
गोयमा ! [3]पमादपच्चया [4]जोगनिमित्तं च।	गौतम ! प्रमाद के कारण और योग के कारण बांधते हैं।
(ii) से णं भंते ! [5]पमाए [6]किंपवहे ?	(ii) भगवन् ! प्रमाद किससे उत्पन्न होता है ?
गोयमा ! [7]जोगप्पवहे।	गौतम ! योग से उत्पन्न होता है।
(iii) से णं भंते ! [8]जोए किंपवहे ?	(iii) भगवन् ! योग किससे उत्पन्न होता है ?
गोयमा ! वीरियप्पवहे।	गौतम ! वीर्य से उत्पन्न होता हैं।
(iv) से णं भंते ! वीरिए [9]किंपवहे ?	(iv) भगवन् ! वीर्य किस से उत्पन्न होता है ?

१. ०हंता बंधंति - पु० म० बे० म० ॥ २. कह णं - घा० लों। कहण्णं - म० ॥ ३. ०पच्चयं - अमो ; पमादपच्चयं - ला० २-३। वृत्तिकारेणात्र 'पमाद पच्चया' 'पमाद प्रत्ययात्' इति व्याख्यातमस्ति। दुर्गपद विवरणे तु प्रतीकत्वेन 'पमायपच्चयं 'जोगनिमित्तयं' इत्येव पाठ मुद्रितः। तथा विवरणेऽपि एष एव पाठः मुद्रितः ॥ ४. ०निमित्त यं - म० ॥ ५. पमादे - अमो० म० बे० म० ॥ ६. किंपभवे - क० वृथा (सर्वत्र)। पवहे - ला०। अत्र केनचित् संशोधकेन 'पव२ हे१' इत्येवम् अंकितत्वेन 'पहवे' इति शोधितम् एवं यत्र 'पवहे' तत्र सर्वत्र 'पव२ हे१' इति निर्मितं - ला० ॥ अत्र वृत्तिकारेण पाठान्तरेण "किंप्रभव." इति निर्दिश्य 'पवहे' स्थाने 'पहवे' इति पाठान्तरं सूचितम् ॥ ७. जोगप्पहे - घा० ॥ ८. जोगे - बे० म० ॥ ९. ०पभवे - ला० ॥ १०. एवं तह - अमो० ॥ ११. 'उत्थाननिति वा कर्म इति वा.

गोयमा ! सरीरप्पवहे ।

गौतम ! शरीर से उत्पन्न होता हैं ।

(४) से णं भंते ! सरीरे किंपवहे ?

(४) भगवन् ! शरीर किससे उत्पन्न होता है ?

गोयमा ! जीवप्पवहे । एवं [१०]सति अत्थि [११]उट्ठाणे [१२]ति वा कम्मे [१३]ति वा, बले [१४]ति वा, वीरिए [१५]ति वा, [१६]पुरिसक्कार-परक्कमे [१७]ति वा ।

गौतम ! जीव से उत्पन्न होता है । इस प्रकार होने पर जीव उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषकार पराक्रम वाला है ।

विवेचनः-

जीव कांक्षामोहनीय कर्म का बधन प्रमाद और योग के निमित्त से करता है। यद्यपि बंध के मुख्यतः पांच कारण प्रतिपादित है—मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग । संक्षेपतः इन पांच बंध कारणों को प्रमाद और योग में समाविष्ट कर लिया है । प्रमाद के अन्दर मिथ्यात्व, अविरति, कषाय इन तीनों का समावेश हो जाता है ।

प्रमाद से पांच एवं आठ भेद भी ग्रहण किये जाते हैं, पांच भेद—मद्य, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा ।[१]

आठ भेद—अज्ञान, संशय, मिथ्याज्ञान, राग, द्वेष, मतिभ्रंश, धर्म का अनादर, योगों का दुष्प्रणिधान ।[२]

योग के अन्तर्गत मन, वचन, काय के व्यापार को ग्रहण किया है । योग से प्रमाद की उत्पत्ति होती है। मद्य सेवन, मिथ्यात्वादि के आचरण से जो प्रमाद होता है, वह मन, वचन, काया के व्यापार से होता है । किन्तु जहां कषाय का सर्वथा नाश हो चुका है, ऐसे सर्वज्ञों में मन, वचन, काय की प्रवृत्ति कषाय या प्रमाद को उत्पन्न करने वाली नहीं होती है ।

वीर्यम् इति वा पुरुषकारपराक्रमः इति वा' इत्येवं पद विभागो ज्ञेयः ॥ १२. इ वा - अमो० पा० न० ॥ १३-१४-१५-१७ इ वा - पू० अमो० पा० न० ॥ १६. ०सकार - पा०

१ मज्जं विसय कसाया, निद्दा विगहा य पंचमी भणिया ।
एए पंच पमाया, जीवं पाडेंति संसारे ॥

२ पमाओ य मुणिदेहिं, भणिओ अट्ठभेयओ ।
अण्णाणं संसओ चेव, मिच्छाणाणं तहेव य ॥
राग दोसो मइब्भंसो, धम्मम्मि य अणायरो ।
जोगाणं दुप्पणिहाणं, अट्ठहा वज्जियव्वओ ॥

योग की उत्पत्ति वीर्य से होती है। अन्तराय कर्म के क्षय या क्षयोपशम से उत्पन्न शक्ति विशेष को वीर्य कहते हैं, जो कि आत्मा का परिणाम विशेष होता है। जिससे योग का उद्‌भव होता है।

भौतिक वीर्य की उत्पत्ति शरीर से होती है क्योंकि बिना शरीर के वीर्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती।

यहां पर यह जिज्ञासा हो सकती है कि वीर्यान्तराय कर्म के क्षय या क्षयोपशम से वीर्य उत्पन्न होता है और अलेश्यी अयोगी भगवान् वीर्यान्तराय कर्म का क्षय कर चुके हैं तब उन्हें सवीर्य कहा जाय या निर्वीर्य ?

समाधान—सकरण वीर्य और अकरणवीर्य के भेद से, वीर्य दो प्रकार का होता है। अलेश्यी अयोगी केवली भगवान् के अन्दर अकरणवीर्य है। प्रस्तुत प्रकरण सकरणवीर्य से सम्बन्धित है। सलेश्यी जीव के द्वारा मन, वचन, काय के द्वारा कृत व्यापार को 'सकरण वीर्य' कहते हैं। ऐसा वीर्य शरीर से ही उत्पन्न होता है।

प्रथम गुण स्थान से तेरहवें गुणस्थानवर्ती जीवों के द्वारा होने वाला जीव का व्यापार विशेष सकरण वीर्य कहलाता है। चौदहवें गुणस्थानवर्ती आत्माओं का एवं सिद्धों का आत्मीय व्यापार अकरण वीर्य कहलाता है।

शरीर की उत्पत्ति जीव से होती है। शरीर की उत्पत्ति का कारण जीव ही नहीं अपितु कर्म भी है। क्योंकि नामकर्म के उदय से शरीर की रचना होती है। कर्म को शरीरोत्पत्ति में कारण न माना जाय तो सिद्ध जीवों के भी शरीरोत्पत्ति का प्रसंग आयेगा। किन्तु कर्म के करने वाले जीव ही हैं। जीव के कर्मों से ही शरीरोत्पत्ति होती है।

उपर्युक्त कथन से गोशालक के नियतिवाद का खण्डन हो जाता है। उसका कथन है कि जीव के करने से कुछ नही होता, जो कुछ भी कार्य होता है वह नियति (होनहार) से ही होता है।

मनुष्यों को सुख असुख की उपलब्धि नियति के प्रभाव से ही होती है। जीव अपना पुरुषार्थ कितना ही करले, किन्तु जो नही होने वाला है, वह कभी भी नहीं होगा और जो होने वाला है, उसे लाख प्रयत्न करके भी टाला नहीं जा सकता।[1]

१ प्राप्तव्यो नियति बलाश्रयेण योऽर्थः,
सोऽवश्यं भवति नृणां शुभोऽशुभो वा।
भूतानां महति कृतेऽपि हि प्रयत्ने,
नाभाव्यं भवति न भाविनोऽस्ति नाशः॥

भगवान् ने फरमाया कि जीव से शरीर की उत्पत्ति होती है। जीव ही उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषाकार पराक्रम से सम्पन्न है। जीव के पुरुषार्थ से कार्य होता है, नियति से नहीं। यदि नियति को स्वीकार किया जाय तो प्रत्यक्ष सिद्ध पुरुषार्थ का अपलाप हो जाता है, जो कि अभीष्ट नहीं है। जो कुछ कार्य हुआ है, होने वाला है और हो रहा है, वह जीव के पुरुषार्थ से ही होता है। नियति अपने आप कुछ भी करने में असमर्थ है।

उत्थानादि शब्दों की व्याख्या—

उत्थान—ऊर्ध्व होना, खड़े होना, तत्पर होना या उठने का नाम उत्थान है।

कर्म—उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुंचन, प्रसारण, गमन आदि जीव की चेष्टा विशेष को कर्म कहते है।

बल—जीव की योग सम्बन्धी शक्ति को बल कहते हैं।

वीर्य—वीर्यान्तिराय के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाला उत्साह विशेष वीर्य है।

पुरुषाकार—पुरुष का स्वाभिमान अर्थात् इष्टफल का साधक पुरुषाकार है।

पराक्रम—इष्ट फल सिद्धि में तदाकार होकर प्रयत्न करना पराक्रम है।

यहाँ यह शंका नहीं करनी चाहिये कि पुरुषाकार-पुरुष का ही नाम क्यों लिया। स्त्री में भी यह विशेषता पायी जाती है। इसका समाधान यह है कि पुरुष शब्द से स्त्री, पुरुष, नपुंसक आदि तीनों का समावेश हो जाता है। जिस प्रकार कि 'मनुष्य' कहने मात्र से सभी का समावेश हो जाता है। सांख्य दर्शन में कपिल ऋषि ने प्रकृति और पुरुष की विवेचना में पुरुष शब्द से सम्पूर्ण चेतन-मात्र का ग्रहण किया है। दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि पुरुष की मुख्यता होने से पुरुष का साक्षात् कथन किया गया है। क्योंकि कहा है कि—

"प्राधान्येन व्यपदेशाः भवन्ति"

मुख्यता से कथन होता है। अतः पुरुषाकार में स्त्री और नपुंसक की क्रिया का समावेश भी हो जाता है। पुरुषाकार-पुरुष की क्रिया और पराक्रम-शत्रु पराजय यह दोनों कार्य स्त्री और नपुंसक की अपेक्षा पुरुष में विशेष दिखलाई देते हैं। इसीलिए 'पुरुषाकार पराक्रम' का कथन किया गया है।

44, 45, 46, 47, कांक्षामोहनीय की उदीरणा, गर्हा आदि सम्बन्धी चर्चा—

उत्थानिका :—

पूर्व प्रकरण में कांक्षामोहनीय कर्म के बांधने संबंधी चर्चा की गयी थी प्रस्तुत प्रकरण में कांक्षा-मोहनीय कर्म की उदीरणा गर्हा संवर संबंधी चर्चा की जा रही है।

सूत्र 44 (i) से णूणं भंते ! अप्पणा चेव [1]उदीरेइ, अप्पणा चेव [2]गरहइ, अप्पणा चेव [3]संवरइ ?

हंता, गोयमा ! अप्पणा [4]चेव तं [A]चेव उच्चारेयव्वं ।

(ii) जं [5]तं भंते ! अप्पणा चेव [6]उदीरेइ, अप्पणा चेव [7]गरहइ, अप्पणा चेव [8]संवरइ तं किं उदिण्णं [9]उदीरेइ, अणुदिण्णं [10]उदीरेइ, अणुदिण्णं [11]उदीरणाभवियं कम्मं [12]उदीरेइ, [13]उदयाणंतरपच्छाकडं कम्मं [14]उदीरेइ ?

गोयमा ! नो उदिण्णं [15]उदीरेइ, नो अणुदिण्णं [16]उदीरेइ अणुदिण्णं उदीरणाभवियं कम्मं [17]उदीरेइ, णो [18]उदयाणंतर-पच्छाकडं कम्मं उदीरेइ ।

(iii) जं [1]तं भंते ! अणुदिण्णं उदीरणाभवियं कम्मं [2]उदीरेइ तं किं उट्ठाणेणं कम्मेणं बलेणं वीरिएणं पुरिसक्कारपरक्कमेणं अणुदिण्णं उदीरणाभवियं

सूत्र 44 (i) भगवन् ! क्या जीव अपनी आत्मा से ही कांक्षामोहनीय कर्म की उदीरणा करता है ? क्या अपनी आत्मा से ही उसकी गर्हा करता है ? और क्या अपनी आत्मा से ही उसका संवर करता है ?

हां गौतम ! अपनी आत्मा से ही उदीरणा गर्हा और संवर करता है ।

(ii) जब जीव अपनी आत्मा से उदीरणा, गर्हा और संवर करता है तो क्या उदीर्ण की उदीरणा करता है या अनुदीर्ण की उदीरणा करता है ? उदय में नहीं आये हुए किन्तु उदीरणा योग्य कर्म की उदीरणा करता है ? या उदयानंतर पश्चात् कृत कर्म की उदीरणा करता है ?

हां गौतम ! उदीर्ण की उदीरणा नहीं करता है अनुदीर्ण की भी उदीरणा नहीं करता है, किन्तु अनुदीर्ण-उदीरणा योग्य कर्म की उदीरणा करता है । उदयानंतर पश्चात् कृत कर्म की भी उदीरणा नहीं करता है ।

(iii) भगवन् ! जब जीव अनुदीर्ण उदीरणा भविक कर्म की उदीरणा करता है तो वह क्या उत्थान कर्म, बल, वीर्य, पुरुषाकार, पराक्रम से अनुदीर्ण, उदीरणाभविक, कर्म की उदीरणा करता है ?

१. उदीरेति - न० ॥ २. गरहति - न० ॥ ३. संवरेइ - धा० । संवरेति - न० ला० । संवरेइ - वे० म० । अस्मां पुस्तकानां 'उदीरेइ' प्रभृति क्रियापदेषु अन्ते 'ति' प्रयुक्तो लभ्यते - न० ॥ ४. चेव उच्चारेयव्वं - असो० ॥ ५. तं ण - न० ॥ ६-९-१०-१२-१४-१५-१६-१७-१९. उदीरेति - न० ॥ ७. गरहेइ - पु० वे० म० । गरहइ - अली० धा० । गरहति - न० लो० ॥ ८. संवरेइ - पु० वे० । संवरेति - न० । संवरेइ तं उदिण्णं - म० ॥ ११. अथ उदीरणाभविकम्-तत्र 'भविष्यति' इति भवा सा एव भविका उदीरणा भविका यस्य इति प्राकृतत्वात् उदीरणाभविकम् अन्यथा 'भविकोदीरणम्' इति स्यात् उदीरणायां वा भव्यम् योग्यम् उदीरणा भव्यम् - अवृ ॥ १३. °याणंतरं° - अलो० । °तरपच्छा° - ला० ॥ १८ °णंतर° - असो० । उदय अणंतर - अ० क० ता० ब० म० ॥

१. जं णं भंते - न० । जं तं भंते ! उदीरणा° - सो० ॥ २. उदीरेति - म० ॥ ३. उदीरेति - असो० न० ॥ ४-५.

A. उदीरेति अप्पणा चेव गरहति अप्पणा चेव संवरेति ॥

कम्मं [३]उदीरेइ ? उदाहु तं अणुट्ठाणेणं अकम्मेणं अबलेणं अवीरिएणं अपुरिसक्कारपक्कमेणं अणुदिण्णं उदीरणाभवियं कम्मं [४]उदीरेइ ?

या अनुत्थान से, अकर्म से, अबल से, अवीर्य से और अपुरुषाकार-पराक्रम से अनुदीर्ण उदीरणा योग्य कर्म की उदीरणा करता हैं।

[D]गोयमा ! तं उट्ठाणेण वि कम्मेण वि बलेण वि वीरिएण वि पुरिसक्कारपरक्कमेण वि अणुदिण्ण उदीरणाभवियं कम्मं [५]उदीरेइ, णो तं अणुट्ठाणेणं अकम्मेणं अबलेणं अवीरिएणं अपुरिसक्कारपरक्कमेणं अणुदिण्णं उदीरणाभवियं कम्मं [६]उदीरेइ । एवं [७]सति अत्थि उट्ठाणे इ वा कम्मे इ वा बले इ वा वीरिए इ वा पुरिसक्कारपरक्कमे इ वा ।

गौतम ! उस कांक्षामोहनीय कर्म को उत्थान, कर्म बल, वीर्य, पुरुषाकार-पराक्रम से अनुदीर्ण किन्तु उदीरणा योग्य कर्म की उदीरणा करता हैं। किन्तु अनुत्थान से, अकर्म से, अबल से, अवीर्य से अपुरुषाकार-पराक्रम से, अनुदीर्ण उदीरणा योग्य कर्म की उदीरणा नहीं करता है। इस प्रकार उत्थान, कर्म, बल वीर्य, पुरुषाकार पराक्रम होता है।

सूत्र 45 (i) से णूणं भंते ! अप्पणा चेव उवसामेइ, अप्पणा चेव गरहइ, अप्पणा चेव [१]संवरइ ?

हंता, गोयमा ! [२]एत्थ वि तं [३]चेव [A]भाणियव्वं, नवरं अणुदिण्णं उवसामेइ, [B]सेसा [४]पडिसेहेयव्वा तिण्णि ।

(ii) जं तं भंते ! अणुदिण्णं उवसामेइ तं किं उट्ठाणेणं ? [C]जाव [५]पुरिसक्कारपरक्कमेण वा ।

सूत्र 45 (i) भगवन् ! क्या वह अपनी आत्मा से उपशम करता है ? अपनी आत्मा से ही गर्हा करता है ? अपनी आत्मा से ही संवर करता है ? हां गौतम ! यहा पर भी उसी प्रकार कहना चाहिए। विशेषता यह है कि अनुदीर्ण को उपशमना करता है । शेष तीन विकल्पों का प्रतिषेध कर देना चाहिए।

(ii) भगवन् ! यदि अनुदीर्ण को उपशमना करता है तो क्या उत्थान यावत् पुरुषाकार-पराक्रम से करता है। या अनुत्थान यावत् अपुरुषाकार पराक्रम से करता है ? यावत् पुरुषाकार पराक्रम से करता हैं। पूर्ववत् कथन यहां पर भी जानना चाहिए।

उदीरेति - न० ॥ ६. उदीरेंति - अमो। उदीरेति - न० ॥ ७. सइ - अमो० पा० ॥

१. संवरेइ - पा० न० वे० म० ॥ २. प्र० - अप्पणा चेव······ पुरिसक्कार (सूत्र १५१ से १६२) - न० ॥ ३. चिय तहेव भाणि° - पु० अमो० पा० । वि तह चेव - ला० । तहेव - ला०[२] ॥ ४. पडिसेहियव्वा - अमो० ला० । °व्वा से नूणं - ला० ॥ ५. °परक्कमेति वा - पु० । पुरिसक्कार° - वे० । °परक्कमे इ वा - अमो० । परिक्कमेइ वा -

सूत्र 46 से णूणं भंते ! अप्पणा चेव [6]वेदेइ अप्पणा चेव [7]गरहइ ?

एत्थ वि [8]सच्चेव परिवाडी । नवरं उदिण्णं [9]वेएइ, नो अणुदिण्णं [10]वेएइ । एवं [D]जाव [11]पुरिसक्कारपरक्कमेइ वा ।

सूत्र 46 भगवन् ! क्या जीव अपनी आत्मा से ही वेदन करता है ? और अपनी आत्मा से ही गर्हा करता है ?

यहां पर भी सारी परिपाटी सारा कथन पूर्व की तरह जानना चाहिए। विशेषता यह है कि उदीर्ण को वेदना करता है । अनुदीर्ण की वेदना नहीं करता है । इस प्रकार यावत् पुरुषाकार पराक्रम से वेदता है अनुत्थानादि से नहीं वेदता है।

सूत्र 47 से णूणं भंते ! अप्पणा चेव [12]निज्जरेति [13]अप्पणा चेव [14]गहरइ ?

एत्थ वि [15]सच्चेव परिवाडी । नवरं [16]उदयाणंतरपच्छाकडं कम्मं निज्जरेइ । एवं [E]जाव [17]परक्कमेइ वा ।

सूत्र 47 भगवन् ! क्या जीव अपनी आत्मा से ही निर्जरा करता है ? और क्या अपनी आत्मा से ही गर्हा करता हैं ।

यहां पर भी सारी परिपाटी सारा कथन पूर्व की तरह कहना चाहिए। विशेषता यह है कि उदयानन्तर कर्म को निर्जरित करता है । इस प्रकार यावत् पुरुषाकार पराक्रम से निर्जरा और गर्हा करता है। इसलिए उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषाकार, पराक्रम है।

विवेचन:-

जीव स्वयं ही कांक्षा मोहनीय कर्म की उदीरणा, गर्हा और संवर करता है, क्योंकि कर्म बंध आदि में जीव की मुख्यता होती है।[1] यद्यपि संवर गुरु सापेक्ष भी होता है तथापि मुख्यता जीव-वीर्य की ही होती है।

उदीरणा—भविष्य में उदय आने वाले कर्मों को प्रयत्न विशेष से खींचकर शीघ्र नष्ट करने के लिए समय से पूर्व उदयावलिका में ले आना उदीरणा है।

गर्हा—अतीत में जो कुछ भी पाप कर्म का बंध किया उसकी निन्दा करना अर्थात् कर्म के बंध के हेतु को जानकर आत्मनिन्दा करना गर्हा है।

---

१ "अणु मेत्तो वि ण कस्सइ बंधो । पर वत्थु पच्चया बंधो :"
किसी भी जीव को अणु मात्र भी कर्म बंध पर वस्तु सापेक्ष नहीं होता।

पा० ॥ ६. वेदेति - ला० ॥ ७. °हइ ? हंता गोयमा एत्थ वि - अमो० ॥ ८. सच्चेव परि° - अमो० ॥ ९-१०. वेदेइ - अमो० ॥ ११. °परिक्कमे इ वा - पु० ॥ १२. निज्जरेइ - वमो० पा० ॥ १३. अप्प० एत्थ वि - लो० ॥ १४. गरहइ - पा० पु० । गरहइ हंता गोयमा एत्थ वि - अमो० । गरहइ - बे० म० ॥ १५. सच्चे वि परि° - अमो० । सा चेव - ला०१ ॥ १६. °णंतरं पच्छा° - अमो० । °कडकम्मं - लो० ॥ १७. परिक्कमे इ वा - पु० ॥

संवर—कर्म के स्वरूप को जानकर आस्रवद्वार से कर्मों के आगमन (प्रवेश) को रोक देना संवर है।

कर्मों की उदीरणा की मुख्यतया चार प्रकार की स्थिति प्रतिपादित की है, उदीर्ण=उदय में आया हुआ, अनुदीर्ण=उदय में नहीं आया हुआ, अनुदीर्ण उदीरणाभविक=जो अभी उदय में नहीं *आया है किन्तु उदीरणा करने योग्य है, उदयानन्तर पश्चात्कृत=उदय होने के बाद जो पश्चात्कृत* (निर्जीर्ण) हो गया है।

इन चार भंगों में से तीसरा भंग ही यहाँ ग्रहण किया गया है, क्योंकि आत्मा उदीर्ण कर्म की उदीरणा नहीं कर सकता, इसका कारण यह है कि वे तो स्वयं उदय में आए हुए हैं यथा जो कर्म उदय प्राप्त है, उनकी उदीरणा की जाय तो अनवस्था का प्रसंग आएगा, उदीरणा का अन्त ही नही होगा।

जो कर्म उदय में नही आये है और उदीरण के अयोग्य है उनकी उदीरणा नहीं होती है किन्तु जो अनुदीर्ण और उदीरणा के योग्य हैं ऐसे ही कर्मो की उदीरणा होती है । उदयानन्तर पश्चात् कृत कर्मों को भी उदीरणा नहीं होती, क्योकि जो कर्म उदय में आ चुके हैं, अतीत में असत् के रूप में होने से उसको उदारणा नहीं होती।

कर्म की उदीरणा आत्मा स्वयं अपने उत्थान कर्म, बल, वीर्य, पुरुषाकार पराक्रम से करता है। इस उदीरणा में काल, स्वभाव, नियति आदि भी कारण बनते हैं, किन्तु मुख्य कारण आत्मवीर्य ही होता है।

उपर्युक्त चारों भंगों का सम्बन्ध उदीरणा से ही है, अतः गर्हा और संवर में भंग व्यवस्था नहीं की गई है, क्योंकि उन चार भगो में से किसी भी भंग का प्रयोग गर्हा और संवर से नहीं किया जा सकता, तथापि इन्हें उदीरणा के साथ रखने का तात्पर्य यह है कि दोनों-गर्हा, संवर उदीरणा के साधन है।

कांक्षामोहनीय कर्म के उपशम की प्रक्रिया भी उदीरणा की तरह ही जानना चाहिये। विशेष बात यह है कि इसमें दूसरा भंग ग्रहण किया है। जो कर्म अनुदीर्ण है, उदय में नहीं आए है. उन्हीं का उपशम होता है।

उपशम सिर्फ मोहनीय कर्म का ही होता है। क्षयोपशम चार घाती (ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय) का ही होता है। उदय, और क्षय परिणाम आठों ही कर्मो का होता है।[1]

---

१ मोहस्सेवोवसमो खओवसमो चउण्हं घाईणं।
उदयक्खय परिणामा, अट्ठण्ह वि होंति कम्माणं ॥

उपशम—उदीर्ण=उदय प्राप्त कर्मों को क्षपित कर देना और अनुदीर्ण—अनुदय प्राप्त कर्मों का विपाकोदय एवं प्रदेशोदय में अनुभव नहीं होने देना उपशमना है। क्षयोपशम में प्रदेशोदय द्वारा कर्मों का अनुभव होता है, जबकि उपशम में विपाक और प्रदेश दोनों ही द्वारा कर्मों का अनुभवन नहीं होता। उपशम और क्षयोपशम में यही अन्तर है। यह उपशम औपशमिक सम्यक्त्वी जीव में और उपशम श्रेणी वाले जीव में पाया जाता है।

वेदन—उदीर्ण कर्म का ही होता है, अनुदीर्ण का नहीं। यदि अनुदीर्ण कर्म भी वेदित हो तब उदीर्ण अनुदीर्ण में अन्तर ही क्या रहेगा ? इसमें प्रथम भंग ग्रहण किया गया है।

निर्जरा, जीव अपने उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषाकार पराक्रम से करता है। वह निर्जरा उदयानन्तर पश्चात् कर्म की होती है। यहाँ चतुर्थ भंग गृहीत है।

उदीरणा, उपशम, वेदना और निर्जरा से सम्बन्धित संग्रह गाथा कही गई है। यथा—

तइएणं उदीरेंति, उवसामेंति य पुणोवि बीएणं।
वेइंति णिज्जरेंति य, पढम चउत्थेहिं सव्वे वि॥

पूर्वोक्त चार भंगों में से तीसरे भंग से उदीरणा होती है। दूसरे से उपशम होता है। पहले से वेदन एवं चौथे से निर्जरा होती है। अवशेष वर्णन सत्रमे समान है।

48, 49. चौवीस दण्डकों तथा श्रमणों के कांक्षामोहनीय वेदन संबंधी चर्चा—

उत्थानिका—

कांक्षामोहनीय कर्म की उदीरणादि संबंधी चर्चा करने के अनन्तर कांक्षामोहनीय कर्म का चौवीस दण्डकों तथा श्रमण निर्ग्रन्थों में वेदन सम्बन्धी चर्चा की जा रही है—

सूत्र 48 (i) नेरइया णं भंते ! कंखामोहणिज्जं कम्मं वेएइ ?[1]	सूत्र 48 (i) भगवन् ! क्या नैरयिक जीव कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन करते हैं ?
[2]जहा[A] ओहिया जीवा [3]तहा नेरइया [B]जाव [4]थणियकुमारा।	जिस प्रकार औधिक सामान्य जीवों का वर्णन किया गया उसी प्रकार नैरयिकों का भी यावत् स्तनित कुमारों तक इसी प्रकार जानना चाहिए।
(ii) [5]पुढविक्काइया णं भंते ! कंखामोहणिज्जं [6]कम्मं [7]वेदेंति ?	(ii) भगवन् ! पृथ्वीकायिक जीव कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन करते हैं ?

१. वेयंति - पु० पा० वे० म० । वेदंति - अमो० । वेदेंति - न० ॥ २. जहा - वे० ॥ तथा - वे० ॥ ४. थणिय-कुमारा - वे० म० ॥ ५. पुढविक्काइ० - अमो० ॥ ६. कम्मं - म० ॥ ७. वेदेंति - पु० । वेदंति - अमो० । वेदेंति - न०
A. सूत्र 38 to 47 तक ॥
B. असुर-नाग सुवर्ण-विद्युत-अग्नि-द्वीप-उदधि दिक्-वायु कुमाराणां मध्ये च स्तनितकुमाराणां ग्रहणम् ॥

हंता, [८]वेदेंति ।

(iii) [९]कहं णं भंते ! [१०]पुढविक्काइया कंखामोहणिज्जं कम्मं [११]वेदेंति ?

गोयमा ! तेसि णं जीवाणं णो [१२]एवं तक्का इ वा सण्णा इ वा पण्णा इ वा मणे इ वा [१३]वई ति वा-'अम्हे णं कंखामोहणिज्ज कम्मं [१४]वेदेमो' [१५]वेदेंति पुण ते ।

(iv) से णूणं भंते ! तमेव सच्चं नीसंकं [१]जं जिणेहिं [२]पवेइयं[A] । [३]सेसं तं चेव जाव[B] [४]पुरिसक्कारपरिक्कमेणं ति वा ।

(v) एवं [C]जाव [५]चउरिंदियाणं ।

(vi) पंचिंदियातिरिक्खजोणिया [D]जाव वेमाणिया [E]जहा ओहिया जीवा ।

हां गौतम ! वेदन करते हैं ।

(iii) भगवन् ! पृथ्वीकायिक जीव कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन किस प्रकार करते हैं ?

गौतम ! उन जीवों के ऐसा तर्क मन और वचन नहीं होता हैं, जिससे कि उन्हें ज्ञान हो सके कि हम कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन करते हैं तथापि वे वेदन करते हैं ।

(iv) भगवन् ! वह सत्य और निःशंक है, जो जिन भगवन्तों ने प्ररूपित किया है ?

गौतम ! यह सब पूर्व की तरह जानना चाहिए जो जिनेश्वरों ने कहा है वह सत्य निःशंक है, पुरुषाकार पराक्रम से जीव निर्जरा करता है । यावत् चतुरिन्द्रिय पर्यंत जानना । सामान्य जीवों की तरह पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च योनिक से लेकर यावत् वैमानिक पर्यन्त जानना चाहिए ।

---

८. वेइति - पु० । वेदंति - अमो० । वेएति - घा० । वेदेति - ला० ॥ ९. कहण्णं - पु० म० । कह णं - अमो० घा० ॥ १०. पुढविकाइ° - अमो० ॥ ११ वेदंति - अमो० । वेदेति - ला० ॥ १२. एवं 'तक्का इ वा' ति एवं वक्ष्यमाणोल्लेखेन तर्कः विमर्शः स्त्रीलिंगनिर्देशश्च प्राकृतत्वात्" - अवृ० । अत्र 'इ' पदं 'इति' पदभावबोधकं प्रतिभाषते—"तर्क इति वा" इत्यादि - सं० ॥ १३. वइ ति वा - पु० । वइ इ वा - अमो० । वयी ति - लों० । वाआ ति - ला[२] । अत्र 'वई ति वा' स्थाने 'वाया इ वा' इत्येवं प्रतीकरूपेण मुद्रितम - दुर्गं० प्र० वि० ॥ १५. वेएमो - पु० घा० ॥ १५ वेएंति - पु० घा० ॥

१. ज - अमो० ॥ २. °इयं ? हंता गोयमा तमेव सच्चं नीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं - म० । पवेदियं - बे० म० ॥ ३. अत्र 'सेस' पदेन बोध्यं पाठं वृत्तिकारः स्वयमेव वृत्तौ सूचितवान्—"हंता गोयमा ! तमेव सच्च नीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं । से णूणं भंते ! एवं मणं धारेमाण इत्यादि तावद् वाच्यम् यावत् 'से णूणं भंते । अप्पणा चेव निज्जरेइ अप्पणा चेव गरहइ' इत्यादि सूत्रस्य पुरिसक्कारपरक्कमे इ वा' त्ति पदम् - अवृ० ॥ ४. °क्कमे इ वा - पु० म० । °क्कमे इ वा एव - अमो० । °परक्कमेइ वा - घा० । °परक्कमेणं ति वा - बे० म० । °परक्कमे इ वा - मु० ॥ ५. चउरिंदिया - जाव एवं पाठ पूर्ति—

A. हंता गोयमा ! तमेव सच्चं नीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं ॥

B. सूत्र 40 to 47 तक ॥

C. अप्कायिका, तेजस्कायिका, वायुकायिका, वनस्पतिकायिका द्वीन्द्रिया त्रीन्द्रिया जीवा बोध्याः ॥

D. मनुष्या, व्यन्तरा, ज्योतिष्का अपि बोध्याः ॥

E. सूत्र 38 to 47 तक ॥

सूत्र 49 (i) अत्थि णं भंते ! [६]समणा वि निग्गंथा कंखामोहणिज्जं [७]कम्मं [८]वेदेंति ?

सूत्र 49 (i) भगवन् ! क्या श्रमण निर्ग्रन्थ कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन करते हैं ?

हंता, अत्थि ।

हाँ, गौतम ! वेदन करते हैं

(ii) [९]कहं णं भंते ! [१०]समणा वि निग्गंथा कंखामोहणिज्जं [११]कम्मं [१२]वेदेंति ?

(ii) भगवन् ! श्रमण निर्ग्रन्थ कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन किस प्रकार करते हैं ?

[१३]गोयमा ! तेहिं तेहिं [१४]कारणेहिं नाणंतरेहिं [१५]दंसणतरेहिं [१]चरित्तंतरेहिं लिंगतरेहिं पवयणंतरेहिं पावयणंतरेहिं कप्पंतरेहिं मग्गंतरेहिं [२]मतंतरेहिं भंगतरेहिं णयंतरेहिं नियमंतरेहिं पमाणंतरेहिं [३]संकिया कंखिया [४]वितिगिच्छिया [५]भेयसमावन्ना [६]कलुससमावन्ना एवं खलु समणा निग्गंथा कंखामोहणिज्जं कम्मं [७]वेदेंति ।

गौतम ! उन उन कारणों से यथा ज्ञानान्तर, दर्शनान्तर, चारित्रान्तर, लिंगान्तर, प्रवचनान्तर, प्रावचनिकान्तर, कल्पान्तर, मार्गान्तर, मतान्तर, भंगान्तर, नयान्तर, नियमान्तर, प्रमाणान्तर के द्वारा शंकित, कांक्षित, विचिकित्सित भेद समापन्न, कुलुष समापन्न होते हुए इस प्रकार श्रमण निर्ग्रन्थ कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन करते हैं ?

(iii) से णूणं भंते ! तवेव सच्चं नीसंकं जं जिणेहिं [८]पवेइयं ?

(iii) भगवन् ! वही सत्य और निश्शंक है, जो जिनेश्वरों द्वारा प्रवेदित है ?

न० बे० म० ॥ ६. समणा निग्गंथा - अमो० ॥ ७. कंमं - अमो० ॥ ८. वेदन्ति - पु० पा० । वेदंति - अमो० ॥ ९. कहन्नं - पु० पा० न । कह ण - अमो० बे० म० ॥ १०. °णा निग्गंथा - पु० अमो० पा० न० ॥ ११. कंमं - अमो० ॥ १२. वेएन्ति - पु० पा० ॥ १३. गोतमा - अमो० ॥ १४. तेहिं नाणं° - पु० न० बे० म० ॥ १५. दंस° णंत° - अमो० पा० बे० म० । दरिसणंतरेहिं - न० ॥

१. चारित्तं° - ला³ । °तरेहिं तित्थन्तरेहिं - क० ॥ २. मयंतरेहिं - अमो० पा० । मंतंतरेहिं - अ० म० । [illegible] पाठिक० ॥ ३. संकिता कंखिता - म० ॥ ४. वितितिच्छिता - म० ; वितिगिच्छता - अमो० । वितिगिच्छिता - पा० । वितिगिच्छिता - बे० म० । °ता वा भेद° - ला० ॥ ५. भेदसमा° - अमो० न० बे० म० । भेदमावन्ना - ला १ ॥ ६. कलुसमावन्ना - ला १ ७ वेदेंति - पु० । वेदंति - अमो० । वेदन्ति - पा० ॥ ८. पवेदितं न० ॥ ९. [illegible]

हंता, गोयमा ! तमेव सच्चं[A] [९]नीसंकं [B]जाव पुरिसक्कारपरक्कमे इ [१०]वा । सेवं भंते ! सेवं [C]भंते[११] !

हां गौतम ! वेदते हैं ।

हां गौतम ! वही सत्य और निश्शंक है जो कि जिनेश्वरों द्वारा प्रवेदित है । यावत् पुरुषाकार-पराक्रम से निर्जरा होती है तक सारे आलापक समझने चाहिए ।

हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है ।
हे भगवन् ! यही सत्य है ।

तइओ उद्देसओ समत्तो

तृतीय उद्देशक समाप्त

विवेचन :–

प्रस्तुत सूत्र में कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन करने वाली आत्माएँ कौन-कौन सी हैं, एतद् विषयक गौतम स्वामी द्वारा पूछे गये प्रश्नों पर भगवान् महावीर ने समाधान प्रस्तुत किया है ।

भयंकर वेदना से पीड़ित नारकी जीव भी कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन करते हैं तो जिनके पास तर्क, संज्ञा, प्रज्ञा, मन, वचन नही है,[१] ऐसे स्थावर जीव भी कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन करते हैं । यही नही विकलेन्द्रिय, तिर्यञ्चपंचेन्द्रिय, वैमानिक पर्यन्त सभी देव कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन करते हैं ।

किन्तु आश्चर्य का विषय यह है कि अत्यन्त अव्यक्त चेतना वाले पृथ्वीकायिक कर्म का वेदन कैसे करते हैं ? जब गौतम स्वामी ने इस विषयक प्रश्न किया तो भगवान् ने समाधान दिया कि गौतम ! पृथ्वीकायिक जीव भी कांक्षामोहनीय का वेदन तो करते ही हैं ।

गौतम स्वामी ने पूछा—तो भगवन् ! यह बात सत्य और निश्शंक है जो जिनेश्वरों ने प्रवेदित की है ? भगवन् ने कहा—हां गौतम ! जिनेश्वरों की कथित बात में शंका का अवकाश ही नहीं रहता,

---

अमो० पा० । ९कं जं जिणेहिं पवेदितं एवं जाव अत्थि उट्ठाणे इ वा कम्मेइ वा बले इ वा वीरिए इ वा - न० ।। १०. वा घवरे अत्थि णं भंते समणा णिग्गथा णं कंखामोहणिज्जं कम्मं वंधति ? सेसं तहेव । सेवं भंते २ त्ति - लों० ला० ला ३ ।। ११. भंते त्ति - अ०० ।।

जाव एवं पाठ पूर्ति—

A. जं जिणेहिं पवेइयं ।।

B. सूत्र 40(II) to 47 तक ।।

C. त्ति भगवं गोयमे समणं भगवं महावीरं वंदति नमंसति वंदित्ता नमंसित्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरति ।।

१. यहां जो संज्ञा मन का निषेध किया गया—यह निषेध विशिष्ट संज्ञा तथा द्रव्य मन का है, क्योंकि सामान्य आहारादिक रूप संज्ञा और भाव मन एकेन्द्रिय में भी होता है ।

वह बिलकुल सत्य होती है। पृथ्वीकायिक जीव के कांक्षामोहनीय वेदन सम्बन्धी बात भी किन्तु सत्य-निश्शंक है, क्योंकि वह जिनेश्वर द्वारा जानने के पश्चात् ही प्रतिपादित है।

पृथ्वीकायिक जीव कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन अपने ही उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषाकार पराक्रम से करते हैं।

अन्य जीव तो कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन करते हैं, किन्तु जो गृहवास छोड़कर अनगार बन चुके हैं जिनकी मति जिनागमों से पवित्र बन चुकी है, ऐसे अनगार-साधु भी क्या कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन करते हैं ? ऐसा गौतम स्वामी के पूछने पर भगवान् ने समाधान किया—हां गौतम ! ऐसे अनगार श्रमण-निर्ग्रन्थ भी कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन करते हैं।

श्रमण निर्ग्रन्थ कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन निम्न कारणों से करते हैं—

१. ज्ञानान्तर, २. दर्शनान्तर, ३. चारित्रान्तर, ४. लिंगान्तर, ५ प्रवचनान्तर, ६. प्रावचनिकान्तर, ७. कल्पान्तर, ८. मार्गान्तर, ९. भंगान्तर, १०. नयान्तर, ११. प्रमाणान्तर

इन कारणों से शंकित, कांक्षित, विचिकित्सायुक्त, भेद समापन्न, कलुष समापन्न होकर श्रमण निर्ग्रन्थ कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन करते हैं।

1. ज्ञानान्तर—

एक ज्ञान से दूसरे ज्ञान को ज्ञानान्तर कहते है। अवधिज्ञान के बाद मनः पर्याय ज्ञान ज्ञानान्तर है। इसे शंका का स्थान बना लेना। यथा अवधिज्ञान परमाणु से लेकर अनन्त प्रदेशी रूपी स्कंधों को जानता है, अतः असंख्यात प्रकार वाला है। मनः पर्यायज्ञान मनोद्रव्य को ही जानता है, वह भी रूपी को ही। जबकि रूपी होने के कारण मनोद्रव्यों को अवधि ज्ञान भी जान सकता है। तब मनःपर्याय ज्ञान का पृथक् विभाग क्यों किया ? किस कारण इन दोनों ज्ञान की कल्पना की गई है ? इस प्रकार का अव्यवस्थित संदेह होना शंका है। इस प्रकार की शंका से ही कलुषता आती है। एकान्तग्राही बनने पर तो मिथ्यात्व तक की स्थिति आ जाती है।

शंका का समाधान—यद्यपि अवधिज्ञान के द्वारा मनोगत रूपी पदार्थ जाने जा सकते हैं, तथापि मनः पर्यायज्ञान और अवधिज्ञान एक नहीं है। उन दोनों में बहुत अन्तर है।

मनःपर्याय ज्ञान मनोगत विकल्पों को ही जानता है और किसी पदार्थ को नहीं जानता। अवधिज्ञान समस्त रूपी द्रव्यों को जान सकता है और वह भी दर्शनपूर्वक होता है, जबकि मनः पर्यायज्ञान में दर्शन होता ही नहीं है। अवधिज्ञान के भी सभी भेद मनोगत द्रव्यों को विषय नहीं करते। कोई-कोई अवधिज्ञान ही मनोगत द्रव्य को जान पाता है।

ऐसा कोई भी अवधिज्ञानी नहीं है जो कि मनः पर्याय ज्ञान की तरह केवल मनोगत द्रव्य को ी विषय करता हो।

किसी व्यक्ति के हाथ में कोई पदार्थ है, उसे अवधिज्ञानी जान सकता है, मनः पर्यायज्ञानी हीं। यदि वह व्यक्ति उस पदार्थ के विषय में मन में चिन्तन करता हो तो मनः पर्यायज्ञानी उसके चन्तन को जान सकता है किंतु हस्तगत पदार्थ को साक्षात् नहीं जान सकता।

यह दोनों ज्ञानों में विषय की अपेक्षा अन्तर है। मनः पर्यायज्ञान अवधिज्ञान की अपेक्षा अपने वषय को विशद रूप से जानता है, इसलिए अवधिज्ञान से मनः पर्यायज्ञान विशुद्धतर है।

अवधिज्ञान के स्वामी चारों गति के जीव हो सकते हैं, किंतु मनः पर्यायज्ञान के स्वामी उत्कृष्ट ारित्र वाले, लब्धि सम्पन्न संयति ही हो सकते है।

अवधिज्ञान का ज्ञेय क्षेत्र अङ्गुल के असंख्यातवें भाग से लेकर सारा लोक है, परन्तु मनः पर्याय-ज्ञान का ज्ञेय तो मानुषोत्तर पर्वत पर्यन्त मनुष्य लोक के संज्ञि पंचेन्द्रिय जीवों के मनोगत रूपी द्रव्य हैं।

इसके अतिरिक्त इन दोनों ज्ञान में और भी बहुत अन्तर है। जैसे सूर्य के होते हुए भी चंद्रमा ी आवश्यकता होती है, क्योंकि सूर्य उष्मा देता है और चंद्रमा शीतलता देता है। इसी प्रकार अवधि-ज्ञान की विद्यमानता होने पर भी मनः पर्यायज्ञान की आवश्यकता रहती है। अवधिज्ञान असंयत और संयतासंयत को भी हो सकता है। सांसारिक सुख का भोग करने वाले इन्द्रादिक को भी अवधि-ज्ञान होता है जबकि मनः पर्यायज्ञान विशुद्ध संयति को ही होता है।

इस प्रकार से ज्ञानान्तर को न समझकर शंकित बन जाने से और उस शंका का समाधान न रने पर कांक्षा, विचिकित्सा, कलुषता आदि भी आ जाते हैं, अतः संयति आत्मा भी कांक्षामोहनीय र्म का वेदन करती है।

२. दर्शनान्तर—

वस्तु के सामान्य धर्म को जानने वाली शक्ति को दर्शन कहते हैं। इसके इन्द्रिय, अनिन्द्रिय ये दो भेद हैं। इन्द्रिय में श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना, स्पर्शन, अनिन्द्रिय में मन लिया जाता है। कोई दर्शन इन्द्रियों से होता है तो कोई अनिन्द्रिय से होता है।

यहां यह संदेह उठता है कि जब सामान्य बोध दर्शन है तो चक्षुःदर्शन, अचक्षुःदर्शन भेद क्यों किये गए ? यदि इन्द्रिय, अनिन्द्रिय भेद करने थे तब श्रोत्रदर्शन, चक्षुदर्शन, घ्राणदर्शन, रसनादर्शन,

स्पर्शनदर्शन, मनोदर्शन यह छः भेद किये जाते ! या फिर स्पष्ट बोधन इन्द्रियदर्शन और मनोदर्शन ये भेद कर देते, किंतु चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन इस प्रकार भेद क्यों प्रतिपादित किये ?

समाधान—

यहां साधक शंकाशील इसलिए बनता है कि वह पांच इन्द्रिय और मन का सही सूक्ष्म से पृथक् विवेक नहीं कर पाता। दर्शन की परिभाषा—दर्शनावरणीय कर्म के क्षय या क्षयोपशम होने पर पांच इन्द्रिय और मन से जो आत्मा को सामान्य अवबोध होता है, वह दर्शन है। यह लक्षण या पांचों इन्द्रिय और मन में समान रूप से घटित होता है तभी दर्शन की परिभाषा सही उतरती है। इसीलिए सामान्य अवबोध को ही दर्शन कहा गया है।

रहा प्रश्न-अवबोध की प्राप्ति के माध्यम के विषय में ! माध्यम सबसे पहले पांच इन्द्रियां हैं। इन माध्यमों का विषय ग्रहण करने का स्वभाव भिन्न-भिन्न है। उस भिन्नता में मुख्य रूप से दो भेद किये जाते हैं। प्राप्यकारिता और अप्राप्यकारिता। प्राप्यकारिता की व्याख्या यह है कि जिन इन्द्रियों से विषय का संस्पर्श होने पर ग्रहण होता हो वे सभी इन्द्रियां प्राप्यकारिता की कोटि में आती है। जिनका विषय सम्बन्धी ग्रहण विषय को छूकर नहीं होता हो, अपने-अपने अवस्थान पर रहते हुए जो इन्द्रिय और अनिन्द्रिय अपने विषय को साक्षात् स्पर्श किये बिना ही ग्रहण कर लेता हो वह अप्राप्यकारी है।

इस कोटि में चक्षु और मन का समावेश होता है। ये दोनों ही अपने विषय का स्पर्श किये बिना ही योग्य सन्निधान में स्थित वस्तु को ग्रहण करते हैं, अतः अप्राप्यकारी हैं।

यहां जिज्ञासु को यह प्रश्न भी हो सकता है कि—

मन अप्राप्यकारी है तो उसका ग्रहण अचक्षुदर्शन में क्यों किया गया ? जिज्ञासा ठीक है परन्तु इस जिज्ञासा का समाधान इस रूप में हो जाता है कि मन विषय से साक्षात् सम्बद्ध नहीं होता, इस अपेक्षा से तो अप्राप्यकारी है ही, किंतु चक्षु की तरह सामान्य बोध नहीं करने से उसे चक्षुदर्शन की कोटि में नहीं लिया गया है। वह पांचों इन्द्रियों के पीछे रहता हुआ सामान्य बोध करता है, अतः उसे अचक्षुदर्शन की श्रेणी में लिया गया है। इसका तात्पर्यार्थ यह है कि मन अप्राप्यकारी होता हुआ भी अचक्षुदर्शन की कोटि में लिया जाता है।

इस दृष्टिकोण से चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन ये दो भेद किये गये हैं।

अपर प्रकार से दर्शनान्तर—दर्शन का दूसरा अर्थ 'सम्यक्त्व' भी है। शास्त्र में सम्यक्त्व के ..., क्षायोपशमिक आदि भेद बतलाए गए हैं। इस पर शंका इस प्रकार उठ सकती है—

उदय प्राप्त मिथ्यात्व के क्षय होने पर और शेष मिथ्यात्व के उदय में न आने पर अन्तर्मुहूर्त्त मात्र के लिये उपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है।[1]

उदीर्ण मिथ्यात्व का क्षय और अनुदीर्ण मिथ्यात्व का उपशम होना क्षायोपशमिक सम्यक्त्व है।[2]

इस प्रकार जब औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की एक ही परिभाषा होने पर शास्त्र में दो नाम क्यों दिये गए?

इस प्रकार शंका होने पर कांक्षा, विचिकित्सा आदि से कलुषितापन्न होकर श्रमण निर्ग्रन्थ भी कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन करते हैं।

समाधान—उपशम तथा क्षयोपशमिक सम्यक्त्व का लक्षण समान नहीं है।

क्षयोपशमिक सम्यक्त्व में अनुदीर्ण कर्म दलिक है उनका विपाक से उपशम हो जाता हैं, प्रदेश से उपशम नहीं होता है। क्षयोशमिक सम्यक्त्व में प्रदेशोदय होता है, किन्तु उपशम सम्यक्त्व में विपाकानुभव और प्रदेशानुभव दोनों ही नहीं होते।

जिस प्रकार क्लोरोफार्म सुंघा देने पर मरीज को ऑपरेशन से होने वाले कष्ट का विपाकानुभव तो नहीं होता, प्रदेश से वेदना तो होती ही है। इसी प्रकार क्षयोपशमिक सम्यक्त्व में विपाकानुभव नहीं होता, प्रदेशानुभव होता है, किंतु औपशमिक सम्यक्त्व में दोनों ही नहीं होते।[3]

इसके सिवाय स्थिति की अपेक्षा भी दोनों में अंतर है यथा—औपशमिक सम्यक्त्व की स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है, जबकि क्षयोपशमिक सम्यक्त्व की छासठ सागरोपम से अधिक है।

3. चारित्रान्तर—

जिसमें तीन करण, तीन योग से सांसारिक प्रवृत्तियों का त्याग किया जाय, उसे चारित्र कहते हैं। सामायिक चारित्र और छेदोपस्थापनीय चारित्र के विषय में शंका करना कि इन दोनों को अलग-अलग क्यों कहा? क्योंकि सामायिक चारित्र में सर्व सावद्य योगों का त्याग किया जाता है तथा छेदोपस्थापनीय चारित्र में पांच महाव्रतों का ग्रहण है, उन महाव्रतों में भी सावद्य योगों का सर्वथा त्याग किया जाता है।

---

१ खीणम्मि उइण्णम्मि, अणुदिज्जंते य सेसमिच्छत्ते।
अंतोमुहुत्तमेत्तं उवसमसम्मं लहइ जीवो॥

२ मिच्छत्तं जमुदिण्णं तं खीणं, अणुदियं च उवसंतं।

३ वेएइ संत कम्मं खओवसमिएसु णाणुभावं सो
उवसंत कसाओ पुण, वेएइ ण संत कम्मं।

स्पर्शनदर्शन, मनोदर्शन यह छः भेद किये जाते ! या फिर स्पष्ट बोधन इन्द्रियदर्शन और मनोदर्शन से भेद कर देते, किंतु चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन इस प्रकार भेद क्यों प्रतिपादित किये ?

समाधान—

यहां साधक शंकाशील इसलिए बनता है कि वह पांच इन्द्रिय और मन का सही तरीके से पृथक् विवेक नहीं कर पाता। दर्शन की परिभाषा—दर्शनावरणीय कर्म के क्षय या क्षयोपशम होने पर पांच इन्द्रिय और मन से जो आत्मा को सामान्य अवबोध होता है, वह दर्शन है। यह लक्षण दस पांचों इन्द्रिय और मन में समान रूप से घटित होता है तभी दर्शन की परिभाषा सही उतरती है। *इसीलिए सामान्य अवबोध को ही दर्शन कहा गया है।*

रहा प्रश्न-अवबोध की प्राप्ति के माध्यम के विषय में ! माध्यम सबसे पहले पांच इन्द्रिया हैं। इन माध्यमों का विषय ग्रहण करने का स्वभाव भिन्न-भिन्न है। उस भिन्नता में मुख्य रूप से दो भेद किये जाते हैं। प्राप्यकारिता और अप्राप्यकारिता। प्राप्यकारिता की व्याख्या यह है कि जिन इन्द्रियों से विषय का संस्पर्श होने पर ग्रहण होता हो वे सभी इन्द्रियां प्राप्यकारिता की कोटि में आती है। जिनका विषय सम्बन्धी ग्रहण विषय को छूकर नहीं होता हो, अपने-अपने अवस्थान पर रहते हुए जो इन्द्रिय और अनिन्द्रिय अपने विषय को साक्षात् स्पर्श किये बिना ही ग्रहण कर लेता हो वह अप्राप्यकारी है।

इस कोटि में चक्षु और मन का समावेश होता है। ये दोनों ही अपने विषय का स्पर्श किये बिना ही योग्य सन्निधान में स्थित वस्तु को ग्रहण करते हैं, अतः अप्राप्यकारी हैं।

यहां जिज्ञासु को यह प्रश्न भी हो सकता है कि—

मन अप्राप्यकारी है तो उसका ग्रहण अचक्षुदर्शन में क्यों किया गया ? जिज्ञासा ठीक है परन्तु इस जिज्ञासा का समाधान इस रूप में हो जाता है कि मन विषय से साक्षात् सम्बद्ध नहीं होता, इस अपेक्षा से तो अप्राप्यकारी है ही, किंतु चक्षु की तरह सामान्य बोध नहीं करने से उसे चक्षुदर्शन की कोटि में नहीं लिया गया है। वह पांचों इन्द्रियों के पीछे रहता हुआ सामान्य बोध करता है, अतः उसे अचक्षुदर्शन की श्रेणी में लिया गया है। इसका तात्पर्यार्थ यह है कि मन अप्राप्यकारी होता हुआ भी अचक्षुदर्शन की कोटि में लिया जाता है।

इस दृष्टिकोण से चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन ये दो भेद किये गये हैं।

अपर प्रकार से दर्शनान्तर—दर्शन का दूसरा अर्थ 'सम्यक्त्व' भी है। शास्त्र में सम्यक्त्व के *औपशमिक, क्षायोपशमिक आदि भेद बतलाए गए हैं। इस पर शंका इस प्रकार उठ सकती है—*

उदय प्राप्त मिथ्यात्व के क्षय होने पर और शेष मिथ्यात्व के उदय में न आने पर अन्तर्मुहूर्त मात्र के लिये उपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है।[१]

उदीर्ण मिथ्यात्व का क्षय और अनुदीर्ण मिथ्यात्व का उपशम होना क्षायोपशमिक सम्यक्त्व है।[२]

इस प्रकार जब औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की एक ही परिभाषा होने पर शास्त्र में दो नाम क्यों दिये गए ?

इस प्रकार शंका होने पर कांक्षा, विचिकित्सा आदि से कलुषितापन्न होकर श्रमण निर्ग्रन्थ भी कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन करते हैं।

समाधान—उपशम तथा क्षयोपशमिक सम्यक्त्व का लक्षण समान नहीं है।

क्षयोपशमिक सम्यक्त्व में अनुदीर्ण कर्म दलिक हैं उनका विपाक से उपशम हो जाता है, प्रदेश से उपशम नहीं होता है। क्षयोशमिक सम्यक्त्व में प्रदेशोदय होता है, किन्तु उपशम सम्यक्त्व में विपाकानुभव और प्रदेशानुभव दोनों ही नही होते।

जिस प्रकार क्लोरोफार्म सुंघा देने पर मरीज को ऑपरेशन से होने वाले कष्ट का विपाकानुभव तो नही होता, प्रदेश से वेदना तो होती ही है। इसी प्रकार क्षयोपशमिक सम्यक्त्व में विपाकानुभव नहीं होता, प्रदेशानुभव होता है, किंतु औपशमिक सम्यक्त्व में दोनों ही नहीं होते।[३]

इसके सिवाय स्थिति की अपेक्षा भी दोनों में अंतर है यथा—औपशमिक सम्यक्त्व की स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है, जबकि क्षयोपशमिक सम्यक्त्व की छासठ सागरोपम से अधिक है।

3. चारित्रान्तर —

जिसमें तीन करण, तीन योग से सांसारिक प्रवृत्तियों का त्याग किया जाय, उसे चारित्र कहते हैं। सामायिक चारित्र और छेदोपस्थापनीय चारित्र के विषय में शंका करना कि इन दोनों को अलग-अलग क्यों कहा ? क्योंकि सामायिक चारित्र में सर्व सावद्य योगों का त्याग किया जाता है तथा छेदोपस्थापनीय चारित्र में पांच महाव्रतों का ग्रहण है, उन महाव्रतों में भी सावद्य योगों का सर्वथा त्याग किया जाता है।

---

१ खीणम्मि उइण्णम्मि, अणुदिज्जंते य सेसमिच्छत्ते।
अंतोमुहुत्तमेत्तं उवसमसम्मं लहइ जीवो ॥

२ मिच्छत्तं जमुदिण्णं तं खीणं, अणुदियं च उवसंतं।

३ वेएइ संत कम्मं खओवसमिएसु नाणुभावं सो
उवसंत कसाओ पुण, वेएइ न संत कम्मं।

समाधान—सामायिक चारित्र और छेदोपस्थापनीय चारित्र में प्रकृति और समय की अपेक्षा से अंतर है। प्रथम तीर्थङ्कर के साधु ऋजु-जड़ थे। मध्य के बाईस तीर्थङ्करों के साधु ऋजुप्राज्ञ थे, किन्तु अन्तिम तीर्थङ्कर के साधु वक्रजड़ हैं। ऋजुजड़ प्रकृति वाले साधक तत्त्वों के अभिप्राय को शीघ्र समझने में सक्षम नहीं होते। वक्रजड प्रकृति वाले साधक को हित शिक्षा देने पर भी वे अनेक प्रकार की कुतर्कों से परमार्थ की अवहेलना करने में उद्यत रहते है। वक्रता के कारण छलपूर्वक व्यवहार करते हुए अपनी अज्ञता को भी कुशलता के रूप में प्रदर्शित करने की चेष्टा करते हैं, किंतु ऋजुप्राज्ञ प्रकृति वाले साधक सरल और बुद्धिमान होते हैं। उन्हें सरलता पूर्वक समझाया जा सकता है। उनकी प्रज्ञा इतनी निर्मल होती है कि वे संकेत मात्र से ही धर्म के मर्म को समझ जाते हैं। यहां पर वक्रजड़ और ऋजुजड़ साधुओं के लिये सामायिक और छेदोपस्थापनीय चारित्र ये दो भेद प्रतिपादित किये हैं। यथार्थ में तो सामायिक चारित्र ही है। सामायिक चारित्र में थोड़ा-सा भी दोष लगने पर छेदादि देकर दोष शुद्धि की जाती है, किन्तु इन वक्रजड़ साधुओं को पहले सामायिक चारित्र दिया जाता हैं, इसके बाद सात दिन या चार मास या फिर छः मास के बाद निरतिचार अवस्था में भी छेदोपस्थापनीय चारित्र की उपस्थापना की जाती है।

नवदीक्षित साधु को छेदोपस्थापनीय चारित्र पर आरोहण कराने के बाद कभी महाव्रतों में दोष लग जाय तो आलोचना करने पर, आलोचना सुनने वाला यथायोग्य दीक्षा छेद से लेकर छेदोपस्थापनीय चारित्र प्रदान करने का प्रसङ्ग भी पुनः उपस्थित कर सकता है। यह सब प्रायश्चित प्रदाता पर निर्भर है, जिससे साधक का संयम में उत्साह सवर्धित हो सके।

इस कारण से दोनों चारित्रों को अलग-अलग बतलाया है। जैसा कि कहा गया है—

रिउववक्कजड़ा पुरिमेयराण सामाइए वयारुहणं।
मणयमसुद्धेवि जओ, सामाइए हुंति वि वयाइं॥

पहले तीर्थङ्कर के साधु ऋजुजड़ और अन्तिम तीर्थङ्कर के साधु वक्रजड़ होने से छेदोपस्थापनीय चारित्र की स्थापना की है, क्योंकि सामायिक चारित्र में थोड़ा-सा भी दोष लगने पर भी व्रत रूप चारित्र का पालन हो सकता है।

4. लिंगान्तर—

वेश को लिंग कहते हैं। प्रथम और अन्तिम तीर्थङ्करों ने साधुओं (साधकों) के लिये प्रमाणोपेत श्वेत वस्त्र रखने की आज्ञा दी है। मध्यम बाईस तीर्थङ्करों ने जैसा मिले, वैसा ही वस्त्र रखने की आज्ञा दी है। उसमें रंग और परिमाण का भी कोई नियम नहीं है। सर्वज्ञों के वचनों में विरोध नहीं होता, तब यह दो प्रकार की आज्ञा क्यों दी गई ?

समाधान - प्रथम तीर्थङ्कर के साधु ऋजु जड़, अन्तिम तीर्थङ्कर के साधु वक्रजड़ और मध्य के तीर्थंकरों के साधक ऋजुप्राज्ञ होते है। इस स्वभाव भेद के कारण ही भिन्न-भिन्न आज्ञा दी है। मूलत: सिद्धान्त में कोई अन्तर नहीं है। सभी तीर्थंकर के तत्व का प्रतिपादन एक ही है।

प्रवचनान्तर—

सिद्धान्त को प्रवचन कहते हैं।

शंका—मध्य के २२ तीर्थंकरों ने चातुर्याम (चार महाव्रत) धर्म बतलाया, किन्तु प्रथम और म तीर्थङ्करों ने पांच महाव्रत का धर्म प्रतिपादित किया। ऐसा क्यों ?

समाधान—मध्य के २२ तीर्थंकरों द्वारा प्रतिपादित चातुर्याम धर्म में पांचों ही महाव्रतों का वेश कर लिया गया है। चौथे महाव्रत ब्रह्मचर्य को पाचवें अपरिग्रह महाव्रत में समाविष्ट कर लिया योंकि स्त्री भी परिग्रह रूप ही है। यथा—

"योषिदादिः नापरिगृहीता भुज्यते"

अपरिगृहीत स्त्री भोगी नही जाती। अत: स्त्री भी परिग्रह रूप ही है। किन्तु प्रथम और अन्तिम ङ्करों ने मैथुन त्याग रूप महाव्रत का विधान अलग से कर दिया। इसलिये चार के स्थान पर महाव्रत बन गए, अत: मूलत: तीर्थंकरो के वचनों में कोई मतभेद नही है।

प्रावचनिकान्तर—

प्रवचन के अध्येता एवं ज्ञाता पुरुष प्रावचनिक कहलाते हैं। पूर्व समय में पूर्वधारी पुरुष ही श्रुत होते थे, किन्तु काल के परिवर्तन के अनुसार बहुत से आगमों के ज्ञाता भी बहुश्रुत ही कहलाते हैं।

इन बहुश्रुत प्रावचनिकों में एक किस प्रकार से आचरण करता है। दूसरा उससे भिन्न प्रकार चरण करता है, ऐसा क्यों ?

समाधान—चारित्र मोहनीय कर्म के क्षयोपशम से प्रावचनिकों की प्रवृत्ति में भेद हो सकता है, न्तु वही प्रवृत्ति प्रमाण-भूत समझना चाहिये जो कि आगम से अविरुद्ध हो।

संयम-जीवन को सुरक्षा के लिए शास्त्रो में दो प्रकार के मार्ग अभीहित हैं—उत्सर्ग और वाद। इन दो मार्गों के कारण ही बहुसूत्री पुरुषों को स्थापना में भिन्नता आ जाती है। भिन्न पनाओं को देखकर शंका नहीं करते हुए आगमावलोकन आवश्यक है। आगम के अनुसार जो पना उपयुक्त हो, उसे ही स्वीकार करना चाहिये।

उत्सर्ग अवस्था में साधु को नाव में बैठकर जलयात्रा करना निषिद्ध है, किन्तु अपवाद अवस्था नाव में बैठने का विधान है। उत्सर्ग अवस्था होने से एक साधु तो नाव में नहीं बैठा और आपवादिक

स्थिति में अन्य साधु नाव में बैठ गया। इन दोनों की भिन्न स्थिति को देखने से द्रष्टा व्यक्ति को यह संदेह हो सकता है कि इन दोनों साधुओं में किस साधु का आचरण शास्त्रानुकूल माना जाय। आगमों का अवलोकन करने पर यह ज्ञात होगा कि दशवैकालिक सूत्र में साधुओं को कच्चे पानी का स्पर्श करना भी निषिद्ध किया है जबकि आचाराङ्ग सूत्र में आपवादिक स्थिति में नदी में उतरना, नाव में बैठने का भी विधान किया है। अतः दोनों का व्यवहार आगम से विपरीत नहीं कहा जा सकता। आगम की कसौटी के अनुसार चिन्तन करने पर बहुश्रुत पुरुषों के प्रतिपादन की भिन्नता स्पष्ट हो जाती है, किन्तु जो व्यक्ति उत्सर्ग और अपवाद के नाम से स्वछंद आचरण करता है तो वह सिद्धान्त के अनुकूल नहीं है।

उत्सर्ग और अपवाद के नाम से प्रावचनिकों द्वारा की गई स्थापना को स्पष्ट रूप से समझने के लिये आगमानुसार उत्सर्ग और अपवाद का स्वरूप समझ लेना भी आवश्यक है।

उत्सर्ग मार्ग में चलते हुए ऐसी कोई परिस्थिति आ जाय जिसमें संयम से पतित होने की आशंका हो तो अपवाद मार्ग अपनाया जाता है, वह भी मात्र संयम की रक्षा के लिये। कहा भी है— **'उत्सर्गात् परिभ्रष्टस्य अपवाद गमनम्'** उत्सर्ग का उद्देश्य अलग हो और अपवाद का अलग उद्देश्य हो तो, उस स्थिति में अपवाद मार्ग शास्त्र विहित नहीं होगा। ऐसे अपवाद मार्ग का सेवन स्वच्छन्दता ही होगी। अपवाद मार्ग उत्सर्ग में स्थिर होने के लिये अपनाया जाता है न कि उत्सर्ग से गिरने के लिये। उत्सर्ग मार्ग में सूक्ष्म बूंदें गिरने पर भी साधु को भिक्षा के लिये जाना निषिद्ध है, किन्तु अपवाद मार्ग में मल-मूत्र का विसर्जन करने के लिए मूसलधार वर्षा में जाना भी आगमानुकूल है, क्योंकि भूखे प्यासे रहने से संयम से पतन नहीं होता, किन्तु मल-मूत्र का विसर्जन नहीं करने पर संयम सहायक शरीर रुग्ण हो जायगा जिससे संयम से पतन हो सकता है। अतः ऐसी स्थिति में अपवाद का सेवन किया जाना आगमानुकूल है।

7. कल्पान्तर—

साधु जीवन की आचरण मर्यादा को कल्प कहते हैं। जिनकल्प की आचरण विधि अचेल रूप में होती है जो कि कष्ट साध्य होने से कर्मों का क्षय करने वाली है, किन्तु स्थविर कल्प में वह स्थिति नहीं है। स्थविरकल्पी साधु मर्यादानुसार वस्त्र पात्र आदि रख सकते हैं। उन्हें जिनकल्पी की तरह अधिक कष्ट सहन नहीं करना पड़ता। तब उनका कल्प कर्मक्षय में सहायक कैसे हो सकता है ? यदि है तो जिनकल्प का उपदेश देने की क्या आवश्यकता थी ?

समाधान—दोनों ही भेद सर्वज्ञ भगवान् द्वारा प्रतिपादित हैं। दोनों ही कल्प कर्म क्षय की प्रक्रिया में सहायक हैं। कष्ट सहना कर्मक्षय में कोई विशिष्ट कारण नहीं होता, क्योंकि कष्ट सहन करना साधु जीवन का उत्तर गुण है। मूल गुण तो उसके महाव्रत होते हैं।

जिनकल्प एवं स्थविर कल्प दोनों ही मुक्ति के पथ है। आबाल-वृद्ध सभी मुमुक्षु आत्माएं इस राज मार्ग पर चलती हुई यथा शक्ति संयम की आराधना कर कर्मक्षय के साथ मुक्ति का वरण कर लेती हैं।

तीर्थङ्करों के शासनकाल से लेकर पञ्चम आरे तक भी भव्यप्राणी मोक्ष मार्ग की आराधना में समर्थ हो सकते हैं, क्योंकि इस मार्ग में चलने वाले साधक निकाचित-अनिकाचित दोनों आयुष वाले हो सकते हैं अर्थात् अपवर्तनीय एवं अनपवर्तनीय आयुष वाले साधक उस मार्ग पर चल सकते हैं अतः उसे मोक्ष का राज मार्ग कहा है। इसी राज मार्ग पर चलने वाले साधकों के मन में जब विशेष अनुष्ठान करने की भावना होती है तब वे जिनकल्प अंगीकार करते हैं। जिनकल्प की विधि संक्षेप में निम्न है—

जिनकल्प को स्वीकार करने वाले साधक स्थविर कल्प में रहते हुए पहले अपने आपको जिनकल्प के योग्य शक्ति सम्पन्न बनाते है। अपनी योग्यता का परीक्षण करने के बाद साधक जिन-कल्प को स्वीकार करने के लिए तत्पर होते हैं। जिन कल्प की अनुमति तीर्थङ्करों के पास में ग्रहण करने का विधान है। उनके नही होने पर गणधरों के द्वारा, गणधर के अभाव में, चर्तुदश पूर्वधारी के पास से इनके अभाव में दश पूर्वधारी के पास से इनमें से किसी के नही होने पर साधक वटादि वृक्ष के नीचे स्वयं ही जिनकल्प स्वीकार कर सकते है।

जिनकल्प स्वीकार करने वाले साधक जिस ग्राम या नगर में मास कल्प या चातुर्मास करते हैं, वहां पर कल्प की विधि के अनुसार गोचरी करते हैं। भिक्षाचर्या के लिए अपरिचित कुलों में ही जाते हैं। भिक्षाचरी तीसरी पौरुषी में ही करते हैं। एषणादि के विषय को छोड़कर वे अन्य किसी से वार्ता नही करते। एक ही वसति में अधिक से अधिक सात जिन कल्पी साधक रह सकते हैं किन्तु वे परस्पर वार्ता नहीं करते। उपसर्ग परीषह आदि आने पर उन्हें समभाव से सहन करते हैं। रोग आने पर चिकित्सा नहीं करवाते। परिचित वसति में नही रहते। बैठते हैं तो उत्कट आसन मे ही बैठते हैं। औपग्रहिक आदि उपकरण नहीं रखते। मदोन्मत्त हाथी, सिंह आदि के सामने आने पर भी ईर्या समिति से चल रहे पथ से नही हटते अर्थात् उन्मार्ग में गमन नही करते। जिन कल्प को अंगी-कार करने वाले कम से कम नव पूर्व की तीसरी आचार वस्तु के ज्ञाता होते हैं अधिक से अधिक दश पूर्व के ज्ञाता होते हैं। उनका संहनन वज्रऋषभ-नाराच होता है। इस कल्प के आचरण करने वाले साधक अपवाद मार्ग का सेवन नही करते। जिन कल्पी साधक के पास मुखवस्त्रिका और रजोहरण तो होते ही हैं।

जिनकल्प विधि, मुक्ति में पहुँचने के लिए बीहड़ पगडंडी के तुल्य है। इसी को स्पष्ट करने के लिए एक काल्पनिक रूपक लिया जा सकता है। यथा—

एक परकोटा सहित नगर है । अन्य नगर से आने वाले के लिए उस नगर में प्रवेश करने के लिए एक तो राज–पथ है और एक जंगल से निकलने वाली पगदंडी का मार्ग है । दोनों रास्ते नगर के मुख्य द्वार पर आकर मिल जाते हैं । ठीक इसी प्रकार उक्त विशेषणों से सम्पन्न जिनकल्प की मर्यादा को अंगीकार कर चलने वाले साधक पगदंडी के तुल्य मार्ग पर चलते हैं किंतु मोक्षरूपी नगर में प्रवेश करने के लिए पुनः स्थविर कल्प रूप राजमार्ग पर आ जाते हैं । इसलिए दोनों ही मार्ग एक ही मोक्ष प्राप्ति के हेतु हैं, अतः इसमें किसी प्रकार के संशय का अवकाश ही कहां है ? अर्थात् नहीं है ।

जिज्ञासा—जिनकल्प एवं स्थविर कल्प की विधि का अध्ययन करते हुए जिज्ञासु के मन में यह जिज्ञासा उठ सकती है कि इस युग में साधुमार्गी उपनाम-स्थानकवासी आदि वस्त्रधारी मुनियों को स्थविर कल्प में समझा जाय और वस्त्र रहित नग्न मुनियों को जिन कल्प में माना जाय तो क्या हरकत है ?

समाधान—जिनकल्प की जो विधि प्रतिपादित की गई है, वह आज के साधु जीवन में घटित नहीं होती । वर्तमान में जितने भी साधक है वे सभी अपवर्त्तनीय आयुष वाले हैं । वज्र ऋषभनाराच संहनन की स्थिति में नहीं है । न ही पूर्वों के ज्ञान सम्पन्न कोई महात्मा ही है । इनके अभाव में जिनकल्प कैसे स्वीकार किया जा सकता है ? जिन कल्प का विच्छेद भी जम्बूस्वामी के मोक्ष पधारने के पश्चात् दस बोलों के अन्तर्गत हो गया था ।

दूसरी बात यह है कि जिनकल्प की साधना करने वाला साधक कम से कम सामुच्चिद मुखवस्त्रिका रजोहरण को रखने के साथ ही कई अधोवस्त्र भी रखते थे । अतः वह जिन कल्प तो जम्बूस्वामी के मोक्ष पधारने के बाद विच्छिन्न हो गया ।

एक बात और यह है कि इस विधि को अपनाने वाले साधकों को जिनकल्पी कहा जाता था दिगम्बर नहीं ।

दिगम्बर शब्द के नाम से जिस परम्परा का प्रचलन हुआ है वह परम्परा प्रभु महावीर के मोक्ष पधारने के ६०९ (छः सौ नौ) वर्ष के बाद प्रारम्भ हुई थी ।

8. मार्गान्तर—

परम्परा से चली आने वाली समाचारी पद्धति को मार्ग कहते हैं । किसी की समाचारी में संवत्सरी के दिन २० लोगस्स के ध्यान का विधान तो किसी की समाचारी में ४० लोगस्स के ध्यान का कथन किया गया है । इसी प्रकार ४ लोगस्स, ८ एवं १२ लोगस्स के ध्यान में तथा संवत्सरी और प्रतिक्रमण में भी भिन्न-भिन्न समाचारी, कोई दो प्रतिक्रमण करता तो कोई एक । कोई संवत्सरी किसी मास तिथि में मानते हैं तो कोई किस मास तिथि में । इनमें यथार्थ क्या है ? इस प्रकार शंका उपस्थित हो जाती है ।

समाधान—कौनसी समाचारी उपादेय है, इस विषय में कहा गया है कि—

असढेण समाइण्णं जं कत्थइ केणइ असावज्जं ।
न निवारियमन्नेहिं, बहुमणुमयमेयमायरियं ॥

सरलभाव से निष्कपट पुरुष ने जिसका आचरण किया हो तथा जिसका शास्त्र में कहीं निषेध न हो, हां जो असावद्य निष्पाप हो तथा "बहुमणुमयमायरियं" बहुजनों द्वारा अनुमत हो, उसे आचरित कहते हैं। २० लोगस्स, ४० लोगस्स के विषय में तथा चार, आठ और बारह लोगस्स के कायोत्सर्ग करने में जो विभिन्न पद्धतिया थी, प्रतिक्रमण एवं संवत्सरी के विषय में भी जो अलग-अलग परम्पराएँ प्रचलित थी, इन सबका समाधान संवत् १९९० के अजमेर नगर में आयोजित अखिल भारतवर्षीय स्थानकवासी बृहत् साधु सम्मेलन में उपस्थित मुनिवरों ने प्रेम एवं सौहार्दपूर्ण वातावरण में सर्वानुमति से प्रस्ताव पारित किया—वह निम्न है—

"साधु-साध्वियों एवं मुनि प्रतिक्रमण देवसी, रायसी, पक्खी, चौमासी अने संवत्सरीनुं एकज प्रतिक्रमण करवुं, बे नहीं। अने कायोत्सर्ग देवसी रायसी ना चार लोगस्स, पक्खीना आठ, चोमासीक ना बारह अने संवत्सरीना वीस लोगस्स आ प्रमाणे श्रावकों ने वर्त्तवा माटे पण आ सम्मेलन भलावण करे छे, आ ठराव सर्वानुमते पास करेल छे।"

रविवार, ता. २३-४-३३

उपर्युक्त प्रस्ताव सम्मेलन में उपस्थित सभी मुनिराजों ने सहर्ष स्वीकार किया था, उसी प्रकार उसका आचरण हुआ।

टीकाकार के द्वारा कौनसी समाचारी उपादेय है, इसके लिए जो गाथा दी गई, उस उपर्युक्त गाथा के अनुसार अजमेर सम्मेलन का सर्वानुमति से स्वीकृत प्रस्ताव ही उपादेय सिद्ध होता है, क्योंकि वह प्रस्ताव सरलता के साथ शास्त्र, ज्ञाता मुनिवरों ने शास्त्र से अविरुद्ध रूप में बनाया था, और वह सर्वसम्मति से अनुमत और आचरित भी हुआ। इस प्रकार का सर्वानुमति से स्वीकृत प्रस्ताव जीत व्यवहार की परिधि में आ जाता है। भगवान् ने जीत-व्यवहार को आगम सम्मत कहा है, अतः इस जीत व्यवहार के सर्वानुमत प्रस्ताव के अनुसार निर्णीत विषय के आचरण में मार्गान्तर का कोई प्रसंग नहीं आता।[१]

---

१ अजमेर सम्मेलन के बाद हुए घाणेराव सादड़ी (मारवाड़) सम्मेलन एवं भीनासर आदि सम्मेलनों में इस सर्वानुमत प्रस्ताव के विषय में परिवर्तन नहीं किया। इन सम्मेलनों में अन्यान्य विषयों की चर्चा के साथ स्थानकवासी एवं अन्य जैन समाज की एकता को लक्ष्य में रखते हुए संवत्सरी विषयक विचार विमर्श जरूर हुआ था, किन्तु अजमेर सम्मेलन में हुए सर्वानुमत पारित प्रस्ताव में परिवर्तन नहीं किया गया।

मतान्तर—

किसी एक विषय में आचार्यों की मत भिन्नता को देखकर शंका करना मतान्तर है। जैसे—श्री सिद्धसेन दिवाकर और जिनभद्रगणि क्षमा श्रमण दोनों उद्‌भट विद्वान हुए हैं। उन दोनों में सर्वज्ञ के युगपद् या क्रमिक उपयोग को लेकर मतभेद है। सिद्धसेन दिवाकर का मत है कि केवलज्ञान और केवलदर्शन का उपयोग सर्वज्ञ को एक ही समय में हो जाता है। जैसे—जिस समय सर्वज्ञ का उपयोग केवलज्ञान में है उस समय केवल दर्शनावरण कर्म का उदय है या क्षय ? उदय केवली में नहीं माना जा सकता, क्योंकि उन्होंने घनघाती कर्मों का सर्वथा क्षय कर दिया है। यदि केवल दर्शनावरण कर्म क्षय हो चुका है तब केवल दर्शन का उपयोग भी ज्ञानोपयोग के साथ क्यों न माना जाय ? यदि नहीं माने तो केवल दर्शनावरण को क्षपित करने से कोई फल नही मिलेगा। यह प्रक्रिया निरर्थक हो जाएगी।

इसके अतिरिक्त भी केवलज्ञान के समय यदि केवलदर्शन से नहीं देखते हैं तो असर्वदर्शित्व का दोष आता है तथा केवलदर्शन के समय केवलज्ञान से नहीं जानते हैं तो असर्वज्ञत्व की दोषापत्ति आएगी। अतः युगपद् उपयोग ही अभीष्ट है।

जिनभद्र गणि क्षमा श्रमण का मत है कि—दोनों भिन्न-भिन्न समय में होते हैं। जिस समय केवलज्ञान का उपयोग होता है, उस समय केवलदर्शन का नही और जिस समय केवलदर्शन का उपयोग होता है, उस समय केवलज्ञान का नहीं। ऐसा ही जीव का स्वभाव है। आत्मा को जब सामान्यज्ञान होता है तब विशेष का नहीं और जब विशेष का ज्ञान होता है तब सामान्य का नहीं। यथा—मतिज्ञानावरण और श्रुतज्ञानावरण कर्मों का क्षयोपशम एक साथ होने पर भी उपयोग तो क्रमशः ही होता है लेकिन ज्ञान के उपयोग के समय दूसरे ज्ञान का क्षयोपशम नहीं रहता है, ऐसी बात नही है। क्षयोपशम तो होता ही है, किन्तु उपयोग प्रवृति एक समय में एक ही होती है।

मतिज्ञानावरण और श्रुतज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम की स्थिति ६६ सागरोपम से कुछ अधिक बतलाई गई है। यदि एक के उपयोग के समय दूसरे का उपयोग निरर्थक माना जाय, तब ६६ सागरोपम पूर्ण नही हो सकेंगे। स्थिति भी कम माननी होगी।

ऐसे मतभेद को देखकर शिष्यगण शंका करें कि किसकी विचारणा सत्य है ? तब शंकित, कांक्षित, विचिकित्सित आदि होकर कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन करते हैं।

समाधान—किसी भी पक्ष का युक्ति से विधि निषेध न हो तो शास्त्र से मिलान करना चाहिये, उन दोनों में जो पक्ष शास्त्र सम्मत हो उसे स्वीकार करना चाहिए।

प्रज्ञापना सूत्र में कहा है कि केवली भगवान् जिस समय जानते हैं, उस समय देखते नहीं और जिस समय देखते हैं, उस समय जानते नहीं है। अतः स्पष्ट है—शास्त्रकार को केवलज्ञान, केवलदर्शन का क्रमिक उपयोग ही अभीष्ट है। जिनभद्रगणि क्षमा श्रमण की बात ही शास्त्रानुकूल है।

इसे समझने लिए एक रूपक लिया जा सकता है—

जैसे किसी हॉल में प्रवेश करने के लिए दो व्यक्तियों के हाथ में प्रवेश-पत्र है। दोनों ही अन्दर प्रवेश कर सकते हैं उनके लिए कोई रुकावट नहीं है किन्तु हॉल में जाने का द्वार बहुत संकुचित है जिसमें एक साथ दो व्यक्ति प्रवेश नहीं कर सकते। एक-एक करके ही उसमें प्रवेश किया जा सकता है। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि जो व्यक्ति बाद में प्रवेश कर रहा है उसके पास प्रवेश-पत्र नहीं है या उसके लिए कोई रुकावट है। ऐसा कोई प्रसंग नहीं है—परन्तु प्रवेश द्वार ही इतना संकुचित है कि दो जनों का एक साथ प्रवेश नही हो सकता!

इसी प्रकार केवलज्ञानावरण और केवलदर्शनावरण कर्म का क्षय तो युगपद् हो चुका है। केवलज्ञान और केवलदर्शन का प्रवेश-पत्र भी प्राप्त हो गया है किन्तु आत्मा की उपयोग प्रवृत्ति एक समय में एक ही होती है। ऐसी स्थिति में या तो ज्ञान का प्रवेश हो सकता है या दर्शन का। दोनों का एक साथ आत्मा का उपयोग रूप प्रवेश नही होता है। यह एकदेशीय रूपक है। इसका तात्पर्य यह नहीं होता कि जिस समय ज्ञान का उपयोग है उस समय दर्शनावरण कर्म का क्षय नही हुआ है या उसके लिए कोई रुकावट नहीं है। लेकिन जीव की प्रवृत्ति ही ऐसी होती है कि एक समय में एक ही उपयोग होता है। अतः सर्वज्ञों का उपयोग भी क्रमशः होता है।

केवलज्ञानावरणीय तथा केवलदर्शनावरणीय कर्म के युगपद् क्षय से उत्पन्न केवलज्ञान एवं केवलदर्शन की क्रमशः उपयोग प्रवृत्ति निम्न दृष्टिकोण से भी सुस्पष्ट हो जाती है।

केवल ज्ञानावरणीय एवं केवल दर्शनावरणीय कर्म का क्षय युगपद् होने से केवलज्ञान तथा केवल-दर्शन एक साथ प्रकट होते है। ज्ञान एवं दर्शन के परिपूर्ण प्रकट होने के बाद तदावरणीय कर्मों के आवरण का कोई प्रश्न ही नही रहता। दोनों शक्तियां परिपूर्ण रूप से प्रकट हो जाती हैं। किन्तु इनका प्रयोगात्मक रूप किस प्रकार होना चाहिये? इसका स्पष्टिकरण यह है कि उपयोग रूप शक्ति, वीर्य शक्ति के अन्तर्गत है। इस शक्ति का प्रादुर्भाव अन्तराय कर्म के सर्वथा क्षय से होता है। उस कर्म के क्षय से लब्धि एवं उपयोग रूप उभय शक्तियां प्रकट होती है। लब्धि से तात्पर्य प्राप्त शक्ति विशेष से है। उपयोग का तात्पर्य प्रवृत्ति है। लब्धि रूप से तो अनन्त शक्तियां आत्मा में प्रकट हो सकती है किन्तु उपयोग रूप प्रवृत्यात्मक शक्ति वीर्यान्तराय कर्म के क्षय का परिणाम होने से एक ही है।

आत्मा की अनन्त शक्तियों का प्रकटीकरण अपने-अपने आवरणीय कर्मों के क्षय का परिणाम है, किन्तु उन सभी शक्तियों का प्रयोग युगपद् करना या क्रमशः, यह उपयोग रूप शक्ति पर निर्भर है, और उपयोग रूप शक्ति एक ही है। उस उपयोग रूप शक्ति को आत्मा को प्राप्त अनन्त शक्तियों में से चाहे केवलज्ञान के साथ संयुक्त किया जाय या केवलदर्शन के साथ किन्तु शक्ति का उपयोगात्मक रूप एक समय में एक ही होगा। इससे यह फलितार्थ नही निकलता कि अन्य शक्तियों का आवरण क्षय

नहीं हुआ है अथवा उनमें कोई न्यूनता रह गई, यह प्रश्न तो तब उपस्थित होता जब अनेक उपयोग शक्तियों के होने पर भी प्रयोग एक का ही होता। किन्तु उपयोग शक्ति वीर्यान्तराय कर्म के क्षय से एक ही है, अतः उसका प्रयोग भी एक समय में एक ही होगा। ऐसी स्थिति में युगपद् उपयोग का प्रश्न ही नहीं रहता और मतान्तर की स्थिति भी नहीं रहती है।

जिस विषय पर शास्त्र के अन्दर कोई स्पष्ट विधान न हो और आचार्यों में भी मत भिन्नता हो ऐसा विषय समझ में न आने पर यह सोचना चाहिए कि जिनेश्वर देव तो सत्य ही प्ररूपित करते हैं। मतभेद छद्मस्थता के विभिन्न दृष्टिकोण से है। "तमेव सच्चं णीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं" वही सत्य और निश्शंक है जो जिनेश्वरों द्वारा प्रवेदित है, क्योंकि अपकारी पर भी उपकार करने वाले राग-द्वेषादि मोह के विजेता जिनेन्द्र भगवान् अन्यथा वचन नहीं बोलते—'नान्यथावादिनो जिनाः।'[1]

9. भंगान्तर—

वस्तु का विविध प्रकार से प्रतिपादन करने की प्रणाली को भंग कहते हैं। जैसे—हिंसा के सम्बन्ध में चार भंग बतलाये हैं—

(१) द्रव्य से हिंसा, भाव से नहीं।

(२) भाव से हिंसा, द्रव्य से नहीं।

(३) द्रव्य से भी हिंसा नहीं और भाव से भी हिंसा नहीं।

(४) द्रव्य से भी हिंसा और भाव से भी हिंसा।

इस पर यहां शंका उठती है कि हिंसा सम्बन्धित चार भंगों में से पहले भंग में हिंसा का लक्षण घटित नहीं होता। यथा मुनि ईर्या समिति के उपयोग पूर्वक चलते हैं, फिर भी उनके पैरों से किसी जीव-जन्तु (कीड़े-मकोड़े) का हनन हो जाय तो वह हिंसा मुनि को नहीं लगती, क्योंकि उनकी भावना उसे मारने की नहीं अतः यह भावरहित द्रव्य हिंसा हिंसा की कोटि में नहीं आती, क्योंकि हिंसा का लक्षण इस प्रकार बतलाया है—

जो उ पमत्तो पुरिसो, तस्स य जोगं पडुच्च जे सत्ता।
वावज्जंति नियमा, तेसिं सो हिंसओ होइ॥

जो पुरुष प्रमत्त है, अहंकार, विषय, कषायादि के वशवर्ती है, उसके योग से जो हिंसा होती है, उसे हिंसा समझना चाहिये। वाचक उमास्वाति ने भी यही बतलाया है—

---

१ अणुवकयपराणुग्गह-परायणा जं जिणा जुगप्पवरा।
जियरागदोसमोहा य णण्णहा वाइणो तेणं॥

'प्रमत्त योगाद् प्राण व्यपरोपणं हिंसा।' अर्थात् प्रमत्त योग से प्राणों का व्यपरोपण हिंसा है। अतः हिंसा का प्रथम भंग यथोचित नहीं है वह हिंसा की कोटि में नहीं आता फिर उसे शास्त्रों में हिंसा में कैसे लिया है ?

समाधान—शास्त्र में जो हिंसा का लक्षण बतलाया गया है वह द्रव्य और भाव दोनों का है, किसी एक का नहीं। प्रत्यक्ष दिखती हिंसा को ही हिंसा न समझा जाय। केवल प्राणों का हनन ही हिंसा नहीं है, किन्तु प्रमादवश प्राणों का व्यपरोपण हिंसा है। यह लक्षण केवल द्रव्य हिंसा में ही घटित नहीं होता। दोनों प्रकार की हिंसा में घटित होता है। द्रव्य हिंसा का लक्षण मात्र जीव का व्यपरोपण ही है। अतः प्रथम भंग में शंका का अवकाश नहीं है।

द्वितीय भंग में द्रव्य से तो नहीं भाव से हिंसा का विधान है जैसे-तंदुल मत्स्य जो मछलियों को खाने का विचार करता है उसमें द्रव्य हिंसा तो नहीं है, किन्तु भाव हिंसा तो होती ही है।

तीसरे और चौथे भंग का अर्थ तो सुविज्ञेय है।

10. नयान्तर—

किसी भी विषय के सापेक्ष निरूपण को नय कहते हैं। श्रुत प्रमाण द्वारा गृहीत विषय के किसी एक अंश का विचार करने वाला तथा अन्य अंशों के प्रति उपेक्षा रखने वाला-अभिप्राय विशेष नय कहलाता है।*

नय सात हैं—नैगम[1], संग्रह[2], व्यवहार[3], ऋजुसूत्र[4], शब्द[5], समभिरूढ़[6] एवं भूत[7]। संक्षिप्त में दो भेद है—द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय

---

* नीयते येन श्रुताख्य प्रमाण विषयीकृतस्यार्थस्यांशस्तदितरांशौदासीन्यतः स प्रतिपत्तुरभिप्रायविशेषो नयः। (प्रमाणनय तत्वालोक सप्तम परिच्छेद)

१. नैगमनय—धर्म और धर्मी के प्रधान—गौण भाव से कथन करने को नैगमनय कहते हैं।

२. संग्रहनय—जो विचार भिन्न-भिन्न वस्तु या व्यक्तियों में रहे हुए किसी एक सामान्यतत्व के आधार पर सभी में एकता बतावे, उसे संग्रहनय कहते हैं।

३. व्यवहारनय—जो विचार संग्रहनय के अनुसार एक रूप में ग्रहण की गई वस्तुओं के व्यवहारिक प्रयोजन के लिये भेद डाले उसे व्यवहारनय कहते हैं।

मुख्यतया इन तीनों नयों की दृष्टि सामान्य होने से ये द्रव्यार्थिक नय की कोटि में आते हैं।

४. ऋजुसूत्रनय—जो विचार भूत-भविष्यकाल की उपेक्षा करके वर्तमान पर्याय मात्र को ग्रहण करे, उसे ऋजुसूत्र कहते हैं।

५. शब्दनय—जो विचार शब्द प्रधान हो, लिंग कारक आदि शाब्दिक धर्मों के भेद से अर्थ में भेद माने, उसे शब्दनय कहते हैं।

६. समभिरूढ़नय—जो विचार शब्द के रूढ़ अर्थ पर निर्भर न रहकर व्युत्पत्ति के अनुसार समान अर्थ वाले शब्दों में भी भेद माने उसे समभिरूढ़नय कहते हैं।

७. एवं भूतनय—जो विचार शब्दार्थ के अनुसार क्रिया होने पर ही उस वस्तु को तद्रूप स्वीकार करता है, उसे एवं भूतनय कहते हैं।

इन अन्तिम चार नयों को विशेष ग्राही होने के कारण पर्यायार्थिक नय की श्रेणी में लिया है।

जो वस्तु द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा नित्य है वही वस्तु पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा अनित्य है। एक ही वस्तु में परस्पर विरोधी नित्यानित्यता का समावेश कैसे किया जा सकता है ?

समाधान—एक ही वस्तु में नित्यता और अनित्यता भिन्न-भिन्न अपेक्षा से घटित होती है। द्रव्य की अपेक्षा वस्तु नित्य है, क्योंकि सत् रूप वस्तु, असत् में कभी भी परिणमित नहीं होती। पर्याय की अपेक्षा से अनित्य है क्योंकि वस्तु की वर्णादिक पर्यायों में परिवर्तन होता रहता है। अपेक्षा भेद से एक ही वस्तु में एक समय में विरुद्ध धर्मों का समावेश हो सकता है। जैसे—एक व्यक्ति अपने पुत्र की अपेक्षा पिता, पौत्र की अपेक्षा दादा, भानेज की अपेक्षा मामा, दौहित्र की अपेक्षा नाना एवं अपने पिता की अपेक्षा पुत्र हो सकता है।

नियमान्तर—नियम से तात्पर्य अभिग्रह से है। जब एक नियम अंगीकार कर लिया, तब दूसरे नियम अंगीकार करने की क्या आवश्यकता है ? जब साधुपन ही ले लिया, तब पोरसी-दो पोरसी उपवास आदि और नियम लेने की क्या आवश्यकता है ?

समाधान—नवकारसी, पौरुषी आदि का जो साधक प्रत्याख्यान करता है, वह तप की श्रेणी में है। साधक ने पांच महाव्रत आदि जो व्रत अंगीकार किये हैं, उन व्रतों से जीवन पर्यन्त संयम का प्रतिपक्षी आस्रव रुक जाता है, तथा उसके विधि रूप आचरण से कर्मों की निर्जरा के साथ-साथ आत्मा का स्वाभाविक स्वरूप की तरफ गमन होता है। परन्तु साधक पूर्व संचित कर्मों का अधिक क्षय करने हेतु विविध प्रकार तप अंगीकार करता है, और वह तप उत्तरगुण में समाविष्ट है। अतः उत्तरगुण के परिपालनार्थ नवकारसी आदि तप पूर्व कर्मों के संक्षय के लिये तथा उत्तरगुण की आराधना के रूप में होने से साधक के लिये यथाशक्ति आचरणीय है। उत्तरगुण भी मूल गुणों के अन्तर्गत ही है। अतः महाव्रत के अतिरिक्त साधक के द्वारा तप विशेष को अंगीकार करने में कोई शंका नहीं रहती।

प्रमाणान्तर—

सम्यक् प्रकार से स्व-पर का निर्णय करने वाला ज्ञान प्रमाण है।[1] शास्त्रों में प्रत्यक्ष अनुमान, आगम और उपमान इन चार प्रमाणों का विधान किया है। यहां शंका यह उठ सकती है कि- प्रत्यक्ष भी प्रमाण है और आगम भी, परन्तु दोनों में विरोध भी प्रतीत होता है। यथा—आगम प्रमाणानुसार सूर्य समतल भूमि से आठ सौ योजन ऊपर परिभ्रमण करता है जबकि प्रत्यक्ष प्रमाणानुसार सूर्य प्रातः भूतल में से निकलता हुआ दिखलाई देता है, तब फिर किसे प्रमाण माना जाय ?

समाधान—चाक्षुष प्रत्यक्ष की सत्यता को परिपूर्ण सत्य नहीं कहा जा सकता। उस सत्य में भ्रम भी हो सकता है। पीलिया का रोगी सफेद वस्तु को पीली भी देख लेता है। दूरस्थ वस्तु हमारी दृष्टि

---

१ स्व-पर व्यवसायि ज्ञानं प्रमाणम्।

से बहुत लघु दिखलाई देती है जबकि वह वृहदाकार होती है। यह एक भ्रम है। उसी प्रकार सूर्य पर्वत से या भूतल से निकलना भी एक भ्रम ही है। यथार्थ में सूर्य तो ऊपरी आकाश पर ही सुमेरु पर्वत के चारों तरफ चक्कर लगा रहा है, अतः जिस ज्ञान में प्रत्यक्ष का लक्षण घटित हो, वही प्रत्यक्ष प्रमाण है। जो प्रत्यक्ष भ्रान्त है, वह प्रत्यक्ष नही, अपितु प्रत्यक्षाभास है।

इन सब कारणों से श्रमण-निर्ग्रन्थ कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन करते हैं।

मूलपाठ में कांक्षामोहनीय का उल्लेख है न कि मिथ्यात्व-मोहनीय का और न ही कांक्षा-मोहनीय को मूलपाठ में मिथ्यात्व-मोहनीय ही बतलाया है। सामान्य रूप से कांक्षामोहनीय में समग्र-मोहनीय का समावेश हो जाता है, किन्तु कांक्षामोहनीय को मिथ्यात्व मोहनीय ही मानने वाले व्याख्या-कारों के समक्ष जब यह शंका उपस्थित हुई कि श्रमण निर्ग्रन्थ कांक्षामोहनीय का वेदन कैसे करते हैं क्योंकि वे तो सम्यक्त्वी हैं ?

उपर्युक्त शंका का समाधान करने के लिये अन्य व्याख्याकारों ने मिथ्यात्व-मोहनीय का विशेषण लगाकर सम्यक्त्व मोहनीय के उदय को सन्मुख रखकर विवेचना की है, किन्तु यह उत्तर कदाचित् समझा भी जाय तो वह क्षायोपशमिक सम्यक्त्व से सम्बन्धित रहता है।

सम्यक्त्व के मुख्य रूप से तीन भेद माने गए हैं, उनमें क्षयोपशम के अतिरिक्त उपशम एवं क्षायिक सम्यक्त्वी भी साधक हो सकते हैं। उन साधकों के मन में भी कांक्षामोहनीय के वेदन की स्थिति आती है उनका समाधान उपर्युक्त तरीके से घटित नहीं होता, क्योंकि इन साधकों में मिथ्यात्व मोहनीय की स्थिति तो नही रहती। अतः कांक्षामोहनीय से मिथ्यात्व मोहनीय का नाम लेकर की गई शंका का समाधान उपशम सम्यक्त्वी और क्षायिक सम्यक्त्वी साधक में घटित नहीं हो सकता।

अतः स्पष्ट है कि साधु जीवन में ज्ञानान्तर आदि जो उठने वाली शंकाएँ है वे मिथ्यात्व मोह-कर्म का ही परिणाम है यह नही समझना चाहिए। ये शंकाएं जिज्ञासा वृत्ति से भी उठ सकती है। अतः इन शंकाओं को देखकर सामान्य कांक्षामोहनीय के साथ मूल में विशेषण नहीं होते हुए भी मिथ्यात्व मोहनीय का विशेषण लगाना योग्य प्रतीत नही होता, साथ ही क्या चारित्र मोहकर्म के उदय से किसी प्रकार की कांक्षा उत्पन्न नहीं हो सकती जिससे कि मिथ्यात्व मोह आदि का ही विशेषण लगाना पड़े। जहां गौतम स्वामी जब प्रभु महावीर के समक्ष जिज्ञासाएँ प्रस्तुत करते थे उन जिज्ञासाओं को शंका एवं संशय रूप से भी पुकारा गया है तब क्या गौतम स्वामी के भी मिथ्यात्व मोहनीय का वेदन था ? जो कि चार ज्ञान चौदह-पूर्व के धारक थे। शंका कांक्षा आदि शब्द मात्र मिथ्यात्व मोहनीय के वेदन से ही हो, यह आवश्यक नहीं है।

विशेष जिज्ञासा की दृष्टि से भी इसका प्रयोग किया जा सकता है, अतः 'साधु महापुरुषों से सम्बन्धित ज्ञानान्तर आदि जो शंकाएँ प्रस्तुत की गई है, उसमें जिज्ञासावृत्ति की प्रधानता समझनी चाहिए।

किसी विषय में शंका होने पर कोई योग्य समाधानकर्ता का संयोग न मिले तो ऐसी परिस्थिति में क्या करना चाहिये ? क्या भगवान् के वचनों को ही 'तहमेयं' रूप में स्वीकार कर लेना चाहिये ? गौतम स्वामी के द्वारा ऐसा प्रश्न करने पर भगवान् ने फरमाया कि हाँ गौतम ! वह बात सत्य, निश्शंक है जो जिनेश्वरों द्वारा प्रतिपादित है। ऐसा विश्वास रखने पर शंकादि दोष से साधक बच जाता है। वह कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन नहीं करता।

इस प्रकार साधक कांक्षामोहनीय कर्म वेदन से बचकर मुक्ति के लक्ष्य की ओर प्रयाण कर जाता है।

तृतीय उद्देशक समाप्त

चतुर्थ-उद्देशक

प्राथम्निक

कर्मों के भेद—

तृतीय उद्देशक में कर्म की उदीरणा एवं वेदन सम्बन्धी विषयों पर विचार किया गया। उन कर्मों के उदीरण और वेदन सम्बन्धी पूर्ण ज्ञान जीव को कब सम्भव होगा जब कर्मों के स्वरूप एवं भेद, प्रभेदों को समझा जायगा। कर्मों के मुख्यतः आठ विभाग (भेद) होते हैं। यथा—१. ज्ञानावरणीय कर्म, २. दर्शनावरणीय कर्म, ३. वेदनीय कर्म, ४. मोहनीय कर्म, ५. आयु कर्म, ६. नाम कर्म, ७. गौत्र कर्म एवं ८. अन्तराय कर्म।

इन आठ भेदों के प्रभेद और हैं—ज्ञानावरणीय के पांच भेद, दर्शनावरणीय के नौ, वेदनीय के दो, मोहनीय के अट्ठाईस, आयु के चार, नाम के एक सौ तीन, गौत्र के दो और अन्तराय के पांच भेद होते हैं।

इन सबको मिलाने पर कर्म के १५८ भेद होते है। जिन्हें १५८ कर्म प्रवृतियों के नाम से कहा जाता है।

ये भेद भी स्थूल रूप से किये गए हैं। जीव के परिणामों की तरतमता के भेद से कर्म के असंख्य भेद भी हो सकते हैं।

ऐसे कर्मों का जीव के साथ किस प्रकार बंधन होता है, जिससे आत्मा का निरञ्जन, निराकार, निरामय मौलिक स्वरूप मलिन बन जाता है। इसी का बोध कराने के लिए प्रस्तुत चतुर्थ उद्देशक में कर्मों के भेद आदि का विवेचन किया गया है—

चउत्थो उद्देसओ : पगई | चतुर्थ उद्देशक : (कर्म) प्रकृति

50. कर्म प्रकृति सम्बन्धी निर्देश—

उत्थानिका:—

शतक के प्रारम्भ में दी गई संग्रहणी गाथा के चतुर्थ उद्देशक का उपक्रम 'पगइ' प्रकृति से किया गया है। तदनुसार चतुर्थ उद्देशक का प्रारम्भ कर्म-प्रकृति से किया जा रहा है—

सूत्र 50 [१]कति णं भंते ! [२]कम्मपगडीओ पण्णत्ताओ ?

[३]गोयमा ! अट्ठ [४]कम्मपगडीओ पण्णत्ताओ। [५]कम्मपगडीए पढमो उद्देसो [६]नेयव्वो [A]जाव अणुभागो [७]सम्मत्तो।

[८]गाहा—
[९]कइ [१०]पयडी ? [११]कह [१२]बंधइ ?
[१३]कईहिं [१४]व ठाणेहिं [१५]बंधइ [१६]पयडी ?
[१७]कइ [१८]वेदेइ [१९]य पयडी ?
अणुभागो [२०]कइविहो कस्स ?

सूत्र 50 भगवन् ! कर्म प्रकृतियां कितनी कही गई हैं ?

गौतम ! आठ कर्म प्रकृतियां कही गई हैं। यहां प्रज्ञापना सूत्र के कर्म प्रकृति नामक तेइसवें पद का प्रथम उद्देशक जानना चाहिये। जो कि यावत् अनुभाग की समाप्ति तक जानना चाहिये।

गाथा—कितनी कर्म प्रकृतियां होती हैं ? जीव किस प्रकार से बंधन करता है ? कितने स्थानों से कर्म प्रकृतियों को बांधता है ? किस प्रकार कर्म प्रकृतियों का वेदन करता है ? किस प्रकृति का कितने प्रकार का अनुभाग रस है ?

पाठान्तर—

सूत्र ५०—१. कइ णं - धा० ॥ २-४-५. कम्मप्पग° - पु० पा० म० ॥ ३. गौतमा - वे० म० ॥ ६. नेयव्वो - वे० म० ॥ ७. समत्तो - धा० न० ॥ ८. गाथा - वे० ॥ ९. कति - अमो० न० वे० म० ॥ १०. पगडी - अमो० न० वे० म० ॥ ११. कहि - अमो० स० । किह - अ० क० ता० व० जै० ला० १-२-३ ॥ १२. बंधति - म० ॥ १३. कइहिं पु० । कतिहि - अमो० न० वे० म० ॥ १४. य अरिय - अमो० ला० । य - धा० ॥ १५. बंधई - पु० पा० । बंधइ - अमो० । बंधति - न० वे० म० । बंधए जीवो - प्रज्ञा० ॥ १६. पगडी - अमो० न० वे० म० ॥ १७. कति - न० वे० म० ॥ १८. वेदेति - न० वे० म० ॥ १९. य पगडी - अमो० । य पगडी - न० वे० म० ॥ २०. कतिविहो - अमो० न० वे० म० ॥

जावपूर्ति—
A. पन्न० २३/१ Appendix 'B'

विवेचन पूर्व में कर्म की उदीरणा एवं वेदन संबन्धी विचार किया गया। जीव के साथ कर्म वर्गणाओं का बंध होकर कर्म रूपता प्राप्त हो जाती है, तभी उदीरणा, वेदन आदि का होना संभव है। इसीलिये प्रस्तुत सूत्र में -

१. कितनी कर्म प्रकृतियां है ? २ जीव किस प्रकार बंध करता है ? ३. कितने स्थानों से कर्म प्रकृतियों को बांधता है ? ४. कितनी प्रकृतियों को वेदता है ? ५. किस प्रकृति का कितने प्रकार का अनुभाग है ?

गौतम स्वामी के इन पांच प्रश्नो का समाधान करने के लिये प्रज्ञापना सूत्रगत कर्मप्रकृति नामक तेईसवें पद के प्रथम उद्देशक का निर्देश किया है। जिसका संक्षिप्त सारांश इस प्रकार है —

कइ पयडी कर्म प्रकृतियां कितनी है ?

कर्म प्रकृतियां आठ है – ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र, अंतराय।'

२. कह बंधई – जीव, कर्म प्रकृतियों को किस प्रकार बांधता है ?

कषाय युक्त जीव कर्म को बांधता है। उसमे रागद्वेषात्मक वैभाविक शक्ति है और कार्मण वर्गणा के पुद्गलों में कर्म रूप परिणत होने की योग्यता है। अतएव वैभाविक शक्ति सम्पन्न जीव के योगपरिस्पन्दन से कामण-वर्गणा के पुद्गल आत्म प्रदेशों मे एक मेकरूप से संश्लिष्ट हो जाते हैं, उसी को बंध कहते हैं। यह बंध संसारी जीव को अनादि काल से हो रहा है। यह अनादिकालीनता कर्म प्रवाह की अपेक्षा समझना चाहिये, किन्तु प्रतिसमय बद्ध कोई भी कर्म न तो अनादिकालीन है और न अनंत काल तक रह सकता है। यह कर्म बंध की सामान्य प्रक्रिया है इसको इस प्रकार समझना चाहिए–

---

१. ये आठों प्रकृतिया नैरयिकों से लेकर वैमानिक देवो पर्यन्त सभी संसारी जीवों के बंध योग्य हैं।

प्रस्तुत प्रकरण में प्रज्ञापना पद २३ की भलामण देते हुए जो बताया गया है कि ज्ञानवरण के उदय (विपाकानुभव) के समय दर्शनावरण का उदय हो जाता है यानि दर्शनावरण का भी वेदन करने लगता है और दर्शनावरण के उदय से दर्शन मोहनीय कर्म को प्राप्त हो जाता है और दर्शन-मोहनीय के उदय से मिथ्यात्व का उदय भी हो जाता है। मिथ्यात्व के उदय से जीव आठों कर्मो का बंध करने लगता है। इससे यह सहज ही जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि ज्ञानावरण का उदय तो केवल ज्ञान प्राप्ति के पूर्व तक बना ही रहता है अतः उसके उदय से दर्शनावरण, दर्शन मोह एवं मिथ्यात्व का उदय कैसे समझना ? इसका समाधान यह है कि यह सूत्र अर्थ गांभीर्य वाला है। इसका गूढ अर्थ यह है कि मिथ्यात्व दशा में आठों कर्मों का बंध होता ही है और सम्यक्त्व में आठ कर्मो का बंध होता भी है और नही भी।

मिथ्यात्व के क्षय, उपशम या क्षयोपशम से जीव को सम्यक्त्व प्राप्त होती है किन्तु कई जीव पुनः मिथ्यात्व को प्राप्त हो जाते हैं। वे मिथ्यात्व मे क्यों चले जाते हैं ? उसका समाधान प्रस्तुत सूत्र से होता है।

कई जीव, जिन्होंने मिथ्यात्व दशा में उत्कृष्ट ज्ञानावरण का अनुभाग बन्ध किया, उसी अनुपात से दर्शनावरण का भी बंध किया। ऐसे जीवों के जब वह ज्ञानावरण कर्म उदय में आता है तब उसके उदय मे, दर्शनावरण का भी निश्चित रूप से वेदन होने लगता है। जिससे जीव की ज्ञान शक्ति कुंठित हो जाती है। बुद्धि मलिन हो जाती है। वह तत्त्व अतत्त्व का निर्णय करने में अक्षम हो जाता है। उस डोलायमानअवस्था से दर्शन मोह का वेदन करता हुआ जीव मिथ्यात्व को प्राप्त हो जाता है और मिथ्यात्व के उदय हो जाने पर उस दशा में जीव आठों ही कर्मों का बंध करने वाला हो जाता है -

३ कईहिं व ठाणेहिं बंधइ पयडी ? कितने स्थानों से कर्म बंध करता है ? इसके उत्तर में कहा है कि राग और द्वेष इन दो स्थानों से ज्ञानावरणीय आदि कर्मों का जीव बंध करता है।

४ कइ वेदेइ य पयडी – जीव कितनी प्रकृतियों का वेदन करता है ?

उत्तर – कोई वेदता है और कोई नहीं वेदता है। केवली भगवान् कर्म क्षय कर चुकने से वेदन नहीं करते हैं।

५ कई विहो अणुभागो – प्रत्येक प्रकृति का कितने प्रकार का अनुभाग (रस) है ?
प्रत्येक प्रकृति की अपेक्षा अनुभाग (रस) का वर्णन इस प्रकार समझना चाहिए।

१ ज्ञानावरणीय कर्म का अनुभाग (रस) दस प्रकार का है – १ श्रोत्रेन्द्रियावरण २ श्रोत्रेन्द्रियविज्ञानावरण ३ नेत्रेन्द्रियावरण ४ नेत्रेन्द्रियविज्ञानावरण ५ घ्राणेन्द्रियावरण ६ घ्राणेन्द्रियविज्ञानावरण ७ रसनेन्द्रियावरण ८ रसनेन्द्रियविज्ञानावरण ९ स्पर्शेन्द्रियावरण १० स्पर्शेन्द्रियविज्ञानावरण। इनमें श्रोत्रेन्द्रियावरण आदि पांच द्रव्येन्द्रियों के आवरण और श्रोत्रेन्द्रियविज्ञानावरण आदि पांच भावेन्द्रियों के आवरण जानना चाहिये।

२ दर्शनावरण कर्म का अनुभाग (रस) नौ प्रकार का है – १ निद्रा २ निद्रा निद्रा ३ प्रचला ४ प्रचला प्रचला ५ स्त्यानर्द्धि ६ चक्षुदर्शनावरण ७ अचक्षुदर्शनावरण ८ अवधिदर्शनावरण ९ केवलदर्शनावरण।

३ (अ) सातावेदनीय कर्म का अनुभाग आठ प्रकार का है – १-५ मनोज्ञ शब्द-रूप-गंध-रस-स्पर्श (पांचों श्रोत्रादि इन्द्रियों के अपने-अपने विषय) ६ मन सम्बन्धी सुख ७ वचन सम्बन्धी सुख ८ शारीरिक सुख।

(आ) असातावेदनीय सम्बन्धी अनुभाग भी आठ प्रकार का है जो सातावेदनीय के अनुभाग से विपरीत जानना चाहिए। यथा अमनोज्ञ शब्द आदि। मोहनीय कर्म का अनुभाग पांच प्रकार का है :- १ सम्यक्त्व वेदनीय २ मिथ्यात्व वेदनीय ३ सम्यग् मिथ्यात्व वेदनीय ४ कषाय वेदनीय ५ नोकषाय वेदनीय।

५ आयु कर्म का अनुभाग चार प्रकार का है – १ नरकायु २ तिर्यंचायु ३ मनुष्यायु ४ देवायु।

६ (अ) शुभ नाम कर्म का अनुभाग १४ प्रकार का है – १ इष्ट शब्द २ इष्ट रूप ३ इष्ट गंध ४ इष्ट रस ५ इष्ट स्पर्श ६ इष्ट गति ७ इष्ट स्थिति ८ इष्ट लावण्य ९ इष्ट यशःकीर्ति १० इष्ट बलवीर्य और पुरुषाकार पराक्रम ११ इष्ट स्वर १२ कान्त स्वर १३ प्रिय स्वर १४ मनोज्ञ स्वर।

(आ) अशुभ नाम कर्म का अनुभाग भी १४ प्रकार का है। जो शुभनाम कर्म के भाग से विपरीत है। जैसे अनिष्ट शब्द अनिष्ट रूप यावत् अमनोज्ञ स्वर।

७ (अ) उच्च गोत्र कर्म का अनुभाग आठ प्रकार का है–१ जाति विशिष्टता २ कुल विशिष्टता ३ बल विशिष्टता ४ रूप विशिष्टता ५ तप विशिष्टता ६ श्रुत विशिष्टता ७ लाभ विशिष्टता ८ ऐश्वर्य विशिष्टता।

(आ) नीच गोत्र का अनुभाग भी आठ प्रकार का है। यह उच्च गोत्र के अनुभाग से विपरीत लक्षण वाला है, जैसे – जाति हीनत्व, कुल हीनत्व यावत् ऐश्वर्य हीनत्व।

८ अन्तराय कर्म का अनुभाग पांच प्रकार का है – [१] दानान्तराय [२] लाभान्तराय [३] भोगान्तराय [४] उपभोगान्तराय [५] वीर्यान्तराय।

इस प्रकार से प्रज्ञापना सूत्र के कर्म प्रकृति पद के प्रथम उद्देशक के अनुसार कर्म प्रकृति सम्बन्धी वर्णन का सारांश जानना चाहिए।

[illegible]

5. उदीर्ण-उपशांतमोह जीव के संबंध में उपस्थान-उपक्रमणादि चर्चा—

उत्थानिका—

पूर्व सूत्र में कर्म के विषय में सामान्य रूप से विचार किया गया था। उन कर्मों का मूल मोहनीय कर्म है। अतः प्रस्तुत सूत्र में मोहनीय कर्म के विषय में विचार किया जा रहा है—

सूत्र 51 (i) जीवे णं भंते ! [1]मोहणिज्जेणं कडेणं कम्मेणं [2]उदिण्णेणं [3]उवट्ठाएज्जा ?

[4]हंता [5]उवट्ठाएज्जा।

(ii) से भंते ! किं [6]वीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा ? अवीरियत्ताए [7]उवट्ठाएज्जा ?

[8]गोयमा ! वीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा णो अवीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा ?

(iii) [9]जइ वीरियत्ताए [10]उवट्ठाएज्जा किं बालवीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा ? [11]पंडियवीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा ? [12]बालपंडियवीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा ?

गोयमा ! बालवीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा, णो [13]पंडियवीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा, णो बालपंडियवीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा।

सूत्र 51 (i) भगवन् ! क्या जीवकृत मोहनीय कर्म उदय मे आया हो, तब जीव उपस्थान चतुर्गति परिभ्रमण रूप परलोक की क्रिया करता है ?

हां गौतम ! उपस्थान परलोक की क्रिया करता है।

(ii) भगवन् ! क्या वह जीव, वीर्य से उपस्थान करता है या अवीर्य से उपस्थान करता है ?

गौतम ! वीर्य से उपस्थान करता है, अवीर्य से उपस्थान नहीं करता है।

(iii) भगवन् ! यदि वीर्य से उपस्थान करता है तो क्या वालवीर्य से उपस्थान करता है, पंडित वीर्य से उपस्थान करता है या वाल पंडित वीर्य से उपस्थान करता है ?

गौतम ! वालवीर्य से उपस्थान करता है। पंडितवीर्य, वालपंडित वीर्य से उपस्थान नहीं करता है।

विवेचन :-

प्रस्तुत सूत्र में मोहनीय से तात्पर्य मिथ्यात्व मोहनीय से है। क्योंकि चतुर्गति भ्रमण रूप क्रिया करने वाला, आत्मा के वास्तविक स्वरूप से सर्वथा अनभिज्ञ होता है, वैसी अवस्था, मिथ्यात्व-मोहनीय

१. "मोहणिज्जेण ति मिथ्यात्वमोहनीयेन" - अवृ० ॥ २. "उइएणं उदितेन" - दुर्ग प० वि० पृ० २३ प्र० ॥ ३. °एज्ज - ला० २ ॥ ४. हंता गोयमा उव° - अमो० ॥ ५. °एज्ज - क० ला० ॥ ६. "वीर्ययोगाद् वीर्यः प्राणी तद्भावो वीर्यता अथवा वीर्यमेव स्वार्थिक प्रत्ययाद् वीर्यता वीर्याणां भावो वा वीर्यता तया - अवृ० ॥ ७-१० °एज्ज - ला० लों० । लों० पुस्तके सर्वत्र 'एज्ज' इति। "उपतिष्ठेत परलोकक्रियासु अभ्युपगमं कुर्यात्" - अवृ० ॥ ८. गोतमा - बे० म० ॥ ९. जदि - ला ३ ॥ ११. पंडित° - अमो० बे० म० ॥ १२. पंडित° - अमो० बे० म० ॥ १३-१४. पंडित° - बे० म० ॥

३ कइहि व ठाणेहि बंधइ पयडी ? कितने स्थानों से कर्म बंध करता है ? इसके उत्तर में कहा है कि राग और द्वेष इन दो स्थानों से ज्ञानावरणीय आदि कर्मों का जीव बंध करता है।

४ कइ वेदेइ य पयडी – जीव कितनी प्रकृतियों का वेदन करता है ?

उत्तर – कोई वेदता है और कोई नहीं वेदता है। केवली भगवान् कर्म क्षय कर चुकने से वेदन नहीं करते हैं।

५ कई विहो अणुभागो – प्रत्येक प्रकृति का कितने प्रकार का अनुभाग (रस) है ? प्रत्येक प्रकृति की अपेक्षा अनुभाग (रस) का वर्णन इस प्रकार समझना चाहिए।

१ ज्ञानावरणीय कर्म का अनुभाग (रस) दस प्रकार का है – १ श्रोत्रेन्द्रियावरण २ श्रोत्रेन्द्रिय-विज्ञानावरण ३ नेत्रेन्द्रियावरण ४ नेत्रेन्द्रियविज्ञानावरण ५ घ्राणेन्द्रियावरण ६ घ्राणेन्द्रियविज्ञानावरण ७ रसनेन्द्रियावरण ८ रसनेन्द्रियविज्ञानावरण ९ स्पर्शेन्द्रियावरण १० स्पर्शेन्द्रियविज्ञानावरण। इनमें श्रोत्रेन्द्रियावरण आदि पांच द्रव्येन्द्रियों के आवरण और श्रोत्रेन्द्रियविज्ञानावरण आदि पांच भावेन्द्रियों के आवरण जानना चाहिये।

२ दर्शनावरण कर्म का अनुभाग (रस) नौ प्रकार का है – १ निद्रा २ निद्रा निद्रा ३ प्रचला ४ प्रचला प्रचला ५ स्त्यानर्द्धि ६ चक्षुदर्शनावरण ७ अचक्षुदर्शनावरण ८ अवधिदर्शनावरण ९ केवलदर्शनावरण।

३ (अ) सातावेदनीय कर्म का अनुभाग आठ प्रकार का है – १–५ मनोज्ञ शब्द–रूप–गंध–रस-स्पर्श (पांचों श्रोत्रादिइन्द्रियों के अपने–अपने विषय) ६ मन सम्बन्धी सुख, ७ वचन सम्बन्धी सुख ८ शारीरिक सुख।

(आ) असातावेदनीय सम्बन्धी अनुभाग भी आठ प्रकार का है जो सातावेदनीय के अनुभाग से विपरीत जानना चाहिए। यथा अमनोज्ञ शब्द आदि। मोहनीय कर्म का अनुभाग पांच प्रकार का है :- १ सम्यक्त्व वेदनीय २ मिथ्यात्व वेदनीय ३ सम्यग् मिथ्यात्व वेदनीय ४ कषाय वेदनीय ५ नोकषाय वेदनीय।

५ आयु कर्म का अनुभाग चार प्रकार का है – १ नरकायु २ तिर्यंचायु ३ मनुष्यायु ४ देवायु।

६ (अ) शुभ नाम कर्म का अनुभाग १४ प्रकार का है – १ इष्ट शब्द २ इष्ट रूप ३ इष्ट गंध ४ इष्ट रस ५ इष्ट स्पर्श ६ इष्ट गति ७ इष्ट स्थिति ८ इष्ट लावण्य ९ इष्ट यशःकीर्ति १० इष्ट बलवीर्य और पुरुषाकार पराक्रम ११ इष्ट स्वर १२ कान्त स्वर १३ प्रिय स्वर १४ मनोज्ञ स्वर।

(आ) अशुभ नाम कर्म का अनुभाग भी १४ प्रकार का है। जो शुभनाम कर्म के भाग से विपरीत है। जैसे अनिष्ट शब्द अनिष्ट रूप यावत् अमनोज्ञ स्वर।

७ (अ) उच्च गोत्र कर्म का अनुभाग आठ प्रकार का है–१ जाति विशिष्टता २ कुल विशिष्टता ३ बल विशिष्टता ४ रूप विशिष्टता ५ तप विशिष्टता ६ श्रुत विशिष्टता ७ लाभ विशिष्टता ८ ऐश्वर्य विशिष्टता।

(आ) नीच गोत्र का अनुभाग भी आठ प्रकार का है। वह उच्च गोत्र के अनुभाग से विपरीत लक्षण वाला है, जैसे – जाति हीनत्व, कुल हीनत्व यावत् ऐश्वर्य हीनत्व।

अन्तराय कर्म का अनुभाग पांच प्रकार का है – [१] दानान्तराय [२] लाभान्तराय [३] भोगान्तराय [४] उपभोगान्तराय [५] वीर्यान्तराय।

इस प्रकार से प्रज्ञापना सूत्र के कर्म प्रकृति पद के प्रथम उद्देशक के अनुसार कर्म प्रकृति सम्बन्धी वर्णन का सारांश जानना चाहिए।

(१) प्रज्ञापना सूत्र के तेईसवें पद के प्रथमोद्देशक का मूलपाठ परिशिष्ट में देखें।

5. उदीर्ण-उपशांतमोह जीव के संबंध में उपस्थान-उपक्रमणादि चर्चा—

उत्थानिका—

पूर्व सूत्र में कर्म के विषय में सामान्य रूप से विचार किया गया था। उन कर्मों का मूल मोहनीय कर्म है। अतः प्रस्तुत सूत्र में मोहनीय कर्म के विषय में विचार किया जा रहा है—

सूत्र 51 (i) जीवे णं भंते ! [1]मोहणिज्जेणं कडेणं कम्मेणं [2]उदिण्णेणं [3]उवट्ठाएज्जा ?

[4]हंता [5]उवट्ठाएज्जा ।

(ii) से भंते ! किं [6]वीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा ? अवीरियत्ताए [7]उवट्ठाएज्जा ?

[8]गोयमा ! वीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा णो अवीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा ?

(iii) [9]जइ वीरियत्ताए [10]उवट्ठाएज्जा किं बालवीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा ? [11]पंडियवीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा ? [12]बालपंडियवीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा ?

गोयमा ! बालवीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा, णो [13]पंडियवीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा, णो बालपंडियवीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा ।

सूत्र 51 (i) भगवन् ! क्या जीवकृत मोहनीय कर्म उदय में आया हो, तब जीव उपस्थान चतुर्गति परिभ्रमण रूप परलोक की क्रिया करता है ?

हां गौतम ! उपस्थान परलोक की क्रिया करता है।

(ii) भगवन् ! क्या वह जीव, वीर्य से उपस्थान करता है या अवीर्य से उपस्थान करता है ?

गौतम ! वीर्य से उपस्थान करता है, अवीर्य से उपस्थान नही करता है।

(iii) भगवन् ! यदि वीर्य से उपस्थान करता है तो क्या बालवीर्य से उपस्थान करता है, पंडित वीर्य से उपस्थान करता है या बाल पंडित वीर्य से उपस्थान करता है ?

गौतम ! बालवीर्य से उपस्थान करता है। पंडितवीर्य, बालपंडित वीर्य से उपस्थान नहीं करता है।

विवेचन :-

प्रस्तुत सूत्र में मोहनीय से तात्पर्य मिथ्यात्व मोहनीय से है। क्योंकि चतुर्गति भ्रमण रूप क्रिया करने वाला, आत्मा के वास्तविक स्वरूप से सर्वथा अनभिज्ञ होता है, वैसी अवस्था, मिथ्यात्व-मोहनीय

---

१. "मोहणिज्जेण ति मिथ्यात्वमोहनीयेन" - अवृ० ॥ २. "उइएण उदितेन" - दुर्ग प० वि० पृ० २३ प्र० ॥ ३. °एज्ज - ला० २ ॥ ४. हंता गोयमा उव° - अमो० ॥ ५. °एज्ज - क० ला० ॥ ६. " वीर्ययोगाद् वीर्यः प्राणी तद्भावो वीर्यता अथवा वीर्यमिव स्वार्थिक प्रत्ययाद् वीर्यता वीर्याणां भावो वा वीर्यता तया - अवृ० ॥ ७-१० °एज्ज - ला० लों० । लों० पुस्तके सर्वत्र 'एज्ज' इति । "उपतिष्ठेत परलोकक्रियामु अभ्युपगमं कुर्यात्" - अवृ० ॥ ८. गौतमा - बे० म० ॥ ९. जदि - ला ३ ॥ ११. पंडित° - अमो० बे० म० ॥ १२. पंडित° - अमो० बे० म० ॥ १३-१४. पंडित° - बे० म० ॥

कर्म के उदय की ही होती है। मिथ्यात्वावस्था में जीव वाल-वीर्य की अवस्था में रहता हुआ, चतुर्गति संसार परिभ्रमण रूप परलोक की क्रिया कर सकता है। किन्तु उसकी यह क्रियाएँ भगवदाज्ञा से बाहर है। ऐसा मिथ्यात्वी जीव पंडितवीर्य और बाल पंडितवीर्य में नही रह सकता।

जिस जीव को तत्त्व का यथार्थ बोध न हो, तथा सद्बोध के फल स्वरूप सम्यक् आचरण न हो, वह 'बाल' है। उसका पुरुषार्थ 'बालवीर्य' है।

जो जीव सम्यक्ज्ञानपूर्वक सर्व पापों का विधिवत् त्यागी हो, उसे पंडित और उसके पुरुषार्थ को पंडितवीर्य कहते हैं।

जिसने देशत: पापों का त्याग किया है। उसने जितने अंशों में पापों का त्याग किया है, उतने अंशों में पंडित एवं जितने अंशों में पापों का त्याग नहीं किया, उतने अंशों में बालपन होने से वह बाल-पंडित-देश विरत है। उसके पुरुषार्थ को बाल-पंडितवीर्य कहते हैं।

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि जो अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीव है, उनके द्वारा परलोक के लिए की जाने वाली तप-दान रूप क्रियाएँ भगवान् की आज्ञा से बाहर है। मुक्ति प्राप्त नहीं है। उसकी सारी की सारी क्रियाएँ मोक्ष मार्ग की अशंत: भी साधिका नही हैं।

प्रस्तुत सूत्र में अज्ञानी द्वारा की जाने वाली क्रिया को मिथ्यात्व मोह कर्म के उदय से बतलाई है। सूत्र में प्रयुक्त 'बाल' शब्द का अर्थ टीकाकार ने मिथ्यादृष्टि किया है। यथा—

"बाल वीरियत्ताए त्ति बाल: सम्यगर्थानवबोधात् सद्बोधकार्यविरत्यभावाच्च मिथ्यादृष्टि: तस्य या वीर्यता परिणतिविशेष: सा तथा तया।"

जिस व्यक्ति को सम्यक् अर्थ का बोध नहीं है, जिसमें सद्बोध से उत्पन्न होने वाली विरति भी नहीं है, वह जीव 'बाल' कहलाता है। मिथ्यादृष्टि को 'बाल' कहते हैं, उसकी वीर्यता बाल वीर्यता है।

मूल पाठ एवं उसकी टीका से यह स्पष्ट होता है कि बालवीर्य द्वारा की जाने वाली क्रिया, मिथ्यात्व-मोहनीय के उदयजनित है। बालवीर्य-मिथ्यात्वी का वीर्य भगवदाज्ञा से बाहर है। अतः उसके द्वारा की जाने वाली तप दानादि क्रिया भी स्वत: भगवदाज्ञा से बाहर हो जाती है।

जो पक्ष अनुकंपा को भी मोहानुकंपा कहकर तज्जनित क्रिया को पापमय बतलाता है, उस पक्ष के अनुसार तो मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के उदय से की जाने वाली क्रियाएँ भगवदाज्ञा से बाहर सिद्ध हो जाती है।

इस पर यदि कहा जाय कि दान-तप-ब्रह्मचर्य पालन सम्बन्धी कार्य मोहकर्म के उदय से नहीं किये जाते, तो उनका यह कथन भी गलत नहीं है, क्योंकि भगवान् ने मिथ्यात्वी में भी तप दान

आदि क्रियाएँ प्रतिपादित की है। भगवान् से प्रश्न किया गया—भगवन् ! मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के उदय से जीव परलोक सम्बन्धी क्रिया करता है ? तब भगवान् ने फरमाया कि— हां गौतम ! करता है। जैसा कि मूल पाठ है—जीवे णं भंते ! मोहणिज्जेणं कडेणं कम्मेणं उदिन्नेणं उवट्ठाएज्जा ?

हंता, उवट्ठाएज्जा।

अतः मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के उदय से की जाने वाली तप-दानादि क्रिया भगवदाज्ञा से बाहर है।[1]

यहां यह बात विशेष रूप से ज्ञातव्य है कि ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय के साथ मिथ्यात्व मोह का उपशम, क्षयोपशम या क्षय होने पर उसके द्वारा की जाने वाली पारलौकिक क्रिया ज्ञानयुक्त हो जाती है, परन्तु जहां ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय का तो क्षयोपशम है किन्तु मिथ्यात्व का उदय है, तब वही क्रिया अज्ञानयुक्त हो जाती है।

स्थानाङ्ग सूत्र में भी मिथ्यादृष्टि की क्रिया को अज्ञान-क्रिया बतलाया है, अतः अज्ञानी मिथ्या-दृष्टि की क्रिया भी वीतराग की आज्ञा से बाहर है।

'अण्णाण किरिया तिविहा पण्णत्ता-तंजहा मति अण्णाण किरिया, सुय अण्णाण किरिया, विभंगणाण किरिया ॥'

(स्थानाङ्ग सूत्र ३ ठाणा)

टीका—"मइ अण्णाण किरिए त्ति अविसेसिया मइच्चिय सम्मदिट्ठिस्स सा मइण्णाणं। 'मइ अण्णाणं मिच्छादिट्ठिस्स सुयं वि एवमेव' त्ति मत्यज्ञानात् क्रियानुष्ठानं मत्यज्ञानक्रिया एवमितरेऽपि नवरं विभंगो मिथ्यादृष्टेरवधिः स एवाज्ञानं विभंग ज्ञानमिति।"

जो क्रिया अज्ञान से की जाती है, उसे अज्ञान क्रिया कहते हैं। उसके तीन भेद हैं—मति-अज्ञान क्रिया, श्रुत अज्ञान क्रिया और विभंग ज्ञान क्रिया।

टीका में वर्णित विषय का निम्नाशय है—

"सम्यक् दृष्टि पुरुष की मति को मतिज्ञान कहते हैं। मिथ्यादृष्टि की मति को मति अज्ञान। इसी प्रकार श्रुत के विषय में भी समझना चाहिये। जो क्रिया, मति अज्ञान पूर्वक की जाती है, वह मति अज्ञान क्रिया है। इसी प्रकार श्रुत अज्ञान और विभंग ज्ञान क्रिया के विषय में भी समझना चाहिये। विभंग मिथ्यादृष्टि के अवधिज्ञान को कहते है। वह अज्ञान रूप होने से विभंग कहा जाता है।"

---

१. किन्तु मोह का नाम लेकर अनुकम्पा मे एकान्त पाप बतलाना एकान्त रूप से मिथ्या है।

आवश्यक सूत्र में भगवान् ने अज्ञान को हेय–त्यागने योग्य बतलाया है । जो वस्तु त्यागने योग्य है वह भगवान् की आज्ञा में कैसे हो सकती है । अज्ञानयुक्त क्रिया भी त्यागने योग्य है । अतः वह भगवान् की आज्ञा से बाहर है ।

आवश्यक सूत्र का मूल पाठ—

'अन्नाणं परियाणामि नाणं उवसंपज्जामि, मिच्छत्तं परियाणामि सम्मत्तं उवसंपज्जामि ।'

श्रमण यह प्रतिज्ञा करता है कि मैं अज्ञान को छोड़ता हूँ ज्ञान को स्वीकार करता हूँ । मिथ्यात्व को छोड़ता हूँ, सम्यक्त्व को स्वीकार करता हूँ ।

प्रस्तुत सूत्र के सातवें शतक के द्वितीय उद्देशक में बतलाया है कि जिस व्यक्ति को जीव-अजीव त्रस-स्थावर का ज्ञान नहीं है, उसके प्रत्याख्यान दुष्प्रत्याख्यान है । अज्ञानी-मिथ्यादृष्टि को भी जीव-अजीवादि का यथार्थ ज्ञान नहीं होता, अतः उसके प्रत्याख्यान दुष्प्रत्याख्यान है इसलिये वे भगवान् की आज्ञा से बाहर है । उववाइ सूत्र में भी कहा है–जो मिथ्यात्वी-अज्ञानी पुरुष अकाम निर्जरा करके दस हजार वर्ष की आयु वाला देवता होते हैं, जो हाडी बंधनादि का दुःख सहकर बारह हजार वर्ष के देवता होते हैं, जो मिथ्यात्वी स्त्री अकाम ब्रह्मचर्य का पालन कर चौंसठ हजार वर्ष की देवी होती है, जो माता-पिता की सेवा करके चौदह हजार वर्ष के देवता होते हैं, जो मिथ्यात्वी अन्न-जल आदि का नियम रखकर चौरासी हजार वर्ष के देवता होते हैं, जो कंद-मूल खाकर एक पल्योपम एक लाख वर्ष का देवता होता हैं, जो मिथ्यात्वी परिव्राजक धर्म का पालन कर दस सागर की आयु वाला देवता होता हैं, जो गोशालक मतानुयायी मिथ्यात्वी २२ सागर की आयु वाले देवता होते हैं, वे सभी मोक्षमार्ग के आराधक नहीं है ।

उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि अज्ञानयुक्त क्रिया भगवान् की आज्ञा में नहीं है । उन क्रियाओं को करने वाले मिथ्यात्वी पुरुष मोक्ष मार्ग के आराधक नहीं है ।

जो सम्यक् दृष्टि होता है, वही वीतराग की आज्ञा का आराधक होता है । मिथ्यात्वी की तपदानादि क्रिया को भगवान् की आज्ञा में मानना तथा संवर और निर्जरा रूप धर्म के दो भेद बतलाकर मिथ्यादृष्टि की तप-दानादि क्रिया को भगवान् की आज्ञा में सिद्ध करना, शास्त्र से अहित है । ऐसा मानने वाले कहते हैं कि –

ते धर्म रा दो भेद—संवर-निर्जरा ए दो हूं भेदां में जिन आज्ञा छे । ए संवर-निर्जरा बेहूं धर्म छे । ए संवर-निर्जरा टाल अनेरो धर्म नहीं छे । केइ एक पाखंडी संवर ने धर्म श्रद्धे, पिण निर्जरा धर्म श्रद्धे नहीं । त्यारे संवर निर्जरा री ओलखाण नहीं ।"

उनका उक्त कथन उचित नही है क्योंकि किसी भी आगम में संवर और निर्जरा ये धर्म के दो भेद प्रतिपादित नहीं किये है। स्थानाङ्ग सूत्र में श्रुत और चारित्र रूप धर्म के दो भेद बतलाये है, न कि संवर और निर्जरा।

"दुविहे धम्मे पण्णत्ते-सुय धम्मे चेव-चरित्त-धम्मे चेव।"

दो प्रकार का धर्म होता है–श्रुत धर्म और चारित्र धर्म। यदि शास्त्रकार को संवर और निर्जरा ये दो भेद धर्म के इष्ट होते तो वे स्पष्ट प्रतिपादित कर देते—दुविहे धम्मे पण्णत्ते-संवर धम्मे चेव, निज्जरा धम्मे चेव। परन्तु ऐसा पाठ किसी भी आगम में नही है। संवर-निर्जरा को धर्म के दो भेद मानने पर आगमों में विसंगति आती है, क्योंकि निर्जरा में सकाम और अकाम दोनों निर्जराएँ आती है। अकाम निर्जरा मिथ्यात्वी के होती है। मिथ्यात्वी की क्रिया भगवदाज्ञा से बाहर है, किन्तु निर्जरा को धर्म का भेद मानने पर वह मिथ्यात्वी की क्रिया भी भगवदाज्ञा में समाविष्ट हो जाती है, जो कि शास्त्रकार को अभीष्ट नही है, अतः शास्त्रकार ने श्रुत-चारित्र रूप धर्म के दो भेद किये हैं। जिसमें संवर और सकाम निर्जरा भी आ जाती है। संवर रहित निर्जरा को कहीं पर भी भगवान की आज्ञा में नहीं कहा है। अकाम निर्जरा करने वाले को कही पर भी मोक्ष मार्ग का आराधक नही कहा है। संवर रहित निर्जरा तो चौबीस ही दंडक के जीव करते हैं। ऐसी परिस्थिति में तो संसार के समस्त जीव भगवदाज्ञा के आराधक सिद्ध होंगे, परन्तु प्रस्तुत सूत्र में ही शतक आठ उद्देशक दस में बतलाया है "जो मोक्ष मार्ग के एक अंश का भी आराधक नहीं है, वह सर्व विराधक है।" किन्तु जब संवर रहित निर्जरा में धर्म माना जाएगा तो कोई भी सर्व विराधक नहीं हो सकता।

इसी प्रकार शतक आठ उद्देशक दस में प्रतिपादित चौभंगी का भी कोई अर्थ नहीं रहेगा, क्योंकि उन चार भंगों में चौथा भंग सर्व विराधक का है। जब संवर रहित निर्जरा को मोक्ष मार्ग की आराधना में मान लिया जाय तो संसार के समस्त जीव संवर रहित निर्जरा करने वाले होने से चौथा भंग-सर्व विराधक में कोई भी जीव नहीं आयेगा। ऐसी अवस्था में भगवान् द्वारा प्रतिपादित चौभंगी भी विरुद्ध सिद्ध होगी। (इसकी विस्तृत विवेचना आगे भी की जाएगी) इस प्रकार संवर और निर्जरा धर्म के दो भेद बताकर मिथ्यात्वी की दानादि क्रिया को भगवान् की आज्ञा में सिद्ध करना, स्पष्टतया शास्त्र विरुद्ध-उत्सूत्र प्ररूपण है।

किसी भी शास्त्र में संवर और निर्जरा रूप धर्म के दो भेद नही बतलाये है और न ही मिथ्यात्वी की क्रिया को भगवान् की आज्ञा में माना है।

दशवैकालिक सूत्र के प्रथम अध्ययन की प्रथम गाथा का नाम लेकर भी संवर रहित निर्जरा को भगवान् की आज्ञा में मानना गलत है।

उस गाथा में प्रतिपादित अहिंसा, संयम और तप रूप धर्म के तीन भेद श्रुत और चारित्र धर्म के ही विशेष प्रकार हैं। उसमें भी सम्यक्त्व रहित द्रव्य अहिंसा और संवर रहित द्रव्य तप को धर्म नहीं कहा है। सम्यक्त्व के बिना की जाने वाली अहिंसा और संवर के अभाव में किया जाने वाला तप तो आत्मा ने अनन्त बार किया है, परन्तु उससे मुक्ति मार्ग की आराधना नहीं हुई।

गाथा में श्रुत चारित्र के अन्तर्गत सम्यक्त्व के साथ होने वाली अहिंसा और संवर के साथ होने वाले तप का उल्लेख है।

गाथा में आये हुए 'धम्म' पद की व्याख्या करते हुए निर्युक्तिकार ने भी यही लिखा है—

"दुविहो धम्मो लोगुत्तरिओ सुय धम्मो खलु चरित धम्मो य। सुय धम्मो सज्झाओ, चरित्त-धम्मो समण धम्मो।" निर्युक्ति गाथा ४३ दशवैकालिक सूत्र में प्रतिपादित लोकोत्तर धर्म दो प्रकार का है—श्रुत धर्म और चारित्र धर्म। स्वाध्याय-सम्यक्दृष्टि भाव पूर्वक आगम के पठन पाठन को श्रुत और श्रमण-सम्यक्दृष्टि साधु धर्म या उसके आचरण को चारित्र कहते हैं।

निर्युक्ति की इस गाथा के अनुसार भी दशवैकालिक सूत्र की प्रथम गाथा में प्रतिपादित लोकोत्तर धर्म श्रुत-चारित्र रूप ही फलित होता है। अतः अहिंसा-तप को श्रुत-चारित्र से भिन्न बताकर उसमें मिथ्या-दृष्टि की आराधना को भगवान् की आज्ञा के अन्तर्गत मानना बिल्कुल गलत है।[1]

---

१. यदि मिथ्यादृष्टि की तप-दानादि क्रिया को भगवान् की आज्ञा में मानी जाय तो ऐसा मानने वालों के सिद्धान्तों में ही परस्पर विरोध आएगा। क्योंकि उन्हीं के सिद्धान्तों में आगे कहा—"साधु टाळ अनेरो कुपात्र छै कुपात्र ने दीधां अनेरी प्रकृति नो बंध, अनेरी प्रकृति पापनी छै।" किन्तु जब मिथ्यात्वी की क्रिया को भगवान् की आज्ञा में मान ली गई तो वह कुपात्र नहीं हो सकता, अतः उसे भी वन्दन-दान करना तथा दान देना चाहिए, जो कि उन्हें इष्ट नहीं है। यदि यह कहा जाय कि संयम सहित अहिंसा और तप में जिसका मन हो, वह साधु सुपात्र है तो उस प्रकार यह भी समझना चाहिए कि संयमी पुरुष की अहिंसा एवं तप का वर्णन ही इस गाथा में किया गया है।

संयम के साथ की जाने वाली अहिंसा एवं तप की साधना ही भगवान् की आज्ञा में है।

दूसरी बात यह है कि अहिंसा, तप, संयम की आराधना करने वाला देवों द्वारा वन्दनीय होता है। ऐसे धर्म प्रधान तथा उत्कृष्ट मंगल वाला बतलाया है। यह स्थिति लौकिक धर्म में नहीं हो सकती।

पाठकों के सुखावबोध के लिए दशवैकालिक सूत्र की गाथा भी दी जा रही है।

धम्मो मंगल मुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो-तवो।
देवा वि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सया मणो॥

धर्म-मंगल कल्याण करने वाला है और उत्कृष्ट-सब वस्तुओं में श्रेष्ठ-प्रधान है। यह धर्म-अहिंसा, संयम, तप रूप है, ऐसे धर्म में जिसका मन सदा लगा रहता है, उसे देवता भी नमस्कार करते हैं।

इस प्रकार युक्तिसंगत तर्कों तथा शास्त्रीय उद्धरणों से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि मिथ्यात्वी की तप संयमादिक्रिया अंशतः भी भगवान् की आज्ञा में नहीं है। उसे भगवान् की आज्ञा में मानना उत्सूत्र प्ररूपण है।

उत्तराध्ययन सूत्र के नौवें अध्ययन की ४४ वीं गाथा से भी मिथ्यादृष्टि की आराधना भगवदाज्ञा में सिद्ध नहीं होती।

गाथा—

मासे मासे उ जो बालो, कुसग्गेणं तु भुंजइ ।
न सो सुयक्खाय धम्मस्स, कलं अग्घइ सोलसिं ॥

जो पुरुष बाल अज्ञानी है, वह प्रत्येक मास में कुश के अग्र भाग पर जितना आहार ठहरता है, उतना ही खाकर या कुश के अग्र भाग को खाकर रह जाय, तब भी वह जिनोक्त धर्म का आचरण करने वाले पुरुष के सोलहवें अंश के बराबर नहीं है।

उपर्युक्त पाठ में स्पष्ट बतलाया गया है कि मास-मासखमण की कठोर तपस्या करने वाले अज्ञानी पुरुष का तप जिनोक्त धर्म को सोलहवीं कला के बराबर भी नहीं है। यदि अज्ञानी-मिथ्यात्वी की तपस्या भगवान की आज्ञा में होती तो उसके लिये इस प्रकार नहीं कहा जाता। जो जिनोक्त धर्म का आचरण न करके किसी अन्य धर्म का आचरण करता है, उसी व्यक्ति के लिये ऐसा कहा जाता है, अतः प्रस्तुत गाथा में प्रतिपादित तप वीतराग की आज्ञा में नहीं है। जब ऐसा तप वीतराग की आज्ञा में नहीं है तो उस तप का परिपालक बाल तपस्वी भी जिनोक्त धर्म का परिपालक कैसे हो सकता है?

टीकाकार ने भी बाल तपस्वी को तपस्या को जिनाज्ञा से बाहर बताया है।

"घोरस्यापि स्वाख्यात धर्मस्यैव, धर्मार्थिनाऽनुष्ठेय त्वादन्यस्यत्वात्मविघातवदन्यथात्वाद्।"

जो धर्म जिनभाषित है, वह घोर कठिन है, तब भी धर्मार्थी पुरुष के आचरण करने योग्य है, परन्तु जो घोर कठिन धर्म जिनभाषित नहीं है, वह आत्मघात की तरह आचरण करने योग्य नहीं है।

इसका तात्पर्य यह है कि बाल तपस्वी की तपस्या कठोर होते हुए भी जिनभाषित नहीं होने के कारण सम्यक्दृष्टि पुरुष के लिए अनाचरणीय है। टीकाकार ने अज्ञानी बाल तपस्वी की तपस्या को आत्मघात की संज्ञा से अभिव्यंजित किया है, यदि अज्ञानी की तपस्या भगवान की आज्ञा के अन्तर्गत होती तो टीकाकार उसे कभी भी आत्मघात के रूप में नहीं कहते।

इस गाथा से यह कल्पना करना भी निरर्थक है कि "मिथ्यादृष्टि में संवर नहीं होता, इसलिए उसे संवर धर्म वाले पुरुष के सोलहवें अंश में नहीं होना कहा है।

उस गाथा में प्रतिपादित अहिंसा, संयम और तप रूप धर्म के तीन भेद श्रुत और चारित्र धर्म के ही विशेष प्रकार हैं। उसमें भी सम्यक्त्व रहित द्रव्य अहिंसा और संवर रहित द्रव्य तप को धर्म नहीं कहा है। सम्यक्त्व के बिना की जाने वाली अहिंसा और संवर के अभाव मे किया जाने वाला तप तो आत्मा ने अनन्त बार किया है, परन्तु उससे मुक्ति मार्ग की आराधना नही हुई।

गाथा में श्रुत चारित्र के अन्तर्गत सम्यक्त्व के साथ होने वाली अहिंसा और संवर के साथ होने वाले तप का उल्लेख है।

गाथा में आये हुए 'धम्म' पद की व्याख्या करते हुए निर्युक्तिकार ने भी यही लिखा है—

"दुविहो धम्मो लोगुत्तरिओ सुय धम्मो खलु चरित धम्मो य। सुय धम्मो सज्झाओ, चरित्त-धम्मो समण धम्मो।" निर्युक्ति गाथा ४३ दशवैकालिक सूत्र में प्रतिपादित लोकोत्तर धर्म दो प्रकार का है—श्रुत धर्म और चारित्र धर्म। स्वाध्याय-सम्यक्दृष्टि भाव पूर्वक आगम के पठन पाठन को श्रुत और श्रमण-सम्यक्दृष्टि साधु धर्म या उसके आचरण को चारित्र कहते हैं।

निर्युक्ति की इस गाथा के अनुसार भी दशवैकालिक सूत्र की प्रथम गाथा में प्रतिपादित लोकोत्तर धर्म श्रुत-चारित्र रूप ही फलित होता है। अतः अहिंसा-तप को श्रुत-चारित्र से भिन्न बताकर उससे मिथ्या-दृष्टि की आराधना को भगवान् की आज्ञा के अन्तर्गत मानना बिल्कुल गलत है।[1]

---

१. यदि मिथ्यादृष्टि की तप-दानादि क्रिया को भगवान् की आज्ञा में मानी जाय तो ऐसा मानने वालों के सिद्धांतो मे ही परस्पर विरोध आएगा। क्योंकि उन्हीं के सिद्धांतों में आगे कहा—"साधु थी अनेरो कुपात्र छे कुपात्र ने दीधा अनेरी प्रकृति नो बंध, अनेरी प्रकृति पापनी छे।" किन्तु जब मिथ्यात्वी की क्रिया को भगवान् की आज्ञा में मान ली गई तो वह कुपात्र नहीं हो सकता, अतः उसे भी वन्दन-दान करना तथा दान देना चाहिए, जो कि उन्हें इष्ट नही है। यदि यह कहा जाय कि संयम सहित अहिंसा और तप में जिसका मन हो, वह साधु सुपात्र है तो उस प्रकार यह भी समझना चाहिए कि संयमी पुरुष की अहिंसा एवं तप का वर्णन ही इस गाथा में किया गया है।

संयम के साथ की जाने वाली अहिंसा एवं तप की साधना ही भगवान् की आज्ञा मे है।

दूसरी बात यह है कि अहिंसा, तप, संयम की आराधना करने वाला देवों द्वारा वन्दनीय होता है। ऐसा धर्म प्रधान तथा उत्कृष्ट मंगल वाला बतलाया है। यह स्थिति लौकिक धर्म मे नही हो सकती।

पाठकों के सुखावबोध के लिए दशवैकालिक सूत्र की गाथा भी दी जा रही है।

धम्मो मंगल मुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो-तवो।
देवा वि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सया मणो॥

धर्म-मंगल कल्याण करने वाला है और उत्कृष्ट-सब वस्तुओं में श्रेष्ठ-प्रधान है। वह धर्म-अहिंसा, संयम, तप रूप है, ऐसे धर्म में जिसका मन सदा लगा रहता है, उसे देवता भी नमस्कार करते हैं।

इस प्रकार युक्तिसंगत तर्कों तथा शास्त्रीय उद्धरणों से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि मिथ्यात्वी की तप संयमादिक्रिया अंशतः भी भगवान् की आज्ञा में नही है। उसे भगवान् की आज्ञा में मानना उत्सूत्र प्ररूपण है।

उत्तराध्ययन सूत्र के नौवें अध्ययन की ४४ वीं गाथा से भी मिथ्यादृष्टि की आराधना भगवदाज्ञा में सिद्ध नहीं होती।

गाथा—

मासे मासे उ जो बालो, कुसग्गेणं तु भुंजइ।
न सो सुयक्खाय धम्मस्स, कलं अग्घइ सोलसिं॥

जो पुरुष बाल अज्ञानी है, वह प्रत्येक मास में कुश के अग्र भाग पर जितना आहार ठहरता है, उतना ही खाकर या कुश के अग्र भाग को खाकर रह जाय, तब भी वह जिनोक्त धर्म का आचरण करने वाले पुरुष के सोलहवें अंश के बराबर नही है।

उपर्युक्त पाठ में स्पष्ट बतलाया गया है कि मास-मासखमण की कठोर तपस्या करने वाले अज्ञानी पुरुष का तप जिनोक्त धर्म की सोलहवीं कला के बराबर भी नहीं है। यदि अज्ञानी-मिथ्यात्वी की तपस्या भगवान की आज्ञा में होती तो उसके लिये इस प्रकार नहीं कहा जाता। जो जिनोक्त धर्म का आचरण न करके किसी अन्य धर्म का आचरण करता है, उसी व्यक्ति के लिये ऐसा कहा जाता है, अतः प्रस्तुत गाथा में प्रतिपादित तप वीतराग की आज्ञा में नहो है। जब ऐसा तप वीतराग की आज्ञा में नहीं है तो उस तप का परिपालक बाल तपस्वी भी जिनोक्त धर्म का परिपालक कैसे हो सकता है?

टीकाकार ने भी बाल तपस्वी की तपस्या को जिनाज्ञा से बाहर बताया है।

"घोरस्यापि स्वाख्यात धर्मस्येव, धर्मार्थिनाऽनुष्ठेय त्वादन्यस्यत्वात्मविघातवदन्यथात्वाद्।"

जो धर्म जिनभाषित है, वह घोर कठिन है, तब भी धर्मार्थी पुरुष के आचरण करने योग्य है, परन्तु जो घोर कठिन धर्म जिनभाषित नहीं है, वह आत्मघात की तरह आचरण करने योग्य नहीं है।

इसका तात्पर्य यह है कि बाल तपस्वी की तपस्या कठोर होते हुए भी जिनभाषित नहीं होने के कारण सम्यक्दृष्टि पुरुष के लिए अनाचरणीय है। टीकाकार ने अज्ञानी बाल तपस्वी की तपस्या को आत्मघात की संज्ञा से अभिव्यंजित किया है, यदि अज्ञानी की तपस्या भगवान की आज्ञा के अन्तर्गत होती तो टीकाकार उसे कभी भी आत्मघात के रूप में नहीं कहते।

इस गाथा से यह कल्पना करना भी निरर्थक है कि "मिथ्यादृष्टि में संवर नहीं होता, इसलिए उसे संवर धर्म वाले पुरुष के सोलहवें अंश में नही होना कहा है।

इस गाथा में कहीं पर भी संवर धर्म का उल्लेख नहीं है। गाथा में 'स्वाख्यात धर्म' का प्रयोग है। स्वाख्यात धर्म में जिनोक्त धर्म लिया जाता है। उसके सोलहवें अंश में भी अज्ञानी की गणना नहीं बतलाई है। गाथा में संवर और निर्जरा का कहीं नाम नहीं है, अतः संवर-निर्जरा का भेद करके मिथ्यात्वी की तप-दानादि क्रिया को भगवदाज्ञा में बतलाना मनकल्पित है।

सुव्रती कौन—उत्तराध्ययन सूत्र के सातवें अध्याय की बीसवीं गाथा में आए हुए सुव्रती शब्द को लेकर मिथ्यात्वी की क्रिया को भगवान् की आज्ञा में बतलाना-शास्त्र के अर्थ को नहीं समझने का परिचायक है।[1]

इसे स्पष्ट करने के लिए सम्बन्धित गाथा और दीपिका दी जा रही है—

वेमायाहिं सिक्खाहिं, जे नरा गिहि सुव्वया।
उवेंति माणुसं जोणिं, कम्म सच्चा हु पाणिणो॥

दीपिका—"मानुषं योनि के व्रजन्ति तदाह—ये नरा विमात्राभिर्विविध प्रकाराभिः शिक्षाभिः गृहि सुव्रताः गृहिणश्च ते सुव्रताश्च गृहिसुव्रताः। गृहीत सम्यक्त्वादि गृहस्थ-द्वादशव्रताः सत्यान्यवंध्य-फलानि ज्ञानावरणीयादीनि कर्माणि येषां ते सत्यकर्माणः। कर्मसत्याः प्राकृतत्वात्कर्म शब्दस्यप्राक् प्रयोगः ते जीवा "हु" इति निश्चयेन मानुषं योनिमुत्पद्यन्ते।"

"मनुष्य योनि में कौन जन्म लेते हैं, यह इस गाथा में बतलाया है। जो मनुष्य विविध प्रकार की शिक्षाओं से युक्त होकर गृहस्थ सम्बन्धी सम्यक्त्वादि बारह व्रतों के धारक हैं और जिनके ज्ञानावरणीयादि कर्म अवश्य फल देने वाले है, वे अवश्य मनुष्य योनि में जन्म ग्रहण करते हैं।

प्रस्तुत गाथा की दीपिका करते हुए दीपिकाकार ने सुव्रत का अर्थ बारह व्रतधारी किया है। जो बारह व्रतधारी है वह निश्चित रूप से सम्यक्दृष्टि है। उसके मिथ्यादृष्टि होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

जब वह सुव्रती मिथ्यादृष्टि है ही नहीं, तब सुव्रत का नाम लेकर मिथ्यादृष्टि की क्रिया को भगवान् की आज्ञा में सिद्ध करना सर्वथा असत्य है।

---

१. भ्रम विध्वंसन ग्रन्थ में पृष्ठ १३ पर लेखक ने लिखा है—

"एसो मिथ्यात्वी अनेक भला गुणा सहित ने सुव्रती कह्यो। ते करणी भली आज्ञा माही छे। अने जे भली गुण आज्ञा में नहीं हुवे तो सुव्रती क्यों कह्यो। ते क्षमादि गुणो री करणी अशुद्ध हुवे तो कुव्रती कहता। ए तो सांप्रत भली करणी आश्रय मिथ्यात्वी ने सुव्रती कह्यो छे। अने जो सम्यग्दृष्टि.ये तो मरी ने मनुष्य हुवे नहीं।"

इस पर यदि यह कहा जाय कि वह सुव्रत सम्यक्दृष्टि है तब तो वैमानिक में जाना चाहिये, (वह जीव मनुष्य में क्यों गया ?

इसका सविस्तार वर्णन शतक १ उद्देशक २ मे कर चुके हैं। आगे भी यथास्थान किया जायगा।

एक रूपक के द्वारा व्यावहारिक स्तर पर भी इसका वर्णन समझा जा सकता है। तीन पुरुष , उनमें से एक उद्यम करता है, दूसरा उद्यम नहीं करता और तीसरा अज्ञानतावश विपरीत उद्यम ता है। इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि का पुरुषार्थ भी तीसरे उद्यम के समान है। ऐसे गलत उद्यम की क्षा, उद्यम नहीं करना अच्छा है। उसी प्रकार अज्ञानतापूर्ण पुरुषार्थ की अपेक्षा ऐसा पुरुषार्थ नहीं ना अच्छा है। इसीलिए ऐसी अज्ञानतापूर्ण क्रिया भगवान् की आज्ञा में नहीं है।

थानिका :—

उपस्थान का विलोम अपक्रमण होता है। अतः उपस्थान के बाद अपक्रमण बतला रहे है।

। 52 (i) जीवे णं भंते! मोहणिज्जेणं ःणं कम्मेणं उदिण्णेणं अवक्कमेज्जा ?

'हंता, अवक्कमेज्जा।

) से भंते! [A]जाव बालपंडियवीरियाए अवक्कमेज्जा ?

गोयमा! [2]बालवीरियत्ताए अवक्कमेज्जा, नो पंडियवीरियत्ताए अवक्कमेज्जा, सिय [3]पंडियवीरियत्ताए अवक्कमेज्जा।

त्र 53 [B]जहा[5] उदिण्णेणं दो आलावगा [6]तहा उवसंतेण वि दो आलावगा ाणियव्वा। नवरं उवट्ठाएज्जा [7]पंडि-

सूत्र 52 (i) भगवन्! क्या जीव मोहनीय कर्म के उदय में आने पर अपक्रमण करता है? उत्तम गुणस्थान में हीन गुणस्थान में आता है?

हां गौतम! अपक्रमण करता है।

(ii) भगवन्! क्या वह जीव बालवीर्य, पंडित वीर्य या बाल पंडित वीर्य से अपक्रमण करता है?

गौतम! वह बालवीर्य से अपक्रमण करता है। पंडितवीर्य से अपक्रमण नहीं करता है। कदाचित् बाल-पंडित वीर्य से अपक्रमण करता है।

सूत्र 53 जैसे उदय में आए हुए पद के दो आलापक होते हैं, उसी प्रकार उपशमना के भी दो आलापक कहने चाहिए। विशेषता यह है कि

पाठान्तर—

सूत्र ५२-५३-५४.—१. हंत अवक्कमेज्जं - लो० ॥ २. अत्र वृतिकार दुर्गपद विवरण कारौ "वाचनान्तरे तु एवं बालवीरियत्ताए, नो पंडियवीरियत्ताए नो बाल-पंडियवीरियत्ताए" इति निदिश्य पाठान्तरं दर्शितवन्तौ। अस्मिन् पाठान्तरे सिय' पदं नास्ति ॥ ३. °त्ताए। ४ जहा - लो० ॥ ४. वाचनान्तरे त्वेवम् 'बालवीरियत्ताए नो पंडियवीरित्ताए नो बाल-पंडियवीरित्ताए - वृ० ॥ ५. जघा - वे० ॥ ६. जघा - वे० ॥ ७. °वीरित्ताए - पा० । पंडित° - म० । "वृद्ध"स्तु सूत्र ५२-५३-५४. का A B परिशिष्ट में देखें।

यवीरियत्ताए अवक्कमेज्जा [८]बालपंडि-यवीरियत्ताए ।

सूत्र 54 (i) से [९]भंते ! किं [१०]आयाए अवक्कमइ ? [११]आणायाए अवक्कमइ ?

गोयमा ! [१२]आयाए अवक्कमइ, णो [१३]आणायाए अवक्कमइ ।

(ii) मोहणिज्जं कम्मं [१४]वेदेमाणे से [१५]कहमेयं भंते ! एवं ?

[१६]गोयमा ! पुव्विं से [१७]एयं एवं [१८]रोयइ, इयाणिं से एयं एवं नो रोयइ, एवं [१९]खलु एयं एवं ।

यहां पंडित वीर्य से उपस्थान करता है और बाल-पंडित वीर्य से अपक्रमण करता है।

सूत्र 54 (i) भगवन् ! वह अपक्रमण क्या आत्मा से होता है या अनात्मा से ?

गौतम ! वह अपक्रमण आत्मा से होता है, अनात्मा से नहीं ।

(ii) भगवन् ! मोहनीय कर्म का वेदन करते यह इस प्रकार क्यों होता है ?

गौतम ! पहले उसे इस प्रकार रुचता था अब उसे इस प्रकार नहीं रुचता है। इस प्रकार से यह इस प्रकार हैं ।

विवेचन :-

मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का उदय आने पर जीव का अपक्रमण होता है। यह अपक्रमण बाल-वीर्य में होता है, अपेक्षा से बाल पण्डित वीर्य में भी हो सकता है। जब मिथ्यात्व का उदय आता है तब जीव संयम, देश संयम, सम्यक्त्व से गिरकर प्रथम गुण स्थान में आ जाता है। कदाचित् चारित्र मोहनीय कर्म का उदय आ जाय तो सर्व चारित्री अपक्रमण करके देशविरत में आ सकते हैं।

यहां पाठान्तर भी मिलता है। यथा—बालवीरियत्ताए, णो पण्डियवीरित्ताए, णो बालपंडि-वीरियत्ताए अर्थात् मिथ्यात्व मोहनीय के उदय से होने वाला अपक्रमण सिर्फ बाल वीर्य से ही होता है। पंडित वीर्य और बाल पंडित वीर्य से नहीं होता। प्रबल मोहोदय से निर्मल पवित्र संयमी आत्माओं का भी अपक्रमण हो जाता है। प्रबल मोह एक ऐसी मदिरा है जिसे पीकर मानव बेभान बन जाता है। अपने हिताहित के विवेक से शून्य हो जाता है। यह पतन भी उसी आत्मा के विकृत पराक्रम से ही होता है।

कांचिद् वाचनाम् आश्रित्य" इत्यादिना अर्थान्तरं पाठान्तरं च प्रदर्शितवन्तौ - दुर्ग पदविवरण कारौ। ८. अवक्कमेज्जा - अमो० । पंडित° - म० ॥ ९. भंते ! आयाए - पा० ॥ १०-११. आताए - वे० म० । आताए आत्मा अणाताए परेण" इत्यर्थः ॥ १२. आताए -वे० म० ॥ १३. अणायाए - पु० अमो० पा० व० । अणाताए - वे० म० ॥ १४. वेएमाणे - पु० पा० ॥ १५. से कहं भंते ! एयं - ला० । से कह भंते ! एवं - लो० 'कहं', पद इत्यत्र समीचीनम् "मांसादेर्वा" ८-१-२९ - हेम सूत्रं ॥ १६. गोतमा - वे० म० ॥ १७. एतं - वे० म० ॥ १८. रोयति - वे० म० ॥ १९. खलु एयं - पु० खलु एतं एवं - वे० म० ॥

उदीर्ण—उदय का विपक्षी उपशम है। अतः उदीर्ण के बाद उपशम के विषय में प्रश्न किया गया है।

मूल पाठ गत 'उवसंतेणं' शब्द मिथ्यात्व अवस्था के छूटने पर उपशम सम्यक्त्व से सम्बन्धित है। जब आत्मा उपशम सम्यक्त्व प्राप्त कर लेती है और उससे भी ऊपर बढ़ने का जब प्रसंग आता है तब वह देश विरत या सर्व विरत की अवस्थाओं को प्राप्त कर बाल पंडित या पंडित वीर्य से अभिव्यञ्जित होती है। उपशम शब्द उपलक्षण से पांचवे आदि गुण स्थानों की ओर इंगित कर रहा है, यदि सिर्फ उपशम शब्द से उपशम सम्यक्त्व ही ग्रहण किया जाय तो उपशम सम्यक्त्व की स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है। उसके पश्चात् क्षायोपशमिक क्षायिक आदि अवस्थाओं में आने का प्रसंग है।

अनादिकालीन मिथ्यात्वी जब उपशम सम्यक्त्व प्राप्त करता है तब उस उपशम सम्यक्त्व में अन्तर्मुहूर्त्त पर्यन्त शान्त-प्रशान्त अवस्था का अनुभव करता है, उसी अन्तर्मुहूर्त में व्रतादि की श्रद्धा तो अवश्य होती है किन्तु देश विरति या सर्व विरति को समझने में भी अन्तर्मुहूर्त्त से अधिक समय लग जाता है।

व्रतों की अनभिज्ञता में व्रत ग्रहण नहीं हो सकते, क्योंकि इतनी अवधि तक उपशम सम्यक्त्व रहे, यह शक्य नहीं। अतः यहां व्युत्पत्यर्थ की अपेक्षा लक्षणा से अर्थ करना अभिप्रेत है। उस लक्षणा के अन्तर्गत क्षयोपशमादि सम्यक्त्व की अवस्थाओं से व्रत-प्रत्याख्यानादि की दिशा में गमन होने पर आत्मा को बालवीर्य की अवस्था न रहकर वाल पंडित या पंडित वीर्य की दशा प्राप्त हो जाती है। अतः उपशम शब्द इन अवस्थाओं का संसूचन करने के अर्थ में लक्षणा से ही गृहीत होता है न कि व्युत्पत्ति अर्थ से। ऐसी स्थिति में उपशम सम्यक्त्व में व्रतादि ग्रहण नहीं किये जा सकते। किन्तु जब आत्मा क्षयोपशम सम्यक्त्व की दशा में सातवें गुण स्थान में रहती हुई उपशम श्रेणी में आरोहण करने में प्रयत्नशील रहती है तब उपशम सम्यक्त्व प्राप्त करती है और उस उपशम अवस्था में जब आत्मा का उपशम श्रेणी के लिए ऊर्ध्वारोहण होता है तब उपशम की अपेक्षा पंडित वीर्य की दशा में आत्मा का उपस्थापन कहा जा सकता है।

मोहनीय कर्म का उपशम होने पर जीव अपक्रमण करके बाल पंडित वीर्य में जाता है। बाल वीर्य में नहीं, क्योंकि उसका मोहोपशम अमुक अंश में हुआ है। मिथ्यादृष्टि मोह के उदय से होता है और यह उदय का नहीं, उपशम का प्रकरण है।

आत्मा का अपक्रमण भी आत्मा द्वारा ही होता है। मिथ्यात्व मोहनीय या चारित्र मोहनीय कर्मोदय से जीव की पण्डित (संयमी) रुचि हटकर मिश्र रुचि या मिथ्यात्व रुचि हो जाती है। इसमें जीव आत्मा ही कारण है।

अपक्रमण होने से पहले जीव जीवादि नव-तत्वों को मानता है। जिनेन्द्र भगवान् की वाणी उसे प्रीतिकर लगती है। 'तहमेयं सच्चं' के रूप में उसे स्वीकार करता है, उस पर श्रद्धा रखता है लेकिन जब आत्मा का अपक्रमण हो जाता है, तब उसे रुचिकर लगने वाली बातें भी अरुचिकर, अप्रीतिकर लगने लग जाती है। जब उसे जिन धर्म की बातें रुचती थी, वह सम्यग्दृष्टि था। अब उसे अरुचिकर लगती है, इसका कारण मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का वेदन है। इस अप्रीति के कारण ही जीव मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का वेदन करता है।

55. कृत कर्म भोगे विना मुक्ति नहीं—

उत्थानिका—

पूर्व प्रकरण में कर्म को लेकर उपस्थान-अपक्रमण संबंधी चर्चा की थी, प्रस्तुत प्रकरण में कर्म को भोगे विना मुक्ति नही है, यह बतलाया गया है—

सूत्र 55 से णूणं भंते ! नेरइयस्स वा, तिरिक्खजोणियस्स वा, [१]मणूसस्स वा देवस्स वा जे कडे [२]पावे कम्मे, नत्थि [३]णं तस्स [४]अवेयइत्ता मोक्खो ?

सूत्र 55 भगवन् ! नैरयिक, तिर्यञ्चयोनिक मनुष्य और देव ने जो पापकर्म किये हैं, क्या उन्हें भोगे विना मोक्ष नही होता ?

हंता, [५]गोयमा ! नेरइयस्स वा, [६]तिरिक्खजोणियस्स वा, [७]मणूसस्स वा, देवस्स वा जे कडे [८]पाव कम्मे, नत्थि [९]णं तस्स [१०]अवेयइत्ता मोक्खो। से केणट्ठेणं भंते ! एवं [११]वुच्चति नेरइयस्स [१२]वा [A]जाव मोक्खो ?

हां गौतम ! नैरयिक, तिर्यञ्चयोनिक और, मनुष्य और देव को, उनके द्वारा कृत पापकर्म भोगे विना मुक्ति नहीं होती।

---

१. मणूसस्स वा - अमो० न० लो०। मनुस्सस्स - ब० म० ग० ॥ २. पाव कम्मे - ला० ॥ ३. णं - णत्थि पु० अमो० धा० अ० स० ॥ ४. अवेइत्ता - पु०। अवेइयत्ता - अमो०। अवेदइत्ता - न० वे० म०। अवेदयत्ता - मं० अ०। अवेइत्ता - मं० स०। अवेदयत्ताए मोक्खे ? - ला०। अवेदियत्ता मो' ला २ ॥ ५ गोतमा - वे० म० ॥ ६. तिरिक्ख मणुस्स देवस्स वा जाव मोक्खो से केण' - अमो०। तिरियस्स वा मणुयस्स वा - ला ३ ॥ ७. मणुस्स - धा०। मणुस्सस्स वा - न० वे० म० ॥ ८. पावे - पु० धा० न० वे० ॥ ९. णं - णत्थि पु० धा० वे० ॥ १०. अवेइत्ता - पु०। अवेदइत्ता - न० वे० म० ॥ ११. वुच्चइ - अमो० धा० न० ॥ १२. प्र० - तिरिक्खजोणियस्स वा मणुस्सस्स वा देवस्स वा जे कडे पावे कम्मे नत्थि तस्स अवेयइत्ता मोक्खो - धा० ॥

जावपूर्ति—

A. तिरिक्खजोणियस्स वा मणुस्सस्स वा देवस्स वा जे कडे पावे कम्मे नत्थि णं तस्स अवेयइत्ता ॥

एवं खलु मए गोयमा ! दुविहे कम्मे पण्णत्ते, तं जहा-[1]पएसकम्मे य अणुभागकम्मे य, तत्थ णं जं [2]तं [3]पएस-कम्मं तं नियमा [4]वेएइ, तत्थ णं जं [5]तं अणुभागकम्मं [6]तं अत्थेगइयं [7]वेएइ अत्थेगइयं नो [8]वेइ। [9]णायमेयं [10]अरहया [11]सुयमेयं [12]अरहया [13]विण्णायमेयं [14]अरहया-"इमं कम्मं अयं जीवे [15]अज्झोवगमियाए [16]वेयणाए [17]वेदिस्सइ, इमं कम्मं अयं जीवे उववकमियाए [18]वेदणाए [19]वेदिस्सइ। अहाकम्मं [20]अहानिकरणं [21]जहा जहा तं [22]भगवया दिट्ठं [23]तहा तहा तं [24]विप्परिणमिस्सतीति। से तेणट्ठेणं [25]गोयमा ! नेरइयस्स [26]वा [A]जाव मोक्खो।

भगवन् ! ऐसा किस कारण से कहा जाता है ? नैरयिक या देवों का कृत कर्म भोगे बिना मोक्ष नहीं होता ?

गौतम ! मेरे द्वारा निश्चय रूप से दो प्रकार के कर्म बतलाए गए है। वे इस प्रकार हैं—प्रदेश कर्म और अनुभाग कर्म। इनमें जो प्रदेश कर्म है, वह अवश्य भोगना पड़ता है। उनमे जो अनुभाग कर्म है, उनका वेदन कदाचित् करते हैं, कदाचित् नहीं करते हैं। यह अरिहन्त भगवान् द्वारा ज्ञात है, यह अरिहन्त भगवान् द्वारा स्मृत है। यह अरिहन्त भगवान् द्वारा विज्ञात है। यह जीव इस कर्म को आभ्युपगमिक (स्वेच्छा) वेदना से वेदेगा। यह जीव इस कर्म को औपक्रमिक (अनिच्छा) वेदना से वेदेगा। बांधे हुए कर्मों के अनुसार निकरणों नियत देशकालादि परिणमन हेतुओं के अनुसार जैसा-जैसा भगवान् ने देखा है, वैसा-वैसा वह विपरिणाम पाएगा।

इसलिये गौतम ! मैं एसा कहता हूँ कि किये हुए कर्मों को भोगे बिना नारकी तिर्यञ्च मनुष्य और देव किसी का भी मोक्ष नहीं होता।

---

१. पदेसकम्मे य - न० वे० म० ॥ २-०. णं - न० ३. पदेसकम्म - न० वे० म० ॥ ४. वेदेइ - अमो० न०। वेदेति - वे० म० ॥ ६. तं - नत्थि ता० ॥ ७. वेदेइ - अमो० न०। वेदेति - वे० म० ॥ ८. वेदेइ - अमो० न० ॥ ९. णायमेतं - वे० म० ॥ १०. अरहता - वे० म० ॥ ११. सुतमेतं - वे० म० ॥ १२-१४. अरहता - वे० म० ॥ १३. °मेतं - वे० म० ॥ १५. अब्भोवग° - अमो० न० वे० म०। अब्भुवक्कमियाए - घा०। अब्भोवमियाए - क०। "अब्भोवगमियाए त्ति प्राकृतत्वाद् अभ्युपगमः....... तेन निर्वृत्ता आभ्युपगमिकी, तया" - अवृ०। मुद्रितमूलपाठे मुद्रितटीकायां च अत्र "अज्झोवगमियाए" इति वर्तते ॥ १६. वेदणाए - न० वे० म० ॥ १७. वेयइस्सइ - अमो० घा० ॥ वेदेस्सइ - न०। वेइस्सइ - वे० म० ॥ १८. वेयणाए - अमो० घा० ॥ १९. वेयइस्सइ - अमो० घा०। वेदेस्सइ - न० वेइस्सइ - वे० म०। वेदेस्सति - लों० ॥ २०. °निगरणं - अमो० घा०। अधानिकरणं - वे० म० ॥ २१. जधा जधा - वे० ॥ २२. भगवता - वे० म० ॥ २३. तधा तधा - वे० २४. विपरिणमिस्सतीति - अमो०। °मिस्सइ त्ति - घा० ॥ २५ गोयमा एवं वुच्चइ नेर° - घा० न०। गोतमा - वे० म० ॥ २६. प्र० - वा तिरिक्ख जोणियस्स वा मणुसस्स वा देवस्स वा जे कडे पावे कम्मे नत्थि तस्स अवेयइत्ता मोक्खो - घा० ॥

जावपूर्ति—

A. तिरिक्ख जोणियस्स वा मणुसस्स वा देवस्स वा जे कडे पावे कम्मे णत्थि णं तस्स अवेदइत्ता ॥

विवेचनः-

संसार का कोई भी प्राणी, कर्म क्षय किये विना मुक्ति नहीं पा सकता। 'कडाण कम्माण ण मोक्ख अत्थि' कृत कर्मों की भुक्ति के विना मोक्ष प्राप्त नहीं होता। मूल पाठ में कहा है कि पाप कर्म का भोग किये विना मोक्ष नही होता।

इस पर जिज्ञासु यह जिज्ञासा व्यक्त कर सकते हैं कि मूल पाठ में पाप कर्म के साथ पुण्य कर्म के भोग का कथन क्यों नहीं किया गया है क्योंकि पुण्य कर्म रहते हुए भी मोक्ष नहीं होता, अतः पाप के साथ पुण्य का ग्रहण भी होना चाहिए या फिर पाप कर्म से पुण्य-पाप दोनों का ग्रहण करना चाहिए।

समाधान—सूत्र में नरकादि गति के योग्य पाप कर्मों के उपभोग का उल्लेख हुआ है अर्थात् पाप कर्म को भोगे विना मोक्ष नही होता। सामान्यतया पुण्य के लिए भी यही कथन किया जा सकता है। परन्तु शास्त्रगत मूल-पाठ का गहनता के साथ चिन्तन किया जाय तो स्पष्ट होगा कि पाप की तरह पुण्य का त्याग सर्वथा नहीं हो सकता। जब तक साधक मोक्ष की साधना करने की अवस्था में मनुष्य पर्याय का उपभोग कर रहा है, वह मनुष्य पर्याय पुण्य का फल है न कि पाप का फल। इस प्रकार पुण्य फल के माध्यम से भी मुक्ति प्राप्त कर सकता है किन्तु पाप के द्वारा नहीं।

पुण्य की तुलना सर्वथा पाप के साथ उपर्युक्त दृष्टिकोण से नहीं की जा सकती है।

पाप साधना के प्रथम क्षण से ही सर्वथा परित्याज्य है। पुण्य इस प्रकार त्याज्य नहीं है।

पुण्य की अवस्था में प्रारम्भिक साधना से लेकर अंतिम केवलज्ञान तक की उपलब्धि होती है, जब से वह सम्यक् दृष्टिभाव के साथ साधना मार्ग में चलता है तब से आंशिक मोक्ष चालू हो जाती है। वही आंशिक मुक्ति क्रमिक रूप से बढ़ती हुई परिपूर्ण मोक्ष अवस्था में परिणत हो जाती है। यह परिणति पापकर्म के त्याग के साथ पुण्य कर्म का भी त्याग कर देने पर फलित नहीं हो सकती। एक दृष्टि से मानव शरीर पर्याय में ही घनघाती कर्मों का क्षय करके आत्मा मोक्ष पा लेती है, अवशेष अघातिक कर्मों की उपस्थिति उस आत्मा के मोक्ष में बाधक नही बनती। इस अपेक्षा से पुण्य कर्म के फल की उपस्थिति आत्मा के साथ रहने पर भी तेरहवें गुणस्थान की अवस्था रूप आपेक्षिक मुक्ति में कोई बाधा नहीं आती है। चौदहवें गुणस्थान में पुण्य कर्म कैसे बाधक होगा, यह चिन्तनीय विषय है। जहां तक लगता है शास्त्रकारों के दृष्टि में यह विषय स्पष्ट था, तभी उन्होंने मुक्ति में बाधक के रूप में पाप की बात ही कही, किन्तु साथ में पुण्य को संयुक्त नहीं किया। पुण्य कर्म को संयुक्त करते भी कैसे ? उसका फल तो मोक्ष की साधना में निमित्तभूत है ही। वह निमित्त भी कमजोर नहीं बल्कि इतना है कि वज्रऋषभ नाराच संहनन के बिना त्रिकाल में केवलज्ञानादि की प्राप्ति एवं मुक्ति आत्मा प्राप्त ही नही कर सकती। वैसी स्थिति में पाप की तरह पुण्य को त्याज्य नही कहा जा सकता। हां, सर्व कर्म क्षय की अवस्था में होने वाली मुक्ति में पुण्य भी छोड़ा जाता है।

कई विद्वान बंध सामान्य की दृष्टि से एक साथ पाप एवं पुण्य को भी ग्रहण कर लेते है, तथा अपनी इसी बात को स्पष्ट करने के लिए पुण्य के लिए सोने की बेड़ी एवं पाप के लिए लोहे की बेड़ी कहकर उदाहरण के द्वारा भी बात को जमा देते है किंतु यह विषय विचारणीय है।

शास्त्रकारों को यह बात अभीष्ट होती तो पाप शब्द के स्थान पर कर्म बंध शब्द का प्रयोग कर देते, किन्तु शास्त्रकारों ने ऐसा न करके सिर्फ पाप शब्द का ही प्रयोग किया है। इससे भी स्पष्ट हो जाता है कि पाप की तरह पुण्य सर्वथा हेय नही है।

इसे स्पष्ट समझने के लिये एक रूपक दिया जा सकता है—एक व्यक्ति पर एक लाख रुपये का कर्जभार है। दूसरे व्यक्ति के पास एक लाख रुपये संचित धन है। दोनों व्यक्ति अपनी-अपनी अवस्था से छूट कर दीक्षा ग्रहण करना चाहते हैं। उनमें से शीघ्र ही दीक्षा लेने को कौन तैयार हो सकता है; कर्ज वाला या धन वाला ? उत्तर स्पष्ट है कि पूंजी वाला व्यक्ति शीघ्र दीक्षा ले सकता है क्योंकि कर्ज वाले व्यक्ति को कर्जा चुकाने में काफी समय लगेगा किन्तु संचित धन वाला व्यक्ति तत्काल धन को छोड़ सकता है – उसमें कोई समय नहीं लगेगा। इसी प्रकार निकाचित पाप रूपी ऋण के भार से त्रस्त भव्य को मोक्ष में जाने में बहुत विलम्ब होता है किन्तु पुण्यरूपी संचित कोष को छोड़ने में कोई विशेष समय नहीं लगता। कदाचित् निकाचित पुण्य बंधन हो तो उसके परिभोग में पापोदय से होने वाले कष्ट की तरह कोई कष्ट नहीं होता।

अतएव पुण्य और पाप को एक समान त्याज्य नहीं कह सकते। निष्कर्ष यह है कि पाप सर्वथा त्याज्य है, पुण्य ज्ञेय है, साधना काल में उपादेय है और परिपूर्ण मुक्ति पाने की अवस्था में हेय है।

मूल पाठ में आया है—मए दुविहे कम्मे पण्णत्ते=मैंने दो प्रकार के कर्मों की प्ररूपणा की है। यहाँ मए शब्द यह ज्ञापित करता है कि सर्वज्ञ किसी की कही हुई बात को सुनकर नहीं कहते। वे अपने कर्मों का क्षय कर लोकालोक प्रकाशक केवलज्ञान केवलदर्शन पाकर तत्त्व की प्ररूपणा करते हैं।

जीव प्रदेशों के साथ एकाकार रूप से परिणत कर्म पुद्गलों को प्रदेश कर्म कहते हैं।

उन्हीं कर्म प्रदेशों का अनुभव में आने वाला रस 'अनुभागकर्म' कहलाता है।

प्रदेश कर्मों का भोग अनिवार्य रूप से होता है। विपाक के अनुभव की अनिवार्यता नही है। अनुभाग कर्म भोगे भी जाते हैं और नहीं भी।

जब जीव मिथ्यात्व का क्षयोपशम करता है तब प्रदेश से नो-वेदन करता है, अनुभाग से नहीं। इसी प्रकार अन्य कर्मों के विषय में भी जानना चाहिये। चार गति के कर्मों का भोग अवश्य करना पड़ता है।

प्रदेश कर्म और अनुभाग कर्म किस प्रकार से भोगे जाते हैं। यह सर्वज्ञ अच्छी तरह से जानते हैं। देश कालादि भेद से विशेष रूप से जानते हैं। देश कालादि भेद से जैसा जाना है वैसा ही बतलाया है।

यहाँ यह शंका करना उपयुक्त नहीं है कि स्मृति तो मतिज्ञान का भेद है। उसे केवल ज्ञानी के लिए कैसे कहा गया ?

सर्वज्ञ को किसी भी ज्ञेय पदार्थ का स्मरण नही करना पड़ता। उनके ज्ञान में सर्व वस्तु स्वरूप हस्तामलकवत् स्पष्ट रूप से प्रतिभासित है। यहां जो स्मरण कहा है वह 'स्मृतमिव स्मृतं' अर्थ में है। जैसे छद्मस्थ का भी स्मरण प्रमाणभूत है तो यदि केवली को स्मरण हो तो वह कितना निर्दोष होगा। इस प्रकार अत्यन्त निर्दोषता के साधर्म्य से यह कथन समझना चाहिए। अतः मूल पाठ में आये हुए 'सुयं' इस पद से भगवान में स्मृति का अस्तित्व नही समझना चाहिये।

प्रदेश कर्म और अनुभाग कर्म का भोग आभ्युपगमिक और औपक्रमिक वेदना से होता है जो आत्मा जिस प्रकार से भोग रही है, भोग चुकी है और भोगेगी, उन सबका उसी रूप में ज्ञान सर्वज्ञ को होता है।

स्वेच्छा से, ज्ञानपूर्वक कर्म फल का भोग करना, आभ्युपगमिक वेदना है। यथा—प्रव्रज्या और ब्रह्मचर्य का पालन, केश लुंचन, परीषह सहना........।

जो कर्म अबाधा काल की परिपूर्णता पर स्वयमेव उदय में आए या उदीरणा विशेष से उदय में आवे, उसका फल भोग 'औपक्रमिकी' वेदना कहलाती है।

अहा कम्म=यथा कर्म जिस रूप में कर्मों का बंधन किया है उसी रूप में फल भोग करना।

अहा निगरण=यथा निकरण-नियत देशकालादि विपरिणमन के हेतुओं के अनुसार जो कर्म भगवान ने जिस रूप में देखा होगा, उसका परिणमन उसी रूप में होगा।

चार गति में जिन कर्मों का आत्मा ने बंधन किया है, उनका जब तक सर्वांशतः भोग न हो जाय, तब तक मुक्ति नही हो सकती। 'यह भोग किस प्रकार होगा' इसका विशेष वर्णन सर्वज्ञों के ज्ञान में स्पष्ट है।

56, 57, 58, 59, 60. पुद्गल, स्कन्ध और जीव के सम्बन्ध में त्रिकाल शाश्वत चर्चा—

उत्थानिका:—

पूर्व सूत्र में कर्म विषयक विचार किया गया। कर्म पुद्गल रूप होते हैं। अतः प्रस्तुत सूत्र में पुद्गलों के विषय में बतलाया जा रहा है—

सूत्र 56 एस णं भंते ! १पोग्गले अतीतं अणतं, सासयं, समयं '२भुवि' इति वत्तव्वं सिया ?

सूत्र 56 भगवन् ! क्या यह पुदगल अतीत अनन्त, शाश्वत काल में था, ऐसा कहा जा सकता है?

हंता, गोयमा ! एस णं पोग्गले ३अतीतं अणतं सासय समयं '४भुवि' इति वत्तव्वं सिया।

हां गौतम ! यह पुद्गल अतीत अनन्त शाश्वत काल में था, ऐसा कहा जा सकता है।

सूत्र 57 एस णं भंते ! पोग्गले पडुप्पन्नं सासयं समयं ५भवति त्ति वत्तव्वं सिया।

सूत्र 57 भगवन् ! क्या यह पुद्गल प्रत्युत्पन्न (वर्तमान काल) में शाश्वत (सदा रहने वाले) समय में है, ऐसा कहा जा सकता है ?

हंता, गोयमा ! त चेव[A] ६उच्चारेयव्वं

हां गौतम ! उसी प्रकार पूर्ववत् उच्चारण करना चाहिये।

सूत्र 58 एस णं भंते ! पोग्गले ७अणागयमणतं ८सासयं समयं '९भविस्सति' इति वत्तव्वं सिया ?

सूत्र 58 भगवन् ! क्या यह पुद्गल अनागत (भविष्य) अनन्त और शाश्वत काल में रहेगा ऐसा कहा जा सकता है ?

हंता, गोयमा ! तं चेव[B] १०उच्चारेयव्वं

हां गौतम ! उसी प्रकार पूर्ववत् उच्चारण करना चाहिये।

पाठान्तर–

१. ०ले तीतमणंतं - पु० अमो० वे० म०। ०ले तीयमणंतं-धा०। ०ले तीतं अणंतं - न०।पोग्गले त्ति परमाणुरुत्तरश्च स्कन्ध गृहणात् - वृ०॥ २ भुवीति वत्तव्व - पु० अमो० धा० न०। पालिभाषायाम् भूतकालसूचकं 'भू' धातोः 'अभवि' 'अभवि' वा इति रूप द्वय प्रसिद्धम्। अत्रापि आर्षत्वाद् आदिभूतस्य 'अ' आगमस्य लोपे गुणाभावे च अथवा हेमप्राकृतव्याकरणस्य ८।४।६० सूत्रेण 'भुव' आदेशे 'भुवि' भुवी वा इत्येव ज्ञेयम्। अथवा आर्षत्वाद् एव 'भू' धातोः पूर्वोक्तसूत्रेण 'भुव' रूप जाते ततश्चं भूतकालसूचके - हेम० प्रा० ८।३।१६३ सूत्रेण 'इअ' प्रत्यये 'भुवीअ' इति सेत्स्यति, तस्य च बाहुल्येन 'भुवि' 'भुवि' वा रूपम् साध्यम्। मूलपाठे 'भुवीति' प्रयोगः तस्य सन्धिविच्छेदे भुवि+इति अथवा भुवी+इति स्यात् एतद् क्रियापदम् 'अभूत' इत्यर्थे अत्र: प्रयुक्तम्॥ ३. अतीतमणंतं-पु०। तीतमणनं-अमो० वे० म०। तीयमणंतं - धा०। तीतं अणंतं - न०॥ ४. भुवीति वत्त०-पु० अमो० धा० न०॥ ५. भवती ति पु० अमो० धा० न०। भवति इति - वे० म०॥ ६ उच्चारेतव्वं - वे० म०॥ ७. अणागयं अणतं - धा० न० अणाग-तमणंतं - वे० म०॥ ८. सासतं - वे० म०॥ ९. भवीस्सतीति-पु० अमो० धा० न०। भविस्संति त्ति ध-सों०॥ १० उच्चारेतव्वं - वे० म०॥

जावपूर्ति–

A. एस णं पोग्गले पडुप्पन्नं सासयं समयं भवतीति वत्तव्वं सिया॥
B. एस णं पोग्गले अणायमं अणंतं सासयं समयं भवस्सति त्ति वत्तव्वं सिया॥

सूत्र 59 एवं[A] खंधेण वि तिण्णि आलावगा ।

सूत्र 60 एवं[B] जीवेण वि तिण्णि आलावगा [1]भाणियव्वा ।

सूत्र 59-60 इसी प्रकार स्कन्ध के साथ भी तीन आलापक कहना चाहिये ।

इसी प्रकार जीव के साथ भी तीन आलापक कहना चाहिये ।

विवेचन -

जब वस्तु अत्यन्त समीप होती है. तब 'एस' सर्वनाम का प्रयोग किया जाता है । भगवान के केवलज्ञान में समस्त पुद्गल समीप थे । इसलिये पुद्गल शब्द के साथ 'एस' सर्वनाम का जो प्रयोग हुआ, उसमें भी कोई दोष नहीं है ।

अतीत काल के लिये अनन्त एव शाश्वत विशेषण आया है । इसका तात्पर्य यह है कि प्रवाह की अपेक्षा अतीतकाल सदा सर्वदा विद्यमान है । अत. शाश्वत है । उसका कोई परिमाण नहीं होने से वह अनंत है । इसी प्रकार भविष्य काल के विषय में भी समझना चाहिये । वर्तमान काल के लिये अनंत का प्रयोग नहीं हुआ है क्योंकि वह मात्र एक समय का होता है । दूसरे समय में वह भूत में विलीन हो जाता है । किंतु ऐसा कोई भी समय नही होता, जिस समय वर्तमान समय नहीं रहता । इस अपेक्षा से वर्तमान भी शाश्वत है ।

मूल पाठ मे आया हुआ पुद्गल शब्द परमाणु का द्योतक है क्योंकि स्कंध का वर्णन अलग से अग्रिम सूत्र मे किया है । स्कंध से अलग होने वाला प्रदेश परमाणु ही कहलाता है अतः यहा पुद्गल शब्द परमाणु से सबन्धित है ।

परमाणु उसे कहा जाता है कि जिनका कोई विभाग नहीं अर्थात् अविभाज्य अंश को परमाणु कहते हैं । वह अविभाज्य परमाणु स्कंध में रहता हे तो प्रदेश कहलाता है और स्वतंत्र रूप से रहे तब परमाणु कहलाता है ।

जिज्ञासा – परमाणु पुद्गल तीनों काल में रहते ही हैं । यह सामान्य बात है, फिर इसके विषय में गौतम स्वामी को भगवान से प्रश्न करने को क्या आवश्यकता थी ?

समाधान :– पुद्गल परमाणु का त्रैकालिक अस्तित्व सामान्य बात नहीं है । इस विषय में दार्शनिकों के भिन्न-भिन्न मत है ।

उदाहरणार्थ – माध्यमिक सम्प्रदाय (बौद्ध) जगत को शून्य रूप मानता है । उसके अभिप्राय से कोई भी पदार्थ जड़ या चेतन नही है । इस प्रकार वह पुद्गल परमाणु का अस्तित्व स्वीकार नहीं करता । "एकं ब्रह्म द्वितीय नास्ति" अर्थात् जगत में एक मात्र ब्रह्म ही है ।
उसमें भिन्न पुद्गलादि पदार्थ नही है । ऐसी अद्वैतवादी वेदान्त की मान्यता है । इस मत में भी पुद्गल की स्वतंत्र सत्ता नही है । ज्ञानाद्वैतवादी बौद्ध मात्र ज्ञान को ही स्वीकार करता है । ज्ञान के अतिरिक्त पुद्गल आदि को वह नहीं मानता जो बौद्ध बाह्य पुद्गल आदि पदार्थों को मानते भी हैं । वे भी उन्हें क्षणिक मानते है । त्रिकाल में पुद्गल की सत्ता को स्वीकार नही करते ।

इस प्रकार विभिन्न मान्यताओं के कारण भव्य जीव भ्रांत न हो जाये, इस दृष्टि से गौतम स्वामी का उक्त प्रश्न अत्यन्त महत्वपूर्ण है । यानि भगवान ने उक्त प्रश्न का जो उत्तर दिया, उससे स्पष्ट हो जाता है कि पुद्गल (परमाणु) क्षणिक या अस्तित्वहीन नही है अपितु उसका अस्तित्व तीनों काल में विद्यमान है ।

पुद्गल के कथन से स्कंध का कथन भी हो ही जाता है । किंतु फिर भी अलग से जो उसका कथन किया गया है । इसका तात्पर्य यह है कि केवल परमाणु ही अनादि से नहीं है अपितु स्कंध भी अनादिकाल से है और परमाणु की तरह स्कंध भी तीनों काल मे विद्यमान रहता है । यद्यपि एक ही स्कंध एक ही रूप में त्रिकाल में नहीं रहता, उसमें परिवर्तन होता रहता है, तथापि स्कंध सामान्य का किसी भी काल में अभाव नहीं होता । इसी प्रकार जीव का अस्तित्व भी त्रिकाल में रहता है ।

61, 62, 63, 64. छद्मस्थ मनुष्य की मुक्ति से सम्बन्धित चर्चा—

पूर्व प्रकरण में परमाणु आदि जड़ पदार्थों के साथ कर्म और जीव के अस्तित्व विषयक चर्चा की थी। जीव और कर्म का सम्बन्ध जो अनादि काल से चला आ रहा है, वह कभी भी अपुनर्भाव से आत्मा से दूर होता है या नहीं ? इस विषयक चर्चा प्रस्तुत सूत्र में की गई है—

सूत्र 61 छउमत्थे णं [१]भंते ! [२]मणुस्से [३]अतीतं अणंतं, [४]सासयं, [५]समयं, केवलेणं, संजमेणं, केवलेणं संवरेणं, केवलेणं बंभचेरवासेणं, [६]केवलाहिं [७]पवयणमाईहिं [८]सिज्झिसु बुज्झिसु जाव[A] [९]सव्वदुक्खाणमंतं करिंसु ?

गोयमा ! नो इणट्ठे समट्ठे ।

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ तं चेव जाव[B] अंतं [१०]करेंसु ?

[११]गोयमा ! जे [१२]केइ [१३]अंतकरा वा अंतिमसरीरिया [१४]वा [१५]सव्वदुक्खाणमंतं [१६]करेंसु वा [१७]करेंति वा करिस्संति वा सव्वे ते उप्पन्ननाण-दंसण-

सूत्र 61 भगवन् ! छद्मस्थ मनुष्य, अतीत अनन्त और शाश्वत काल में केवल संयम से केवल संवर से, केवल ब्रह्मचर्यवास से, केवल प्रवचन माता से सिद्ध हुआ है, बुद्ध हुआ है। यावत् समस्त दुःखों का नाश करने वाला हुआ है ?

गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है।

भगवन् ! किस कारण से आप ऐसा कहते हैं ? पूर्वोक्त छद्मस्थ मनुष्य यावत् अंतकर नहीं हुआ ?

गौतम ! जो कोई जीव कर्मों का अन्त करने वाला है, चरम शरीरी हुआ है, सभी दुःखों का अंत किया है, करते है, और करेंगे, वे सब उत्पन्न ज्ञान-दर्शनधारी अरिहन्त (अर्हन्त) जिन

---

१. भंते तीत° - ला० ॥ २. मणूसे - पु० अमो० न० वे० म० । मणुस्से - घा० अ० मं० ॥ ३. अतीतमणंतं - पु० । तीतमणतं - अमो० वे० म०। तीतंअणंतं - न० ॥ ४. मासतं - वे० म० । °सयं केव° - ला० ॥ ५. समयं भुवीति केव° - पु० ॥ ६. केवलीहिं - अमो० ॥ ७. पवयणमायाहिं - अमो० न० । °मातांहिं - ता० मं० वे० म० ॥ ८. सिज्झंसु - बुज्झंसु - ला० । "सिज्झिसु इत्यादौ बहुवचनं प्राकृतत्वात्" - अवृ० ॥ ९. दुक्खाणं अंतं - घा० न० ॥ १०. करिंसु - अमो० घा० न० । °सु ? जे केइ - लों० ॥ ११. गोतमा - वे० म० ॥ १२. केति - ला २ ॥ १३. °करा अंति° - घा० ॥ १४. वा जाव सव्व° - घा० ॥ १५. °दुक्खाणं अंतं - घा० न० ॥ १६. करिंसु - अमो० ॥ १७. करिंति - अमो० ॥

जावपूर्ति—

A. मुच्चिसु ? परिनिव्वाइंसु ?

B. छउमत्थे णं मणुस्से तीतं अणंतं सासयं समयं केवलेणं संजमेणं केवलेणं संवरेणं केवलेणं बंभचेरवासेणं केवलाहिं पवयणमायाहिं नो सिज्झिसु ? नो बुज्झिसु ? नो मुच्चिसु नो परिनिव्वाइंसु ? नो सव्व दुक्खाणं ॥

धरा [१८]अरहा [१९]जिणे केवली भवित्ता [२०]तओ पच्छा सिज्झंति बुज्झंति मुच्चति [२१]परिनिव्वायंति सव्वदुक्खाणमंतं [२२]करेंसु वा करेंति वा करिस्संति वा, से तेणट्ठेण [२३]गोयमा ! [A]जाव सव्वदुक्खाणमंतं [२४]करेंसु ।

केवली होकर बाद में सिद्ध होते है, बुद्ध होते हैं, मुक्त होते हैं, परिनिर्वाण को प्राप्त होते हैं, इसी प्रकार सभी दुःखों का अन्त किया है, करते हैं, और करेंगे ।

गौतम ! इस कारण से यावत् सभी दुःखों का अन्त किया ।

सूत्र 62 [५]पडुप्पन्ने वि [B]एवं चेव, नवरं 'सिज्झंति' [६]भाणियव्वं ।

सूत्र 62 प्रत्युत्पन्न (वर्तमान) काल का भी इसी प्रकार जानना विशेषतः, सिद्ध होते है, इस प्रकार कहना चाहिए।

सूत्र 63 [७]अणागए वि एवं[C] चेव, नवरं 'सिज्झिस्संति' भाणियव्वं ।

सूत्र 63 अनागत (भविष्य) काल का भी इसी प्रकार कहना चाहिए विशेषतः, सिद्ध होंगे ऐसा कहना चाहिए ।

सूत्र 64 [D]जहा [८]छउमत्थो [९]तहा [१०]अहोहिओ वि, तहा [११]परमाहोहिओ वि । तिण्णि तिण्णि आलावगा भाणियव्वा ।

सूत्र 64 जिस प्रकार छद्मस्थ कहा है उसी प्रकार आधावधिक के विषय में तथा परमावधि के विषय में जानना चाहिये । तीन-तीन आलापक कहने चाहिये ।

65, 66, 67. केवली की मुक्ति से सम्बन्धित चर्चा—

सूत्र 65 केवली णं भंते ! मणूसे [१]तीतमणंतं सासयं [२]समयं जाव[A] अंतं करेंसु ?

सूत्र 65 भगवन् ! केवली मनुष्य क्या अतीत अनन्त शाश्वत काल में यावत् सभी दुःखों का अन्त किया है ?

---

१८. अरिहा जिणा के° - मो० ला० २ । अहो जिणा के° - ला ३ ॥ १९. जिणा - पा० म० ॥ २०. ततो - बे० म० ॥ २१. °यंति जाव सव्वदुक्खा° - अमो० । 'सिज्झंति' इत्यादिषु चतुर्षु पदेषु वर्तमान निर्देशस्य [illegible] सिज्झंति सिज्झिस्संती त्येवमतीतादिनिर्देशो द्रष्टव्यः - (वृ०) ॥ २२. करिंसु वा करिंति वा करिस्संति वा - अमो० म० ॥ २३. गोयमा - बे० म० ॥ २४. करिंसु - अमो० म० ॥

सूत्र ६२, ६३, ६४—५. °पन्नेऽवि - पु० । पडुप्पन्ने वि - अमो० ॥ ६. भाणियव्वं - बे० म० ॥ ७. अणागते - बे० म० ॥ ८. छउमत्थे जहा आहोहिओ वि तिन्नि तिन्नि आलावगा - ला० ॥ ९. तहा - बे० ॥ १०. आहोहिओ - बे० म० ॥ ११. °हिओऽवि - पु० । परमोहिओ वि - अमो० अ० क० ता० य० म० वृपा० । "परम आधोऽवधिकः [illegible] परमाधोऽवधिकः, प्राकृतत्वाच्च व्यत्ययनिर्देशः." - अवृ० । परमाहिओ - लो० ला० १-२-३, अवृपा० ॥

१. अतीतं अणंतं - पा० । तीतं अनंतं - म० ॥ २. °यं सिज्झिंसु जाव - पा० ॥ ३. हंता गोयमा सि° - अमो० [illegible]

जाव एवं पाठ पूर्ति—

A. एवं बुच्चइ छउमत्थे णं मणूसे तीतं अणंतं सासयं समयं केवलेणं संजमेणं केवलेणं संवरेणं केवलेणं बंभचेरवासेणं केवलाहिं पवयणमायाहिं नो सिज्झिंसु नो बुज्झिंसु नो मुच्चिंसु नो परिनिव्वाइंसु नो ॥

B, सूत्र 61 ॥ C. सूत्र 61 ॥ D. सूत्र 61 to 63 तक ॥

[३]हंता, [४]सिज्झिसु [B]जाव अंतं [५]करेंसु। [६]एते तिण्णि आलावगा भाणियव्वा [७]छउमत्थस्स [८]जहा, [९]नवरं [१०]सिज्झिसु, सिज्झंति, सिज्झिस्संति।

हां गौतम ! सिद्ध हुए हैं (और) यावत् सभी दुखों का अन्त किया है। छद्मस्थ के अनुसार यहां भी तीन आलापक कहने चाहिए। विशेष सिद्ध हुए हैं, होते है, होंगे।

सूत्र 66 से णूणं भंते ! [११]तीतमणंतं सासयं समयं, [१२]पडुप्पन्नं वा सासयं समयं, [१३]अणागयमणंतं वा सासयं समयं जे [१४]केइ अंतकरा वा अंतिमसरीरिया [१५]वा सव्वदुक्खाणमंतं [१६]करेंसु वा [१७]करेंति वा करिस्संति वा सव्वे ते [१८]उप्पन्ननाण-दंसणधरा अरहा [१९]जिणे केवली भवित्ता तओ पच्छा सिज्झंति जाव[A] अंतं [१]करेस्संति वा ?

सूत्र 66 भगवन् ! अतीत अनन्त शाश्वत समय में, अनागत अनन्त शाश्वत समय में, प्रत्युत्पन्न समय में जिन अंतकरों ने, चरम शरीरी जीवों ने, सभी दुःखों का अंत किया, करते है और करेंगे, वे सभी उत्पन्न ज्ञान दर्शनधारी, अर्हन्त जिन-केवली होकर उसके बाद सिद्ध होते हैं यावत् सभी दुखों का अंत करेंगे ?

हंता गोयमा ! [२]तीतमणंतं [३]सासयं समयं जाव[B] अंतं [४]करेस्संति वा।

हां गौतम ! अतीत अनन्त शाश्वत समय में यावत् सभी दुखों का अन्त करेंगे।

---

४. सिज्झंमु - श० ॥ ५. करिंसु - अमो० घा० ॥ ६. एए - घा० ॥ ७. छउमत्थेणं जहा - ला० । छउमत्थे जहा - ला २ ॥ ८. जधा - वे० ॥ ९. नवरं - णात्थि घा० ॥ १०. सिज्झंमु - अमो० ला० ॥ ११. अतीतं अणंतं - घा० । तीतं अणंतं - न० ॥ १२. पच्चुप्प° - ला २ ॥ १३. अणागतमणतं - वे० म० ॥ १४. केवि - ला २ ॥ १५. वा सिज्झिमु वा जाव सव्व° - घा० ॥ १६. करिंसु - अमो० ॥ १७. करिंति वा - अमो० ॥ १८. उपपन्न° - घा० ॥ १९. जिणा - घा० न० लों० ला २ ॥

A B जाव एवं पाठ पूर्ति (परिशिष्ठ देखें)

१. करिस्संति वा० - अमो० घा० न० ॥ २. अतीतं अणंतं - घा० । तीतं अणंतं - न० ॥ ३. °यं जाव - घा० । सामतं - वे० म० ॥ ४. करिस्संति वा - अमो० घा० न० ॥

सूत्र ६६. जाव एवं पाठ पूर्ति —

A. बुज्झंति ? मुच्चंति ? परिनिव्वायंति ? सव्व दुक्खाणं अंतं करेंसु वा ? करेंति वा ? करिस्संति वा ? ॥

B. पडुप्पन्नं वा सासयं समयं अणागयं अणंतं वा सासयं समयं जे केइ अंतकरा वा अंतिमसरीरिया वा सव्व दुक्खाणं अंतं करेंसु वा करेंति वा करिस्संति वा सव्वे ते उप्पण्णणाणदंसणधरा अरहा जिणा केवली भवित्ता तओ पच्छा सिज्झंति बुज्झंति मुच्चंति परिनिव्वायंति सव्व दुक्खाणं अंतं करेंसु वा करेंति वा करिस्संति वा ॥

सुत्र 67 से णूणं भंते ! उप्पन्ननाण-दंसणधरे अरहा जिणे केवली 'ʻअलमत्थु' त्ति वत्तव्वं सिया ?

हंता, गोयमा ! उप्पन्ननाणदंसणधरे अरहा जिणे केवली 'अलमत्थु' त्ति वत्तव्वं सिया ।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! [6]त्ति[C] ।

॥ चउत्थो उद्देसओ समत्तो ॥

सूत्र 67 भगवन् ! उत्पन्न ज्ञान-दर्शन-धारी, अर्हन् जिनकेवली 'अलमस्तु' अर्थात् पूर्ण है, ऐसा कहना चाहिये ।

हां गौतम ! उत्पन्न ज्ञानदर्शनधारी अर्हन् जिनकेवली 'अलमस्तु' पूर्ण हैं, ऐसा कहना चाहिए ।

भगवन् ऐसा ही है ! भगवन् ऐसा ही है !

चतुर्थ उद्देशक समाप्त

विवेचन :—

छद्मस्थ मनुष्य सिद्ध नहीं होता यावत् सभी दुःखों का अन्त नहीं करता है। सभी दुःखों का अन्त करने वाले चरम शरीरी थे। वे अरिहन्त बुद्ध केवली होकर सिद्ध बुद्ध मुक्त हुए थे। इसी प्रकार होते हैं और होवेंगे।

यहां छद्मस्थ शब्द से अवधिज्ञान से रहित जीवों का ग्रहण है, क्योंकि अवधिज्ञानी आदि के लिये अग्रिम सूत्र में वर्णन किया गया है।

'केवलेणं संजमेणं' आदि में प्रयुक्त 'केवल' शब्द का अर्थ इस प्रकार किया जाता है— सुद्धं, सगलमसाहरणं अणंतं च' केवल शब्द के अकेला, शुद्ध, सम्पूर्ण, असाधारण और ... होते हैं। षट्काय जीवों की यतना संयम है। यहां प्रयुक्त 'केवल' शब्द यह द्योतित ... की सहायता की अपेक्षा न रखने वाला संयम, शुद्ध संयम, परिपूर्ण संयम और असाधारण ...

संवर—इन्द्रियों और कषायों की प्रवृत्ति का रूंधन (रोकना) 'संवर' है। संवर ... केवल शब्द का अर्थ पूर्व-प्रतिपादित शब्द 'केवल' के अर्थानुसार जानना चाहिये। ... वास से तात्पर्य परिपूर्ण रूप से ब्रह्मचर्य का पालन एवं प्रवचन माता शब्द से तात्पर्य ... पांच समिति तीन गुप्ति का पालन है। अन्तकर—शब्द से भव का नाश करने वाला, अर्थात् ... में जन्मान्तर में भव का नाश करने वाला लिया जाता है, किन्तु यहां प्रयुक्त 'अंतिम शरीरी' ... है—चरम शरीरी अर्थात् इसके बाद दूसरा भव नहीं करेंगे यानि इस शरीर को छोड़ने के ... शरीर नहीं ग्रहण करेंगे।

---

५. "अलमत्थु-पर्याप्तं भवतु" नातः परं किंचिद् ज्ञानान्तरं प्राप्तव्यम् अस्य अस्ति' इति एतद् वक्तव्यं स्यात् ...

६. त्ति नत्थि - न० ॥

C. ति भगवं गोयमे समणं भगवं महावीरं वंदति नमंसति वंदित्ता नमंसित्ता संजमेण तवसा अप्पाणं ...

उपशान्त मोहनीय गुण स्थान में स्थित जीव जो संयमादि विशुद्ध चारित्र वाला है इसी प्रकार क्षीण मोहनीय नामक बारहवें गुण स्थान में स्थित जीव, वह भी पवित्र विशुद्ध चारित्र सम्पन्न है तथापि उनको मुक्ति नहीं होती, क्योंकि परिपूर्ण ज्ञान दर्शनधारी, अरिहन्त बुद्ध केवली होने पर ही मुक्ति होती है, हुई है और होगी।

अधोवधिक और परमावधिक ज्ञानी भी उसी अवस्था में मुक्ति में नहीं जा सकते, क्योंकि वे छद्मस्थ हैं।

द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की मर्यादित सीमा में जो रूपी पदार्थों का ज्ञान होता है वह अधोवधि-ज्ञान है। इसका धारक अधोवधिक ज्ञानी है। जो समस्त रूपी द्रव्यों को, अलोक में लोक प्रमाण असंख्यात खण्ड को तथा असंख्यात उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी को जानने की शक्ति वाला होता है, उसे परमावधिक ज्ञान कहते है। उसके धारक को परमावधिक ज्ञानी कहा जाता है।

अर्हन्त-जिन-केवली हुए बिना कोई भी मोक्ष में नहीं जा सकता। केवली में भी तीन आलापक होते हैं। यथा केवली ही मोक्ष गए, जाते है और जाएगे।

मूलपाठ में उत्पन्न ज्ञान दर्शन धारक अनन्त, जिन केवली के लिये 'अलमस्तु' शब्द का प्रयोग किया गया है। अलमस्तु का अर्थ 'पूर्ण' है अर्थात् जिन्होंने ज्ञानादि गुण की पूर्णता प्राप्त कर ली हैं। उनके ज्ञानादि से और अधिक कुछ भी प्राप्त करना अवशेष नहीं रहा है।

अन्त में गौतम स्वामी ने भगवान् से कहा—

सेवं भंते—सेवं भंते।

हे भगवन् ! आप पूर्ण ज्ञानी है। आपके वचन अवितथ सत्य हैं। उनमें किसी प्रकार की शंका नहीं है।

चतुर्थ उद्देशक समाप्त

सूत्र 67 से णूणं भंते ! उप्पन्ननाण-दंसणधरे अरहा जिणे केवली "५अल-मत्थु' त्ति वत्तव्वं सिया ?

हंता, गोयमा ! उप्पन्ननाणदंसणधरे अरहा जिणे केवली 'अलमत्थु' त्ति वत्तव्वं सिया।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! ६त्ति C ।

॥ चउत्थो उद्देसओ समत्तो ॥

सूत्र 67 भगवन् ! उत्पन्न ज्ञान-दर्शन-धारी, अर्हन् जिनकेवली 'अलमस्तु' अर्थात् पूर्ण है, ऐसा कहना चाहिये।

हां गौतम ! उत्पन्न ज्ञानदर्शनधारी अर्हन् जिनकेवली 'अलमस्तु' पूर्ण हैं, ऐसा कहना चाहिए।

भगवन् ऐसा ही हैं ! भगवन् ऐसा ही है !

चतुर्थ उद्देशक समाप्त

विवेचन :—

छद्मस्थ मनुष्य सिद्ध नही होता यावत् सभी दुःखों का अन्त नहीं करता है। सभी दुःखों का अन्त करने वाले चरम शरीरो थे। वे अरिहन्त बुद्ध केवली होकर सिद्ध बुद्ध मुक्त हुए थे। इसी प्रकार होते हैं और होवेंगे।

यहाँ छद्मस्थ शब्द से अवधिज्ञान से रहित जीवों का ग्रहण है, क्योंकि अवधिज्ञानी आत्माओं के लिये अग्रिम सूत्र में वर्णन किया गया है।

'केवलेणं संजमेणं' आदि में प्रयुक्त 'केवल' शब्द का अर्थ इस प्रकार किया जाता है—'केवलमेगं सुद्धं, सगलमसाहरणं अणंतंच' केवल शब्द के अकेला, शुद्ध, सम्पूर्ण, असाधारण और अनन्त—ये अर्थ होते हैं। षट्काय जीवों की यतना संयम है। यहां प्रयुक्त 'केवल' शब्द यह द्योतित करता है कि दूसरे की सहायता की अपेक्षा न रखने वाला संयम, शुद्ध संयम, परिपूर्ण संयम और असाधारण संयम।

संवर—इन्द्रियों और कषायों की प्रवृत्ति का रूंधन (रोकना) 'संवर' है। संवर के साथ प्रयुक्त केवल शब्द का अर्थ पूर्व-प्रतिपादित शब्द 'केवल' के अर्थानुसार जानना चाहिये। मूलपाठगत ब्रह्मचर्य वास से तात्पर्य परिपूर्ण रूप से ब्रह्मचर्य का पालन एवं प्रवचन माता शब्द से तात्पर्य विशुद्धता के साथ पांच समिति तीन गुप्ति का पालन है। अन्तकर—शब्द से भव का नाश करने वाला अर्थात् लम्बे समय में जन्मान्तर में भव का नाश करने वाला लिया जाता है. किन्तु यहां प्रयुक्त 'अंतिम सरीरिया' का अर्थ है—चरम शरीरो अर्थात् इसके बाद दूसरा भव नहीं करेगे यानि इस शरीर को छोड़ने के बाद दूसरा शरीर नहीं ग्रहण करेंगे।

५. "अलमत्थु-पर्याप्तं भवतु" नातः परं किञ्चिद् ज्ञानान्तरं प्राप्तव्यम् अस्त अस्ति' इति एतद् वक्तव्यं स्यात् - अनु॰॥
६. त्ति णत्थि - म॰ ॥
C. ति भगवं गोयमे समणं भगवं महावीरं वंदति नमंसति वंदिता नमंसित्ता संजमेण तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरंति

उपशान्त मोहनीय गुण स्थान में स्थित जीव जो संयमादि विशुद्ध चारित्र वाला है इसी प्रकार क्षीण मोहनीय नामक बारहवें गुण स्थान में स्थित जीव, वह भी पवित्र विशुद्ध चारित्र सम्पन्न है तथापि उनको मुक्ति नहीं होती, क्योंकि परिपूर्ण ज्ञान दर्शनधारी, अरिहन्त बुद्ध केवली होने पर ही मुक्ति होती है, हुई है और होगी।

अधोवधिक और परमावधिक ज्ञानी भी उसी अवस्था में मुक्ति में नहीं जा सकते, क्योंकि वे छद्मस्थ हैं।

द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की मर्यादित सीमा में जो रूपी पदार्थों का ज्ञान होता है वह अधोवधि-ज्ञान है। इसका धारक अधोवधिक ज्ञानी है। जो समस्त रूपी द्रव्यों को, अलोक में लोक प्रमाण असंख्यात खण्ड को तथा असंख्यात उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी को जानने की शक्ति वाला होता है, उसे परमावधिक ज्ञान कहते है। उसके धारक को परमावधिक ज्ञानी कहा जाता है।

अर्हन्त-जिन-केवली हुए बिना कोई भी मोक्ष में नहीं जा सकता। केवली में भी तीन आलापक होते हैं। यथा केवली ही मोक्ष गए, जाते हैं और जाएंगे।

मूलपाठ में उत्पन्न ज्ञान दर्शन धारक अनन्त, जिन केवली के लिये 'अलमस्तु' शब्द का प्रयोग किया गया है। अलमस्तु का अर्थ 'पूर्ण' है अर्थात् जिन्होंने ज्ञानादि गुण की पूर्णता प्राप्त कर ली हैं। उनके ज्ञानादि से और अधिक कुछ भी प्राप्त करना अवशेष नही रहा है।

अन्त में गौतम स्वामी ने भगवान् से कहा—

सेवं भंते—सेवं भंते।

हे भगवन् ! आप पूर्ण ज्ञानी है। आपके वचन अवितथ सत्य हैं। उनमें किसी प्रकार की शंका नहीं है।

चतुर्थ उद्देशक समाप्त

पंचम-उद्देशक

प्राथम्मिक

चतुर्थ उद्देशक के अन्त में सर्वज्ञ-सर्वदर्शी अर्हन्त आत्माओं का वर्णन दिया गया है। वे आत्माएँ अनन्तकाल से विभिन्न योनियो में परिभ्रमण करके मनुष्य भव में आती हैं तथा अपने आत्म-पुरुषार्थ से घनघाती कर्मों का क्षय कर केवलज्ञान-केवलदर्शन की अपूर्व ज्ञान-राशि से आलोकित होती हुई अन्ततः सर्व कर्म विनिर्मुक्त बनकर सिद्ध अवस्था को प्राप्त हो जाती हैं।

वे मुक्तिगामी आत्माएँ पृथ्वी-नरक आदि में भी परिभ्रमण कर चुकी होती हैं, क्योंकि शास्त्रों में बतलाया है कि यह आत्मा सभी योनियों में भटकती-भटकती अनन्त पुण्यराशि का अर्जन करके मनुष्य-तन प्राप्त करती है।

मुक्तिगामी आत्माओं का वर्णन करने के बाद पृथ्वी आदि का वर्णन भी आवश्यक हो जाता है। मुक्ति परमसुख का स्थान और आत्मा का चरम-लक्ष्य है। नरक महादुःख का स्थान है। सुख प्राप्ति के लिए चरम लक्ष्य की साधना पर निरापद आरोहण करने के लिए परम दुःख का स्थान नरक का ज्ञान भी अपेक्षित रहता है। ताकि उस ज्ञान को पाकर आत्मा अपने आप को सदा उस दुःख से बचाए रखें। इसलिए पंचम-उद्देशक के प्रारम्भ में महादुःख के स्थान रूप नरक का वर्णन किया गया है।

भव्यात्माएँ स्वर्ग-नरक के स्वरूप को समझकर अपवर्ग की ओर प्रयाण करने का प्रयत्न करें।

पूर्व उद्देशक में आधेय जीवों का वर्णन किया गया है आधार का नहीं। उन जीवों का आधार क्या है, किस आधार पर समस्त जगत् के प्राणी टिके हुए हैं। इसका वर्णन प्रस्तुत उद्देशक में किया जा रहा है—

पंचमो उद्देसओ : पुढवी | पंचम उद्देशक : पृथ्वी

68, 69. चौबीस दण्डकों की आवास संख्या का निरूपण—

सूत्र 68. [1]कति णं भंते ! पुढवीओ पण्णत्ताओ ?

गोयमा ! सत्त पुढवीओ पण्णत्ताओ । तंजहा-रयणप्पभा जाव[A] तमतमा ।

सूत्र 69 इमी से णं भंते ! [2]रयणप्पभाए पुढवीए [3]कति निरयावाससयसहस्सा पण्णत्ता ?

[4]गोयमा ! तीसं निरयावाससयसहस्सा पण्णत्ता । गाहा—तीसा य पण्णवीसा पण्णरस [5]दसेव या सयसहस्सा । [6]तिण्णेगं पंचूणं पंचेव अणुत्तरा निरया ॥१॥

सूत्र 68. भगवन् ! पृथ्वियां कितने प्रकार की कही गई हैं ?

गौतम ! सात प्रकार की पृथ्वियां कही गई हैं । रत्नप्रभा से लेकर तमस्तमप्रभा तक ।

सूत्र 69. भगवन् ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी में, कितने लाख नरकावास-नैरयिक स्थान प्रज्ञप्त हैं ?

गौतम ! रत्नप्रभा पृथ्वी में तीस लाख नरकावास कहे गए हैं ।

गाथा सातों नरकों के अन्दर निम्नोक्त नरकावास है—

रत्नप्रभा में तीस लाख, शर्कराप्रभा में पच्चीस लाख, वालुकाप्रभा में पन्द्रह लाख, पंकप्रभा मे दस लाख, धूमप्रभा में तीन लाख, तमप्रभा में पांच कम एक लाख, तमस्तमप्रभा में कुल पाच नरकावास कहे गए हैं ।

विवेचन :-

सात प्रकार की नरक पृथ्वियां बतलाई गई है—१. रत्नप्रभा, २. शर्कराप्रभा, ३. वालुकाप्रभा, ४. पंकप्रभा, ५. धूमप्रभा, ६. तमप्रभा एवं ७. तमस्तमप्रभा ।

रत्नप्रभा—नामक प्रथम पृथ्वी में तीन काण्ड होते हैं—रत्नकाण्ड, जलकाण्ड, पङ्ककाण्ड । रत्नकाण्ड में नरकावास के अतिरिक्त अवशेष स्थलों पर अनेक प्रकार के इन्द्र-नील आदि रत्न भरे हुए हैं जिनकी प्रभा रत्नकाण्ड में व्याप्त है । इस रत्न बहुलता के कारण ही इस नरकावास को रत्नप्रभा के नाम से कहा गया है । इसी प्रकार शेष पृथ्वियों के नामों की उपपत्ति भी समझ लेना चाहिये । सातवीं नारकी में घना अंधकार होने से उसे तमस्तमप्रभा नरक कहा है ।

---

१. कइ णं - अमो० धा० ॥ २. रतणप्पभाए - बे० ॥ ३. कइ - अमो० धा० ॥ ४. गोतमा - बे० म० ॥ ५. दसेव य - अमो० ॥

जावपूर्ति—

A. सक्करप्पभा वालुयप्पभा पंकप्पभा धूमप्पभा तमप्पभा ॥

सातों नरकों में विभिन्न नरकावास हैं—

रत्नप्रभा नारकी में	३० लाख नरकावास
शर्कराप्रभा नारकी में	२५ लाख नरकावास
वालुकाप्रभा नारकी में	१५ लाख नरकावास
धूमप्रभा नारकी में	१० लाख नरकावास
पंकप्रभा नारकी में	३ लाख नरकावास
तमप्रभा नारकी में ५ कम	१ लाख नरकावास
तमस्तमप्रभा नारकी में	५ नरकावास

सब मिलाकर सातों नरकों में ८४ लाख नरकावास होते हैं।

70. असुरकुमारों के आवास—

उत्थानिका—

गत सूत्र में नरकावास बतलाए गए। प्रथम नरकावास के आंतरों में असुरकुमारों का वास है, अतः नरकावास का वर्णन बतलाने के बाद ही असुरकुमारों के आवास का वर्णन प्रस्तुत सूत्र में बतलाया जा रहा है—

सूत्र 70. [1]केवइया णं भंते ! [2]असुरकुमारावाससयसहस्सा पण्णत्ता[A] ? एवं [3]चउसट्ठी असुराणं, [4]चउरासीई य [5]होइ नागाणं। [6]बावत्तरी [7]सुवण्णाण, वाउकुमाराण [8]छण्णउती ॥२॥
दीवदिसाउदहीणं [9]विज्जुकुमारिंदथणियमग्गीणं। छण्हं पि [10]जुयलगाणं [11]छावत्तरियो [12]सयसहस्सा ॥३॥

सूत्र 70. भगवन् ! असुरकुमारों के कितने लाख आवास कहे गए हैं।

गौतम ! इस प्रकार हैं। असुरकुमारों के ६४ लाख, नागकुमारों के ८४ लाख, सुपर्णकुमारों के ७२ लाख, वायुकुमारों के ९६ लाख, द्वीपकुमार, दिशाकुमार, उदधिकुमार, विद्युतकुमार, स्तनितकुमार, अग्निकुमार इन छहों युगलों के ७६-७६ लाख आवास कहे गए हैं।

१. केवतिया - बे० म० ॥ २. °वाससत° - वे० म० ॥ ३. चोसट्ठी - अमो० मं० म० । चोयट्ठी - न० । चोयट्ठी, क०। चोयट्ठी - वे० म० । ४. चउरासीती - वे० ग० ॥ ५. होति - वे० म० । होंति - ला ३ ।' ६. बावत्तरि - पु० ॥ ७. सुवण्णाणं - धा० न० ॥ ८. °उई - पु० अमो० धा० न० ॥ ९. °य अग्गिणं - लों० ॥ १०. °लयाणं - पु० दा० । जुवलयाणं - अमो० क० ता० अ० ब० । जुयलयाणं - न० । जुवलगाणं - लों० ॥ ११. बावत्तरिमो सयसहस्सा - अमो० । °रिमो "ओ इति पादपूरको निपातः" - सं० ॥ १२. सतसहस्सा - वे० म० ॥

पाठपूर्ति—

A. गोयमा चोयट्ठी असुरकुमारावाससयसहस्सा पण्णत्ता ॥

विवेचन :-

रत्नप्रभा आदि पृथ्वियों में प्रस्तर एवं अन्तर बतलाए गये हैं। प्रस्तरों में नैरयिकों का निवास स्थान है। एक प्रस्तर के बाद दूसरे प्रस्तर के मध्यावकाश को अन्तर कहा जाता है। प्रथम रत्नप्रभा नरक में तेरह प्रस्तर एवं बारह अन्तर बतलाए गए हैं। बारह अन्तरों में आदि के दो अन्तरों के अतिरिक्त अवशेष अन्तरों में क्रमशः असुरकुमारादि दस भवनपतियों के भवन हैं। वे भवनवासी देव मेरुपर्वत के दक्षिण और उत्तर दिशा में रहते हैं। उन दक्षिणोत्तर निवासी देवों की आवास संख्या निम्नोक्त प्रकार से है—

	दक्षिण दिशा में	उत्तर दिशा में
१. असुरकुमार	३४ लाख	३० लाख
२. नागकुमार	४४ लाख	४० लाख
३. सुवर्णकुमार	३८ लाख	३४ लाख
४. वायुकुमार	५० लाख	४६ लाख
५. द्वीपकुमार	४० लाख	३६ लाख
६. दिशाकुमार	४० लाख	३६ लाख
७. उदधिकुमार	४० लाख	३६ लाख
८. विद्युतकुमार	४० लाख	३६ लाख
९. स्तनितकुमार	४० लाख	३६ लाख
१०. अग्निकुमार	४० लाख	३६ लाख
	कुल ४०६०००००[१]	३६६०००००[२]

कुल मिलाकर ७७२००००० भवन होते हैं।

मूल पाठ गत 'छण्हं जुयलयाणं' का तात्पर्य यह है कि 'द्वीपकुमार से लेकर अग्निकुमार पर्यन्त' उत्तर दिशा और दक्षिण दिशा वाले (युगल) भवनपति देवों के ७६-७६ लाख आवास हैं।

रहने के स्थान को आवास कहा जाता है। भवनपति देवों के निवास स्थान को भवन कहते हैं और वैमानिक देवों के आवासों को विमान कहते हैं।

---

१ चउतीसाचउचत्ता अट्ठतीसं च सय सहस्साओ।
पण्णा चत्तालिसा दाहिणओ हुंति भवणाइं।

दक्षिण दिशा में स्थित असुरकुमारों के ३४ लाख, नागकुमारों के ४४ लाख, सुवर्णकुमारों के ३८ लाख, वायुकुमारों के ५० लाख शेष छः कुमारों के ४०-४० लाख भवन हैं।

२ तीसा चत्तालीसा चोत्तीसं चेव सय-सहस्साइं।
छायाला छत्तीसा उत्तरओ होंति भवणाइं॥

उत्तर दिशि असुरकुमारों के ३० लाख, नागकुमारों के ४० लाख, सुवर्णकुमारों के ३४ लाख, वायुकुमारों के ४६ लाख, शेष कुमारों के ३६-३६ लाख भवन है।

71, 72. पृथ्वीकायिकादि के आवास—

उत्थानिका—

सात नारकों के तथा असुरकुमारादि देवों के आवासस्थानों का वर्णन करने के पश्चात् प्रस्तुत सूत्र में अवशेष पृथ्वीकायिक आदि दण्डकगत जीवों के आवास स्थानों का वर्णन किया जा रहा है—

सूत्र 71 [१]केवइया णं भंते ! [२]पुढविक्का-इयावाससयसहस्सा पण्णत्ता ?

गोयमा ! [३]असंखेज्जा [४]पुढविक्काइ-यावाससयसहस्सा [५]पण्णत्ता जाव[A] [६]असंखिज्जा [७]जोतिसियविमाणावास-सयसहस्सा पण्णत्ता ।

सूत्र 72 [८]सोहम्मे णं [९]भंते ! कप्पे केव-इया [१०]विमाणवाससयसहस्सा पण्णत्ता ?

गोयमा ! बत्तीसं [११]विमाणवाससय-सहस्सा पण्णत्ता । एवं [१२]बत्तीसऽट्ठा-वीसा बारस [१३]अट्ठ चउरो [१४]सयस-हस्सा । पण्णा चत्तालीसा छच्च सहस्सा सहस्सारे ॥४॥

आणय पाणयकप्पे चत्तारि [१५]सयाऽऽरण-ऽच्चुए तिण्णि । सत्त [१६]विमाण-सयाइं चउसु [१७]विजएसु [१८]कप्पेसु ॥५॥

सूत्र 71 भगवन् ! पृथ्वीकायिक जीवों के कितने लाख आवास बतलाए गये हैं ?

गौतम ! असंख्यात लाख पृथ्वीकायिक आवास होते हैं । यावत् ज्योतिष पर्यन्त जीवों के भी असंख्यात लाख आवास कहे गए हैं ।

सूत्र 72 भगवन् ! सौधर्मकल्प में कितने विमाना-वास कहे गए हैं ?

गौतम ! बत्तीस लाख विमानावास कहे गए हैं । इसी प्रकार क्रमशः निम्न प्रकार से अगले देवलोक में भी विमानावास जानना चाहिये । बत्तीस लाख सौधर्मकल्प में, अट्ठाईस लाख ईशान देवलोक में, बारह लाख सनत्कुमार देवलोक में, माहेन्द्र देवलोक में आठ लाख, ब्रह्म लोक में चार (शतसहस्र) लाख, लान्तक में पचास हजार, शुक्र देवलोक में चालीस हजार, सहस्रारकल्प देवलोक में छः हजार, आणत प्राणत कल्प में चार सौ, आरण और अच्युत कल्प में तीन सौ आनतादि चारों कल्प में मिलकर सात सौ विमान हैं । एक सौ ग्या

१. केवतिया - बे० म० ॥ २. पुढविक्काइया° - अमो० । पुढवीकाइया° - घा० । °वाससतसह° - बे० म० ॥ ३. अ... ५. °त्ता गोयमा - पु० ॥ ६. असंखेज्ज वास सयसहस्सा पण्णत्ता जाव - अमो० ॥ ४. पुढवीकाइया° - अमो० ॥ ६. अ... ॥ ७. जोइसिय° - न० । जोदिसियविमाणा° - बे० म० । °सिया वि° - ला ३ ॥ ८. सो... जोइसिय - अमो० घा० ॥ ७. जोइसिय° - न० । जोदिसियविमाणा° - बे० म० । भंते कप्पे कति विमाणा° - न० बे० म० ... णं भंते ? कति वि° - ला ३ ॥ ९. भंते ! कइविमाणा वास सय° - अमो० ॥ ११. विमाणावास° - पु० अमो० ... १०. विमाणावास° - पु० अमो० घा० न० । °माणावाससतस° - बे० म० ॥ १२. बत्तीसट्ठावीसा - पु० अमो० घा० ॥ १३. अट्ठ य - क० ता० म... न० । °माणावाससतस° - बे० म० ॥ १४. सतसहस्सा - बे० म० ॥ १५ °रणच्चुए - पु० घा० । सयारणच्चुए - अमो० न० । सताऽ° - बे० म... १६. °सताइं - बे० म० ॥ १७. वि - णत्थि घा० ॥ १८. कप्पेसु - अमो० घा० न० ॥ १९. °मुत्तर - अमो० ।

A. "जाव" पदेन अप्कायिकाद् आरभ्य वानव्यंतर पर्यन्ता योज्याः ॥

[१९]एक्कारसुत्तरं [२०]हेट्ठिमेसु [२१]सत्तुत्तरं सयं च [२२]मज्झिमए । [२३]सयमेगं उवरिमए [२४]पंचेव अणुत्तरविमाणा ॥६॥

विमान अधस्तन तीन ग्रैवेयकों में हैं। एक सौ सात विमानावास मध्यम ग्रैवेयक त्रिक में है। उपर के ग्रैवेयक त्रिक में एक सौ विमानावास तथा पाच अनुत्तर विमान में पांच ही विमानावास हैं।

विवेचन—

पांच-स्थावर-पृथ्वीकाय-अप्काय, तेउकाय, वायुकाय वनस्पतिकाय के असंख्य-असंख्य लाख आवास स्थान हैं। बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चउरिन्द्रिय जीव के भी असंख्य लाख आवास स्थान है।

पंचेन्द्रिय जीव के मुख्यतया दो भेद होते हैं—१ 'संमूर्छिम' २ गर्भज। संमूर्छिम अवस्था में मनुष्य तक की उत्पत्ति भी होती है। उनकी शारीरिक अवगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण होने से वे चक्षुगम्य नहीं होते हैं। मनुष्य के तिर्यंच पंचेन्द्रिय के भी असंख्य लाख आवास स्थान हैं।

वाणव्यन्तर देवों के असंख्य लाख आवास स्थान हैं। वे आवास रत्नप्रभा पृथ्वी की उपरी मोटाई की पोलार में है।

चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र, तारा ये पांच जाति के ज्योतिष देव हैं। इनके भी असंख्य विमानावास है। यहां से तो चन्द्र और सूर्य एक-एक ही दिखलाई देते हैं, किन्तु तिर्यक्लोक के असंख्य द्वीप है और एक-एक द्वीप में अनेक सूर्य-चन्द्र होने से असंख्य सूर्य चन्द्रादि होते है।

ज्योतिषि चक्र के ऊपर वैमानिक देवों के विमानावास आ जाते हैं। किस वैमानिक देवलोक में कितने विमान है, इसका स्पष्टीकरण गाथार्थ में किया जा चुका है। सब मिलकर चौरासी लाख, सत्तानवें हजार, तेईस विमान होते हैं।

73. पृथ्वीकायिकादि में स्थिति स्थान—

उत्थानिका:—

पूर्व सूत्र में पृथ्वीकाय आदि जीवों के आवास स्थानों का वर्णन किया गया, उन आवास स्थानों में जिनजीवों का निवास है, उनमें किसको कितनी स्थिति है, इसे बतलाने के लिए स्थिति स्थान का विवेचन किया जा रहा है।

हेट्ठिमए - न० । हेट्ठिमएसु - स० । हेट्ठिमए - अमो० ॥ २१. °त्तरं च मज्झि° - अमो० वे० म० ॥ २२. मज्झमए - पा० न० ॥ २३. सयमेयं - अमो० । सत्तमेयं - वे० म० ॥ २४. पंचेवय - अमो० । पंचेवाणु - पा० ॥

संगहो–

सूत्र 73 [1]पुढवि [2]ट्ठिति ? ओगाहण २ सरीर ३ संघयणमेव ४ [3]संठाणे ५ । [4]लेसा ६ दिट्ठी ७ [5]णाणे ८ जोगुवओगे ६-१० य दस [6]ठाणा ।।७।।

सूत्र 73 संग्रह गाथा का अर्थ–पृथ्विकाय आदि जीवावासों में स्थिति अवगाहना, शरीर, संहनन, संस्थान, लेश्या, दृष्टि, ज्ञान, योग, उपयोग ये दस स्थिति स्थान हैं।

74. नारकों के क्रोधोपयुक्तादि निरूपणपूर्वक प्रथम स्थिति स्थान द्वार—

सूत्र 74 [7]इमीसे णं भंते ! [8]रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए [9]निरयावाससयसहस्सेसु [10]एगमेगंसि निरयावासंसि [11]नेरइयाणं [12]केवइया [13]ठितिठाणा पण्णत्ता ?

गोयमा ! असंखेज्जा [14]ठितिठाणा पण्णत्ता । तं जहा-[15]जहन्निया [16]ठिती [17]समयाहिया जहन्निया [18]ठिई [19]दुसमयाहिया जहन्निया [20]ठिई जाव[A] असंखेज्जसमयाहिया जहन्निया [21]ठिई, तप्पाउग्गुक्कोसिया [22]ठिति ।

सूत्र 74 भगवन् ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी में तीस लाख नरकावासों के, एक-एक नरकावास में, नैरयिकों के, कितने स्थिति स्थान कहे गए हैं ?

गौतम ! असंख्यात स्थिति स्थान कहे गए है। जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष की है। समयाधिक जघन्य स्थिति, द्विसमय अधिक जघन्य स्थिति से लेकर त्रिसमय चतुः समय आदि असंख्यात समय अधिक जघन्य स्थिति, तत् प्रायोग्य उत्कृष्ट स्थिति अनेक प्रकार की है, इन सबको मिलाकर असंख्यात स्थिति-स्थान हो जाते है।

---

१. "पुढवी इति लुप्तविभक्तिकत्वाद् निर्देशस्य पृथिवीषु उपलक्षणत्वाच्च अस्य पृथिव्यादिषु जीवावासेषु इति दृश्यम्" अवृ० । पुढवि ढिती ला० । पुढवि ठिई लों० ।। २ ट्ठिइ अमो० । ठिई घा० । "ठिति त्ति 'सूचनात् सूत्रस्य' इति न्यायात् स्थिति स्थानानि वाच्यानि इति" अवृ० ।। ३. "एकरान्तं च पदम् प्रथमैकवचनान्तं दृश्यम्" अवृ० ।। ४. लेस्सा पु० अमो० धा० न० ।। ५. ठाणा लों० ।। ६. ट्ठाणा घा० । ठाणे अ० व० ।। ८. रतणप्पभाए वे० म० ।। ९. °सतसह° वे० म० ।। १०. एगमगंसि घा० ।। ११ नेरतियाणं वे० म० ।। १२. केवतिया वे० म० । केवईया ला० । °वइया ठाणा लों ।। १३. ठिइट्ठाणा अमो० घा०। ठितिट्ठाणा न० ।। १४. ठिइट्ठाणा अमो० घा । ठितिट्ठाणा न० ।। १५. "प्रथमपृथिव्यपेक्षया जघन्या स्थितिः दस वर्षसहस्राणि उत्कृष्टा तु सागरोपमम् । एतस्यां च एकैक समय वृद्धया असंख्येयानि स्थिति स्थानानि भवन्ति" अवृ० ।। १६. ठिइ घा० ।। १७. °हिया दुसमया° लों० ।। १८. ठिती न० ।। १९. °या जाव असंखे° - पु० ।। २०. ठिई समयाहिया जहण्णिया ठिई दुसमयाहिया जाव - अमो० ।। ठिती - न० वे० म० ।। २२. ठिती - पु० न० वे० म० । ठिई - अमो० ।।

A. 'जाव' पदेन त्रिसंख्यातः सङ्ख्येमंख्याल्प 'शीर्षप्रहेलिका' पर्यन्ता सकला संख्या योज्या अर्थात् तिसमयाहिया जाव सीसपहेलिया समयाहिया, असंखेज्जसमयाहिया जहन्निया ठिती ।।

सूत्र 75 इमीसे णं भंते ! [१]रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए [२]निरयावाससयसहस्सेसु एगमेगंसि निरयावासंसि जहन्नियाए [३]ठितीए वट्टमाणा नेरइया किं [४]कोहोवउत्ता, माणोवउत्ता, मायोवउत्ता, [५]लोभोवउत्ता ?

गोयमा ? सव्वे वि ताव [६]होज्जा [७]कोहोवउत्ता १, अहवा [८]कोहोवउत्ता [९]य माणोवउत्ते य २, अहवा कोहोवउत्ता य, माणोवउत्ता [१०]य ३, अहवा कोहोवउत्ता य मायोवउत्ते य ४, अहवा कोहोवउत्ता य मायोवउत्ता [११]य ५, अहवा कोहोवउत्ता य [१२]लोहोवउत्ते य ६ अहवा कोहोवउत्ता य [१३]लोहोवउत्ता [१४]य ७। अहवा कोहोवउत्ता य माणोवउत्ते य मायोवउत्ते य १, कोहोवउत्ता य माणोवउत्ते य मायोवउत्ता [१५]य २, कोहोवउत्ता [१६]य माणोवउत्ता

सूत्र 75 भगवन् ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी के तीस लाख नरकावासों में एक-एक नरकावास में, जघन्य स्थिति में वर्तमान नैरयिक क्या क्रोधोपयुक्त हैं, मानोपयुक्त है, मायोपयुक्त हैं, लोभोपयुक्त हैं ?

गौतम! समस्त नरकावासों में रहे हुए जघन्य स्थिति तक सभी नारक जीव क्रोधोपयुक्त हैं, अथवा बहुत से क्रोधोपयुक्त हैं। और एक नारक मानोपयुक्त होता है। अथवा बहुत से क्रोधोपयुक्त और बहुत से मानोपयुक्त है अथवा बहुत से क्रोधोपयुक्त हैं और एक मायोपयुक्त होता है। अथवा बहुत से क्रोधोपयुक्त और बहुत से मायोपयुक्त होते हैं। अथवा बहुत से क्रोधोपयुक्त और एक लोभोपयुक्त होता है। अथवा बहुत से क्रोधोपयुक्त और बहुत से लोभोपयुक्त होते हैं। (असंयोगी का एक और द्विक संयोगी के छः इस प्रकार सात भंग हुए हैं)

त्रिक संयोगी के बारह भंग होते हैं यथा—

१. अथवा बहुत से क्रोधोपयुक्त, एक मानोपयुक्त और एक मायोपयुक्त होता है।
२. बहुत से क्रोधोपयुक्त है एक मानोपयुक्त है और बहुत से मायोपयुक्त होते हैं।
३. कोई क्रोधोपयुक्त, कोई मानोपयुक्त और एक मायोपयुक्त है।

---

१. रतणप्पभाए - वे० । रतणप्पभाए तीसाए - लों० ॥ २. °सतसहस्सेसु - वे० म० ॥ ३. ठिईए - अमो० घा० ॥ ४ कोधोवउत्ता - वे० म० ॥ ५ लोहोवउत्ता - घा० ॥ ६. होज्ज - अमो० ॥ ७. °ता य अह° - घा० ॥ ८. कोहोवउत्ता य मायोवउत्ता य एवं सत्तावीसं नेयव्वा - ला० ला ३ ॥ ९-१५-१६-१७-१८-१९-२१. य - णत्थि अमो० ॥ १०. प्र० - अतोप्रे एवं माया वि लोभो वि कोहेण भइयव्वो अथवा कोहोवउत्ता य माणोवउत्ते य मायोवउत्ते य पच्छा माणेण लोभेण य पच्छा मायाए लोभेण य पच्छा माणेण मायाए लोभेण य कोहो भणियव्वो ते कोहं अमुंचता एवं सत्तावीसं भंगा णेयव्वा - मं० । य ३ एवं माया वि लोभो वि कोहेण भइयव्वो । अह कोहोवउत्ता य माणोवउत्ते य मायोवउत्ते य पच्छा माणेण लोभेण य पच्छा मायाए लोभेण य पच्छा माणेण मायाए लोभेण य कोहो भइयव्वो ते कोहं अमुंचता - ला १ । य ३ एवं माया वि लोभे वि पच्छा माणेण लोभेण य ११ पच्छा मायाए लोभेण य १५ पच्छा माणेण मायाए १९ लोभेण य माणेण य मायाए कोहो भइयव्वो ते कोहं अमुंचता - ला ४ ॥ ११. एवं सत्तावीसं भंगा णेतव्वा - ता० ॥ १२. लोभोव° - पु० अमो० न० वे० म० ॥ १३. लोभोव° - पु० अमो० न० वे० म० ॥ १४. य । एवं सत्तावीसं० - ला २ । एवं सत्तावीसं भंगा णेतव्वा क० व० ॥ १५–२०. मायोवउत्ता पु० अमो०

[17]य मायोवउत्ते य ३, कोहोवउत्ता [18]य माणोवउत्ता [19]य [20]मायोवउत्ता [21]य[A] ४। एवं [22]कोहमाणलोभेण वि चउ ४। एवं कोह-माया-लोभेण वि चउ ४, एवं १२। पच्छा माणेण मायाए लोभेण य कोहो भइयव्वो, ते कोहं [23]अमुंचता ८। एवं सत्तावीसं भंगा णेयव्वा।

४. बहुत से क्रोधोपयुक्त, बहुत से मानोपयुक्त बहुत से मायोपयुक्त हैं, इसी प्रकार क्रोध, मान और लोभ के साथ भी चार भंग होते है क्रोध, माया और लोभ के भी चार भंग कहने चाहिये इस प्रकार त्रिक संयोगी के बारह भंग बनते हैं।

अब क्रोध नहीं छोड़ते हुए मान, माया, लोभ के साथ चतुः संयोगी के आठ भंग कहने चाहिये।

इस प्रकार असंयोगी का एक, द्विसंयोगी के छः, त्रिक संयोगी के बारह, चतुः संयोगी के आठ कुल मिलाकर सत्तावीस भंग मानने चाहिये।

सूत्र 76 इमीसे णं भंते! रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए निरयावाससयसहस्सेसु एगमेगंसि निरयावासंसि [1]समयाहियाए [2]जहन्नट्ठितीए वट्टमाणा नेरइया किं [3]कोहोवउत्ता, माणोवउत्ता, मायोवउत्ता, लोभोवउत्ता?

गोयमा! कोहोवउत्ते य माणोवउत्ते

सूत्र 76 भगवन्! इस रत्नप्रभा पृथ्वी के तीस लाख नरकावास में से एक-एक नरकावास में समयाधिक जघन्य स्थिति में वर्तमान, नैरयिक क्या क्रोधोपयुक्त हैं? (क्या) मानोपयुक्त हैं? मायोपयुक्त है? लोभोपयुक्त है।

गौतम! (समयाधिक जघन्य स्थिति में वर्तमान नैरयिक जीवों में) कभी एक क्रोधोपयुक्त

न०। मायाउवउत्ता य वे० म०॥ २२ प्र०—एवं कोहेणं माणेणं लोभेण चत्तारि भंगा। अहवा कोहोवउत्ता, माणोवउत्ते, मायोवउत्ते लोभोवउत्ते। अहवा कोहोवउत्ता माणोवउत्ते मायोवउत्ते लोभोवउत्ता अहवा कोहोवउत्ता माणोवउत्ते मायोवउत्ता लोभोवउत्ते अहवा कोहोवउत्ता माणोवउत्ते मायावउत्ता लोभोवउत्ता अहवा कोहोवउत्ता माणोवउत्ता मायोवउत्ते लोभोवउत्ते अहवा कोहोवउत्ता माणोवउत्ता मायोवउत्ते लोभोवउत्ता अहवा कोहोवउत्ता माणोवउत्ता मायोवउत्ता लोभोवउत्ते अहवा कोहोवउत्ता माणोवउत्ता मायोवउत्ता लोभोवउत्ता एवं सत्तावीसं भंगा नेयव्वा - अमो०। कोह माया लोभेण वि चउ एवं बारस पच्छा माणेण - धा०॥ २३. ० मट्ठ एवं - धा०॥ २१. एवं कोहे माणेणं लोभेणं चत्तारि भंगा ८ एवं कोहेणं मायाए लोभेणं चत्तारि भंगा १२ अहवा कोहोवउत्ता माणोवउत्ते मायोवउत्ते लोभोवउत्ते १ अवहा कोहोवउत्ता माणोवउत्ते मायोवउत्ते लोभोवउत्ता २ अहवा कोहोवउत्ता माणोवउत्ते मायोवउत्ता लोभोवउत्ते ३ अहवा कोहोवउत्ता माणोवउत्ते मायोवउत्ता लोभोवउत्ता ४ अहवा कोहोवउत्ता माणोवउत्ता मायोवउत्ते लोभोवउत्ते ५ अहवा कोहोवउत्ता माणोवउत्ता मायोवउत्ते लोभोवउत्ता ६ अहवा कोहोवउत्ता माणोवउत्ता मायोवउत्ता लोभोवउत्तेय ७ अहवा कोहोवउत्ता माणोवउत्ता मायोवउत्ता लोभोवउत्ता ८ एवं सत्तावीसं भंगा णेयव्वा॥

१. समयाधियाए - वे० म०॥ २. °ट्ठिईए - अमो० धा०॥ ३-४. कोधोवउत्ता - वे० म०॥ ५. अथवा - वे० म०॥

य मायोवउत्ते य लोभोवउत्ते य ४ । [4]कोहोवउत्ता य माणोवउत्ता य मायोवउत्ता य लोभोवउत्ता य ८। [5]अहवा कोहोवउत्ते य माणोवउत्ते य १०, [6]अहवा कोहोवउत्ते य [7]माणोवउत्ता य १२, एवं [8]असीति भंगा[A] [9]नेयव्वा एवं जाव [10]संखिज्जसमयाहिया ठिई । [11]असंखेज्जसमयाहियाए ठिईए [12]तप्पाउग्गुकोसियाए [13]ठिईए सत्तावीसं [14]भंगा भाणियव्वा[B] ।

होता है, कभी मानोपयुक्त होता है, कभी मायोपयुक्त होता है, कभी एक लोभोपयुक्त होता है। कभी बहुत क्रोधोपयुक्त, कभी बहुत मानोपयुक्त, कभी बहुत मायोपयुक्त और कभी बहुत लोभोपयुक्त होते हैं।

अथवा एक क्रोधोपयुक्त होता है और एक मानोपयुक्त होता हैं। अथवा एक क्रोधोपयुक्त होता है, बहुत मानोपयुक्त होते हैं। इस प्रकार अस्सी भंग समझना चाहिए। इस प्रकार एक समय अधिक से यावत् संख्यात समयाधिक स्थिति, असंख्यात समयाधिक जघन्य स्थिति वाले तथा, तत्प्रायोग्य उत्कृष्ट स्थिति वाले नैरयिकों में सत्ताईस-सत्ताईस भंग समझने चाहिये।

विवेचन :—

प्रस्तुत सूत्र में नरकवासों में स्थिति स्थान कितने होते हैं ? एतद् विषयक विचार किया गया है। रत्नप्रभा नामक प्रथम पृथ्वी में रहने वाले नारकी जीवों की स्थिति की अपेक्षा उनके स्थिति स्थान असंख्यात होते हैं।

रत्नप्रभा पृथ्वी के प्रथम प्रस्तर में स्थित नारकियो की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष की और उत्कृष्ट स्थिति नब्बे हजार वर्ष की बतलाई गई है। दस हजार वर्ष से एक समय अधिक और नब्बे हजार वर्ष से एक समय कम को सारी स्थितियाँ मध्यम कहलाती है। मध्यम स्थिति में जघन्य उत्कृष्ट स्थिति की तरह कोई एक स्थिति निश्चित नहीं होती है।

जघन्य स्थिति से एक समयाधिक, दो समयाधिक तीन समयाधिक यावत् संख्यात समयाधिक असंख्यात समयाधिक जघन्य स्थिति स्थान बनते हैं। इसके पश्चात उत्कृष्ट स्थिति स्थान आता है। इस जघन्य मध्यम-उत्कृष्ट स्थिति की दृष्टि से रत्न प्रभा नारकी में स्थिति स्थान असंख्य बन जाते हैं।

काल के अति सूक्ष्म अंश को समय कहते हैं। जा निरंश है अर्थात् उसका दूसरा अंश नहीं बन सकता है, ऐसे समय रत्नप्रभा की जघन्य स्थिति से उत्कृष्ट स्थिति पर्यन्त असंख्यात बीत जाते हैं। वे असंख्य विभाग हो असंख्य स्थिति-स्थान के रूप में कहे जाते हैं।

६. अघवा - वे० म० ॥ ७. माणोवयुत्ता य - वे० म० ॥ ८. असीइ - अमो० पा० ॥ ९. नायव्वा - ला २ ॥ १०. संखेज्ज॰ - अमो० पा० न० । ॰हियाए ठिईए - पा० । ॰हियाए ठितीए - न० । ॰याधिया - वे० म० । ॰याहिय ठिती । अ॰ - लों० ला० ला ३ ॥ ११. ॰हिया ठि॰ - अमो० । ॰हियाए ठितीए - न० । ॰हिय ठितीए त॰ - ला० ला ३ ॥ १२. ॰ग्गुक्कोसियाए - पु० अमो० पा० न० वे० म० ॥ १३. ठितीए - न० ॥ १४. भंगा णेयव्वा - ला० ला ३ ॥

ऐसे असंख्य स्थिति स्थानों में चार कपायों में से कौन क्रोधोपयुक्त है, कौन मानोपयुक्त है, कौन मायोपयुक्त है, कौन लोभोपयुक्त है ? इस विपयक प्रश्न गौतम स्वामी के करने पर भगवान ने जो समाधान दिया, उसके ८० भंग बन जाते हैं। वे इस प्रकार हैं :—

असंयोगी के आठ भंग—

१. क्रोधी एक	५. क्रोधी बहुत (अनेक)
२. मानी एक	६. मानी बहुत
३. मायी एक	७. मायी बहुत
४. लोभी एक	८. लोभी बहुत

—द्विक संयोगी के २४ भंग—

१. क्रोधी एक मानी एक	१३. मानी एक मायी एक
२. क्रोधी एक मानी बहुत	१४. मानी एक मायी बहुत
३. क्रोधी बहुत मानी एक	१५. मानी बहुत मायी एक
४. क्रोधी बहुत मानी बहुत	१६. मानी बहुत मायी बहुत
५. क्रोधी एक मायी एक	१७. मानी एक लोभी एक
६. क्रोधी एक मायी बहुत	१८. मानी एक लोभी बहुत
७ क्रोधी बहुत मायी एक	१९. मानी बहुत लोभी एक
८. क्रोधी बहुत मायी बहुत	२०. मानी बहुत लोभी बहुत
९. क्रोधी एक लोभी एक	२१. मायी एक लोभी एक
१०. क्रोधी एक लोभी बहुत	२२. मायी एक लोभी बहुत
११. क्रोधी बहुत लोभी एक	२३. मायी बहुत लोभी एक
१२. क्रोधी बहुत लोभी बहुत	२४. मायी बहुत लोभी बहुत

—त्रिक संयोगी के ३२ भंग—

१. क्रोधी एक मानी एक मायी एक	७. क्रोधी अनेक मानी एक मायी अनेक
२. क्रोधी एक मानी एक मायी अनेक	८. क्रोधी अनेक मानी अनेक मायी अनेक
३. क्रोधी एक मानी अनेक मायी एक	९. क्रोधी एक मानी एक लोभी एक
४. क्रोधी एक मानी अनेक मायी अनेक	१०. क्रोधी एक मानी एक लोभी अनेक
५. क्रोधी अनेक मानी एक मायी एक	११. क्रोधी एक मानी अनेक लोभी एक
६. क्रोधी अनेक मानी अनेक मायी एक	१२. क्रोधी एक मानी अनेक लोभी अनेक

१३. क्रोधी अनेक मानी एक लोभी एक
१४. क्रोधी अनेक मानी एक लोभी अनेक
१५. क्रोधी अनेक मानी अनेक लोभी एक
१६. क्रोधी अनेक मानी अनेक लोभी अनेक
१७. क्रोधी एक मायी एक लोभी एक
१८. क्रोधी एक मायी एक लोभी अनेक
१९. क्रोधी एक मायी अनेक लोभी एक
२०. क्रोधी एक मायी अनेक लोभी अनेक
२१. क्रोधी अनेक मायी एक लोभी एक
२२. क्रोधी अनेक मायी एक लोभी अनेक
२३. क्रोधी अनेक मायी अनेक लोभी एक
२४. क्रोधी अनेक मायी अनेक लोभी अनेक
२५. मानी एक मायी एक लोभी एक
२६. मानी एक मायी एक लोभी अनेक
२७. मानी एक मायी अनेक लोभी एक
२८. मानी एक मायी अनेक लोभी अनेक
२९. मानी अनेक मायी एक लोभी एक
३०. मानी अनेक मायी एक लोभी अनेक
३१. मानी अनेक मायी अनेक लोभी एक
३२. मानी अनेक मायी अनेक लोभी अनेक

—चतुः संयोगी के १६ भंग—

१. क्रोधी एक मानी एक मायी एक लोभी एक
२. क्रोधी एक मानी एक मायी एक लोभी अनेक
३ क्रोधी एक मानी एक मायी अनेक लोभी एक
४. क्रोधी एक मानी एक मायी अनेक लोभी अनेक
५. क्रोधी एक मानी अनेक मायी एक लोभी एक
६. क्रोधी एक मानी अनेक मायी एक लोभी अनेक
७. क्रोधी एक मानी अनेक मायी अनेक लोभी एक
८. क्रोधी एक मानी अनेक मायी अनेक लोभी अनेक
९. क्रोधी अनेक मानी एक मायी एक लोभी एक
१०. क्रोधी अनेक मानी एक मायी एक लोभी अनेक
११. क्रोधी अनेक मानी एक मायी अनेक लोभी एक
१२. क्रोधी अनेक मानी एक मायी अनेक लोभी अनेक
१३. क्रोधी अनेक मानी अनेक मायी एक लोभी एक
१४. क्रोधी अनेक मायी अनेक मायी एक लोभी अनेक
१५. क्रोधी अनेक मानी अनेक मायी अनेक लोभी एक
१६. क्रोधी अनेक मानी अनेक मायी अनेक लोभी अनेक

इस प्रकार असंयोगिक ८, द्विक संयोगी के २४, त्रिक संयोगी के ३२, चतुः संयोगी १६ कुल मिलाकर ८० भंग बनते हैं।

उपर्युक्त ८० भंगों में से २७ भंगों में नारकी जीव शाश्वत् रूप में विद्यमान रहते हैं। वे सत्ताइस भंग निम्न प्रकार से हैं।

असंयोगी का एक भंग—

१. सब क्रोधी

द्विक संयोगी के ६ भंग—

१. क्रोधी अनेक मानी एक
२. क्रोधी अनेक मानी अनेक
३. क्रोधी अनेक मायी एक
४. क्रोधी अनेक मायी अनेक
५. क्रोधी अनेक लोभी एक
६. क्रोधी अनेक लोभी अनेक

त्रिक संयोगी के १२ भंग

१. क्रोधी अनेक मानी एक मायी एक
२. क्रोधी अनेक मानी एक मायी अनेक
३. क्रोधी अनेक मानी अनेक मायी एक
४. क्रोधी अनेक मानी अनेक मायी अनेक
५. क्रोधी अनेक मानी एक लोभी एक
६. क्रोधी अनेक मानी एक लोभी अनेक
७. क्रोधी अनेक मानी अनेक लोभी एक
८. क्रोधी अनेक मानी अनेक लोभी अनेक
९. क्रोधी अनेक मायी एक लोभी एक
१०. क्रोधी अनेक मायी एक लोभी अनेक
११. क्रोधी अनेक मायी अनेक लोभी एक
१२. क्रोधी अनेक मायी अनेक लोभी अनेक

चतुः संयोगी के ८ भंग—

१. क्रोधी अनेक मानी एक मायी एक लोभी एक
२. क्रोधी अनेक मानी एक मायी एक लोभी अनेक
३. क्रोधी अनेक मानी एक मायी अनेक लोभी एक
४. क्रोधी अनेक मानी एक मायी अनेक लोभी अनेक
५. क्रोधी अनेक मानी अनेक मायी एक लोभी एक
६. क्रोधी अनेक मानी अनेक मायी एक लोभी अनेक
७. क्रोधी अनेक मानी अनेक मायी अनेक लोभी एक
८. क्रोधी अनेक मानी अनेक मायी अनेक लोभी अनेक

इस प्रकार नारकी के २७ भंग हुए।

प्रत्येक नरक स्थान में जघन्य स्थिति वाले नैरयिक सदा विद्यमान रहते हैं। उनमें क्रोधोपयुक्त नैरयिकों की बहुलता होती है, क्योंकि नैरयिक जीवों में परस्पर वैमनस्यता के एवं द्वेष भाव के संस्कार जन्मजात होते है अत: इनमें उपर्युक्त २७ भंग पाये जाते हैं। क्रोधोपयुक्त जीव में गौण रूप से मान, माया, लोभ भी रहते है। एक समय अधिक जघन्य स्थिति से लेकर संख्यात समय अधिक जघन्य स्थिति वाले नैरयिक जीवों में ८० भंग होते हैं, क्योंकि इनका विरह भी होता है। इन स्थिति वाले नैरयिक कभी मिलते हैं, कभी नहीं मिलते हैं। अत: उनमें क्रोधादि उपयुक्त नैरयिकों की संख्या एक भी होती है और अनेक भी।

असंख्यात समय की स्थिति वाले से लेकर उत्कृष्ट स्थिति पर्यन्त नैरयिकों में पूर्वोक्त २७ भंग ही पाये जाते हैं, क्योंकि इन स्थिति वाले नैरयिक सदा काल विद्यमान रहते हैं। उनका विरह नहीं होता है।

इसी प्रकार नरक एवं देवों में जहां विरह होता हो, वहां ८० भंग और जहां विरह नहीं होता हो वहां २७ भंग समझने चाहिये।

यही विरह काल उत्पाद का न लेकर क्रोधोपयुक्त नारकी जीवों की सत्ता की अपेक्षा विरह काल लेना चाहिये।

77, 78. द्वितीय अवगाहना द्वार—

उत्थानिका—

पूर्व सूत्र में नरकवासों के विषय में बतलाया गया था। उन नरकावासों में रहने वाले नैरयिकों की क्या स्थिति है। इसका भी दिग्दर्शन कराया गया। उन विभिन्न स्थिति वाले नैरयिकों की शरीर रचना का क्या प्रमाण है? अर्थात् उनका शरीर कितने-कितने अवगाहना-परिमाण वाला हो सकता है। इसका वर्णन प्रस्तुत सूत्र में किया जा रहा है—

सूत्र 77 इमीसे णं भंते ! [1]रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए निरयवाससयसहस्सेसु एगमेगंसि निरयावासंसि नेरइयाणं [2]केवइया [3]ओगाहणाठाणा पण्णत्ता ?

गोयमा ! असंखेज्जा [4]ओगाहणाठाणा पण्णत्ता। तं जहा [5]जहन्निया [6]ओगा-

सूत्र 77 भगवन् ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी के तीस लाख नरकावासों में से एक-एक नरकावास में रहने वाले, नैरयिकों के कितने अवगाहना स्थान कहे गये हैं।

गौतम ! (उन नैरयिकों के) असंख्यात अवगाहना स्थान कहे गए हैं। यथा जघन्य अवगाहना (अंगुल के असंख्यातवें भाग) प्रदेशाधिक

१. राणप्पभाए - वे० म० ॥ २. केवतिया - वे० म० ॥ ३. °हणट्ठाणा - अभो० लो० ला० । ओगाहणाठाणा - म० ॥ ४. °हणट्ठाणा - अभो लो० ला० ॥ ५. जघन्निया - वे० म० ॥ ६. °णा अगुंलस्स असंखेज्जइभागं जहन्निया.

हणा[A], पदेसाहिया जहन्निया ओगाहणा, [७]दुप्पदेसाहिया जहन्निया ओगाहणा, जाव [८]असंखिज्जपदेसाहिया जहन्निया ओगाहणा, [९]तप्पाउग्गुक्कोसिया [१०]ओगाहणा।

जघन्य अवगाहना द्वि प्रदेशाधिक जघन्य अवगाहना, यावत् असंख्यात प्रादेशिक जघन्य अवगाहना, तथा तत्प्रायोग उत्कृष्ट अवगाहना (यहां उत्कृष्ट अवगाहना तेरहवें प्रस्तर में स्थित नारकी जीवों की ७ धनुष ३ रत्नि (हाथ) ६ अंगुल प्रमाण है)

इस प्रकार जघन्य अवगाहना से प्रदेश की वृद्धि होने पर असंख्यात प्रादेशिक जघन्य अवगाहना पर्यन्त असंख्यात अवगाहना स्थान बनते हैं।

सूत्र 78 इमीसे णं भंते! [११]रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए निरयावाससयसहस्सेसु एगमेगंसि निरयावासंसि [१२]जहन्नियाए ओगाहणाए वट्टमाणा [१३]नेरइया किं कोहोवउत्ता[B] ?

[१४]असीइ भंगा भाणियव्वा[C] जाव [१५]संखिज्जपदेसाहिया जहन्निया ओगाहणा। [१६]अंखेज्जपदेसाहियाए जहन्नियाए ओगाहणाए वट्टमाणाणं तप्पाउग्गोक्कोसियाए ओगाहणाए वट्टमाणाणं नेरइयाणं दोसु वि [१७]सत्तावीसं भंगा[D]।

सूत्र 78. भगवन्! इस रत्नप्रभा पृथ्वी में एक-एक नरकावास में ३० लाख नरकावासों में जघन्य अवगाहना में वर्तमान नारक जीव क्या क्रोधोपयुक्त होते हैं? मानोपयुक्त होते हैं? मायोपयुक्त होते हैं? या लोभोपयुक्त होते हैं?

गौतम! यहां पर ८० भंग कहने चाहिये। ये ८० भंग, यावत् संख्यात प्रादेशिक जघन्य अवगाहना तक कहने चाहिये। असंख्यात प्रादेशिक जघन्य अवगाहना में वर्तमान तथा तत्प्रायोग्य उत्कृष्ट अवगाहना में वर्तमान नारकी जीव-इन दोनों के २७ भंग होते हैं।

ओगाहणा एगपदेसाहिया जहन्निया ओगाहणा दुप्पएसाहिया जहन्निया ओगाहणा जाव असंखि° - पु०। °णा जाव असंखेज्जपदेसाहिया - अमो० ॥ ७. दुप्पएसाहिया - धा०। दुपदेसाहिया - न०। दुप्पदेसाहिया - बे० म० ॥ ८. °पएसाहिया - पु० धा०। °असंखेज्ज° - अमो०। असंखेज्जपएसा[N] - न० ॥ ९-१०. उग्गाहणा - अमो० ॥ ११. रतणप्पभाए - बे० म० ॥ १२ जहन्निया ओगा° - अमो० ॥ १३. नेरतिया - बे० म० ॥ १४. असीई - धा०। असीति - बे० म० ॥ १५. °पएसाहिया - पु० धा०। संखेज्जपदे° - अमो० न०। °पदेसाधिया - बे० म० ॥ १६. °पएसाहिया - पु० धा०। °पएसाहियाए - अमो० ॥ १७. °णं सत्तावीसं - न०। वट्टमाणाणं जाव नेरइयाणं दोसु वि - क० स०। वट्टमाणाणं दोसु वि - मं० ॥

A. अंगुलस्स असंखेज्जइभागं ॥

B. माणोवउत्ता मायोवउत्ता लोभोवउत्ता गोयमा ॥

C. सूत्र ७६ जावपूर्ति (A)

D. सूत्र ७५ मायोवउत्ता य + सूत्र ७५ जावपूर्ति (A)

विवेचन—

शरीर की लम्बाई चौड़ाई आदि के परिमाण को अवगाहना कहते हैं। जिस जीव का शरीर जितना लम्बा या चौड़ा है या जितने क्षेत्र को अवगाहित करता है, उस जीव के उतने परिमाण में अवगाहना होती हैं। सब नरकावासों के नैरयिकों की जघन्य अवगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण है। उनकी उत्कृष्ट अवगाहना निम्न प्रकार से है।

रत्नप्रभा नारकी को ७¾ धनुष्य ६ अंगुल
शर्कराप्रभा नारकी की १५½ धनुष्य १२ अंगुल
वालुकाप्रभा नारकी की ३१¼ धनुष्य
पंकप्रभा नारकी की ६२½ धनुष्य
धूमप्रभा नारकी की १२५ धनुष्य
तमप्रभा नारकी की २५० धनुष्य
तमस्तमप्रभा नारकी की ५०० धनुष्य

भवधारणीय अरीर की अपेक्षा से उपर्युक्त उत्कृष्ट अवगाहना समझनी चाहिये।

तत्प्रोयाग्य उत्कृष्ट अवगाहना से तात्पर्य विवक्षित नरकावास के नैरयिकों की उत्कृष्ट अवगाहना से है।

नारक जीव जघन्य अवगाहना से एक, दो, तीन यावत् असंख्यात प्रदेश अधिक जघन्य अवगाहना तथा तद्योग्य उत्कृष्ट अवगाहना वाले होते हैं। इस प्रकार अवगाहना स्थान असंख्यात होते हैं।

जघन्य अवगाहना से संख्यात प्रादेशिक (प्रदेशों की) अवगाहना तक नारक जीवों के ८० भंग कहने चाहिये, क्योंकि वे नरक में निरन्तर नही मिलते हैं। जघन्य अवगाहना से असंख्य प्रदेश अधिक तथा उत्कृष्ट अवगाहना वाले जीवों के २७ भंग जानना चाहिये, क्योंकि ये नरक में बहुत मात्रा में पाये जाते है।

यहां पर यह सहज जिज्ञासा उठ सकती है कि जघन्य स्थिति में तो सत्ताइस भंग बतलाए, किन्तु जघन्य अवगाहना में ८० भंग बतलाने का क्या उद्देश्य है?

जघन्य स्थिति वाले नैरयिक जब तक जघन्य अवगहना में विद्यमान है, तब तक उनके ८० भंग होते है। जिन जघन्य स्थितिक नैरयिकों में २७ भंग बतलाए हैं. वे नैरयिक जघन्य अवगाहना से उपरत हो चुके हैं अर्थात् उनके जघन्य अवगाहना नहीं रहती है।

79, 80. तृतीय शरीर द्वार—

उत्थानिका—

नारक जीवों के शरीर से सम्बन्धी अवगाहना परिमाण का पूर्व सूत्र में वर्णन दिया गया। उन्हीं नारक जीव के शरीर संहननादि कितने होते हैं एतद् विषयक वर्णन प्रस्तुत सूत्र में किया जा रहा है।

सूत्र 79 इमीसे [१]णं भंते ! [२]रयणप्पभाए पुढवीए जाव[A] एगमेगंसि निरयावासंसि [३]नेरइयाणं [४]कइ सरीरया पण्णत्ता ?

गोयमा ! तिण्णि सरीरया पण्णत्ता । तं जहा-वेउव्विए तेयए कम्मए ।

सूत्र 79 भगवन् ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी यावत् (तीस लाख नरकावास में से) एक एक नरकावास में रहने वाले, नैरयिकों के कितने शरीर कहे गए हैं।

गौतम ! तीन शरीर कहे गए हैं। यथा वैक्रिय, तैजस, कार्मण।

सूत्र 80 (i) इमीसे णं [५]भंते ! जाव[B] वेउव्वियसरीरे वट्टमाणा [६]नेरइया किं [७]कोहोवउत्ता ? सत्तावीसं [८]भंगा[C] भाणियव्वा ।

(ii) एएणं [९]गमएणं तिण्णि [१०]सरीरा भाणियव्वा ।

सूत्र 80 (i) भगवन् ! इस यावत् वैक्रिय शरीर में वर्तमान नैरयिक, क्या क्रोध मान माया लोभोपयुक्त है ?

(ii) गौतम ! सत्तावीस भंग कहने चाहिए। इसी प्रकार शेष (तैजस और कार्मण) दोनों शरीरों सहित तीनों के लिये भी जानने चाहिए।

81, 82. चतुर्थ संहनन द्वार—

सूत्र 81 इमीसे [१]णं भंते ! [२]रयणप्पभाए पुढवीए जाव[A] नेरइयाणं [३]सरीरगा किं [४]संघयणी पण्णत्ता ?

सूत्र 81 भगवन् ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी यावत् (तीस लाख नरकावासों में प्रत्येक नरकावास में रहने वाले) नैरयिकों के शरीर का क्या संहनन कहा गया है।

---

१. इमीसे णं रय° - लों० ॥ २. माए जाव - अमो० वे० म० ॥ ३. नेरतियाणं - वे० म० ॥ ४. कति - वे० म० ॥ ५. °ते रयणप्पभाए जाव - म० ॥ ६. नेरतिया - वे० म० ॥ ७. °त्ता ! गोयमा - अमो० । कोहोवयुत्ता० - वे० ॥ ८. °गा एएणं - अमो० म० । भंगा एतेणं - वे० म० ॥ ९. गमेणं - वे० म० ॥ १०. सरीरया - अमो० म० ॥

A. तीसाए निरयावाससयसहस्सेसु ॥
B. सूत्र 75 गाथोउवउत्ता य + सूत्र 75 जावपूर्ति (A)
C. सूत्र 75 गाथोउवउत्ता य + सूत्र 75 जावपूर्ति (A)

१. णं जाव - ला० । णं भंते जाव - जं० ला २ ॥ २. °भाए जाव नेर° - अमो० म० ॥ ३. सरीरया किं - पु० प्र० पा० म० । °रया कि - ला २-३ ॥ ४. संघयणा - अमो० पा० म० वे० म० । सघनणी प° - ला ४ ॥ ५. [illegible]

A सूत्र 74 ॥

गोयमा ! छण्हं संघयणाणं [५]असंघयणी, [६]नेवट्ठी, नेव [७]छिरा, [८]नेव ण्हारूणि। जे पोग्गला अणिट्ठा अकंता [९]अप्पिया [१०]असुहा अमणुण्णा [११]अमणामा [१२]एतेसिं [१३]सरीरसंघायत्ताए परिणमंति ।

गौतम ! नारक जीवों के छः संहननों में से कोई भी संहनन नहीं होता क्योंकि उनके शरीर में न हड्डी होती हैं, न नसें होती हैं, न स्नायु होते हैं। जो पुद्गल अनिष्ट, अकांत, अप्रिय, अशुभ अमनोज्ञ अमनाम हैं, ऐसे पुद्गल नारक जीवों के शरीर संघात रूप में परिणमित होते हैं।

सूत्र 82 इमीसे णं [१४]भंते ! जाव[B] छण्हं संघयणाणं [१५]असंघयणे [१६]वट्टमाणाणं [१७]नेरइया किं [१८]कोहोवउत्ता० ? सत्तावीसं भंगा[C]।

सूत्र 82 भगवन् ! यावत् (रत्नप्रभा पृथ्वी के तीस लाख नरकावासों में एक एक नरकावास में रहने वाले) छः संहननो में से जिसके एक भी संहनन नहीं हैं, वे नैरयिक क्या क्रोध मान-माया लोभोपयुक्त हैं ?

गौतम ! यहां सत्ताईस भंगों का कथन करना चाहिये।

83, 84. पंचम संस्थान द्वार—

सूत्र 83 इमीसे णं [१]भंते! [२]रयणप्पभाए [३]जाव[A] [४]सरीरया किं [५]संठिया पण्णत्ता ?

[६]गोयमा[B] [७]दुविहा पण्णत्ता । तं जहा भवधारणिज्जा य [८]उत्तरवेउव्विया य ।

सूत्र 83 भगवन् ! इस रत्नप्रभा के यावत् (तीस लाख नरकावास में से प्रत्येक नरकावास में रहने वाले नैरयिकों के शरीर) किस संस्थान वाले है ?

गौतम ! नैरयिक शरीर दो प्रकार के कहे गए हे यथा, भवधारणीय और उत्तर वैक्रिय।

यणी - पु० ॥ ६. नेवऽट्ठी - वे० म० ॥ ७. च्छिरा - अमो० ता० मं० स० ॥ ८. ण्हारू । जे - जं० ॥ ९. अप्पिया - क० ॥ १०. °हा अमणामा - घा० । असुभा - वे० म० ॥ ११. °णामा एतेसिं - ला ३ । यद्यपि मुद्रितमूलपाठ वृत्त्योरयमेव पाठोऽस्ति किन्तु प्राचीनतमवृत्तिपुस्तके मुद्रितानुसारी पाठो नोपलभ्यते ॥ १२. एएसि - अमो० । तेतेसि - क० ता० वे० म० मं० । तेसि संघा° - ला ४ ॥ १३. संघातत्ताए - वे० ॥ १४. भंते रयणप्पभाए जाव - न० ॥ १५. असंघयणा वट्ट° - लो० ॥ १६. °माणा नेर° - घा० म० वे० म० ॥ १७. नेरतिया - वे० म० । °या ? सत्ता° - लो० ॥ १८. °त्ता गोयमा सत्ता° - घा० ॥

B. सूत्र 75 माणोवउत्ता य + सूत्र 75 जावपूर्ति (A)

C. सूत्र 75 माणोवउत्ता य + सूत्र 75 जावपूर्ति (A)

१. भंते ! जाव - अमो० ॥ २. प्पभा जाव - पु० वे० म० ॥ ३. जाव नेरइयाणं सरीरया - म० ४. सरीरिया - पु० ॥ ५. संठिता - वे० म० ॥ ६. °मा सरीरया - घा० ॥ ७. दुविधा - वे० म० ॥ ८. उत्तरविउव्विया - पु० ला १ ॥

A. सूत्र 74 ॥

B. नेरइयाणं सरीरया ॥

तत्थ णं जे ते भवधारणिज्जा ते [९]हुंड-संठिया पण्णत्ता । [१०]तत्थ णं उत्तर-वेउव्विया ते वि हुंडसंठिया पण्णत्ता ।

उनमें जो भवधारणीय शरीर वाले हैं, वे हुंडक संस्थान वाले हैं। उनमें भी जो उत्तर वैक्रिय शरीर वाले नैरयिक हैं, वे भी हुंडक संस्थान वाले हैं।

सूत्र 84 इमीसे [११]णं जाव[C] हुंडसंठाणे वट्टमाणा [१२]नेरइया किं [१३]कोहोवउत्ता॰? सत्तावीसं भंगा[D] ।

सूत्र 84 भगवन् ! इस यावत् (हुंडक संस्थान में वर्तमान नारक जीव) क्या क्रोध-मान-माया-लोभोपयुक्त है ?

गौतम ! यहां पर सत्ताईस भंगों का कथन करना चाहिये।

विवेचन :—

आत्मा जिसमें व्याप्त होकर रहती है या प्रतिक्षण जिसका विनाश विकास अवस्थान अवश्य होता है, उसे शरीर कहते हैं। नारक जीवों के तीन शरीर होते हैं—वैक्रिय, तैजस, कार्मण।

जिसके द्वारा एक से अनेक रूप बनाये जा सकते हैं, उसे वैक्रिय शरीर कहते हैं, इसके दो भेद हैं—भवधारणीय और उत्तर वैक्रिय।

जो शरीर किये गए आहार को खल भाग, रस भाग आदि के रूप में परिणमन करता है, उसे तैजस शरीर कहते हैं।

कर्मों के समूह को कार्मण शरीर कहते हैं।

उपर्युक्त तीनों शरीर वाले नारकी जीवों के क्रोधादिक २७ भंग होते हैं, क्योंकि नरक में एक भी ऐसा समय नहीं आता, जिस समय तीनों शरीर वाले नारकी जीव नहीं हों।

सूत्र में पहले वैक्रिय का कथन करके पुनः तैजस कार्मण के साथ वैक्रिय का कथन किया है। इसका तात्पर्य यह है कि यहां वैक्रिय सहित तैजस कार्मण ही गृहीत है। केवल तैजस कार्मण नहीं, क्योंकि ये दोनों शरीर तो आत्मा के साथ विग्रह गति में भी विद्यमान रहते हैं। अतः उनमें ८० भंग प्राप्त होते हैं, लेकिन यहां २७ भंग ही अभिप्रेत है। इसलिये तैजस-कार्मण को वैक्रिय शरीर सहित कहा है। इसी बात का संसूचन सूत्र में "एएणं गमेणं तिण्णि सरीरा भाणियव्वा" के द्वारा किया गया है।

९. या। १७ इ॰ - जं॰ ॥ १०. तत्थ णं जे ते उत्तर॰ - पु॰ घा॰ म॰ । तत्थ जे ते - अमो॰ ॥ ११. णं भंते रयण॰ भाए जाव - म॰ ॥ १२. नेरतिया - बे॰ म॰ । किया॰ ? सत्ता॰ - जं॰ ॥ १३. ॰उत्ता जाव सत्ता॰ - अमो॰ । ॰उत्ता गोयमा सत्ता॰ - पा॰ ॥

C. सूत्र 75 माणोवउत्ता य + सूत्र 75 आवपूर्ति (A) ॥
D. सूत्र 75 माणोवउत्ता य + सूत्र 75 आवपूर्ति (A) ॥

नारकी जीवों के हड्डी, शिराएँ, स्नायु के नहीं होने से उनमें संहनन नहीं होता, परन्तु जो पुद्गल अनिष्ट अकान्त अप्रिय अशुभ अमनोज्ञ अमनोहर होते है, वे पुद्गल शरीर के रूप में परिणत होते हैं। ऐसे पुद्गलों का यह स्वभाव होता है कि छेदने पर वे अलग हो जाते हैं, और पुनः मिल भी जाते हैं।

नारकी जीवों का संस्थान हुण्डक होता है। यद्यपि नारकी जीव सुन्दर शरीर बनाने की इच्छा रखते हैं तथापि शक्ति की मन्दता से बेढंगा, मन प्रतिकूल ही शरीर बनता है।

ऐसे असंहननी हुण्डक संस्थानी नारकी जीवों में क्रोधादिक २७ भंग पाये जाते हैं।

85, 86. षष्ठ लेश्या द्वार—

उत्थानिका—

पूर्व सूत्र में नैरयिकों के संहनन-संस्थान के विषय में विचार किया गया। उन नैरयिकों में लेश्या, ज्ञान, योग, उपयोग कितने पाये जाते हैं, इसका ज्ञान भी अपेक्षित है। अतः प्रस्तुत सूत्र में नैरयिक जीवों के लेश्यादिक के विषय में विचार किया जा रहा है।

सूत्र 85 इमीसे णं भंते ! [१]रयणप्पभाए [२]पुढवीए नेरइयाणं [३]कति [४]लेस्साओ [५]पण्णत्ता ?

गोयमा ! [६]एगा काउलेस्सा पण्णत्ता।

सूत्र 86 इमीसे [७]णं भंते ! रयणप्पभाए जाव[A] काउलेस्साए वट्टमाणा०[B] ?

सत्तावीसं भंगा[C]।

सूत्र 85 भगवन् ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी के नैरयिकों में कितनी लेश्याएँ कही गई हैं ?

गौतम ! उनमें केवल एक कापोत लेश्या कही गई है।

सूत्र 86 भगवन् ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी में बसने वाले कापोतलेश्या वाले नारक जीव क्या क्रोधोपयुक्त है, यावत् लोभोपयुक्त है ?

गौतम ! इनके भी सत्ताईस भंग कहने चाहिये।

87, 88. सप्तम दृष्टि द्वार—

सूत्र 87 इमीसे [८]णं जाव[D] किं [९]सम्मदिट्ठी [१०]मिच्छदिट्ठी [११]सम्मामिच्छदिट्ठी ?

सूत्र 87 हे भगवन् ! यावत् इस रत्नप्रभा पृथ्वी में बसने वाले नारक जीव क्या सम्यग्दृष्टि हैं, मिथ्यादृष्टि हैं, या सम्यग्मिथ्यादृष्टि (मिश्रदृष्टि) हैं ?

१. र० कति - जं. ॥ २. °वीए जाव नेर° - धा० न० । °वीए कति - लो० ॥ ३. कइ ल° - अमो० धा० ॥ ४. लेसाओ - वे० म० ॥ ५. पण्णत्ताओ - धा० न० वे० म० ॥ ६. एककाधाउलेसा - वे० । एगा का° - म० ॥ ७. णं जाव का° - जं० लो० ॥ ८. णं भंते रयणप्पभाए जाव नेरइया किं सम्म° - न० ॥ ९. सम्मदिट्ठी - न० ॥ १०. मिच्छादिट्ठी - धा० । मिच्छदिट्ठी - वे० म० ॥ ११. °मिच्छादिट्ठी - पु० । °दिट्ठी ? गोयमा ति° - अमो० ।

A. सूत्र 75 माणोवउत्ता य + सूत्र 75 जावपूर्ति (A) ॥
B. नेरइया किं कोहोवउत्ता ॥
C. सूत्र 75 माणोवउत्ता य तक + सूत्र 75 जावपूर्ति (A) ॥
D. सूत्र 74 ॥

तिण्णि वि ।

सूत्र 88 (i) इमीसे [12]णं जाव[E] सम्मदंसणे वट्टमाणा नेरइया॰[F] ?

सत्तावीस [13]भंगा[G] ।

(ii) एवं मिच्छदंसणे वि ।

(iii) [14]सम्मामिच्छादंसणे असीति भंगा[H] ।

गौतम ! वे तीनों प्रकार के होते हैं।

सूत्र 88 (i) इस रत्नप्रभा पृथ्वी में रहने वाले सम्यग्दृष्टि नारक क्या क्रोधोपयुक्त यावत् लोभोपयुक्त हैं ?

हां गौतम ! इसके सत्ताईस भंग कहने चाहिये।

(ii) इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि के भी क्रोधोपयुक्त आदि सत्ताईस भंग कहने चाहिए।

(iii) सम्यग् मिथ्यादृष्टि के अस्सी भंग (पूर्ववत्) कहने चाहिए।

89, 90. आठवां ज्ञान द्वार—

सूत्र 89 इमीसे [1]णं भंते ! [2]जाव[A] किं णाणी, अण्णाणी ?

गोयमा ! णाणी वि, अण्णाणी वि । [3]तिण्णि [4]णाणाणि नियमा, तिण्णि अण्णाणाइं भयणाए ।

सूत्र 90 (i) इमीसे [5]णं [6]भंते ! जाव[B] अभिणिबोहियणाणे [7]वट्टमाणा[C]॰ ?

सूत्र 89 भगवन् ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी में रहने वाले जीव यावत् क्या ज्ञानी हैं, या अज्ञानी हैं ?

गौतम ! उनमें ज्ञानी भी है और अज्ञानी भी है। जो ज्ञानी हैं, उनमें नियमपूर्वक तीन ज्ञान होते हैं, और जो अज्ञानी हैं, उनमें तीन अज्ञान भजना (विकल्प) से होते हैं

सूत्र 90 (i) भगवन् ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी में रहने वाले अभिनिबोधिक ज्ञानी (मतिज्ञानी) नारकी जीव क्या क्रोधोपयुक्त यावत् लोभोपयुक्त होते हैं ?

॰मिच्छद्दिट्ठी - वे॰ म॰ । ॰मिच्छादिट्ठी गोयमा - पा॰ ॥ १२. णं भंते ! रयणप्पभाए जाव - न॰ ॥ १३. भंगा एवं मिच्छादंसणे वि - पु॰ न॰ । भंगा एवं मिच्छदंसणे वि सम्मामिच्छदंसणे असीइ भंगा - अमो॰ पा॰ । एवं मिच्छ॰ वे॰ म॰ । एवं मिच्छादंसणे वि सम्मामिच्छादंसणे - जं॰ लों॰ ॥ १४. ॰मिच्छादंसणे - न॰ । ॰मिच्छद्दंसणे - वे॰ म॰ ॥

E. सूत्र 84 ॥

F. कि कोहोवउत्ता सत्तावीसं ॥

G. सूत्र 75 माणोवउत्ता य तक + सूत्र 75 जावपूर्ति (A)

H. सूत्र 76 का पाठ व जाव टिप्पणी (A) ॥

सूत्र ८९-९०-९१-९२.—१. णं जाव कि - अमो॰ लों॰ । णं भंते रयणप्पभाए जाव - न॰ ॥ २. जाव नेरइया कि - न॰ ॥ ३. तिण्णि वि - ता॰ ॥ ४ णाणाइं - पु॰ अमो॰ पा॰ न॰ मा २-४ ॥ ५. णं जाव आभि॰ - लों॰ ॥ ६. भंते रयणप्पभाए जाव - न॰ ॥ ७. वट्टमाणे गोयमा - अमो॰ । वट्टमाणे - ला २ ॥ ८. ॰ण्णि अण्णा॰ - पु॰ अमो॰ पा॰

A. सूत्र 74 ॥

B. सूत्र 75 माणोवउत्ता य + सूत्र 75 में जावपूर्ति (A) ॥

C. नेरइया कि कोहोवउत्ता ॥

सत्तावीसं भंगा[D] ।

(ii) एवं तिण्णि णाणाइं, [८]तिण्णि य अण्णाणाइं [९]भाणियव्वाइं ।

गौतम ! उन नारकों के क्रोधोपयुक्त आदि २७ भंग कहने चाहिए ।

(ii) इसी प्रकार तीनों ज्ञान वाले तथा तीनों अज्ञान वाले नारकों में क्रोधोपयुक्त आदि २७-२७ भंग कहने चाहिए ।

91, 92. नौवां योग द्वार—

सूत्र 91 इमीसे [१०]णं जाव[E] किं मणजोगी, [११]वइजोगी, [१२]कायजोगी ?

तिण्णि वि ।

सूत्र 92 (i) इमीसे णं [१३]जाव[F] मणजोए [१४]वट्टमाणा [१५]किं नेरइया कोहोवउत्ता॰ ?

सत्तावीसं भंगा[G] ।

(ii) एवं [१६]वइजोए । एवं कायजोए ।

सूत्र 91 भगवन् ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी में रहने वाले नारक जीव क्या मनोयोगी है, वचनयोगी हैं अथवा काययोगी है ?

गौतम ! वे तीनों प्रकार के हैं ।

सूत्र 92 (i) भगवन् ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी में रहने वाले और यावत् मनोयोग में रहने वाले नारक जीव क्या क्रोधोपयुक्त यावत् लोभोपयुक्त हैं ?

गौतम ! उनके क्रोधोपयुक्त आदि २७ भंग कहने चाहिए।
चाहिए।

(ii) इसी प्रकार वचनयोगी और काययोगी के भी क्रोधोपयुक्त आदि २७-२७ भंग कहने चाहिए ।

93, 94. दसवां उपयोग द्वार—

सूत्र 93 इमीसे [१]णं भंते जाव[A] नेरइया किं [२]सागारोवउत्ता, [३]अणागारोवउत्ता ?

सूत्र 93 भगवन् ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी के नारक जीव क्या साकारोपयोग युक्त हैं, अथवा अनाकारोपयोग से युक्त हैं ?

न० ॥ ९. भणिय॰ - लो॰ ॥ १०. भंते रयणप्पभाए जाव - न० । णं भंते जाव - जं० ॥ ११. वयजोगी - अमो॰ ला २ ॥ १२. ॰गी गोयमा । तिण्णि - अगो॰ घा॰ ॥ १३. भंते रयणप्पभाए जाव - न० ॥ १४. ॰णा कोहोवउत्ता - पु॰ । ॰माणा सत्तावीसं भंगा एवं कायाजोए - अमो॰ । वट्टमाणा कि कोहोवउत्ता - घा॰ । वट्टमाणा नेरइया कि कोहो॰ - न० । ॰णा ? सत्ता॰ जं॰ ॥ १५. किं कोहो॰ - बे॰ म॰ ॥ १६. वयजो॰ - ला २ । ॰ए काय॰ - ला २ ला॰ ॥

D. सूत्र 75 माणोवउत्ता य तक + सूत्र 75 जावपूर्ति (A) ॥

E. सूत्र .4 ॥

F. सूत्र 75 माणोवउत्ता य तक + सूत्र 75 जावपूर्ति (A) ॥

G. सूत्र 7 माणोवउत्ता य + सूत्र 75 में जावपूर्ति (A) ॥

सूत्र ९३-९४-९५.—१. इमाग - घा॰ । इमीसे णं भंते रयणप्पभाए जाव - न० ॥ २ ॰वउत्ता - बे॰ ॥ ३. अणागा-

A. सूत्र 74 ॥

गोयमा ! सागारोवउत्ता वि, [4]अणागारोवउत्ता वि ।

गौतम ! वे साकारोपयोग युक्त भी हैं, और अनाकारोपयोग युक्त भी हैं।

सूत्र 94 (i) इमीसे [5]णं जाव[B] [6]सागारोवओगे [7]वट्टमाणा किं कोहोवउत्ता० ?

सत्तावीसं भंगा[C] ।

(ii) एवं [8]अणागारोवउत्ते वि सत्तावीसं भंगा[D] ।

सूत्र 94 (i) भगवन् ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी के साकारोपयोग युक्त नारक जीव क्या क्रोधोपयुक्त हैं, यावत् लोभोपयुक्त है ?

गौतम ! इनमें क्रोधोपयुक्त आदि २७ भंग कहने चाहिये ।

(ii) इसी प्रकार अनाकारोपयोग युक्त में भी क्रोधोपयुक्त आदि २७ भंग कहने चाहिए।

95. ग्यारहवां लेश्या द्वार—

सूत्र 95 एवं सत्त वि पुढवीओ [9]नेयव्वाओ[E] । णाणत्तं [10]लेसासु । गाहा—

[11]काऊ य दोसु, [12]तइयाए मीसिया, नीलिया चउत्थीए । पंचमियाए मीसा, कण्हा, [13]तत्तो परमकण्हा ॥७॥

सूत्र 95 रत्नप्रभा पृथ्वी के विषय में दस द्वारों का वर्णन किया है, उसी प्रकार से सातों पृथ्वियों के विषय में जान लेना चाहिए किन्तु लेश्याओं में विशेषता है।

वह इस प्रकार है—गाथा—

पहली और दूसरी नरक पृथ्वी में कापोत लेश्या है, तीसरी में मिश्र अर्थात् कापोत और नील, ये दो लेश्याएँ हैं। चौथी में नील लेश्या है। पांचवी में मिश्र अर्थात् नील और कृष्ण, ये दो लेश्याएँ हैं, छठी में कृष्ण लेश्या और सातवीं में परम कृष्ण लेश्या होती है।

विवेचन—

पहली और दूसरी नारकी में कापोतलेश्या, तीसरी में कापोत और नील, चौथी में नील, पांचवी में नील और कृष्ण, छट्ठी में कृष्ण और सातवी नारकी में महाकृष्णलेश्या होती है। इनमें क्रोधादिक सत्ताईस भंग कहने चाहिए।

रोवउत्ता - अ० । अणागारो वयुत्ता - ता० वे० ॥ ४. °वयुत्ता - वे० ॥ ५ णं भंते रयणप्पभाए जाव - ह० ॥ ६. °रोवउत्ते वट्टमाणा सत्ता° - अमो० ॥ ७. °णा नेरइया किं - न० । °णा ? सत्ता° - जं० ला० ॥ ८. °त्ता वि - पु० पा० ला १ ॥ ९ नेतव्वाओ - वे० म० । नेयाओ - ला २ ॥ १०. लेसासु - अमो० ॥ काओ य दोसु - अमो० ॥ १२. तइयाइ - अमो० । ततियाए - वे० म० ॥ १३. तओ - अमो० ॥

B. सूत्र 75 सागोवउत्ता य तक + सूत्र 75 में आवृत्ति (A) ॥

C. सूत्र 75 सागोवउत्ता य तक + सूत्र 75 में आवृत्ति (A) ॥

D. सूत्र 75 सागोवउत्ता य तक + सूत्र 75 में आवृत्ति (A) ॥

E. सूत्र 65 + सूत्र 65 में आवृत्ति (A) ॥

दृष्टि—रत्नप्रभा आदि सातों नरकों में तीनों दृष्टियां पाई जाती हैं। सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि में क्रोधादिक सत्ताईस भंग पाये जाते हैं। मिश्रदृष्टि में ८० भंग होते हैं। क्योंकि मिश्रदृष्टि वाले अल्प होते हैं और उनका सद्भाव भी अनिवार्य नहीं होता। वे कभी होते हैं, कभी नहीं होते हैं। इसीलिए मिश्रदृष्टि नारकों में ८० भंग बतलाए हैं।

ज्ञान—सम्यक्त्व सहित जो जीव नरक में उत्पन्न होते हैं, उनको जन्मकाल में भवप्रत्यय अवधिज्ञान होता है, अतः वे नियमपूर्वक तीन ज्ञान वाले होते हैं। जो मिथ्यादृष्टि जीव नरक में उत्पन्न होता है, वे तिर्यञ्च और मनुष्यों में से संज्ञी और असंज्ञी जीवों में से गये हुए हैं। जो जीव संज्ञी जीवों में से आकर नरक में उत्पन्न होते हैं, वे जन्म से ही विभंगज्ञान वाले होते हैं। अतः उनके तीन अज्ञान होते हैं किन्तु जो असंज्ञी जीवों में से आकर नरक में उत्पन्न होते हैं, उनके दो अज्ञान होते हैं—मतिअज्ञान और श्रुतअज्ञान। अन्तर्मुहूर्त के बाद विभंगज्ञान उत्पन्न होता है। तब उन असंज्ञी जीवों में से नैरयिकों के तीन अज्ञान होते हैं। इसी बात को लक्ष्य में रखते हुए तीन अज्ञान के लिए *'भजना' शब्द का प्रयोग किया है। किसी समय दो अज्ञान होते हैं और किसी समय तीन अज्ञान होते* हैं। जैसाकि निम्न गाथा से स्पष्ट होता है—

सण्णी नेरइएसुं उरलपरिच्चायणंतरे समये।
विभंगं ओहिं वा अविग्गहे विग्गहे लहइ॥
असण्णी नरएसुं पज्जत्तो जेण लहइ विभंगं।
नाणा तिण्णेव तओ अण्णाणा दोण्णि तिण्णेव॥

औदारिक शरीर को त्यागकर जो संज्ञी जीव नरक में उत्पन्न होते हैं, वे जीव अविग्रह या विग्रह गति में विभंगज्ञान या अवधिज्ञान को प्राप्त करते हैं।

असंज्ञी जीव जब नरक में उत्पन्न होता है तब पर्याप्तवस्था आने पर विभंगज्ञान को प्राप्त करता है। इसीलिए कहा जाता है कि नरक में ज्ञान तो नियमपूर्वक तीन होते हैं। अज्ञान त्रिविधता में विकल्प है क्योंकि अज्ञान दो भी होते हैं। यह प्रथम नरक के जीवों की अपेक्षा से है, आगे दूसरी नारकी से लेकर सातवी नारकी पर्यन्त नैरयिक जीवों में तो तीन ज्ञान या तीन अज्ञान नियमपूर्वक होते हैं।

मूलपाठ में आभिनिबोधिक का वर्णन करने के बाद पुनः तीन ज्ञान, तीन अज्ञान का वर्णन किया है। इन तीन ज्ञान या तीन अज्ञान में आभिनिबोधिक ज्ञान या अज्ञान को भी सम्मिलित किया है।

अपर्याप्त अवस्था में नैरयिक जीव के दो अज्ञान होते हैं। दो अज्ञान वाले जीव बहुत कम होते हैं, परन्तु जघन्य अवस्था के आश्रय से ही इनमें क्रोधादिक ८० भंग बनते हैं। तीन ज्ञान और तीन अज्ञान में २७ भंग होते हैं।

पण्णत्ता । तं जहा जहन्निया ठिई जाव[A] [७]तप्पाउग्गुक्कोसिया [८]ठिई ।

सूत्र 98 असंखेज्जेसु णं भंते ! [९]पुढविकाइयावाससयसहस्सेसु एगमेगंसि [१०]पुढविकाइयावासंसि [११]जहन्नियाए [१२]ठितीए वट्टमाणा [१३]पुढविक्काइया किं [१४]कोहोवउत्ता, [१५]माणोवउत्ता, मायोवउत्ता, लोभोवउत्ता ?

गोयमा ! कोहोवउत्ता वि माणोवउत्ता वि [१६]मायोवउत्ता वि [१७]लोभोवउत्ता वि । एवं [१८]पुढविक्काइयाणं सव्वेसु वि ठाणेसु अभंगयं, नवरं तेउलेस्साए [१९]असीति भंगा[B] ।

सूत्र 99 (i) एवं [२०]आउक्काइया वि ।

(ii) [२१]तेउक्काइय-वाउक्काइयाणं सव्वेसु वि ठाणेसु अभंगयं ।

(iii) [२२]वणस्सइकाइया [२३]जहा[C] [२४]पुढविक्काइया ।

गये हैं । वे इस प्रकार हैं इनकी जघन्य स्थि... एक समय अधिक जघन्य स्थिति, दो सम... अधिक जघन्य स्थिति इत्यादि यावत् उसके योग्य उत्कृष्ट स्थिति ।

सूत्र 98 भगवन् ! पृथ्वीकायिक जीवों के असंख्य... लाख आवासों में से एक-एक आवास में र... वाले और जघन्य स्थिति वाले पृथ्वीकायिक क्या क्रोधोपयुक्त हैं, मानोपयुक्त हैं, मायोपयुक्त हैं... लोभोपयुक्त हैं ?

गौतम ! वे क्रोधोपयुक्त भी हैं, मानोपयुक्त भी हैं, मायोपयुक्त भी हैं और लोभोपयुक्त भी हैं । इस प्रकार पृथ्वीकायिकों के सब स्थानों में अभंगक हैं । विशेषता यह है कि तेजोलेश्या में अस्सी भंग कहने चाहिए ।

सूत्र 99 (i) इसी प्रकार अप्काय के विषय में समझना चाहिए ।

(ii) तेजस्काय और वायुकाय के सब स्थानों में अभंगक हैं ।

(iii) वनस्पतिकायिक जीवों के सम्बन्ध में पृथ्वीकायिकों के समान समझना चाहिए ।

म० ॥ ९ °विकाइया° - पु० न० । पुढवीका° - पा० । पुढविकाइया वाससयसह° - वे० म० ॥ १०. °विकाइया° - पु० न० म० वे० । पुढवीका° - पा० ॥ ११. जहण्णट्ठिईए - अमो० । जहन्निठितीए - वे० म० ॥ १२. ... पा० ॥ १३. पुढवीका° - पा० । पुढविकाइया - अमो० । °विकाइया - ला० ॥ १४. कोहोवउत्ता - वे० ... १५. °वउत्ता - वे० ॥ १६. मायाव° - जं० । °वयुत्ता - वे० ॥ १७. लोहोवउत्ता वि - अमो० ॥ १८. पुढविका... याणं - अमो० । पुढवीकाइ° - पा० ॥ १९. असीइ भंगा - अमो० ला ४ । असीई भंगा - पा० । असीती - ... असी भंगा - लो० ॥ २०. आउकाइया वि - अमो० ॥ २१. °काइया वाउकाइयाणं - अमो० ॥ २२. वणस्सइकाइ... अमो० न० । वणस्सतिकाइया - वे० म० ॥ २३. जधा - वे० ॥ २४. पुढविकाइया - अमो० । पुढवीकाइया - ...

A. सूत्र 74 ॥

B. सूत्र 76 में जावपूर्ति (A) ॥

C. सूत्र 98 ॥

विवेचनः—

प्रस्तुत पाठ में स्थावरकायिक जीवों के स्थिति-स्थान आदि के बारे में चर्चा की गयी है। स्थावर जीवों में चेतना सूक्ष्मांशरूप से उद्घाटित होने से साधारण मानवों के बुद्धि गम्य नहीं हो पाती, जिससे कभी विपरीत कल्पना भी कर ली जाती है कि पृथ्वीकाय आदि चेतनावान नहीं है, परन्तु सर्वज्ञ-सर्वदर्शी तीर्थंकर केवल ज्ञानी थे। उनके ज्ञान में पृथ्वी आदि की चेतनता स्पष्ट प्रतिभासित थी। इसीलिए प्रस्तुत पाठ में स्थावर जीवों की स्थिति आदि का निरूपण किया है।

पृथ्वी पानी आदि जीवात्माओं मे स्पष्ट रूप से तो चैतन्य परिलक्षित नहीं होता, एतावता उन्हें निर्जीव या चैतन्यहीन भी नही कहा जा सकता। उदाहरण के रूप में जिस प्रकार कोई व्यक्ति जन्म से अंधा, बहरा, मूक और पंगु है, ऐसे व्यक्ति को कोई संत्रस्त करे, कष्ट दे तो वह व्यक्ति अपने कष्ट को न तो वाणी से व्यक्त कर सकता है और न ही चलकर या अन्य चेष्टाओं से अपनी पीड़ा को अभिव्यक्त कर सकता है। ऐसी अवस्था में क्या ऐसा माना जाय कि उसमें चेतना ही नहीं है ? किन्तु इस प्रकार तो कोई भी व्यक्ति नहीं मानेगा। चेतना तो उसमे विद्यमान है परन्तु बाह्य अवयवों के असक्षम होने से परिलक्षित नही हो पा रही है। इसी प्रकार पृथ्वी आदि में भी सचेतनता रही हुई है, किन्तु अव्यक्त रूप में स्थित होने से स्पष्ट रूप से परिलक्षित नही हो पाती। अतः स्थिति आदि को बतलाने के पूर्व स्थावर जीवों की सचेतनता के प्रमाण प्रस्तुत किये जा रहे है।

स्थावर की सचेतनता—

(1) पृथ्वीकाय –पृथ्वी ही जिनका शरीर है, वे पृथ्वीकाय जीव कहलाते हैं। जिस प्रकार व्यक्ति के शरीर में गुदा के आस-पास होने वाले बवासीर के मस्से नये-नये मस्सों को उत्पन्न करके शरीर की सजीवता को प्रमाणित करते हैं, उसी प्रकार पृथ्वी में भी सजातीय नये नये अंकुर उत्पन्न करने की शक्ति होती है। प्रमाण के रूप में नमक की खदान में से नमक निकालने पर भी बढ़ता रहता है।

समुद्र में मूंगा उत्पन्न होता है, और नये नये अंकुर उत्पन्न होते रहते हैं। यह अवस्था जड़ तत्वों में नहीं हो सकती।

पत्थरों की खान को भी ध्यान से देखा जाय तो यह स्पष्ट ज्ञात होगा कि खान में से पत्थर निकाल देने पर भी सजातीय तत्वों के अंकुरित होते रहने से पुनः पत्थर बढ़ते हैं। जब तक टांकी नहीं लगाई जाती, तब तक खान में पत्थरों की अभिवृद्धि होती ही रहती है। टांकी लग जाने के बाद तथा शस्त्र का प्रयोग होने पर पत्थर निर्जीव, निष्प्राण हो जाते हैं। जिस प्रकार मानव का शरीर चेतनवान होने से हड्डी टूट जाने पर भी बढ़ जाती है, उसी प्रकार पृथ्वी का शरीर भी चेतनावान है। इसीलिए पत्थरों की खान आदि में अभिवृद्धि होती रहती है।

बीज को अंकुरित करने में सहायक भी पृथ्वी ही होती है। अंकुरण में सहायक होने से भी पृथ्वी में चेतनता प्रमाणित होती है।

एक दृष्टिकोण यह भी है कि संसार के समस्त पदार्थ द्रव्य शरीर होने की योग्यता रखते हैं, और वे हैं ही। कुछ पुद्गल जीव के साथ होने से सजीव शरीर के रूप में और कुछ निर्जीव शरीर के रूप में। पृथ्वी आदि भी पुद्गल है। अतः वे भी चेतनावान के दैहिक पिण्ड हैं। कुछ पृथ्वीकायिक पुद्गल शस्त्र से छेदित होने से निर्जीव हो चुके हैं तो कुछ शस्त्र प्रयोग के अभाव में चेतना से सम्पन्न हैं।

पृथ्वीकायिक जीवों की चेतनता के विषय में विभिन्न युक्तियां देने के पश्चात् अब उसका वैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत कर रहे हैं।

आज का भौतिकवादी मानव सहसा प्रत्यक्षादि प्रमाणों के बिना किसी भी सिद्धान्त को मानने के लिए तैयार नही होता हैं। यद्यपि वैज्ञानिक अपने अनुसंधान का निर्णयात्मक कथन नहीं करते क्योंकि पूर्ववर्ती वैज्ञानिकों के अनुसंधानों को उत्तरवर्ती वैज्ञानिकों ने परिमार्जित संशोधित एवं भिन्न रूप में भी प्रस्तुत किया है। वैज्ञानिकों की खोज बाहरी उपकरणों के माध्यम से होती है, अन्तर का स्पष्ट ज्ञान प्राप्त करके नहीं। बाहरी उपकरणों द्वारा किये गये अनुसंधानों में भ्रान्ति तथा गलती भी हो सकती है, किन्तु जो अनुसंधान आत्मिक ज्ञानालोक से उद्भासित होता है, वह कभी असत्य नही हो सकता है। वीतराग प्ररूपित सिद्धान्त अवितथ सत्य है। उसकी प्रामाणिकता भौतिक विज्ञान पर आधारित नही है। अतएव भौतिक विज्ञान के आधार पर शास्त्रों को प्रमाणित मानना युक्तिसंगत नहीं है। तथापि वैज्ञानिकों द्वारा किये गए अनेकों अनुसंधान जोकि सर्वज्ञ प्रतिपादित सिद्धान्तों के सन्निकट पहुँच रहे हैं, उनमें से पृथ्वीकाय की सजीवता विषयक वैज्ञानिक विवेचन दिया जा रहा है।

पृथ्वीकाय की वैज्ञानिकता—विश्व विख्यात वैज्ञानिक जूलियन हक्सले ने अपनी लेखमाला—"पृथ्वी का पुनर्निर्माण" (Remaking of the earth) में पृथ्वी से सम्बन्धित अनेक रहस्यों व तथ्यों का उद्घाटन किया है, जो आश्चर्यकारी है। वे पृथ्वी का वर्णन करते हुए लिखते हैं कि पेंसिल की नोक से जितनी मिट्टी उठ सकती है, उसमें दो अरब से भी अधिक कीटाणु होते हैं। परन्तु इससे भी अधिक महत्व की बात यह है कि अन्य सजीव प्राणियों के समान मिट्टी में भी स्वयं संचालित होने वाली प्रक्रिया है। बालक के समान मिट्टी का भी जन्म, वर्द्धन व मरण होता है। विज्ञान जगत् में आज यह सामान्य सिद्धान्त बन गया है।

अनेक भौगोलिकों तथा भू-वैज्ञानिकों ने पर्याप्त अनुसंधान कर यह सिद्ध कर दिया है कि जिस प्रकार अन्य प्राणी उत्पन्न होते, बढ़ते व मरते हैं, उसी प्रकार पृथ्वी खंड भी उत्पन्न होते हैं, बढ़ते हैं और मरते है। इन वैज्ञानिकों में प्रमुख हैं—श्री एन. टी. बर्नटापेनो। इनका कथन है कि इन दिनों के केन्द्रीय भागो के पर्वत अभी अपनी बाल्यावस्था पार कर यौवन अवस्था में पहुँचे हैं। इनका जन्म

अधिक पुराना न होकर 'प्लियोसीन' काल के अंतिम समय का है और 'रिशेप्लेशियम' काल के पश्चात् इनकी चोटियां ऊँची होती गई है। श्री सुगाले का मत है कि न्यूजीलेंड के पश्चिमी नेल्सन के पर्वत 'प्लाइस्टोसीन' युग के अंतिम चरण में विकसित हुए हैं। आज यहां हिमालय है, वहां किसी युग में एक विशाल महासागर था। कालान्तर में धरा का सिरा उठने लगा और धीरे-धीरे पर्वतमाला का रूप लेने लगा। शिवालिक पहाड़ियों व उनके शिलाखण्ड हिमयुग के पूर्वकाल के हैं। भूगर्भवेत्ताओं का कथन है कि ये पर्वत अभी भी उठ रहे हैं व हिमालय के शिखर और भी अधिक ऊँचे होते जा रहे हैं।

रूस के भू-विशेषज्ञ वैज्ञानिक डाकुशेव ने अनुसंधान कर यह प्रमाणित किया है कि मानव वंश के समान ही मृतिका व प्रस्तर के स्तर भी जन्मते, बढ़ते व मरते चले आ रहे हैं। यही नहीं वैज्ञानिकों ने अब तक ५० वंशों की मिट्टी के दस हजार कुलों का पता भी लगाया है। न्यूजर्सी (अमेरिका) के रटजर्स विश्वविद्यालय के माइक्रोवायोलाजी विज्ञान विभाग के अध्यक्ष नोबल पुरस्कार विजेता डॉ. वाक्समन ने लगभग ९०० पृष्ठ की एक पुस्तक 'प्रिन्सिपल ऑफ सॉइल माइक्रो वायोलॉजी' लिखी है। इसमें उन्होंने सिद्ध किया है कि चम्मच भर मिट्टी में लाखों माइक्रो व असंख्य वेक्टीरिया जीव होते हैं। मिट्टी की सोंध-महक इन्ही जीवो की देन है। उन्होंने दस हजार प्रकार के माइक्रोब जीवों पर अनुसंधान कर विस्मयकारी तथ्य प्रकट किये हैं।

अप्काय की सजीवता—पानी ही जिनका शरीर हो उन्हे अप्कायिक जीव कहते हैं। शस्त्रादि से अपरिणत, प्रवाहशील तरल पदार्थ सजीव है। जिस प्रकार अण्डा, प्रवाही तत्वों से भरा होता है और उसमें अंगोपांगादि की स्थिति न होते हुए भी केवल तरलपदार्थ होने पर भी चैतन्य की स्थिति रहती है, ठीक इसी प्रकार पानी भी तरल है। जब तक किसी भी शस्त्र से परिणत न हो तब तक उसमें जीवत्व की स्थिति रहती है।

जमीन से स्वाभाविक रूप में निकलने वाला पानी सचेतन है। जैसे पृथ्वी खोदने पर निकलने वाला मेंढक सचेतन होता है। बादलों के विकार से वर्षित होने वाला पानी भी सचेतन है। बादलों में ही सर्दी-गर्मी आदि के कारण मछलियां उत्पन्न होकर बरसती हैं, जो सजीव है।

शीत ऋतु में जब बहुत अधिक शीतलता होती है, तब छोटी तलैया या बावड़ी के अल्प पानी में थोड़ी उष्मा, तालाब के पानी में अधिक उष्मा तथा नदी के पानी में तो और भी अधिक उष्मा होती है। स्वाभाविक रूप से शीतल पानी में यह उष्मा बिना चैतन्य के उत्पन्न नहीं हो सकती।

शीत ऋतु में किसी व्यक्ति को ठंडे पानी से स्नान कराने पर उसके शरीर से भाप निकलती है, यह भाप शरीरस्थ चेतना के कारण ही निकलती है। इसी प्रकार जब बहुत अधिक ठंड पड़ रही हो, आकाश में कुहरा छाया हुआ हो, उस समय नदी आदि के पश्चिम किनारे पहुँचकर वहां से नदी

से भिन्न नहीं रहती। वैसे ही बिजली-विद्युत के अदृश्य होने पर भी मूल स्वरूप में आंखों से नहीं दिखाई देने पर भी, वह द्रव्य नही है ऐसा नही कहा जा सकता। क्योंकि झटका लगना यह विद्युत द्रव्य का गुण है। उसकी ऊर्जा-शक्ति से अन्य माध्यम मिलने पर प्रकाश और ताप अभिव्यक्त होते हैं। प्रकाश और ताप ये गुण हैं। गुण गुणी (द्रव्य) के बिना नहीं रह सकते। सिर्फ आंखों से अदृश्य पदार्थ को ऊर्जा मान लेने वाले महानुभाव नास्तिकों का हास्यास्पद पार्ट अदा करते हैं।

कुछ विद्वानों का कथन है कि "बिजली वाहक तार को स्पर्श करे, तो झटका लगता है और हमें उसके अस्तित्व का अनुभव होता है। लेकिन वह दिखाई नहीं देता है।

यह कथन भी वदतोव्याघात के तुल्य है। विद्युत का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार नहीं करने वाला व्यक्ति उसके अस्तित्व का अनुभव करता है। अतः यह स्वतः सिद्ध होता है कि जिसका अस्तित्व है, वह द्रव्य है और ऊर्जा उसका गुण है।

यदि कोई यह कहे कि "पेड़ पर बिजली गिरी, तो पेड़ जलकर राख नहीं होता है, मुरझाता है, मरता है।

तो यह कथन सर्वथा अयौक्तिक है। उन्हें इतना भी ध्यान नहीं है कि बिजली की मात्रा कम होने से मुरझाता है, पर अधिक मात्रा होने पर तो पेड़ जल कर राख हो जाता है। जैसे कि दो तारों में परस्पर रगड़ होने पर तार जलकर राख हो जाते हैं। ऐसे प्रसंग प्रायः दृष्टिगोचर होते हैं। तार वनस्पति से अधिक सख्त है। जहां अति सख्त की भी राख हो जाती है तो बिजली की अधिक मात्रा होने पर पेड़ की राख कैसे नहीं होगी?

सुना जाता है कि बड़े-बड़े शहरों में लकड़ियों के अभाव में मनुष्यों का दाहसंस्कार विद्युत से किया जाता है और उसकी राख हो जाती है। इस कथन से तो यही सिद्ध होता है कि बिजली में राख करने की क्षमता है। पर विद्युत की मात्रा कम होने से पेड़ जलकर राख नहीं हो पाता। अग्नि की भी मात्रा कम होगी तो वह किसी की राख नहीं कर पायगी, बल्कि सुखा देगी।

प्रख्यात वैज्ञानिक सर जे.जे. टामसन ने हिसाब लगाकर बताया कि—यदि एक परमाणु के भीतर जो शक्ति संगठित है, वह बिखर जाय, तो क्षणांश में ही लन्दन जैसे घने बसे हुए तीन बड़े शहर राख हो जायें। यह विद्युत अणुओं की शक्ति पर आधारित गणना थी। अब पता चला है कि इन विद्युत अणुओं की मूल इकाई सूक्ष्म प्रकाशाणु है। उनकी शक्ति अनेक गुणाधिक है।

इस उद्धरण से भी यही सिद्ध होता है कि राख करना विद्युत अणुओं की मात्रा पर निर्भर है। लेकिन इतने मात्र से बिजली तेजस्काय नहीं है, यह कथन असमीचीन है।

यह कथन भी कि "बिजली, अग्नि, उष्णता, प्रकाश ये चारों एक-दूसरे से भिन्न हैं" तत्वों की सर्वथा अनभिज्ञता ही सूचित करता है। यदि अल्पांश में भी तत्व का स्वरूप समझा होता तो, उष्णता और प्रकाश को अग्नि या विद्युत से भिन्न नहीं कहा जाता। क्योंकि उष्णता और प्रकाश पदार्थ के गुण है। अग्नि और विद्युत दोनों तेजस्काय पदार्थ हैं। अतः उष्णता और प्रकाश ये दोनों अग्नि और विद्युत के गुण हैं। गुण, गुणी से सर्वथा भिन्न नहीं रहता।

आकाशीय विद्युत और प्रयोगशाला की विद्युत दोनों विद्युत जाति तेजस्कायिक हैं। वैज्ञानिक भी आकाश एवं प्रयोगशाला की विद्युत को एक मानते हैं। यह कथन इतना सरल है कि विज्ञान का अध्ययन करने वाला एक साधारण विद्यार्थी भी इससे अनभिज्ञ नहीं रह सकता।

डॉ. डी.एस. कोठारी ने भी स्पष्ट कहा कि—जो अग्नि (तेजस्काय) आम जनता को दृष्टि में दृष्ट है वह यदि शास्त्रीय परिभाषा से सचित्त है, तो विद्युत निश्चित सचित्त है।

यदि यह कहा जाय कि "जहाँ ज्वलन प्रक्रिया चल रही है, वहीं अग्नि होती है और इस प्रक्रिया को प्राणवायु (ऑक्सीजन) का मिलना बहुत जरूरी है।"

यह कथन उपयुक्त है किन्तु प्राणवायु का अग्नि जाति के विषय में सिर्फ ऑक्सीजन हवा का ही मानना युक्तियुक्त नहीं है। भिन्न-भिन्न जाति के प्राणी-वर्ग में भिन्न-भिन्न प्राणवायु अपेक्षित रहता है। दीपक आदि की अग्नि के लिये कदाचित् ऑक्सीजन प्राणवायु है, किन्तु अन्य अग्नि के लिये अन्य प्राणवायु भी हो सकती है। शास्त्रीय दृष्टि से तो सभी प्राणियों के लिये प्राणवायु श्वासोच्छ्वास वर्गणा के पुद्गल ही होते हैं।

इसीलिये शास्त्रकारों ने आक्सीजन आदि वायु विशेष का नाम न लेकर सिर्फ प्राणवायु का उल्लेख किया है। यदि शास्त्राकारों की दृष्टि में कोई वायु विशेष ही तेजस्काय के अन्तर्गत सभी भेदों के लिये प्राणवायु होती तो वे सामान्य प्राणवायु का ही उल्लेख न कर स्पष्टतया तेजस्काय के लिये आक्सीजन आदि वायु विशेष को ही प्राणवायु कह देते। पर ऐसा कथन नहीं है और यह होना शक्य भी नहीं है। क्योंकि प्रत्यक्ष में परिदृश्य है—मनुष्य के लिये प्राणवायु-ऑक्सीजन की आवश्यकता एवं वनस्पति के लिये कार्बन-प्राणवायु की आवश्यकता। अतः जलन प्रक्रिया के लिये सिर्फ प्राणवायु ऑक्सीजन का ही मिलना जरूरी नहीं। बिजली के बल्ब में पोलार रहती है और उस पोलार में विभिन्न प्राणवायु भी विद्यमान रहती है। यदि किन्चित् भी वायु न रहे तो बल्ब सिकुड़कर टूट जायगा।

यदि कोई कहे कि "बिजली का स्विच ऑन करते हैं, उससे बल्ब प्रज्वलित होता है....हमें प्रकाश मिलता है। दस पन्द्रह मिनटों बाद बल्ब गरम भी लगने लगता है। इस तरह जहां प्रकाश है, वहां उष्णता है, लेकिन क्या बल्ब में ज्वलन क्रिया हो रही है, बिल्कुल नहीं।"

किन्तु यह कथन तो "घटकुट्यां प्रभात" न्याय का अनुसरण करता है। पूर्व में कहा कि विद्युत, प्रकाश और उष्णता भिन्न है। उसका खण्डन इसी वाक्य में उपदर्शित है। यदि विद्युत का गुण प्रकाश और उष्णता नहीं होता तो स्विच ऑन करने पर प्रकाश नहीं होता, प्रत्युत प्रकाश की अन्य तत्व का अन्वेषण अपेक्षित होता। किन्तु ऐसा नहीं। विद्युत से प्रकाश का आविर्भाव हुआ। इससे यह सुस्पष्ट है कि विद्युत तेजस्कायिक द्रव्य है और प्रकाश उसका गुण है। तत्काल बल्ब गरम भी लगने लगता है। गर्म लगना विद्युत का उष्णता गुण है। अब रहा प्रश्न ज्वलन का। इस पर यदि मीमांसा की जाय तो बल्ब के भीतर में टंगस्टन (एक खनिज द्रव्य) तार का ज्वलन हो रहा है और यदि वहां दीर्घ समय तक ज्वलन होता रहे तो उष्णता से तापमान की वृद्धि से अन्य पदार्थ भी जल सकते हैं। पतंगे उसी बल्ब की उष्णता में मूर्छित होकर लगभग चार-पांच बार टक्कर खाकर मर जाते हैं। बल्ब के भीतर भले ही ऑक्सीजन न हो, पर अन्य वायु तो विद्यमान रहती ही है और वह उस तेजस्काय के लिये प्राणवायु का काम करती है। अन्यथा ज्वलन क्रिया के अभाव में प्रकाश और गरमी भी समाप्त हो जायगी।

यदि कोई कहे कि—विश्व में कुछ द्रव्य ऐसे हैं, जो बिजली के उत्तम वाहक हैं, कुछ द्रव्य बिजली के दुर्वाहक हैं। उत्तम वाहक से बिजली प्रवाहित हो सकती है, दुर्वाहक से नहीं। हर एक धातु, पानी, शरीर, क्षार, आम्ल, पृथ्वी (जमीन) आदि बिजली की उत्तम वाहक हैं। लकड़ी, एबोनाइट, कांच, लाख, तेल, गंधक, चीनी मिट्टी, रबड़, प्लास्टिक आदि बिजली की दुर्वाहक हैं। क्षारयुक्त पानी बिजली का उत्तम वाहक होने से ये दोनों मानो आपस में मित्र हैं। इनके विपरीत पानी और अग्नि आपस में शत्रु हैं।"

उपर्युक्त तर्क भी महानुभाव मीमांसा की कसौटी पर कसकर करते तो इस तुलना की आवश्यकता नहीं रहती। "काष्ठ आदि बिजली के दुर्वाहक हैं, यह बात बिजली तत्व का अपूर्ण ज्ञाता साधारण बुद्धिशाली ही कह सकता है। विद्युत तत्व का विशेषज्ञ नहीं। विशेषज्ञ का कथन यह है कि सामान्य पावर की बिजली के लिये काष्ठ आदि दुर्वाहक हो सकता है। पर विशिष्ट पावर वाली बिजली के लिये काष्ठादि भी दुर्वाहक तो क्या भस्मीभूत होते देखे गये हैं। पानी में भी बड़वानल विस्तृत होती देखी गई है। तथा दुर्वाहक [दुर्+वाहक] शब्द ही अर्थ स्पष्ट कर रहा है कि काष्ठादि पदार्थ वाहक तो हो सकते है किन्तु कठिनता से।

उपर्युक्त कथन करने वाला कदाचित यदि विद्युत एवं अग्नि विषय का परिपूर्ण ज्ञाता होता तो वह इस कुतर्क से जन सामान्य को भ्रमित नहीं करता। ऐसे भी तत्व विश्व में विद्यमान हैं कि अग्नि के सुवाहक एवं ज्वलनशील पदार्थों की सत्ता होने पर भी प्रतिबन्धक तत्व की विद्यमानता से आग भी उस सुवाहक तत्व मे प्रवाहित नहीं हो सकती एवं दहनीय तत्व को दग्ध भी नहीं कर सकती। उदा-

हरण के लिये हाइड्रोजन व ऑक्सीजन दोनों ही गैसें हैं। दोनों ही ज्वलनशील हैं किन्तु जब यही दोनों मिलकर एक हो जाते हैं तो न केवल वे गैस से तरल स्थिति में आ जाते हैं अपितु जलाने की अपेक्षा उसका गुण बुझाने का हो जाता है। इस स्थिति में ज्वलनशीलता नष्ट नहीं होती प्रत्युत वह भीतर रह कर पोषण और शक्ति का आधार बन जाती है।

चन्द्रकान्त मणि के सामने [समीप] आग को कार्पास पर रख देने पर भी वह प्रज्वलित करने में समर्थ नहीं हो सकती। काष्ठ भी पास में पड़ा रहे तो भी अग्नि उसमें प्रवेश नहीं कर पाती। इतने मात्र से अग्नि की ज्वलनशीलता का निषेध नहीं कर सकते। प्रतिबन्ध [चन्द्रकान्त मणि] की विद्यमानता से अथवा पावर की न्यूनाधिकता से ज्वलन क्रिया कहीं नहीं भी बनती है और कहीं बन भी जाती है।

दो विभिन्न प्रकार के धातुओं अथवा धातु मिश्रण के तारों के सिरे यदि पिघलाकर जोड़ दिये जायें और उनके सिरों को विभिन्न तापमान पर रखा जाय तो उनमें विद्युत धारा प्रवाहित होने लगेगी, यह तार विद्युत है।

दो तारों के परस्पर संघर्ष से धातु के तार भी भस्मीभूत हो जाते हैं, ज्वालाएँ दृष्टिगत होती हैं। इन प्रत्यक्ष दृश्यों से भी भली भांति सिद्ध है कि विद्युत ज्वलनशील है। फिर दुर्वाहक सुवाहक साधनों का नाम लेकर विद्युत के उष्ण एवं प्रकाश गुण को भिन्न मानना-छिपाना "माता मे वन्ध्या" की तरह प्रलाप मात्र है।

यदि कोई कहे कि "पानी और बिजली का प्रवाह जब एक-दूसरे के सम्पर्क में आते हैं, तो न पानी उड़ता है और न बिजली बुझती है"। कितना मायूस मस्तिष्क है। जैसे बिजली की हीट से पानी बाष्प बनकर उड़ जाता है। उसमें माध्यम काम करता है। लेकिन माध्यम में बाष्प बनाने की क्षमता नहीं। वैसे ही विद्युत का माध्यम न हो तो उसमें भी प्रकाश प्रकट नहीं हो सकता। स्वल्प पानी से भी तड़-तड़ करने वाली उस विद्युत के स्फुलिंगों को समाप्त किया जा सकता है। अतः पानी और बिजली की तुलना करना और पावर के अनुपात का ख्याल न रखना सुज्ञों के लिये अशोभनीय है।

यदि कोई कहे कि "बिजली एक क्षण में दुनिया के एक छोर से दूसरे छोर तक पहुँच सकती है। अग्नि में यह गुणधर्म नहीं।"

यह तर्क भी कितना बेतुका है। एक छोर से दूसरे छोर तक पहुँच जाने मात्र से द्रव्य का निषेध करना असंगत है। परमाणु तो द्रव्य कहलाता है। वह भी एक क्षण में विश्व (१४ रज्ज्वात्मक लोक) के एक छोर से दूसरे छोर तक पहुँच जाता है। इस प्रकार गति से द्रव्य की तुलना विस्मृत मति का प्रदर्शन है। यह पूर्व में कहा जा चुका है कि किसी भी पदार्थ की गति-विगति में माध्यम आवश्यक है। एक व्यक्ति माध्यम की अनुकूलता से एक स्थल से दूसरे स्थल पर शीघ्रता से पहुँच जाता है जबकि

दूसरा व्यक्ति माध्यम की प्रतिकूलता से शीघ्र गति नहीं कर पाता। इतने मात्र से एक को सजीव और दूसरे को निर्जीव नहीं कहा जा सकता। एक विचारवान् स्वयं समझ सकता है कि शिशु एवं तरुण को गति-मंदता और त्वरित गति से सजीव, निर्जीव का विभेद नहीं किया जा सकता।

विद्युत का प्रचण्ड स्वरूप एवं त्वरित गति निश्चित तेजस्काय को सिद्ध करता है।

घर्षण से बिजली के उद्‌भव की तरह अग्नि का भी उद्‌भव होता है। यथा एरण्ड की लकड़ी के परस्पर घर्षण से, पत्थर और चकमक के घर्षण से, माचिस (आग पेटी) और दियासलाई से घर्षण से। हाँ, घर्षण की न्यूनाधिकता से तत्क्षण चमक का अलक्षित होना, अग्नि का रूप न लेना, अथवा विद्युत का पूर्ण प्रगट न होना यह अलग बात है। पर, घर्षण की पूर्णता एवं तद्‌जनित तत्त्व को जलने का माध्यम हो तो वहाँ अग्नि और विद्युत दोनों ही देखे जा सकते है।

जनरेटर कितना ही तेज चलता हो पर, यदि घर्षण से उत्पन्न विद्युत को जलने का माध्यम न हो तो वहां विद्युत भी दृष्टिगत नहीं होती। जैसे वर्षाकाल में नदी का पानी अति वेग से प्रवाहित होता है। बड़ी-बड़ी चट्टानों से संघर्ष करता है पर वेग और संघर्ष के परिणाम से जलने वाला माध्यम न होने से बिजली का प्रवाह दृष्टिगत नहीं होता। इस प्रकार तटस्थ बुद्धि से प्रत्येक स्थल के विषय को हृदयंगम करने पर ही वस्तुस्थिति का यथार्थ ज्ञान हो सकता है।

जहां अग्नि है वहा उष्णता होती है, क्योंकि उष्णता उसका गुण है। लेकिन जहां अग्नि-जनित उष्णता है, वहां सचित्त अग्नि नहीं, अपितु, अचित्त, अग्नि तो है ही। जैसे भट्टी के किनारे पर पड़ी हुई ईंट। भट्टी में प्रज्वलित सचित्त अग्नि की सामीप्यता से ईंट में उष्णता आई। किन्तु इतनी उष्णता नहीं कि उसके सम्पर्क से अन्य वस्तु जल उठे। पर वह उष्णता भी अग्नि का ही गुण कहलायेगा। ईंट के सम्पर्क से अग्नि निर्जीव हो गई। अतः उसके पीछे विशेषण लगेगा। निर्जीव अग्नि की उष्णता "उसी प्रकार बिजली रूप तेजस्काय के सम्पर्क से बल्ब में उष्णता आई और बल्ब की उष्णता जब तक अन्य पदार्थ को दग्ध करने में समर्थ नहीं है तब तक "निर्जीव बिजली की उष्णता" कही जायगी। यह बल्ब की उष्णता भी निर्जीव (अचित्त) तेजस्काय के अन्तर्गत ही है। इसे अग्नि (तेजस्काय) नहीं है, ऐसा नहीं कहा जा सकता।

जहां प्रकाश होगा वहां उसका आधार अग्नि या विद्युत होगा ही, पर स्वयं प्रकाश, अग्नि या विद्युत धर्म नहीं है क्योंकि उष्णता की तरह प्रकाश भी अग्नि विद्युत का गुण है।

चमक को प्रकारान्तर से प्रकाश भी कहा जा सकता है, किन्तु यह चमक रूप प्रकाश अग्नि या विद्युत का गुण नहीं कहा जा सकता। जैसे जुगनू में चमक है, पर वह तेजस्काय का गुण नहीं। क्योंकि उसका शरीर उद्योत नाम-कर्म के उदय से चमकता है। रेडियम धातु आदि भी चमकने वाले अवश्य

हैं, पर उनमें तेजस्काय का गुण नहीं। इस विवेचन से यह भलीभांति स्पष्ट है कि अग्निकाय जैसे बादर तेजस्काय का भेद है वैसे बिजली भी बादर तेजस्काय का भेद है, लक्षण की समानता होने से ज्वलनादि कार्य भी अग्नि की अपेक्षा विद्युत से कई गुना अधिक होते हैं। इस विषयक अनुसंधान के प्रमाण ऊपर उल्लिखित हुए है। उन प्रमाणों से विद्युत की भंयकरता भी सुस्पष्ट है।

इसीलिये आचारांग सूत्र में तीर्थेश प्रभु महावीर ने तेजस्काय को "दीर्घ लोक-शस्त्र" के रूप में बतलाया है। दीर्घलोक शस्त्र के अन्तर्गत तेजस्काय के सभी भेदों का समावेश हो जाता है।

इस प्रकार अग्नि (तेजस्ताय) की सजीवता स्वयं ही सिद्ध है। प्रकाश, उष्णता ये अग्नि (तेज) के गुण हैं। गुण, गुणी से सर्वथा भिन्न नही रहते। "विज्जु संघरिस समुट्ठिए" शब्द से तथा वैज्ञानिकों द्वारा किये गये अग्नि के चार विभागों में तीसरा विभाग "विद्युत तारों में लगने वाली आग" से अग्नि, लाईट, पंखे, ध्वनि क्षेपक आदि विद्युत से संचालित वस्तुओं में रहने वाली अग्नि की सजीवता स्पष्ट प्रमाणित होती है।

वायुकाय की सजीवता – हवा ही जिसका शरीर हो उसे वायुकायिक जीव कहते हैं। जिस प्रकार आग से तपाये गये गर्म पत्थर में आग के अचेतन परमाणु विद्यमान हैं फिर भी सूक्ष्म परिणमन के कारण दिखाई नहीं देते, उसी तरह वायु का रूप भी सूक्ष्म परिणमन के कारण दिखाई नहीं देता।

वायु सचेतन है क्योंकि वह स्वभाव से तिरछी चलती है। उसकी गति का कोई नियम नहीं है। जब तक कोई दूसरा प्रेरणा नहीं करता, तब तक वायु स्वभावतः तिरछी ही चलती है। जैसे कि बिना हांके स्वभाव से यहां वहां विचरने वाले गाय, घोड़े आदि पशु। अतः वायु भी पशुओं की तरह चैतन्यवान है।

वायुकाय के विषय में वैज्ञानिक दृष्टिकोण :—वायुकाय के जीवों की अवगाहना (शरीर की लम्बाई) के विषय में जीवाभिगम प्रथम प्रतिपत्ति, सूत्र १८ में कहा है कि पृथ्वीकाय के जीवों के समान ही वायुकाय के जीवों की अवगाहना जघन्य उत्कृष्ट अंगुल के असंख्यातवें भाग है अर्थात् एक घन अंगुल (लगभग एक घन सेण्टीमीटर) वायु में असंख्य जीव हैं। वर्तमान में वैज्ञानिकों का कथन है कि हवा में 'थेकसस' नामक जीव है और ये जीव इतने सूक्ष्म हैं कि सुई के अग्रभाग जितने स्थान में इनकी संख्या एक लाख से भी अधिक है। जैनागमों में स्थावरकायिक जीवों के पांच भेदों में से केवल वायुकायिक जीवों के ही वैक्रिय शरीर कहा है। वैक्रिय शरीर में यह विशेषता होती है कि उसके आकार में परिवर्तन होता रहता है, उसका संकोच विस्तार किया जा सकता है। वायुकाय के जीवों के शरीर की इस विशेषता को आज के वैज्ञानिक उपलब्धियों में प्रत्यक्ष देखा जा सकता है।

साइकिल या मोटर के ट्यूब में भरी वायु गर्मी के संयोग से अपने शरीर का विस्तार करती है। और वह विस्तार जब इतना बढ़ जाता है कि ट्यूब में नहीं समा पाता तो ट्यूब फट जाता है। ग्रीष्म

ऋतु में पड़ी साइकलों के ट्यूब स्वतः फट जाने का भी यही कारण है लोह के खाली खोल, जिनके मुंह बन्द होने से हवा बाहर नहीं निकल सकती, उनमें धूप की गर्मी से फैली हुई हवा के दबाव से मोचे निकलने लगते है, जिससे पटाखे छूटने जैसी आवाजें होने लगती है। इसका कारण भी वायु की फैलने रूप वैक्रिय क्रिया ही है। वैक्रिय प्रक्रिया स्वरूप वायुकाय के जीवों के शरीर का विस्तार होता है। यही विस्तार जब अत्यधिक बढ़ता है तो चक्रवात या झंझावात का रूप ले लेता है। झंझावात या तूफान की शक्ति, विस्तार व रूप कितना अद्भुत होता है? इसका अनुमान निम्नांकित उदाहरण से लगाया जा सकता है—

"एक मध्यम प्रकार का साइक्लोन (झंझावात-तूफान) केवल एक दिन में दबाव के कारण इतनी शक्ति प्रदर्शित करता है कि जितनी २० मेघाटन के ४०० हाइड्रोजन बमों के विस्फोट से संयुक्त रूप से होती है। साइक्लोन आदि तूफानों की गति २५० कि. मी. प्रति घण्टे तक हो सकती है। तूफान का गोल घेरा एक बहुत बड़े चक्के के समान घूमता है। उसका घेरा १५० से १५०० कि. मी. तक हो सकता है। वैसे इन तूफानों की जिन्दगी अनिश्चित होती है। कभी एक दिन में ही ये मर जाते हैं, तो कभी इनकी जिन्दगी महीनों बनी रहती है। सबसे विचित्र बात इन विस्तृत तूफानों के बिल्कुल बीच में स्थित "आंख" के कारनामों से संबंधित है। यह एक उल्लेखनीय क्षेत्र है, जो ५ से ५५ किलो मीटर में फैला शान्त क्षेत्र होता है। इसके चारों ओर आंधियों के खतरनाक धक्के और बादलों की दीवारें, खम्भे और बालकनियां तेजी से चक्कर खाती है।"

वायु का यह वैक्रिय चक्रवातीय रूप बड़ा भयंकर और विध्वंसकारी होता है। सन् १९३६ में ऐसे एक चक्रवात से ३ लाख व्यक्ति मारे गए थे। सन् १८३२ में दक्षिण के काकीनाड़ा जिले के 'करिंगा- गांव' के ३० हजार निवासी अकाल में ही काल के गाल में समा गए थे। अभी मद्रास में ३ और १० नवम्बर सन् ६५ में आये झंझावात ने बहुत उत्पात मचाया था।

वायुकाय के जीवों के प्रकार बतलाते हुए आगमों में कहा है—

'बायरवाउकाइया अणेगविहा पण्णत्ता-पाईणवाए, पडीणवाए, दाहिणवाए, उदीणवाए, उड्ढवाए, अहोवाए, तिरिअवाए, विदिसिवाए, वाउब्भामे, वाउउक्कलिया, वाउमंडलिया, उक्कलिआवाए, मंडलि- आवाए, गुंजावाए, झंझावाए, संवट्टवाए, घणवाए, तणुवाए, सुद्धवाए, जे आवण्णे तहप्पगारा।" (प्रज्ञा० प्रथम पद सूत्र ११)

अर्थात् बादर (स्थूल) वायुकाय के अनेक भेद हैं, पूर्वीवात, पश्चिमीवात (पछुआ) दक्षिणवात, उत्तरवात, ऊर्ध्ववात, अधोवात, तिर्यग्वात, विदिशिवात, उत्कलवात समुद्रीवात, चक्रवात, मंडलीयवातः गर्जनवात, झंझावात, संवर्तवात, घनवात, तनुवात शुद्धवात, आदि अनेक प्रकार हैं।

आधुनिक वायु विशेषज्ञ भी वायु के इसी प्रकारके भेद करते हैं यथा— पूर्वीहवा, पछुआहवा, उत्तरी हवा, दक्षिणीहवा, समुद्रीहवा, गर्जनेवाली चालीसा, चक्रवात, झंझावात आदि वायु के प्रकारों का वर्गीकरण करते हुए वायु के दो मुख्य भेद किये हैं। जैसे जल की धाराएँ दो प्रकार की होती है— सामयिक और नियतवाही। सामयिक धाराएँ वर्षा आदि किसी समय इधर-उधर बह लेती है, उनका कोई निश्चित व नियतमार्ग नही होता। नियतवाही धाराएँ नदियों के रूप में महाद्वीपों व महासागरों में निश्चित नियतमार्ग पर सतत बहती रहती है। इसी प्रकार वायु की धाराएँ भी दो प्रकार की होती है— सामयिक व नियतवादी। सामयिक हवाओं में मुख्य है—समुद्रीहवा, स्थलीयहवा, मानसूनी हवा, चक्रवात, झंझावात आदि। नियतवाही हवाओं में मुख्य है— व्यापारिक हवाएँ, पछुआ हवाएँ आदि। व्यापारिक हवाएँ भूमध्य रेखा के उत्तर-दक्षिण के लगभग २५ अक्षांशो मध्य विपुवत् रेखा की ओर मुंह किये कुछ पश्चिम की ओर घूमती हुई बहती हैं। ये हवाएँ इतनी निश्चत दिशा व नियत मार्ग पर बहती हैं कि प्राचीनकाल में अनेक जलयान इन्ही के सहारे व्यापारिक माल एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुंचाते थे। इसी कारण इन हवाओं का नामकरण व्यापारिक हवाएँ हो गया है। पछुआ हवाएँ ३०° से ७०° अक्षांश के मध्यपूर्व की ओर मुड़ती हुई ध्रुवों की ओर मुंह किये बहती हैं। इन्हीं में से ४० और ५० अक्षांश के बीच हवाएँ बहुत गरजती हुई बहती हैं। अतः इन्हें गरजने वाली चालीसा कहा जाता है। ध्रुवी हवाएँ ध्रुवों में बहती हैं।

जिस प्रकार पृथ्वी व जल की प्रकृति का प्रभाव मानव तथा वनस्पति पर पड़ता है, उसी प्रकार पवन की प्रकृति का प्रभाव भी मानव व वनस्पति पर पड़ता है। पूर्वी हवाएँ चलने पर अनेक मनुष्यों के शरीर में फोड़े उठने लगते हैं, कमर में दर्द होने लगता है। वनस्पतियां रुग्ण हो जाती है। उनके पत्ते और फल-फूल-गिरने लगते हैं।

अभिप्राय यह है कि वायु सजीव है, वैक्रिय शरीर रखती है।[1]

वनस्पति की सजीवता:— वनस्पति ही जिसका शरीर हो, उसे वनस्पतिकायिक जीव कहते हैं। मनुष्य की तरह वनस्पति में भी बालत्व, यौवन, वृद्धत्व आदि अवस्थाएं घटित होती हैं।

बीज का अंकुरित होना, छोटी-छोटी कुपलों के रूप में लहलहाना, डालियों का फूटना, फूल तथा फलों का लगना, वनस्पति की सजीवता को प्रमाणित करते हैं। शमी, प्रपुन्नाट, बबूल आदि वृक्षों में समय पर सोने एवं जागृत होने की प्रक्रिया स्पष्ट देखी जाती है। ठण्डी हवाओं के चलने पर, बादलों के गर्जने पर बड़ पीपल आदि वृक्षों में स्वतः अंकुर फूटने लगते है। पंचमस्वर के गाने पर शिरीष और विरहक वृक्ष उसमें मस्त होकर अपने फूलों को झुका देते हैं। सूर्योदय होने पर कमल खिल जाता है।

१ पृथ्वी आदि की सजीवता में दिया गया वैज्ञानिक विश्लेषण—श्री कन्हैया लाल लोढ़ा के आधार से

घोपातकी आदि फूल सांयकाल खिलते हैं। कुमुद रात्रि में चन्द्र का उदय होने पर खिलता है। लताएं योग्य आश्रय की खोजकर उस पर चढ़ जाती हैं। मनुष्य के हस्तादि छेदन-भेदन करने पर वह म्लानमुख और दुःखी हो जाता है, इसी प्रकार वनस्पति में वृक्षादि को काटने पर या उनके पत्ते, फूल और फल आदि तोड़ने पर, उनमें भी म्लानता देखी जाती है।

वनस्पति का वैज्ञानिक विश्लेषण—विज्ञान जगत् में वनस्पति की सजीवता का प्रमाणीकरण वैज्ञानिक डॉ. जगदीशचन्द्र बसु ने किया था। उन्होंने सन् १९२० में वनस्पति चेतना को अभिव्यक्त करने वाले यंत्रों का निर्माण किया था, जिन यंत्रों के द्वारा वनस्पति की गतिविधि को एक करोड़ गुणा अधिक (बड़े) आकार में देखा जा सकता था, ये यंत्र स्वयं लेखी थे, इनसे पौधों की गतिविधि, *क्रिया, प्रतिक्रिया, प्रक्रिया स्वतः अंकित होती थी। इन यंत्रों के माध्यम से डॉ. वसु ने स्पष्ट रूप से* यह सिद्ध कर दिखाया कि वनस्पतियों और प्राणियों के तंतुओं पर, वायु, ताप, आहार आदि का प्रभाव बहुत कुछ एक तरह का ही पड़ता है। इन्होंने यह भी सिद्ध किया कि जीवित प्राणियों में पायी जाने वाली सचेतनता....स्पंदनशीलता....शारीरिक गठन....भोजन....वर्धन, ...श्वसन....प्रजनन....विसर्जन....मरण आदि समस्त विशेष गुण वनस्पतियों में विद्यमान हैं। ये गुण निर्जीव पदार्थों में नहीं पाये जाते हैं। अतः वनस्पति जड़ पदार्थ न होकर सजीव है। आज विज्ञान जगत में वनस्पति विज्ञान जीव विज्ञान की प्रमुख शाखा बन गई है।

क्रोध, मान, माया, लोभ रूप प्रत्येक कषाय में पृथ्वीकायिक जीव बहुलता से विद्यमान होते हैं। इसलिए तत्संबंधी स्थिति-स्थान आदि १० भंगों की स्थिति नहीं बनती हैं। अतः पृथ्वीकाय के १० ही द्वारों में अभंगक अवस्था जाननी चाहिए। जहां किसी प्रकार का भेद हो वहीं भंग बनते हैं। *यहां कोई भेद की स्थिति नहीं है, अतः भंग नहीं बनते हैं।*

पृथ्वीकाय के स्थिति-स्थान असंख्य होते हैं। उनकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त से लेकर उत्कृष्ट २२ हजार वर्ष की है। इसके मध्य वे स्थिति-स्थान भी असंख्य होते हैं। एक समयाधिक, द्वि-समयाधिक आदि। अवशेष द्वारों का वर्णन नारकियों की तरह जानना चाहिए। कुछ भिन्नता है, वह निम्न प्रकार है—

पृथ्वीकायिक जीवों के तीन शरीर होते हैं—औदारिक, तैजस, कार्मण।

शरीर संघात के रूप में मनोज्ञ और अमनोज्ञ दोनों प्रकार के पुद्गल पृथ्वीकायिक जीव के परिणमित होते हैं। उनका संस्थान हुण्डक होता है। नैरयिकों की तरह पृथ्वीकायिक जीवों में वैक्रिय शरीर जीवों के नहीं कहना चाहिए लेश्याएँ उनमें चार (*कृष्ण, नील, कापोत, तेज*) होती है। आदि की तीन लेश्यावाले जीव अभंगक हैं। तेजोलेश्यावाले जीवों में ८० भंग होते हैं। पृथ्वीकायिक जीव एकान्ततः मिथ्यादृष्टि और अज्ञानी होते हैं। अज्ञान में मतिअज्ञान, श्रुत अज्ञान और योग में केवल काय-योग ही होता है।

पृथ्वीकाय की तरह अप्काय के विषय में जानना चाहिये। इसकी स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त और त्कृष्ट सात हजार वर्ष की है। इनके भी स्थिति-स्थान असंख्यात हैं। अप्काय में भी देवों का आगमन ने से तेजोलेश्या में ८० भंग होते है।

तेजस्काय और वायुकाय का कथन भी पृथ्वीकाय की तरह ही है। तेजस्काय की जघन्य थति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति तीन अहोरात्रि। वायुकाय की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और त्कृष्ट तीन हजार वर्ष की है। जघन्य से उत्कृष्ट पर्यन्त असंख्यात स्थिति-स्थान होते हैं। इनमें वोत्पत्ति नहीं होने से तेजोलेश्या और तत्संबंधी ८० भंग नही होते हैं। वायुकाय में शरीर चार होते —औदारिक, वैक्रिय, तेजस और कार्मण।

वनस्पतिकाय का वर्णन भी पृथ्वी की तरह ही समझना चाहिये। दस ही द्वारों में अभंगक । इनमें देवोत्पत्ति होने से ८० भंग होते हैं। तेजोलेश्या भी पाई जाती है।

कर्मग्रन्थ के अनुसार पृथ्वी, पानी, वनस्पति के जीवों में सास्वादन सम्यक्त्व भी माना गया । उससे पृथ्वी, पानी, वनस्पति जीवों में सम्यक्दृष्टि मतिज्ञान और श्रुतज्ञान की स्थिति भी बनती । जिससे तत्संबंधी २७ भंग भी बनेंगे। परन्तु सिद्धान्तानुसार पृथ्वीकाय आदि में सम्यक्त्व स्वीकार हीं किया गया है। यथा—

"उभयाभावे पुढवाइएसु विगलेसु होज्ज उववण्णो त्ति" पृथ्वीकाय आदि में उभयाभाव-प्रति-द्यमान और पूर्वप्रतिपन्न दोनों ही प्रकार का सम्यक्त्व नहीं होता है। विकलेन्द्रियों में पूर्वोत्पन्न म्यक्त्व होता है। पृथ्वीकाय आदि में सम्यक्त्व की स्थिति नहीं होने से तत्संबंधी सम्यक्दृष्टि, मतिज्ञान तज्ञान और ८० भंग नहीं होते है।

टीकाकार ने पृथ्वी आदि जीवों में अल्पांश रूप से सास्वादन सम्यक्त्व का होना बतलाया । यथा—

सास्वादन भावस्याऽन्त विरलत्वेन—किन्तु सिद्धांत की दृष्टि से कोई भी सम्यक्त्व पृथ्वी-ाय आदि में नही माना गया है। अतः पृथ्वी आदि में सास्वादन सम्यक्त्व मानना सिद्धांत सम्मत ही है।

100, 101. विकलेन्द्रियों-तिर्यञ्चपंचेन्द्रिय के क्रोधोपयुक्तादि निरूपणपूर्वक स्थिति आदि दस द्वार

त्यानिका—

पूर्व सूत्र में स्थावर जीवों के स्थिति-स्थानादि प्रतिपादित किये गए हैं। प्रस्तुत सूत्र में विकले-द्रिय एवं तिर्यञ्चपंचेन्द्रिय के स्थिति-स्थान बतलाते हैं।

घोषातकी आदि फूल सायंकाल खिलते हैं। कुमुद रात्रि में चन्द्र का उदय होने पर खिलता है। लताएँ योग्य आश्रय की खोजकर उस पर चढ़ जाती हैं। मनुष्य के हस्तादि छेदन-भेदन करने पर वह म्लानमुख और दुःखी हो जाता है, इसी प्रकार वनस्पति में वृक्षादि को काटने पर या उनके पत्ते, फूल और फल आदि तोड़ने पर, उनमें भी म्लानता देखी जाती है।

वनस्पति का वैज्ञानिक विश्लेषण—विज्ञान जगत् में वनस्पति की सजीवता का प्रमाणीकरण वैज्ञानिक डॉ. जगदीशचन्द्र वसु ने किया था। उन्होंने सन् १९२० में वनस्पति चेतना को अभिव्यक्त करने वाले यंत्रों का निर्माण किया था, जिन यंत्रों के द्वारा वनस्पति की गतिविधि को एक करोड़ गुणा अधिक (बड़े) आकार में देखा जा सकता था, ये यंत्र स्वयं लेखी थे, इनसे पौधों की गतिविधि, क्रिया, प्रतिक्रिया, प्रक्रिया स्वतः अंकित होती थी। इन यंत्रों के माध्यम से डॉ. वसु ने स्पष्ट रूप से यह सिद्ध कर दिखाया कि वनस्पतियों और प्राणियों के तंतुओं पर, वायु, ताप, आहार आदि का प्रभाव बहुत कुछ एक तरह का ही पड़ता है। इन्होंने यह भी सिद्ध किया कि जीवित प्राणियों में पायी जाने वाली सचेतनता....स्पंदनशीलता....शारीरिक गठन....भोजन....वर्धन, ...श्वसन....प्रजनन....विसर्जन....मरण *आदि समस्त विशेष गुण वनस्पतियों में विद्यमान हैं। ये गुण निर्जीव पदार्थों में नहीं पाये जाते हैं।* अतः वनस्पति जड़ पदार्थ न होकर सजीव है। आज विज्ञान जगत में वनस्पति विज्ञान जीव विज्ञान की प्रमुख शाखा बन गई है।

क्रोध, मान, माया, लोभ रूप प्रत्येक कषाय में पृथ्वीकायिक जीव बहुलता से विद्यमान होते हैं। इसलिए तत्संबंधी स्थिति-स्थान आदि १० भंगों की स्थिति नहीं बनती हैं। अतः पृथ्वीकाय के १० ही द्वारों में *अभंगक अवस्था जाननी* चाहिए। जहां किसी प्रकार का भेद हो वहीं भंग बनते हैं। यहां कोई भेद की स्थिति नहीं है, अतः भंग नहीं बनते हैं।

पृथ्वीकाय के स्थिति-स्थान असंख्य होते हैं। उनकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त से लेकर उत्कृष्ट २२ हजार वर्ष की है। इसके मध्य वे स्थिति-स्थान भी असंख्य होते हैं। एक समयाधिक, द्वि-समयाधिक आदि। अवशेष द्वारों का वर्णन नारकियों की तरह जानना चाहिए। कुछ भिन्नता है, वह निम्न प्रकार है—

पृथ्वीकायिक जीवों के तीन शरीर होते हैं—औदारिक, तैजस, कार्मण।

शरीर संघात के रूप में मनोज्ञ और अमनोज्ञ दोनों प्रकार के पुद्गल पृथ्वीकायिक जीव के परिणमित होते हैं। उनका संस्थान हुण्डक होता है। नैरयिकों की तरह पृथ्वीकायिक जीवों में वैक्रिय शरीर *जीवों के नहीं कहना चाहिए लेश्याएँ* उनमें चार (कृष्ण, नील, कापोत, तेज) होती हैं। आदि की तीन लेश्यावाले जीव अभंगक हैं। तेजोलेश्यावाले जीवों में ८० भंग होते हैं। पृथ्वीकायिक जीव एकान्ततः मिथ्यादृष्टि और अज्ञानी होते हैं। अज्ञान में मतिअज्ञान, श्रुत अज्ञान और योग में केवल काययोग ही होता है।

पृथ्वीकाय की तरह अप्काय के विषय में जानना चाहिये। इसकी स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट सात हजार वर्ष की है। इनके भी स्थिति-स्थान असंख्यात हैं। अप्काय में भी देवों का आगमन होने से तेजोलेश्या में ८० भंग होते है।

तेजस्काय और वायुकाय का कथन भी पृथ्वीकाय की तरह ही है। तेजस्काय की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति तीन अहोरात्रि। वायुकाय की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट तीन हजार वर्ष की है। जघन्य से उत्कृष्ट पर्यन्त असंख्यात स्थिति-स्थान होते हैं। इनमें देवोत्पत्ति नही होने से तेजोलेश्या और तत्संबंधी ८० भंग नहीं होते हैं। वायुकाय में शरीर चार होते है—औदारिक, वैक्रिय, तेजस और कार्मण।

वनस्पतिकाय का वर्णन भी पृथ्वी की तरह ही समझना चाहिये। दस ही द्वारों में अभंगक है। इनमें देवोत्पत्ति होने से ८० भंग होते हैं। तेजोलेश्या भी पाई जाती है।

कर्मग्रन्थ के अनुसार पृथ्वी, पानी, वनस्पति के जीवों में सास्वादन सम्यक्त्व भी माना गया है। उससे पृथ्वी, पानी, वनस्पति जीवों में सम्यक्दृष्टि मतिज्ञान और श्रुतज्ञान की स्थिति भी बनती है। जिससे तत्संबंधी २७ भंग भी बनेंगे। परन्तु सिद्धान्तानुसार पृथ्वीकाय आदि में सम्यक्त्व स्वीकार नहीं किया गया है। यथा—

"उभयाभावे पुढवाइएसु विगलेसु होज्ज उववण्णो त्ति" पृथ्वीकाय आदि में उभयाभाव-प्रतिपद्यमान और पूर्वप्रतिपन्न दोनों ही प्रकार का सम्यक्त्व नही होता है। विकलेन्द्रियों में पूर्वोत्पन्न सम्यक्त्व होता है। पृथ्वीकाय आदि में सम्यक्त्व की स्थिति नही होने से तत्संबंधी सम्यक्दृष्टि, मतिज्ञान श्रुतज्ञान और ८० भंग नहीं होते हैं।

टीकाकार ने पृथ्वी आदि जीवों में अल्पांश रूप से सास्वादन सम्यक्त्व का होना बतलाया है। यथा—

सास्वादन भावस्याऽत्यन्त विरलत्वेन—किन्तु सिद्धांत की दृष्टि से कोई भी सम्यक्त्व पृथ्वीकाय आदि में नही माना गया है। अत: पृथ्वी आदि में सास्वादन सम्यक्त्व मानना सिद्धांत सम्मत नही है।

100, 101. विकलेन्द्रियों-तिर्यञ्चपंचेन्द्रिय के क्रोधोपयुक्तादि निरूपणपूर्वक स्थिति आदि दस द्वार

उत्थानिका—

पूर्व सूत्र में स्थावर जीवों के स्थिति-स्थानादि प्रतिपादित किये गए हैं। प्रस्तुत सूत्र में विकलेन्द्रिय एवं तिर्यञ्चपंचेन्द्रिय के स्थिति-स्थान बतलाते हैं।

सूत्र 100 [१]बेइंदिय-तेइंदिय चउरिंदियाणं जेहिं ठाणेहिं [२]नेरइयाणं [३]असीइ भंगा तेहिं ठाणेहिं [४]असीइं चेव । नवरं अब्भहिया सम्मत्ते, [५]आभिणिबोहियनाणे [६]सुयनाणे [७]य एएहिं [८]असीइ भंगा, जेहिं ठाणेहिं [९]नेरतियाणं सत्तावीसं भंगा तेसु ठाणेसु सव्वेसु [१०]अभंगयं ।

सूत्र 100 जिन स्थानों में नैरयिक जीवों के अस्सी भंग कहे गये हैं, उन स्थानों में द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवों के भी अस्सी भंग होते है । विशेषता यह है कि सम्यक्त्व, आभिनिबोधिक ज्ञान, और श्रुतज्ञान इन तीनों स्थानों में भी द्वीन्द्रिय आदि जीवों के अस्सी भंग होते हैं, इतनी बात नारक जीवों से अधिक है। तथा जिन स्थानों में नारक जीवों के सत्ताईस भंग कहे हैं, उन सभी स्थानों में यहां अभंगक हैं। अर्थात् कोई विकल्प नहीं है।

सूत्र 101 पंचिंदियतिरिक्खजोणिया [११]जहा नेरइया [१२]तहा भाणियव्वा[A], नवरं [१३]जेहिं सत्तावीसं भंगा [१४]तेहिं अभंगयं [१५]कायव्वं । जत्थ [१६]असीति तत्थ [१७]असीतिं चेव ।

सूत्र 101 जैसा नैरयिकों के विषय में कहा, वैसा ही पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चयोनिक जीवों के विषय में जानना चाहिए। विशेषता यह है कि जिन-जिन स्थानों में नारक-जीवों के २७ भंग कहे गये हैं, उन-उन स्थानों में यहां अभंगक कहना चाहिए और जिन स्थानों में नारकों के अस्सी भंग कहे हैं, उन स्थानों में पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिक जीवों के भी अस्सी भंग कहना चाहिए।

विवेचन—

नारकी जीवों के प्रकरण में समय अधिक जघन्य स्थिति से लगाकर संख्यात समयाधिक जघन्य स्थिति में, जघन्य अवगाहना में संख्यात प्रदेश तक जघन्य अवगाहना और मिथ्यादृष्टि को छोड़कर ... में ८० भंग प्रतिपादित किए गए हैं। विकलेन्द्रिय में भी उसी प्रकार ८० भंग समझने चाहिये। किन्तु मिथ्यादृष्टि वाले ८० भंग यहां नहीं समझना चाहिये। यहां ८० भंगों का कथन विकलेन्द्रिय जीवों की अल्पता की अपेक्षा से समझना चाहिये। विकलेन्द्रिय में मिश्रदृष्टि के नहीं होने से तत्सम्बन्धित भंग भी नहीं होते हैं।

१. बेंदिय-तेंदिय-चउ° - ला० ॥ २. नेरतियाणं - बे० म० ॥ ३. असीइं - पा० । असीती भं° - जं० ॥ ४. असीइं - पा० । असीती चेव - जं० लों० ॥ ५. °यणाण सुयनाणेहिं असीइ भंगा - ला २ ॥ ६. °यणाणे य असीति भंगा जेहिं - जं० । °यणाण एएहिं - ला ३ ॥ ७. य - नत्थि अमो० ॥ ८. असीई - पा० । असी भं° - लों० ला १ ॥ ९. नेरइयाणं - पु० अमो० पा० म० । नेरइयाणं असीति भंगा तेसु - ला ३ ॥ १०. अभंगाइं - ला २ ॥ ११. जहा - बे० ॥ १२. तहा - बे० ॥ १३. जहिं - अमो० लो० ला० ॥ १४. तहिं - अमो० लो० ॥ १५. कायव्वं मधु° - म० ला० ला २-३ ॥ १६. असीइ - अमो० । असीई - पा० । असीती त° - लों० । असी त° ला १ ॥ १७. असीई मधु° - अमो० । असीई - पा० । असीति चेव - बे० म० । असी चेव - ला १ ॥

A. सूत्र 74 से सूत्र 94 (ii) तक ॥

दृष्टिद्वार और ज्ञानद्वार में जहां नारकियों के २७ भंग बतलाये हैं, वहां विकलेन्द्रियों के ८० भंग समझने चाहिये। विकलेन्द्रियों में सास्वादन सम्यक्त्व के होने से और अल्पता होने से ८० भंग बन जाते हैं। आभिनिबोधिक ज्ञान, श्रुतज्ञात में भी ८० भंग समझने चाहिए।

जिन-जिन स्थानों में नारकी जीवों के संबंध में २७ भंग बतलाए गए हैं, उन स्थानों में विकलेन्द्रिय के अभंगक कहना चाहिये। क्योंकि विकलेन्द्रिय में क्रोधादि उपयुक्त जीवों की बहुलता होती है।

तिर्यचपंचेन्द्रिय में भी नारकी की तरह ही समझना चाहिये। विशेषता यह है कि जिन स्थानों में नारकी की २७ भंग बतलाए हैं, उन स्थानो में तिर्यचपंचेन्द्रिय के अभंगक कहना चाहिये क्योंकि क्रोधादि उपयुक्त तिर्यचपंचेन्द्रिय जीवों की बहुलता होती है तथा नारकी जीवों में जहां ८० भंग कहे हैं, उन्हीं स्थानों में यहां पर भी ८० भंग कहना चाहिये।

102. मनुष्यों के क्रोधोपयुक्तादि निरूपणपूर्वक दस द्वार—

सूत्र 102 [१]**मणुस्सा वि जेहिं ठाणेहिं नेरइयाणं** [२]**असीति भंगा तेहिं ठाणेहिं** [३]**मणुस्साण वि** [४]**असीति भंगा भाणियव्वा।** [५]**जेसु ठाणेसु** [६]**सत्तावीसा तेसु अभंगयं, नवरं मणुस्साणं अब्भहियं** [७]**जहन्नियाए ठिईए आहारए य** [८]**असीति भंगा।**

सूत्र *102* नारक जीवों में जिन-जिन स्थानों में अस्सी भंग कहे गये हैं, उन-उन स्थानों में मनुष्यों के भी अस्सी भंग कहने चाहिए। नारक जीवो में जिन-जिन स्थानों में सत्ताईस भंग कहे गए हैं, उनमें मनुष्यों में अभंगक कहना चाहिए। विशेषता यह है कि मनुष्यों के जघन्य स्थिति में और आहारक शरीर में अस्सी भंग होते हैं, और यही नैरयिकों की अपेक्षा मनुष्यों में विशेषता है।

विवेचन :-

पूर्व विवेचित नारकी के १० द्वारों में से जिन द्वारों में ८० भंग कहे हैं, उतने ही मनुष्य के संबंध में भी जानना चाहिये। एक समय अधिक जघन्य स्थिति से लेकर संख्यात समय अधिक जघन्य स्थिति पर्यन्त अवगाहना में तथा एक दो प्रदेश अधिक जघन्य अवगाहना से लेकर संख्यात प्रदेश अधिक तक की जघन्य अवगाहना में तथा मिश्रदृष्टि में नारकी जीवों के विषय में ८० भंग कहे है। उन द्वारों में मनुष्य संबंधी भी ८० भंग हो समझना चाहिए। क्योंकि इस अवस्था में विद्यमान मनुष्य अल्प ही होते हैं।

---

१. "मणुस्सा वि त्ति यथा नैरयिका दशसु द्वारेषु अभिहिताः तथा मनुष्या अपि भणितव्या इति प्रक्रम." - अवृ०। मणुस्साण वि - ला २-३-४ मु०॥ २. असीइ - अमो०। असीई - घा०। असी मं० - ला १॥ ३. मणुस्सा वि - अमो०। मणुस्साणं - घा०॥ ४. असीइ - अमो०। असीई - घा०॥ ५. जेसु सत्तावीसा - अमो० न० लों० ला०। जेहिं ठाणेहिं सत्ता° - ला ४॥ ६. सत्तावीसं - घा०॥ ७. °न्निया ठिई आहा° - पु०। जहण्णियट्ठिईए - अमो० घा०। जहन्नियठितीए - ला०॥ ८. असीइ - अमो०। असी भंगाई - घा०। असीति भंगा - बे० म०॥

जिन स्थानों में नारकियों के २७ भंग बतलाए है, उन स्थानों में मनुष्य के अभंगक कहना चाहिये। नारकी जीवों के अधिकांशतः क्रोध का उदय रहता है, किन्तु क्रोधादि सभी कषायों में उपयुक्त मनुष्य बहुलता से होते हैं। अतः नारकी के २७ भंगों के स्थान पर मनुष्य के अभंगक कहना चाहिये।

मनुष्यों में सामान्य रूप से छहों लेश्याएं छहों संहनन एवं पांचों ज्ञान पाये जाते हैं।

जघन्य स्थिति में जहां नारकियों के २७ भंग होते हैं, वहां मनुष्य के ८० भंग होते हैं। आहारक शरीरी मनुष्यों की अल्पता होने से उनमें ८० भंग होते हैं। नारकियों में आहारक शरीर होता ही नहीं है।

103. वाणव्यंतरों के क्रोधोपयुक्तपूर्वक दसद्वार—

सूत्र 103 वाणमंतर-[1]जोइस-वेमाणिया [A]जहा भवणवासी। नवरं णाणत्तं [2]जाणियव्वं जं [3]जस्स जाव[B] [4]अणुत्तरा। त्ति जाव विहरइ।

सेवं भंते! सेवं [5]भंते! [6]त्ति०[C]।

॥ पंचमो उद्देसओ समत्तो ॥

सूत्र 103 वानव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवों का कथन भवनपति देवों के समान समझना चाहिए। विशेषता यह है कि जो जिसका नानत्व-भिन्नत्व है, वह जान लेना चाहिए ऐसा कह कर यावत् गौतमस्वामी विचरण करते हैं।

भगवन्! यह इसी प्रकार है, यह इसी प्रकार है।

पांचवा उद्देशक सम्पूर्ण हुआ।

विवेचन—

जिस प्रकार भवनपति देवों का वर्णन किया गया है, उसी प्रकार वाणव्यन्तर ज्योतिष और वैमानिक देवों का वर्णन भी जानना चाहिये।

ज्योतिष और वैमानिक देवों में भवनवासी देवों की अपेक्षा अन्तर है। ज्योतिष देवों में एक तेजोलेश्या ही पाई जाती है। ज्ञानद्वार में तीनज्ञान, और तीनों अज्ञान पाये जाते हैं। असंज्ञी जीव ज्योतिषी देवों में उत्पन्न नहीं होते। अतः विभंगज्ञान अपर्याप्त अवस्था में भी पाया जाता है।

वैमानिक देवों में केवल शुभलेश्या त्रय ही होती हैं। ज्ञानद्वार में निश्चयपूर्वक तीनज्ञान और तीन अज्ञान कहना चाहिये।

---

१. जोतिय - न० । जोइस - वे० म० ॥ २. भाणियव्वं - अमो० ॥ ३. जस्स सेवं भंते २ त्ति पंचमो उद्देसओ - ला० मा २-३ ॥ ४ °त्तरा । सेवं - पु० अमो० म० वे० म० ॥ ५. भंते ।५। - सो० ॥ ६. त्ति पढमं सए पंचमो उद्देसो समत्तो - अमो० । त्ति जाव विहरइ - पा० न० ॥

A. सूत्र 96 ॥

B. जाव पदेन 'सोहम्म-ईसाण' इत्येवम् आदितः आरभ्य 'अनुत्तर' पर्यन्तानां देवलोकानां नामानि सोऽनयोः स्थाने ज्ञातव्यम् ॥

C. त्ति भगवं गोयमे समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ वंदित्ता नमंसित्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ ॥

छट्ठो उद्देसओ : 'जावंते' | छठा उद्देशक : 'यावन्त'

104, 105. सूर्य के उदयास्त क्षेत्र स्पर्शादि चर्चा—

उत्थानिका—

आगमों में संसारी जीवों को मुख्यतया चार विभागों में विभक्त किया है। यथा-नारक-तिर्यच मनुष्य और देव।

देव भी चार प्रकार के प्रतिपादित किए गए हैं— भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिषि और वैमानिक! अगले सूत्र में ज्योतिष देव-लोक से संबन्धित सूर्य के उदयास्त का वर्णन किया जा रहा है—

सूत्र 104 [१]जावइयाओ णं भंते ! [२]उवासंतराओ उदयंते सूरिए [३]चक्खुप्फासं [४]हव्वमागच्छति, अत्थमंते वि य णं सूरिए [५]तावतियाओ चेव [६]उवासंतराओ [७]चक्खुफासं [८]हव्वमागच्छति।

[९]हंता गोयमा ! [१०]जावइयाओ णं [११]उवासंतराओ उदयंते सूरिए [१२]चक्खुफासं [१३]हव्वमागच्छति अत्थमंते [१४]वि सूरिए जाव[A] [१५]हव्वमागच्छति।

सूत्र 105 [१६]जावइया णं भंते ! [१७]खित्त उदयंते सूरिए [१८]आतावेणं [१९]सव्वओ

सूत्र *104* भगवन् ! जितनी दूरी से उदय होता हुआ सूर्य आखों से शीघ्र देखा जाता है, तो क्या अस्त होता हुआ सूर्य उतनी ही दूरी से आंखों से दिखाई देता है?

हां गौतम ! जितनी दूरी से उदित होता हुआ सूर्य आंखों से दिखलाई देता है, उतनी ही दूरी से अस्त होता हुआ सूर्य भी आंखों से दिखलाई देता है।

सूत्र 105 भगवन् ! उदय होता हुआ सूर्य अपने ताप द्वारा जितने क्षेत्र को सब प्रकार से— सभी दिशाओं विदिशाओं में प्रकाशित करता है

---

१. °याओ य णं - पु० । °याउणं भंते - अमो० । जावइया - अ० । जावतिया - बे० म० ॥ २. ओवासंतराओ - न० बे० म० ॥ ३. चक्खुफासं - लो० ला १ ॥ ४. °गच्छइ - अमो० घा० ॥ ५. तावइया - पु० घा० ॥ ६-११. ओवासंतराओ - न० बे० म० ॥ ७. चक्खुप्फासं - घा० न० ॥ ८ °गच्छइ - अमो० घा० ॥ ९. हंता - णत्थि अमो० ॥ १०. °याउणं उवा° - अमो० । जावतियाओ - बे० म० ॥ १२. चक्खुपफासं - पु० घा० न० ॥ १३. °गच्छइ - अमो० घा० ॥ १४. वि जाव हव्वगमाच्छइ - अमो० लो० । वि य णं सूरिए - न० ॥ १५. °गच्छइ - घा० ॥ १६. °जावइयण्णं भंते - पु० । जावइयं णं - घा० । जावइय णं - न० । जावइयाओ - अ० । जावइयाण्णं ता० । जावतिया णं - ला ३ । जावइयेणं - ला ४ । जावतियं - बे० म० । 'स्वीकृत पाठे णं पदस्य योगे 'जावइय' पदस्य अनुस्वार लोपो जातः ॥ १७. खेत्तं - अमो० न० बे० म० ॥ १८. आयवेणं अमो० घा० न० । आतवेणं - बे० म० ॥

समंता [20]ओमासेइ [21]उज्जोएइ तवेइ [22]पभासेइ अत्थमंते वि य णं सूरिए तावइयं चेव [23]खित्तं [24]आयावेणं [25]सव्वओ समंता [26]ओभासेइ [27]उज्जो-एइ [28]तवेइ पभासेइ ?

हंता गोयमा ! [29]जावतिया णं खेत्तं जाव[B] [30]पभासेइ ।

उद्योतित करता है तपाता है और अत्यन्त तपाता है. क्या उतने ही क्षेत्र को अस्त होता हुआ सूर्य भी अपने ताप द्वारा सभी दिशाओं और सभी विदिशाओं को प्रकाशित करता है ? उद्योतित करता है ? तपाता है ? खूब तपाता है ?

हाँ गौतम ! उदय होता हुआ सूर्य जितने क्षेत्र को प्रकाशित करता है, यावत् अत्यन्त तपाता है, उतने ही क्षेत्र को अस्त होता हुआ सूर्य भी प्रकाशित करता है, यावत् अत्यन्त तपाता है।

सूत्र 196 (i) तं भंते ! किं पुट्ठं [1]ओभा-सेइ अपुट्ठं [2]ओभासेइ ?

जाव[A] [3]छद्दिसिं [4]ओभासेति ।

सूत्र 106 (i) भगवन् ! सूर्य जिस क्षेत्र को प्रकाशित करता है, क्या वह क्षेत्र सूर्य से स्पृष्ट-स्पर्श किया हुआ होता है, या अस्पृष्ट होता है ?

गौतम ! वह क्षेत्र सूर्य से स्पृष्ट होता है यावत् उस क्षेत्र को छहों दिशाओं में प्रकाशित करता है ।

(ii) एवं [5]उज्जोवेइ ? [6]तवेइ ? [7]पभा-सेइ ?

जाव[B] नियमा [8]छद्दिसिं ।

(ii) इसी प्रकार उद्योतित करता है, तपाता है और बहुत तपाता है ?

यावत् उस क्षेत्र को छहों दिशाओं में अत्यन्त तपाता है ।

---

१९. सव्वतो - बे० म० ॥ २०. ओहासेइ - अमो० । ओभासेति - बे० म० ॥ २१. उज्जोवेइ तावेइ - लाँ० । उज्जोएति तवेति - बे० म० ॥ २२. पभासेति - बे० म० ॥ २३. खेत्तं - अमो० न० बे० म० ॥ २४ आयवेण - अमो० पा० न० । आतवेणं - बे० म० । आयवेणं - ला २ ॥ २५. सव्वतो - बे० म० ॥ २६. ओभासेति - बे० म० । ओभासेइ ? हंता - ला ४ ॥ २७ उज्जोएति - बे० म० । उज्जोवेइ त° - लाँ० ला १-२ ॥ २८. तवेति पभासेति - बे० म० ॥ २९ जावइयण्णं खेत्तं - पु० । जावइयाण - अमो० । जावतियं णं - पा० । जावतिय - न० । जावतियं णं - बे० म० ॥ ३०. पभासेति - बे० म० ॥

A. तावतियाओ चेव ओवासंतराओ सव्वपुव्वाणं ॥

B. उदयंते सूरिए आयावेणं सव्वओ समंता ओभासेइ उज्जोएइ तवेइ पभासेइ अत्थमंते वि य णं सूरिए तावइयं चेव खित्तं आयावेणं सव्वओ समंता ओभासेइ उज्जोएइ तवेइ ॥

सूत्र १०६-१०७.—१. °सेइ जाव छद्दि° - अमो० । ओभासेति - बे० म० ॥ २. °सेति - बे० म० ॥ ३. छद्दिसिं एवं - अमो० लाँ० । छद्दिसं एवं ओभा° - ला० ॥ ४. ओभासेइ - पा० ॥ ५. उज्जोवेति - बे० म० ॥ ६. तवेति - बे० म० ॥ ७. पभासेइ ! से नूणं - न० । पभासेति - बे० म० ॥ ८. छद्दिसं - ला ३ ॥ ९. 'सव्वंति' पदस्य नास्ति

A-B जाव एवं पाठ पूर्ति परिशिष्ट में देखें ?

सूत्र 107 (i) से नूणं भंते ! [९]सव्वंति सव्वावंति फुसमाणकालसमयंसि [१०]जावतियं खेत्तं फुसइ [११]तावतियं फुसमाणे [१२]पुट्ठे त्ति वत्तव्वं सिया ?

हंता गोयमा ! सव्वंति जाव[C] वत्तव्वं सिया।

(ii) [१३]तं भंते ! किं [१४]पुट्ठं [१५]फुसति अपुट्ठं [१६]फुसइ ?

जाव[D] नियमा [१७]छद्दिसिं।

सूत्र 107 (i) भगवन् ! स्पर्श करने के समय में सूर्य के साथ सम्बन्ध रखने वाले जितने क्षेत्र को सर्व दिशाओं में स्पर्श कर रहा होता है, क्या वह क्षेत्र स्पृष्ट कहा जा सकता है ?

हां गौतम ! वह सर्व यावत् स्पर्श करता हुआ स्पृष्ट क्षेत्र का स्पर्श करता है।

(ii) भगवन् ! सूर्य स्पृष्ट क्षेत्र का स्पर्श करता है या अस्पृष्ट क्षेत्र का स्पर्श करता है ?

गौतम ! सूर्य स्पृष्ट क्षेत्र का स्पर्श करता है यावत् नियम-पूर्वक छहों दिशाओं में स्पर्श करता है।

विवेचन :-

प्रस्तुत पाठ में गगन-विहारी सूर्य के विषय में प्रश्न किये गए है। उदय और अस्त होता हुआ सूर्य समान क्षेत्र को दूरी से दिखलाई देता है। यह कथन सामान्य रूप से किया गया है। क्योंकि सूर्य के १८४ मंडल होते हैं। कर्क संक्रान्ति के दिन सूर्य अपने सर्वाभ्यन्तर (सबसे पीछे वाले) मंडल में रहता है उस समय वह भरत क्षेत्र में स्थित लोगों को ४७२६३ योजन दूरी से दिखता है।

मूल पाठ में 'चक्खुफासं हव्वमागच्छति' नामक पद आया है। अर्थात् वह चाक्षुप स्पर्श को शीघ्र प्राप्त हो जाता है। यहां सहज ही जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि अन्य आगमों में तो चक्षु को अप्राप्यकारी बतलाया है। वह अपने विषय को विना प्राप्त किये, योग्य सन्निधान में स्थित होने पर जान लेती है, तब फिर यहां चाक्षुप-स्पर्श-विषय को ग्रहण करके कैसे कहा गया ?

इन्द्रियां दो प्रकार की होती है— प्राप्यकारी और अप्राप्यकारी। जो ग्रहण करने योग्य विपय को प्राप्त करके-स्पर्श करके जानती है, उसे प्राप्यकारी इन्द्रिय कहा जाता है।— ये चार हैं—कान, नाक जिव्हा और त्वचा। कान में शब्दों का प्रवेश होता है, तभी व्यक्ति श्रवण कर सकता है। नाक में सुगन्ध या दुर्गन्ध के पुद्गलों का प्रवेश होने पर ही उसको अनुभूति हो सकती है। जिह्वा द्वारा वस्तु को साक्षात् स्पृष्ट करने पर ही रसानुभूति हो सकती है। त्वचा के साथ उष्ण या शीतल आदि पदार्थ का स्पर्श न हो

सर्वमिति 'द्वावर्थौ तथा सव्वावंति पदस्य सर्वात्मना सर्वापतिः सर्वापमिति सव्यापमिति' चत्वारोऽर्था व्युत्पतिपुरःसरं निरूपिताः - वृतौ ॥ १०. जावइयं - अमो० ॥ ११. तावइयं - अमो० ॥ १२. पुट्ठं - घा० ॥ १३. एतद् सूत्रं वृत्तौ व्याख्यातं नास्ति प्रकरणानुसारि चापि न दृश्यते किन्तु सर्वासु प्रतिसु उपलब्धमस्ति ॥ १४. पुट्ठं - न० ॥ १५. फुसइ - पु० घा० न० । फुसइ जाव - अमो० । फुसति जाव नियमा - लो० ला १-२ ॥ १६. °इ ? गोयमा पुट्ठं फुसइ नो अपुट्ठं जाव - न० ॥ १७. °सि फुसइ - घा० न० - घा० न० । छंद्दिसं - ला ३ ॥

तो उसकी अनुभूति नहीं होती है। वस्तु को बिना स्पर्श किये, योग्य सन्निधान में वस्तु के होने पर जो इन्द्रिय ग्रहण कर लेती है वह अप्राप्यकारी है। यथा—चक्षु और मन।

प्रस्तुत पाठ में "चक्खुफासं" शब्द का प्रयोग किया गया है। यह 'चक्षुः स्पर्श इव' अर्थात् वास्तविक स्पर्श न होते हुए भी चक्षुः स्पर्शवत्' अर्थ में है। उसका इतना ही तात्पर्य है कि आंख और सूर्य के बीच किसी भी प्रकार का व्यवधान नही होना चाहिए। उस अव्यवधान की स्थिति को ही स्पर्श के रूप में बतलाया गया है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि आंखे शरीर से बाहर निकलकर सूर्य मण्डल में जाकर सूर्य को देखती है या सूर्य मण्डल आंखों में प्रवेश करता है। क्योंकि ये दोनों बातें प्रत्यक्ष से विरुद्ध है।

यद्यपि आंखों का विषय तो एक लाख योजन तक की वस्तु को देखने का ही है। इतना विषय विशेष लब्धि धारक साधक की आंखों में ही हो सकता है सर्व साधारण के नही। तथापि अति दूर स्थित सूर्य को वह इसलिए देखने में समर्थ हो सकता है कि सूर्य अपनी रश्मियों से अत्यधिक प्रकाश-विकीर्ण करता है। उस प्रकाश के कारण ही सामान्य नेत्र भी उसे देखने से समर्थ हो जाते हैं।

अतः शास्त्र में परस्पर कोई विरोध नहीं है। अग्रिम विषय तो सूत्रार्थ से स्पष्ट हो जाता है। ओभासेइ, उज्जोएइ, तवेइ, पभासेइ, के विभिन्न अर्थ निम्न प्रकार से होते हैं—

१. सूर्य मण्डल दृष्टिगत न हो उससे पूर्व जो लालिमा दिखलाई देती है, वह अवभास है। उस समय सूर्य के द्वारा प्रकाश करना, अवभासित करना कहलाता है।

२. प्रातः और सांयकालीन समय में सूर्य के प्रकाश से जो स्थूल वस्तुएं दिखलाई देती हैं, उस प्रकाश को उद्योत कहते हैं। बड़ी वस्तुओं को प्रकाशित करना उद्योतित करना कहलाता है।

३. जिस प्रकाश से रात्रि जनित शीतलता दूर हो और छोटी बड़ी वस्तुएं दृष्टिगत होने लग जाय, तब यह कहा जाता है कि सूर्य तप रहा है। जब उस विशेष प्रकाश से चाक्षुष ग्राह्य सूक्ष्म से सूक्ष्म वस्तु भी दृष्टिगत होने लग जाय, तब सूर्य का तपना कहा जाता है।

४. जब सूर्य प्रचण्ड प्रकाश करता है, जाज्वल्यमान हो उठता है, तब उस प्रकाश को प्रभास कहते है। उससे वस्तुओं का प्रकाशित होना, प्रभासित होना कहलाता है।

108, 109. लोकान्त अलोकान्तादिक स्पर्श चर्चा—

उत्थानिका :—

पूर्व सूत्र में सूर्य सम्बन्धी विविध बातों पर विचार किया गया। यह सूर्य लोक में प्रकाशित होता है। लोक के अन्त में अलोक आता है। अतः लोक का, अलोक का तथा उसके अन्तर्गत रहने वाली वस्तुओं में किसमें स्पर्श होता है एतद् विषयक वर्णन प्रस्तुत सूत्र में किया जा रहा है -

सूत्र 108 (i) [१]लोयंते भंते ! [२]अलोयंतं [३]फुसइ ? [४]अलोयंते वि [५]लोयंतं फुसइ ?

हंता, गोयमा ! [६]लोयंते अलोयंतं फुसइ, [७]अलोयंते वि लोयंतं फुसइ[A] ।

(ii) भंते ! किं पुट्ठं [८]फुसइ अपुट्ठं [९]फुसइ ?

जाव[B] नियमा छद्दिसिं [१०]फुसइ ।

सूत्र 108 (i) भगवन् ! क्या लोक का अन्त अलोक को स्पर्श करता है ? क्या अलोक का अंत लोक को स्पर्श करता है ?

हां गौतम ! लोक का अन्त अलोक के अन्त को स्पर्श करता है। और अलोक का अंत लोक के अन्त को स्पर्श करता है।

(ii) भगवन् ! वह जो स्पर्श करता है, क्या वह स्पृष्ट है या अस्पृष्ट है ?

गौतम ! यावत् नियमपूर्वक छहो दिशाओं में स्पृष्ट होता है।

सूत्र 109 (i) दीवंते भंते ! सागरंतं [११]फुसइ ? सागरंते वि दीवंतं [१२]फुसइ ?

[१३]हंता[C], जाव[D] नियमा छद्दिसिं [१४]फुसइ ।

(ii) एवं[E] [१५]एएणं अभिलावेणं [१६]उदयंते [१७]पोयंतं फुसइ, छिद्दंते [१८]दूसंतं, [१९]छायंते [२०]आयावंतं ?

जाव[F] नियमा छद्दिसिं [२१]फुसइ ।

सूत्र 109 (i) भगवन् ! क्या द्वीप का अन्त (किनारा) समुद्र के अन्त को स्पर्श करता है ?

(ii) यावत्-नियम से छहों दिशाओं में स्पर्श करता है।

भगवन् ! क्या इसी प्रकार इसी अभिलाप से (इन्हीं शब्दों में) पानी का किनारा, पोत (जहाज) के किनारे को और पोत का किनारा, पानी के किनारे को स्पर्श करता है ? क्या छेद का किनारा, वस्त्र के किनारे को और वस्त्र का किनारा छेद के किनारे को स्पर्श करता है ? और क्या छाया का अन्त धूप के अन्त को और धूप का अत छाया के अन्त को स्पर्श करता है ?

हाँ गौतम ! यावत् नियम-पूर्वक छहों दिशाओं को स्पर्श करता है।

सूत्र १०८-१०९.—१. लोअंते भंते - बे० म० ॥ २. अलोअंतं - बे० म० ॥ अलोयंतं फुसति अलोयंते वि लोयंते फुम० - ला ३ ॥ ३. फुसति - बे० म० ॥ ४. अलोअंते वि - बे० म० ॥ ५. लोअंतं फुसति - बे० म० ॥ ६. लोगंते अलोगंतं फुसति - बे० म० ॥ ७. अलोगंते वि लोगंतं फुसति - बे० म० ॥ ८. फुसति जाव - बे० म० ॥ ९. फुसइ । गोयमा पुट्ठं फुसइ नो अपुट्ठं जाव - म० ॥ १०. फुसति - बे० म० ॥ ११-१२-१४-२१. फुसति - बे० म० ॥ १३. हंता गोयमा जाव नियमा - घा० लो० ॥ १५. एतेणं - बे० म० ॥ १६. उदयंते पोदंते - ला २ । उदंते पोदंतं - ला ४ । उदंते पोदंते छिद्दंते दूसंते छायंते आयवं० - ला ३ । 'अत्र' पोदंते इति रूपं संस्कृत 'पोदान्तः' इत्यस्य समानात्-पोतस्य अन्तः पोतान्तः-शोरसेनी भाषायां 'त' कारस्य 'द' श्रुतौ 'पोदंते' इति ॥ १७. पोययंत - अमो० । पोदंतं छि० - बे० म० ॥ १८. दूससंतं - अमो० ॥ १९. छादंते आत० - ला ४ ॥ २०. आयवंतं - घा० । आतवंतं - बे० म० ॥

A-B-C-D-E-F. जाव एवं पाठपूर्ति परिशिष्ट में देखें ?

विवेचन:—

"लोक्यते इति लोक":—जो देखा जाय वह लोक है। देखने से तात्पर्य सामान्य नेत्रों से नहीं कि जो केवलालोक से आलोकित होता है, अर्थात् केवलज्ञान से देखा जाता है, वह लोक है। जिसमें गति क्रिया के लिये धर्मास्तिकाय, स्थिरता के लिए अधर्मास्तिकाय, अवगाहन के लिये आकाशास्तिकाय तथा जड़- पुद्गलास्तिकाय एवं चैतन्य — जीवास्तिकाय विद्यमान रहते हैं। किन्तु जिस आकाश प्रदेश में धर्मास्तिकायादि नहीं है, केवल आकाश ही आकाश है, उसे अलोक कहते हैं।

लोक के अन्त में अलोक होने से षट् दिशा से स्पर्शित है, और अलोक लोक से स्पर्शित है। इसी प्रकार समुद्र से द्वीप और द्वीप से समुद्र स्पर्शित है। समुद्र और द्वीप की गहराई एक हजार योजना प्रमाण है। अतः अधः एवं ऊर्ध्व दोनो में भी परस्पर स्पर्श होता रहता है। यह चारों दिशाओं से स्पर्शित है ही। इस प्रकार षट् दिशाओं से स्पर्शित है।

प्रत्यक्ष में दृश्यमान नौका और सागर, धूप और छाया, वस्त्र और छिद्र परस्पर छहों दिशाओं का स्पर्श करते हैं। शास्त्रकारों का इन प्रत्यक्ष उदाहरणों को देने का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार ये परस्पर स्पर्शित है, उसी प्रकार लोक से अलोक और अलोक से लोक भी स्पर्शित है।

110 से 114. चौवीस दण्डकों में अठारह-पापस्थान-क्रिया-स्पर्श चर्चा—

उत्थानिका:—

पूर्व सूत्रों में परस्पर स्पर्शना के विषय में विचार किया गया कि कौन किससे स्पर्शित है। उन तत्वों का परस्पर एक दूसरे के साथ होने वाले स्पर्श का विवेचन पूर्व सूत्रों में कर चुके हैं। प्रस्तुत सूत्र में जीव क्रियाएं करता है व क्रियाएं स्पर्शित हैं या अस्पर्शित? कृत है या अकृत? आत्मकृत है या परकृत है या उभयकृत? आदि विषयों पर विचार किया जा रहा है—

सूत्र 110 (i) अत्थि णं भंते! जीवाणं [1]पाणाइवाएणं किरिया [2]कज्जइ? [3]हंता, [4]अत्थी। (ii) सा भंते! किं पुट्ठा [5]कज्जइ? अपुट्ठा [6]कज्जइ?	सूत्र 110 (i) भगवन्! क्या जीवों द्वारा प्राणातिपातक्रिया की जाती है? हां गौतम! की जाती है। (ii) भगवन्! की जाने वाली यह प्राणातिपात क्रिया क्या स्पृष्ट है, या अस्पृष्ट है?

सूत्र ११०.—१. पाणाइवायकिरिया - पा० । पाणातिवातेणं - ये० म० ॥ २-५-१४-१५-१६-१७-१८-१९-२०-२१-२२-२३-२५-२७-२९-३१-३३ ॥३. हंताअत्थि - को० । हंता गोयमा! अत्थि - ला २-३ ॥ ४. अत्थि - पु० प्रमो० ला० बं० बं० म० ॥ ६. पुट्ठ? गोयमा! पुट्ठा कज्जइ नो अपुट्ठा कज्जइ जाव - म० । कज्जति - ये० म० ॥ ७. किमत्तकडा...

जाव[A] [७]निव्वाघाएणं छद्दिसिं [८]वाघायं [९]पडुच्च [१०]सिय तिदिसिं, [११]सिय [१२]चउदिसिं, [१३]सिय पंचदिसिं।

गौतम! यावत् व्याघात न हो तो छहों दिशाओं को और व्याघात हो तो कदाचित् तीन दिशाओं को, कदाचित् चार दिशाओं को और कदाचित् पांच दिशाओं को स्पर्श करती हैं।

(iii) सा भंते! किं कडा [१४]कज्जइ? अकडा [१५]कज्जइ?

गोयमा! कडा [१६]कज्जइ, नो अकडा [१७]कज्जइ।

(iii) भगवन्! की जाने वाली क्रिया क्या कृत है अथवा अकृत?

गौतम! वह क्रिया कृत है, अकृत नही।

(iv) सा भंते! किं अत्तकडा [१८]कज्जइ? परकडा [१९]कज्जइ? तदुभयकडा [२०]कज्जइ?

गोयमा! अत्तकडा [२१]कज्जइ, णो परकडा [२२]कज्जइ, णो तदुभयकडा [२३]कज्जइ।

(iv) भगवन्! की जाने वाली क्रिया क्या आत्मकृत है, परकृत है अथवा उभयकृत है?

गौतम! वह क्रिया आत्मकृत है, किन्तु परकृत या उभयकृत नही।

(v) सा भंते! किं [२४]आणुपुव्विकडा [२५]कज्जइ? [२६]अणाणुपुव्विकडा [२७]कज्जइ?

गोयमा! [२८]आणुपुव्विकडा [२९]कज्जइ, णो [३०]अणाणुपुव्विकडा [३१]कज्जइ। जा य [३२]कडा, जा य [३३]कज्जइ, जा य [३४]कज्जिस्सइ सव्वा सा [३५]आणुपुव्विकडा, णो [३६]अणाणुपुव्विकड त्ति वत्तव्वं सिया।

(v) भगवन्! जो क्रिया की जाती है, वह क्या आनुपूर्वी-अनुक्रम-पूर्वक की जाती है या बिना अनुक्रम से की जाती है?

गौतम! वह अनुक्रम पूर्वक की जाती है, किंतु बिना अनुक्रम से नही की जाती। जो क्रिया की गई है, या जो क्रिया की जा रही है, अथवा जो क्रिया को जायगी वह सब अनुक्रमपूर्वक कृत है। किन्तु बिना अनुक्रमपूर्वक कृत नहीं है, ऐसा कहना चाहिए।

बे० म० ॥ ८. वाघातं - बे० म० ॥ ९. पडुच्चा - ला १ ॥ १०. सिया - न० । सिया तिदिसं - ला ३ । सिया ति° - ला २ - सिता ति° - ला ४ ॥ ११. सिया - न० ला २ ॥ १२. चउद्दिसि - अमो० घा० ॥ १३. सिया - न० ला २-३ ॥ २४. आणुपुव्वि - अमो० घा० अ० क० व० बे० म० ॥ २६. अणाणुपुव्वि - अमो० घा० बे० म० ॥ २८. आणुपुव्वि - अमो० घा० बे० म० ॥ ३०. अणाणुपुव्वि - अमो० बे० म० ॥ ३२. कडा कज्जइ - न० ॥ ३४. कज्जिस्सति - बे० म० ॥ ३५. °पुव्वि° - बे० म० ॥ २०. °ज्जति तिगो° - लों० ॥ ३६. कडा त्ति - अमो० न० । °पुव्वि° - धा० बे० म० । °कडाइति - क० ॥

A. सूत्र 105 जावपूर्ति (A) में तं भंते कि ओगाढं से सम्पूर्ण ॥

सूत्र 111 (i) अत्थि णं भंते ! नेरइयाणं [१]पाणाइवाय किरिया [२]कज्जइ ?

हंता, अत्थि !

(ii) सा भंते ! किं पुट्ठा [३]कज्जइ ? अपुट्ठा [४]कज्जइ ?

जाव[A] नियमा [५]छद्दिसिं [६]कज्जइ ।

(iii) सा भंते किं कडा [७]कज्जइ ? अकडा [८]कज्जइ ?

तं चेव जाव[B] नो [९]अणाणुपुव्विकड त्ति वत्तव्वं सिया ।

सूत्र 112 जहा[C] नेरइया तहा एगिंदियवज्जा [१०]भाणियव्वा जाव वेमाणिया ।

सूत्र 113 [११]एगिंदिया [१२]जहा[D] जीवा तहा भाणियव्वा ।

सूत्र 114 जहा[E] [१३]पाणाइवाए [१४]तहा [१५]मुसावाए [१६]तहा [१७]अदिन्नादाणे मेहुणे

सूत्र 111 (i) भगवन् ! क्या नैरयिकों द्वारा प्राणा[तिपात] क्रिया की जाती है ?

हाँ गौतम ! की जाती है ।

(ii) भगवन् ! नैरयिकों द्वारा जो क्रिया की जा[ती] है, वह स्पृष्ट की जाती है, या अस्पृष्ट की जा[ती] है ?

गौतम ! यावत् नियम से छहों दिशाओं [में] की जाती है ।

(iii) भगवन् ! नैरयिकों द्वारा जो क्रिया की जा[ती] है, वह क्या कृत है अथवा अकृत है ?

गौतम ! यह पहले की तरह जानना चाहि[ए] यावत्—यह अनुक्रम पूर्वक कृत है, बिना अ[नु]क्रम पूर्वक कृत नहीं, ऐसा कहना चाहिए !

सूत्र 112 नैरयिक के समान एकेन्द्रिय को छोड़[कर] यावत् वैमानिकों तक सब दण्डक में कह[ना] चाहिए ।

सूत्र 113 एकेन्द्रियों के विषय में औधिक (सामान्य) जीवों की भांति कहना चाहिए ।

सूत्र 114 प्राणातिपात के समान मृषावाद, अदत्ता-दान, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, यावत् मिथ्यादर्श[न]

सूत्र १११-११२-११३-११४.—१. पाणातिवात° - वे० म० ॥ २-३-६-७ ४. कज्जइ ? गोयमा पुट्ठा कज्जइ नो अपुट्ठा कज्जइ जाव - म० । कज्जंति - वे० म० ॥ ५. छद्दिसं - ला ३ ॥ ८. कज्जइ ? गोयमा कडा कज्जइ नो अकडा कज्जइ तं चेव - म० । कज्जंति - वे० म० ॥ ९. °कडा ति - अमो० म० । °पुव्विकड ति - पा० वे० म० । °कडा वत्त° - लो० । °कडा सा य कज्जति सव्वा सा आणुपुव्विकडा नो अणाणुपुव्वि कड ति वत्तव्वं - ला० ॥ १०. भणि-तव्वा - वे० म० ॥ ११. एगिंदिया - वे० म० ॥ १२. जधा - वे० ॥ १३. पाणातिवाते वे० म० ॥ १४. तधा - वे० । १५. °वाए आदि° - पा० । मुसावादे - वे० म० ॥ १६. तधा - वे० ॥ १७. अदिन्ने मेहुणे - अमो० ॥ १८. [illegible] - अमो० ।

A. सूत्र 106 में आवृत्ति (A) के तं भंते कि ओगाढं से पर्यन्त ॥
B. सूत्र 110 में (iv) (v)
C. सूत्र 111 ॥
D. सूत्र 110 ॥
E. सूत्र 110 से 113 तक ॥

परिग्गहे कोहे जाव[F] मिच्छादंसणसल्ले, एवं [१८]एए अट्ठारस, [१९]चउवीसं दंडगा भाणियव्वा।

सेवं [२०]भंते! सेवं भंते! त्ति भगवं [२१]गोयमे [२२]समणं [२३]भगवं जाव[G] [२४]विहरति।

शल्य इन अठारह ही पापस्थानों के विषय में चौबीस दण्डक कहने चाहिए।

भगवन्! यह इसी प्रकार है। भगवन्! यह इसी प्रकार है। ऐसा कहकर भगवन् गौतम श्रमण भगवान् महावीर स्वामी को वन्दना नमस्कार कर यावत् विचरते हैं।

विवेचन—

'क्रियते इति क्रिया' जो की जाती है, वह क्रिया है। वह क्रिया आत्मकृत, परकृत और तदुभयकृत के भेद से ३ प्रकार की प्रतिपादित की गई है।

जो क्रिया स्वयं के द्वारा की जाती है, वह आत्मकृत है। जो क्रिया पर अर्थात् अन्य के द्वारा की जाती है, वह परकृत है। जो क्रिया स्व-परउभय-दोनों द्वारा की जाती है, वह उभयकृत है। आत्मकृत क्रिया अनुक्रम से की जाती है। पश्चातानुक्रम या अनानुक्रम से नहीं की जाती है।

जो क्रिया क्रमश: हो उसे अनुक्रम क्रिया और जो क्रिया विपरीत क्रम से हो वह पश्चातानुक्रम क्रिया तथा जो क्रिया व्युत्क्रम से हो अर्थात् कभी क्रम से, कभी विपरीत क्रम से वह अनानुपूर्वी क्रिया कहलाती है।

नैरयिक जीवों के संबंध में विशेषत: छहों दिशाओं का स्पर्शन कहना चाहिए। त्रसनाड़ी के अन्तर्गत होने से उसमें व्याघात का प्रसंग नहीं आता है। यह स्थिति एकेन्द्रिय के अतिरिक्त दण्डकों में होती है। एकेन्द्रिय जीव तो लोक प्रमाण होने से उनमें व्याघात की स्थिति आने पर तीन, चार, पांच दिशा की क्रिया भी लग सकती है।

प्राणातिपात की तरह ही अवशेष पापस्थानों से लगने वाली क्रिया के विषय में भी जानना चाहिए।

एते - वे० म० ॥ १९. चउव्वीसं - अमो० ॥ २०. सेवं भंते २ भगवं - अमो० ॥ २१. गोतमे - वे० म० ॥ २२. समणे जाव - अमो० लो० ला १-२-४ ॥ २३. भगवं महावीरं वंदति जाव - न० ॥ २४. विहरइ - घा० ॥

F. माणे, माया, लोभे, पेज्जे, दोसे, कलहे, अब्भक्खाणे, पेसुण्णे परपरिवाए अरतिरती मायामोसे ॥

G. सूत्र 103 में जावपूर्ति (C) ॥

अष्टादश पापस्थान :—

१. प्राणातिपात— प्रमादपूर्वक प्राणों का अतिपात करना अर्थात् जीव को द्रव्य प्राणों से रहित करना।

२. मृषावाद— मिथ्या असत्य कथन करना।

३. अदत्तादान— स्वामी की आज्ञा प्राप्त किये बिना वस्तु का ग्रहण करना।

४. मैथुन— अब्रह्मचर्य का सेवन करना।

५. परिग्रह— मूर्छा-ममता पूर्वक वस्तुओं का ग्रहण करना।

६. क्रोध— रोष, गुस्सा या कोप करना।

७. मान— अभिमान, घमण्ड।

८. माया— छल-कपट करना।

९. लोभ— तृष्णा-लालच रखना।

१०. राग— माया और लोभ जिसमें अप्रकट रूप से विद्यमान हों, ऐसा आसक्ति रूप जीव का परिणाम राग है।

११. द्वेष— क्रोध और मान जिसमें अव्यक्त भाव से विद्यमान हो, ऐसा अप्रीति रूप जीव का परिणाम द्वेष है।

१२. कलह— झगड़ा, संघर्ष करना।

१३. अभ्याख्यान— अविद्यमान दोषों का प्रकट रूप में आरोप लगाना, अर्थात् झूठा दोष लगाना।

१४ पैशुन्य— पीठ पीछे किसी के दोष प्रकट करना, चाहे उनमें हों या न हों।

१५. परपरिवाद— दूसरे की बुराई करना, निन्दा करना।

१६ अरति-रति— मोहनीय कर्म के उदय से प्रतिकूल विषयों की प्राप्ति होने पर जो उद्वेग होता है, वह अरति है। मोहनीय कर्म के उदय से ही अनुकूल विषय की प्राप्ति होने पर जो चित्त में आनन्द होता है, वह रति है। जीव को एक विषय में अरति होती है तो स्वतः ही दूसरे विषय में रति होती है। अतः रति और अरति का एक ही स्थान कहा गया है।

१७. मायामृषावाद— माया पूर्वक झूठ बोलना।

१८. मिथ्यादर्शनशल्य— श्रद्धा का विपरीत हो जाना। जिस प्रकार शरीर में चुभा हुआ शल्य व्यक्ति को कष्ट देता है, उसी प्रकार मिथ्यादर्शन भी जीव को कष्ट देता है। इसलिए उसे शल्य कहा गया है।

115 रोह अणगार का वर्णन—

उत्थानिका—

पूर्व सूत्र में अठारह पापों से लगने वाली क्रियाओं आदि के विषय में विवेचन किया गया। प्रस्तुत सूत्र में अठारह पापों के त्यागी आर्य रोह ने लोक और अलोक जीव और अजीव आदि में प्रथम कौन है ? इस विषय में भगवान् से प्रश्न किया है और प्रभु ने उसका समाधान प्रदान किया है।

इस विषय की विवेचना की जा रही है—

सूत्र 115 तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स [१]भगवओ महावीरस्स अंतेवासी रोहे नामं अणगारे [२]पगइभद्दए [३]पगइमउए [४]पगइविणीए [५]पगइउवसंते [६]पगइपयणु कोह-माण-[७]माया-लोभे [८]मिउमद्दवसंपन्ने[९] [१०]अल्लीणे भद्दए विणीए समणस्स [११]भगवओ महावीरस्स अदूरसामंते उड्ढंजाणू अहोसिरे [१२]झाणकोट्ठोवगए संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे [१३]विहरइ । [१४]तए णं से [१५]रोहे नामं [१६]अणगारे [१७]जायसड्ढे जाव[A] पज्जुवासमाणे एवं [१८]वदासी।

सूत्र 115 उस काल उस समय में श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के अन्तेवासी (शिष्य) रोह नामक अणगार थे। वे प्रकृति से भद्र, प्रकृति से भद्र, प्रकृति से विनीत, प्रकृति से उपशान्त प्रकृति से पतले अल्प क्रोध मान-माया व लोभ वाले मृदुमार्दव (अत्यन्त कोमलता) से सम्पन्न गुरु भक्ति में लीन, किसी को संताप न पहुंचाने वाले विनयमूर्ति थे। श्रमण भगवन् महावीर के निकट यथायोग्य स्थान पर घुटने ऊपर करके नीचे की ओर सिर झुकाए हुए ध्यान रूपी कोठे में प्रविष्ट संयम और तप से आत्मा को भावित करते हुए विचरण करते हैं। उस समय उत्पन्न श्रद्धावाले यावत् पर्युपासना करते हुए इस प्रकार बोले—

---

१. भगवतो - बे० म० ॥ २. °भद्दए पगइ उवसंते - न० । पगति भद्दए - बे० म० । °ए विणीए पगति° - ला० ॥ ३-५. पगति° - बे० म० ॥ ४. पगतिविणीते - बे० म० ॥ ६. पगतिपतणु - बे० म० ॥ ७. माय - ता० बे० म० ॥ ८. मिदु° -बे० म० ॥ ९. °संपुण्णे - स० ॥ १०. अलीणे -अमो० ला० । अलीणे भद्दए -अ० क० व० ला २ । अल्लीणे विणीए -न० । आदर्शेषु वृत्तौ च 'पगइभद्दए' इतः समादाय 'विणीए' एतदंतापि सर्वाण्यपि पदानि वर्तन्ते किन्तु औपपातिक (९१-११९) सूत्रस्य संदर्भे पगइमउए पगइविणीए भद्दए' एतानि त्रीणि पदानि द्विरुक्तानि संति तानि पाठान्तरे गृहीतानि । अत्र केषुचिदादर्शेषु 'पगइमउए पगइविणीए' इति पाठोप्यगुप्ति तथा मिउमद्दवसंपन्ने भद्दए विणीए' इत्यपि वर्तते इति द्विरुक्तमस्ति तेन औपपातिक पाठ एव समीचीनोस्ति ॥ अलीणे ति आलीनः गरूसमाश्रितः संलीनो वा" अवृ० ॥ ११. भगवतो बे० म० ॥ १२. °वगते - बे० म० ॥ १३. विहरति - बे० म० ॥ १४. तते णं - न० ॥ १५. रोहे अण° - अमो० मा० न० । रोहे भगवं अण° - ला २ ॥ १६ भगवं अणगारे - क० व । अणगारे भगवं - ता० ॥ १७. जात सड्ढे -ब्रे० म० १८. वयासी -अमो० घा० ॥ १९ पुव्वि पेते - अमो । पुव्वि एए पच्छावेए दो वि

A. सूत्र ४ का (१४) ॥

अष्टादश पापस्थान :—

१. प्राणातिपात— प्रमादपूर्वक प्राणों का अतिपात करना अर्थात् जीव को द्रव्य प्राणों से रहित करना।

२. मृषावाद— मिथ्या असत्य कथन करना।

३. अदत्तादान— स्वामी की आज्ञा प्राप्त किये बिना वस्तु का ग्रहण करना।

४. मैथुन— अब्रह्मचर्य का सेवन करना।

५. परिग्रह— मूर्छा-ममता पूर्वक वस्तुओं का ग्रहण करना।

६. क्रोध— रोष, गुस्सा या कोप करना।

७. मान— अभिमान, घमण्ड।

८. माया— छल-कपट करना।

९. लोभ— तृष्णा-लालच रखना।

१०. राग— माया और लोभ जिसमें अप्रकट रूप से विद्यमान हो, ऐसा आसक्ति रूप जीव का परिणाम राग है।

११. द्वेष— क्रोध और मान जिसमें अव्यक्त भाव से विद्यमान हो, ऐसा अप्रीति रूप जीव का परिणाम द्वेष है।

१२. कलह— झगड़ा, संघर्ष करना।

१३. अभ्याख्यान— अविद्यमान दोषों का प्रकट रूप में आरोप लगाना, अर्थात् झूठा दोष लगाना।

१४ पैशुन्य— पीठ पीछे किसी के दोष प्रकट करना, चाहे उसमें हों या न हों।

१५. परपरिवाद— दूसरे की बुराई करना, निन्दा करना।

१६ अरति-रति— मोहनीय कर्म के उदय से प्रतिकूल विषयों की प्राप्ति होने पर जो उद्वेग होता है, वह अरति है। मोहनीय कर्म के उदय से ही अनुकूल विषय की प्राप्ति होने पर जो चित्त में आनन्द होता है, वह रति है। जीव को एक विषय में अरति होती है तो स्वतः ही दूसरे विषय में रति होती है। अतः रति और अरति का एक ही स्थान कहा गया है।

१७. मायामृषावाद— माया पूर्वक झूठ बोलना।

१८. मिथ्यादर्शनशल्य— श्रद्धा का विपरीत हो जाना। जिस प्रकार शरीर में घुसा हुआ शल्य व्यक्ति को कष्ट देता है, उसी प्रकार मिथ्यादर्शन भी जीव को कष्ट देता है। इसलिए उसे शल्य कहा गया है।

115 रोह अणगार का वर्णन—

उत्थानिका—

पूर्व सूत्र में अठारह पापों से लगने वाली क्रियाओं आदि के विषय में विवेचन किया गया। प्रस्तुत सूत्र में अठारह पापों के त्यागी आर्य रोह ने लोक और अलोक जीव और अजीव आदि में प्रथम कौन है ? इस विषय में भगवान् से प्रश्न किया है और प्रभु ने उसका समाधान प्रदान किया है।

इस विषय की विवेचना की जा रही है—

सूत्र 115 तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स [१]भगवओ महावीरस्स अंतेवासी रोहे नामं अणगारे [२]पगइभद्दए [३]पगइमउए [४]पगइविणीए [५]पगइउवसंते [६]पगइपयणु कोह-माण-[७]माया-लोभे [८]मिउमद्दवसंपन्ने[९] [१०]अल्लीणे भद्दए विणीए समणस्स [११]भगवओ महावीरस्स अदूरसामंते उड्ढंजाणू अहोसिरे [१२]झाणकोट्ठोवगए संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे [१३]विहरइ। [१४]तए णं से [१५]रोहे नामं [१६]अणगारे [१७]जायसड्ढे जाव[A] पज्जुवासमाणे एवं [१८]वदासी।

सूत्र 115 उस काल उस समय में श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के अन्तेवासी (शिष्य) रोह नामक अणगार थे। वे प्रकृति से भद्र, प्रकृति से भद्र, प्रकृति से विनीत, प्रकृति से उपशान्त प्रकृति से पतले अल्प क्रोध मान-माया व लोभ वाले मृदुमार्दव (अत्यन्त कोमलता) से सम्पन्न गुरु भक्ति में लीन, किसी को संताप न पहुंचाने वाले विनयमूर्ति थे। श्रमण भगवन् महावीर के निकट यथायोग्य स्थान पर घुटने ऊपर करके नीचे की ओर सिर झुकाए हुए ध्यान रूपी कोठे में प्रविष्ट संयम और तप से आत्मा को भावित करते हुए विचरण करते हैं। उस समय उत्पन्न श्रद्धावाले यावत् पर्युपासना करते हुए इस प्रकार बोले—

१. भगवतो - बे० म० ॥ २. °भद्दए पगइ उवसंते - न० । पगति भद्दए - बे० म० । °ए विणीए पगति° - ला० ॥ ३-५. पगति° - बे० म० ॥ ४. पगतिविणीते - बे० म० ॥ ६. पगतिपतणु - बे० म० ॥ ७. माय - ता० बे० म० ॥ ८. मिदु° -बे० म० ॥९. °संपुण्णे - स० ॥ १०. अलीणे -अमो० ला० । अलीणे भद्दए -अ० क० ब० ला २। अल्लीणे विणीए -न०। आदर्शेषु वृत्तौ च 'पगइभद्दए' इतः समादाय 'विणीए' एतदंतापि सर्वाण्यपि पदानि वर्तन्ते किन्तु औपपातिक (९१-११९) सूत्रस्य संदर्भे पगइमउए पगइविणीए भद्दए' एतानि त्रीणि पदानि द्विरुक्तानि संति तानि पाठान्तरे गृहीतानि। अत्र केपुचिदादर्शेषु 'पगइमउए पगइविणीए' इति पाठोप्यगुस्ति तथा मिउमद्दवसंपन्ने भद्दए विणीए' इत्यपि वर्तते इति द्विरुक्तमस्ति तेन औपपातिक पाठ एव समीचीनोस्ति ॥ अलीणे त्ति आलीनः गरूसमाश्रितः संलीनो वा" अवृ० ॥ ११. भगवतो बे० म० ॥ १२. °वगते - बे० म० ॥ १३. विहरति - बे० म० ॥ १४. तते णं - न० ॥ १५. रोहे अण° - अमो० भा० न०। रोहे भगवं अण° - ला २ ॥ १६ भगवं अणगारे - क० ब। अणगारे भगवं - ता० ॥ १७. जात सड्ढे -बे० म० १८. वयासी -अमो० धा० ॥ १९ पुव्वि पेते - अमो। पुव्विं एए पच्छावेए दो वि

A. सूत्र ४ का (iv) ॥

116, रोह अणगार के प्रश्न और भ. महावीर के उत्तर—

सूत्र 116 पुव्विं भंते ! लोए ? पच्छा अलोए ? पुव्विं अलोए ? पच्छा लोए ?

रोहा ! लोए य अलोए य [19]पुव्विं पेते, पच्छा [20]पेते दो वि ते [21]सासया भावा, अणाणुपुव्वी एसा रोहा ।

सूत्र 116 भगवन् ! क्या पहले लोक है और पीछे अलोक है ? अथवा पहले अलोक और पीछे लोक है ?

रोह ! लोक और अलोक, पहले भी है और पीछे भी है । ये दोनों ही शाश्वत भाव है । हे रोह ! इन दोनों में 'यह पहला और यह पिछला' ऐसा क्रम नहीं है ।

सूत्र 117 पुव्विं भंते ! जीवा ? पच्छा अजीवा ? पुव्विं अजीवा ? पच्छा जीवा ?

जहेव[A] लोए य अलोए य तहेव जीवा य अजीवा य ।

सूत्र 117 हे भगवन् ! पहले जीव और पीछे अजीव हैं, या पहले अजीव और पीछे जीव है ?

रोह ! जैसा लोक और अलोक के विषय में कहा है, वैसा ही जीवों और अजीवों के विषय में समझना चाहिए ।

सूत्र 118 एवं [1]भवसिद्धिया य अभवसिद्धिया य, सिद्धी असिद्धी, [2]सिद्धा असिद्धा ।

सूत्र 118 इसी प्रकार भवसिद्धिक और अभवसिद्धिक, सिद्धि असिद्धि तथा सिद्ध और संसारी के विषय में जानना चाहिए ।

सूत्र 119 पुव्विं भंते ! अंडए ? पच्छा [3]कुक्कुडी ? पुव्विं [4]कुक्कुडी ? पच्छा अंडए ?

रोहा ! से णं अंडए [5]कओ ?

[6]भयवं ! तं [7]कुक्कुडीओ ।

सा णं [8]कुक्कुडी [9]कओ ?

भंते ! [10]अंडगाओ । [11]एवामेव रोहा । से य अंडए, सा य [12]कुक्कुडी, [13]पुव्विं पेते, [14]पच्छा पेते, [15]दुवेते [16]सासया भावा, अणाणुपुव्वी [17]एसा रोहा ।

सूत्र 119 भगवन् पहले अण्डा और फिर मुर्गी है ? या पहले मुर्गी और फिर अण्डा है ?

रोह ! वह अण्डा कहां से आया ?

भगवन् ! वह मुर्गी से आया । वह मुर्गी कहां से आई ?

भगवन् ! वह अण्डे से हुई । इसी प्रकार हे रोह ! मुर्गी और अण्डा पहले भी है और पीछे भी है । ये दोनों शाश्वत भाव हैं । हे रोह ! इन दोनों में पहले और पीछे का क्रम नहीं है ।

एए सा° - ला०　२०. पेते - ला० । २१. सासता - बे० म० । सासगा भा° - ला १ ॥

सूत्र ११७-११८-११९—१. "भविष्यति इति भवा भवा सिद्धिः-निवृत्तिः येषां ते भवसिद्धिकाः भव्या." अवृ० ॥ २. °द्धा । पुव्वि -ला १-४ ॥ ३-४. कुक्कडी -ला० ॥ ५. कतो -बे० म० । कुतो - ला ४ ॥ ६. °वं । कुक्कुडीओ -मु० अमो०-न० । भगवं -बे० म० ॥ ७. °डी तो -बे० म० ॥ ८. कुकु (कुक)डी -ला० ॥ ९. कुतो -ला १-२-३-४ । कतो - बे० म० ॥ १०. अडयाओ - मु० अमो० पा० न० । अंडगातो -बे० म० ॥ ११. एवमेव - पा० लों० ॥ १२. कुक्कडी -ला० ॥ १३. पुव्विं °एते -ला० ॥ १४. पच्छा पेते -लों० ला० ॥ १५. दुवे सासया -अमो० । दो वि एए सासया -पा० । दो पेते - न० बे० म० । दुवेए - स० ॥ १६. सासता - बे० म० ॥ १७. एसा रोआ - जं० ॥

A. जाव एवं पाठपूर्ति परिशिष्ट देखे ?

सूत्र 120 पुव्विं भंते ! [1]लोयंते ? पच्छा अलोयंते ? [2]पुव्वं [3]अलोयंते ? पच्छा [4]लोयंते ?

रोहा ! [5]लोयंते य [6]अलोयंते य जाव[A] अणाणुपुव्वी एसा रोहा ।

सूत्र 120 हे भगवन् ! पहले लोकान्त और फिर अलोकान्त है ? अथवा पहले अलोकान्त और फिर लोकान्त है ?

रोह ! लोकान्त और अलोकान्त, इन दोनों में यावत् कोई क्रम नहीं है ।

सूत्र 121 पुव्विं भंते ! [7]लोयंते ? पच्छा सत्तमे [8]उवासंतरे[B] ? पुच्छा ।

रोहा ! [9]लोयंते य [10]सत्तमे [11]उवासंतरे [12]पुव्विं पि दो वि एते जाव[C] अणाणुपुव्वी एसा रोहा ।

सूत्र 121 हे भगवन् ! पहले लोकान्त है और फिर सातवां अवकाशान्तर है ? अथवा पहले सातवां अवकाशान्तर है और पीछे लोकान्त है ? रोह ! लोकान्त और सप्तम अवकाशान्तर यह दोनों पहले भी हैं और पीछे भी हैं । इस प्रकार यावत् हे रोह ! इन दोनो में पहले-पीछे का क्रम नही है ।

सूत्र 122 एवं [13]लोयंते य सत्तमे य [14]तणुवाए । एवं [15]घणवाए [16]घणोदही सत्तमा पुढवी ।

सूत्र 122 इसी प्रकार लोकान्त और सप्तम तनुवात, इसी प्रकार घनवात, घनोदधि और सातवीं पृथ्वी के लिए समझना चाहिए ?

सूत्र 123 एवं [17]लोयंते [18]एक्केक्केणं [19]संजोएयव्वे [20]इमेहिं ठाणेहिं, तं जहा-

[21]ओवास [22]वाय घण [23]उदही पुढवी दीवा य सागरा वासा ।
[24]नेरइयाई अत्थिय [25]समया [26]कम्माइं लेस्साओ ॥१॥

सूत्र 123 इस प्रकार निम्नलिखित स्थानों में से प्रत्येक के साथ लोकान्त को जोड़ना चाहिए—

गाथार्थ :—

(1) अवकाशान्तर, वात, घनोदधि पृथ्वी, द्वीप, सागर वर्ष नरयिकादि चौबीस दण्डक के जीव अस्तिकाय, समय, कर्म, लेश्या ।

सूत्र १२०-१२१-१२२-१२३—१-४-५-७-९-१७. लोअंते - वे० म० ॥ २. पुव्विं - पु० अमो० घा० न० ॥ ३-६. अलोअंते -वे० म० ॥ ८. ओवासंतरे -न० वे० म० ॥ १०. सत्तमेय -अमो० ॥ ११. उवासंतरे य पुव्विं -घा० । ओवासंतरे य -न० । ओवासंतरे -पु० वे० म० ॥ १२. पुव्विं पे ते जाव अणा° -अमो० वे०म० । पुव्विं पे ते दो वि ए एं सासया भावा अणाणु° -घा० । पुव्विं पे ते पच्छा पे ते दो वे ते -न० । पुव्विं पि देए (एदे) जाव -जं० ॥ १३. लोअंते -वे० म० । °अंते सत्तने तणु° -ला० ॥ १४ तणुवाते -वे० म० । तणुवाए घणोदहि सत्तमा -जं० ॥ १५. घणवाते -वे० म० ॥ १६. घणोदहि -अमो० ॥ १८ एक्केक्कं सं° -ला० ॥ १९. संजोएतव्वे -न० वे० ग० । °एयव्वा इ° -ला० ॥ २०. इमेहि तं०- ओवास -जं० ॥ २१. उवासं -अमो० घा० ॥ २२. वात -न० वे० म० ॥ २३ उदहि पुढवि -न० ॥ २४. °यादी -अमो० वे० म० । °यादि -न० । °यादी यऽत्थिय -जं० । अत्र चउवीसं दंडगा ॥ २५. समय -अमो० ॥

A. पुव्विं पेते पच्छा पेते दो वे ते सासया भावा ॥ B. पुव्विं सत्तमे ओवासंतरे पच्छा लोयंते ? ॥ C. सासया भावा ॥

दिट्ठी दंसण [२७]णाणा [२८]सण्ण सरीरा य जोग उवओगे ।
दव्व [२९]पएसा पज्जव अद्धा, किं [३०]पुव्विं लोयंते ? ॥२॥
[D]पुव्विं भंते ! [३१]लोयंते पच्छा सव्वद्धा ?

(ii) दृष्टि, दर्शन, ज्ञान, संज्ञा, शरीर, योग और उपयोग । द्रव्य, प्रदेश, पर्याय, काल क्या द? पहले हैं और लोकान्त पीछे है ? अथवा भग क्या लोकान्त पहले और सर्वाद्धा (सर्व पीछे है ?

सूत्र 124 जहा[A] लोयंतेणं संजोइया सव्वे ठाणा [१]एते, एवं [२]अलोयंतेण वि [३]संजोएयव्वा सव्वे ।

सूत्र 124 जैसे लोकान्त के साथ सभी स्थानों संयोग किया, उसी प्रकार अलोकान्त के इन सभी स्थानों को जोड़ना चाहिए ।

सूत्र 125 पुव्विं भंते ! सत्तमे [४]उवासंतरे ? पच्छा सत्तमे [५]अणुवाए[B] ? एवं सत्तमं [६]उवासंतरं सव्वेहिं समं [७]संजोएयव्वं जाव[C] सव्वद्धाए ।

सूत्र 125 भगवन् ! क्या पहले सप्तम अवकाशा पीछे सप्तम तनुवात है ?
रोह ! इसी प्रकार सप्तम अवकाशान्तर पूर्वोक्त सब स्थानों के साथ जोड़ना चाहिए, प्रकार यावत् सर्वाद्धा तक समझना चाहिए

सूत्र 126 पुव्विं भंते ! सत्तमे [८]तणुवाए ? पच्छा सत्तमे [९]घणवाए[D] ?

सूत्र 126 भगवन् ! पहले सप्तम तनुवात है पीछे सप्तम घनवात है ? रोह ! यह भी प्रकार यावत् सर्वाद्धा तक जानना चाहिए !

---

२६. पम्माइ - न० ॥ २७. नाणे - न० ला ३ । णाणे - जं० ला २ ॥ २८. सम सरीरा - अमो० । सण्णा - पा०।
२९. पदेसा - वे० म० ॥ ३०. पुव्वि - पु० वे० ॥ ३१. लोगंते - अमो० ॥

D. पुव्विं भंते ! लोयंते पच्छा अतीतद्धा ? पुव्विं अतीतद्धा, पच्छा लोयंते ? रोहा ! लोयंते य अतीतद्धा य पुव्विं पे पच्छा पे ते दो वे ते सासया भावा अणाणुपुव्वी एसा रोहा । पुव्विं भंते ! लोयंते, पच्छा अणागतद्धा ? पुव्विं अणागतद्धा पच्छा लोयंते ? रोहा लोयंते य अणागतद्धा य पुव्विं पेते, पच्छा पे ते दो वे ते सासया भावा अणाणुपु एसा रोहा ।

पुव्विं भंते ! लोयंते पच्छा सव्वद्धा ? पुव्विं सव्वद्धा पच्छा लोयंते ?
रोहा ! लोयंते य सव्वद्धा य पुव्विं पेते, पच्छा पेते दो वेते सासया भावा अणाणुपुव्वी एसा रोहा ।

१. एए एवं - पा० ॥ २. अलोयतेणं वि - अमो० ॥ ३. °एतव्वा - न० वे० म० ॥ ४. ओवासंतरे - न० वे० म० ।
५. तणुवाए - पु० अमो० पा० न० । तणुवाते - वे० म० ॥ ६. ओवासंतरे - न० वे० म० ॥ ७. °एयव्वे - अमो०
°एतव्वं - न० वे० म० ॥ ८. तणुवाते - वे० म० ॥ ९. घणवाते - वे० म० ॥ १०. एवं पि - पा० पु० वे० म०

A सूत्र 121 से 123 तक + सूत्र 123 में जावपूर्ति (D) ॥
B. पुव्विं सत्तमे तणुवाए पच्छा सत्तमे ओवासंतरे ? रोहा ! सत्तमे ओवासंतरे य सत्तमे तणुवाए य पुव्विं पेते, पच्छा पेते दो वेते सासया भावा अणाणुपुव्वी एसा रोहा ।
C. सूत्र 122 एवं 123 + सूत्र 123 में जावपूर्ति (D) ॥
D. पुव्विं सत्तमे घणवाए, पच्छा सत्तमे तणुवाए रोहा ! सत्तमे तणुवाए य सत्तमे घणवाए य पुव्विं पेते पच्छा पेते दो वेते सासया भावा अणाणुपुव्वी एसा रोहा ॥

[10]एयं पि तहेव [11]नेयव्वं जाव[E] [12]सव्वद्धा ।

सूत्र 127 एवं उवरिल्लं एक्केक्कं [13]संजोयंतेणं जो जो [14]हिट्ठिल्लो तं तं [15]छड्डंतेणं नेयव्वं जाव[F] [16]अतीयअणागयद्धा पच्छा सव्वद्धा जाव[G] अणाणुपुव्वी एसा रोहा ।

सेवं भंते । सेवं [17]भंते ! जाव[H] [18]विहरइ ।

सूत्र 127 इस प्रकार ऊपर के एक एक (स्थान) का संयोग करते हुए और नीचे का जो-जो स्थान हो, उसे छोड़ते हुए पूर्ववत् समझना चाहिए, यावत् अतीत और अनागत काल और फिर सर्वाद्धा (सर्वकाल) तक, यावत् हे रोह ! इसमें कोई पूर्वापर का क्रम नहीं होता ।

भगवन् यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है, यो कह कर रोह अनगार तप संयम से आत्मा को भावित करते हुए विचरने लगे ।

विवेचन—

भगवान् महावीर की शिष्य परम्परा में एक रोह नाम के आर्य भी थे । वे प्रकृति से भद्र और मृदु स्वभाव वाले थे । गुरु के प्रति वे पूर्ण रूप से विनीत थे । उनके कषायों का बहुत ही स्वल्प उदय था । वे निरहंकारी तथा गुरु के आश्रय मे निवास करने वाले तथा गुप्तेन्द्रिय थे । इस प्रकार अनेकों गुणों से सम्पन्न रोह अनगार भगवान् से न अति दूर और न अति निकट गोदुहासन से बैठकर तत्व चिन्तन करते हुए जब ध्यान में लीन थे तब—

तत्वों में अवगाहन करते हुए आर्य रोह के मन में एक जिज्ञासा प्रादुर्भूत हुई कि क्या लोक पहले और अलोक बाद में है ? या अलाक पहले और लोक बाद में है ? चिन्तन और मनन की गहराई में उत्तरे हुए रोह, प्रश्न का समाधान खोजने लगे किन्तु समाधान नहो हो सका तब अपने आसन से उठ कर भगवान् महावीर के समक्ष पहुँच कर उन्हे तीन बार प्रदक्षिणा कर विनम्र भाव से समाधान पाने के लिए उन्होंने तत्वचिन्तन से उत्पन्न प्रश्न को भगवान् के समक्ष रखा ।

एवं पि - अमो० । एवं तहेव - न० । एवं पि - क० ता० ब० मं० स० ॥ ११. नेतव्वं - बे० म० ॥ १२. सव्वद्धा - पु० अमो० ॥ संजोएंतेण जो जो ए हिट्ठिल्ले तं तं - ला० ॥ १४. हेट्ठिल्लो - अमो० बे० म० ॥ १५. छड्डंतेणं - अमो० बे० म० ॥ १६. अतीत अणागतध्दा - म० बे० म० ॥ १७. भंते त्ति जाव - पु० न० बे० म० ॥ १८. विहरति - बे० म० ॥

E. सूत्र 122 एवं 123 + सूत्र 123 में जावपूर्ति (D)

F. सूत्र 122 एवं 123 + सूत्र 123 मे जावपूर्ति (D)

G. पुव्विं भंते ! लोयंते पच्छा सव्वद्धा ? पुव्विं सव्वद्धा पच्छा लोयंते ?
रोहा ! लोयंते य सव्वध्दा य पुव्विं पेते पच्छा पेते दो वेते सासया भावा, अणाणुपुव्वी एसा रोहा ॥

H. सूत्र 103 मे जावपूर्ति (C)

भगवान् ने कहा— हे रोह ! लोक और अलोक में पहले और पीछे का क्रम नहीं है। जिस प्रकार गाय के दो सींगों में कोई क्रम नहीं है, मनुष्य के दो नेत्रों में कोई क्रम नहीं है, दिन और रात में कोई क्रम नहीं है, उसी प्रकार लोक और अलोक में भी कोई क्रम नहीं है, क्रम उसी में होता है जो किसी कर्ता के द्वारा कृत हो। जिस प्रकार मकान की प्राचीनता और नवीनता में क्रम की स्थिति बतलाई जा सकती है, क्योंकि इसका निर्माण शिल्पकार द्वारा कृत है। किन्तु लोक अथवा अलोक संबन्धी किसी कर्ता के द्वारा कृत नहीं है। ये दोनों अनादिकाल से शाश्वत रूप में विद्यमान हैं। अतः इन दोनों में पूर्व पश्चात् का कोई क्रम घटित नहीं होने से इन्हें अनानुपूर्वी कहा है।

संसार के अखिल तत्वों का आधारभूत स्थान लोक ही है। जहां धर्मास्तिकाय आदि तत्व नहीं है, वह अलोक है। जब तक लोकालोक के क्रम का विज्ञान न हो तब तक लोकान्तर्गत वस्तुओं के क्रम का सहज बोध नहीं हो सकता। इसी दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए आर्य रोह ने भगवन् महावीर से सबसे पहले लोकालोक के क्रम के विषय में प्रश्न किया। उसका समाधान होने पर लोकान्तर्गत जीव और अजीव के क्रम के विषय में प्रश्न किया है—

हे भगवन् ! जीव पहले है और अजीव पीछे है या अजीव पहले और जीव पीछे है ?

भगवान् महावीर के समय में बहुत से मत-मतान्तर चल रहे थे। कोई मत जड़ तत्वों से जीव की उत्पत्ति मानता था। पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और आकाश इन पांच तत्वों के संयोग से जीव की उत्पत्ति हुई है, ऐसा कहा जाता था तो किसी मत में चेतन से जड़ की उत्पत्ति कही गई थी, तो कोई सम्पूर्ण जगत् में एक ब्रह्म ही है उसी के द्वारा बनाई गई यह माया संसार के रूप में है।[1] ऐसा मानता था। ऐसे अनेक मत उस समय प्रचलित थे, जो कि यथार्थता से बहुत दूर थे।

भगवान् ने आर्य रोह के प्रश्न का समाधान करते हुए कहा है कि— हे रोह ! जीव और अजीव के विषय में भी कोई क्रम नहीं हैं। ये दोनों तत्व भी लोक की तरह शाश्वत है।

जड़ से यदि जीव की उत्पति मानी जाय तो जीव जड़ रूप ही होगा। फिर जड़ और चैतन्य में कोई अन्तर नहीं रहेगा। जबकि प्रत्यक्षतः जड़ और चैतन्य में अन्तर परिलक्षित होता है। मानव को जो 'अहं' का बोध होता है, यह 'अहं' का बोध कराने वाला कौन है ? जो कि शरीर से भिन्न एक शक्ति है। लोक-व्यवहार में यह कहा जाता है कि यह मेरा घर है। यह मेरा पुत्र है। इस कथन में घर अलग है और वह स्वयं अलग है। पुत्र अलग तत्व है और पिता अलग तत्व है। इसी प्रकार 'मेरा शरीर' इस प्रयोग में भी शरीर अलग है और मेरा कहलाने वाला तत्व अलग है। वह तत्व है आत्मा। अतः जीव का स्वतंत्र अस्तित्व है।

दूसरे मत के अनुसार ब्रह्म से जड़ तत्व की उत्पत्ति मानना भी सत्य नहीं है। यदि ब्रह्म चैतन्य से जड़ तत्व की उत्पत्ति होती है, तब तो जड़ चैतन्यवान ही हुआ। चैतन्य और जड़ में फिर कोई अन्तर ही नहीं रहेगा। यथार्थ में चेतन्य और जड़ अलग अलग तत्व है। चैतन्य कभी जड़ नहीं हो सकता और जड़ कभी चैतन्य नहीं हो सकता।

दोनों ही तत्व अपना अलग-अलग स्वतंत्र अस्तित्व रखते हैं। लोक में इन दोनों तत्वों का अस्तित्व अनादि-कालीन है।

आर्य रोह ने अगला प्रश्न सिद्धि और संसार के विषय में किया है। सिद्धि पहले है या संसार? संसार में रहती हुई आत्मा कर्मों का नाश कर सिद्ध अवस्था को प्राप्त करती है। संसार से ही आत्माएँ सिद्ध अवस्था में जाती हैं। इस अपेक्षा से संसार पहले है और सिद्धि बाद में मानो जाती है। किन्तु भगवान् ने सिद्धि और संसार दोनों को शाश्वत अनादि कालीन बतलाया है। जब संसार अनादिकाल से चला आ रहा है तो, उसमें विद्यमान भव्य जीवों को प्राप्त होने वाली सिद्धि भी अनादिकाल से चली आ रही है। अतः जब से संसार है तभी से सिद्धि है। और जब से सिद्धि है तभी से संसार है।

मुक्ति में संसारी आत्माओं में से कौन सी आत्माएँ जा सकती हैं। इस बात को समझने के लिये अब भवसिद्धिक और अभवसिद्धिक प्रश्न के विषय में विचार किया जा रहा है।

आर्य रोह ने भगवान् से प्रश्न किया कि पहले भवसिद्धिक है या अभवसिद्धिक? जिसमें जो कार्य करने की क्षमता हो, वह उस कार्य के लिए भव्य है। जिस मिट्टी से घर बन सकता है, वह मिट्टी घर के लिए भव्य है। जिस अरणि काष्ट से अग्नि उत्पन्न हो सकती है, वह काष्ट अग्नि के लिए भव्य है। किंतु जिस वस्तु में तद्योग्य कार्य करने की क्षमता न हो, उसे अभव्य कहते हैं।

जो आत्माएँ समस्त वैभाविक भावो से हटकर कर्मो का सर्वथा अंत करती है, वे आत्माएँ भवसिद्धिक हैं। जो आत्माएँ उपरोक्त अवस्थाओं के विपरीत हैं वे अभवसिद्धिक है।

इन दोनों अवस्थाओं में भी कोई क्रम नहीं है। ये दोनों ही अवस्थाएँ शाश्वत रूप से अनादि-कालीन हैं। जिस प्रकार एक ही शरीर के अंगों में पहले और पीछे का क्रम नहीं बतलाया जा सकता। वैसे ही पुरुषाकार रूप लोक के, ऊपर और नीचे सिद्ध और संसार होने से इनमें कोई क्रम नहीं होता है। इसी प्रकार सिद्धि-असिद्धि, सिद्ध-असिद्ध के विषय में भी समझना चाहिये।

रोह अनगार का व्यावहारिक प्रश्न स्पष्टतया उपर्युक्त तथ्यों को उजागर करता है कि—

इन दोनों में से किसी को भी पहले या पीछे नहीं बतलाया जा सकता। क्योंकि मुर्गी से अण्डा निकलता है और अण्डे से मुर्गी की उत्पत्ति होती है। इन दोनों में जिस प्रकार कोई क्रम नहीं है, उसी प्रकार अन्य विषयों में समझना चाहिए।

आर्य रोह के अगले प्रश्न हैं— भगवन् ! पहले लोकान्त है या अलोकान्त ? पहले लोकान्त है या सातवां अवकाशान्तर ? इसी प्रकार लोकान्त के साथ सातों अवकाशान्तर, सातों तनुवात, सातों घनवात, सात घनोदधि, सातों पृथ्वी, द्वीप, सागर, वर्ष (क्षेत्र) नारकी आदि । जीव, अस्तिकाय, समय, कर्म, लेश्या, दृष्टि, दर्शन, ज्ञान, सज्ञा, शरीर, योग, उपयोग, द्रव्य, प्रदेश, पर्याय तथा काल के प्रश्नोत्तर भी शाश्वत अनादिकालीन के रूप में पूर्व की तरह जान लेना चाहिये । उपर्युक्त प्रश्न अलोकान्त के साथ भी समझना चाहिए ।

प्रश्नों का समाधान होने पर रोह अणगार प्रसन्न होकर अपनी आत्मा को तप संयम से भावित करते हुए विचरण करने लगे ।

सूत्र 128. अष्टविध लोक स्थिति का दृष्टान्त सहित निरूपण—

उत्थानिका—

पूर्व सूत्रों में रोह अनगार के द्वारा पूछे गए अनेकों प्रश्नों का समाधान दिया गया था । रोह अनगार ने लोक विषय में भी प्रश्न पूछा था, उस लोक की क्या स्थिति है, इस विषयक विशेष रूप से स्पष्टीकरण करवाने के लिए गौतम स्वामी भगवान से प्रश्न कर रहे हैं ।

सूत्र 128 (i) भंते त्ति भगवं [1]गोयमे [2]समणं जाव[A] एवं [3]वयासी-[4]कतिविहा णं भंते ! [5]लोयट्ठिती पण्णत्ता ?

गोयमा ! अट्ठविहा [6]लोयट्ठिती पण्णत्ता । तं जहा-[7]आगासपइट्ठिए वाए १. [8]वाय-[9]पइट्ठिए [10]उदही २, [11]उदही-पइट्ठिया [12]पुढवी ३, [13]पुढविपइट्ठिया तसा-[14]थावरा-पाणा ४, [15]अजीवा [16]जीवपइट्ठिया ५, जीवा [17] कम्मपइ-

सूत्र 128 (i) भगवन् ! ऐसा कहकर गौतम स्वामी ने श्रमण भगवान् महावीर स्वामी से यावत् — इस प्रकार कहा—

भगवन् ! लोक की स्थिति कितने प्रकार की कही गई है ?

गौतम ! लोक की स्थिति आठ प्रकार की कही गई है । वह इस प्रकार है—

आकाश के आधार पर वायु टिका हुआ है, वायु के आधार पर उदधि है, उदधि के आधार पर पृथ्वी है, त्रस और स्थावर जीव पृथ्वी के आधार पर है, अजीव जीवों के आधार पर टिके

सूत्र १२८

१. गोतमे - बे० म० । २. समणं भगवं महावीरं जाव - म० ॥ ३. वदासी - लो० । वदासि - बे० म० ॥ ४. कइविहाणं - अमो० पा० ॥ ५. °ट्ठिई - अमो० पा० । लोए ट्ठि° - ला ४ ॥ ६. °ट्ठिई - अमो० पा० ॥ ७. °पतिट्ठिते वाते - बे० म० ॥ ८. वातपतिट्ठिते - बे० म० । वातपयट्ठि° - जं० ॥ ९. °ट्ठिए - अमो० ॥ १०. उदही उदहि° - अमो० पा० ॥ ११. °पतिट्ठिता - बे० म० ॥ १३. पुढवीपइ° - अमो० । °पतिट्ठिता - बे० म० ॥ १४. तस थावर - म० बे० म० । थावरा य पा° - ला० ॥ १५. अजीवा उजीवप° - जं० ॥ १६-१७. °पतिट्ठिता - बे० म० ॥

A. सूत्र 4 (iv) ॥

ट्ठिया ६, अजीवा जीव [18]संगहिया ७, जीवा [19]कम्मसंगहिया ८ ।

(ii) से केणट्ठेणं भंते ! एवं [1]वुच्चइ ? [2]अट्ठविहा जाव[A] जीवा [3]कम्मसंगहिया ?

गोयमा ! से [4]जहानामए केइ पुरिसे [5]वत्थिमाडोवेइ, [6]वत्थिमाडोवित्ता [7]उप्पिं [8]सितं [9]बंधइ, बंधिता [10]मज्झे णं [11]गंठिं [12]बंधइ, २ उवरिल्लं [13]गंठिं [14]मुयइ २, उवरिल्लं देसं [15]वामेइ, २, उवरिल्लं [16]देसं वामेत्ता उवरिल्लं देसं [17]आउयायस्स [18]पूरेइ २, उप्पिं [19]सितं [20]बंधइ २, [21]मज्झिल्लं गंठिं [22]मुयइ। से नूणं [23]गोयमा ! से आउयाए तस्स [24]वाउयायस्स उप्पिं [25]उवरितले [26]चिट्ठइ ?

है, (सकर्मक जीव) कर्म के आधार पर है, अजीवों को जीवों ने संग्रह कर रखा है, जीवों को कर्मों ने संग्रह कर रखा है ?

(ii) भगवन् ! इस प्रकार कहने का क्या कारण है कि लोक की स्थिति आठ प्रकार की है और यावत् जीवों को कर्मों ने संग्रह कर रखा है ?

गौतम ! जैसे कोई पुरुष चमड़े की मशक को वायु से फुलावे, फिर उस मशक का मुख बांध दे तत्पश्चात् मशक के बीच के भाग में गांठ बांधे, फिर मशक का मुंह खोल दे, और उसके भीतर की हवा निकाल दे, तदनन्तर उस मशक के ऊपर के (खाली) भाग में पानी भरे, फिर मशक का मुख बंद कर दे, तत्पश्चात् उस मशक की बीच की गांठ खोल दे। तो हे गौतम ! वह भरा हुआ पानी क्या उस हवा के ऊपर ही ऊपर के भाग में रहेगा ?

१८-१९. सगंहिता - वे० म० ॥

सूत्र १२८ (ii)

१. वुच्चति - वे० म० ॥ २. °विहा लोयट्ठिती जाव - न० ॥ ३. °सगंहिता - वे० म० ॥ ४. अस्य पदस्य व्युत्पत्यर्थबोधाय वृत्तिः विलोक्या ॥ ५ वत्थि° - क० । वत्थीमाडोवेति - जं० । °माडोवेति - वे० म० । ° वेति माडोवेत्ता - लों० ॥ ६. माडोवेत्ता - घा० न० । °माडोवइत्ता - ला० ॥ ७. उप्पिं सितिं लं° - ला १ । उप्पिं सियं बं° - ला २ । अस्य पदस्य पदविभागबोधार्थं तदर्थावगमार्थं च वृत्तिर्विलोकनीया ॥ ८. सिइं - अमो० ॥ ९ बंधति - वे० म० । ति मज्झे गंठिं बंधति उवरिल्लं गंठियं मुयति उवरिल्लं - ला० ॥ १०. मज्झे गंठिं - अमो० न० लो। मज्झिल्लं - व० ॥ ११. गंथिं बधई - घा० ॥ १२. बंधति मज्झे गंठिं बधित्ता उव° - वे० म० ॥ १३. गंथिं - घा० ॥ १४. मुयति मुइत्ता उव° - वे० म० ॥ १५ वामेइ २ त्ता उवरिल्लं देसं आउयायस्स - अमो० । वामेति उव° - वे० म० ॥ १६. देसं वाउयायस्स पूरेइ पूरेत्ता - न० ॥ १७. आउक्कायस्स - घा० । आउयस्स - जं० । आउस्स - ला० आउवायस्स - ला २ । १८. पूरेइ आउयाए संपूरेइ - अ० । पूरेति पुरित्ता उप्पिं - वे० म० । °ति उवरिल्लं देसं आउयायस्स पूरेत्ता उप्पिं - लों० ॥ १९. सियं - अमो० ॥ २०. बंधति बंधिता - वे० म० ॥ २१. मज्झिल्ल - घा० । मज्झिल्लिं गंठिं - ला० ॥ २२. मुयति - वे० म० ॥ २३. °मा ! आउकाए तस्स - घा० । गोतमा - वे० म० । गोयम - जं० ॥ २४. वाउकायस्स - घा० । वाउयस्स उप्पिं उ° - ला० । वाउयस्स उप्पिं उवरिंतले - ला २ ॥ २५. उवरिमतले - घा० न० ॥

A - सूत्र 128 (i) ॥

हंता, [२७]चिट्ठइ ।
से [२८]तेणट्ठेणं [२९]जाव [३०]कम्मसंगहिया ।

हां भगवन् ! रहेगा ।
गौतम ! इसलिए मैं कहता हूँ कि यावत् कर्मों ने जीवों को संग्रह कर रखा है ।

(iii) से जहा वा केई पुरिसे [१]वत्थिमाडोवेइ २ कडीए [२]दंधइ २, [३]अत्था-[४]हमतार-[५]मपोरसियंसि [६]उदगंसि [७]ओगाहेज्जा ।
से नूणं [८]गोयमा ! से पुरिसे तस्स [९]आउयायस्स [१०]उवरिमतले [११]चिट्ठइ ?

(iii) अथवा हे गौतम ! कोई पुरुष चमड़े की इस मशक को हवा से फुलाकर अपनी कमर से बांध ले । फिर वह पुरुष अथाह, दुस्तर और पुरुष से (जिसमें पुरुष मस्तक तक डूब जाए उससे) भी अधिक पानी में प्रवेश करे, तो गौतम ! वह पुरुष पानी की ऊपरी सतह पर ही रहेगा ?

हंता, [१२]चिट्ठइ ।
एवं वा अट्ठविहा [१३]लोयट्ठिई पण्णत्ता जाव जीवा [१४]कम्मसंगहिया ।

हां भगवन् ! रहेगा ।
गौतम ! इसी कारण लोक की स्थिति आठ प्रकार की कही गई है, यावत्-कर्मों ने जीवों को संग्रहित कर रखा है ।

विवेचन—

प्रस्तुत सूत्र में लोक व्यवस्था के सम्बन्ध में प्रतिपादन किया गया है । अर्थात् लोक किस प्रकार, किसके उपर आधारित है, एतद् विषयक विवेचन किया है । भगवान् ने ८ प्रकार की लोक व्यवस्था बतलाई है । पृथ्वियाँ भी शास्त्रों में ८ प्रकार की बतलाई गई है । रत्नप्रभादि सात पृथ्वियां और एक ईषत् प्राग्भारा (सिद्ध शिला) नामक पृथ्वी । प्रस्तुत प्रकरण में ईषत्प्राग्भार पृथ्वी का विचार न करते हुए रत्नप्रभादि पृथ्वियों का विचार किया जा रहा है ।

पृथ्वियों का आधार क्या ?

इस जिज्ञासा के उत्तर में समाधान है कि प्रत्येक पृथ्वी घनोदधि पर टिकी हुई है, घनोदधि घनवात पर, घनवात तनवात पर व तनवात आकाश पर । इसको इस प्रकार भी लिया जा सकता है

२६. चिट्ठति - बें० म० ॥ २७. चेट्ठइ - अ० । चिट्ठति - म० । चिट्ठति - बें० म० ॥ २८. तेणट्ठेणं गोयमा एवं वुच्चइ अट्ठविहा लोयट्ठिती जाव जीवा कम्म - म० ॥ २९. जाव जीवा कम्म° - पु० अभो० पा० बें० म० ॥ ३०. °संगहिता - बें० म० ॥

सूत्र १२८ (iii)

१. °ति कडीए - लीं० । °णोत्ते आडोविता कडीए - बें० म० ॥ २ बंधति - बें० म० ॥ ३. "अत्थाह" आदितात् स्थूलति बोधार्थं वृत्तिकृतोक्तम् ॥ ४. "अतार" स्थाने 'अपार' इति पाठान्तरम् - अनु० ॥ ५. °पोरिसियं उदगंसि - अभो० ला० । °पोरिसियंसि - बें० म० म० पा० । अत्थाहमतार° - पुरा० ॥ ६. उदगंसि - ला १-२ ॥ ७. ओगाहेज्जा अभो० । °हेज्ज से - जं० लीं० ॥ ८ गोयमा - बें० म० ॥ ९. आउयायस्स - पा० । आउयस्स - ला० ॥ १०. उवरिमतले - जं० लीं० ॥ ११. चिट्ठति - बें० म० ॥ १२. चिट्ठति - बें० म० ॥ १३. °ट्ठिइ - अभो० पा० । लोयट्ठिती जाव जीवा म० । लोयट्ठिती - बें० म० ॥ १४. °हिता - बें० म० ॥

कि आकाश सर्वत्र विद्यमान है। सबको अवकाश दे रहा है। इसी आकाश में तनवात रहा हुआ है। तनवात के आधार पर घनवात रहा हुआ है। घनवात पर घनोदधि अर्थात् प्रगाढ़ पानी और घनोदधि पर पृथ्वी आधारित है।

ये ही प्रक्रिया अन्य पृथ्वियों के विषय में भी रही हुई है। इसी संदर्भ में इस विवेचन को पढना अपेक्षित है। पृथ्वी के आश्रित विश्व के त्रस और स्थावर प्राणी हैं। इस दृश्यमान पृथ्वी को स्वतंत्ररूप से परिगणित नहीं किया गया है, क्यों कि यह रत्नप्रभा पृथ्वीपिण्ड का ऊपरी भाग है। पृथ्वी के आश्रित विश्व के त्रस और स्थावर प्राणी हैं।

अजीव जीव पर आधारित है और जीव कर्म पर आधारित हैं। अजीव, जीव द्वारा संग्रहीत है और जीव कर्म द्वारा संग्रहीत है।

इसी तथ्य को भगवान् ने एक रूपक के माध्यम से स्पष्ट किया है। समझ लीजिये-एक पुरुष के पास (जिसमें पानी और हवा का प्रवेश न हो सके) ऐसी मशक है। वह उसे हवा से पूरंपूर भर देता है। तदनन्तर उस मशक के मध्यभाग को एक रस्सी से कसकर दो विभागों में विभक्त कर देता है। इसके बाद उपर का मुंह खोलकर हवा को खाली कर देता है। उस भाग में पानी भरकर पुनः उसके मुंह को बन्द कर देता है। इतनी प्रक्रिया के बाद उस मध्य में कसी हुई रस्सी को खोल देता है।

इतना कहकर-भगवान ने गौतम से प्रतिप्रश्न किया—हे गौतम ! क्या मशक के ऊपरी भाग में रहने वाला पानी नीचे आएगा ? गौतम ने कहा— नहीं भगवन् ! वह उपर ही रहेगा ? हवा के सूक्ष्म होते हुए भी वह उस भार को सहन करने में समर्थ है। यही स्थिति प्रस्तुत अर्थ में घटित करनी चाहिये। इसी तथ्य को ओर अधिक स्पष्ट करने के लिये भगवान् ने एक और रूपक दिया है—

एक पुरुष दुस्तर नदी पार करना चाहता है, किन्तु उसे तैरना नहीं आता है। ऐसी स्थिति में वह एक मशक को हवा से भरकर उस मशक को कमर में बांध कर नदी में कूद पड़ता है। हे गौतम ! क्या वह व्यक्ति उस नदी को पार कर सकता है ? भगवान् के इस प्रतिप्रश्न को श्रवणकर गौतम स्वामी ने कहा— हां भगवन् ! वह उस नदी को पार करने में समर्थ है। वह नदी में नहीं डूब सकता। हे गौतम ! जिस प्रकार हवा से भरी एक मशक भी पुरुष के सारे भार को झेलने में समर्थ हो जाती है, उसी प्रकार अष्ट प्रकार की लोक व्यवस्था सम्बन्धी वर्णन भी जानना चाहिये। हवा में बहुत बड़ी शक्ति है। वह भारी से भारी वस्तु को भी सहन करने में समर्थ है।

इस विषय को वर्तमान परिप्रेक्ष्य में भी देखा जा सकता है। वर्तमान में पृथ्वी किसके आधार पर है ? इस विषय में प्राचीन एवं अर्वाचीन कई व्याख्याएं उपस्थित की जा रही हैं। उन व्याख्याओं का तुलनात्मक दृष्टि से कुछ विवेचन अप्रासंगिक नहीं होगा। प्राचीन विचारणा पृथ्वी के आधार के विषय

में भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण उपस्थित करती हैं। एक धारणा यह है कि पृथ्वी बैल के सींग पर टिकी हुई है। दूसरी धारणा यह है कि शेषनाग के फण पर आधारित है। इस प्रकार अन्य भी कई धारणाएँ प्रचलित हैं। इन धारणाओं पर युक्ति एवं तर्क के आधार पर चिन्तन किया जाय तो ये धारणाएँ चिन्तन की कसौटी पर खरी नहीं उतरती। बैल और सर्प की ही बात ली जाय तो जिज्ञासा होगी कि बैल और सर्प दोनों जीवित एवं पंचेन्द्रिय प्राणी हैं तथा स्थूल शरीर से सम्पन्न हैं तो ये स्वयं किसके आधार पर स्थित हैं। इनके आधार का यदि अन्वेषण किया जाय तो जिस आधार को खोजा जायगा, उस पर पुनः शंका उठेगी कि वह किसके ऊपर आधारित है। इस प्रकार अनवस्था दोष का प्रसंग आ जायगा। इसके अतिरिक्त जीवित प्राणियों का आयुष्य भी सीमित होता है। उनके आयुष्य की समाप्ति पर वे खड़े नहीं रह सकते तो क्या पृथ्वी भी ढह जायगी? परन्तु ऐसा होता नहीं है। अतः उपर्युक्त पृथ्वी के आधार बैल या शेषनाग का कथन पृथ्वी की समीचीन व्यवस्था नहीं दे सकता। यदि यह कहा जाय कि उस बैल या सर्प के मर जाने पर अन्य बैल या सर्प आ जायगा तो प्रश्न होगा कि वह आएगा कहाँ से? क्योंकि बिना आधार के आ नहीं सकता। दूसरी बात यह है कि पृथ्वी के विशालतम भार को कोई प्राणी शरीर उठा नहीं सकता।

इसी प्रकार अन्य प्रचलित मान्यताओं के विषय में भी विसंगतियां उपस्थित होती हैं। अर्वाचीन मान्यताएँ विज्ञान के आधार पर प्रचलित हैं। विज्ञान की मान्यता है कि सूर्यपिण्ड से यह पृथ्वी का टुकड़ा अरबों वर्ष पहले टूटा तथा उससे दूर होता हुआ, इतनी दूर आ गया है तथा सूर्य के इर्द-गिर्द परिक्रमा कर रहा है।

वैज्ञानिकों से इस विषय में प्रश्न किया जाय कि यह और नीचे क्यों नहीं चला गया? सूर्य के आस-पास ही क्यों घूम रहा है? तो उनका उत्तर होगा कि पृथ्वी और सूर्य के बीच में आकर्षण शक्ति है, उसी शक्ति से यह सूर्य के आस-पास परिभ्रमण करती है। इस उत्तर से सच्चा जिज्ञासु संतुष्ट नहीं होता। उसकी जिज्ञासा बढ़ जाती है और वह कहता है कि पृथ्वी एवं सूर्य के पिंड का जब परस्पर आकर्षण है तब फिर सूर्य से इतनी दूर ही यह पृथ्वी क्यों आई? और जब इतनी दूर आ गई तो इसके इतनी दूर आने में इसकी आकर्षण शक्ति ने इसे क्यों नहीं रोका? और क्यों नहीं अधिक दूर चली गई। इसका संतोषजनक उत्तर वैज्ञानिकों की ओर से अभी तक नहीं मिल पाया। जिस आकर्षण शक्ति का आविष्कार वैज्ञानिक 'न्यूटन' ने किया, उसके सिद्धान्त को 'आइंस्टीन' ने सही नहीं माना। उन्होंने स्पष्ट किया कि एक पुरुष तीसरी मंजिल पर खड़ा है, और दूसरा पुरुष जमीन पर। इन दोनों की दृष्टि में गेंद जमीन पर गिरी और लुढ़क करके कुछ दूर चली गई। जिस स्थान पर गिरी उस स्थान पर स्थिर नहीं रही।

इस विषय में दोनों व्यक्ति दो तरह से सोचते हैं। तीसरी मंजिल पर खड़ा व्यक्ति न्यूटन के सिद्धान्तानुसार कहता है कि गेंद जिस स्थान पर गिरी, उस स्थान पर वह रह नहीं सकती क्योंकि जिधर

आकर्षण शक्ति थी, उधर वह लुढ़क गई। इस पर आईस्टीन के अनुयायियों का कथन होगा कि तीसरी मंजिल पर रहने वाले व्यक्ति को जमीन का भू-भाग सही रूप में नहीं दिखता, इसलिए उसने आकर्षण की कल्पना करली। किन्तु जमीन पर स्थित व्यक्ति बोलता है कि जिधर गेंद लुढ़की, उधर जमीन का कुछ ढलान था। अतः वह ढलान से लुढ़क गई, न कि आकर्षण शक्ति से। जमीन पर अन्य कोई आकर्षक तत्व था नहीं, जिससे आकर्षण की कल्पना की जा सके। यह भ्रान्ति ऊपर खड़े रहने से हो गई है।

इस प्रकार पूर्ववर्ती वैज्ञानिकों के कथन को उत्तरवर्ती वैज्ञानिकों ने परिवर्तित किया और करते चले जा रहे है। भविष्य में भी कोई निश्चित नहीं है कि भविष्य में होने वाले वैज्ञानिक भूतकालीन एवं वर्तमान कालीन वैज्ञानिकों की बात मान ही लेंगे। वैज्ञानिक जगत् में कुछ प्रयोगों के आधार पर आनुमानिक सिद्धान्त बनते है और उनमें भी कई भ्राति युक्त सिद्धान्त साबित हो जाते हैं।

अतः वैज्ञानिक तरीके से पृथ्वी के टिकने का आधार आकर्षण शक्ति का कथन तर्क एवं युक्तिसंगत नहीं लगता।

प्रस्तुत सूत्र में पृथ्वी के आधारों का उल्लेख किया है। वह वर्तमान की वैज्ञानिक पद्धति से भी अधिक सयुक्तिक है।

इस आकाश में अनान्य तत्वों के साथ वायु तत्व भी ठसाठस भरा हुआ है। उस वायु के अन्तर्गत कई प्रकार है— पतली हवा, गाढ हवा आदि। पतली हवा आकाश में भलीभांति रह सकती है। उस पतली हवा पर गाढ़ हवा भी टिक सकती है। गाढ हवा पर गाढ पानी— बर्फ शिला के समान टिक सकता है। उस गाढ पानी पर पृथ्वी का कितना भी भार हो, वह टिका रहता है। इस पर यह जिज्ञासा हो सकती है कि बर्फ की शिलातुल्य जो गाढ पानी है, उसके पिघलने की स्थिति रहती है, जैसे कि हिमालय और उसके आस पास में स्थित बर्फ की पहाड़ियां जो कि पिघलकर टूटती रहती है। इसी प्रकार नीचे का बर्फ तुल्य गाढ पानी भी पिघल जाना चाहिये। वह कैसे स्थिर रह सकता है?

हिमालय एवं उसके आसपास की हिममय पहाड़ियाँ सकारण टूटती एवं बहती है, निष्कारण नहीं। सूर्य का प्रचण्ड तेज जहां पर भी गिरता है, वहां उसकी सीमा में रहने वाली हिममय पहाड़ियां प्रायः पिघलकर के बहा करती है। परन्तु किसी स्थल पर प्रचण्ड तेज न भी हो तब भी सूर्य से संबंधित तापमान तथा पूर्वापर वातावरण की तरतमता से हिम पहाड़ियों का गिरना एवं खिसक जाना संभव है। ऐसी अवस्था पृथ्वी के ऊपरी भाग पर रही हुई है, लेकिन पृथ्वी के अधोभाग में तो प्रचण्ड सूर्य एवं उसकी तरतमता रूप किरणों का प्रभाव कतई संभव नहीं है।

पृथ्वी पिण्ड भी बहुत बड़ा है। सूर्य की किरणों का प्रभाव उपरी तल पर भी कुछ हद तक ही होता है। सभी पृथ्वी पिण्ड को सूर्य की किरणें कतई भेद नहीं सकती। अत्यधिक भाग सूर्य की किरणों के प्रभाव से एवं अन्य उष्णता से रहित है। अतः पृथ्वी के अधोभाग में रहने वाला, बर्फ शिला तुल्य गाढ

पानी प्रवाह के रूप में जैसा का तैसा बना रहता है। उसमें विखंडन या पिघलने का मौका मंतर नहीं है।

उस गाढ़तम पानी को शास्त्रकारों ने घनोदधि की संज्ञा से अभिहित किया है। वह घनोदधि भी २० हजार योजन का मोटा है। लम्बाई-चौड़ाई में तो अखिल पृथ्वी क्षेत्र के अधोभाग में व्याप्त है। ऐसे घनोदधि के नीचे घनवात जो कि असंख्य योजन मोटाई के रूप में है। विस्तार में घनोदधि के समान है। यह घनवात तनवात के उपर आधारित है। तनवात आकाश के अन्तर्गत अनेक प्रकार की वायु में समाविष्ट है।

इसका तात्पर्य यह हुआ कि आकाशरूप पोलार में पतली वायु अच्छी तरह रहती है। पतली हवा गाढ़ वायु को झेलने में समर्थ है। क्योंकि पतली हवा के उपर रहने वाली गाढ़ वायु पतली हवा के उपर ही रहती है। किन्तु उसमें प्रवेश नहीं करती। घनोदधि आदि पौद्‌गलिक होते हुए भी प्रवाह रूप से शाश्वत हैं। सूक्ष्म रूप से पर्यायों का परिवर्तन होता रहता है, किन्तु सर्वथा विनष्ट नहीं होते।

एतद् विषयक आंशिक प्रयोग आज के भौतिक वैज्ञानिक भी कर चुके हैं। कुछ समय पूर्व वैज्ञानिकों ने एक राकेट को उपकरणों के माध्यम से उपर उड़ाया और जब वह आपेक्षिक पतली वायु के स्तर पर पहुँच गया, तब वैज्ञानिकों ने राकेट की मशीनों को बन्द कर दी, तब भी राकेट नीचे नहीं आया। वहीं अधर आकाश में स्थिर हो गया। उस विमान में दो यात्री थे। दोनों में खोज करने की दृष्टि से एक यात्री आकाश में कूदा तो वह भी नीचे नहीं गया, वहीं पर स्थित रहा। वहीं पर पड़ा लेटा, बैठा, पत्र लिखा। ये सभी प्रक्रियाएं धरती पर स्थित प्रयोगशालाओं में दूरवीक्षण आदि यंत्रों द्वारा वैज्ञानिकों ने देखी। वह यात्री पुनः विमान में पहुंचा और विमान के उपकरणों को चालू कर उस स्पष्ट से नीचे उतरा क्योंकि उपकरणों को संचालित किये बिना वह नीचे नही उतर सकता था। शरीर की सुरक्षा साधन-सामग्री से संयुक्त मानव तथा अत्यधिक वजन से भारी राकेट भी उपकरणों के संचालित किये बिना नीचे नहीं आ सके। जबकि राकेट वहां पर किसी प्रकार के उपकरणों के संचालित किये बिना ही टिका था। यह एकदेशीय रूपक है इससे भी यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रस्तुत पाठ में प्रतिपादित गाढ़ हवा पर घनोदधि स्थित है। इसमें संशय की गुंजाइश ही नहीं रहती। घनोदधि पर तो पृथ्वी पिंड है ही। जिज्ञासु यह कह सकता है कि वैज्ञानिकों ने इस विषय में अधिक खोज क्यों नहीं की? इसका समाधान यह है कि वैज्ञानिक अपनी शक्ति के अनुसार खोज करने का प्रयत्न कर रहे हैं। अपनी शक्ति से परे वस्तु की खोज कैसे कर सकते हैं? ऐसी अनेकों घटनाएं विद्यमान हैं, जिनकी खोज वे अभी तक नहीं कर पाये हैं। उन सबकी विवेचना विस्तार भय से नहीं की जा रही है।

जब पृथ्वी के उपरी स्थल पर भी सभी स्थानों एवं वस्तुओं की खोज वैज्ञानिक नहीं कर पाये तो पृथ्वी के बिल्कुल अधोभाग की खोज वे कैसे कर सकते हैं?

साधारण व्यक्तियों के समक्ष प्रयोग में आने वाली वस्तुओं के विषय में भी चिन्तन करने पर प्रस्तुत पाठ के तथ्य का स्पष्ट बोध करने के लिए कुछ व्यावहारिक रूपक लिये जा सकते हैं। यथा— एक छोटे मुंह वाले कलश में पानी भर कर, उसे रस्सी से बांधकर रस्सी को मजबूत रखते हुए ऊपर से नीचे तक घुमाया जाय, तब भी कलश से एक बूंद पानी नही गिरता है।

दूसरा रूपक— प्राचीन युग में नया तैराक पानी में तैरना सीखने के लिए खाली घड़े को पानी में उल्टा डाल करके उस पर अपने सारे शरीर का भार डालकर तैरने का अभ्यास करते थे। घड़े का बेलेंस यदि बराबर है तो उस घड़े में एक बूंद पानी का भी प्रवेश नहीं होता।

तीसरा रूपक— किसी मरीज को जब ग्लुकोज की बॉटल चढ़ाई जाती है, उस समय सूई को शरीर में लगाकर बटन को खोल देने पर भी बोटल से एक बूंद ग्लुकोज भी नीचे नहीं आती, जब तक कि उपर से बाटल मे हवा का प्रवेश नही कराया जाता। बोटल में छिद्र के माध्यम से बाटल में स्थित ग्लुकोज पर हवा का दबाव पड़ता है, तभी ग्लुकोज का पानी नीचे उतरता है।

उपरोक्त रूपकों से यह भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है कि हमारे समक्ष दिखने वाले तरल पदार्थ भी हवा के द्वारा स्थान दिये बिना नीचे नही उतरते। घडे में भी पानी प्रवेश नहीं कर पाता। यही नहीं ट्रकों के पहिये में रहने वाली हवा टनो वजन उठाने में समर्थ होती है। ये व्यावहारिक प्रयोग तो जनता के समक्ष स्पष्ट है। शास्त्रकारो ने भी मशक आदि के उदाहरणों द्वारा पृथ्वी के आधार को स्पष्ट किया है। उसकी सत्यता वैज्ञानिक पद्धति से स्पष्ट हो जाती है।

यह बात अवश्य है कि जैन दर्शन के प्रमुख विज्ञाता श्रमण वर्ग सैद्धान्तिक बात अपनी सीमा में ही बतलाते हैं। भौतिक प्रयोगशाला में प्रयोग करके नही परन्तु वैज्ञानिकों का अनुसंधान निरन्तर यथार्थ दिशा में चालू रहा और वैज्ञानिक साधनों का तथा उपलब्धियों का उपयोग करने वाले व्यक्ति विवेकशील रहे तथा उनकी अहता-ममता उनके सिर पर नहीं चढ़ी, मस्तिष्क में जन कल्याण की भावना रही तो एक न एक दिन वे प्रस्तुत शास्त्र के मूल पाठ में कथित पृथ्वी व्यवस्था संबंधी सत्य को स्वीकार कर लेंगे।

पृथ्वी पर आधारित त्रस और स्थावर जीवों का कथन सामान्यतया है। क्योंकि पृथ्वी से अतिरिक्त स्थलों पर भी जीवों का निवास है। सूक्ष्म स्थावरकायिक जीव तो सम्पूर्ण लोक में खचाखच भरे हुए हैं।

शरीर आदि बहुत से अजीव रूप पुद्गल हैं जो कि जीव के आधार पर स्थित हैं। अजीव, जीव से संग्रहीत है, इसका तात्पर्य यह है कि मन, भाषा आदि पुद्गलों को जीव ने संग्रहीत कर रखा है। जीव कर्मों द्वारा संग्रहीत है। कर्म वश जीव संसार परिभ्रमण करता है।

यहां पर एक प्रश्न सहज ही उपस्थित होता है कि आठ प्रकार की लोक स्थिति न कहकर … प्रकार की लोक स्थिति कहने से काम नहीं चल जाता ?

अजीवा जीव पइट्ठिया, अजीवा जीव संगहिया ।
जीवा कम्म पइट्ठिया, जीवा कम्म संगहिया ॥

इन चारों में से दो भेद होते हैं, तभी काम चल सकता है।

उपरोक्त दोनों प्रकार के भेदों में आधार-आधेय और संग्राह्य-संग्राहक भेद की अपेक्षा से अन्तर है ।

जिस प्रकार मालपुआ तेल में छोड़ा जाय तो उसमें तेल आधार है और मालपुआ आधेय होता क्योंकि तेल के आधार पर मालपुआ है । संग्राह्य और संग्राहक भाव में तेल संग्राह्य है और मालपुआ संग्राहक है । क्योंकि तेल को ग्रहण कर रहा है ।

इसी प्रकार 'अजीवा जीव पइट्ठिया' में अजीव आधार और जीव आधेय है । तथा "अजीवा जीव संगहिया" में जीव संग्राहक और और अजीव संग्राह्य है । इसी प्रकार "जीवा कम्म पइट्ठिया" और "जीवा कम्म सगहिया "दोनों में भी आधार आधेय और संग्राह्य संग्राहक की अपेक्षा से अन्तर समझना चाहिये । अतः शास्त्रोक्त लोक व्यवस्था आठ प्रकार की उपयुक्त है ।

जिस प्रकार मशक के दृष्टान्त द्वारा पानी और हवा का आधार आधेय भाव प्रतिपादित किया गया था, उसी प्रकार आकाश, और तनुवात में भी आधार आधेय भाव घटित कर लेना चाहिए।

सूत्र 129. जीव और पुद्गलों का सम्बन्ध—

उत्थानिका—

पूर्व सूत्र में लोक-स्थिति की अष्ट-प्रकारता पर विवेचन किया गया था । लोक में ही जीव और पुद्गल का निवास स्थान है, जिनका आधाराधेय और संग्राह्य संग्राहक भाव का विवेचन पूर्व सूत्र में कर चुके हैं। किन्तु जीव और पुद्गल में किस प्रकार का सम्बन्ध है ? गाढ सम्बन्ध है या हल्का ? इसका विवेचन प्रस्तुत सूत्र में किया जा रहा है ।

सूत्र 129 (i) [1]अत्थि णं भंते ! जीवा[2] य पोग्गला य अन्नमन्नवद्धा अन्नमन्नपुट्ठा अन्नमन्नमोगाढा अन्नमन्नसिणेहपडिवद्धा अन्नमन्नघडत्ताए[3] चिट्ठंति ?

हंता, अत्थि ।

सूत्र 129 (i) भगवन् ! क्या जीव और पुद्गल परस्पर सम्बद्ध हैं ? परस्पर एक दूसरे से स्पृष्ट हैं ? परस्पर गाढ सम्बन्ध है ? परस्पर स्निग्धता में प्रतिबद्ध है, अथवा परस्पर घट्टित (एक) होकर रहे हुए हैं ?

हां गौतम ! वे परस्पर इसी प्रकार रहे हुए हैं ।

१. लोकस्थित्यधिकारादेवेदमाह— अत्थि णमित्यादि अन्ये तु आहु 'अजीवा जीव पइट्ठिया' इत्यादि पदद्वयस्य भावनार्थम् अयं सूत्रपाठ." इति - अभ० ॥ २. जीवा पो° - पा० ॥ ३. अत्र 'घड' इत्यस्य समानार्थक …

(ii) से केणट्ठेणं भंते ! [A]जाव चिट्ठंति ?

गोयमा ! से जहानामए [4]हरदे सिया पुण्णे पुण्णप्पमाणे [5]वोलट्टमाणे वोसट्टमाणे [6]समभरघडत्ताए [7]चिट्ठइ, [8]अहे णं केइ पुरिसे तंसि [9]हरदंसि एगं [10]महं नावं [11]सदासवं [12]सयछिड्डं [13]ओगाहेज्जा से नूणं [14]गोयमा ! सा णावा तेहिं [15]आसवदारेहिं [16]आपूरमाणी [17]आपूरमाणी पुण्णा पुण्णप्पमाणा[18] वोलट्टमाणा वोसट्टमाणा [19]समभरघडत्ताए [20] चिट्ठइ?

हंता, [21]चिट्ठइ ।

से तेणट्ठेणं [22]गोयमा ! अत्थि णं जीवा य [B]जाव चिट्ठंति ।

(ii) भगवन् ! ऐसा आप किस कारण से कहते है ? यावत् रहे हुए हैं ।

गौतम ! जैसे कोई एक तालाव हो, वह जल से पूर्ण हो पानी से लबालब भरा हुआ हो और पानी से बढ़ रहा हो, वह पानी से भरे हुए घड़े के समान हैं । उस तालाव में कोई पुरुष एक ऐसी वड़ी नौका, जिसमें सौ छोटे छिद्र हो और सौ वड़े छिद्र हो, डाल दे तो हे गौतम ! वह नौका उन-उन छिद्रों द्वारा पानी से भरती हुई, अत्यन्त भरती हुई, जल से परिपूर्ण, पानी से लवालव भरी हुई पानी से छलकती हुई बढ़ती हुई क्या भरे हुए घड़े के समान हो जायगी ?

हां भगवन् ! हो जायगी ? इसलिए हे गौतम मै कहता हू— यावत् जीव और पुद्गल परस्पर घट्टित होकर रहे हुए हैं ।

विवेचन :–

जड़ और चैतन्य दोनों अपना-अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखते हैं। संसार की समस्त विचित्रताएँ इन्हीं दोनों का परिणाम है । इन्हीं दोनों का सम्वन्ध अनादिकाल से चला आ रहा है। जब तक आत्मा कर्मो से मुक्त नहीं वनती तव तक वह आत्मा कभी भी मुक्ति को प्राप्त नहीं कर सकती ।

आत्मा का कर्मो के साथ सम्वन्ध किस प्रकार का है ? इस वात का वोध करने के लिए गौतम स्वामी ने भगवान् से प्रश्न किया कि—

कई दार्शनिक कर्म का आत्मा के साथ सम्वन्ध नहीं मानते । उनके दृष्टिकोण से कर्म आत्मा से वद्ध नहीं है, ऊपर-ऊपर स्थित है । यदि कर्म आत्मा के साथ एकमेक-एकाकार हो जाय तो आत्मा का चैतन्य स्वरूप ही नष्ट हो जायगा ।

समुदायार्थ सूचकं 'घटा' इति पदम् - वृत० ॥ ४. हरए सिया - घा० । हरते - जं० ला १ । "ह्रदोनदः" - अवृ० ॥ ५. वोलुट्टमा° - लों० ला ४ ॥ ६. अत्र 'ह्द क्षिप्त समभर घटवत्' इत्येवं निदिश्य 'घट' शब्दः सूचितः वृत्तौ ॥ ७-२० २१ चिट्ठंति - वे० म० ॥ ८. अहे ति के° - ला ३ ॥ ९. हरयंसि - घा० ॥ १०. महा - न० ॥ ११. सयासवं - पु० घा० न० ॥ १२. °छिद्द - अमो० घा० न० । सदछिड्डं - आ० । सम छिड्डं - ता० । सदछिड्ड - व० । सत्तछिड्डं - वे० म० । सदछिद्दं - ला० । सयच्छेड्डं जं० ॥ १३. ओगाहेज्ज - अमो० । °हेज्ज जं० ॥ १४. गोतम - वे० म० ॥ १५. °वद्दारेहिं° - वे० म० ॥ १६. आपुरेमाणी - घा० ॥ १७. आपुरेमाणी - घा० ॥ १८. वोलेट्ट° - जं० । वोलुट्ट° - ला ४ ॥ १९. °घरत्ताए घा० ॥ २२. गोयमा एवं वुच्चइ अत्थि न० ॥

A. एवं वुच्चइ— अत्थि णं जीवा य पोग्गला य अन्नमण्णवद्धा, अन्नमन्नपुट्ठा, अण्णमण्णमोगाढा, अण्णमन्न सिणेह-पडिवद्धा, अन्नमन्न घडत्ताए ॥

B. पोग्गला य अण्णमण्णवद्धा, अण्णमण्णपुट्ठा, अन्नमन्नमोगाढा, अन्नमन्नसिणेह पडिवद्धा अन्नमन्न घडत्ताए ॥

दूसरी बात यह है कि कर्म मूर्त है और आत्मा अमूर्त है। कर्म जड़ है, आत्मा चेतन है। कर्म विनाशी है और आत्मा अविनाशी है। इस प्रकार दोनों विरोधी स्वभाव के होते हुए परस्पर सम्बन्धित कैसे हो सकते हैं ?

भगवान् ने वस्तु स्थिति को स्पष्ट करते हुए फरमाया—हे गौतम ! कर्म आत्मा के साथ दूध और पानी की तरह, अग्नि और लोहे की तरह मिले हुए हैं। जिस प्रकार दूध में घृत सर्वत्र व्याप्त है, उसी प्रकार कर्म भी संसारी आत्मा के सभी प्रदेशों में व्याप्त है।

इस बात को और स्पष्ट करने के लिए भगवान् ने एक रूपक प्रतिपादित किया—

एक तालाब पानी से लबालब भरा हुआ है, उसमें इतनी मात्रा में पानी है कि किनारे से पानी बाहर निकल रहा है। ऐसे परिपूर्ण जल से प्लावित तालाब में किसी पुरुष ने नौका डाली। किन्तु वह नौका सैकड़ों छोटे-बड़े छिद्रों से युक्त है। नौका को तालाब में डालते ही उसमें छिद्रों के माध्यम से पानी भर जाता है और नौका पानी में डूब जाती है। उस समय नौका कहां है ? और पानी कहां है ? इस विलगता को स्पष्ट नहीं किया जा सकता।

इसी प्रकार संसार रूपी ह्रद में पुद्गल रूप जल लबालब भरा हुआ है। लोक का एक भी कोना ऐसा नहीं है, जहां परमाणु पुद्गल नहीं हों। ऐसे संसार रूपी ह्रद में पुद्गल रूपी जल में आत्मा रूप नौका प्रवेश कर चुकी है। उस चैतन्य रूप नौका में योग समन्वित कषायों के अनेकों छिद्र हैं।[1] जिन छिद्रों के माध्यम से आत्मा रूपी नौका में कर्म रूप पुद्गल निरन्तर प्रवेश कर रहे हैं। पूर्व में भी किये थे और मुक्ति होने के पूर्व कर्म पुद्गलों का प्रवेश चलता ही रहेगा। उन कर्म पुद्गलों से आत्म-प्रदेश संबद्ध होते चले जाते हैं। जिस प्रकार छिद्रों वाली नाव और पानी में विलगता होते हुए भी परिलक्षित नहीं होती, उसी प्रकार कर्मों का आत्मा के साथ एकाकार हो जाने से उन दोनों में विलगता होते हुए भी सामान्य व्यक्ति की दृष्टि में परिलक्षित नहीं हो सकती।

जड़ और चैतन्य में इस प्रकार की एकाकारता होते हुए भी आत्मा अपने सत् पुरुषार्थ के द्वारा कर्मों से सदा-सदा के लिए मुक्त हो सकती है और अपने वास्तविक स्वरूप का प्रकटीकरण कर सकती है।

---

१. शास्त्रकारों की अनूठी शैली है। साधारण लोग भी सहजता से समझ सकें ऐसे दृष्टान्तों के माध्यम से आध्यात्मिक जीवन की ओर जन-मानस का ध्यान आकर्षित करते हैं।

इसमें जो नौका और तालाब का उदाहरण दिया गया है, यह एकदेशीय रूपक समझना चाहिए। जैसे नौका में संख्यात छिद्र होते हैं, उन छिद्रों में पानी भरने पर नौका लबालब भर जाती है। संख्यात छिद्र की उपमा से आत्मा के कर्म बन्धन हेतु भूत असंख्य अध्यवसाय का सूचन किया गया है। कर्मयुक्त आत्मा जब कषाय युक्त बनती है तब असंख्य अध्यवसाय कर्म को ग्रहण करने वाले बनते हैं। यह असंख्यात समझना दुर्बोधगम्य है। इसे समझाने के लिए संख्यात छिद्रों वाली नौका की उपमा दी है।

सूक्ष्मस्नेहकायपात सम्बन्धी प्ररूपण

उत्थानिका—

पूर्व सूत्र में जड़ कर्मों का आत्मा के साथ किस प्रकार सम्बन्ध होता है, इस विषयक विवेचन किया गया। प्रस्तुत सूत्र में उन कर्मों से सम्बन्धित सूक्ष्म स्नेहकाय (एक प्रकार के अप्काय के जीव विशेष) के विषय में वर्णन किया जा रहा है—

सूत्र 130 (i) अत्थि णं भंते ! [१]सया [२]समियं [३]सुहुमे सिणेहकाये [४]पवडइ ? हंता, अत्थि।

(ii) से भंते ! किं [५]उड्ढे [६]पवडइ, [७]अहे [८]पवडइ [९]तिरिए [१०]पवडइ ? [११]गोयमा ! [१२]उड्ढे वि [१३]पवडइ, [१४]अहे वि [१५]पवडइ, तिरिए [१६]वि [१७]पवडइ।

(iii) जहा से [१८]बादरे [१९]आउकाए अन्नमन्नसमाउत्ते चिरं पि [२०]दीहकालं [२१]चिट्ठइ तहा णं से वि ?

नो इणट्ठे समट्ठे से णं [२२]खिप्पामेव [२३]विद्धंसमागच्छाइ। सेवं भंते[२४] ! सेवं भंते। [A]त्ति

॥ छट्ठो उद्देसो समत्तो ॥

सूत्र 130 (i) भगवन् ! क्या सूक्ष्म स्नेहकाय (एक प्रकार का सूक्ष्म अप्काय) सदा परिमित रूप में पड़ता है ?

हां गौतम ! पड़ता है।

(ii) हे भगवन् ! वह सूक्ष्म स्नेहकाय ऊपर पड़ता है, नीचे पड़ता या तिरछा पड़ता है ?

गौतम ! वह ऊपर भी पड़ता है, नीचे भी पड़ता है, और तिरछा भी पड़ता है।

(iii) क्या वह सूक्ष्मकाय स्थूल अप्काय की भांति परस्पर समायुक्त होकर बहुत दीर्घकाल तक रहता है ?

गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है, क्योंकि वह शीघ्र ही विध्वस्त हो जाता है।

भगवन ! यह इसी प्रकार है, यों कहकर गौतम स्वामी तप संयम द्वारा अपनी आत्मा भावित करते हुए विचरण करते हैं।

॥ षष्ठम उद्देशक समाप्त ॥

---

१. सदा - अमो० न० वे० म० ॥ २. समितं - न० वे० म० ॥ ३. सुहुम - अमो० । सुहमे - जं० ला० ॥ ४. पवडति - वे० म० । पडति - जं० । पवट्ठति - ला १ ॥ ५. उड्ढं य पडति - जं. । उड्ढं य पयडति - ला १ । उड्ढं पडइ - ला २ ॥ ६. पडइ - अ० ब० । पवडति - वे० म० ॥ ७. अहे य पव° - ला० । अहे य पयडति - ला १ । अहे य पड° - ला २ । अहे व य पडति - ज० ॥ पवडति - वे० म० ॥ ९. तिरियं - घा० । तिरिए य पडति - जं० । तिरिए पयडति - ला १ । तिरियं पड° - ला० अवु० ॥ ११. गोतमा - वे० म० ॥ १२. उड्ढं वि य पडति - जं० ला २ ॥ १४. अहे पव° - पु० । अहे वि य पडति - जं० ला २ । अहे य पड° - ला० ॥ १६. वि य पडंति - जं० ला० ला २ ॥ १८. बायरे आउयाए - जं० । बादरे याउयाए - ला० ॥ १९ आउयाए - पु० अमो न० ॥ २०. दीहं कालं - लों० ॥ २१. चिट्ठति - वे० म० ॥ २२. खिप्पमे° - ला ॥ २३.° गच्छति - वे० म० ॥ २४ भंते भंते ति पडमे सए छट्ठो उद्देसो सम्मतो - अमो० । भंते २ ॥ छट्ठो जं० ॥ A. सूत्र 103 (C) ॥

दूसरी बात यह है कि कर्म मूर्त है और आत्मा अमूर्त है। कर्म जड़ है, आत्मा चेतन है। कर्म विनाशी है और आत्मा अविनाशी है। इस प्रकार दोनों विरोधी स्वभाव के होते हुए परस्पर सम्बन्धित कैसे हो सकते हैं ?

भगवान् ने वस्तु स्थिति को स्पष्ट करते हुए फरमाया—हे गौतम ! कर्म आत्मा के साथ दूध और पानी की तरह, अग्नि और लोहे की तरह मिले हुए हैं। जिस प्रकार दूध में घृत सर्वत्र व्याप्त है, उसी प्रकार कर्म भी संसारी आत्मा के सभी प्रदेशों में व्याप्त है।

इस बात को और स्पष्ट करने के लिए भगवान् ने एक रूपक प्रतिपादित किया—

एक तालाब पानी से लबालब भरा हुआ है, उसमें इतनी मात्रा में पानी है कि किनारे से पानी बाहर निकल रहा है। ऐसे परिपूर्ण जल से प्लावित तालाब में किसी पुरुष ने नौका डाली। किन्तु वह नौका सैकड़ों छोटे-बड़े छिद्रों से युक्त है। नौका को तालाब में डालते ही उसमें छिद्रों के माध्यम से पानी भर जाता है और नौका पानी में डूब जाती है। उस समय नौका कहां है ? और पानी कहां है ? इस विलगता को स्पष्ट नहीं किया जा सकता।

इसी प्रकार संसार रूपी ह्रद में पुद्गल रूप जल लबालब भरा हुआ है। लोक का एक भी कोना ऐसा नहीं है, जहां परमाणु पुद्गल नहीं हों। ऐसे संसार रूपी ह्रद में पुद्गल रूपी जल में आत्मा रूप नौका प्रवेश कर चुकी है। उस चेतन्य रूप नौका में योग समन्वित कषायों के अनेकों छिद्र हैं।[1] जिन छिद्रों के माध्यम से आत्मा रूपी नौका में कर्म रूप पुद्गल निरन्तर प्रवेश कर रहे हैं। पूर्व में भी किये थे और मुक्ति होने के पूर्व कर्म पुद्गलों का प्रवेश चलता ही रहेगा। उन कर्म पुद्गलों से आत्म-प्रदेश संबद्ध होते चले जाते हैं। जिस प्रकार छिद्रों वाली नाव और पानी में विलगता होते हुए भी परिलक्षित नहीं होती, उसी प्रकार कर्मों का आत्मा के साथ एकाकार हो जाने से उन दोनों में विलगता होते हुए भी सामान्य व्यक्ति की दृष्टि में परिलक्षित नहीं हो सकती।

जड़ और चैतन्य में इस प्रकार की एकाकारता होते हुए भी आत्मा अपने सद् पुरुषार्थ के द्वारा कर्मों से सदा-सदा के लिए मुक्त हो सकती है और अपने वास्तविक स्वरूप का प्रकटीकरण कर सकती है।

---

१. शास्त्रकारों की अनूठी शैली है। साधारण लोग भी सहजता से समझ सकें ऐसे दृष्टान्तों के माध्यम से आध्यात्मिक जीवन की ओर जन-मानस का ध्यान आकर्षित करते हैं।

इसमें जो नौका और तालाब का उदाहरण दिया गया है, वह एकदेशीय रूपक समझना चाहिये। जैसे नौका के संख्यात छिद्र होते हैं, इन छिद्रों में पानी भरने पर नौका लबालब भर जाती है। संख्यात छिद्र की उपमा से आत्मा के कर्म बन्धन हेतु भूत असंख्य अध्यवसाय का सूचन किया गया है। कर्मयुक्त आत्मा जब कषाय उदय से युक्त बनती है तब असंख्य अध्यवसाय कर्म को ग्रहण करने वाले बनते हैं। यह असंख्यात संख्या दुर्बोधगम्य होने से इसे समझाने के लिए संख्यात छिद्रों वाली नौका की उपमा दी है।

सूक्ष्मस्नेहकायपात सम्बन्धी प्ररूपण

उत्थानिका—

पूर्व सूत्र में जड कर्मों का आत्मा के साथ किस प्रकार सम्बन्ध होता है, इस विषयक विवेचन किया गया। प्रस्तुत सूत्र में उन कर्मों से सम्बन्धित सूक्ष्म स्नेहकाय (एक प्रकार के अप्काय के जीव विशेष) के विषय में वर्णन किया जा रहा है—

सूत्र 130 (i) अत्थि णं भंते ! [१]सया [२]समियं [३]सुहुमे सिणेहकाये [४]पवडइ ? हंता, अत्थि ।

(ii) से भंते ! किं [५]उड्ढे [६]पवडइ, [७]अहे [८]पवडइ [९]तिरिए [१०]पवडइ ? [११]गोयमा ! [१२]उड्ढे वि [१३]पवडइ, [१४]अहे वि [१५]पवडइ, तिरिए [१६]वि [१७]पवडइ ।

(iii) जहा से [१८]बादरे [१९]आउकाए अन्नमन्नसमाउत्ते चिरं पि [२०]दीहकालं [२१]चिट्ठइ तहा णं से वि ?

नो इणट्ठे समट्ठे से णं [२२]खिप्पामेव [२३]विद्धंसमागच्छइ । सेवं भंते[२४] ! सेवं भंते । [A]त्ति

॥ छट्ठो उद्देसो समत्तो ॥

सूत्र 130 (i) भगवन् ! क्या सूक्ष्म स्नेहकाय (एक प्रकार का सूक्ष्म अप्काय) सदा परिमित रूप में पड़ता है ?

हां गौतम ! पड़ता है।

(ii) हे भगवन् ! वह सूक्ष्म स्नेहकाय ऊपर पड़ता है, नीचे पडता या तिरछा पड़ता है ?

गौतम ! वह ऊपर भी पड़ता है, नीचे भी पड़ता है, और तिरछा भी पड़ता है।

(iii) क्या वह सूक्ष्मकाय स्थूल अप्काय की भांति परस्पर समायुक्त होकर बहुत दीर्घकाल तक रहता है ?

गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है, क्योंकि वह शीघ्र ही विध्वस्त हो जाता है।

भगवन ! यह इसी प्रकार है, यों कहकर गौतम स्वामी तप संयम द्वारा अपनी आत्मा भावित करते हुए विचरण करते हैं।

॥ षष्ठम उद्देशक समाप्त ॥

---

१. सदा - अमो० न० वे० म० ॥ २. समितं - न० वे० म० ॥ ३. सुहुम - अमो० । सुहुमे - जं० ला० ॥ ४. पवडति - वे० म० । पडति - जं० । पवट्टति - ला १ ॥ ५. उड्ढे य पडति - जं. । उड्ढे य पयडति - ला १ । उड्ढे पडइ - ला २ ॥ ६. पडइ - अ० व० । पवडति - वे० म० ॥ ७. अहे य पव° - ला० । अहे य पयडति - ला १ । अहे य पड° - ला २ । अहे व य पडति - ज० ॥ पवडति - वे० म० ॥ ९. तिरियं - घा० । तिरिए य पडति - जं० । तिरिए पयडति - ला १ । तिरियं पड° - ला० अवृ० ॥ ११. गोतमा - वे० म० ॥ १२. उड्ढे वि य पडति - जं० ला २ ॥ १४. अहे पव° - पु० । अहे वि य पडति - जं० ला २ । अहे य पड° - ला० ॥ १६. वि य पडति - जं० ला० ला २ ॥ १८. वायरे आउयाए - जं० । बादरे याउयाए - ला० ॥ १९ आउयाए - पु० अमो न० ॥ २०. दीहं कालं - लो० ॥ २१. चिट्ठति - वे० म० ॥ २२. खिप्पमे° - ला ॥ २३.° गच्छति - वे० म० ॥ २४ भंते भंते ति पढमे सए छट्ठो उद्देसो सम्मत्तो - अमो० । भंते २ ॥ छट्ठो जं० ॥ A. सूत्र 103 (C) ॥

विवेचन :-

प्रस्तुत सूत्र में सूक्ष्म स्नेहकाय की व्याख्या की गई है। सूक्ष्म स्नेहकाय से तात्पर्य एक प्रकार के अप्कायिक जीव हैं। इन्हें सूक्ष्म कहकर यह द्योतित किया है कि जो बादर अपकायिक जीव प्रत्यक्ष पानी के रूप में बरसते हुए परिलक्षित होते है, उस रूप में यह दिखलाई नहीं देते इसलिए इनके लिए सूक्ष्म विशेषण लगाया है। किन्तु यह सूक्ष्म नामकर्मोदय जनित नही है। बादर से अपेक्षित सूक्ष्म है। बादर अपकाय सर्वत्र समान रूप से नहीं गिरता है। वह कहीं गिरता है और कहीं नहीं भी गिरता है। किन्तु सूक्ष्म अपकाय तो उपर, नीचे, तिर्यक् तीनों लोक में सदा-सर्वत्र गिरता है।

यह स्नेहकाय ऊर्ध्वलोक में वैताढय पर्वत आदि तक, अधोलोक में अधोलोक के ग्रामादि तथा तिर्यक्लोक में, तिर्यकलोक के ग्रामादि में गिरता है।

स्नेहकाय का वर्णन मूल और टीका से इस प्रकार स्पष्ट हो रहा है कि स्नेहकाय तिरछे लोक में बरसती है न कि तिर्यक् दिशा मे। कई व्याख्याकार "तिर्यक्दिशा" अर्थ कर देते है जो कि शास्त्र सम्मत नहीं है।

बादर पानी भी सीधा ही बरसता है। उसकी तिर्यक्धारा तभी होती है जब वायु का वेग चल रहा हो। वे अपकायिक जीव बादर एवं पर्याप्त मात्रा में होने से तथा वायु के वेग से तिर्यक् दिशा में अर्थात् छत आदि के नीचे भी प्रवेश कर सजीव रह सकती है। वायु के वेग से बादर कायुकाय के जीवों की सजीवता निर्जीवता में कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता। किन्तु आपेक्षिक सूक्ष्म-स्नेह काय इतनी सूक्ष्म है कि जो न दृष्टि में आती है और नही स्पर्शनेन्द्रिय से ग्राह्य होती है ऐसी स्नेहकाय का वर्षण तो सीधा ही होता है, तिरछी दिशा में नही.। उसके वायु का स्पर्श लगते ही वह सूक्ष्म स्नेहकाय (वायु के स्पर्श से) नष्ट हो जाती है। जैसे कि किसी भी वस्तु के स्पर्श से स्नेहकाय जीवित नहीं रह सकती वैसे ही वायु के स्पर्श से भी यह जीवित नही रह सकता। अतः श्रमण वर्ग को सूर्यास्त होने के पश्चात् सूर्योदय पर्यन्त अनाच्छादित स्थान पर खुले शरीर से गमनागमन नहीं करना चाहिये। सूर्योदय होने पर उसके स्पर्श से स्नेहकाय उपर ही समाप्त हो जाती है। यही स्थिति सूर्यास्त होने पर रहती है, इसलिए साधु-साध्वियों का सूर्योदय होने से पूर्व विहार निषिद्ध है। यहाँ एक जिज्ञासा होती है कि जब साधु को उच्चारादि परठने के लिये अनाच्छादित स्थान पर जाना पड़ता है, उस समय वस्त्र से आच्छादित शरीर होने पर भी सूक्ष्म स्नेहकाय के वर्षण से क्या उनकी हिंसा नहीं होती ?

इसका समाधान यह है कि उच्चारादि परठने की स्थिति आपवादिक है। इसका निवारण तो सूक्ष्म स्नेहकाय ही नहीं, मूसलधार वर्षा के बरसने पर भी करना शास्त्र सम्मत है।

इस सूक्ष्म स्नेहकाय का वर्षण सदा होता रहता है। दिन में तो सूर्य की तेज आतापना से वह धरती तक नहीं पहुँचकर मध्य में ही नष्ट हो जाता है। रात्रि में शीतलता के कारण वे जीव धरती तक पहुँच जाते हैं। इसीलिए साधुओं को बिना आच्छादित मकान आदि में रहना निषिद्ध किया है। परिस्थितिवश लघुनीति या बड़ीनीति के लिये जाना पड़े तो शरीर को कपड़े से ढककर गमनागमन का विधान किया है। श्रावक-श्राविकाओं को भी सामायिक-पोषधादि में, रात्रि में कारणवश बाहर जाना पड़े तो सिर को कपड़े से ढक कर जाना चाहिए।

टीकाकार का यह अभिमत है कि शिशिरऋतु में दिन के प्रथम एवं चतुर्थ प्रहर में तथा ग्रीष्म-ऋतु में सूर्योदय एवं सूर्यास्त के समय आधा-आधा प्रहर तक सूक्ष्मस्नेहकाय जीवों का धरती तक वर्षण होता है। अत: उन्हें बचाने के लिये साधु को लेपयुक्त पात्रादि को बाहर नहीं रखना चाहिये।[1]

टीकाकार का उपर्युक्त कथन शास्त्रीय, आधार पर प्रमाणित नहीं होता है। दशाश्रुतस्कंध में मुनिचर्या वर्णन में सातवीं प्रतिमा का वर्णन देते हुए बतलाया है कि "साधु जहां पर सूर्यास्त हो जाय वहीं पर किसी वृक्ष विशेष के नीचे ठहर जाय, और सूर्योदय होने पर वहां से विहार करे।[1]

यदि सूर्योदय या सूर्यास्त के समय आधे पहर तक स्नेहकाय वर्षण की स्थिति होती तो शास्त्रकार पडिमाधारी साधु के लिये कतई ऐसा विधान नहीं करते। क्योंकि जो पडिमाधारी साधु शेर के उपद्रव पर भी अपने बचाव के लिए कुछ भी नहीं करता, तो स्नेहकाय के वर्षण के समय विहार कर उन जीवों की विराधना कैसे कर सकता है? अत: टीकाकार का उपर्युक्त कथन आगम से संगत नहीं लगता।

मूल पाठ में जो "समियं" शब्द आया है, वह समानार्थक का संसूचक है। टीकाकार ने समियं का अर्थ परिमित किया है। यह अर्थ भी कदाचित लिया जाय तब भी इसका तात्पर्य यह है कि पूरी रात्रि सूक्ष्मस्नेहकाय समान रूप से बरसती है। यही सूक्ष्म स्नेहकाय की परिमितता है। बादर अपकाय की तरह कभी बरसी कभी नहीं ऐसी विषम स्थिति अपरिमितता सूक्ष्म स्नेहकाय में नहीं होती है: इस दृष्टिकोण से टीकाकार ने जो परिमित अर्थ किया वह उपयुक्त नहीं लगता है। टीकाकार की एतद् विषयक परिमित अर्थ वाली व्याख्या मूल पाठ से भी विरुद्ध है।

मूल पाठ में 'समियं' के पूर्व "सदा" शब्द भी आया है। इसका अर्थ यह निकलता है कि सूक्ष्म स्नेहकाय का वर्षण हमेशा होता रहता है। यदि परिमित सीमा निर्धारण के रूप में वर्षण होता तो शास्त्रकार "सदा" शब्द का प्रयोग नहीं करते। यदि शास्त्र में कदाचित शब्द का प्रयोग होता तो टीकाकार की यह व्याख्या "शिशिर ऋतु में दिन के प्रथम प्रहर में एवं चतुर्थ प्रहर में........शास्त्र सम्मत

१. पढम चरिमाउ सिसिरे गिम्हे अद्धं तु तासि वज्जेता। पायं ठवे सिणेहाइरक्खणट्ठा पवेसे वा॥

होती। किन्तु मूलपाठ में "सदा" शब्द है, कदाचित नहीं। अतः इस शब्द के अनुसार टीकाकार के द्वारा दिये गये उद्धरण से की गई व्याख्या आगम संगत नहीं लगती है।

शास्त्रकारों के अभिप्राय के अनुसार तो सूक्ष्म स्नेहकाय का वर्षण सदा समानरूप से परिमितता से होता है, किन्तु सूर्योदय से सूर्यास्त तक सूर्य की किरणों के प्रभाव से वे सूक्ष्म स्नेहकाय जीव धरती पर आने से पूर्व ही नष्ट हो जाते हैं।

धुंअर की तरह सूक्ष्मस्नेहकाय का आच्छादित स्थान पर प्रवेश नहीं होता है, क्योंकि दशाश्रुतस्कंध सूत्र में ही छाये हुए स्थान को स्थल और अनाच्छादित स्थान को जला कहा है। यदि आच्छादित स्थान में सूक्ष्मस्नेहकाय का प्रवेश होता तो उस स्थान को स्थल नहीं कहा जाता।

अतः साधु को रात्रि में सूक्ष्मस्नेहकाय का वर्षण होने से उन जीवों की रक्षा करने के लिये बिना कारण अनाच्छादित स्थल पर नहीं जाना चाहिये। परिस्थितिवश जाना पड़े तो शरीर को वस्त्र से आच्छादित करके जाना चाहिये।

भगवान ने अपने केवलालोक में आलोकित तत्वो को जिस रूप में फरमाया है, वे अभ्रान्त निस्संदेह है। उसमें कही पर भी शंका का स्थान नही है।

॥ छठा उद्देशक समाप्त ॥

सत्तमो उद्देसओ – नेरइए
सप्तम उद्देशक – नैरयिक

नारकादि चौबीस दण्डकों के उत्पाद, उद्वर्तन और आहार संबंधी चर्चा -

उत्थानिका—

षष्ठ उद्देशक के अन्त में सूक्ष्म अप्काय का शीघ्र नाश होना प्रतिपादित किया गया। नाश का विलोम उत्पाद होता है। प्रत्येक वस्तु पर्याय से नष्ट होकर दूसरी पर्याय के रूप में उत्पन्न हो जाती है। नाश और उत्पाद का क्रम सृष्टि में चिरंतन समय से चला आ रहा है। नाश के बाद उत्पत्ति भी होती हैं। अतः षष्ठ उद्देशक में नाश का प्रतिपादन किया तो सप्तम उद्देशक में उत्पाद का वर्णन किया जा रहा है।

दूसरी बात यह है कि छठे उद्देशक में जिस लोक स्थिति का निरूपण किया गया था, सप्तम उद्देशक में भी उसी लोकस्थिति का निरूपण किया है।

शतक के प्रारम्भ में प्रतिपाद्यमान विषयों की संग्रह गाथा कही गई थी उस गाथा में सातवें उद्देशक के अन्दर नरक वर्णन करने का निर्देश किया गया था अतः सप्तम उद्देशक के प्रारंभ में नरक विषयक वर्णन किया जा रहा है।

उपर्युक्त कारणों से सप्तम उद्देशक का सम्बन्ध षष्ठ उद्देशक के साथ रहा हुआ है।

131 (i) नेरइए णं भंते! नेरइएसु उववज्जमाणे किं [1]देसेणं देसं [2]उववज्जइ ?, देसेणं सव्वं [3]उववज्जइ २, सव्वेदे णंसं [4]उववज्जइ ३, सव्वेणं सव्वं [5]उववज्जइ ४ ?

गोयमा! नो देसेणं देसं [6]उववज्जइ नो

सूत्र 131 (i) भगवन्! नारकों में उत्पन्न होता हुआ नारक जीव एक भाग से एक भाग को आश्रित करके उत्पन्न होता है? एक भाग से सर्व भाग को आश्रित करके उत्पन्न होता हैं? या सर्वभाग से एक भाग को आश्रित करके उत्पन्न होता है? सब भागों से सब भागों को आश्रय करके उत्पन्न होता है?

गौतम! (नारक जीव) एक भाग से एक

१. "देशेना च देशेन च यदुत्पादनं प्रवृत्तं तद् देशेनदेशम् छान्दसत्वाच्चाव्ययीभावप्रतिरूपः समासः एवमुत्तरत्रापि" -

देसेणं सव्वं ७उववज्जइ, नो सव्वेणं देसं ८उववज्जइ, सव्वेणं सव्वं ९उववज्जइ ।

(ii) जहा १०नेरइए एवं Aजाव वेमाणिए । १ ।

132 (i) नेरइए णं भंते ! १नेरइएसु उववज्जमाणे किं देसेणं देसं २आहारेइ १, देसेणं सव्वं ३आहारेइ २, सव्वेणं देसं ४आहारेइ ३, सव्वेणं सव्वं ५आहारेइ ४?

गोयमा ! नो देसेणं देसं ६आहारेइ, नो देसेणं सव्वं ७आहारेइ, ८सव्वेण वा देसं ९आहारेइ, १०सव्वेण वा सव्वं ११आहारेइ ।

(ii) एवं Aजाव १२वेमाणिए । २ ।

सूत्र 133 नेरइए णं भंते ! १३नेरइएहिंतो १४उव्वट्टमाणे किं देसेणं देसं १५उव्वट्टइ ?

Bजहा उववज्जमाणे तहेव १६उव्वट्टमाणे वि दंडगो भाणियव्वो । ३ ।

भाग को आश्रित करके उत्पन्न नहीं होता, एक भाग से सर्व भाग को आश्रित करके भी उत्पन्न नहीं होता, और सर्व भाग से एक भाग को आश्रित करके भी उत्पन्न नहीं होता, किन्तु सर्वभाग से सर्वभाग को आश्रित करके उत्पन्न होता है ।

(ii) नारकों के समान वैमानिकों तक इसी प्रकार समझना चाहिए । १ ।

सूत्र 132 (i) नारकों में उत्पन्न होता हुआ नारक जीव क्या एक भाग से एक भाग को आश्रित करके आहार करता है ? एक भाग से सर्वभाग को आश्रित करके आहार करता है, सर्वभागों से एक भाग को आश्रित करके आहार करता है, सर्वभागों से सर्वभागों को आश्रित करके आहार करता है ?

गौतम ! वह एक भाग से एक भाग को आश्रित करके आहार नहीं करता, एक भाग से सर्वभाग को आश्रित करके आहार नहीं करता, किन्तु सर्वभागों से एक भाग को आश्रित करके आहार करता है, अथवा सर्वभागों को आश्रित करके आहार करता है ।

नारकों के समान ही वैमानिकों तक इसी प्रकार जानना चाहिए ।

सूत्र 133 भगवन् ! नारकों में से उद्वर्तमान निकलता हुआ नारक जीव क्या एक भाग से एक भाग को आश्रित करके निकलता है ? (शेष पूर्ववत् प्रश्न करने चाहिए ।)

गौतम ! जैसे उत्पन्न होते हुए नैरयिक आदि के विषय में कहा था, वैसे ही उद्वर्तमान नैरयिक आदि के विषय में दण्डक कहना चाहिए

अवृ० ॥ °वज्जति वे० म० ॥ ७. °ज्जति सव्वेणंदेसं- ला ३ अवृ पा० । एतद्वाचनान्तरपाठः प्राचीनतमटीकाकार सम्मत इति - अवृ० । अत्र च मूलवाचनागत पाठानुसारिणी° चूर्णिमनुसृत्य - अवृ० - व्याख्या ॥ १०. नेरइए - अवृ० अयं शब्दो न तच्छ्रुतियुक्तः किन्तु वैतरणी वाचक 'निरइति' शब्दसमुत्पन्नः ॥ A– पूरक पाठ १ ।० २४६

१. नेरतिएसु - जे० ॥ आहारेति - वे० म० ॥ ८. १०. सव्वेणं - ब्रमो० पा० न० ॥ १२. वेमाणिया न० ॥ १३. नेरइएसु - म० । °एहि उ° - ला० ला २ ॥ १४. उवट्ट° - लों० ला १-२-३ ॥ १५. उवट्टइ - पु० । उव्वट्टति - वे० म० ॥ १६. उव्वट्टमाणेऽवि - पु० ॥ १७. भाणितव्वो - वे० म० ॥

A– पूरक पाठ १ ।० २४ B– संलग्न जाव एवं पाठपूर्ति टिप्पण (परिशिष्ट देखें)

134 (i) नेरइए णं भंते ! नेरइएहिंतो [1]उव्वट्टमाणे किं देसेणं देसं [2]आहारेइ ?

तहेव [A]जाव, [3]सव्वेण वा देसं [4]आहारेइ, [5]सव्वेण वा सव्वं [6]आहारेइ ।

(ii) एवं [B]जाव [7]वेमाणिए । ४ ।

सूत्र 134 (i) भगवन् ! नैरयिकों से उद्वर्तमान नैरयिक क्या एक भाग से एक भाग को आश्रित करके आहार करता है ? इत्यादि प्रश्न पूर्ववत् कहना चाहिए ?

हे गौतम ! यह भी पूर्वसूत्र के समान जानना चाहिए, यावत् सर्वभागों से एक भाग को आश्रित करके आहार करता है, अथवा सर्वभागों से सर्वभागों को आश्रित करके आहार करता है ।

(ii) इसी प्रकार यावत् वैमानिकों तक जानना ।

सूत्र 135 (i) नेरइए णं भंते ! नेरइएसु [8]उववन्ने किं देसेणं देसं उववन्ने ?

[9]एसो वि [10]तहेव [C]जाव [11]सव्वेणं--सव्वे उववन्ने ।

(ii) जहा उववज्जमाणे [12]उव्वट्टमाणे य चत्तारि दंडगा तहा [13]उववन्नेणं [14]उव्वट्टेण वि चत्तारि दंडगा भाणियव्वा ?

सव्वेणंसव्वं [15]उववन्ने; [16]सव्वेण वा देसं [17]आहारेइ, [18]सव्वेण वा सव्वं [19]आहारेइ, एएणं अभिलावेण [20]उववन्ने वि [21]उव्वट्टेण वि नेयव्वं । ८ ।

सूत्र 135 (i) भगवन् ! नारकों में उत्पन्न हुआ नैरयिक क्या एक भाग से एक भाग को आश्रित करके उत्पन्न हुआ है ? इत्यादि प्रश्न पूर्ववत् करना चाहिए ?

गौतम ! यह दण्डक भी उसी प्रकार जानना, यावत्-सर्वभाग से सर्वभाग को आश्रित करके उत्पन्न होता है ।

(ii) जैसे उत्पद्यमान और उद्वर्तमान के विषय में चार दण्डक कहे, वैसे ही उत्पन्न और उद्वृत्त के विषय में भी चार दण्डक जानने चाहिए ?

यथा-सर्वभाग से सर्वभाग को आश्रित करके उत्पन्न होता है । तथा सर्वभाग से एक भाग को आश्रित करके आहार करता है, या सर्वभाग से सर्वभाग को आश्रित करके आहार करता है, इन शब्दों द्वारा उत्पन्न और उद्वृत्त के विषय में भी जानना चाहिए ।

---

१. उव्वट्टमाणे - पु० ॥ आहारेति - वे० म० ॥ ३. ५ सव्वेणं - अमो० घा० ॥ ७. वेमाणिया - अमो० ॥ ८. °वण्णे० । एसो वि जं० ॥ ९. एसोऽवि - पु० ॥ १०. तह चेव - लों० ला १-३-४ । तहा जेव - ला २ ॥ ११. °सव्वं - पु० घा० । °सव्व - अमो० । °सव्वे वे० म० ॥ १२. उववट्टमाणे - पु० ॥ १३. उववण्णे वि - अमो० ॥ १४. उवट्टेण वि - घा ॥ १५. उववण्णं - अमो० ॥ १६. सव्वेणं सव्वं वा देसं घा० ॥ १८. सव्वेणं सव्वं - अमो० । सव्वेणं घा० ॥ २०. उववण्णे उव्वट्टे वि नेयं° - अमो० ॥ २१. उव्वट्टे वि - वे० म० । उव्वट्टे वि - जं० ॥ A– सूत्र १३२ (i) ॥ B– सूत्र १ से २४ तक ॥ C– सूत्र १३१ (i) ॥

सूत्र 136 नेरइए णं भंते ! नेरइएसु उववज्जमाणे किं अद्धेणं अद्धं [1]उववज्जइ १ ? अद्धेणं सव्वं [2]उववज्जइ २ ? सव्वेणं अद्धं उववज्जइ ३ ? सव्वेणं सव्वं [3]उववज्जइ ४ ?

जहा पढमिल्लेणं अट्ठ दंडगा तहा अद्धेण वि अट्ठ दंडगा [4]भाणियव्वा । नवरं जहिं देसेणं देसं [5]उववज्जइ तहिं अद्धेणंअद्धं [6]उववज्जावेयव्वं, [7]एयं णाणत्तं । [8]एते सव्वे वि सोलस दंडगा भाणियव्वा ।

सूत्र 136 भगवन् ! नैरयिकों में उत्पन्न होता हुआ नारक जीव क्या अर्द्धभाग से अर्द्धभाग को आश्रित करके उत्पन्न होता है ? या अर्द्धभाग से सर्वभाग को आश्रित करके उत्पन्न होता है ? अथवा सर्वभाग से अर्द्धभाग को आश्रित करके उत्पन्न होता हैं ? या सर्वभाग से सर्वभाग को आश्रित करके उत्पन्न होता है ?

गौतम ! जैसे पहले वालों के साथ आठ दण्डक कहे हैं, वैसे ही 'अर्द्ध' के साथ भी आठ दण्डक कहने चाहिए। विशेषता इतनी है कि—जहां एक से एक भाग को आश्रित करके उत्पन्न होता है, वहां अर्द्धभाग से अर्द्धभाग को आश्रित करके उत्पन्न होता है। ये सब मिलाकर कुल सोलह दण्डक होते हैं।

विवेचन :–

नरक में नारकी जीव किस प्रकार उत्पन्न होता है ? यह जानने के लिये गौतमस्वामी ने जब भगवान् के समक्ष चार विकल्प रखे, तब भगवान् ने फरमाया कि—हे गौतम ! नारकी जीव सर्व से सर्व को आश्रित करके उत्पन्न होता है ? इसका कारण यह है कि जब उपादान की परिपूर्णता हो जाती है, तब वस्तु भी परिपूर्ण रूप से ही उत्पन्न होती है। नरक में जाने वाले जीवों के उपादान–नरकायुष्य। बंधन, भुज्यमान पूर्वायुष्क का क्षय होने पर नरक में सर्वरूप से उत्पत्ति होती है।

मूलपाठ में नरक में जाने से पहले ही जीव को नैरयिक शब्द से संबोधित किया है। इसका तात्पर्य यह है कि यद्यपि जीव विग्रहगति में ही चल रहा है, उसने पूर्व के औदारिक शरीर को तो त्याग दिया है और नैरयिक शरीर को भी प्राप्त नहीं किया, किन्तु नैरयिक शरीर की प्राप्ति करने के लिये गति कर चुका है। यह गति नरकायु के बल पर ही हो सकती है क्योंकि पूर्व आयु के समाप्त होने पर आने वाली आयुष्य का उदय हो जाता है अतः ऐसे जीव को चलमाणे चलिए के सिद्धान्तानुसार नैरयिक शब्द से संबोधित किया जा सकता है।

उववज्जति - बे० म० ॥ ४. भाणितव्वा - बे० म० ॥ ६. उववज्जइ इति भाणियव्वं एवं णाणत्तं - पु० । उववज्जइ ति भाणियव्वं एवं णाणत्तं एवं सव्वे वि - ममो । उववज्जइ इति भाणियव्वं एवं णाणत्तं पा० न० मु० ॥ ७. एवं० ला० ॥ ८ एए सव्वे पा० ॥

उत्पत्ति के प्रथम समय में ही जीव अपने आत्म प्रदेशों के द्वारा आहार ग्रहण करता है। अत: उत्पत्ति के पश्चात् ही आहार विषयक प्रश्न किया गया है। प्रथम समय में गृह्यमाण आहार सर्वभाग को आश्रित करके किया जाता है। जिस प्रकार तप्त कड़ाई में गिरने वाला मालपुआ प्रथमक्षण में गृह्यमाण तेल को सर्वरूप से ग्रहण करता है। उत्पत्ति के अनन्तर समयों में नैरयिक जीव कितनेक पुद्गलों का आहार करता है। कितनेक पुद्गलों को छोड़ देता है। जिस प्रकार कुछ क्षणों बाद मालपुआ भी कुछ तेल ही ग्रहण करता है। अत: उत्पत्ति के प्रथमक्षण में "सव्वेणं सव्वं आहारेइ" और समयान्तर में "सव्वेणं देसं आहारेइ' विकल्प घटता है।

उत्पाद का विलोम उद्वर्तन है। इसीलिए गौतमस्वामी ने नैरयिकों की उत्पत्ति विषयक प्रश्न किया है। भगवान् ने फरमाया उत्पाद के अनुसार–उद्वर्तन जानना चाहिये। सर्व से देश का और सर्व से सर्व का ये दो विकल्प होते हैं। इसी प्रकार उत्पन्न हुआ, उद्वृत्त हुआ, भूतकालिक के विषय में भी प्रश्नोत्तर जानना चाहिये। सब मिलाकर यहां आठ दण्डक बनते है।—

१—उत्पन्न होता हुआ २—उत्पन्न होता हुआ आहार लेता है। ३—उद्वर्तता (निकलता) हुआ ४—उद्वर्तता हुआ आहार लेता है। ५—उत्पन्न ६—उत्पन्न हुआ आहार लेता है। ७—उद्वर्तता हुआ ८—उद्वर्तना हुआ आहार लेता है।

उक्त प्रकार से उत्पादादि के विषय में आठ दण्डक बनते है। इसी प्रकार अर्द्ध से अर्द्ध, अर्द्ध से सर्व आदि जीव के उत्पादादि विषयक अष्ट दण्डक जानने चाहिये।

कुल मिलाकर सोलह दण्डक होते है। "देश शब्द के पाव, आधा, पौन आदि अर्थ भी निकलते है किन्तु" अर्द्ध' शब्द से बराबर आधा टुकड़ा अर्थ ही निकलता है। इसी अर्थ भिन्नता से गौतमस्वामी ने भगवान् से देश और अर्द्ध के अलग २ प्रश्न किये। आत्मा देशत: या अर्द्धभाग उत्पन्न नही होती क्योंकि उसका विभाग नहीं हो सकता। उत्पत्ति के समय या उद्वर्तन के समय जीव प्रदेश इलिका गति से गमन करने पर भी एक ही स्थान पर पहुँचेगे। वे विभिन्न स्थानों पर उत्पन्न नही होते।

जीवों की विग्रहगति-अविग्रहगति संबंधो चर्चा—

उत्थानिका—

पूर्व सूत्र में अन्य गतियों से अपान्तराल में होते हुए नरक गति में जाने वाले जीवों की व्याख्या की गई। प्रस्तुत सूत्र में उस अपान्तराल में होने वाली जीव की विग्रह गति विषयक वर्णन किया जा रहा है।

सूत्र 137 (i) जीवे णं भंते ! किं विग्गह[1]गति समावन्नए ? अविग्गह[2]गति समावन्नए ?

गोयमा ! सिय विग्गह[3]गति समावन्नए, सिय अविग्गह[4]गति समावन्नगे ।

(ii) एवं जाव वेमाणिए ।

सूत्र 138 (I) जीवा णं भंते ! किं विग्गह[5]गति समावन्नगा ? अविग्गह[6]गतिसमावन्नगा ?

गोयमा ! विग्गह[7]गति समावन्नगा वि, अविग्गह[8]गति समावन्नगा वि ।

(II) नेरइया णं भंते ! किं विग्गह[9]गति[10]समावन्नगा ? अविग्गह[11]गति[12]समावन्नगा ?

गोयमा ! सव्वे वि ताव[13]होज्जा अविग्गह[14]गति समावन्नगा 1, अहवा अविग्गह[15]गति समावन्नगा[16]य विग्गह[17]गति[18]समावन्नगे य २,[19]अहवा अविग्गह[20] गति[21]समावन्नगा य विग्गह[22]गति समावन्नगा य ३, एवं जीव[23]एगिंदियवज्जो तियभंगो ।

सूत्र 137 (i) भगवन् ! क्या जीव विग्रहगति समापन्न है ? अथवा अविग्रहगति समापन्न है ?

गौतम ! कभी (वह) विग्रहगति को प्राप्त होता है, और कभी विग्रह गति को प्राप्त नहीं होता ।

(ii) इसी प्रकार वैमानिक पर्यन्त जानना चाहिए।

सूत्र 138 (i) भगवन् ! क्या बहुत से जीव विग्रह गति को प्राप्त होते हैं ? अथवा विग्रहगति को प्राप्त नहीं होते हैं ?

गौतम ! बहुत से जीव विग्रह गति को प्राप्त होते हैं और बहुत से जीव विग्रह गति को प्राप्त नहीं भी होते ।

(ii) भगवन् ! क्या नैरयिक विग्रह गति को प्राप्त होते हैं या विग्रह गति को प्राप्त नहीं होते ?

गौतम ! कभी वे सभी विग्रह गति को प्राप्त नहीं होते, अथवा (कभी) बहुत से विग्रहगति को प्राप्त नहीं होते और कोई-कोई विग्रह गति को प्राप्त होता है। अथवा (कभी) बहुत से जीव विग्रह गति को प्राप्त नहीं होते और बहुत से (जीव) विग्रहगति को प्राप्त होते हैं। यों जीव सामान्य और एकेन्द्रिय को छोड़कर सर्वत्र इसी प्रकार तीन-तीन भंग कहने चाहिए।

१-२. °गइस° - अगो० ॥ ३. °गइग° - पु० अगो० न० । °गइसमावन्नगे पा० ॥ ५. °गइसमावन्नगा - पु० म० । °गइ° अगो० पा० ॥ ६. °गइस° पु० अगो पा० । °गइसमावन्नगा - म० ॥ °गइग° - पु० अगो० पा० म० ॥ १०. °वन्नग° पु० पा० ॥ १२. °वन्नगा - पा० ॥ १३. होज्ज - न० ॥ १६. य - नत्थि न० ॥ १८. °समावन्ने य - पु० ॥ १९. -वा एगे अविग्गह गति समावन्नगे य विग्गह गति समावन्नगा य । एवं जीव- - गा ३ ॥ २१. -वन्ने य - गा २१ २२. -गइस- - पु० अगो० पा० न० ॥ २३. जीवे- गिदियं- - पु० । जीवे एगिन्दियवज्जे ति- - को० ॥

A— सूत्र १ से २४ तक ॥

विवेचन—

प्रस्तुत सूत्र में जीव की अपान्तराल में होने वाली गति के विषय में विचार किया गया है। वह गति विग्रह और अविग्रह के भेद से दो प्रकार की है। उत्पत्तिस्थान पर पहुँचने के लिए जब जीव को मुड़ना पड़ता है तो उसे विग्रहगति कहते है। बिना किसी मोड़-विग्रह के जीव जब अपने उत्पत्ति स्थान पर पहुँच जाता है, उसे अविग्रह गति कहते है। जब जीव अपान्तराल से अतिरिक्त अन्य किसी भी गति मे विद्यमान हो, उस स्थितावस्था को भी अविग्रह गति के रूप में विवक्षित किया जाता है।

एक की अपेक्षा से जीव कभी विग्रहगति समापन्न होता है तो कभी अविग्रहगति समापन्न होता है। बहुत की अपेक्षा से बहुत जीव अविग्रहगति समापन्न होते हैं। जीवों की अनन्तता होने से विग्रह और अविग्रह दोनों गतियों में प्रतिसमय बहुत जीव होने मे कोई आपत्ति नही है। इसी प्रकार एकेन्द्रिय में भी जानना चाहिये। वनस्पति की अनन्तता से एकेन्द्रिय भी अनन्त है।

सामान्य जीवों की अपेक्षा नरकगत जीवों की अल्पता होने से उनमें तीन भंग पाये जाते हैं।—

१—किसी समय सभी जीव अविग्रहगति समापन्न होते हैं।
२—कभी कोई एक विग्रहगति समापन्न होता है तो बहुत जीव अविग्रहगति समापन्न होते हैं।
३—कभी बहुत जीव विग्रहगति समापन्न होते हैं तो बहुत जीव अविग्रहगति समापन्न होते हैं।

देव का च्यवनान्तर आयुष्य प्रतिसंवेदन निर्णय—

उत्थानिका:—

गति का प्रकरण होने से पूर्व सूत्र में विग्रह गति विषयक वर्णन किया गया है। प्रस्तुत उसी विग्रह अविग्रह गति में देवलोक से च्यवकर तिर्यंच या मनुष्य लोक में आने वाले जीवों का वर्णन किया जा रहा है।

सूत्र 139 देवे णं भंते! [१]महिड्ढिए [२]महज्जुईए महब्बले [३]महायसे [४]महासुक्खे [५]महाणुभावे [६]अविउक्कंतियं चयमाणे किंचि[७] वि कालं [८]हिरिवत्तियं [९]दुगुं-

सूत्र १३९ भगवन्! महान् ऋद्धिवाला, महान् द्युति वाला, महान् बल वाला, महायशस्वी, महाप्रभावशाली, मरणकाल में च्यवने वाला, महर्द्धिक देव लज्जा के कारण, घृणा के कारण, परीषह के कारण कुछ समय तक आहार नहीं

१. महिड्ढिए - पु० घा० न० वे० म०। महड्ढिए - अमो० क०। महिड्ढीए - लों० ॥ २. महज्जुइए - अमो० घा० न०। महज्जुतीए - वे० म० ॥ ३. महाजसे - अमो० घा० ॥ ४. महेसक्खे - अमो० न० वे० म०। महासोक्खे - घा० मं० वृपा० लों० अवृपा०। °सुखे - ला ४ ॥ ५. °भागे अवि ला० ॥ ६. °य चयं चय° - घा० अ० ला० व० मं० - स० वृपा० लों० ला ३ अवृपा० ॥ ७. किंचिकालं - अमो० घा० न० ला २। कंचिकालं ना० ॥ ८. हिरवत्तियं - अमो०। हिरिविसियं - म० ॥ ९. दुगंछा० - अमो० न०। दुगुञ्छ० - ला ३ ॥ १०. परिसह० - पु० अमो० घा०

छवत्तियं [१०]परिस्सहवत्तियं आहारं नो [११]आहारेइ [१२]अहे णं [१३]आहारेइ, [१४]आहारिज्जमाणे आहारिए, परिणामिज्जमाणे परिणामिए, [१५]पहीणे य आउए भवइ, [१६]जत्य [१७]उववज्जइ तमाउयं [१८]पडिसंवेइए, तं जहा—तिरिक्खजोणियाउयं वा मणुस्साउयं वा ?

हंता गोयमा ! देवे णं [१९]महिड्ढीए [A]जाव [२०]मणुस्साउयं वा ।

करता फिर आहार करता है और ग्रहण किया हुआ आहार परिणत भी होता है। अन्त में उस देव की वहाँ की आयु सर्वथा नष्ट हो जाती है। इसलिए वह देव जहां उत्पन्न होता है, वहाँ की आयु भोगता है, तो हे भगवन् ! उसकी यह आयु तिर्यंच की समझी जाए या मनुष्य की आयु समझी जाए ?

हां गौतम ! उस महाऋद्धि वाले देव का यावत् च्यवन के पश्चात् तिर्यंच का आयुष्य अथवा मनुष्य का आयुष्य समझना चाहिए।

विवेचन—

महान् ऋद्धि-द्युति—यशादि विशेषताओं से सम्पन्न देव स्वायुष्क समाप्ति पर जब वह देवलोक से चलकर अपने उत्पत्ति स्थान पर आने लगता है, उस समय वह देव अपने उत्पत्ति स्थान तिर्यञ्चनी या मनुष्य स्त्री के गर्भाशय को अवधिज्ञान के द्वारा देखकर लज्जित होता है, क्योंकि देवस्थान की अपेक्षा से वह हीन और अशुचिमय होता है । वीर्य और रज की भयानक दुर्गन्ध से भरा होने के कारण उसे घृणा होती है । अरतिरूप परीषह के कारण वह बेचैन हो उठता है । इसी कारण वह देव कुछ समय तक आहार भी नहीं करता ।

देवायुष्क समाप्त होने पर देव की गति मनुष्य अथवा तिर्यंच की ही होती है । देव मरकर सीधा पुन: देव रूप में या नरक लोक में नहीं जा सकता ।

गर्भगतजीव-सम्बन्धी चर्चा—

उत्थानिका—

पूर्व सूत्र में गर्भ की अशुचिता पर कुछ विचार किया गया । प्रस्तुत सूत्र में गर्भ में उत्पद्यमान जीव इन्द्रिय युक्त होता है या इन्द्रिय रहित होता है ? शरीर युक्त होता है या शरीर रहित होता है ?

१०. अरति परिषहा प्रायः - अमु: ॥ ११. आहारेति - वे० म० ॥ १२. अथ लज्जादिशमनान्तरम् - अमु० ॥ १४. ०हारिज्जउ - अमो० ॥ १५. ०हे एय आउ - का० ॥ १६. जत्थुप्प० गो० ॥ १७. ०उववं - वे० म० ॥ १८. ०संवेदेइ - ति० - अमो० । संवेदेइ - पा० म० । संवेदेति - वे० म० ॥ १९. महड्ढीए - अमो० पा० ॥ २०. ०उयं - वे० म० ॥

A महज्जुइए महब्बले महायसे महेसक्खे महाणुभावे अविउक्कंतियं चयमाणे किंचिकालं हिरिवत्तियं दुगुंछावत्तियं परिसहवत्तियं आहारं नो आहारेइ । अहे णं आहारेइ आहारिज्जमाणे आहारिए परिणामिज्जमाणे परिणामिए पहीणे य आउए भवइ । जत्थ उववज्जइ तं आउयं पडिसंवेदेइ, तंजहा—तिरिक्खजोणियाउयं वा ॥

; गर्भ में उत्पन्न होकर सर्व प्रथम क्या करता है ? क्या खाता है आदि अनेक विषयों पर आगे के सूत्रों विचार किया जा रहा है ।

त्र 140 जीवे णं भंते ! गब्भं वक्कम-
ाणे किं सइंदिए [1]वक्कमइ ? अणिंदिए
क्कमइ ?

गोयमा ! सिय सइंदिए वक्कमइ,
य अणिंदिए [3]वक्कमइ ।
[4]से [5]केणट्ठेणं[A] ?

गोयमा ! दव्विंदियाइं पडुच्च अणिं-
दिए [6]वक्कमइ, भाविंदियाइं पडुच्च
इंदिए [7]वक्कमइ, से तेणट्ठेणं [B] ० ।

1ı0 भगवन् ! गर्भ में उत्पन्न होता हुआ जीव, क्या इन्द्रिय सहित उत्पन्न होता है? या इन्द्रिय-रहित उत्पन्न होता है

गौतम ! इन्द्रिय सहित भी उत्पन्न होता है, और इन्द्रिय रहित भा उत्पन्न होता है ।

भगवन् ! ऐसा आप किस कारण से कहते है। गौतम ! द्रव्येन्द्रियों की अपेक्षा वह बिना इन्द्रियों के उत्पन्न होता है, और भावेन्द्रियों की अपेक्षा इन्द्रियों सहित उत्पन्न होता है ।

इसलिए गौतम ! ऐसा कहा गया है ।

त्र 141 जीवे णं भंते ! गब्भं वक्कम-
ाणे [8]किं ससरीरी वक्कमइ ? अस-
रीरी वक्कमइ ?

गोयमा ! सिय ससरीरी [9]वक्कमइ,
सिय असरीरी [10]वक्कमइ ।
[11]से केणट्ठेणं[C] ?

गोयमा ! ओरालिय-वेउव्विय-[12]आहा-
रयाइं पडुच्च असरीरी [13]वक्कमइ,
तेया-कम्माइं पडुच्च ससरीरी [14]वक्क-
मइ, से तेणट्ठेणं गोयमा ।

सूत्र 141 भगवन् ! गर्भ में उत्पन्न होता हुआ जीव, क्या शरीर सहित उत्पन्न होता है, अथवा शरीर रहित उत्पन्न होता है ?

गौतम ! शरीर सहित भी उत्पन्न होता है, शरीर रहित भी उत्पन्न होता है ।

भगवन् ! यह आप किस कारण से कहते हैं ? गौतम ! औदारिक, वैक्रिय और आहारक शरीरों की अपेक्षा शरीर रहित उत्पन्न होता है तथा तैजस कार्मण शरीर की अपेक्षा शरीर सहित उत्पन्न होता है इस कारण गौतम ऐसा कहा है ।

१-६-७. वक्कमति - वे० म० ॥ २. ०मति मति - वे० ॥ ३. ०इ । गो० दव्विंदि० ला १ ॥ ४. से केणं ? गोयमा - ला २-४ ॥ ५. ०णं भंते गोयमा - घा० ॥ ८. किं सरीरी - अमो० ॥ ११. से केणं ? गो० - लीं० ला १-२ ॥ १२. आहारादी - अ० व० । आहाराइ - ता० स० । आहारजाइं - ला ४ । आहाराइ ला० ला २ ॥

A. भंते एवं वुच्चइ सिय सइंदिए वक्कमइ सिय अणिंदिए वक्कमइ ॥
B. गोयमा एवं वुच्चइ सिय सइंदिए वक्कमइ सिय अणिंदिए वक्कमइ ॥
C. भंते एव वुच्चइ सिय ससरीरी वक्कमइ सिय असरीरी वक्कमइ ॥
D. एवं वुच्चइ सिय ससरीरी वक्कमइ सिय असरीरी वक्कमइ ॥

सूत्र 142 जीवे णं भंते ! गब्भं वक्कममाणे [१]तप्पढमयाए [२]किमाहारमाहारेइ?

गोयमा ! [३]माउओयं पिउसुक्कं तं [४]तदुभयसंसिट्ठं कलुसं [५]किब्बिसं [६]तप्पढमयाए [७]आहारमाहारेइ।

सूत्र 142 भगवन् ! गर्भ में उत्पन्न होते ही जीव सर्वप्रथम क्या आहार करता है ?

गौतम ! परस्पर एक दूसरे से मिला हुआ माता का रज और पिता का वीर्य जो कलुष और किल्बिष है, जीव गर्भ में उत्पन्न होते ही सर्वप्रथम उसका आहार करता है।

सूत्र 143 जीवे णं भंते ! [८]गब्भगए समाणे [९]किमाहारमाहारेइ ?

गोयमा ! जं से [१०]माया [११]णाणाविहाओ [१२]रसविगईओ [१३]आहारमाहारेइ [१४]तदेक्कदेसेणं [१५]ओयमाहारेइ।

सूत्र 143 भगवन् ! गर्भ में गया हुआ जीव क्या आहार करता है ?

गौतम ! उसकी माता जो नाना प्रकार की (दुग्धादि) रस विकृतियों का आहार करती है, उसके एक भाग के साथ गर्भगत जीव माता के रज का आहार करता है।

144 जीवस्स णं भंते ! [१६]गब्भगयस्स समाणस्स अत्थि उच्चारे इ वा [१७]पासवणे इ [१८]वा सिंघाणे इ वा वंते इ वा पित्ते इ [१९] वा ?

णो इणट्ठे समट्ठे।

[२०]से [२१]केणट्ठेणं ?

गोयमा ! जीवे णं गब्भगए समाणे [२२]जमाहरेइ तं [२३]चिणाइ [२४]तं [२५]सोइं-

सूत्र 144 भगवन् ! क्या गर्भ में रहे हुए जीव के मल होता है, मूत्र होता है, नाक का मैल होता है, वमन होता है, पित्त होता है ?

गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है।

भगवन् ! ऐसा आप किस कारण से कहते हैं ?

गौतम ! गर्भ में आने पर जीव जो आहार करता है, जिस आहार का चय करता है, उस आहार को श्रोत्रेन्द्रियके रूप में यावत् [illegible]

१-६०[illegible] - ये० म० ॥ २. कमाहार० - अमो० । ०हारेति ये० म० ॥ ३. मातुउयं - सा० । मातुं ओयं पिउं सु० - मो० । माउयं ओयं पिउ सुक्कं सा २ । मातुउयं पिउसुक्कं सा ४ ॥ ४. ०भयंसंसि - पा० । [illegible] म० । [illegible] सा० ॥ ५. [illegible] मो० ॥ ७-९. ०हारेति - ये० म० । ८. गब्भे गते म० - मो० ॥ १०. माता - ये० म० ॥ ११. [illegible] विहाओ - पा० ॥ १२. रसविगतीओ - न० । रसवतीओ - अ० क० ये० म० । रसविगीओ - सा० । [illegible] सा० - सा १-२ । रसविगतीओ - ये० म० ॥ १३. हारेति - ये० म० ॥ १४. तदेग देसेणय ओय० - अमो० । [illegible] देसेणं ओयं आहा० - पा० । तदेक देसेणं - न० । तदेगदे० - मो० । तदेकदे० - सा १ । तदेक देस ओ० - [illegible] १६. ०गयस्स - ये० म० ॥ १७. पासवणा [illegible] वा खेला [illegible] वा सिंघाणा [illegible] वा - मो० ॥ १८. वा सिंघाणे [illegible] वंते [illegible] वा [illegible] - सा ४ । वा समाणे [illegible] ॥ १९ वा गोयमा णो - अमो० पा० । वा - [illegible] क० मा० म० ॥ २०. से केणं [illegible] सा १ ॥ २१. ०णं भंते पा० । केणट्ठेणं भंते । जीवस्स णं गब्भगयस्स समाणस्स अत्थि उच्चारे इ वा वा० ५ ? गो० णो णं ॥ २२. जमाहारेइ - पु० अमो० म० । जं आहारेइ - पा० [illegible] ये० म० ॥ २३. चिणोति - सा १ । २४. तमंग सो० - म० ॥ २५. [illegible] - ये० म० २६. [illegible]

दियत्ताए [A]जाव फासिंदियत्ताए अट्ठि-[२६]अट्ठिमिंज-केस-मंसु-रोम-[२७]नहत्ताए, से [२८]तेणट्ठणं[B] ०।

नेन्द्रिय के रूप में तथा हड्डी मज्जा, केश, दाढ़ी मूंछ, रोम और नखों के रूप में परिणत करता है। इसलिए हे गौतम ! गर्भ में गए हुए जीव के मल-मूत्रादि नहीं होते।

सूत्र 145 जीवे णं भंते ! [१]गब्भगए समाणे पभू मुहेणं कावलियं आहारं [२]आहारित्तए ?

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे ।

[३]से केणट्ठेणं ?

गोयमा ! जीवे [४]णं गब्भगए समाणे [५]सव्वओ [६]आहारेइ [७]सव्वओ [८]परिणामेइ, [९]सव्वतो [१०]उस्ससइ, [११]सव्वओ [१२]निस्ससइ, [१३]अभिक्खणं [१४]आहारेइ, अभिक्खणं [१५]परिणामेइ, अभिक्खणं [१६]उस्ससइ, अभिक्खणं [१७]निस्ससइ, आहच्च [१८]आहारेइ, आहच्च [१९]परिणामेइ, आहच्च [२०]उस्ससइ, आहच्च [२१]नीससइ। [२२]माउजीवरसहरणी पुत्तजीवरसहरणी [२३]माउजीव पडिबद्धा

सूत्र 145 भगवन् ! गर्भगत जीव क्या मुख से कवलाहार (ग्रास रूप आहार) ग्रहण करने में समर्थ है ?

हे गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है।

हे भगवन् ! यह आप किस कारण से कहते हैं?

गौतम ! गर्भगत जीव सारे शरीर से आहार करता है। सर्व रूप से परिणमाता हैं। सर्वात्म से उच्छ्वास करता है। सर्वात्म से निच्छ्वास करता है। बार-बार आहार ग्रहण करता है। बार-बार परिणमित करता है। बार-बार निच्छ्वास लेता है। कदाचित् आहार ग्रहण करता है। कदाचित् परिणमित करता है। कदाचित् उच्छ्वास लेता है। कदाचित निच्छ्वास लेता है। तथा पुत्र के जीव को रस पहुँचाने में कारण भूत और माता के रस लेने में कारणभूत जो मातृजीव रसहरणी नाम की नाड़ी है, वह माता के जीव के साथ सम्बद्ध है

ला २ ॥ २७. ए रसत्ताए से तेणं गो० । गब्भगतस्स जीवस्स नत्थि उच्चारे इ वा पा० ५। जीवे - णों सं० ॥ २८. से तेणं० जीवे - ला १—४ ॥

A. चक्खिदियत्ताए घाणिंदियत्ताए रसिंदियत्ताए ॥

B. गोयमा एवं वुच्चइ जीवस्स णं गब्भगयस्स समाणस्स णत्थि उच्चारे इ वा पासवणे इ वा खेले इ वा सिंघाणे इ वा वंते इ वा पित्ते इ वा ॥

१—४. गते - बे० म० ॥ २. °ए ? णो इण° - लों० ला १ ॥ ३. से केणं ? गो° - लों० ला० ॥ ५-७-११. सव्वतो - बे० म० ॥ ६. आहारेति - बे० म० ॥ ८. °मेति - बे० म० ॥ ९. सव्वओ - पु० अमो० धा० म० ॥ १०-१२-१६-१७-२०. °सति - बे० म० ॥ १३. अभिक्खण - अमो० ॥ १४-१८. आहारेति - बे० म० ॥ १५-१९-२६. °मेति - बे० म० ॥ २१. निस्ससइ - अमो० न० । नीससति - अ० क० ता० मं० स० बे० म० ॥ २२-२३. माउजीव° - बे०

[२४]पुत्तजीवं [२५]फुडा तम्हा आहारेइ, तम्हा [२६]परिणामेइ, [२७]अवरा वि य णं पुत्तजीवपडिबद्धा [२८]माउजीवफुडा तम्हा [२९]चिणाइ, तम्हा [३०]उवचिणाइ; से तेणट्ठेणं० [A]जाव नो पभू मुहेणं [३१]कावलियं आहारं [३२]आहारित्तए ।

और पुत्र के जीव रस लेने में सहायक नाड़ी साथ जुड़ी हुई है। उस नाड़ी द्वारा वह आ लेता है। और आहार को परिणमाता है। एक और नाड़ी है, जो पुत्र के जीव के सम्बद्ध है, उससे पुत्र का जीव आहार का करता है और उपचय करता है इस कारण हे गौतम ! गर्भगत जीव मुख द्वारा कवल आहार को लेने में समर्थ नहीं है।

विवेचन :-

इन्द्रिय के दो भेद है—द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय। द्रव्येन्द्रिय—पौद्गलिक रचना विशेष को कहते हैं। भावेन्द्रिय तत्सम्बन्धी आन्तरिक शक्ति को कहते है। द्रव्येन्द्रिय के दो भेद है—निर्वृत्ति द्रव्येन्द्रिय और उपकरण द्रव्येन्द्रिय। बाह्याकृति विशेष को निर्वृत्ति इन्द्रिय और उसके सहायक को उपकरणेन्द्रिय कहते है।

लब्धि और उपयोग के भेद से भावेन्द्रिय दो प्रकार की है—लब्धि शक्ति विशेष है, जिसके द्वारा आत्मा शब्दादिक ज्ञान प्राप्त करता है। तत्संबन्धित ज्ञान को ग्रहण करने का व्यापार उपयोग है।

जब आत्मा एक गति से दूसरी गति में गमन करता है, उस समय उसके भावेन्द्रियां होती हैं।

शरीर पांच प्रकार के हैं—औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण। आदि के तीन स्थूल शरीर और अन्त के दो सूक्ष्म शरीर हैं। अन्त के दो शरीर जगत् की सम्पूर्ण संसारी आत्माओं के साथ रहते हैं। तैजस शरीर गृहीत आहार को पचाने का कार्य करता है। कर्मों का समूह कार्मण शरीर है। तैजस कार्मण की अपेक्षा जीव सशरीर गर्भ में आता है। औदारिक, वैक्रिय और आहारक की अपेक्षा शरीर रहित गर्भ में आता है।

गर्भ में उत्पद्यमान जीव के प्रथम समय का आहार माता का आर्तव और पिता का वीर्य होता है। तदनन्तर माता द्वारा गृहीत रस और एक भाग आर्तव का आहार करता है। उस समस्त आहार को पांचों इन्द्रियों और हड्डी, मिज्जा, केश, दाढी, रोम आदि के रूप में परिणमित कर देता है। गर्भस्थ जीव के अशुचि आदि नहीं होते है। गर्भस्थ जीव का रसाहार "मातृजीवरसहरणी" नामक नाड़ से होता है। इसे नाभिका नाल भी कहते है। यह माता के जीव के साथ गाढ़ रूप से प्रतिबद्ध होती है। पुत्र के जीव के साथ स्पृष्ट मात्र होती है दूसरी एक और नाड़ी होती है, उसे 'पुत्रजीवरसहरणी' नाड़ी कहा जाता है। यह पुत्र जीव के साथ गाढ़ रूप से प्रतिबद्ध होती है। माता के जीव के साथ स्पृष्ट होती है। इस नाड़ी से गर्भस्थ जीव रसाहार का चय-उपचय करता है, जिससे शारीरिक पुष्टि प्राप्त होती है।

म० ॥ २४. ०और - पा० म० । जीव फुडा तम्हा - ला २-४ ला० ॥ २५. फुडा तम्हा परिणामेति अव० ... २७. अविरा - अमो० । अवरा य णं ला १ ॥ २८. जीवं फुडा तृ ॥ २९-३०. चिणाति - दे. म० ॥ ३१. ... ला २ ॥ ३२. आहारि० - मा० ॥

A-गोयमा एवं बुच्चइ जीवे णं गब्भगए समाणे ॥

गर्भस्थात्मा के अङ्गादि—

उत्थानिका—

पूर्व सूत्र में गर्भगत जीव की अनेक प्रक्रियाओं का वर्णन किया गया, प्रस्तुत सूत्र में गर्भ रूप जीव द्वारा पिता का शुक्र और माता का आर्तव जो आहार के रूप में ग्रहण किया गया, उससे गर्भस्थ जीव के किन-किन अंगों का किस-किस की प्रधानता से निर्माण होता है। एतद् विषयक वर्णन किया जा रहा है।

सूत्र 146 [1]**केति णं भंते ! [2]माइअंगा पण्णत्ता ?**

गोयमा ! तओ [3]माइअंगा पण्णत्ता ! तंजहा–मंसे [4]सोणिए [5]मत्थुलुंगे ।

सूत्र 147 कति [6]णं भंते ! [7]पिइयंगा पण्णत्ता ?

गोयमा ! तओ [8]पिइयंगा पण्णत्ता । तं जहा-अट्ठि अट्ठिमिंजा केस-मंसु-रोम-नहे ।

सूत्र 148 [9]**अम्मापिइए णं भंते ! सरीरए [10]केवइयं कालं [11]संचिट्ठइ ?**

गोयमा ! [12]जावइयं से कालं [13]भव-धारणिज्जे सरीरए [14]अव्वावन्ने [15]भवइ

सूत्र 146 भगवन् ! (जीव के शरीर में) माता के कितने अंग कहे गये हैं ?

गौतम ! माता के तीन अंग कहे गये हैं, वे इस प्रकार है (१) मास (२) शोणित (रक्त) और (३) मस्तक का भेजा (दिमाग) ।

सूत्र 147 भगवन् ! पिता के कितने अंग कहे गये हैं ?

गौतम ! पिता के तीन अंग कहे गये हैं। वे इस प्रकार हैं—(१) हड्डी (२) मज्जा और (३) केश, दाढ़ी-मूंछ, रोम, तथा नख ।

सूत्र 148 भगवन् ! माता और पिता के अंग संतान के शरीर में कितने काल तक रहते है।

गौतम सन्तान का भवधारणीय शरीर जितने समय तक रहता है, उतने समय तक वे अंग

१-६. कइ णं - पु० अमो० घा० न० ॥ २-३. माइयंगा - घा० न० लो० । मातअंगा - वे० म० ॥ ४. ०सोणिते - वे० म० । ०णिते - ला १ ॥ ५. मत्थुलुंगं - अमो० । ०लुए - अ० क० म० । ०लिंगे - मं० । मत्थुलुंग त्ति मस्तक भेज्रकम् । अन्ये त्वाहु. मेद. फिप्फिसादि मस्तुलुङ्गम्" - अवृ० ॥ ७. पेइयंगा - अमो० - पेतियंगा - न० । पिति-यंगा - अ० मं० स० वे० म० । पइयंगा - ला० । पीतियं० ला १ । पितीयंगा - ला ४ । पीइयंगा - लो० । ८. पेइ-यंगा - अमो० । पेतियंगा - न० वे० म० । पीइअंगा - लो० । पिइअंगा ला ४ ॥ ९. अम्मापेइ एणं - अमो० । ०म्मापेइए - न० । ०म्मापेतिए - वे० म० । अम्मापितिए णं - ला ४ ॥ १०. केवइकालं - लो० ला० ॥ ११-१२. संचिट्ठति - वे० म० - जावतियं - वे० म० ॥ १३. धारणिज्जं - ला १ ॥ १४. अजझोववन्ने तावइयं का० - ला० ॥

१६एवतियं कालं १७संचिट्ठइ, अहे णं समए सामए १८वोक्कसिज्जमाणे २ १९चरमकालसमयंसि वोच्छिन्ने भवइ।

रहते हैं। और जब भवधारणीय शरीर क्रमशः समय पर हीन होता हुआ अन्तिम समय में नष्ट हो जाता है, तब माता पिता के अंग भी नष्ट हो जाते हैं।

विवेचन :—

जिन अंगों में माता का आर्तव भाग अधिक पाया जाता है, उसे मातृ अंग और जिन अंगों में पिता के वीर्य का भाग अधिक पाया जाता है, उसे पितृ अंग कहते है। मातृ अंग तीन हैं—मांस, रक्त, मस्तुलुंग (दिमाग अथवा मेद फिप्फसादि) पितृ अंग भी तीन है—हड्डी, मज्जा, केश-रोमादि। इनके अतिरिक्त अवशेष अंग माता-पिता के सम्मिलित शक्ति के होते है। जब तक संतान के भवधारणीय शरीर रहता है, तब तक माता-पिता की शक्ति से निर्मित अंग भी रहते हैं। जब भवधारणीय शरीर पूर्ण नष्ट हो जाता है तब ये अंग भी नष्ट हो जाते हैं।

मातृ-पितृ अंगों का अवस्थान कहां तक संतति के साथ रहता है। एतद् विषयक समाधान करते हुए भगवान ने फरमाया कि भवधारणीय शरीर की समाप्ति के साथ मातृ-पितृ अंगों की भी समाप्ति हो जाती है तब ये अंग भीनष्ट हो जाते हैं।

यहाँ भवधारणीय से तात्पर्य यह है कि मनुष्यादि भव को धारण करना। मनुष्यादि भव के धारण में, शरीर से अधिक आयुष्य की प्रधानता होती है अर्थात् जिस भव के शरीर को धारण करने योग्य आयु पूर्व जन्म में बंधी है, उस आयुष्य के रहते हुए भवधारणीय शरीर रहता है आयुष्य के दलिकों की समाप्ति पर भवधारणीय शरीर भी समाप्त हो जाता है। अतः भवधारणीय शरीर से भव सम्बन्धी आयु की प्रधानता यहां समझनी चाहिये। आयु दो प्रकार की मानी गई है—अपवर्तनीय एवं अनपवर्तनीय।

अनपवर्तनीय आयुष्य जब तक रहती है तब तक भवधारणीय शरीर रहता है। उस भवधारणीय शरीर पर कितनी भी आपत्ति आ जाय, उपक्रम लगे शरीर को छिन्न-भिन्नता करने की चेष्टा भी की जाय फिर भी वह भवधारणीय शरीर विनष्ट नहीं होता। क्योंकि अनपवर्तनीय आयुष्य जितनी बांधी गई है, अनिवार्य रूप से उतनी ही भोगनी पड़ती है।

आयु के दलिक समाप्त होने पर भवधारणीय शरीर समाप्त होता है। चाहे वह भवधारणीय शरीर किसी भी आपत्ति से रहित हो अथवा किसी प्रकार के उपक्रम भी नहीं लग पाये हों सुन्दर एवं सुडौल भी हो फिर भी वह टिक नहीं पाता। क्योंकि वह जिस के आधार टिका हुआ था वह आयु का

१५. भवति - वे० म० ॥ १६. एव इयं - पा० । एवंति कालं - मो० ॥ १८. वोयसिज्जउ - मणी० म० स्त० २-४ ॥ १९. चरिमकाले० - मणी० म० स्त० ना ४ ॥

आधार समाप्त हो चुका है। उदाहरणार्थ जैसे नैरयिकों का भवधारणीय शरीर छिन्न भिन्न भी कर दिया जाता है। पारे की तरह बारीक से बारीक हिस्से होकर अलग-२ बिखर जाता है। फिर भी वह भवधारणीय शरीर कम से कम दस हजार वर्ष, उत्कृष्ट ३३ सागरोपम तक रहता है। अतएव नैरयिक जीवों का भवधारणीय शरीर आयु पूर्ण होने से विनष्ट नहीं होता।

दूसरा उदाहरण देवों का है। देव भी अनपवर्तनीय आयु वाले है। उनके प्रभाव, सुख, द्युति लेश्या आदि मे भी विशुद्धता होती है। शस्त्रादि के प्रहार लगने पर भी उनका अनपवर्तनीय आयु और भवधारणीय शरीर कम से कम दस हजार वर्ष और अधिक मे अधिक ३३ सागरोपम तक रहता है। वैसे ही अनपवर्तनीय आयु वाले होने से असख्य वर्षायुष्क ६३ श्लाघ्य श्रेष्ठ पुरुष एवं चरम शरीरी मनुष्यों का भवधारणीय शरीर भी किसी प्रकार की बाधा एव उपसर्ग आने पर भी आयु के दलिक रहने तक रहता ही है यही दशा निरूपक्रम अवस्था में विद्यमान अपवर्तनीय आयु वाले भवधारणीय शरीर की भी हो सकती है। जिसका आशय यह है कि यदि अपवर्तनीय आयु वाले जीव भवधारणीय शरीर की भी हो सकती है। जिसका आशय यह है कि यदि अपवर्तनीय आयु वाले जीव भवधारणीय शरीर को प्राप्त कर बिना किसी उपद्रव के विधिवत् चलते हैं। तो जितनी आयु का बंध है उतने समय तक भवधारणीय शरीर चलेगा। परन्तु जिस विधि से जीवन जीना चाहिए उस विधि से नही जीया गया हो अथवा अतिभय, अतिशोक, अति चिन्ता, शस्त्र अग्नि आदि उपद्रवों से भवधारणीय शरीर क्षत विक्षत होता हुआ उस बिन्दु पर पहुंच जाता है कि जहां उस भवधारणीय शरीर की अवस्था सुरक्षित नहीं रह पाती तो भवधारणीय शरीर का आयु अधिक होने पर भी अन्तर्मुहूर्त में उस आयु का वह जीव उपभोग कर लेता है, उस आयु का उपभोग किये बिना वह भवधारणीय शरीर विनष्ट होता हुआ आयु को जल्दी भोगने में निमित्त हो सकता है पर आयु भोग के बिना समाप्त नही होता है।

प्रस्तुत प्रकरण में मातृ-पितृ अग को लेकर जिस भवधारणीय शरीर की समाप्ति के सम्बन्ध में उल्लेख आया है, उसका तात्पर्य आयु समाप्ति से लेना चाहिये।

ओज आहार का तात्पर्य उस अत्यन्त सार तत्व से है जिसमें मलभाग का सर्वथा अभाव हो। ऐसे ओज आहार को गर्भस्थ आत्मा अपनी-अपनी उत्पति के प्रथम समय में ग्रहण करता है और उस ओज आहार के द्वारा अपनी आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छवास भाषा और मन पर्याप्तियों का यथायोग्य रूप से निर्माण करता है। आहारादि पर्याप्तियों की स्वरूप व्याख्या इस प्रकार है :—

पर्याप्ति, जीव की वह शक्ति है जिसके द्वारा पुद्गलों को ग्रहण करने तथा उनको आहार शरीर आदि के रूप में बदल देने का कार्य होता है। यह पर्याप्ति छः प्रकार की होती है :—

[१] **आहार पर्याप्ति :—** बाध्य आहार पुद्गलों को ग्रहण करके खलभाग, रसभाग में परिणमाने की जीव की शक्ति विशेष की पूर्णता को आहार पर्याप्ति कहते है।

[२] **शरीर पर्याप्ति :—** रस के रूप में बदल दिये गये आहार को रक्त आदि सात धातुओं के रूप में परिणमाने की जीव की शक्ति की पूर्णता शरीर पर्याप्ति है।

[३] **इन्द्रिय पर्याप्ति :—** जीव की वह शक्ति जिसके द्वारा धातु रूप में परिणत आहार पुद्गलों में से योग्य पुद्गल इन्द्रिय रूप से परिणत किये जाते हैं, इन्द्रिय पर्याप्ति कहलाती है।

(४) श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति – श्वासोच्छ्वासयोग्य पुद्गलों को ग्रहण कर श्वासोच्छ्वास रूप में परिणत करके उन्हें वापस छोड़ने की जीव की शक्ति की पूर्णता को श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति कहते हैं।

(५) भाषा पर्याप्ति – जीव की वह शक्ति, जिसके द्वारा भाषावर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण करके उसे भाषा रूप में परिणत किया जाय और उसका आधार लेकर अनेक प्रकार की ध्वनि रूप में छोड़ा जाय, भाषा पर्याप्ति कहलाती है।

(६) मनः पर्याप्ति – जिस शक्ति से जीव मन के योग्य मनोवर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण करके मन रूप परिणमन करे और उसकी शक्ति विशेष से उन पुद्गलों को वापस छोड़े, उसकी पूर्णता को मनः पर्याप्ति कहते है।

इस प्रकार षट् पर्याप्तियों के रूप में परिणित ओज आहार, जीव के भवधारणीय शरीर के अन्तिम समय तक रहने की बात उपर्युक्त सूत्र मे बताई गई है।

एक शंका यह हो सकती है कि माता-पिता से जिस रूप में ओज आहार प्राप्त हुआ है तो क्या उसकी क्षमता के अनुरूप ही भवधारणीय शरीर का निर्माण होगा? क्या तत्संबन्धित जीव अपनी योग्यता से शारीरिक शक्ति में न्यूनाधिकता नहीं ला सकता? यदि न्यूनाधिक्य अवस्था नहीं मानी जाय तो निर्बल माता-पिता की संतान निर्बल और बलवान माता-पिता की संतान बलवान हो होनी चाहिए। पर ऐसा प्रत्यक्ष में नहीं देखा जाता है। कभी निर्बल दम्पति की संतान बलिष्ठ एवं बलिष्ठ दम्पति की संतान निर्बल भी देखी जाती है। अतः ओज आहार से क्या समझना?

समाधान – यह सत्य है कि माता-पिता के ओज आहार से संतान के शरीर का निर्माण होता है और उस ओज आहार का अंश भवधारणीय शरीर की दृष्टि से आयुष्य के अंतिम समय तक भी चलता है। पर माता-पिता द्वारा प्राप्त ओज आहार से परिणित शरीर की शक्ति मे जीव अपनी योग्यतानुसार न्यूनाधिकता भी प्राप्त कर सकता है कमजोर माता-पिता की संतान को आहारादि का अच्छा संयोग मिलने पर वह बलवान भी हो सकती है और बलिष्ठ माता-पिता की संतान को बाद में आहारादि का अच्छा संयोग न मिलने पर वह निर्बल भी रह सकती है, ऐसा प्रत्यक्ष मे भी देखा जाता है। जैसे कि गामा पहलवान के समक्ष कुछ व्यक्तियों ने प्रश्न रखा कि आप इतने शक्तिशाली कैसे बन गये? जबकि आपके माता-पिता तो बहुत कमजोर है। क्या आपने कोई देवी साधना की है? या अन्य कोई उपाय अपनाया? तब गामा पहलवान ने उत्तर दिया–मेरी बलिष्ठता में आश्चर्यजनक कोई बात नहीं है। यह तो मनुष्य के पुरुषार्थ एवं दृढ़ संकल्प का ही परिणाम है। इसमें कोई देवी चमत्कार या अन्य कोई कारण नहीं है। एक दुबले पतले पंचवर्षीय शिशु को मेरे सुपुर्द कर दीजिए मैं उसको दूसरा गामा बना दूंगा। यदि ओज आहार की शक्ति पर ही सब कुछ निर्भर हो तो। इस

[प्र]संगों के लिये क्या उत्तर होगा ? ऐसी ही अन्यान्य कई जिज्ञासाएं सामने आ सकती है उनका उत्तर [यु]क्तियुक्त तरीके से कैसे दिया जा सकता है ? इन सभी समस्याओं का युक्तियुक्त समाधान एवं परिवर्तन-[श]ीलता की विसंगति का उत्तर तभी संभव है जबकि ओज आहार के स्कन्धों का आपेक्षिक विवेचन हो [ज]ैसा कि ऊपर किया गया है।

[स]ारांश :

छह पर्याप्तियों के स्कन्ध रूप प्रवाह का अनवरत गतिशील रहना एवं पौद्गलिक परिवर्तन-[श]ीलता के साथ परिवर्तन होना, पर्याप्ति निमित्त का मूल हेतु जो है वह ओज आहार से संज्ञित किया [ग]या है। और इसी अपेक्षा से ओज आहार की अवधि जीवन-पर्यन्त स्वीकृत करने में कोई संशय नहीं [र]हता। वैसे ही माता और पिताओं से (संतान जो) प्राप्त अंगों का सन्तान में जीवन पर्यन्त मानना और [उ]नके उपकार की उपकृति से उऋण नही होने सम्बन्धी कथन भी सुस्पष्ट एवं सत्यरूप में सिद्ध होता [ह]ै, तथा इसमें वैज्ञानिक सिद्धान्त का भी अपेक्षा दृष्टि से समावेश हो जाता है।

गर्भस्थजीव के नरक-स्वर्गगमन में हेतु—

उत्थानिका:—

पूर्व सूत्र में गर्भस्थ जीवों के अङ्गों का कर्णन किया गया। उन गर्भस्थ जीवों के अङ्गों की पूर्ति होने पर वे किन २ कारणों से नरक और स्वर्ग में गमन कर सकते हैं एतद्विषयक विवेचनकिया जा रहा है :–

[स]ूत्र 149 (I) जीवे णं भंते ! [1]गब्भगए [स]माणे नेरइएसु [2]उववज्जेज्जा ?

गोयमा ! अत्थेगइए उववज्जेज्जा, अत्थे-[ग]इए नो उववज्जेज्जा।

(II) से केणट्ठेणं[A] ?

गोयमा ! से णं सन्नी पंचिंदिए सव्वाहिं [3]पज्जत्तीहिं पज्जत्तए [4]वीरियलद्धीए

सूत्र 149 भगवन् ! गर्भ में रहा हुआ जीव क्या नारकों में उत्पन्न होता है ?

गौतम ! कोई उत्पन्न होता है और कोई नहीं उत्पन्न होता।

भगवन् ! इसका क्या कारण है ?

गौतम ! गर्भ में रहा हुआ संज्ञी पचेन्द्रिय और समस्त पर्याप्तियों से परिपूर्ण जीव, वीर्यलब्धि

१. गब्भगते - वे० म० ॥ २ उववज्जेज्जा - अमो० ॥ ३. पज्जतीएहिं - अमो०। पज्जत्तिहिं - पा० ॥ ४. ०ए विभंग-नाणलद्धीए वेउव्वि० - तंदुल०। एतत्सर्वं वर्णनं तंदुल वेयालिय नाम के प्रकीर्ण के समायाति तद् एतद् पाठान्तरं

वेउव्वियलद्धीए [5]पराणीएणं आगयं सोच्चा [6]निसम्म [7]पएसे [8]निच्छुभइ निच्छुभित्ता वेउव्वियसमुग्घाएणं [9]समोहण्णइ वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहण्णित्ता [10]चाउरंगिणिं [11]सेणं [12]विउव्वइ, [13]चाउरंगिणिं [14]सेन्नं [15]विउव्वेत्ता [16]चाउरंगिणिए सेणाए पराणीएणं सद्धिं संगामं संगामेइ, से णं जीवे अत्यकामए रज्जकामए भोगकामए कामकामए, अत्यकंखिए रज्जकंखिए भोगकंखिए कामकंखिए, [1]अत्थपिवासिए [2]रज्जपिवासिए भोगपिवासिए [3]कामपिवासिए, तच्चित्ते तम्मणे तल्लेसे तदज्झवसिए तत्तिव्वज्झवसाणे तदट्ठोवउत्ते [4]तदप्पियकरणे [5]तब्भावणाभाविए [6]एयंसि णं अंतरंसि कालं [7]करेज्ज [8]नेरइएसु उववज्जइ; से तेणट्ठेणं गोयमा । [A]जाव [9]अत्थेगइए उववज्जेज्जा, [10]अत्थेगइए नो उववज्जेज्जा ।

द्वारा, वैक्रियलब्धि द्वारा शत्रुसेना का आगमन सुनकर, अवधारण करके अपने आत्म प्रदेशों को गर्भ से बाहर निकालता है, बाहर निकालकर, वैक्रिय समुद्घात से समवहत होता है। वैक्रिय समुद्घात् से समवहत होकर चतुरंगिणी सेना की विक्रिया करता है। चतुरंगिणी सेना की विक्रिया करके उस चतुरंगिणी सेना से शत्रुसेना के साथ युद्ध करता है। वह धन का कामी, राज्य का कामी, भोग का कामी, काम का कामी, अर्थाकांक्षी, राज्याकांक्षी, भोगाकांक्षी, तथा अर्थ का प्यासा, राज्य का प्यासा, भोग पिपासु उन्हीं में चित्तवाला, उन्हीं में मन वाला, उन्हीं में आत्मपरिणाम वाला, उन्हीं में अध्यवसित, उन्हीं में प्रयत्नशील उन्हीं में सावधानता युक्त, उन्हीं के लिए क्रिया करने वाला और उन्हीं भावनाओं से भावित यदि उसी समय के अन्तर में मृत्यु को प्राप्त हो तो वह नरक में उत्पन्न होता है। इसलिए हे गौतम ! कोई कोई जीव नरक में उत्पन्न होता है और कोई नहीं उत्पन्न होता।

निसम्म ॥ ५. पराणियं आ० - अमो० । परानीयं - पा० म० बे० म० ॥ ६. निसम्म० - मा० ॥ ७. पएसे - बे० म० ॥ ८. ०ह वेउव्विय० - अमो० । निच्छुभति - बे० म० ॥ ९. [illegible] समो २ पाउ० - पु० । [illegible] पाठ० - अमो० । समोहणइ समोहणित्ता चाउरंगिणिं सेणं - पा० अ० म० । समोहणइ - मा [illegible] १०. ०णिणीए सेणाए वि० - अमो० ॥ ११. सेन्नं - पु० क० ना० ब० मे० म० । सिन्नं मा १ ॥ १२. ०इ [illegible] इत्ता पाठ० - अमो० म० । [illegible] २ चाउरंगिणीए - मा १ ॥ १३. ०रंगिणी - पु० । ०रंगिणीए सेणाए [illegible] अमो० ॥ [illegible] - बे० ॥ १५. विउव्वित्ता - पा० १६. ०रंगिणीए - पु० पा० म० बे० म० ॥

A - [illegible] अत्थेगइए उववज्जेज्जा अत्थेगइए नो उववज्जेज्जा ॥

१-२-३. ०सिते - बे० म० ४. [illegible] - बे० म० ॥ ५. [illegible] - बे० म० ॥ ६. [illegible] - पा० । [illegible] बे० म० ॥ ७. करेज्जा - अमो० ॥ ८. नेरइएसु - बे० म० ॥ ९. [illegible] नो उववज्जेज्जा [illegible] - अमो० । [illegible] मा १ ॥ १०. ०इए मा १ ॥

A - एवं पुच्छाए ॥

सूत्र 150 जीवे णं भंते ! [1]गब्भगए समाणे देवलोगेसु उववज्जेज्जा !

गोयमा ! अत्थेगइए उववज्जेज्जा, अत्थेगइए नो उववज्जेज्जा ।

से [2]केणट्ठेणं[A] ?

गोयमा ! से णं सन्नी पंचिंदिए सव्वाहिं [3]पज्जत्तीहिं [4]पज्जत्तए तहारूवस्स समणस्स वा माहणस्स वा अंतिए एगमवि [5]आरियं धम्मियं सुवयणं सोच्चा निसम्म [6]तओ [7]भवइ [8]संवेगजायसड्ढे तिव्वधम्माणुरागरत्ते, से णं जीवे धम्मकामए पुण्णकामए सग्गकामए मोक्खकामए, धम्मकंखिए [9]पुण्णकंखिए [10]सग्गकंखिए मोक्खकंखिए, धम्मपिवासिए [11]पुण्णसग्ग मोक्खपिवासिए, तच्चित्ते तम्मणे तल्लेसे [12]तदज्झवसिए [13]तत्तिव्वज्झवसाणे तदट्ठोवउत्ते [14]तदप्पियकरणे [15]तब्भावणाभाविए एयंसि णं अंतरंसि कालं [16]करेज्ज [17]देवलोएसु [18]उववज्जइ; से तेणट्ठेणं गोयमा[B] ।

सूत्र 150 भगवन् ! गर्भस्थ जीव क्या देवलोक में जाता है ।

गौतम ! कोई जीव जाता है, और कोई जीव नहीं जाता है ।

भगवन् ! इसका क्या कारण है ?

गौतम ! गर्भ में रहा हुआ संज्ञी पंचेन्द्रिय और सब पर्याप्तियों से पर्याप्त जीव, तथारूप श्रमण या माहण के पास एक भी आर्य और धार्मिक सुवचन सुनकर अवधारण करके शीघ्र ही संवेग से धर्मश्रद्धालु बनकर धर्म में तीव्र अनुराग से अनुरक्त होकर, वह धर्म का कामी, पुण्य का कामी, स्वर्ग का कामी, मोक्ष का कामी, धर्माकांक्षी, पुण्याकांक्षी स्वर्ग का आकांक्षी, मोक्षाकांक्षी, तथा धर्म पिपासु, पुण्य पिपासु स्वर्ग पिपासु एवं मोक्ष पिपासु उसी में चित्तवाला उसी में मन वाला उसी में आत्म परिणामवाला, उसी में अध्यवसित, उसी में तीव्रप्रयत्नशील, उसी में सावधानता युक्त, उसी के लिए अर्पित होकर क्रिया करने वाला, उसी की भावनाओं से भावित जीव ऐसे ही समय में मृत्यु को प्राप्त हो तो देवलोक में उत्पन्न होता है। इसलिए गौतम ! कोई जीव देवलोक में उत्पन्न होता है और कोई नहीं उत्पन्न होता ।

१. ०गते - वे० म० ।। २. ०ट्ठेणं से णं - ला० । ०ट्ठेणं - पु० अमो० घा० ।। ३. पज्जतिहिं - घा० ।। ४. ०ए वेउ० लद्धीए वीरियल० ओहिनाण लद्धीए तहारू० - तदुल० ।। ५. आयरियं - पु० ला ४ ।। ६. ततो - वे० म० ।। ७ भवति - वे० म० । ०ति तिव्व० तदुल० ।। ८. जाइसड्ढे - ब० स० । ०जात स ' वे० म० ।। ९. पुण्ण सग्ग मोक्ख कं० ला १ ।। १० सग्ग मोक्ख कं० - पु० ।। ११. पुण्णपिवासिए सग्गपिवासिए मोक्खपिवासिए - अमो० घा० न० वे० म० ।। १२. ०ए तदट्ठोवउत्ते - अमो० । ०सित तिव्व० - घा० । ०वसिते - वे० म० ।। १३. तत्तिव्वज्ज० - वे० म० ।। १४. ०प्पितक० वे० म० ।। १५. ०विते - वे० म० ।। १६. करेज्जा - अमो० ।। १७. ०लोगेसु - घा० न० ।। १८. वज्जति - वे० म० ।।

A-भंते एवं वुच्चइ अत्थेगइए उववज्जेज्जा अत्थेगइए नो उववज्जेज्जा ।।

B-एवं वुच्चइ अत्थेगइए उववज्जेज्जा अत्थेगइए नो उववज्जेज्जा ।।

विवेचन :–

प्रस्तुत सूत्र में गर्भस्थ जीव के नरक और देवलोक गमन पर विचार किया गया है।

राज्यवंश में उत्पद्यमान वैक्रियलब्धिधारी विशिष्ट ज्ञान संपन्न गर्भस्थ जीव को जब ज्ञात होता है कि मेरे राज्य पर शत्रुसेना युद्ध करने के लिये आ डटी है। पिता के पास इतनी शक्ति नहीं है या पिता की मृत्यु हो चुकी है, उस समय वह गर्भस्थ जीव अपने धन, राज्य, काम-भोग आदि की कामना, कांक्षा, पिपासा वाला होकर वैक्रियलब्धि के द्वारा अपने आत्म-प्रदेशों को शरीर से बाहर निकालकर चतुरंगिणी सेना को सजाकर शत्रुसेना के साथ युद्ध करता है। ऐसे समय पर अर्थात् राज्य आदि पर तीव्र आसक्ति और शत्रुसेना को मारने की भावना के समय पर उसकी मृत्यु हो जाय तो वह गर्भस्थजीव नरक में चला जाता है। ऐसे जीव के पास वैक्रिय शक्ति अल्प होने से विकुर्वणा के द्वारा निर्मित चतुरंगिणी सेना को पुनः समेट नहीं पाता। अतः उसी बीच में उसकी मृत्यु हो जाती है। नरक-गति केवल युद्ध से ही नहीं होता किन्तु युद्ध के साथ राज्यादि पर तीव्र आसक्ति एवं हिंसा की तीव्र भावना के कारण होती है।

इस प्रकार के गर्भस्थ सभी पर्याप्तियों से पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव तथारूप-आगम धर्म के पालक श्रमण या श्रावक के द्वारा जिनवाणी के एक वचन को भी सुनकर हृदय से धारण करता है। वह धर्म, पुण्य, स्वर्ग, मोक्ष[1] प्राप्ति की भावना के साथ मृत्यु को प्राप्त हो जाय तो देवलोक में चला जाता है।[2]

---

१. उपर्युक्त मूलपाठ में तथारूप श्रमण और माहन श्रावक से आर्य धर्म सम्बन्धी एक भी वचन सुनने से जीव को वैराग्य, धर्म, प्रेम पुण्य एवं मोक्ष में कामना आदि रखने से स्वर्ग प्राप्त करना कहा है। तथारूप श्रमण-माहन से धर्म वचन श्रवण करने से जीव को पुण्य कामना का होना कहा है। यदि यह पुण्य कामना अप्रशस्त है तब तो तथारूप श्रमणमाहन से सुवचन सुनना भी अप्रशस्त होगा। क्योंकि इस पाठ में उसके सुनने से ही जीव को पुण्य कामना का होना कहा है। यदि तथारूप श्रमण-माहन के सुवचन का सुनना प्रशस्त है, तब उस वाक्य के सुनने से उद्भूत होने वाली पुण्य कामना भी अप्रशस्त नहीं है। प्रशस्त ही होगी।

टीकाकार ने पुण्यशब्द का अर्थ इस प्रकार किया है—"धर्मः श्रुत-चारित्र लक्षणः पुण्यं तत्फलभूतं शुभकर्म" श्रुत और चारित्र को धर्म कहते हैं और उस श्रुत और चारित्र का जो शुभकर्म रूप फल है, उसे पुण्य कहते हैं।

जो व्यक्ति उस पुण्य को अप्रशस्त और एकान्त त्यागने योग्य बताते हैं, उनके अनुसार तो श्रुत-चारित्रधर्म अप्रशस्त सिद्ध होगा। क्योंकि यहाँ पुण्य को श्रुत-चारित्ररूप धर्म का फल कहा है। यदि पुण्य त्याज्य होगा तो उसका कारण तथारूप श्रमण-माहन से वचन का सुनना भी त्याज्य होगा।

अतः उक्त पाठ का नाम लेकर पुण्य को सर्वथा त्याज्य बताना नितान्त असत्य है।

२. "माहन" शब्द का टीकाकार ने भी श्रावक अर्थ किया है। यथा—"श्रमणः साधुर्माहनः श्रावक" श्रमण नाम साधु का है और माहन नाम श्रावक का है। जो श्रावक स्थूल प्राणातिपात आदि से विरत है। ऐसे श्रावक की सेवा से उसके धर्मोपदेश श्रवण करने से भव्यात्माएँ मुक्तावस्था को प्राप्त करती हैं। जिस प्रकार जितशत्रु राजा ने सुबुद्धिप्रधान के द्वारा धर्मोपदेश श्रवण कर सम्यक्त्व और श्रावक व्रत अंगीकार किये थे। ऐसे श्रावक को कुपात्र कहना एवं उसको अन्नादि के द्वारा सेवा करने में पाप बताना एकान्ततः असत्य है।

इसकी विस्तृत विवेचना द्वितीय शतक में की गई है।

उत्थानिका—

पूर्व सूत्र में गर्भस्थ जीव के देवलोक या नरक गमन का विचार किया गया था। प्रस्तुत सूत्र में गर्भस्थ जीव की स्थिति आदि के विषय में विचार किया जा रहा है।

सूत्र 151 जीवे णं भंते ! गब्भगए समाणे [1]उत्ताणए वा [2]पासिल्लए वा [3]अंबखुज्जए वा अच्छेज्ज वा चिट्ठेज वा [4]निसीएज्ज वा तुयट्टेज्ज वा, [5]माउए [6]सुयमाणीए [7]सुवइ, जागरमाणीए [8]जागरइ, सुहियाए [9]सुहिए भवइ, [10]दुहियाए दुहिए [11] भवइ ?

हंता गोयमा ! जीवे णं गब्भगए समाणे [A]जाव दुहियाए दुहिए [12]भवइ।

सूत्र 151। भगवन् ! गर्भ में रहा हुआ जीव क्या लेटा हुआ होता है, या करवट वाला होता है, अथवा आम के समान कुबड़ा होता है, अथवा खड़ा होता है, बैठा होता है या सोया हुआ होता है ? तथा माता जब सो रही हो तो सोया होता है, माता जब जागती हो तो जागता है, माता के सुखी होने पर सुखी होता है, एवं माता के दुःखी होने पर दुःखी होता है ?

हां, गौतम ! गर्भ में रहा हुआ जीव यावत् जब माता दुःखित हो तो दुःखी होता है।

सूत्र 152 अहे णं [1]पसवणकालसमयंसि सीसेण वा पाएहिं वा [2]आगच्छइ समभा गच्छइ[4] [5]तिरियमागच्छइ विणिहायमावज्जइ। [7]वण्णवज्झाणि से कम्माइं बद्धाइं पुट्ठाइं [8]निहत्ताइं कडाइं पट्ठवियाइं अभिनिविट्ठाइं

सूत्र 152 इसके पश्चात् प्रसवकाल में अगर वह गर्भगत जीव मस्तक द्वारा या पैरों द्वारा गर्भ से बाहर आए तब तो ठीक तरह से आता है, यदि वह टेढा होकर आये तो मर जाता है। गर्भ से निकलने के पश्चात् उस जीव के कर्म यदि अशुभरूप में बंधे हो, स्पष्ट हों, निधत्त हो कृत हो प्रस्थापित हो, अभिनिविष्ट हो,

---

...ताणे - धा० ता० ॥ २. पासल्लए वा - अमो० न लो० ला० । पोसल्लए - अ० । पासल्लिए - ता० मं० । ...ज्जए - ला १ ॥ ३. अवखुज्जए वा - धा० ४. निसियज्ज - ला० ॥ ५. माऊए - अमो० । माऊए - वे० म० ॥ ...माणीए - धा० क० ता० मं० वे० म०॥ ७. सुयइ - अमो० । सुवति० वे० म० ॥ ८. जागति - वे० म० ॥ ...ते - वे० म० ॥ १०. दुहिताए - वे० म० । दुक्खियाए दुक्खिए - ला २ ॥ ११-१२. भवति - वे० म० ॥ ...गए वा पासल्लए वा अंबखुज्जए वा अच्छेज्ज वा चिट्ठेज्ज वा निसीएज्ज वा तुयट्टेज्ज वा। माउए सुयमाणीए जागरमाणीए जागरइ सुहियाए सुहिए भवइ ॥

१. पसवका० - ला० ॥ २. ०च्छति - न० वे० म० ॥ ३. मर्म आगच्छइ - धा० । सम्मया० - अ० व० म० पुण्या० ...४ अबुरा० । समाग० - ला० ॥ ४. ०च्छति - न० ॥ ५. ०च्छति - न० वे० ॥ ६. मागच्छइ - पु० । ... - म० वे० म० ॥ ७. वण्णवज्झाणि ०४ वण्णवज्झाणि - अबु० ॥ ८. निहित्ताइ - अमो० ॥ ९. ०विताइं

[१०]अभिसमन्नागयाइं उदिण्णाइं, नो उवसंताइं [११]भवंति; तओ भवइ दुरूवे [१२]दुवन्ने दुग्गंधे [१३]दुरसे [१४]दुफासे अणिट्ठे अकंते अप्पिए असुभे अमणुन्ने अमणामे हीणस्सरे दीणस्सरे [१५]अणिट्ठस्सरे अकंतस्सरे अप्पियस्सरे असुभस्सरे [१६]अमणुन्नस्सरे अमणामस्सरे [१७]अणाएज्जवयणे [१८]पच्चायाए[१९]यावि भवइ। वन्नवज्झाणि य से कम्माइं नो बद्धाइं[A]० पसत्थ [२०]नेयव्वं जाव [२१]आदेज्जवयणे [२२]पच्चायाए [२३]यावि भवइ ।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! [२४]त्ति०[B] ।

सत्तमो उद्देसो समत्तो

अभिसमन्वागत हो उदीर्ण हों और उपशान्त न हों तो वह जीव कुरूप कुवर्ण दुर्गंध वाला, कुरस वाला, कुस्पर्शवाला, अनिष्ट, अकांत, अप्रिय, अशुभ, अमनोज्ञ, अमनाम (जिसका स्मरण भी बुरा लगे) हीन स्वर वाला, दीन स्वर वाला, अनिष्ट, अकांत, अप्रिय, अशुभ, अमनोज्ञ, अमनाम स्वर वाला तथा अनादेय वचन वाला होता है। और यदि उस जीव के कर्म शुभ रूप में न बंधे हुए हों तो, उसके उपर्युक्त वाले प्रशस्त होते हैं—यावत्—वह आदेय वचन वाला होता है।

भगवन् ! यह इसी प्रकार है, यो कहकर यावत् गौतम स्वामी आत्मचिंतन में विचरण करने लगे।

सातवां उद्देशक पूर्ण हुआ।

विवेचन—

गर्भस्थ जीव की सारी क्रियाएँ माता की क्रियाओं पर निर्भर होती हैं। किसी बालक का प्रसव मस्तक की ओर से तो किसी का पैरों की ओर से होता है। इन दोनों प्रकार की प्रसव प्रक्रिया में विशेष कोई बाधा नहीं आती, किन्तु जब प्रसव टेढ़ा होता है, तब संतान और माता का अनिष्ट होता है। उस समय योग्य उपचार से प्रसव सीधा हो जाय तब तो ठीक है, अन्यथा बालक और माता दोनों की मृत्यु हो सकती है। कई बार माता की रक्षा के लिए गर्भस्थ बालक को काट कर बाहर निकाला जाता है।

जे० म० ॥ १०. ०गयाइं - अ० ॥ ११-१२. दुवन्ने - पु० । ०न्ने दुरसे - पा० १३. दुगंधे - जे० ॥ १४. दु० [illegible] अ० पा० म० ॥ १५. अणिट्ठ० - पा० ने० जे० म० ॥ १६. अमणुन्ने - पा० ॥ १७. वयणे - अ० [illegible] दे० जे० म० ॥ १८. ए वि भवइ - अ० । [illegible] - अ० ह० ला० जे० मं० म० ॥ १९-२१ [illegible] - जे० म० ॥ २०. नेयव्वं - जे० म० ॥ २१. ०वयणे - पु० अ० । आदिज्ज० - पा० ॥ २२. [illegible] [illegible] - म० ला० ॥

A—नो पुट्ठाइं नो निहत्ताइं नो कडाइं नो पट्ठवियाइं नो अभिनिविट्ठाइं नो अभिसमन्नागयाइं नो उदिण्णाइं [illegible] भवंति तओ भवइ सुरूवे सुवन्ने सुगंधे सुरसे सुफासे इट्ठे [illegible] मणुन्ने मणामे अहीणस्सरे अदीणस्सरे [illegible] इट्ठस्सरे पियस्सरे सुभस्सरे मणुन्नस्सरे ॥

B—पृष्ठ 103 के बाद पूर्ति (C) ॥

माता के संस्कारों का प्रभाव गर्भस्थ जीव पर अवश्य पड़ता है। माता सोती है, तो गर्भस्थ जीव भी सोता है। माता जागती है तो वह भी जागता है। माता का जैसा आचार एवं विचार होता है, प्रायः पुत्र का भी उसी प्रकार का आचार-विचार होता है। चक्रव्यूह के भेदन का ज्ञान अभिमन्यु को अर्जुन के द्वारा माता के श्रवण करने पर ही प्राप्त हो गया था। इतिहास पुरुष वनराज चावडा की शक्ति, माता के सुसंस्कारों के फलस्वरूप ही थी। बहुलता से माता के विचार ही संतान को प्रभावित करने वाले होते हैं। कभी २ कभी आने वाली संतान जब निकाचित बंध युक्त क्रूरकर्मी होती है, तब उस संतान के विचारों का प्रभाव माता पर भी पड़ता है। जैसे कि गर्भस्थ आत्मा कोणिक के विचार माता के दोहद से स्पष्ट हो रहे थे।

आधुनिक युग के माता पिता पुत्र को सु-संस्कारित शिक्षित बनाना चाहते है। किन्तु संतान के सुसंस्कारित बनने मे अन्य विभिन्न अनेक कारणों के साथ एक कारण यह भी होता है कि माता-पिता के संस्कार पुत्र को सुसंस्कारी बनाने में सहायक होते है।

वह गर्भस्थ आत्मा साता वेदनीय पुण्य के उदय से प्रसवकाल में टेढ़ा न आकर सीधा आता है। गर्भ के अन्दर आत्मा एक दिन-दो दिन नही अपितु लगभग सवा नौ मास तक रहकर आई है। आज यदि मानव को एक दिन के लिये भी ऐसे स्थान पर रख दिया जाय तो उसका जीना दूभर हो जाता है। अतः ऐसे निम्नतम स्थानों पर रमण करना क्या एक चिन्तनशील प्राणी के लिये योग्य है ? कतई नही।

अतः यह निश्चित है कि व्यक्ति पूर्वकृत प्रबल शुभ संयोग से इस अवस्था को प्राप्त कर पाया है। मानव शरीर में भी बहुत से व्यक्ति इष्ट, कांत, प्रिय, आदि अनेक शुभ लक्षणों एवं अनिष्ट, अकान्त, अप्रिय, आदि अनेक अशुभ लक्षणों से भी युक्त होते है। इनके भी मूल कारण अपने पूर्वकृत कर्म ही होते है।

इस प्रकार भगवन् ने प्राणी की गर्भस्थ अवस्था का वर्णन किया है। यह वर्णन मानव की अतीत विस्मृत अवस्थाओं को स्मृति पट पर उभारता है और यथार्थता के परिप्रेक्ष्य में लाकर उपस्थित करता है।

आज का मानव प्रायः उन स्थितियों को भूलाकर आधुनिकता के वातावरण में बहता हुआ विलासितापूर्ण जीवन जी रहा है। उसे यह ज्ञात ही नही है कि इन कुकार्यों का क्या भयानक परिणाम सामने आने वाला है। अतः सुज्ञ चिन्तक को गर्भ स्थिति का विचार करने पुनः ऐसी स्थिति में न आना पड़े, ऐसा प्रयास करना चाहिये !

॥ सप्तम उद्देशक समाप्त ॥

[10]अभिसमन्नागयाइं उदिण्णाइं, नो उवसंताइं [11]भवंति; तओ भवइ दुरूवे [12]दुवन्ने दुग्गंधे [13]दुरसे [14]दुफासे अणिट्ठे अकंते अप्पिए असुभे अमणुन्ने अमणामे हीणस्सरे दीणस्सरे [15]अणिट्ठस्सरे अकंतस्सरे अप्पियस्सरे असुभस्सरे [16]अमणुन्नस्सरे अमणामस्सरे [17]अणाएज्जवयणे [18]पच्चायाए [19]यावि भवइ। वन्नवज्झाणि य से कम्माइं नो बद्धाइं[A]० पसत्थ [20]नेयव्वं जाव [21]आदेज्जवयणे [22]पच्चायाए [23]यावि भवइ।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! [24]त्ति०[B]।

सत्तमो उद्देसो समत्तो

अभिसमन्वागत हो उदीर्ण हो और उपशान्त न हो तो वह जीव कुरूप कुवर्ण दुर्गन्ध वाला, दुरस वाला, कुस्पर्शवाला, अनिष्ट, अकांत, अप्रिय, अशुभ, अमनोज्ञ, अमनाम (जिसका स्मरण भी बुरा लगे) हीन स्वर वाला, दीन स्वर वाला, अनिष्ट, अकांत, अप्रिय, अशुभ, अमनोज्ञ, अमनाम स्वर वाला तथा अनादेय वचन वाला होता है। और यदि उस जीव के कर्म अशुभ रूप मे न बंधे हुए हो तो, उसके उपर्युक्त सब बाते प्रशस्त होती है—यावत्—वह आदेय वचन वाला होता है।

भगवन् ! यह इसी प्रकार है, यो कहकर यावत् गौतम स्वामी तप-संयम में विचरण करने लगे।

सातवां उद्देशक पूर्ण हुआ।

विवेचन—

गर्भस्थ जीव की सारी क्रियाएँ माता की क्रियाओं पर निर्भर होती है। किसी बालक का प्रसव मस्तक की ओर से तो किसी का पैरों की ओर से होता है। इन दोनों प्रकार की प्रसव प्रक्रिया में तो विशेष कोई बाधा नही आती, किन्तु जब प्रसव टेढ़ा होता है, तब संतान और माता को असह्य वेदना होती है। उस समय योग्य उपचार से प्रसव सीधा हो जाय तब तो ठीक है, अन्यथा बालक और माता दोनो की मृत्यु हो सकती है। कई बार माता की रक्षा के लिए गर्भस्थ बालक को काट २ कर बाहर निकाला जाता है।

वे० ग० ॥ १०. ०सम्मण० - अगो० ॥ ११-१२. दुव्वन्ने - पु० । ०न्ने दुरसे - घा० १३. दुगंधे - मं० ॥ १४. दुफा० - अमो० घा० न० ॥ १५. अणिट्ठ० - घा० न० वे० म०। १६. अमणुस्सरे - घा० ॥ १७. वयणं - अगो० । अणा- देज्ज० - वे० म० ॥ १८. ए वि भवइ - अमो। ०वयणपच्चाए - अ० क० ता० व० मं० स० ॥ १९-२३. यावि भवति - वे० म० ॥ २०. नेतव्वं - वे० ग० ॥ २१. ०वयणं - पु० अगो०। आदिज० - घा० ॥ २२. ०ए वि - अगो० । वयणपच्चाए - क० ता० ॥

A—नो पुट्ठाइ नो निहत्ताइं नो कडाइं नो पट्ठवियाइ नो अभिनिविट्ठाइं नो अभिसमण्णागयाइं नो उदिण्णाइं उवसंताइं भवंति तओ भवइ सुरूवे सुवण्णे सुगंधे सुरसे सुफासे इट्ठे कंते पिए सुभे मणुण्णे मणामे अहीणस्सरे अदीणस्सरे इट्ठस्सरे कंतस्सरे पियस्सरे सुभस्सरे मणुण्णस्सरे ॥

B—सूत्र 103 में पाठ पूर्ति (C) ॥

माता के संस्कारों का प्रभाव गर्भस्थ जीव पर अवश्य पड़ता है। माता सोती है, तो गर्भस्थ जीव भी सोता है। माता जागती है तो वह भी जागता है। माता का जैसा आचार एवं विचार होता है, प्रायः पुत्र का भी उसी प्रकार का आचार-विचार होता है। चक्रव्यूह के भेदन का ज्ञान अभिमन्यु को अर्जुन के द्वारा माता के श्रवण करने पर ही प्राप्त हो गया था। इतिहास पुरुष वनराज चावडा की शक्ति, माता के सुसंस्कारों के फलस्वरूप ही थी। बहुलता से माता के विचार ही संतान को प्रभावित करने वाले होते हैं। कभी २ कभी आने वाली संतान जब निकाचित बंध युक्त क्रूरकर्मी होती है, तब उस संतान के विचारों का प्रभाव माता पर भी पड़ता है। जैसे कि गर्भस्थ आत्मा कोणिक के विचार माता के दोहद से स्पष्ट हो रहे थे।

आधुनिक युग के माता पिता पुत्र को सु-संस्कारित शिक्षित बनाना चाहते है। किन्तु संतान के सुसंस्कारित बनने में अन्य विभिन्न अनेक कारणों के साथ एक कारण यह भी होता है कि माता-पिता के संस्कार पुत्र को सुसंस्कारी बनाने में सहायक होते है।

वह गर्भस्थ आत्मा साता वेदनीय पुण्य के उदय से प्रसवकाल में टेढ़ा न आकर सीधा आता है। गर्भ के अन्दर आत्मा एक दिन-दो दिन नहीं अपितु लगभग सवा नौ मास तक रहकर आई है। आज यदि मानव को एक दिन के लिये भी ऐसे स्थान पर रख दिया जाय तो उसका जीना दूभर हो जाता है। अतः ऐसे निम्नतम स्थानों पर रमण करना क्या एक चिन्तनशील प्राणी के लिये योग्य है? कतई नहीं।

अतः यह निश्चित है कि व्यक्ति पूर्वकृत प्रबल शुभ संयोग से इस अवस्था को प्राप्त कर पाया है। मानव शरीर में भी बहुत से व्यक्ति इष्ट, कांत, प्रिय, आदि अनेक शुभ लक्षणों एवं अनिष्ट, अकान्त, अप्रिय, आदि अनेक अशुभ लक्षणों से भी युक्त होते है। इनके भी मूल कारण अपने पूर्वकृत कर्म ही होते है।

इस प्रकार भगवन् ने प्राणी की गर्भस्थ अवस्था का वर्णन किया है। यह वर्णन मानव की अतीत विस्मृत अवस्थाओं को स्मृति पट पर उभारता है और यथार्थता के परिप्रेक्ष्य में लाकर उपस्थित करता है।

आज का मानव प्रायः उन स्थितियों को भूलाकर आधुनिकता के वातावरण में बहता हुआ विलासितापूर्ण जीवन जी रहा है। उसे यह ज्ञात ही नहीं है कि इन कुकार्यों का क्या भयानक परिणाम सामने आने वाला है। अतः सुज्ञ चिन्तक को गर्भ स्थिति का विचार करने पुनः ऐसी स्थिति में न आना पड़े, ऐसा प्रयास करना चाहिये!

॥ सप्तम उद्देशक समाप्त ॥

अट्ठमो उद्देसओ : बाल
अष्टम उद्देशक : बाल

ऐकान्त वाल, पण्डित आदि के आयुष्यबन्ध संबधी चर्चा—

उत्थानिका—

सातवें उद्देशक में मुख्यतया गर्भस्थ जीव की विचित्रताओं पर वर्णन किया गया था। गर्भ अवस्था आयुष्य बंधन के बिना नही आ सकती। अत: अष्टम उद्देशक में आयुबंध पर विचार किया जा रहा है।

किस प्रकार का आचरण करने से आत्मा किस प्रकार के आयुष्य का बंधन करती है? बाल मरण, बाल पंडित मरण और पंडित मरण का क्या स्वरूप है। मृग आदि की हिंसा करने वाले व्यक्ति को कितनी क्रियाएँ लगती है? आदि अनेक विषय का प्रस्तुत उद्देशक में वर्णन किया जा रहा है।

संग्रह गाथा में आठवें उद्देशक के अन्दर जीवों का वर्णन करने की प्रतिज्ञा की गई थी यथा वाले ......

अत: उद्देशक के प्रारम्भ में एकान्त वाल अज्ञानी जीव का वर्णन दिया गया है।

सूत्र 153 [१]रायगिहे समोसरणं जाव एवं वयासी–

एगंतबाले णं भंते! [२]मणुस्से किं नेरइयाउयं [३]पकरेइ? [४]तिरिक्खाउयं [५]पकरेइ? [६]मणुस्साउयं [७]पकरेइ? देवाउयं [८]पकरेइ? नेरइयाउयं किच्चा नेरइएसु [९]उववज्जइ? [१०]तिरियाउयं किच्चा तिरिएसु [११]उववज्जइ? [१२]मणुस्साउयं किच्चा [१३]मणुएसु [१४]उवव-

सूत्र 153 राजगृह नगर में समवसरण हुआ और यावत् गौतम स्वामी इस प्रकार बोले

भगवन्! क्या एकान्त-बाल (मिथ्यादृष्टि) मनुष्य, नारक की आयु बांधता है? तिर्यञ्च की आयु बांधता है, मनुष्य की आयु बांधता है अथवा देव की आयु बांधता है? क्या वह नरक की आयु बांधकर नैरयिकों में उत्पन्न होता है? तिर्यञ्च की आयु बांधकर तिर्यञ्च में उत्पन्न होता है? मनुष्य की आयु बांधकर मनुष्य में

१. रायगिहे....वयासी - नत्थि अमो० न० वे० म० ॥ २. मणूसे - पु० अमो० लो० ॥ ३-५-७-८. पकरेति - म० वे० म० ॥ ४. तिरिआउयं - अमो० ॥ ६. मणुआउयं - अमो० ॥ ११-१४ ०वज्जंति - न० ॥ १०. तिरिआउयं, पा० ॥ १२. मणुआउयं - अमो० ॥ १३. मणुस्से - पु० पा०। मणुस्सेसु - न० वे० म० ॥ १५. ०ज्जेति - पा० म०

ज्जइ ? देवाउयं किच्चा [15]देवलोएसु [16]उववज्जइ ?

गोयमा ! एगंतबाले णं मणुस्से नेरइयाउयं पि [17]पकरेइ, [18]तिरियाउयं पि पकरेइ, [20]मणुस्साउयं पि [21]पकरेइ, देवाउयं पि [22]पकरेइ, [23]नेरइयाउयं पि किच्चा नेरइएसु [24]उववज्जइ, [25]तिरियाउयं पि किच्चा तिरिएसु [26]उववज्जइ, [27]मणुस्साउयं पि किच्चा [28]मणुएसु [29]उववज्जइ, [30]देवाउयं पि किच्चा, [31]देवलोएसु [32]उववज्जइ ।

उत्पन्न होता है ? देव की आयु बांधकर देवलोक में उत्पन्न होता है।

गौतम ! एकान्त बाल मनुष्य नरक की भी आयु बांधता है। तिर्यंच की आयु भी बांधता है। मनुष्य की आयु भी बांधता है । देव की भी आयु बांधता है। नरकायु बांधकर नैरयिकों में उत्पन्न होता है।तिर्यंचायु बांधकर तिर्यंचों में उत्पन्न होता है। मनुष्यायु बांधकर मनुष्यों में उत्पन्न होता है। देवायु बांधकर देवों में उत्पन्न होता है।

सूत्र 154 एगंतपंडिए णं भंते ! मणुस्से किं [1]नेरइयाउयं [2]पकरेइ ? [3]जाव[A] देवाउयं किच्चा देवलोएसु [4]उववज्जइ ?

गोयमा ! एगंतपंडिए णं [5]मणुस्से आउयं सिय [6]पकरेइ, सिय नो [7]पकरेइ । जइ [8]पकरेइ, नो [9]नेरइयाउयं [10]पकरेइ, नो तिरियाउयं [11]पकरेइ,

154 भगवन् ! एकान्त पण्डित मनुष्य क्या नरकायु बांधता है ? यावत् देवायु बांधता है ? और यावत् देवायु बांधकर देवलोक में उत्पन्न होता है ?

गौतम ! एकान्तपण्डित मनुष्य, कदाचित् आयु बांधता है और कदाचित् आयु नही बांधता। यदि आयु बांधता है तो देवायु बांधता है, किन्तु नरकायु, तिर्यंचायु और मनुष्यायु नही बांधता वह नरकायु नही बांधने से नारकों में

म० ॥ ९–१६–२४–२६–२९–३२ उववज्जति न० वे० म० ॥ १७. पकरेंति न० । ०रेइ जाव देवाउयं पि पकरेइ एगंत पं० - ला० ॥ १८. तिरि मणु देवाउय पि पकरेइ - अमो ०उयं वि - न० ॥ १९–२१–२२ पकरेंति - न० ॥ २०. मणुयाउयं - वे० म० ॥ २३. ०उयं कि० - न० ॥ २५. तिरि मणु देवाउयं किच्चा देव० - अमो० । ०उय कि० न० ॥ २७. ०उयं कि० - न० ॥ २८ मणुस्सेसु - न० वे० म० ॥ ३०. ०लोगेसु किच्चा तिरि० मणु० देवलो० - पु० ०उयं किच्चा - न० ॥ ३१. ०लोगेसु - घा० न० । देवे सु वे० म० ॥

१. ०उयं पि करेति० पुच्छा । गोयमा - जं० ला १ ॥ २-१०-११-१३-१४ पकरेंति - न० ॥ ३. जाव देवाउयं पि पकरेइ एगंत पंडिए णं भंते मणुस्से किं नेरइयं जाव देवाउयं किच्चा देवलोए सु उववज्जति - ला० ॥ ४-२०-२९-३१ ०ज्जति - न० वे० म० ॥ ५. मणूसे - घा० ला० लों० ॥ ६. पकरेंति - न० वे० म० ॥ ७. पगरेइ - घा० । पकरेंति न० वे० म० ॥ ८. पगरेइ - घा० ०रेंति - न० ॥ ०उयं पि पकरेइ तिरि० नो मणु० देवाउय पि पकरेइ -

णो [12]मणुस्साउयं [13]पकरेइ, देवाउयं [14]पकरेइ । नो नेरइयाउयं किच्चा [15]नेरइएसु [16]उववज्जइ, णो [17]तिरिआउयं किच्चा तिरिएसु [18]उववज्जइ, णो मणुस्साउयं किच्चा मणुस्से [19]उववज्जइ, देवाउयं किच्चा देवेसु [20]उववज्जइ ।

से [21]केणट्ठेणं [B]जाव देवाउयं किच्चा देवेसु [20]उववज्जइ ?

गोयमा एगंत [23]पंडियस्स णं [24]मणुस्सस [25]केवलमेव दो [26]गईओ [27]पन्नत्ति । तं जहा–अंतकिरिया चेव, [28]कप्पोववत्तिया चेव । से तेणट्ठेणं [29]गोयमा [C]जाव[30] देवाउयं किच्चा देवेसु उववज्जइ ।

सूत्र 155 बाल [1]पंडिए णं भंते ! [2]मणुस्से किं [3]नेरइयाउयं [4]पकरेइ, [A]जाव देवाउयं किच्चा देवेसु [5]उववज्जइ?

उत्पन्न नहीं होता, इसी प्रकार तिर्यंचायु नहीं बांधने से तिर्यंचों में उत्पन्न नहीं होता और मनुष्यायु नहीं बांधने से मनुष्यों में भी उत्पन्न नहीं होता, किन्तु देवायु बांधकर देवों में उत्पन्न होता है ।

भगवान् ! इसका क्या कारण है कि—यावत् देवायु बांधकर देवों में उत्पन्न होता है ?

गौतम ! एकान्तपंडित मनुष्य की केवल दो गतियां कही गई हैं । वे इस प्रकार है—अन्तक्रिया और कल्पोपपत्तिका (सौधर्मादि कल्पों में उत्पन्न होना।

इस कारण हे गौतम ! एकान्त पंडित मनुष्य देवायु बांधकर देवों में उत्पन्न होता है ।

सूत्र 155 भगवन् ! क्या बालपण्डित मनुष्य नरकायु बांधता है । यावत् देवायु बांधता है ? और यावत् देवायु बांधकर देवलोक में उत्पन्न होता है ?

रू० ॥ १२. मणुयाउयं - अमो० ॥ १५. नेरइतेसूववज्जति ३ - जं० ॥ १६. उववज्जति - न० ॥ १७. तिरि णो मणु देवाउयं) - अमो० । तिरि णो मणुस्सा० देवा००- वे० म० ॥ १८-१९. उववज्जति न० ॥ २१. से केणट्ठेणं भंते एवं जाव देवेसु - जं० ॥ २३. ०स्स केवलमेव - पा० । ०पंडितस्स - वे० म० ॥ मणूसस्स - जं० लो० २५ केवलं दो गतीओ प० - जं० ॥ २६. गतीओ - न० वे० म० ॥ २७. पण्णत्ताओ तं - ला १ ॥ २८. कप्पविमाणोववत्तिया चेव - जं० ॥ २९. गोतमा वे० म० ॥ ३०. जाव देवेसु उववज्जति ज० ॥

A– तिरिक्खाउयंप करेंति ? मणुस्सउयं पकरेति ? देवा उयं पकरेति ? नेरइयाउयं किच्चा नेरइएसु उववज्जइ ? मणुस्साउयं किच्चा मणुस्सेसु उववज्जइ ?

B– सूत्र १५४ किच्चा देवेसु उववज्जइ तक सूत्र १५४ में जाव पूर्ति (A)

C– सूत्र १५४ में किच्चा देवेसु उववज्जइ तक सूत्र १५४ में जाव पूर्ति (A)

१. बाल पंडिते - वे० म० ॥ २. मनूसे - अमो० जं० । ३. नेरइयाउई - वे० ॥ ४-२४. पकरेति - न० वे० म० ॥ ५-१०-२५. उववज्जति - न० वे० म० ६. गोयमा''''उववज्जइ - नास्ति ने० । गोयमा वे० म० । गों० बालपंडिते

[6]गोयमा[B] ! नो नेरइयाउयं [7]पकरेइ, [C]जाव देवाउयं किच्चा देवेसु [8]उववज्जइ !

से [9]केणट्ठेणं [D]जाव देवाउयं किच्चा देवेसु [10]उववज्जइ ?

गोयमा ! बालपंडिए णं [11]मणुस्से तहारूवस्स समणस्स वा माहणस्स [12]वा अंतिए [13]एगमवि [14]आयरियं [15]धम्मियं सुवयणं [16]सोच्चा [17]निसम्म देसं [18]उवरमइ देसं नो उवरमइ देसं [19]पच्चक्खाइ देसं णो [20]पच्चक्खाइ, से [21]तेणट्ठेण [22]देसोवरम देस [23]पच्चक्खाणेणं नो नेरइयाउयं [24]पकरेइ [E]जाव देवाउयं किच्चा देवेसु [25]उववज्जइ से [26]तेणट्ठेणं [F]जाव देवेसु [27]उववज्जइ ।

गौतम ! वह नरकायु नहीं बांधता, और यावत् (तिर्यंचायु मनुष्यायु नहीं बांधता) देवायु बांधकर देवों में उत्पन्न होता है।

भगवन् ! इसका क्या कारण है कि बाल पण्डित मनुष्य यावत् देवायु बांधकर देवों में उत्पन्न होता है।

गौतम ! बाल पण्डित मनुष्य तथारूप श्रमण या माहन के पास से एक भी आर्य तथा धार्मिक सुवचन सुनकर, अवधारण करके एक देश से विरत होता है। और एक देश से विरत नहीं होता। एक देश से प्रत्याख्यान करता है, और एक देश से प्रत्याख्यान नहीं करता।

इसलिए गौतम ! देश-विरति और देश-प्रत्याख्यान के कारण वह नरकायु तिर्यंचायु और मनुष्यायु का बंध नहीं करता और यावत्-देवायु बांधकर देवों में उत्पन्न होता है। इसलिए गौतम ! पूर्वोक्त कथन किया गया है।

णों णेरतिताउयं पकरेति णो तिरि० मणु०, देवाउअ प०, णो णेरतिताउयं किच्चा णेरतितेसु उववज्जाति ३ जाव देवाउयं जं० ॥ ७. पकरेति - वे० ज० ॥ ८. उववज्जति - वे० म० ॥ ९. से केण जाव देसेसु - जं० ॥ ११. मणूसे - जं० लों० ॥ १२. वा एगमवि आयरियं - ला० ॥ १३. एगमपि - पा० ॥ १४. आरियं - अमो० पा० न० वे० म० । यारियं - क० ता० जं० ॥ १५. ०यं वयणं - ला २ ॥ १६. सेचा - म० ॥ १७. निसम्मा - अ० ता० व० ला० ॥ १८. उवरमति पा० वे० म० ॥ १९-२०. ०क्खाति - वे० म० ॥ २१. से तेण देसोवरमइ - अमो० । से तेणं देसो० - न० । सेणं ते - क० । सेणं तेणं - ता० व० वे० म० ॥ २२. देसोवरमण देसं० - जं० ॥ २३. ०णं नेर० - पा० ॥ २६. ०णं गो० एवं ज व - जं० ॥ २७. उववज्जाति - न० ॥

A–तिरिक्खाउयं पकरेइ ? मणुस्साउयं पकरेइ ? देवाउयं पकरेइ ? नेरइयाउयं किच्चा नेरइएसु उववज्जइ ? तिरियाउयं किच्चा तिरिएसु उववज्जइ ? मणुस्साउयं किच्चा मणुस्सेसु उववज्जइ ? देवाउयं किच्चा देवेसु उववज्जइ ?

गोयमा ! बालपंडिए णं मणुस्से नो नेरइयाउयं पकरेइ, णो तिरिक्खाउयं पकरेइ, नो मणुस्साउयं पकरेइ, देवाउयं पकरेइ, णो नेरइयाउयं किच्चा नेरइएसु उववज्जइ, नो तिरियाउयं किच्चा तिरिएसु उववज्जइ णो मणुस्साउयं किच्चा मणुस्सेसु उववज्जइ ॥

B–बालपंडिएणं मणुस्से ॥ C–सूत्र १५५ में जावपूर्ति (A) में गोयमा से पूर्ण तक ॥

D-सूत्र १५५ में बालपंडिए……उववज्जइ + जावपूर्ति (A) ॥

E-सूत्र १५५ में बालपंडिए……उववज्जइ + जावपूर्ति (A) ॥ F-देवाउयं किच्चा ॥

विवेचन—

संसार के समस्त संसारी जीवों को तीन विभागों में विभक्त किया जा सकता है— (१) बाल (२) पण्डित (३) बाल-पण्डित।

वस्तु तत्व के यथातथ्य स्वरूप को जानकर तदनुसार आचरण करने वाले को "पण्डित" कहते हैं। किसी भी प्रकार के व्रत-प्रत्याख्यान ग्रहण नहीं करने वाले जीव को प्रस्तुत प्रकरण में बाल कहा है।

वस्तु तत्व के यथार्थ स्वरूप को जानकर देशतः आचरण करने वाले को 'बाल-पंडित' कहते हैं।

एकान्त बाल जीवों के चारों गतियों का आयुष्य बंधन बतलाया है। एकान्त बालत्व समान होते हुए भी अन्यकारणों की तरतमता से चारों गतियों में से किसी भी गति का आयुष्य बंधन हो सकता है। यथा—महारंभी, महापरिग्रही आदि अनेकों असद् आचरण करने वाला एकान्त बाल जीव नरक या तिर्यंच में जाता है। कई एकान्त बाल अल्पकषायी, प्रशान्त स्वभावी होते है, वे अकामनिर्जरा करके से मनुष्य और देव में भी जा सकते है।

शास्त्र के मूल पाठ में एकान्त शब्द जो बाल के साथ संयोजित किया है वह एकान्त शब्द चार गुणस्थानों में से मिश्र गुणस्थान की निवृत्ति के लिये दिया है। यहाँ प्राणियों के आयुष्य बंध का प्रकरण है तीसरे गुणस्थान में आयुष्य बंध नही होता अतः तीसरे गुणस्थान का यहा समावेश न हो जाय इस लिये "एगंत बाले" शब्द दिया गया है। अवशेष प्रथम, द्वितीय, चतुर्थ गुणस्थान में आयुष्य बंध होता है इन तीनों गुणस्थानों का संकेत करने के लिये मूल पाठ में "बाल" शब्द का प्रयोग किया गया है यहा बाल शब्द देखकर कई ग्रन्थकार "बाल" का अर्थ सिर्फ मिथ्यादृष्टि ही कर देते है, जो कि मूल में असंगत है। क्योंकि यहाँ बाल मे मिथ्यादृष्टि एवं अविरत सम्यक् दृष्टि भी संग्रहीत है जैसा कि टीकाकार ने भी कहा है— "एकान्त बालः मिथ्या-दृष्टिरविरतो वा एकान्त ग्रहणेन मिश्रतां व्यवच्छिनत्ति"

इस अर्थ से मिथ्यादृष्टि मिथ्यात्व गुणस्थान से सम्बन्धित है और अविरति में सास्वादन सम्यक्त्वी एवं चतुर्थ गुणस्थान वर्ती सम्यक्त्वी का समावेश है। जो कि मूल पाठ मे सगत अर्थ है। यदि यह अर्थ न लिया जाय और अविरति बाल मे मिथ्यात्व के अतिरिक्त अकाम निर्जरा वाले बाल का अर्थ लिया तो यह अर्थ संगत नहीं होगा। क्योंकि अकाम निर्जरा मिथ्यादृष्टि के ही होती है अतः अविरति के अन्तर्गत अलग से उसके कथन का प्रसंग नही रहता मिथ्यात्व से भिन्न जो अविरति है, वे दूसरे और चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव ही होते हैं क्योंकि तीसरे गुणस्थान वर्ती जीव भी मिथ्यात्वी एवं अकाम निर्जरा वाले हैं।

ऊपर मूल से संबंधित अर्थ करते हुए यह कहा है कि बाल का अर्थ मिथ्या दृष्टि और अविरत है उस मूल संस्पर्शित अर्थ से अकाम निर्जरा मिथ्यादृष्टि में गर्भित है। रहा प्रश्न अविरत का। यहां मिथ्यादृष्टि से अतिरिक्त जो अविरत है, सिद्धान्त की दृष्टि से वह सम्यक् दृष्टि ही है। क्योंकि दूसरे और चौथे गुणस्थान में अविरति होते हुए भी सकाम निर्जरा होती है अकाम निर्जरा नहीं।

यदि यह अर्थ नहीं लिया जाएगा तो संसार के समस्त जीवों को तीन विभागों में जो आयुष्य के सम्बन्ध से विभक्त किये गये हैं उन विभागों में दूसरे और चौथे गुणस्थान वाले जीव नही आवेंगे। क्योंकि एकान्त बाल में क्रूरकर्मी तीव्र कषायी, मंद कषायी एवं अकाम निर्जरा वाले आदि लिये जाते हैं। जो कि मिथ्यात्व गुणस्थान के अन्तर्गत ही है। पण्डित में तो छठे गुणस्थान से लेकर ऊपरी गुणस्थान वर्ती आत्माएं हैं। बाल पण्डित में पांचवें गुणस्थान के जीवों का ग्रहण है। ऐसी स्थिति में द्वितीय गुण-स्थानवर्ती एवं चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीवों का आयुष्य बंध से संबंधित किये गए तीन विभागों में से किसमें ग्रहण होगा? उपर्युक्त दृष्टि को लेने पर तो किसी में भी ग्रहण नही होगा। वैसी स्थिति मे गौतम स्वामी के तीनों प्रश्न अधूरे रहेंगे और ऐसा हो नहीं सकता क्योंकि गौतम स्वामी ने तीनों प्रश्न पूछे और तीनों के उत्तर से उन्हें सन्तुष्टि हुई। अतः इन दोनों गुणस्थानों का समावेश बाल में करना शास्त्रकारों को अभीष्ट नहीं है। क्योंकि उन्होंने तीन विभागो मे समस्त संसारी जीवों को विभक्त किया है। अतः यह स्पष्ट है कि तीनों, प्रथम, द्वितीय और चतुर्थ गुणस्थान वाले जीव चारों गति का आयुष्य बांध सकते हैं।

इस बात की पुष्टि दशाश्रुत स्कन्ध के अन्तर्गत आए हुए क्रियावादी सम्यक्त्वी के उतरपथगामी नरक गमन के वर्णन से भी होती है। वैसे ही तत्वार्थ सूत्र के "निःशीलव्रतत्वं च सर्वेषां" सूत्र से भी प्रथम, द्वितीय और चतुर्थ गुणस्थान वर्ती आत्माओं का चारो गति में जाना स्पष्ट सिद्ध होता है। क्योंकि इन गुणस्थानों में चारो गति के आयुष्य बंधन सम्बन्धी कारणों की विद्यमानता संभावित है।

बाल-पडित के देवलोक में जाने का विधान जो उपर्युक्त पाठ में किया गया है, उससे कई व्यक्ति यह मानते हैं कि बालपंडित श्रावक को देशविरत प्रत्याख्यान के कारण देवलोक में जाना कहा है। आगार-गृहस्थावस्था के सेवन से नहीं। अतः श्रावक का आगार एकान्त पाप है।[1]

उनका यह मानना शास्त्र की अनभिज्ञता का परिचायक है। प्रस्तुत पाठ में देशविरति, देश-प्रत्याख्यान से नरकादि गतियों के बंधन का रुकना बतलाया है, न कि देवायु का बंध होना। यदि विरति और प्रत्याख्यान से आयु का बंध होने लगे तो फिर मुक्ति किससे और कैसे होगी?

१-भ्रमविध्वंसन ग्रन्थ के पृष्ठ १४ पर लेखक ने लिखा है- 'अथ अठे कह्यो जे श्रावक देश थकी निवृत्यो, देश थकी नथी निवृत्यो, देशपचखाण कीधो, देशपचखाण कीधो नथी। जे देश थकी निवृत्यो अने देश पचखाण कीधो तेणकरी देवता हुवे। इहां पचखाण करी देवता थाय कह्यो, ते किम जे पचखाण पालता कष्ट थी पुण्य बंध तेने करी देवायु बंध तेणे कह्यो। पण अव्रत सेव्यां सेवायां देवगति नो बंध न कह्यो।

प्रज्ञापनासूत्र की टीका में विरति से बंध होने का स्पष्ट शब्दों में निषेध किया गया है।
"ननु विरतस्य कथं बंधो ? न हि विरतिर्बंध हेतुर्भवति यदि पुनर्विरतिरपिबंधहेतु स्यात्तदा निर्मोक्ष-प्रसंग, उपायाभावात्" उच्यते—

न हि विरतिर्बन्धहेतु किन्तु विरतस्य ये कषायास्ते ते बंधकारणं तथाहि सामयिक-छेदोपस्थापन-परिहार विशुद्धिकेष्वपि संयमेषु कषायाः संज्वलनरूपा उदयप्राप्ताः सन्ति योगाश्च ततो विरतस्यापि देवायुरादीनां शुभप्रकृतीनां तत्प्रत्ययो बंधः"

"विरतपुरुष को बंध क्यों होगा ? विरति बंध का कारण नहीं है। यदि विरति से भी बंध है तो मोक्ष किससे होगा ? क्योंकि विरति से भिन्न कोई मोक्ष का कारण नहीं है। विरति से बंध नहीं होता है, किन्तु विरत पुरुषों में जो कषाय है, वह बंध का कारण है। सामायिक, छेदोपस्थान और परिहार विशुद्धि आदि में भी संज्वलनात्मक कषाय और योग का उदय रहता है।"

प्रस्तुत टीका में विरति और प्रत्याख्यान द्वारा बंधन होने का निषेध किया है। देशविरति, देश-विरत और प्रत्याख्यान के कारण नरकादि गतियों से हटकर देवलोक में जाता है। किन्तु देवलोक में जाने का कारण प्रत्याख्यान नहीं होते, किन्तु उसमें स्थित कषाय और योग देवगति बंध के कारण होते हैं। अतः देवगति बंध का कारण देशविरति या प्रत्याख्यान नहीं माना जा सकता है।

दूसरी बात यह भी सामने आती है कि देशविरति एवं प्रत्याख्यान द्वारा होने वाले काय क्लेश से पुण्य का बंधन होता है। उस पुण्यबंध से आत्मा देवलोक में जाती है, यह मानना भी युक्ति-युक्त नहीं है। यदि देशविरति एवं प्रत्याख्यान से होने वाले कायक्लेश से देवत्व की प्राप्ति होती है, तब मुक्ति की प्राप्ति किंवा कर्मों की निर्जरा किससे होगी ?

प्रज्ञापनासूत्र एवं टीका में विरत-पुरुषों में स्थित कषाय और योग से देवलोक में जाना कहा है। अर्थात् देशविरत श्रावकों को अल्पारंभ, अल्पपरिग्रह, अल्प क्रोध, मान, माया, लोभ आदि आश्रवों से देवलोक की प्राप्ति होती है। क्योंकि बंधन, आश्रव से होता है, संवर और निर्जरा से नहीं। देशविरति और देश प्रत्याख्यान संवर है। अतः उससे बंधन नहीं हो सकता।

द्वितीय शतक, पांचवें उद्देशक में संयम और तप से होने वाली प्राप्ति का स्पष्ट वर्णन है।

"संजमे णं भंते ! किं फले ? तवे णं भंते ! किं फले ?

संजमे णं अज्जो अण्णहयफले। तवे णं वोदाण फले।"

तुंगिका नगरी के श्रावकों ने पार्श्वनाथ भगवान् के स्थविरों से पूछा—

हे भगवन् ! संयम और तप का क्या फल है ? स्थविरों ने बतलाया—

तप का फल—पूर्वकृत कर्मों का नाश होना। संयम का फल—नवीन कर्मों का आगमन रुकना।

इससे स्पष्ट है कि संयम और तप का फल नवीन कर्मों के आगमन का रुकना तथा पूर्वकृत कर्मों का नाश होना बतलाया है।

श्रावकों ने पूछा—भगवन् ! जब संयम और तप से संवर और निर्जरा होती है, तो पुरुष, देवता कैसे बनता है ?

इस प्रश्न का चार स्थविरों ने चार उत्तर दिये —

प्रथम ने कहा—सराग अवस्था की तपस्या से व्रतधारी और तपस्वी स्वर्ग में जाते हैं।

द्वितीय ने कहा—सराग अवस्था में संयम से जीव स्वर्ग में जाता है।

तृतीय ने कहा – क्षय होने से बचे कर्मों से जीव स्वर्ग में जाता है।

चतुर्थ ने कहा—संसारी पदार्थों में आसक्त होने से जीव स्वर्ग में जाता है।

उक्त चार उत्तरों में से प्रथम के दो उत्तरों का आशय स्पष्ट करते हुए टीकाकार ने लिखा है—

"ततश्च सरागकृतेन संयमेन च देवत्वावाप्तिः रागांशस्य कर्मबंधहेतुत्वात् ।"

"सराग संयम और सराग तप में जो रागांश विद्यमान है, वही कर्मबंध का हेतु है। उस राग से ही सरागसंयमी और सरागतपस्वी देव बनते है। संयम और तप से नहीं।"

तीसरे उत्तर में क्षय होने से बचे हुए कर्मों का तथा चतुर्थ उत्तर में संयमी पुरुषों का उपकरण के प्रति रहने वाले ममत्व भाव को बंध का कारण बताया है।

उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि विरति और प्रत्याख्यान से बंधन नहीं होता। यहाँ पर भी संयम और तप से देवत्व प्राप्ति का वर्णन नहीं हैं।

अतः व्रत-प्रत्याख्यान से देवत्व की प्राप्ति का कथन बिलकुल असत्य है। यथार्थ में अल्पारंभ अल्पपरिग्रह से ही श्रावक देवलोक में जाता है। अतः उसका भोजन करना आदि एकान्त पाप में कदापि नहीं है।

मृगघातकादि को लगने वाली क्रियाओं की चर्चा

उत्थानिका:—

पूर्व सूत्र में बाल, पण्डित एवं बाल-पण्डित जीवों का वर्णन किया गया था : उनमें से जीव द्वारा की गयी मृग-घातकादि कार्यों से कितनी क्रियाओं का बंधन होता है। इसका वर्णन प्रस्तुत सूत्र में किया जा रहा है।

सूत्र 156 पुरिसे णं भंते ! कच्छंसि वा १, दहंसि[1]वा २, उदगंसि[2]वा ३, दवियंसि वा ४, [3]वलयंसि वा ५, नूमंसि वा ६ गहणं सि वा ७, गहणविदुग्गंसि वा ८, [4]पव्वयंसि वा ९, [5]पव्वयविदुग्गंसि वा १०, वणंसि वा ११, वणविदुग्गंसि वा १२, [6]मियवित्तीए मियसंकप्पे मियपणिहाणे मियवहाए गंता [7]'एए मिए' त्ति [8]काउं अन्नयरस्स [9]मियस्स [10]वहाए कूड--[11]फासं [12]उद्दाइ; [13]ततो णं भंते ! से पुरिसे [14]कतिकिरिए ?

[15]गोयमा ! जावं च णं से पुरिसे कच्छंसि वा १२ जाव कूड-पासं[16] उद्दाइ तावं च णं से पुरिसे सिय तिकिरिए, सिय [17]चउकिरिए, सिय पंचकिरिए।

से [1]केणट्ठेणं भंते ! एवं [2]वुच्चइ सिय तिकिरिए सिय चउकिरिए, सिय पंचकिरिए ?

सूत्र 156 भगवन् ! मृगों से आजीविका च[लाने] वाला, मृगों का शिकारी मृगों के शिका[र में] तल्लीन कोई पुरुष मृग वध के लिए [निक]ला हुआ कच्छ (नदी के पानी से घिरे हुए झाड़ि[यों] वाले स्थान) में, द्रह में, जलाशय में, घास [आदि] के समूह में वलय में, अंधकार युक्त प्रदेश [में] गहन (वृक्ष आदि झुंड से सघन वन) में, प[र्वत] के एक भागवर्ती वन में, पर्वत पर पर्वतीय दु[र्गम] प्रदेश में, बहुत से वृक्षों से दुर्गम वन में, 'ये मृ[ग] है, ऐसा सोचकर किसी मृग को मारने के लि[ए] कूटपाश रचे (गड्ढा बनाकर जाल फैलाए) [तो] हे भगवन् ! वह पुरुष कितनी क्रियाओं वा[ला] कहा गया है ! अर्थात् उसे कितनी क्रि[याएँ] लगती है ?

गौतम ! वह पुरुष कच्छ में, यावत् [जाल] फैलाए तो कदाचित् तीन क्रिया वाला कदाचि[त्] चार क्रिया वाला और कदाचित् पांच कि[्रया] वाला होता है।

भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहा जा[ता] है कि वह पुरुष कदाचित् तीन चार [पांच] क्रियाओं वाला होता है ?

---

१. या दगंसि या - जं० ॥ २ ०सि दवि० - पा० ॥ ३. वल० - पा० ॥ ४. पव्वत सि या - बे० म० । पव्वयंसि वा पव्वयविदु० - जं० ॥ ५. पव्वत सि० बे० म० ॥ ६. मियवत्तिए - अ० । मियवत्तीए - स० । मीयउत्तीए मियस० - [illegible] ७. एते मियत्ति काउं - पा० । एते मियत्ति - न० । एते मिए त्ति - बे० म० । एते मिया त्ति कट्टु अ० - [illegible] ॥ ८. काओ - अमो० ॥ ९. मियवहाए - अमो० ॥ १०. वधाते - अ०० ॥ ११. कूडपासं उद्दाइ - अमो० ०पाम - [illegible] ०पासं - न० । "कूटं च मृगग्रहणकारणं गर्तादि पाशश्च तद्बन्धनम् इति कूटपाशम्" - मलं० ॥ १२. उद्दाति - [illegible] उद्दाइ - अ० क० ब० म० । ओद्दाति - लो ॥ १३. तओणं - अमो० पा० । तएणं - स० ॥ १४. [illegible] पण्णत्ते -पु० । कइकिरिए - अमो० । कइकिरिए पन्नत्ते - पा० ॥ १५ गोयमा सिय तिकिरिए - अमो० न० । [illegible] एवं च णं - जं० । गोयमा सिय तिकिरिए सिय चउकिरिए सिय पंचकिरिए । से केणट्ठेणं - स० ॥ १६. ओद्द[illegible] - लो० । १७. चतु० - ता ॥

१. णं सिय ति०० - पु० ॥ २. एवं वुच्चति - बे० म० । एवं जावं च णं से पुरिसे से कन्नटूडपासं उद्दाति [illegible] से पुरिसे सिय जं० ॥ ३. उद्दवण० - अमो० । उद्दवणयाएति - पा । उयद्दवणयाए स० । ओद्दवणयाए - लो० ।

गोयमा! जे भविए [३]उद्दवणयाए, णो [४]बंधणयाए, णो मारणयाए, तावं च णं से पुरिसे [५]काइयाए अहिगरणियाए पाउसियाए[६] [७]तीहिं [८]किरियाहिं पुट्ठे । जे भविए [९]उद्दवणयाए वि [१०]बंधणयाए वि णो [११]मारणयाए तावं च णं से पुरिसे काइयाए [१२]अहिगरणियाए [१३]पाउसियाए [१४]परियावणियाए [१५]चउहिं किरियाहिं पुट्ठे । जे भविए [१६]उद्दवणयाए वि बंधणयाए[१७] वि [१८]मारणयाए वि तावं च णं से पुरिसे [१९]काइयाइ अहिगरणियाए [२०]पाउसियाए [A]जाव[२१] [B]पंचहिं पुट्ठे । से [२२]तेणट्ठेणं [C]जाव पंचकिरिए ।

गौतम । जब तक वह पुरुष जाल को धारण करता है, और मृगों को बांधता नही है, तथा मृगों को मारता नहीं है, तब तक वह पुरुष कायिकी, आधिकरणिकी और प्राद्वेषिकी, इन तीन क्रियाओं से स्पृष्ट होता है ।

जब तक वह जाल को धारण किये हुए हैं और मृगो का बांधता है, किन्तु मारता नही, तब तक वह पुरुष कायिकी आधिकरणिकी, प्राद्वेषिकी और पारितापनिकी, इन चार क्रियाओं से स्पृष्ट होता है । जब वह पुरुष जाल को धारण किये हुए है. मृगो को बांधता है और मारता है, तब वह कायिकी, आधिकारणिकी, प्राद्वेषिकी, पारितापनिकी और प्राणातिपातिकी, इन पांच क्रियाओं से स्पृष्ट होता है । इस कारण गौतम ! वह पुरुष कदाचित् तीन क्रियाओं वाला कदाचित् चार क्रियाओं वाला और कदाचित् पाच क्रियाओं वाला कहा जाता है ।

विवेचन :-

प्रस्तुत सूत्र में मुख्यतया पांच क्रियाओं का वर्णन किया गया है—

(१) कायिकी— काया के द्वारा किया जाने वाला सावद्य व्यापार-कायिकी क्रिया है ।

(२) अधिकरणिकी— किसी जीव को हनन करने के लिए अधिकरण शस्त्रादि जुटाना—अधिकरणिकी क्रिया है ।

"उद्दवणाए ति कूटपाशधारणतायाः 'ता' प्रत्ययश्च इह स्वार्थिकः" अवृ० ॥ ४. बंधणाए - ला १ । बंधणाए णो मारणाए एवं च णं - जं० ॥ ५. ०एआहि० - लो० ॥ ६. पाओसियाए - न० ला१ । पादोसियाए - बे० म० । पाओसि० - लो० ॥ ७. तिहि० - पु० अमो० न० ॥ ८. ०याधि पुट्ठे - जं० ९. उद्दवण० - अमो० । उद्दवणताए - न० ओद्दावण० - लो० । उद्दावणताए बंधणाए णो मार० जं० ॥ १० — ११ — १७ - १८ ०णताए - न० ॥ ०मारणयाए - अमो० १३. पाओसियाए - अमो० न० बे० म० पायोसियाए - ब० ॥ १४. पारितावणि० - धा० न० । परिया० - ला० लो० ॥ १५ चउधि किरियाधि - जं० ॥ १६. उद्दवण० - अमो० । उद्दणयाए - ता० । ०ताए वि - न० उद्दणताए - लो० । ०णताए बंधणताए मारणताए तावं च - जं० ॥ १९. ०ए जाव पाणाइवाय किरियाए पंचहि किरियाहि पुट्ठे से तेण० - अमो । काइआदे पंचहि - जं० । ०ए जाव पाणातिवात किरियाए पंचहि किरियाहि पुट्ठे । से - बे० म० ॥ २०. पाओसि० न० ॥ २१. जाव पाणाइवाय किरियाए पंचहि किरियाहि पुट्ठे से तेन० धा० ।. २२. तेण० गो० एवं जावं च णं से पुरिसे सिय तिकिरिए ३ जं० ॥

A — पारितावणियाए पाणाइवायकिरियाए ॥ B — किरियाहिं ॥

C— गोयमा एवं वुच्चइ सिय तिकिरिए सिय चउकिरिए सिय० ॥

(३) प्राद्वेषिकी–हिंसाप्रद्वेष-मारे जाने वाले प्राणी पर द्वेष भाव आना प्राद्वेषिकी क्रिया है।

(४) पारितापनिकी– किसी भी प्राणी को पीडित करना पारितापनिक क्रिया है।

(५) प्राणातिपातिकी– किसी भी प्राणी को प्राणों से रहित कर देना प्राणातिपात क्रिया है।

मृग घातक पुरुष को केवल जाल बिछाने में तीन क्रिया लगती है क्योंकि इसके काया का व्यापार होने से कायिकी, हिंसक साधन के कारण आधिकरणिकी.... हिंस्य पर द्वेष करने से प्राद्वेषिकी क्रिया लगती है। इस जाल में हिरण को बाधने पर पीड़ा होने से मृग घातक को उक्त तीन क्रियाओं के साथ चौथी पारितापनिकी क्रिया लगती है। इसी मृग को मार देने पर उपर्युक्त चार क्रियाओं के साथ प्राणातिपातिकी नामक पांचवी क्रिया लगती है।

अग्नि लगाने से लगने वाली क्रिया

उत्थानिका—

पूर्व सूत्र के मृगघातक को लगने वाली क्रियाएं बतलाई। प्रस्तुत सूत्र में अग्नि को जलाने से लगने वाली क्रियाओं एवं मृगघातक पुरुष को लगने वाली क्रियाओं का वर्णन क्रमिक रूप से किया जा रहा है।

सूत्र 157 पुरिसे णं भंते ! कच्छंसि वा जाव वणविदुग्गंसि वा तणाइं [1]ऊसविय २ [2]अगणिकायं [3]निस्सरइ तावं च [4]णं से [5]भंते ! से पुरिसे [6]कतिकिरिए ?

गोयमा । सिय तिकिरिए सिय [7]चउकिरिए ।

से [8]केणट्ठेणं ?

[8]गोयमा ! जे भविए [9]उस्सवणयाए तिहिं; [9]उस्सवणयाए [10]वि, नो दहण-

सूत्र 157 भगवन् ! कच्छ में यावत् वनविदुर्ग में कोई पुरुष घास के तिनके इकठ्ठे करके उनमें अग्नि डाले तो वह पुरुष कितनी क्रिया वाला होता है ?

गौतम ! वह पुरुष कदाचित् तीन क्रियाओं वाला कदाचित् चार क्रियाओं वाला और कदाचित् पांच क्रियाओं वाला होता है।

भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहा जाता है ?

गौतम ! जब तक वह पुरुष तिनके इकट्ठे करता है, तब तक वह तीन क्रियाओं से स्पृष्ट होता है। जब वह तिनके इकट्ठे कर लेता है, और उनमें

१. "उस्सूप्य ऊर्ध्वं कृत्वा उर्ध्वीकृत्य - अनु० ॥ २. अगणि निसिरइ - प्रमो० ॥ ३. निसिरइ - पा० न० बे० म० ॥ ४ णं भंते - प्रमो० णं भंते से - न० बे० म० ॥ ५. भंते पु' - पा० ॥ ६. कइकिरिए - प्रमो० ॥ ७. चउकि० - इत्यादि ॥ ८. गोयमा - बे० ॥ ९. ए[ए] निसिरणयाए वि पा० ॥ १०. वि निस्सिरणयाए वि नो दह० - पु० । वि निसिरणयाए

याए चउहिं; जे भविए उस्सवणयाए वि [11]निस्सिरणयाए वि दहणयाए वि तावं च णं से पुरिसे [12]काइयाए [D]जाव पंचहिं किरियाहिं पुट्ठे से तेणट्ठेणं [E]गोयमा ।०।

सूत्र 158 पुरिसे णं भंते ! कच्छंसि वा [A]जाव वणविदुग्गंसि वा [1]मियवित्तीए मियसंकप्पे [2]मियपणिहाए मियवहाए गंता "[3]एए [4]मिये" त्ति काउ [5]अन्नयरस्स मियस्स वहाए उसुं [6]निसिरइ, [7]ततो ण भंते ! से पुरिसे [8]कइकिरिए?

गोयमा ! सिय तिकिरिए, सिय चउकिरिए, सिय पंचकिरिए ।

से [B]केणट्ठेणं ?

गोयमा ! जे भविए [9]निसिरणयाए [10]नो विद्धंसणयाए वि नो [11]मारण-

अग्नि डालता है, किन्तु जलाता नहीं है, तब तक वह चार क्रियाओं वाला होता है। जब वह तिनके इकट्ठे करता है, उसमें आग डालता है और जलाता है, तब वह पुरुष कायिकी आदि पांचों क्रियाओं से स्पष्ट होता है। इसलिए गौतम ! वह पुरुष कदाचित् तीन क्रियाओं वाला कदाचित् चार क्रियाओं वाला एवं कदाचित् पांच क्रियाओं वाला कहा जाता है।

सूत्र 58 भगवन् ! मृगों से आजीविका चलाने वाला मृगों का शिकार करने के लिए कृत-संकल्प, मृगों के शिकार में तन्मय मृगवध के लिए कच्छ में यावत् वनविदुर्ग में जाकर "ये मृग है" ऐसा सोचकर किसी एक मृग को मारने के लिए बाण फेंकता है तो वह पुरुष कितनी क्रिया वाला होता है ?

गौतम ! वह पुरुष कदाचित् तीन क्रिया वाला, कदाचित् चार क्रिया वाला और कदाचित् पांच क्रिया वाला होता है।

भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहा गया है।

गौतम ! जब तक वह पुरुष बाण फेंकता है, परन्तु मृग को बेधता नहीं है, तथा मृग को

वि नो - अमो० बे० म० ।। ११. निसिरणयाए वि - अमो० बे० म० । णिसिरण० धा० ।। १२. ०ए एवं जाव पंच० - ला० ।।

A- सूत्र १५६ सिय पंचकिरिए तक ।। B- भंते एवं वुच्चइ—सिय तिकिरिए सिय चउकिरिए

C- नो निसिरणयाए णो दहणयाए—तावं च णं से पुरिसे काइयाए अहिगरणियाए पाओसियाए- तिहि किरियाहिं पुट्ठे जे भविए उस्सवणायाए वि निसिरणयाए वि णो दहणयाए-ताव च णं से पुरिसे काइयाए अहिगरणियाए पाओसियाए पारितावणियाए-चउहिं किरियाहिं० पुट्ठे ।।

D- अहिगरणियाए पाओसिए पारितावणियाए पाणातिवाय किरियाए ।।

E- एवं वुच्चइ—सिय तिकिरिए सिय चउकिरि० सिय पंचकिरिए ।।

सू. १५८ १. ०वित्तिए - धा० । मियसंवित्तीए - ला०।। २. मियपणिहाणे - पु०अमो०धा०न०बे० मे०।। ३. एते मियत्ति काउं - धा० म० ।. ४. मिएत्तिकाउं - पु० अमो० । मिएत्ति अ० । मिया ति - ला० मं० । ५. अन्नतरस्स - न० ।। ६. निसिरति - न० । निसरइ - ला० ।। ७. तओ णं - धा. ।। ८. कतिकिरिए - न बे० म० ।। ९. ०णयाए णिहि - अमो० ।०णाए - ला १ । ०णयाते - लो० । ०याऐ ति० - म० बे० ।। १०. ०याए नो - न० ।। ११. ०ए वि

याए[C] तिहिं; जे भविए [१३]निसिरणयाए वि [१२]विद्धंसणयाए वि नो [D]मारणयाए चउहिं, जे भविए [१४]निसिरणयाए वि विद्धंसणयाए वि [१५]मारणयाए वि तावं च णं से [१६]पुरिसे [E]जाव [१७]पंचहिं किरियाहिं पुट्ठे । से तेणट्ठेणं [F]गोयमा ! सिय तिकिरिए सिय चउकिरिए सिय पंचकिरिए ।

159 पुरिसे णं भंते ! कच्छंसि वा [१]जाव[A] [२]अन्नयरस्स मियस्स वहाए [३]आययकन्नाययं उसुं [४]आयामेत्ता [५]चिट्ठिज्जा, [६]अन्नयरे पुरिसे [७]मग्गओ आगम्म सयपाणिणा असिणा सीसं छिंदेज्जा, से य [८]उसुं ताए चेव [१०]पुव्वा-यामणयाए [११]तं मियं विंधेज्जा, से णं

मारता नहीं है तब तक वह तीन क्रिया वाला है। जब वह बाण फेंकता है और मृग को बेधता है, किन्तु मारता नहीं है, तब तक वह चार क्रिया वाला है। जब वह बाण फेंकता है, मृग को बेधता है और मारता है, तब वह पुरुष पांच क्रिया वाला कहलाता है।

गौतम ! इस कारण ऐसा कहा जाता है कि कदाचित् तीन क्रिया वाला, कदाचित् चार क्रिया वाला और कदाचित् पांच क्रिया वाला होता है।

सूत्र 159 भगवन् ! कोई पुरुष कच्छ में यावत् किसी मृग का वध करने के लिए कान तक तने हुए बाण को प्रयत्नपूर्वक खींचकर खड़ा हो और दूसरा कोई पुरुष पीछे से आकर उस खड़े हुए पुरुष का मस्तक अपने हाथ से तलवार द्वारा काट डाले तब वह बाण पहले के खिंचाव से उछल कर उस मृग को बींध डाले, तो हे

तिहिं - पा० ॥ १२. ०णताए - न० । ०ए नो मारणयाए वि ते ब० - ला २ ॥ १३. निसिरण० - पु० ०णताए - न० ॥ १४. निसिरण० - पु ॥ १५ ०णताए - न० ॥ १६. पुरिसे जाव पाणाइवाय किरियाए पंचहिं पा० ॥ १७. पंचकिरियाहिं - अमो० ॥

A— सूत्र १५६ सिय पंचकिरिए तक ॥

B— एवं वुच्चइ सिय तिकिरिए सिय चउकिरिए सिय पंचकिरिए ॥

C— ताओ य णं से पुरिसे काइयाए अहिगरणियाए पाओसियाए तिहिं किरियाहिं पुट्ठे ॥

D— ताओ य णं से पुरिसे काइयाए अहिगरणियाए पाओसियाए पारितावणियाए चउहिं किरियाहिं पुट्ठे ॥

E— काइयाए अहिगरणियाए पाओसियाए पारितावणियाए पाणातिवाय किरियाए F— एवं वुच्चइ ॥

सू १५९ १. जाव वणविदुग्गंसि वा ? मियवित्तिए मियसंकप्पे मिय पणिहाणे मियवहाए गंता एगे [illegible] ॥ २. अन्नयरस्स - न० ॥ ३. आययकन्नायय - पा० न० वे० म० ॥ ४. आयमेत्ता - ला १ ॥ ५. चिट्ठिज्जा - [illegible] न० ॥ ६. अण्णे य अन्नयरे पुरिसे - पा० । अण्णे य से - क० ला० सं वे० म० ॥ ७. मग्गओ - न० वे० म० ॥ ८. मग० - ला० ॥ ९. उसू - अमो० पा० न० वे० म० ॥ १०. पव्वायाम० - अमो० ॥ ११. तं विधे० - पु० ॥

A—सूत्र १५० सिय पंचकिरिए तक ॥

भंते ! पुरिसे किं [१२]मियवेरेणं पुट्ठे ? पुरिसवेरेणं पुट्ठे !

[१३]गोयमा ! जे मियं [१४]मारेइ, से मियवेरेणं पुट्ठे, जे [१५]पुरिसं मारेइ से पुरिसवेरेणं पुट्ठे !

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ [B]जाव से पुरिसवेरेणं पुट्ठे ?

से नूणं गोयमा ! कज्जमाणे कडे, [१]संधिज्जमाणे [२]संधिए निव्वत्तिज्जमाणे [३]निव्वत्तिए, [४]निसिरज्जमाणे [५]निसिट्ठे त्ति वत्तव्वं सिया ?

हंता भगवं ! कज्जमाणे कडे [A]जाव [६]निसिट्ठे त्ति वत्तव्वं सिया। से तेणट्ठेणं [७]गोयमा ! जे मियं [८]मारेइ से मियवेरेण ~ट्ठे जे [९]पुरिसं मारेइ से पुरिसवेरेणं ट्ठे। अंतो [१०]छण्हं मासाणं मरइ ाइयाए [B]जाव पंचहिं किरियाहिं ुट्ठे; बाहिं छण्हं मासाणं [११]मरइ [१२]काइयाए [C]जाव [१३]परियावणियाए वउहिं किरियाहिं पुट्ठे।

भगवन् ! वह पुरुष, मृग के वैर से स्पृष्ट है या (उक्त) पुरुष के वैर से स्पृष्ट है ?

गौतम ! जो पुरुष मृग को मारता है, वह मृग के वैर से स्पृष्ट है और जो पुरुष पुरुष को मारता है वह पुरुष, पुरुष के वैर से स्पृष्ट है।

भगवन् ! आप ऐसा किस कारण से कहते है कि यावत् वह पुरुष, पुरुष के वैर से स्पृष्ट है ?

गौतम ! यह तो निश्चित है न कि जो किया जा रहा है, वह किया हुआ कहलाता है जो मारा जा रहा है, वह मारा हुआ, जो जलाया जा रहा है, वह जलाया हुआ कहलाता है और जो फेंका जा रहा है, वह फेंका हुआ कहलाता है ?

हां भगवन् ! जो किया जा रहा है, वह किया हुआ कहलाता है, और यावत्—जो फेंका जा रहा है, वह फेंका हुआ कहलाता है। इसी कारण हे गौतम ! जो मृग को मारता है, वह मृग के वैर से स्पृष्ट है, और जो पुरुष को मारता है, वह पुरुष के वैर से स्पृष्ट कहलाता हैं। यदि मरने वाला छह मास के अन्दर मरे तो मारने वाला कायिक आदि यावत् पांचों क्रियाओं से स्पृष्ट कहलाता है और यदि मरने वाला छह मास के पश्चात् मरे तो मारने वाला पुरुष कायिका यावत् पारितापनिकी इन चार क्रियाओं से स्पृष्ट कहलाता है।

मारेंति - वे० म० ॥ १५.
१२. ०ण य पुट्ठे - अमो० ॥ १३. गोतमा - वे० म० ॥ १४. ०इ सिय मिय० - घा०। मारेति - वे० म० ॥ १५.
B-जे मियं मारेइ से मियवेरेण पुट्ठे जे पुरिसं मारेइ ॥
१. सधेञ० - अमो० ता० ॥ २. संधित्ते - घा० न० वे० म० ॥ ३. निव्वत्तिते - न०। निव्वतिए - ला० ॥ ४.
निसरिज्जमाणे - घा० ॥ ५. निसट्ठे - क० ता० वे० म० ॥ ६. निसट्ठे - अमो० वे० म० ॥ ७. ०मा एवं वुच्चइ, जे -
ना० ॥ ८. मारेति - वे० म० ॥ १०. अत्र षड्मासादिकाल निर्णय ज्ञानाय वृत्ति विलोकनीया ॥ ११. मरति वे०
म० ॥ १२. कातियाए - न० ॥ १३. पारियाo - पु० अमो० घा०। पारिताo - न० वे० म० ॥
A. संधिज्जमाणे संधिते निव्वत्तिज्जमाणे निव्वतिते निसिरिज्जमाणे ॥
B. अहिगरणियाए पाओसियाए पारितावणियाए पाणातिवाय किरियाए ॥
C. अहिगरणियाए पाओसियाए ॥

विवेचन—

बाण चढ़ाकर खड़े हुए मृग घातक पुरुष के मस्तक को कोई व्यक्ति पीछे से आकर अपने हाथ में स्थित तलवार से काट देता है, और उस मृगघातक पुरुष के पूर्व खिचाव से वह बाण छूटकर मृग को लग जाता है, जिससे मृग की मृत्यु हो जाती है। इसमें "कज्जमाणे कडे" के सिद्धान्त के अनुसार पुरुष को मारने वाला पुरुष घातक और मृग को मारने वाला मृग घातक कहलायगा। मरने वाला व्यक्ति यदि शस्त्र लगने के छह माह में मर जाता है, तो मारक को पांचों क्रियाएँ लगती हैं। यदि वह मरने वाला जीव शस्त्र लगने के छः मास बाद मरता है तो उसे प्राणातिपातिकी क्रिया से रहित चार क्रियाएं लगती है। क्योंकि छह मास के बाद मरने वाले जीव का निमित्त मरने वाले व्यक्ति का शस्त्र नहीं होता। यह एक व्यावहारिक कथन है। अन्यथा उस प्रहार के निमित से उस व्यक्ति का कभी भी मरण हो तो उस मारक को पांचों क्रियाएँ लगती हैं।

सूत्र 160 पुरिसे णं भंते ! पुरिसं सत्तीए [1]समभिधंसेज्जा, [2]सयपाणिणा वा से असिणा सीसं छिंदेज्जा [3]तओ णं भंते ! से पुरिसे [4]कतिकिरिए ?

गोयमा ! जावं च णं से पुरिसे तं पुरिसं [5]सत्तीए[6] समभिधंसेइ [7]सयपाणिणा वा से असिणा सीसं [8]छिंदइ ताव च णं से पुरिसे [9]काइयाए अहिगरणियाए [A]जाव [10]पाणाइवायकिरियाए, पंचहिं किरियाहिं पुट्ठे, [11]आसन्नवहएण य [12]अणवकंखवत्तिएणं पुरिसवेरेणं पुट्ठे।

सूत्र 160 भगवन् ! कोई पुरुष किसी पुरुष को बरछी से मारे अथवा अपने हाथ से तलवार द्वारा उस पुरुष का मस्तक काट डाले, तो वह पुरुष कितनी क्रिया वाला होता है ?

गौतम ! जब वह पुरुष उसे बरछी द्वारा मारता है, अथवा अपने हाथ से तलवार द्वारा उस पुरुष का मस्तक काटता है, तब वह पुरुष कायिकी आधिकरणिकी यावत् प्राणातिपातिकी इन पांचों क्रियाओं से स्पृष्ट होता है और वह आसन्नवधक एवं दूसरे के प्राणों की परवाह न करने वाला पुरुष, पुरुष-वैर से स्पृष्ट होता है।

१. ०ज्जा पाणिना वा - मो० । ०ज्जा सयाणिणा वा - ला । सेज्ज सयाणिणा वा - ला २ ॥ २. सयाणिणा - ला० ॥ ३. तओ णं - ज० वे० म० ॥ ४. कइकि - अमो० पा० ॥ ५. ०ए अभिधंसेइ - पु० । ०ए समभिध - अमो० ०ए समभि > धंसेति - पा० ॥ समभि धंसेइ - वे० म० । ६. सेति से पाणिणा - पा० । समभिधंसेति - ज० । ...... - म० व० ज० ॥ ७. सयाणिणा - म० ला० । सयाणि० - मो० ला० ला २ ॥ ८. छिंदति - पा० म० । छिंदे - मो० ॥ ९. ०ए जाव पाणाइवाए पंच किरियाहि पुट्ठे - अमो० ॥ १०. पाणातिवाय कि० - ज० पाणातिवायकि० - वे० म० ॥ ११. ०वह य - पा० म० । ०स्नवहेण - मो० । ०न्नवंधएण - ला० । १२. ०वकंखिणं - अमो० । अंणवकंखिए - ...... अनवकंखवत्ति - अ० म० । ०वत्त० - वे० ज० । ०वत्तीएणं मो० ला० ॥

A— पाओसियाए पारितावणियाए ॥

अनेक बातों में समान दो योद्धाओं में जय-पराजय का कारण—

सूत्र 16। दो भंते ! पुरिसा [1]सरिसया [2]सरित्तया [3]सरिव्वया [4]सरिसभंडमत्तोवगरणा अन्नमन्नेणं सद्धिं संगामं [5]संगामेंति, तत्थ णं एगे पुरिसे [6]पराइणइ एगे पुरिसे [7]पराइज्जइ, से [8]कहमेयं भंते ! एवं ?

[9]गोयमा ! सवीरिए [10]परायिणइ अवीरिए [11]पराइज्जइ।

से केणट्ठेणं [A]जाव [12]पराइज्जइ ?

गोयमा ! जस्स णं वीरियवज्झाइं कम्माइं णो पुट्ठाइं [B]जाव नो [14]अभिसमन्नागयाइं, नो [15]उदिन्नाइं, उवसंताइं भवंति से [17]णं पुरिसे [18]पराइणइ, जस्स णं [19]वीरियवज्झाइं कम्माइं

सूत्र 16। भगवन् ! एक सरीखे, एक सरीखी चमड़ी वाले, समानवयस्क, समान द्रव्य और उपकरण (शस्त्रादि साधन) वाले कोई दो पुरुष परस्पर एक दूसरे के साथ संग्राम करे, तो उनमें से एक पुरुष जीतता है और एक पुरुष हारता है। भगवन् ! ऐसा क्यों होता है ?

गौतम ! जो पुरुष सवीर्य (शक्तिशाली) होता है, वह जीतता है जो वीर्यहीन होता है, वह हारता है।

भगवन् ! इसका क्या कारण है, यावत् वीर्यहीन हारता है ?

गौतम ! जिसने वीर्यविघातक कर्म नहीं वांधे है, नहीं स्पर्श किये हैं यावत् प्राप्त नही किये हैं, और उसके वे कर्म उदय में नहीं आये है, परन्तु उपशांत है, वह पुरुष जीतता है। जिसने वीर्य विघातक कर्म वांधे है स्पर्श किये है, यावत् उसके वे कर्म उदय मे आए है, परन्तु

---

१. ०सया सरिसव्वया सरिसत्तया सरिसभंड - धा। सरसया - ब०। सरिसा सरि० - लों० ॥ २. सरिसत्तया - ला ॥ ३. सरिसव्वया। अमो० ला २ ॥ ४. संस्कृत भाषाया 'मात्रा' शब्दः परिवार वाचकः प्रसिद्ध तत्समानः प्रा० 'अमत्त' शब्दोऽपि भाजनवाचकः प्रसिद्ध। अत्र 'मत्त' पदस्य विवरणं वृत्तौ द्रष्टव्यम् ॥ ५. संगामेइ - अमो० धा० ॥ ६. पराजिणाइ - धा०। पराइणति न०। परायणति - ला ॥ ७. पराविज्जति - न० ला०। पराइणिज्जइ - अ० सा० बे०। पराएज्जइ - स० ॥ ८. कहमिणं भंते - ल० ॥ ९. गोतमा बे० म० ॥ १०. पराइणइ - अमो०। पराजिणइ - धा। परायिणति - न०। बे० म०। परायणति - ला ॥ ११ परायिज्जति - न० ला०। पराइज्जति - बे० म०। १२. पराविज्जति - न० ला०। पराइज्जति - बे० म०। ०ज्जति जस्स णं ॥ १३.-१४. ०गयाइं - बे० म० ॥ १५. ०इं नो उवसंताइं - धा० ॥ १७. णं पराइणइ - पु० अमो०। णं पराजिणइ - धा०। णं परायिणति - बे० म०। णं परायणति - ला० ॥ १८. परायिणति - न० बे० म०। परायणति - ला० ॥ १९. ०वज्झाइं - पु० अमो०

A- भंते एवं वुच्चइ सवीरिए परायिणति अवीरिए ॥

B- नो निहत्ताइं कडाइं नो पट्ठावियाइं नो अभिनिविट्ठाइं ॥

वद्धाइं, [C]जाव [20]उदिन्नाइं, कम्माइं नो उवसंताइं भवंति से णं पुरिसे [22]पराइज्जइ। से तेणट्ठेणं गोयमा! एवं [23]वुच्चइ सवीरिए [24]पराइणइ, अवीरिए [25]पराइज्जइ।

उपशांत नहीं है, वह पुरुष पराजित होता है। अतएव गौतम! ऐसा कहा जाता है कि सवीर्य पुरुष विजयी होता है और वीर्यहीन पुरुष पराजित होता है।

जीव एवं चौबीस दण्डकों में सवीर्यत्व-अवीर्यत्व चर्चा

उत्थानिका:—

पूर्व सूत्र में दो पुरुषों के परस्पर संग्राम करने में जीतने और हारने के विषय में वीर्य की प्रमुखता प्रतिपादित की गई है। अतः प्रस्तुत सूत्रों में वीर्य विषयक विचार किया जा रहा है।

162 जीवा णं भंते! किं सवीरिया? [1]अवीरिया?

[2]गोयमा! सवीरिया वि [3]अवीरिया वि।

से [4]केणट्ठेणं[A]?

गोयमा! जीवा दुविहा पण्णत्ता, तं जहा–संसारसमावन्नगा य, असंसारसमावन्नगा य। [5]तत्थ णं जे ते असंसार समावन्नगा ते ण सिद्धा णं [6]अवीरिया। तत्थ णं जे ते संसार [7]समावन्नगा ते

सूत्र 162 भगवन् क्या जीव सवीर्य है अथवा अवीर्य है?

गौतम! जीव सवीर्य भी है।

भगवन्! आप किस कारण से ऐसा कहते हैं?

गौतम! जीव दो प्रकार के है-संसार समापन्नक (संसारी और असंसार समापन्नक (सिद्ध)। इनमें जो जीव असंसार समापन्नक है वे सिद्ध जीव है, वे अवीर्य है। इनमें जो जीव संसार समापन्नक है, वे दो प्रकार के कहे गये है, यथा—शैलेशीप्रतिपन्न और अशैलेशीप्रतिपन्न

न० बे० म० । धीरिज्जाइं - पा० ॥ २०. ०इं नो उव० - पु० अमो० पा० न० उदिण्णाइं - म० ॥ २१-२२. प[राइ]ज्जति - न० बे० म० । पराय[ज्ज]ति पा० ॥ २३. वुच्चति - म० ॥ २४. पराजिनइ - पा० । पराजिणइ म० । पराजिनइ - बे० म० । परायणति - सा० ॥ २५. पराजिज्जति - न० । पराविज्जति - ल० । पराइज्जति - बे० म० । पराइज्जति - बे० म० ॥

C– पुट्ठाइं पट्ठविआइं अभिनिविट्ठाइं अभिसमन्नागयाइं ॥

सूत्र १६२ १-३. अविरिया - लो० ॥ २. [इ]मा [अ]सा म० - सा १ ॥ ४. [ण]ं भंते वुच्चइ गोयमा - अमो० ॥ ५. [तत्थ] बे० - ल० मा० ब० मं० ॥ ६. "असरकर्मवीर्याभावात् अवीर्याः सिद्धाः." - अभ० ॥ ७. समावन्नया ल० मा० बे० ॥

A– भंते एवं वुच्चइ जीवा सवीरिया वि अवीरिया वि ॥

ुविहा पण्णत्ता; तं जहा–[8]सेलेसिपडि-
न्नगा य असेलेसिपडिवन्नगा य । तत्थ
ां जे ते सेलेसिपडिवन्नगा ते णं लद्धि-
ोरिएणं सवीरिया करणवीरिएणं
अवीरिया । तत्थ णं जे ते [10]असेलेसि-
डिवन्नगा ते णं लद्धिवीरिएणं [11]सवी-
रिया वि [12] अवीरिया वि । से तेणट्ठेणं
ोयमा! [13]एवं [14]वुच्चइ [15]जीवा दुविहा
पण्णत्ता; तं जहा–सवीरिया वि अवी-
रिया वि ।

इनमें जो शैलेशीप्रतिपन्न है, वे लब्धिवीर्य की अपेक्षा सवीर्य है और करणवीर्य की अपेक्षा अवीर्य है । जो अशैलेशीप्रतिपन्न है वे लब्धिवीर्य की अपेक्षा सवीर्य है, किन्तु करणवीर्य की अपेक्षा सवीर्य भी है और अवीर्य भी है । इस लिए गौतम ! ऐसा कहा जाता है कि जीव सवीर्य भी है और अवीर्य भी है ।

सूत्र 163 (1)नेरइया णं भंते ! किं सवी-
रिया ? अवीरिया ?

सूत्र 163 (1) भगवन ! क्या नारक जीव सवीर्य है? अथवा अवीर्य ?

गोयमा ! नेरइया [1]लद्धिवीरिएणं सवी-
रिया, करणवीरिएणं [2]सवीरिया वि
अवीरिया [3]वि ।

गौतम ! नारक जीव लब्धि- वीर्य की अपेक्षा सवीर्य है और करणवीर्य की अपेक्षा सवीर्य भी है और अवीर्य भी है ।

[4]से [A]केणट्ठेणं ?

भगवन् ! इसका क्या कारण है ?

गोयमा ! जेसि णं नेरइयाणं अत्थि
[5]उट्ठाणे कम्मे बले वीरिए [6]पुरिसक्का-
रपरक्कमे ते णं नेरइया लद्धिवीरिएण
वि सवीरिया, करणवीरिएण वि सवी-
रिया, जेसि [7]णं नेरइयाणं नत्थि उट्ठाणे

गौतम ! जिन नैरयिकों में उत्थान, कर्म बल, वीर्य, और पुरुषकारपराक्रम है, वे नारक लब्धि-वीर्य और करणवीर्य दोनो से सवीर्य है, और जो नारक उत्थान, कर्म, बल वीर्य, पुरुषकार पराक्रम से रहित हैं वे लब्धिवीर्य से सवीर्य है,

८ "शैलेशः सर्व संवर रूप चरण प्रभु तस्य इयम् अवस्था । शैलशो वा मेरुः तस्य इव या अवस्था स्थिरता साधर्म्यात् सा शैलेशी" अवृ० । सेल (शैल) + इसी ऋषि = सेलेसी तथा सेलेउसी इत्यादिका अपि व्युत्पत्तय. 'शैलेशी' शब्दस्य सूचिता विशेषावश्यक भाष्यकारै श्रीमद्भिः जिन भद्र गणि क्षमा श्रमणैः द्रष्टव्या गा० ३६६३-३६६४ पृष्ठ ७२८।।
९. अविरीया - पा० । अवीरिता जं० १०. लेसीपडिवण्णया पा० ।। ११. ०रिया य अवीरिया य मे - ला १ ।।
१२. अविरिया - पा० ।। १३. एवं जीवा सवीरिता - जं० ।। १४. वुच्चति - वे० म० ।। १५. जीवा संवीरियावि - ला ।।
सूत्र १६३ ०वीरएण - पा० । लद्धिविरेणं सवीरि० - जं० ।। २. ०या य अविरिया य - अमो० म० । ०या वि या ला० ला २ । ३. वि य - ला १-२ । इ ला० ।। ४ से केणट्ठेणं जाव करणवीरि० सवीरि० अवीरिया वि ? जेसि णं णेरतिताणं - जं० ।। ५. उट्ठाणे इ वा कम्मे इ वा बले इ वा वीरिते ति वा पुरिसक्कार परक्कमे इ वा ते णं - जं० ।।
६.०परक्कमे - पा० ।। ७. णं णेरति० नत्थि उट्ठाणे ति वा जं० ते णं णेरतिया लद्धिवीरि० सवी० करणवीरितेणं
A. भंते एवं वुच्चइ–नेरइया लद्धिवीरिएणं सवीरिया ? करणवीरिएणं सवीरिया य अवीरिया य ।।

[B]जाव परक्कमे ते णं नेरइया लद्धिवीरिएणं सवीरिया, करणवीरिएणं अवीरिया। से [C]तेणट्ठेणं०।

(II) जहा नेरइया एवं [D]जाव पंचिंदियतिरिक्खजोणिया।

(III) [9]मणुस्स [E]जहा ओहिया जीवा। नवरं सिद्धवज्जा भाणियव्वा।

(IV) वाणमंतर-जोइस-वेमाणिया [F]जहा [10]नेरइया।

सेवं भंते! सेवं [G]भंते। [11]त्ति।

"अट्ठमो उद्देसो समत्तो"

किन्तु करणवीर्य से अवीर्य है। इसलिए गौतम! इस कारण पूर्वोक्त कथन किया गया है।

(ii) जिस प्रकार नैरयिकों के विषय में कथन किया गया है, उसी प्रकार पंचेन्द्रिय तिर्यंचयोनिक तक के जीवों के लिए समझना चाहिए।

(iii) मनुष्यों के विषय में सामान्य जीवों के समान समझना चाहिए। विशेषता यह है कि सिद्धों को छोड़ देना चाहिए।

(iv) वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवों के विषय में नैरयिकों के समान कथन समझना चाहिए।

भगवन्! यह इसी प्रकार है, यों कहकर गौतम स्वामी तप और संयम से आत्मा को भावित करते हुए विचरने लगे।

॥ आठवां उद्देशक समाप्त हुआ ॥

विवेचन :-

आत्मिक शक्ति विशेष को 'वीर्य' कहते हैं। जब वह आत्मिक शक्ति किसी भी क्रिया में प्रवृत्त नहीं होती, तब उसे लब्धि-वीर्य कहते हैं। जब यह आत्मिक शक्ति किसी भी क्रिया में प्रवृत्त होती है, उसे करणवीर्य कहते हैं।

सवीरिया वि अवीरिया वि। एवं जाव वेमाणिय सेवं भंते।। २ भगवं गोयमे समणं भगवं जाव विहरति - वं० ८. मणूसा - पा० जो०। ९. जोतिस - म० वे० म० ॥ १०. ०या अट्ठमो वग्गो समत्तो - ला०। ०या अट्ठमो ... ०२। या पढम सए अट्ठमो - लों जे० ला ८ ॥ ११ त्ति जाव विहरइ - पा० म० ॥

B. कम्मे बले वीरिए पुरिसक्कारे ॥

C. एवं वुच्चइ नेरइया लद्धिवीरिएणं सवीरिया करणवीरिएणं सवीरिया य अवीरिया य ॥

D. पूरक पाठ १ से २० तक ॥

E. मणुस्सा णं भंते! किं सवीरिया? अवीरिया? गोयमा! सवीरिया वि अवीरिया वि। से केणट्ठेणं भंते! वुच्चइ-मणुस्सा सवीरिया वि? अवीरिया वि? गोयमा-मणुस्सा दुविहा पण्णत्ता, तंजहा-सेलेसिपडिवन्नगा य असेलेसिपडिवन्नगा य। तत्थ णं जे ते सेलेसिपडिवन्नगा ते णं लद्धिवीरिएणं सवीरिया, करणवीरिएणं अवीरिया। तत्थ णं जे ते असेलेसिपडिवन्नगा ते णं लद्धिवीरिएणं सवीरिया करणवीरिएणं सवीरिया वि अवीरिया वि। से तेणट्ठेणं गोयमा एवं वुच्चइ मणुस्सा सवीरिया वि अवीरिया वि।

F. सूत्र १९३ का (i) ॥ G. सूत्र १०१ का पाठ पूर्ति (C) ॥

समस्त जीवों को दो विभागों में विभक्त किया जा सकता है— (१) सिद्ध और (२) संसारी।

सिद्ध जीव आपेक्षिक दृष्टिकोण से सवीर्य भी है, और अवीर्य भी। वीर्य का तात्पर्य आत्मिक शक्ति से है। वह शक्ति दो प्रकार से प्रकट होती है—(१) अन्तराय कर्म के क्षयोपशम से तथा (२) उसके सर्वथा क्षय से। जहां क्षयोपशमजन्य वीर्य शक्ति है, जिसको कि लब्धि भी कहा है, वह लब्धि बारहवें गुणस्थान तक क्षयोपशमिक लब्धि रूप में होती है, किन्तु तेरहवें गुणस्थान में वही लब्धि क्षायिक भाव को प्राप्त हो जाती है। क्योंकि सयोगी केवली गुणस्थान के पूर्ववर्ती क्षण में घनघातिक कर्मों का सर्वथा क्षय होने से चार क्षायिक शक्तियां आत्मा में सदा-सदा के लिए प्रकट हो जाती हैं। क्षायिकज्ञान, क्षायिकदर्शन, क्षायिक चरित्र और क्षायिक वीर्य। ये चारों शक्तियां आत्मा में स्थायी रुप से विकसित हो जाने पर सिद्ध अवस्था में भी एक समान रहती हैं। अतः अन्तरायकर्म के क्षय से जो वीर्यलब्धि प्राप्त हुई है वह सिद्ध अवस्था में भी वैसी ही विद्यमान है।

यहां सामान्य प्रश्न है कि क्या जीव सवीर्य है या अवीर्य ? इसका सामान्य उत्तर मिला 'जीवा सवीरिया अवीरिया'—जीव सवीर्य भी है और अवीर्य भी है। यह उत्तर अपेक्षा से सभी जीवों पर घटित होता है। यदि सभी जीवों में यह लागू नही होता तो सभी जीवों का सामान्यतः कथन नही होता। सिर्फ संसारी जीव ही लिये जाते। किन्तु शास्त्रकारों ने संसारी एवं सिद्ध यह भेद किये बिना ही जो समुच्चय जीवों के सवीर्य एवं अवीर्य भेद प्रतिपादित किये हैं, वे सामान्यतः समस्त जीवों में घटित होने से सिद्धों में भी ये दोनों भेद घटित होंगे। यदि सिद्धो में अवीर्य अवस्था ही मानी जाय, सवीर्य नहीं तो प्रश्न उपस्थित होगा कि क्या सिद्ध भगवन्तों में आत्मिक शक्ति नही है ? जो कि जीव का मूल स्वभाव है। उसको नहीं मानने पर बहुत बड़ी असमंजस की स्थिति आ जायगी। दूसरी बात यह है कि तेरहवें गुणस्थान मे अन्तरायकर्म के क्षय से जो अनन्त वीर्यलब्धि प्राप्त हुई है, वह सदा सदा के लिए प्राप्त हुई है। अतः वह सिद्धों में भी अवश्य रहेगी। वैसी स्थिति मे सिद्धो को अवीर्य नही कह सकते। यदि कोई अवीर्य कहे तो, उनसे यह पूछना चाहिए कि तेरहवें गुणस्थान में जिन चार क्षायिक शक्तियों का प्रादुर्भाव हुआ है उनका विलोप होने पर सिद्धावस्था प्राप्त होगी या बिना लोप हुए प्राप्त होगी ? यदि क्षायिक शक्तियां विलोप होने पर प्राप्त होगी तो ऐसी अवस्था में वीर्य सिद्धों में नहीं मानने पर यह माना जा सकेगा कि तेरहवें गुणस्थान में प्राप्त हुई शक्तियां सिद्धावस्था में जाने पर समाप्त हो गई। जब इस प्रकार क्षायिक वीर्य शक्ति समाप्त हो सकती है, तो अवशेष तीनों क्षायिक शक्तियां भी क्यों नहीं समाप्त हो सकती है ? यदि हुई तो निष्कारण क्यों हुई ? यदि निष्कारण समाप्त हो गई तो ये चारों शक्तियां आत्मा की वास्तविक गुण रूप नहीं होगी। वैसी स्थिति में यह विषय जैन दर्शन का न रहकर ज्ञानादि गुणरहित मोक्ष मानने वाले एकान्तवादियो की कोटि में यह सारा विषय चला जायगा, जो कि तीर्थंकर देवो के ज्ञान में अभीष्ट नहीं है। अतएव तेरहवें गुणस्थान में प्राप्त शक्तियां सिद्धावस्था में भी

उसी रूप में बनी रहती है। उसमें अंशत: भी परिवर्तन नहीं आता। अतः उसी मूलपाठ में इस प्रश्न के उत्तर में जो प्रभु ने फरमाया है, वह 'तहमेव' सत्य है। समुच्चय जीव की तरह सिद्धों में भी सवीर्य, अवीर्य दोनों का कथन सापेक्ष दृष्टि से रहा हुआ है।

सिद्ध क्षायिक शक्ति के रूप में लब्धिरूप सवीर्य है, और करण की दृष्टि से अवीर्य है। ये दो भेद आपेक्षिक दृष्टि से समग्र जीवों में पाये जाते हैं। अतः प्रभु ने समुच्चय रूप में उत्तर दिया है। आगे से सिद्ध और संसार के भेद जो आए, वे करणवीर्य की मुख्यता से है, क्योंकि करणवीर्यता को लेकर ही सिद्ध और संसारी के भेद होते हैं, अन्यथा नहीं। सिद्ध और संसारी के भेद करने के बाद जो सिद्धों के लिए अवीर्य का कथन किया है, वह इसी करण वीर्य की मुख्यता का अभाव होने से, न कि क्षायिक शक्ति रूप लब्धि वीर्य के अभाव में।

संसारी जीवों में भी प्रयोग की दृष्टि से सवीर्य-अवीर्य दोनों कथन है। जिस समय करणवीर्य का उपयोग नहीं है, उस समय उसे अवीर्य कहा है।

अन्त में जहां मनुष्य के लिए औधिक जीवों की भलावण दी है, वहां जो सिद्धों को छोड़ने के लिए कहा है—"सिद्धवज्जा भाणियव्वा।" वहां मनुष्य शब्द मन, वचन, काय रूप शरीर का द्योतक है ? यह त्रिकरण की अवस्था सिद्धों में नहीं है, इस अपेक्षा "सिद्धवज्जा" सिद्धों को छोड़ कहा गया है। टीकाकार ने भी इस बात को स्पष्ट करने के लिए कहा है कि "सकरणवीर्याभावादवीर्याः सिद्धा" सकरणवीर्य के अभाव से सिद्ध अवीर्य हैं।

संसारी जीव भी शैलेशी प्रतिपन्न और अशैलेशी प्रतिपन्न के भेद से दो प्रकार के होते हैं। शैलेशी प्रतिपन्न जीव अ, इ, उ, ऋ, लृ इन पांच अक्षरों के उच्चारण करने के समय मात्र में मुक्त हो जाते हैं। ऐसे जीव लब्धिवीर्य की अपेक्षा अवीर्य है।

अशैलेशी प्रतिपन्न जीव लब्धिवीर्य की अपेक्षा से सवीर्य है। करणवीर्य की अपेक्षा से सवीर्य भी है और अवीर्य भी है।

नारकी जीव भी लब्धिवीर्य की अपेक्षा से सवीर्य और करणवीर्य की अपेक्षा सवीर्य, अवीर्य दोनों होते हैं। इसी तरह मनुष्यों के अतिरिक्त अवशेष सभी जीवों का कथन करना चाहिये। मनुष्यों में सिद्धों को छोड़कर सभी मनुष्यों का वर्णन औधिक की तरह जानना चाहिए।

॥ अष्टम उद्देशक समाप्त ॥

नवम उद्देशक

प्रारंभिक

अष्टम उद्देशक में अन्य वर्णनीय बातों के साथ 'वीर्य' पर विचार किया गया था। वीर्य के द्वारा ही व्यक्ति सर्वत्र पूजार्ह (पूजा के योग्य) बनता है। सोने का अधिक और पीतल का मूल्य कम क्यों होता है? विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाएगा कि पीतल की अपेक्षा सोने में अधिक शक्ति है। स्वर्ण इतना शक्ति संपन्न है कि उसे कितना ही पतला करके खींचा जाए, वह टूटता नहीं है, जब कि पीतल टूट जाता है। सोने का विज्ञान करने वाला आत्मा ही है, स्वर्ण तो क्या सारे संसार की वस्तुओं का ज्ञान करने वाला भी आत्मा ही होता है, तब उस विज्ञाता आत्मा में कितनी शक्ति होगी, इसका तो चिंतन भी नहीं किया जा सकता!

ऐसी आत्मिक शक्ति का प्रयोग दो प्रकार से होता है-एक तो उस शक्ति को बढ़ाने-विकसित करने के रूप में दूसरा उस शक्ति को घटाने विलुप्त करने के रूप में होता है। अर्थात् इस आत्मिक वीर्य से उन्नत एवं अवनत दोनों ही कार्य किये जा सकते है। पाप एवं पुण्य दोनों का कर्ता वीर्य सम्पन्न आत्मा ही है। बिना वीर्य के कुछ भी कार्य सिद्ध नही हो सकता। जिस आत्मा का स्वभाव हल्कापन है ऊपर उठने का है वही संसारी आत्मा अष्टादश (अट्ठारह) पाप का सेवन कर भारी कर्म बंधन कर लेता है। फलस्वरूप गुरुत्व भाव के कारण ऊपर नहीं उठ सकता, इसी संसार में परिभ्रमण करता है अतः गुरु क्या है? लघु क्या है? अगुरुलघु क्या है? इन्हीं का विवेचन नवम उद्देशक के प्रारंभ में किया गया है। इसके अतिरिक्त कालस्यावेषि अणगार के प्रश्नोत्तर, अप्रत्याख्यान क्रिया, आधाकर्म-भोग का फल आदि अनेक विषयों पर विचार किया गया है।

नवमो उद्देसओ : गुरुए
नवम उद्देशक : गरुक

जीवों के गुरुत्व-लघुत्वादि चर्चा—

सूत्र 164 [1]कहं णं भंते ! जीवा गुरुयत्तं हव्वमागच्छन्ति ?

गोयमा ! [2]पाणाइवाएणं [3]मुसावाएणं [4]अदिन्नादाणेणं मेहुणेणं परिग्गहेणं, कोह-माण-माया-[5]लोभ-पेज्ज-[6]दोष-कलह [7]अब्भक्खाण—[8]पेसुन्न-रति अरति-[9]पर-परिवाद-मायामोस, मिच्छादंसणसल्लेणं; एवं खलु गोयमा ! जीवा [10]गरूयत्तं हव्वमागच्छंति।

सूत्र 165 कहं [11]णं भंते ! जीवा लहुयत्तं [12]हव्वमागच्छंति ?

गोयमा ! [13]पाणाइवायवेरमणेणं [A]जाव [14]मिच्छादंसणसल्लवेरमणेणं, एवं खलु गोयमा ! जीवा लहुयत्तं हव्वमागच्छंति।

सूत्र 164 भगवन् ! जीव, किस प्रकार शीघ्र गुरुत्व को प्राप्त होता है।

गौतम प्राणातिपात से मृषावाद से अदत्तादान से, मैथुन से, परिग्रह से, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग द्वेष, कलह, अभ्याख्यान, पैशुन्य, रति अरति, परपरिवाद मायामृषा और मिथ्यादर्शन शल्य से, इस प्रकार हे गौतम ! (इन पापों का सेवन करने से) जीव शीघ्र गुरुत्व को प्राप्त होता है।

सूत्र 165 ! जीव किस प्रकार शीघ्र लघुत्व को [illegible] करता है ?

गौतम ! प्राणातिपात से विरत होने से [illegible] मिथ्यादर्शन शल्य से विरत होने से और [illegible] लघुत्व को प्राप्त होता है।

---

१. कहन्नं भंते - पु० । कहं णं - अमो० पा० । कहण्णं - म० ॥ २. पाणातिवातेणं - बे० म० । पाणातिवाते [illegible] [illegible] - बे० ॥ ३. मुसावाएणं - बे० म० । [illegible] अदिन्नादाणेणं मेहु० परि० कोह० ॥ ४. [illegible] मेहुन, परिग्गह कोह - अमो० । अदिन्ना० मेहुण० परिग्ग० कोह० मा० माया० लोभ० पेज्ज० दोस [illegible] अब्भक्खाण० पेसुन्न० रति अरति० परपरिवाद० मायामोस० - बे० म० ॥ ५. लोह - अमो० ॥ ६. दोस - [illegible] पा० म० ॥ ७. [illegible] - अमो० पा० पा० म० ॥ ८. [illegible] परपरिवाद - पा० म० । [illegible] [illegible] - [illegible] ॥ ९. [illegible] - पु० । [illegible] - अमो० । [illegible] - पा० [illegible] [illegible] । [illegible] - अ० बे० म० ॥ १०. गुरुयत्तं - बे० ॥ ११. कहन्नं - पु० । कहण्णं - अमो० पा० । [illegible] १२. हव्वमागच्छंति - म० ॥ १३. पाणाइवाए - बे० म० । [illegible] वेरमणेणं - बे० म० । [illegible] [illegible] [illegible] गोयमा ! जीवा लहुयत्तं हव्व० । कहं णं भंते ! जीवा [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ॥ १४. [illegible] - पा० । [illegible] ॥ १५. [illegible]

A- मुसावायवेरमणेणं अदत्तादानवेरमणेणं मेहुणवेरमणेणं परिग्गहवेरमणेणं । कोह माण माया लोभ [illegible] [illegible] पेसुन्न परपरिवाद अरतिरति माया मोस० ॥

सूत्र 166 [B]एवं[१५] [१६]संसारं [१७]आउली-करेंति, । एवं [१८]परित्तीकरेंति । एवं [१९]दीहीकरेंति [२०]एवं [२१]हस्सीकरेंति, एवं [२२]अणुपरियट्टंति, एवं [२३]वीइवयंति । पसत्था चत्तारि । अप्पसत्था चत्तारि ।

सूत्र 166 इस प्रकार जीव प्राणातिपात आदि पापों का सेवन करने से संसार को बढ़ाते हैं, अल्पकालीन करते है । इस प्रकार संसार को दीर्घकालीन करते हैं । इस प्रकार संसार को ह्रस्व करते हैं, इस प्रकार संसार में बार २ भव भ्रमण करते है, इस प्रकार संसार को लांघ जाते हैं । इनमें चार प्रशस्त है, और चार अप्रशस्त हैं ।

विवेचन :–

निम्नगति में जाने योग्य अशुभ कर्मो का उपार्जन करना, उससे अपनी आत्मा का भारी, बनाना, गुरुत्व है ।[१]

अठारह पापों से विरत होकर अपनी आत्मा को कर्मो से विलग करना लघुत्व है ।[२]

गुरुत्व, लघुत्व आदि आठ में से लघुत्व, परीतत्त्व, ह्रस्वत्व व्यतिव्रजन ये चार मोक्ष के कारणहै । और गुरुत्व, आकुलत्व (प्रचुरत्व) दीर्घत्व और पयटन ये चार ससार के कारण है । इसलिए आदि के चार प्रशस्त है । और अन्त के चार अप्रशस्त है ।

---

१२६ ॥ (१६) १६. संसार - अमो० ॥ १५. एवं आउलीकरे.त - वे० म० । एव आउले करेंति एवं परित्तो करेंति ह्स्वीकरेंति एवं अणु० - ला ४ ॥ १७. अत्र पाणाइवायाइणा आउलीकरेंति इति बोध्यम् ॥ १८. ०ति दी हीं० - पु० । पाणाइवायवेरमणाइणा परित्तीकरेंति इति बोध्यम् ॥ १९. ०ति हस्सी० - पु अमो. २० एवं रहस्सी० ला २ एवं हुस्सी लो० ॥ २१. हस्सी० - धा० ॥ २२. ०यट्टेति - लो० ॥ २३ वीईवयंति - अमो० । वीतीवयंति - वे० म० ॥

B– कहण्णं भंते ! जीवा संसारं आउलीकरेंति ?

गोयमा ! पाणाइवाएणं जाव मिच्छादंसणसल्लेण - एव खलु गोयमा जीवा संसारं आउलीकरेंति ॥

कहण्णं भंते ! जीवा संसारं परित्तीकरेंति ?

गोयमा पाणाइवायवेरमणेणं जाव मिच्छादंसण सल्लवेरमणेण - एवं खलु गोयमा ! जीवा संसारं परित्तीकरेंति ॥

कहण्णं भंते ! जीवा संसारं दीहीकरेंति ?

गोयमा ! पाणाइवाएणं जाव मिच्छादंसणसल्लेणं - एवं खलु गोयमा जीवा संसारं दीहीकरेंति ॥

कहण्णं जीवा संसारं हस्सीकरेंति ?

गोयमा ! पाणाइवायवेरमणेणं जाव मिच्छादंसणसल्लवेरमणेण - एवं खलु गोयमा ! जीवा संसारं हस्सीकरेंति ॥

कहण्णं भंते ! जीवा संसारं अणुपरियट्टंति ?

गोयमा ! पाणाइवाएणं जाव मिच्छादंसणसल्लेणं - एवं खलु गोयमा जीवा संसारं अणुपरियट्टंति ॥

कहण्णं भंते ! जीवा संसारं वीतिवयंति ?

गोयमा ! पाणाइवायवेरमणेण जाव मिच्छादंसणसल्लवेरमणेणं - एव खलु गोयमा जीवा संसारं वीतिवयंति ॥

---

१. अनुककर्मोपचयरूपमधस्तात् गमन-हेतुभूतं ।
२. गौरवविपरीतम् ।

पदार्थों के गुरुत्व लघुत्व आदि की चर्चा

सूत्र 167 सत्तमे णं भंते ! [1]ओवासंतरे किं [2]गरुए, लहुए, [3]गरुयलहुए, [4]अगुरुयलहुए ?

गोयमा ! णो [5]गुरुए, णो लहुए, णो [6]गुरुयलहुए, [7]णो [8]अगुरुयलहुए ।

सूत्र 168 (i) सत्तमे णं भंते ! [9]तणुवाए किं [10]गुरुए, लहुए, [11]गुरुयलहुए, [12]अगुरुयलहुए ?

गोयमा ! नो [13]गुरुए, नो लहुए, [14]गुरुयलहुए, नो [15]अगुरुयलहुए ।

(ii) [16]एवं सत्तमे घणवाए, सत्तमे घणोदही सत्तमा पुढवी ।

(iii) [17]उवासंतराइं सव्वाइं [A]जहा सत्तमे [18]ओवासंतरे ।

(iv) [19] सेसा) जहा तणुवाए । [20]एवं

सूत्र 167 भगवन् ! क्या सातवां अवकाशान्तर गुरु है, अथवा लघु है, या गुरुलघु है, अथवा अगुरुलघु है ?

गौतम ! वह गुरु नहीं है, लघु नहीं है, गुरुलघु नहीं है, किन्तु अगुरुलघु है।

सूत्र 168 (i) भगवन् ! सप्तम तनुवात क्या गुरु है, लघु है या गुरुलघु है अथवा अगुरुलघु है ?

गौतम वह गुरु नहीं है, लघु नहीं है, किन्तु गुरु-लघु है, अगुरुलघु नहीं है।

(ii) इस प्रकार सप्तम घनवात, सप्तम घनोदधि और सप्तम पृथ्वी के विषय में भी जानना चाहिए।

(iii) जैसा सातवें अवकाशान्तर के विषय में कहा है, वैसा ही सभी अवकाशान्तरों के विषय में समझना चाहिए।

(iv) तनुवात के विषय में जैसा कहा है, वैसा ही

---

१. उवासंतरे - अमो० [illegible] ॥ २. गुरुए - पा० । गुरुए - [illegible] ॥ ३. [illegible] 'गरुए, लहुए' अथवा 'लहुए' [illegible] ॥ ४. [illegible] ॥ ५-६-८-१०-११-१२-१३-१४-१५- [illegible] ॥ ७. [illegible] ॥ ९. तणुवाए - [illegible] ॥ १६. [illegible] एवं जाव [illegible] । ओवासंतरा [illegible] ॥ १७. [illegible] ॥ १८. उवासंतरे - अमो० पा० ॥ १९. मूलपाठे [illegible] 'सेसा' [illegible] ( ) [illegible] ॥ २०. [illegible]

A– सूत्र 10 ॥

[२१]ओवास [B]वाय [२२]घणउदहि पुढवी दीवा य [२३]सागरा [२४]वासा ।	सभी घनवात घनोदधि पृथ्वी, द्वीप, समुद्र और क्षेत्रों के विषय में भी जानना चाहिए

विवेचन—

यह लोक चौदह राजु प्रमाण है। इसे पुरुषाकार कहते हैं। प्रथम पृथ्वी (नरक) के नीचे घनोदधि है। घनोदधि के नीचे घनवात, घनवात के नीचे तनुवात, तनुवात के नीचे आकाश है। यही क्रम सातों नरकों तक है। ये आकाश ही सात अवकाशान्तर कहलाते हैं। ये सभी अवकाशान्तर अगुरु लघु है। तनुवात, घनवात, घनोदधि, पृथ्वी द्वीप, सागर, क्षेत्र, गुरुलघु है अर्थात् अवकाशान्तर में चौथा भंग, अवशेष में तीसरा भंग पाया जाता है। मूलपाठ में आए वाय-शब्द से घनवात अर्थ लेना चाहिए। क्योंकि तनुवात का तो पहले वर्णन किया जा चुका है। उसके अनन्तर घनवात आता है, और उसी के लिए गुरुलघु नामक तृतीय भंग कहा जाता हैं।

किसी भी वस्तु का हलका और भारीपन एक दूसरे के सापेक्ष होते हैं। व्यावहारिक भाषा में पानी में डूबने वाली वस्तु को भारी कहा जाता है। यथा—पत्थर, लोहा आदि। जिस वस्तु का उर्ध्वगमन होता है, उसे हल्की कहते हैं—जैसे—धुँआ। जिस वस्तु का तिर्यक् गमन होता हैं, उसे गुरुलघु कहते हैं। जैसे—वायु। जिसका इधर-उधर गमन नहीं होता, उसे अगुरुलघु कहते हैं। जैसे—आकाश। जो चार स्पर्श वाली या अरूपी वस्तु होती है, उसे अगुरुलघु कहते है। जो पदार्थ अष्ट स्पर्शी होता है, उसे गुरुलघु कहा जाता हैं। निश्चय नय की अपेक्षा से तो संसार का कोई भी पदार्थ एकान्ततः न हल्का है, न भारी है। सारा हल्कापन और भारीपन व्यवहारनय की अपेक्षा से बादर स्कधों में कहा जाता है। [1]

एवं गुरुलहुए ओवा० घा०। एवं गरुयलहुए ओवास लो० ला ४ ॥ २१. ओवाय घण० - घा० ॥ २२. ०उदही - न० ॥ २३. सायरा - घा० ॥ २४. एवं गरुयलहुए' इति पाठ. एकस्मिन् क्वचित् प्रयुक्ते आदर्शे लभ्यते। एतत् संग्रह गाथा-पादचरण द्वयमस्ति तेन पूर्वोक्तस्यापि 'ओवासा' पदस्य पुनरुल्लेखोत्र जानीहि। अत्र वृत्ताविदं गाथाद्वयमुद्धृतम्-ओवासवाय-घणउदहि पुढवि-दीवा य सागरावासा। नेरइयाई अत्थि य समया कम्माइ लेसाइ ॥ १ ॥

दिट्ठी दंसण नाणे सण्णि सरीरा य जोग उवओगे।
दव्व पएसा पज्जव तीया आगामि सव्वद्धा ॥ २ ॥

B– गुरुयलहुए घणवाय ॥

---

१. णिच्छयओ सव्वगुरुं सव्वलहुं वा ण विज्जए दव्वं।
ववहारओ उ जुज्जइ बायरखंधेसु ण अण्णेसु ॥
अगरुलहु चउफासा अरूविदव्वा य होंति णायव्वा।
सेसाओ अट्ठ फासा गुरुलहुया णिच्छयणयस्स ॥

सूत्र 139 (I) [1]नेरइया णं भंते ! किं [2]गुरुया [A]जाव [3]अगुरुयलहुया ? गोयमा नो [4]गुरुया, नो लहुया, [5]गुरुयलहुया वि, [6]अगुरुयलहुया, वि ।

(II) से [B]केणट्ठेणं

गोयमा । [7]वेउव्विय [8]तेयाइं पडुच्च णो [9]गुरुया; णो लहुया, [10]गुरुयलहुया, [11]नो [12]अगुरुलहुया जीवं च [13]कम्मणं च पडुच्च नो [14]गुरुया; नो लहुया, नो [15]गुरुयलहुया, [16]अगुरुलहुया ।

से [17]तेणट्ठेणं[C] ।

(III) एव [D]जाव [18]वेमाणिया । नवरं णाणत्तं जाणियव्व सरीरेहिं ।

सूत्र 160 (i) भगवन् ! नारक जीव गुरु है, लघु है, गुरु लघु है या अगुरुलघु है ?

गौतम ! नारक जीव गुरु नहीं है, लघु नहीं है, किन्तु गुरुलघु है और अगुरुलघु भी है।

(ii) भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहा जाता है ?

गौतम ! वैक्रिय और तैजस शरीर की अपेक्षा नारक जीव गुरु नहीं है, लघु नहीं है अगुरुलघु भी नहीं है किन्तु गुरु लघु है। किन्तु जीव और कार्मण शरीर की अपेक्षा नारक जीव गुरु नहीं है, लघु भी नहीं है, गुरुलघु भी नहीं है किन्तु अगुरुलघु है।

इस कारण गौतम ! पूर्वोक्त कथन किया गया है :

(iii) इसी प्रकार वैमानिकों तक जानना चाहिए। विशेषता यह है कि शरीरों में भिन्नता कहनी चाहिए।

---

१. 'नेरइया णं भंते ! इत्यत आरभ्य ... इति ... पाठः — [illegible] ... गोयमा ! वेउव्वियतेयाइं पडुच्च ... जीवं च कम्मं च पडुच्च ... णो गरुया, णो लहुया, गरुयलहुया वि अगुरुलहुया वि । [illegible] ... सरीराइं ... जीवं कम्मं च पडुच्च । [illegible]

[illegible]

... गुरुया ? ... अगुरुलहुया ? ॥

... नेरइया णो गरुया ? णो लहुया ... गरुयलहुया वि ? अगुरुलहुया वि ॥

... नेरइया णं गरुया णो लहुया गरुयलहुया वि अगुरुलहुया वि ॥

... ॥

सूत्र 170 धम्मत्थिकाए [19] जाव [E] जीवत्थिकाए [20] चउत्थपएणं ।

सूत्र 170 धर्मास्तिकाय से लेकर यावत् जीवास्तिकाय तक चौथे पद से (अगुरुलघु) जानना चाहिए ।

विवेचन :-

प्रस्तुत सूत्र में नैरयिक जीवों के गुरुत्व लघुत्व का प्रतिपादन किया गया है । वैक्रिय और तेजस शरीर की अपेक्षा से नैरयिक जीव गुरुलघु है क्योंकि दोनों शरीरों की वर्गणाएँ गुरुलघु हैं । [1] कार्मण शरीर की अपेक्षा से नैरयिक जीव अगुरुलघु है । क्योंकि कार्मण वर्गणा चतुःस्पर्शी होने से अगुरुलघु है । [2]

कार्मण शरीर के अतिरिक्त चार शरीरों की अपेक्षा सभी जीव गुरुलघु है । कार्मण शरीर की अपेक्षा से अगुरुलघु है ।

पृथ्वी, पानी अग्नि, वनस्पति, विकलेन्द्रिय के औदारिक, तेजस, कार्मण तीन शरीर होते हैं । वायुकाय के वैक्रिय सहित चार शरीर होते है तिर्यंच पंचेन्द्रिय मे सामान्य रूप मे तीन शरीर होते हैं, औदारिक, तेजस, कार्मण । वैक्रिय शरीर कोई-२ तिर्यंच पंचेन्द्रिय जीव प्राप्त करता है । उस अपेक्षा से चार शरीर भी कहें जा सकते हैं । मनुष्यो मे सभी के औदारिक, तेजस, कार्मण और विशेष लब्धि सम्पन्न के अवशेष दोनों शरीर भी हो सकते हैं । देवताओं के वैक्रिय, तैजस कार्मण शरीर होने हैं ।

इस प्रकार शरीरों मे भिन्नता होते हुए भी गुरुत्व लघुत्व में कोई भिन्नता नही आती है ।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और जीवास्तिकाय अरूपी होने से अगुरुलघु है । सिद्ध अशरीरी होने से अगुरुलघु है । जीव मूलतः अगुरुलघु है किन्तु कार्मण रहित चार शरीर की अपेक्षा से गुरुलघु है ।

---

१९. यावत्करणाद् अहम्मत्थिकाए आगासत्थिकाए - अवृ० ॥ २०. ०पदेण - वे० म० । चउत्थपएण त्ति अगुरुलघुत्वेन पदेन वाच्य: अवृ० ॥

E- णं भंते किं गुरुए ? लहुए ? गुरुयलहुए ? अगुरुयलहुए ?
गोयमा ! णो गुरुए णो लहुए, णो गुरुयलहुए अगुरुयलहुए ॥
अहम्मत्थिकाए णं भंते । किं गुरुए ? लहुए ? गुरुयलहुए ?
गोयमा ! णो गुरुए णो लहुए णो गुरुयलहुए अगुरुयलहुए ॥
आगासत्थिकाए णं भंते ! किं गुरुए ? लहुए ? गुरुय लहुए ? अगुरुयलहुए ।
गोयमा ! णो गुरुए णो लहुए, णो गुरुयलहुए अगुरुयलहुए ॥
जीवत्थिकाए णं भंते ! किं गुरुए ? लहुए ? गुरुयलहुए अगुरुयलहुए ?
गोयमा ! णो गुरुए णो लहुए णो गुरुयलहुए अगुरुयलहुए ।

१- "ओरालिय वेउव्विय-आहारग-तेय-गुरुलहु दव्वं ति ।
२- कम्मगमण भासाइ एयाइं अगुरुलहुयाइं ।

सूत्र 169 (I) [1]नेरइया णं भंते ! किं [2]गुरुया [A]जाव [3]अगुरुयलहुया ? गोयमा नो [4]गुरुया, नो लहुया, [5]गुरुयलहुया वि, [6]अगुरुयलहुया, वि ।

(II) से [B]केणट्ठेणं

गोयमा । [7]वेउव्विय [8]तेयाइं पडुच्च णो [9]गुरुया; णो लहुया, [10]गुरुयलहुया, [11]नो [12]अगुरुलहुया जीवं च [13]कम्मणं च पडुच्च नो [14]गुरुया; नो लहुया, नो [15]गुरुयलहुया, [16]अगुरुलहुया ।

से [17]तेणट्ठेणं[C] ।

(III) एव [D]जाव [18]वेमाणिया । नवरं णाणत्तं जाणियव्वं सरीरेहिं ।

सूत्र 169 (i) भगवन् ! नारक जीव गुरु है, लघु है, गुरु लघु हैं या अगुरुलघु है ?

गौतम ! नारक जीव गुरु नहीं है, लघु नहीं है, किन्तु गुरुलघु है और अगुरुलघु भी है।

(ii) भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहा जाता है ?

गौतम ! वैक्रिय और तैजस शरीर की अपेक्षा नारक जीव गुरु नहीं है, लघु नहीं है अगुरुलघु भी नहीं है किन्तु गुरु लघु है। किन्तु जीव और कार्मण शरीर की अपेक्षा नारक जीव गुरु नहीं है, लघु भी नही हैं, गुरु-लघु भी नहीं है किन्तु अगुरुलघु है।

इस कारण गौतम ! पूर्वोक्त कथन किया गया है ;

(iii) इसी प्रकार वैमानिकों तक जानना चाहिए विशेषता यह है कि शरीरों में भिन्नता कहना चाहिए।

१. 'नेरइया णं भंते ' इत्यत आरभ्य 'सव्वद्धा चउत्थेणं पदेणं' इति एतावतः पाठस्य एव पाठान्तरम्—णेरतिया इं किं गरुया पुच्छा । गो० ! वेउव्विनतेयाइं पडुच्च तदिदेगं,, जीवं च कम्मं च पडुच्च चउत्थदेणं । से तेण० णेरतिया णो गरुआ, णो लहुआ, गरुयलहुआ वि अगुरुलहुया वि । एवं ज जस्स सरीरगं तं तस्स ''''''णेया । मेअंदेय सव्वि हेट्ठिमाइं तइअतेगं, जीवो कम्मं च चउत्थेगं । धम्मत्थिकाए अधम्म० आगास० जीवत्थि० चउत्थदेगं । पोग्गलत्थिका पुच्छा । गो० ! अरुअलहुदे वि । से केण० ? गो० । गरुअलहुअदव्वाइं पडुच्च तनितेगं भावदेसं पडुच्च चउत्थदेसं। एवं जाव सुक्कलेसा । तिविधा दिट्ठी, चउव्विधं दंसण पचविधं णाणं तिविधं चउण्णाणं, चतारि सण्णाओ, सव्वाणि वि चउत्थदेगं । ओरालिय वेउव्विय-आधारगतेयाइं तनियतेगं । कम्मणं चउत्थतेगं । मण वतिजोगा चउत्थदेणं । कायजोगो ततिततेण मागार अणगारयोगा चउत्थदेणं । सव्वदव्वा सव्व पदेसा सव्वपज्जवा य जधा पोग्गलत्थिकायो । तीतद्धा अणागदद्धा सव्वद्धा य चउत्थदेणं - जं० ॥ २-१० गरुया - अगो० न० बे० म० ॥ ३. ०लहुया - पु० । अगरुलहुया- अगो० ॥ अगरुयलहुया - न० बे० म० ॥ ४ गरुया - न० बे० म० ॥ ५. गुरुलहुया - घा० । गरु० - न० बे० म० ॥ ६. अगुरुलहुया वि - पु० । अगरु० - अगो० न० बे० म० ॥ ७. विउव्वियतेयाइ - घा० । विउव्विय० - म० । ८. तेयवाइं - ला २-४ ॥ ९. गरुया । अगो० न० बे० म० गरुता, नो लहुता - लो० । एवं 'ता' तथा 'व' युत. पाठः अग्रो पर बहुस्थाने उपलभ्यते ॥ ११. ०लहुआ - पु० ॥ १२. अगुरुयलहुया - अगो० घा० । अगरुयल० - न० बे० । अरुगुय० - म० ॥ १३. कम्मं च - अगो० ला० ला ४ । कम्मं ग - न० कम्मकं - क० ला १ । कम्मगं च - लों० ला २ । १४-१५. गरुया - न० बे० म० ॥ १६. ०रुयलहुया - पु० अगो० घा० । अगरुय० - न० बे० म० ॥ १७. ०णं जाव - पु० । ०णं गो० । एवं ला २ ॥ १८. ०णिया णाणत्तं - घा० ॥

A– लहुया ? गरुयलहुया ? ॥

B– भंते एवं वुच्चइ नेरइया णो गरुया ? नो लहुया गरुय लहुया वि ? अगरुयलहुया वि ॥

C– गोयमा एव वुच्चइ नेरइया णो गरुया णो लहुया गरुयलहुया वि अगरुयलहुया वि ॥

D– पूरक पाठ १ से २४ तक ॥

सूत्र 170 धम्मत्थिकाए [१९]जाव[६] जीव-त्थिकाए [२०]चउत्थपएणं ।

सूत्र 170 धर्मास्तिकाय से लेकर यावत् जीवास्तिकाय तक चौथे पद से (अगुरुलघु) जानना चाहिए ।

विवेचन :-

प्रस्तुत सूत्र में नैरयिक जीवों के गुरुत्व लघुत्व का प्रतिपादन किया गया है । वैक्रिय और तेजस शरीर की अपेक्षा से नैरयिक जीव गुरुलघु है क्योंकि दोनों शरीरों की वर्गणाएँ गुरुलघु हैं । [१]कार्मण शरीर की अपेक्षा से नैरयिक जीव अगुरुलघु है । क्योंकि कार्मण वर्गणा चतुःस्पर्शी होने से अगुरुलघु है । [२]

कार्मण शरीर के अतिरिक्त चार शरीरों की अपेक्षा सभी जीव गुरुलघु है । कार्मण शरीर की अपेक्षा से अगुरुलघु है ।

पृथ्वी, पानी अग्नि, वनस्पति, विकलेन्द्रिय के औदारिक, तेजस, कार्मण तीन शरीर होते हैं । वायुकाय के वैक्रिय सहित चार शरीर होते है तिर्यंच पंचेन्द्रिय मे सामान्य रूप से तीन शरीर होते है, औदारिक, तेजस, कार्मण । वैक्रिय शरीर कोई-२ तिर्यंच पंचेन्द्रिय जीव प्राप्त करता है । उस अपेक्षा से चार शरीर भी कहे जा सकते हैं । मनुष्यों में सभी के औदारिक, तेजस, कार्मण और विशेष लब्धि सम्पन्न के अवशेष दोनों शरीर भी हो सकते हैं । देवताओं के वैक्रिय, तैजस कार्मण शरीर होते हैं ।

इस प्रकार शरीरों में भिन्नता होते हुए भी गुरुत्व लघुत्व मे कोई भिन्नता नही आती है ।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और जीवास्तिकाय अरूपी होने से अगुरुलघु है । सिद्ध अशरीरी होने से अगुरुलघु है । जीव मूलतः अगुरुलघु है किन्तु कार्मण रहित चार शरीर की अपेक्षा से गुरुलघु है ।

---

१९. यावत्करणाद् अहम्मत्थिकाए आगासत्थिकाए - अवृ० ।। २०. ०प्पदेण - वे० म० । चउत्थपएण त्ति अगुरुलघु इत्यनेन पदेन वाच्यः अवृ० ।।

६- णं भंते किं गुरुए ? लहुए ? गुरुयलहुए ? अगुरुयलहुए ?
गोयमा ! णो गुरुए णो लहुए, णो गुरुयलहुए अगुरुयलहुए ।।
अहम्मत्थिकाए णं भंते । किं गुरुए ? लहुए ? गुरुयलहुए ?
गोयमा ! णो गुरुए णो लहुए णो गुरुयलहुएं अगुरुयलहुएं ।।
आगासत्थिकाए णं भंते ! किं गुरुए ? लहुए ? गुरुय लहुए ? अगुरुयलहुए ।
गोयमा ! णो गुरुए णो लहुए, णो गुरुयलहुए अगुरुयलहुए ।।
जीवत्थिकाए णं भंते ! किं गुरुए ? लहुए ? गुरुयलहुए अगुरुयलहुए ?
गोयमा ! णो गुरुए णो लहुए णो गुरुयलहुए अगुरुयलहुए ।

१- ओरालिय वेउव्विय-आहारग-तेय-गुरुलहु दव्वं त्ति ।
२- कम्मग मण भासाइ एयाइं अगुरुलहुयाइं ।

सूत्र 171 पोग्गलत्थिकाए णं भंते । किं [1]गुरुए, लहुए, [2]गुरुयलहुए, [3]अगुरुयलहुए ?

गोयमा ! णो [4]गुरुए, नो लहुए, [5]गुरुयलहुए वि, [6]अगुरुयलहुए वि ।

से [A]केणट्ठेणं ?

गोयमा ! [7]गुरुयलहुयदव्वाइं पडुच्च नो [8]गुरुए, नो लहुए, [9]गुरुयलहुए, नो [10]अगुरुयलहुए । [11]अगुरुयलहुयदव्वाइं पडुच्च नो [12]गुरुए, नो लहुए, नो [13]गुरुयलहुए, [14]अगुरुयलहुए ।

सूत्र 172 [B]समया कम्माणि य [15]चउत्थपदेणं ।

सूत्र 173 (I) [1]कण्हलेसा णं भंते ! किं [2]गुरुया, [A]जाव [3]अगरूयलहुया ?

गोयमा ! नो [4]गुरुया, नो लहुया, [5]गरूयलहुया वि, [6]अगरूयलहुया वि ।

सूत्र 171 हे भगवन ! पुद्गलास्तिकाय क्या गुरु है लघु है गुरुलघु है अथवा अगुरुलघु है ?

गौतम ! पुद्गलास्तिकाय न गुरु है न लघु है किन्तु गुरुलघु है और अगुरुलघु भी है।

भगवन् इसका क्या कारण है ?

गौतम ! गुरुलघु द्रव्यों की अपेक्षा पुद्गलास्तिकाय गुरु नही है । लघु नही है, किन्तु गुरुलघु है, अगुरुलघु भी नहीं है। अगुरु लघु द्रव्यों की अपेक्षा पुद्गलास्तिकाय गुरु नहीं, लघु नहीं है, गुरु लघु नहीं है, किन्तु अगुरुलघु है।

सूत्र 172 समयों और कर्मों को (कार्मण शरीर) चौथे पद से जानना चाहिए अर्थात्–समय और कार्मण शरीर अगुरुलघु हैं।

पुद्गलास्तिकाय मे भी जो पुद्गल चार स्पर्श वाले हैं, वे अगुरुलघु हैं जो पुद्गल अष्टस्पर्शी हैं वे गुरुलघु हैं।

173 सूत्र (1) भगवन् ! कृष्ण लेश्या क्या गुरु है लघु है ? गुरु या लघु है अथवा अगुरुलघु है ?

गौतम ! कृष्णलेश्या गुरु नही है, लघु नहीं है, किन्तु गुरुलघु है और अगुरुलघु भी है।

सूत्र. १७१. १-२-८-९. गरू० - अमो० न० वे० म० ॥ ३-४-५-६-७-१०-११-१२-१३-१४. ८गरू० - न० वे० म० ॥ १५ पएणं - अमो० पा० ॥

A–भंते एवं वुच्चइ–णो गुरुए णो लहुए ? गुरुयलहुए वि अगुरुयलहुए वि ॥

B–समया णं भंते ! किं गुरुया ? लहुया ? गुरुयलहुया ? अगुरुयलहुया ?

गोयमा ! णो गुरुया णो लहुया णो गुरुयलहुया अगुरुयलहुया ॥

कम्माणि णं भंते ! किं गुरुयाइं ? लहुयाइं ? गुरुयलहुयाइं ? अगुरुयलहुयाइं ?

गोयमा ! णो गुरुयाइं, णो लहुयाइं, णो गुरुयलहुयाइं, अगुरुयलहुयाइं ॥

सूत्र १७३ १. ०लेस्सा - पा० न० ॥ २. गरुया - अमो० न० वे० म० ॥ ३. अगरुय० - पु० अमो० पा० ॥ ४. गरु० - न० वे० ५. गरुय० - पा० ॥ ६. अगुरु० - पु० पा० ॥ A-लहुया गुरुयलहुया ॥

(II) से [B]केणट्ठेणं

गोयमा ! [७]दव्वलेसं पडुच्च [८]ततिय-पदेणं, [९]भावलेसं पडुच्च [१०]चउत्थपदेणं?
(III) एवं [C]जाव [११]सुक्कलेसा ।

सूत्र 174 दिट्ठि-दंसण-[१]नाण-[२]अन्नाण [३]सण्णाओ [४]चउत्थपदेणं [५]णेयव्वाओ ।

सूत्र 175 [६]हेट्ठिल्ला [A]चत्तारि सरीरा [७]नेयव्वा [८]ततियएणं पदेणं [९]कम्मयं [१०]चउत्थएण [११]पदेणं

सूत्र 176 [१२]मणजोगो [१३]वइजोगो चउ-त्थएणं [१४]पदेणं । कायजोगो [१५]ततिएणं [१६]पदेणं ।

सूत्र 177 सागारोवओगो [१७]अणागारोव-ओगो [१८]चउत्थएणं पदेणं ।

(ii) हे भगवन् ! ऐसा आप किस कारण से कहते हैं ।

गौतम ! द्रव्य लेश्या की अपेक्षा तृतीय पद से अर्थात् गुरुलघु से जानना चाहिए, और भावलेश्या की अपेक्षा चौथे पद अर्थात्-अगुरुलघु जानना चाहिए ।

(iii) इसी प्रकार यावत् शुक्ललेश्या तक जानना चाहिए ।

सूत्र 174 दृष्टि, दर्शन, ज्ञान, अज्ञान और संज्ञा को भी चतुर्थ पद अर्थात्-अगुरुलघु से जानना चाहिए ।

सूत्र 175 आदि के चार शरीरों—औदारिक, वैक्रिय, आहारक और तेजस शरीर को तृतीय पद से अर्थात् गुरुलघु जानना चाहिए । कार्मण शरीर को चतुर्थ पद अगुरुलघु में जानना चाहिए ।

सूत्र 176 मनोयोग और वचन योग को चतुर्थ पद से (अगुरुलघु) और काययोग को तृतीय पद से (गुरुलघु) जानना चाहिए ।

सूत्र 177 साकारोपयोग और अनाकारोपयोग को चतुर्थ पद से जानना चाहिए ।

---

७ दव्वलेस्सं -अमो० न० । ८ तइयएणं - अमो० घा० । गुरुयलहुया । गुरुलघु इत्यनेन तृतीयविकल्पेन व्यपदेश्या-वृ० ॥ ९ भावलेस्सं - अमो० घा० न० ॥ १०. ०त्थएणं - अमो० घा० । अगुरुयलहुया ॥ ११ ०लेस्सा - अमो० घा० लों ॥

A-लहुया गुरुयलहुया ॥

B-भंते ! एवं वुच्चइ-कण्हलेस्सा णो गुरुया ? णो लहुया गुरुयलहुया वि ? अगुरुयलहुया वि ? ॥ C-सूत्र २५ ॥
सूत्र १७४ से १७९ तक. १. नाणाइं अन्नाण सण्णाओ वि च० - लों० ॥ २. नाणोऽन्नाण - ता० ॥ ३ सन्ना चउ०-पु० ॥ ४. ० पएणं - अमो० घा० । चउत्थएणं पदेणं - न० ॥ ५. णेयव्वाइं - अमो० । नेतव्वाओ - न० वे० म० । णेतव्व.इ । हे० - लो० । नायव्वाओ - ला० ॥ ६. हेट्ठिल्ला - घा० ७. नायव्वा - पु० अमो० घा० अ० ब० स० ॥ ८. ततियपदेणं - पु० । तइएणं पएणं - अमो० घा० । ततिएण पदेणं - न० । तइयेणं - लों० ॥ ९ कम्मं व - पु० । कम्मए - अमो० । कम्मया - घा० क० मं० स० लों० ला० २ । कम्मइए - ता० ॥ १० चउत्थपएणं - पु० ॥ ११. पएणं - अमो० घा० ॥ १२. मणजोगे - अमो० । जोगा - ला० १३ वइजोगे - अमो० । ०जोगा - ला० ॥ १४. पएणं - घा० ॥ १५. तइयएणं - अमो० । तइएणं - घा० ॥ १६. पएणं - अमो० घा० ॥ १७. ०गो य चउ०-

A-[illegible]

सूत्र 178 [१९]सव्वदव्वा [२०]सव्वपदेसा सव्वपज्जवा [B]जहा[२१] पोग्गलत्थिकाओ ।

सूत्र 179 [२२]तीतद्धा [२३]अणागयद्धा सव्वद्धा [२४]चउत्थएणं [२५]पदेणं ।

सूत्र 178 सर्वद्रव्यों सर्व प्रदेश और सर्वपर्याय के लिये पुद्गलास्तिकाय के समान समझना चाहिए।

सूत्र 179 अतीतकाल, अनागतकाल और सर्वकाल चौथे पद से अर्थात् अगुरुलघु जानना चाहिए।

विवेचन :-

आत्मा जिसके द्वारा कर्मों से लिप्त होती है, उसे लेश्या कहते हैं।[1] इसके दो भेद है-द्रव्य लेश्या और भावलेश्या । कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म, शुक्ल ये दोनों के छह-छह अवान्तर भेद हैं। द्रव्य लेश्यायें गुरुलघु और भावलेश्यायें अगुरुलघु हैं।

मनोयोग और वचनयोग की वर्गणायें चतुः स्पर्शी होने से अगुरुलघु तथा काययोग में औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस शरीरों की अपेक्षा तीसरा भंग गुरुलघु बताया है क्योंकि इनकी वर्गणायें अष्ट स्पर्शी है और अष्ट स्पर्शी वर्गणाएं गुरुलघु होती हैं । काययोग में कार्मण शरीर का भी ग्रहण है और उसकी वर्गणा चतुः स्पर्शी हैं। इसलिये उसका पृथक से निर्देशकर के चतुर्थ भंग अगुरुलघु बताया है । पुद्गल भी द्रव्य है। अतः द्रव्य सामान्य में गुरुलघु अगुरुलघु यह दोनों भंगों का निर्देश किया है।

यद्यपि समय के माध्यम से काल द्रव्य में चतुर्थ भंग (अगुरुलघु) का संकेत पूर्व में किया जा चुका है, परन्तु यहां कालद्रव्य के अतीत और अनागत भेदों का पृथक से निर्देश इसलिये किया है कि समय रुप वर्तमान काल जैसे अगुरुलघु है वैसे ही अतीत अनागत काल समय प्रवाह रुप होने से तथा सर्वद्धा में वर्तमानकाल का समावेश होने से अगुरुलघु भंग है ।

ला० ॥ १८ चउत्थपदेणं - पु० अमो० । चउत्थपएणं - धा० । चउत्थेणं लीं० विना ॥ १९. सव्वादेसा सव्वदव्वा सव्वपज्जवा-पु० ॥ २०. सव्वपएसा धा० न० । २१. जहा - जं० वं० स० ॥ २२. तीयद्धा - धा० ॥ २३ अणागयद्धा न० वे० म० ॥ २४ चउत्थेणं - कं० ता० वं० मं० वें० म० । २५. पएणं - अमो० धा० पदेणं । अथ नी- जं० ला० ॥

B-सूत्र १७१ अगुरुयलहुए वि तक ॥

१ लिप्यते लिम्पते आत्मा कर्मणा सह अनया सा लेश्या ।

तीन दृष्टि, चार दर्शन, पांच ज्ञान, तीन अज्ञान, दोनों उपयोग तथा चार संज्ञा अगुरुलघु पद में जानना चाहिए। द्रव्य, प्रदेश, पर्याय पुद्गलास्तिकाय के समान समझना। अर्थात् ये जीव स्वभाव है और जीव के अरूप होने से ये सभी जो द्रव्य चतुस्पर्शी हैं, वे अगुरुलघु और जो अष्टस्पर्शी है, वे गुरुलघु होते हैं। प्रदेश और पर्याय द्रव्य के भेद होने से उन्हें पुद्गल द्रव्य के समान जानना चाहिए। अर्थात् वे गुरुलघु और अगुरुलघु है। प्रथम और द्वितीय भंग में नहीं पाये जाते है।

श्रमणनिर्ग्रन्थों के लिए प्रशस्त तथा अन्तकर

पूर्व में गुरुत्व लघुत्व आदि भंग चतुष्कों एवं गुरुत्व लघुत्व के प्रशस्त-अप्रशस्तत्व का संकेत किया है। उसमें से निग्रन्थ श्रमण के लिए क्या अभीष्ट है ? तथा प्रशस्तावस्था प्राप्ति का क्या फल है ? अब यह स्पष्ट करते है।

सूत्र 180 से नूणं भंते ! लाघवियं [1]अप्पिच्छा अमुच्छा अगेही [2]अपडिबद्धता समणाणं णिग्गंथाण पसत्थं ?

हंता, गोयमा ! [3]लाघवियं [A]जाव पसत्थं।

सूत्र 180 भगवन् ! क्या लाघव, अल्पइच्छा अमूर्च्छा, अनासक्ति और अप्रतिबद्धता ये श्रमण-निग्रन्थों के लिए प्रशस्त हैं ?

हां गौतम ! लाघव यावत् अप्रतिबद्धता प्रशस्त है।

181 से नूणं भंते ! [4]अकोहत्तं अमाणत्तं अमायत्तं अलोभत्तं समणाणं निग्गंथाण पसत्थं ?

हंता, गोयमा ! [5]अकोहत्तं [B]जाव पसत्थं।

सूत्र 181 भगवन् ! क्रोध-रहितता मान-रहितता मायारहितता और लोभ-रहितता क्या यह श्रमण निर्ग्रन्थो के लिए प्रशस्त हैं ?

हां गौतम ! क्रोधरहितता, यावत् अलोभत्व, ये सब श्रमण निर्ग्रन्थों के लिए प्रशस्त है ?

182 से नूणं भंते ! [6]कंखा-पदोसे खीणे समणे निग्गंथे अंतकरे [7]भवति, [8]अंतिमसरीरिए वा, बहुमोहे वि य णं पुव्विं विहरित्ता [9]अह पच्छा संवुडे कालं

सूत्र 182 हे भगवन् ! क्या कांक्षा प्रदोष क्षीण होने पर श्रमण निर्ग्रन्थ अन्तकर होता है, अथवा अन्तिम शरीरी होता है ? अथवा पूर्वावस्था में बहुत मोहवाला होकर विचरण करे और फिर संवृत (संवरयुक्त) होकर मृत्यु प्राप्त करे तो क्या

१. अप्पिच्छा - धा० २. ०बद्धया - पु० अमो० धा० न० ॥ ३. ०यं अप्पिच्छा जाव - जं० ॥ ४. ०त्तं अमाणत्तं अमायत्तं अलोभत्तं -पु० अमो० न० वे० म० ॥ ५ ०त्तं अमाणत्त जाव - पु० धा० न० । अकोयत्तं जाव निग्गंथाणं पसत्थं जं० ॥ ६. कंखपओसेण - धा० । कंखप्पदोसे-जं० ॥७. भवइ - अमो० धा० ॥ ८. ०मसरीर० - अमो० । ०मसारीरिदे वा - जं० लो० । ०मसरीरिदेवा - लों सं० ॥ ९. अहा - ज० ता० ब० म० ला० । अप जं० ॥ १०. करेइ-

A अप्पिच्छा अमुच्छा अगेही, अपडिबद्धया समणाण निग्गंथाणं ॥

B. अमायत्तं अलोभत्तं समणाण निग्गंथाणं ॥

[10]करेति [11]तओ पच्छा [12]सिज्झइ ३ Cजाव अंतं [13]करेइ ?

हंता, गोयमा ! [14]कंखा-पदोसे खोणे Dजाव अंतं [15]करेति ।

तत्पश्चात वह सिद्ध बुद्ध मुक्त होता है यावत् सब दुःखों का अन्त करता है ?

हां गौतम ! कांक्षा-प्रदोष नष्ट हो जाने पर यावत् सब दुःखों का अन्त करता है ।

विवेचन–

मर्यादा से अधिक उपधि नहीं रखना, मर्यादा से भी कम रखना लाघव है । एषणीय सभी वस्तुओं में भी अल्प इच्छा रखना "अल्पेच्छा" है । अपनी निश्रा में स्थित वस्तुओं पर आसक्ति नहीं रखना "अमूर्च्छा" है । अनासक्त अवस्था को अगृद्धि, रागादि से रहित अवस्था को अप्रतिबद्धता, ये बात श्रमण निर्ग्रन्थों के लिए प्रशस्त—आचरणीय होती है ।

कांक्षा का अर्थ राग और प्रदोष का अर्थ प्रद्वेष भी लिया जाता है । तदनुसार कांक्षाप्रदोष को कांक्षाप्रद्वेष भी कहा जाता है । अपनी मनकल्पित वस्तु पर राग और अपने से प्रतिकूल वस्तु पर द्वेष भाव रखना कांक्षाप्रदोष है । इस कांक्षाप्रदोष के सर्वथा क्षय होने पर केवलज्ञान की प्राप्ति होती है और क्रमशः मुक्ति मिल जाती है ।

१०करेति ११तओ पच्छा १२सिज्झइ ३ Cजाव अंतं १३करेइ ?

हंता, गोयमा ! १४कंखा-पदोसे खीणे Dजाव अंतं १५करेति ।

तत्पश्चात वह सिद्ध बुद्ध मुक्त होता है यावत् सब दुःखों का अन्त करता है ?

हां गौतम ! कांक्षा-प्रदोष नष्ट होने पर यावत् सब दुःखों का अन्त करता है ।

विवेचन–

मर्यादा से अधिक उपधि नहीं रखना, मर्यादा से भी कम रखना लाघव है । इसलिए सभी वस्तुओं में भी अल्प इच्छा रखना "अल्पेच्छा" हैं । अपनी निश्रा में स्थित वस्तुओं पर आसक्ति नहीं रखना "अमूर्च्छा" है । अनासक्त अवस्था को अगृद्धि, रागादि से रहित अवस्था को अप्रतिबद्धता है वात श्रमण निर्ग्रन्थों के लिए प्रशस्त—आचरणीय होती है ।

कांक्षा का अर्थ राग और प्रदोप का अर्थ प्रद्वेप भी लिया जाता है । तदनुसार कांक्षाप्रदोष को कांक्षाप्रद्वेप भी कहा जाता हैं । अपनी मनकल्पित वस्तु पर राग और अपने से प्रतिकूल वस्तु पर द्वेष भाव रखना कांक्षाप्रदोप है । इस कांक्षाप्रदोप के सर्वथा क्षय होने पर केवलज्ञान की प्राप्ति होती है और क्रमशः मुक्ति मिल जाती है ।

सूत्र न. १८३ आयु बंध के सम्बन्ध में अन्यमतीय और भगवतीय चर्चा–

कांक्षाप्रदोप की स्थिति वाला कभी कभी अन्य तीर्थिकों के मिथ्या तर्क जाल में उलझकर विपरित श्रद्धान् वाला भी हो सकता है । इसलिए अन्य तीर्थिकों की उन अयथार्थ मान्यताओं के सम्बन्ध में गौतम स्वामी द्वारा पूछेगए प्रश्न एवं भगवान द्वारा प्रदत्त समाधान की विवेचना प्रस्तुत हुए है की जा रही है ।

जमो० पा० न० ॥ ११. ततो - न० ॥ १२. सिज्झति-पु० न० वे० म० ।. ०३ बुज्झइ मुच्चइ सव्वं दुक्खाणं अं- पा० ॥ १३. करेति - न० ॥ १४ कंखपओसे - पा० । कंखप्पदो ०जं० । ०पतोसे जो० ॥ १५. करेति - जमो० पा ॥

C. बुज्झति मुच्चति परिनिव्वाति सव्वदुक्खाणं ॥

D. समणे निग्गंथे अतंकरे भवति अंतिमसरीरिए वा बहुमोहे वि य णं पुव्विं विहरित्ता अह पच्छा संवुडे कालं करेइ ततो पच्छा सिज्झति बुज्झति मुच्चति परिनिव्वाति सव्व दुक्खाणं ॥

करता हैं। यहां अन्यमतियों का अभिप्राय निम्न प्रकार से फलित होता है कि एक जीव, जिसने कि वर्तमान का आयुष्य भोगते हुए पर भव के आयुष्य बांधने के योग्य समय, पर भव का आयुष्य भी बांध लिया। उस जीव के एक ही समय दो आयुष्य की अवस्था चल रही है--एक भुज्यमान दूसरी सत्ता प्राप्त इन दोनों आयुष्य के विषय में अन्य यूथिक यह मानते है कि जीव ने आयुष्य को बढ़ाया है। अतएव जिस समय जीव इहभविक आयुष्य को प्रकर्ष करता है अर्थात् बढ़ाया है, उसी समय परभविक आयुष्य को भी प्रकर्ष करता है। जिस समय परभव के आयुष्य को प्रकर्ष करता है, उसी समय इह भव के आयुष्य को भी प्रकर्ष करता है। आगे कहते है कि इह भविक आयुष्य के प्रकर्ष करने के लिए इह भविक आयुष्य को प्रकर्ष करता है। इस प्रकार दोनों आयुष्य एक ही समय में प्रकर्ष करता है। यह जो अन्य मतियों का कथन है इसे प्रभु महावीर ने मिथ्या बताया है। यह इनका कथन सही नहीं है। भगवान ने कहा गौतम ! मैं इस प्रकार कहता हूं कि—"एवं खलु एगे जीवे एगेणं समयेणं एगं आउयं पकरेइ" अर्थात् एक जीव एक समय में एक ही आयुष्य का कार्य करता है। वह कार्य अध्यवसायों पर निर्भर है, जिस समय इहभविक आयुष्य का कार्य प्रकर्ष रूप मे रहता है, उस समय परभविक आयुष्य सम्बन्धी अध्यवसाय प्रकर्ष के रूप में नहीं रहते हैं, और जिस समय परभविक आयुष्य के अध्यवसाय प्रकर्ष रूप में होते हैं; उस समय इहभविक आयुष्य के अध्यवसाय प्रकर्ष रूप मे नही होते है। उसी प्रकार इहभविक आयुष्य के प्रकर्ष अध्यवसाय के लिये परभविक आयुष्य के अध्यवसाय प्रकर्ष करने की आवश्यकता नही है। जिस समय पर भविक आयुष्य के अध्यवसाय प्रकर्ष रूप में हैं, उस समय इहभविक आयुष्य सम्बन्धी अध्यवसाय प्रकर्ष रूप में नहीं हैं, अतएव एक समय में दोनों आयुष्य के अध्यवसाय न तो प्रकर्ष रूप में रहते हैं और न एक दूसरे के प्रकर्ष के लिए हेतु भूत बनते हैं, जिन अध्यवसायों की प्रकर्षता से इहभविक आयुष्य का अवस्थान है, वह उस अवस्था से भुज्यमान रहेगा। उसमें वृद्धि नहीं की जा सकती एवं जिस समय परभविक आयुष्य सम्बन्धी अध्यवसाय प्रकर्षता को प्राप्त हुए, वे सत्ता रूप में विद्यमान है। उसमें भी अभिवृद्धि नहीं की जा सकती, जो आयुष्य जिन अध्यवसायों की प्रकर्षता में अवस्थित हुआ है, वह आयुष्य उसी अवस्था में रहेगा, उसमें अभिवृद्धि का प्रसंग नही आ सकता। अतएव अन्य यूथिकों ने इन आयुष्यों के लिए एक ही समय प्रकर्षता की बात कही वह योग्य नहीं है। हां आयुष्य का अपकर्ष हो सकता है जो अनपवर्तनीयक नहो, अपवर्तनीय होता है, उस आयुष्य का यथा निमित्त अपवर्तन हो सकता है, लेकिन यह कार्य भी एक समय में एक का ही होगा, दो का नहीं। क्योंकि दोनों के अध्यवसाय भिन्न-२ है। अतएव उनकी अपकर्षता का हेतु एक नही हो सकता। यह केवल अपवर्तनीय आयुष्य के लिए समझना चाहिये, अनपवर्तनीय आयुष्य के लिए नहीं, किन्तु अभिवृद्धि का प्रसंग तो दोनों में आ ही नहीं सकता। इसलिए अन्य यूथिकों का कथन सत्यता से परे है।

---

१. पकरेति का अर्थ 'पाउअमट्ठहण्णयो' में प्रकर्ष करना' भी बतलाया है।

अहं पुण गोयमा ! एवमाइक्खामि [B]जाव परूवेमि —एवं खलु एगे जीवे एगेणं समएणं एगं [४]आउयं [५]पकरेति,, तं जहा- इहभवियाउयं वा, परभवियाउयं वा; जं समयं इहभवियाउयं [६]पकरेति णो तं समयं परभवियाउयं [७]पकरेति, जं समयं परभवियाउयं [८]पकरेइ णो तं समयं इहभवियाउयं [९]पगरेइ, इहभवियाउयस्स [१०]पकरणताए णो परभवियाउयं [११]पकरेति परभवियाउयस्स [१२]पकरणताए णो इहभवियाउयं [१३]पकरेति, एवं [१४]खलु एगे जीवे एगेणं [१५]समएणं एगं आउयं [१६]पकरेति, [१७]तं जहा—इहभवियाउयं वा परभवियाउयं वा ।

सेवं [१८]भंते ! सेवं भंते ! त्ति भगवं [२०]गोयमे [C]जाव [२१]विहरति ।

कहा है। गौतम ! मैं इस प्रकार कहता[illegible] यावत् प्ररूपणा करता हूँ कि एक जीव एक [illegible] में एक आयुष्य को ही बांधता है और [illegible] तो इस भव का आयुष्य करता है अथवा पर[illegible] का आयुष्य करता है। जिस समय इस भव [illegible] आयुष्य करता है, उस समय परभव का आयु[illegible] नहीं करता और जिस समय परभव का आयु[illegible] करता है, उस समय इस भव का आयुष्य नहीं करता। तथा इस भव का आयुष्य करने से [illegible] भव का आयुष्य और परभव का आयुष्य करने से इस भव का आयुष्य नहीं करता। इस प्रकार एक जीव एक समय में एक आयुष्य करता है, इस भव का आयुष्य अथवा परभव का आयुष्य।

भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है, ऐसा कहकर भगवान् गौतम स्वामी यावत् विचरते हैं।

विवेचन :—

एक समय में एक जीव के दो आयुष्य की प्रकर्षता –

यहा इस प्रकरण में अन्य यूथिकों ने कहा है कि एक जीव ही समय में-- "एवं खलु एगे जीवे एगेणं समयेणं दो आउयाइं पकरेति" अर्थात् एक जीव एक ही समय में दो आयुष्य प्रकरता है [illegible]

४. आउयं - वे० म० ॥ ५-६-७ ११-१३-१६. पकरेइ - अमो० मा० ॥ ८ ९. पकरेति - म० ॥ १०. [illegible] - अमो० पा० । 'ताए नो तं प० - ला २. १२ 'पयाए - अमो० पा० ॥ १४. खलु जीवे - ला १५. समयेणं [illegible] ने. [illegible] वे० म० १८. भं ! एवं भं - लो० ला ४ ॥ १९ ति जाव ला० ॥ २०. गोयम - अमो० ॥ २१. [illegible] अमो० पा० ॥

B–एवं भासेमि एवं पण्णवेमि एवं ॥

C–सूत्र १०३ में जाव पूर्ति (C) ॥

[25]वयासी-जाणामो णं अज्जो ! सामाइयं [26]जाणामो णं अज्जो ! [27]सामाइयस्स अट्ठं [A]जाव [28]जाणामो णं अज्जो ! [29]विउसग्गस्स अट्ठं ।

हम सामायिक को जानते हैं, सामायिक के अर्थ को भी जानते हैं, यावत् हम व्युत्सर्ग को जानते हैं, और व्युत्सर्ग के अर्थ को भी जानते हैं।

(III) [1]तए णं से [2]कालासवेसियपुत्ते [3]अणगारे ते थेरे भगवंते एवं [4]वयासी-[5]जति णं अज्जो ! तुब्भे [6]जाणह [7]सामाइयं, [8]जाणह सामाइयस्स अट्ठं [A]जाव[9] जाणह [10]विउस्सग्गस्स [11]अट्ठं किं भे अज्जो ! सामाइए ? [12]किं भे अज्जो ! सामाइयस्स अट्ठे ? [13]जाव किं भे [14]विउसग्गस्स अट्ठे ?

III) उसके पश्चात् कालास्यवेषि पुत्र अनगार ने उन स्थविर भगवन्तों से इस प्रकार कहा—हे आर्य ! यदि आप सामायिक को जानते हैं और सामायिक के अर्थ को जानते हैं यावत् व्युत्सर्ग को और व्युत्सर्ग के अर्थ को जानते है तो बतलाइए कि सामायिक क्या है और सामायिक का अर्थ क्या है ? यावत्—व्युत्सर्ग क्या है और व्युत्सर्ग का अर्थ क्या है ?

(IV) [15]तए णं ते थेरा भगवंतो [16]कालासवेसियपुत्तं अणगारं एवं वयासी—आया णे अज्जो ! सामाइए, आया णे अज्जो !

(IV) तब उन स्थविर भगवन्तों ने इस प्रकार कहा कि हे *आर्य ! हमारी आत्मा सामायिक है, हमारी* आत्मा सामायिक का अर्थ है ! यावत् हमारी

---

२५. वदामी - न० । वदासि - ला १ ॥ २६. जाणाहमो - ला० ॥ २७ सामातियस्स — ता० ॥ २८ जाणाहमो - ला० ॥ २९. विउस्सग्गस्स — पु० अमो० घा० न० वे० म० ॥

जाणामो णं अज्जो ! विवेगं, जाणामो णं अज्जो ! विवेगस्स अट्ठं ।
जाणामो णं अज्जो ! विउस्सग्गं ॥

(III) १.तते णं - न० ॥ २.°वेसिपुत्ते - घा० ॥ ३ °रे थेरे - पु० । °गारे भगवंते एवं वदासि-ला१ । °गारे थेरे - ता० ला४ ॥ ४. वयासि लो० ॥ ५. जइ णं - अमो० घा० न० ॥ ६. जाणाह - ता० ॥ ७. °इयं तुब्भे जाणह - म० ॥ ८. जाणहा - ॥ ९. जाव जइ णं अज्जो तुब्भे जाणह विउस्सग्गं तुब्भे जाणह विउ° - न० ॥ १०. विओसग्गस्स - लो० ॥ ११. अट्ठ के भे अज्जो - अमो० । अट्ठं के भे - म० । अट्ठं के ते - व० भं० । अट्ठं के भे - लो० जे० ला० १ २. ४. ॥ १२. के भे सामाइयस्स - अमो० । के भे अज्जो - न० लो० जे० ला १. २. ४. । १३. जाव के भे विउ° - अमो० । जाव के भे अज्जो विउस्सग्गे ? के भे अज्जो विउ° - न० के भे - लो० जे० ला० १. २. ४. ॥ १४. विउस्सग्गस्स - पु० घा० वे० म० ॥ १५. तए णं थेरा - घा० न० लो० ॥ १६. °पुत्ते - घा० ॥

A. सूत्र १८४ (I)

सूत्र १८४, "पार्श्ववर्ती स्थविरों के प्रश्नोत्तर"

184 (i) तेणं कालेणं तेणं समएणं [1]पासावच्चिज्जे कालासवेसियपुत्ते णामं अणगारे जेणेव थेरा भगवंतो तेणेव [2]उवागच्छति, उवागच्छित्ता [3]थेरे [4]भगवंते एवं [5]वयासी-थेरा सामाइयं ण [6]जाणंति, थेरा सामाइयस्स [7]अट्ठं ण [8]याणंति, थेरा पच्चक्खाणं ण [9]याणंति, थेरा पच्चक्खाणस्स [10]अट्ठं ण [11]याणंति, थेरा संजमं ण [12]याणंति, थेरा संजमस्स [13]अट्ठं ण [14]याणंति, थेरा संवरं ण [15]याणंति, थेरा सवरस्स अट्ठं ण [16]याणंति. थेरा विवेगं ण [17]याणंति, थेरा विवेगस्स अट्ठं ण [18]याणंति थेरा [19]विउस्सग्गं ण [20]याणंति, थेरा विउस्सग्गस्स अट्ठं ण [21]याणंति ।

सूत्र 184 (i) उस काल और उस समय में पार्श्वनाथ की परम्परा के शिष्यानुशिष्य कालासवेसियपुत्र नामक अनगार जहां स्थविर भगवन्त विराजमान थे, वहां गए उनके पास आकर स्थविर भगवन्तों से इस प्रकार कहा— "हे स्थविरो ! आप सामायिक को नहीं जानते, हे स्थविरो ! सामायिक के अर्थ को नहीं जानते, आप प्रत्याख्यान को नहीं जानते और प्रत्याख्यान के अर्थ को नहीं जानते, आप संयम को नहीं जानते, आप संयम और संयम के अर्थ को नहीं जानते, आप संवर को नहीं जानते और संवर के अर्थ को नहीं जानते, आप विवेक को नहीं जानते और आप विवेक के अर्थ को नहीं जानते, आप व्युत्सर्ग को नहीं जानते और व्युत्सर्ग के अर्थ को नहीं जानते ।

(II) [22]तए णं [23]ते थेरा भगवंतो [24]कालासवेसियपुत्तं अणगारं एवं

(ii) तब उन स्थविर भगवन्तों ने कालासवेसियपुत्र अनगार से इस प्रकार कहा—"हे आर्य

मू. १८४ १. पासावच्चेज्जे - लो० ॥ २. °गच्छइ २ त्ता - अमो० । उवागच्छइ - पा० ॥ ३. थेर - अमो० । थेर एवं - ला २ ॥ ४. भगवं एव - अमो० अ० व० ॥ ५. वदासी - ला० । अत्र प्रायः सर्वत्र वयासी स्थाने अवदेस वदासि - लो० ला० १ । अत्र प्राय सर्वत्र स्थाने अयमेव पाठः ॥ ६. याणंति - अमो० म० । ण याणंति - लो० ला १ । अत्र प्राय सर्वत्र अयमेव पाठः । आमेव च पाठः मागधीभाषायां प्रसिद्धः- ८। ४। २९२ ॥ हैम सूत्रे प्रथम् ॥ ७. १०. १३ अत्थं - ला १ ॥ ८. ९. ११ १२. १४. १५. १६. १७. १८. २०. २१. जाणंति - ला०, १९. विउसग्गं - पा० । विओसग्गं - लो० ॥ २२. तते ला० ॥ २३. णे थेरा म० ॥ २४. °वेसियपुत्तं - ला०,

A-जाणामो णं अज्जो ! पच्चक्खाणं, जाणामो णं अज्जो ! पच्चक्खाणस्स अट्ठं ।

जाणामो णं अज्जो ! संजमं, जाणामो णं अज्जो ! संजमस्स अट्ठं ।

जाणामो णं अज्जो । संवरं, जाणामो णं अज्जो ! संवरस्स अट्ठं ।

विवेचन :-

चौथे आरे में जब २३ वें तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ का शासन चल रहा था, उनके मोक्ष पधारने के लगभग २५० वर्ष बाद, जब भगवान् महावीर का शासन प्रारम्भ हुआ, उस समय पार्श्वनाथ की शिष्य परम्परा के साधु कालास्यवेषिपुत्र ने भगवान् महावीर के शासन के स्थविरों को देखा। तब संभव है, उनके मन में विचार आया कि इन स्थविरों का और हमारा अलग-अलग विचरण क्यों हो रहा है ? क्या ये सामायिकादि को नहीं जानते हैं ? यदि जानते होते तो वे हमें देखकर अवश्य हमारे से प्रश्न कर लेते। अत: मेरा विश्वास है कि ये स्थविर सामायिकादि नहीं जानते है। इसी विश्वास के साथ कालास्यवेषी अनगार ने भगवान् महावीर के स्थविरों का निश्छल, निष्कपट भाव से अपने मनोगतभाव कह दिये कि आप सामायिकादि नही जानते।

इससे यह स्पष्ट है कि उस समय मुनियों में बहुत सरलता थी, तथा वे सुसंगठनप्रिय भी थे। कालास्यवेषी अनगार को भाषा आज के समय में असभ्यता की प्रतीक हो सकती है, किन्तु जो सत्यान्वेषक होते हैं, वे वैसा ही स्पष्ट रूप से कह देते है।

संभव है, इस कटुसत्यता को कहने में कालास्यवेषी अनगार के ये विचार भी हों कि इनकी परीक्षा करली जाय कि इस प्रकार कहने पर ये क्रोधित होते हैं, या नही ? यदि क्रोधित होंगे तो यह समझा जायगा कि इनमें चारित्रिक उच्चता नही है।

उनके इस प्रकार कहने में क्या रहस्य था, यह निश्चय में नही कहा जा सकता, किन्तु उनकी इस प्रकार की बात को सुनकर भी स्थविर भगवन्तों को किंचित् भी क्रोध नहीं आया। उसी शांतभाव के साथ प्रेमपूर्वक उन्होंने कहा—हे आर्य ! हम सामायिक को जानते हैं। इससे साधु की आन्तरिकता का ज्ञान होता है। यहाँ प्रयुक्त आर्य का निम्न अर्थ है—

"आरात् हेय धर्मेभ्य: इति आर्य:

जो हेय कार्य को त्यागकर उपादेय को करता है, वह आर्य है।

प्रस्तुत सूत्र में कालास्यवेषिपुत्र नामक अनगार द्वारा पूछे गए षट् प्रश्नो का स्थविर भगवन्तो ने एक ही उत्तर में समाधान कर दिया।

आत्मा ही सामायिक है और आत्मा ही सामायिक का अर्थ है। इसी प्रकार प्रत्याख्यान, संयम संवर, विवेक, व्युत्सर्ग के प्रश्नो का भी यही एक उत्तर है।

प्रथम प्रश्न कालास्वेषिकपुत्र नामक अनगार ने किया था। सामायिक क्या है और सामायिक का क्या अर्थ है ? उदाहरण के रूप मे कोई पूछता है कि—गाया क्या होता है तो आप कहेंगे एक विशेष

सामाइयस्स अट्ठे [B]जाव विउस्सग्गस्स अट्ठे ।

(v) तए णं से कालासवेसियपुत्ते अणगारे [1]थेरे भगवंते एवं [2]वयासी—[3]जति भे अज्जो ! आया सामाइए, आया [4]सामाइयस्स [5]अट्ठे एवं [A]जाव आया विउस्सगस्स अट्ठे, अवहट्टु कोह-माण-माया- लोभे किमट्ठं अज्जो ! [6]गरहह ?

[7]कालासवेसियपुत्तां ! संजमट्ठयाए !

(VI) से भंते ! किं गरहा संजमे ? अगरहा संजमे ? [8]कालासवेसियपुत्तां ! गरहा संजमे; नो [9]अगरहा संजमे गरहा वि य णं सव्वं दोसं [10]पविणेति, सव्वं बालियं [11]परिण्णाए एवं [12]खु णे आया संजमे [13]उवहिते भवति, एवं खु णे आया संजमे [14]उवचिते [15]भवति, एवं खु णे आया संजमे [16]उवेट्ठिए [17]भवति।

आत्मा व्युत्सर्ग है, हमारी आत्मा ही व्युत्सर्ग का अर्थ है।

(v) इस पर कालास्यवेपिपुत्र अनगार उन स्थविर भगवन्तों से इस प्रकार कहते है—हे भगवन् ! यदि आत्मा ही सामायिक है, आत्मा ही सामायिक का अर्थ है, और इसी प्रकार यावत् आत्मा ही व्युत्सर्ग है तथा आत्मा ही व्युत्सर्ग का अर्थ है, तो आप क्रोध, मन, माया और लोभ का परित्याग करके क्रोधादि की गर्हा-निन्दा क्यों करते है ?

कालास्यवेपिपुत्र ! हम संयम के लिए क्रोध आदि की गर्हा करते हैं !

(iv) तो हे भगवन् ! क्या गर्हा संयम है या अगर्हा संयम है ? हे कालास्यवेपि पुत्र ! गर्हा संयम है, अगर्हा संयम नहीं है। गर्हा सब दोषों को दूर करती है— आत्मा समस्त मिथ्यात्व को जान कर गर्हा द्वारा दोष निवारण करती है। इस प्रकार हमारी आत्मा संयम में पुष्ट होती है, और इसी प्रकार हमारी आत्मा संयम में उपस्थित होती है।

B. आया णे अज्जो ! पच्चक्खाणे आया णे अज्जो ! पच्चक्खाणस्स अट्ठे । आया णे अज्जो ! संजमे आया णे अज्जो ! संजमस्स अट्ठे । आया णे अज्जो ! संवरे, आया णे अज्जो ! संवरस्स अट्ठे । आया णे अज्जो ! विवेगे, आया णे अज्जो । विवेगस्स अट्ठे ।। आया णे अज्जो ! विउस्सग्गे आया णे अज्जो ! ।।

१ थेरे एवं वयासी - ला० ।। २. वयासी - न० ।। ३. जइ भे - अमो० पा० म० । जदि ता २ । जति णं भे अज्जो ! सामाइए आया, सामाइयस्स अट्ठे जाव आया अट्ठे - ला० ।। सामाइस्स - पा० ।। ५. अट्ठे जाव - अमो० न० । अट्ठो - ला १ । ६. गरहह म० ।। ७. कालासा संजम° अमो० न० । °वेसियपुत्ता - पा० । कालास० अज्जो ! म० । कालासवेसिय ! सं° - ला० ।। ८. कालासा गहरा - अमो० न० । °वेसियपुत्ता - पा० । कालास० म० ९ अगरिहा - ला० ।। १० °णेइ - अमो० पा० ।। ११. परिण्णाए ला १ ।। १२. सुणे आया - मा० ।। १३. उवहिए भवइ - अमो० पा० ।। १४. उवचिए - पु० अमो० न० । उवट्ठिए भवइ एवं पा० ।। १५. भवइ - अमो० ।। १६. उवट्ठिते - न० वे० म० ।। १७. भवइ - अमो० पा० ।। A. सूत्र १८४ (1) ।।

वचन :-

चौथे आरे में जब २३ वें तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ का शासन चल रहा था, उनके मोक्ष पधारने के लगभग २५० वर्ष बाद, जब भगवान् महावीर का शासन प्रारम्भ हुआ, उस समय पार्श्वनाथ की शिष्य परम्परा के साधु कालास्यवेपिपुत्र ने भगवान् महावीर के शासन के स्थविरों को देखा। तब संभव है, उनके मन में विचार आया कि इन स्थविरों का और हमारा अलग-अलग विचरण क्यों हो रहा है? क्या वे सामायिकादि को नहीं जानते हैं? यदि जानते होते तो वे हमें देखकर अवश्य हमारे से प्रश्न कर लेते। अतः मेरा विश्वास है कि ये स्थविर सामायिकादि नहीं जानते हैं। इसी विश्वास के कालास्यवेपी अनगार ने भगवान् महावीर के स्थविरों का निश्छल, निष्कपट भाव से अपने गतभाव कह दिये कि आप सामायिकादि नहीं जानते।

इससे यह स्पष्ट है कि उस समय मुनियों में बहुत सरलता थी, तथा वे सुसंगठनप्रिय भी थे। लास्यवेपी अनगार की भाषा आज के समय में असभ्यता की प्रतीक हो सकती है, किन्तु जो सत्या- षक होते हैं, वे वैसा ही स्पष्ट रूप से कह देते हैं।

संभव है, इस कटुसत्यता को कहने से कालास्यवेपी अनगार के ये विचार भी हों कि इनकी क्षा करली जाय कि इस प्रकार कहने पर ये क्रोधित होते हैं, या नहीं? यदि क्रोधित होंगे तो यह मझा जायगा कि इनमें चारित्रिक उच्चता नहीं है।

उनके इस प्रकार कहने में क्या रहस्य था, यह निश्चय में नहीं कहा जा सकता, किन्तु उनकी इस प्रकार की बात को सुनकर भी स्थविर भगवन्तों को किंचित् भी क्रोध नहीं आया। उसी शांत भाव के साथ प्रेमपूर्वक उन्होंने कहा—हे आर्य! हम सामायिक को जानते हैं। इससे साधु की आन्तरिक ान होता है। यहाँ प्रयुक्त आर्य का निम्न अर्थ है—

"आरात् हेय धर्मेभ्य: इति आर्यः

जो हेय कार्य को त्यागकर उपादेय को करता है, वह आर्य है।

प्रस्तुत सूत्र में कालास्यवेपिपुत्र नामक अनगार द्वारा पूछे गए षट् प्रश्नों का स्थविर भ ने एक ही उत्तर में समाधान कर दिया।

आत्मा ही सामायिक है और आत्मा ही सामायिक का अर्थ है। इसी प्रकार प्रत्याख्या संवर, विवेक, व्युत्सर्ग के प्रश्नों का भी यही एक उत्तर है।

प्रथम प्रश्न कालास्यवेपिकपुत्र नामक अनगार ने किया था। सामायिक क्या है और का क्या अर्थ है? उदाहरण के रूप में कोई पूछता है कि—करना क्या होता है तो आप कहेंगे

प्रकार के कागज पर रिजर्व बैंक सरकार की मोहर-छाप लगा हुआ प्रमाणित रुपया होता है। फिर प्रश्नकर्ता ने पूछा - उस रुपये का क्या प्रयोजन होता है? तब आप बतलाएंगे कि ऐसा रुपया विनिमय में काम आता है।

इसी प्रकार सामायिक आदि क्या है? और इसका क्या प्रयोजन है? इनके उत्तर में स्थविर भगवंतों का यह उत्तर निश्चय नय की अपेक्षा से था। व्यवहार नय से सामायिक आदि का निम्न प्रकार से भी अर्थ किया जा सकता है।

सामायिक—शत्रु और मित्र पर समभाव रखना। नवीन कर्मों के बंध को रोक देना और प्राचीन कर्मों को निर्जरित कर देना, सामायिक का प्रयोजन है।[1]

प्रत्याख्यान—नवकारसी, पोरसी आदि विविध प्रत्याख्यान के द्वारा कर्मों के आगमन द्वार को अर्थात् आश्रव को रोक देना, प्रत्याख्यान का प्रयोजन है।[2]

संयम—पृथ्वीकायादि जीवों का उपमर्दन नहीं करना, उनकी यतना करना संयम है, जो कि १७ प्रकार का होता है। आश्रवरहित होना संयम का प्रयोजन है।[3]

संवर—पांच इन्द्रियां और मन की प्रवृत्ति को वश में रखना संवर है। इनको वश में करके आश्रव रहित होना संवर का प्रयोजन है।[4]

विवेक—जीवन के प्रत्येक कार्य को विशिष्ट बोध के साथ करना विवेक है। उस विशिष्ट बोध के द्वारा हेय, ज्ञेय, उपादेय पदार्थों का ज्ञान कर हेय से निवृत्ति और उपादेय में प्रवृत्ति करना विवेक का प्रयोजन है।[5]

व्युत्सर्ग—शरीर की स्पंदन प्रक्रिया को त्यागकर, उससे ममत्व हटा लेना व्युत्सर्ग है। इसे "कायोत्सर्ग" भी कहा जाता है। सभी प्रकार के मोह ममत्व से अपनी आत्मा को हटा लेना, व्युत्सर्ग का प्रयोजन है।[6]

---

१. समाइयं-समो-राग-द्वेषयोरपान्तरालवर्ती मध्यस्थः, इण् गतौ, अयनं अयो गमनमित्यर्थः, समस्य अयः समायः-समीभूतस्य सतो मोक्षाध्वनि प्रवृत्तिः समाय एव सामायिकम्॥ अट्ठे' त्ति प्रयोजनं कर्मानुपादाननिर्जरणे।

२. "पच्चक्खाणं" ति पौरुष्यादि नियमं, तदर्थं च आश्रवद्वारनिरोधं।

३. 'संजमं' ति पृथिव्यादिसंरक्षणलक्षणं तदर्थं च अनाश्रवत्वं।

४. 'संवरं' ति इन्द्रिय नोइन्द्रिय निवर्तनं तदर्थं तु अनाश्रवत्वमेव।

५. 'विवेगं' ति विशिष्टबोधं तदर्थं च त्याज्यत्यागादिकं।

६. 'विउसग्गं' ति व्युत्सर्गं कायादीनां तदर्थं चानभिष्वङ्गताम्।

षट्प्रश्नों के समाधान होने पर कालास्यवेषिक अणगार ने पूछा—क्रोधादि का त्यागकर फिर उनकी निन्दा क्यों करते हो ? तब स्थविर भगवन्तों ने कहा—हे कालास्यवेषिक अनगार ! संयमरक्षा के लिए पापों की निन्दा की जाती है। क्योंकि जो कार्य निन्दनीय होता है, उसका आचरण नहीं किया जाता है, अतः पापों की निन्दा करने से साधक उनसे निवृत्त होकर संयम में प्रवृत्ति करता है। इसी प्रकार गर्हा से भी संयम साधना पुष्ट होती है। पापादि दोष का विसर्जन होता है तथा आत्मा शुद्ध स्वरूप में उपस्थित होती है।

सूत्र 185 (1) [1]एत्थ णं से [2]कालासवेसियपुत्ते अणगारे संबुद्धे थेरे भगवंते [3]वंदति णमंसति, वंदित्ता णमंसित्ता एवं वयासी—[4]एएसि णं भंते ! [5]पयाणं पुव्विं अण्णाणयाए [6]असवणयाए [7]अबोहीए अणभिगमेणं अदिट्ठाणं [8]अस्सुयाणं [9]असुयाणं अविण्णायाणं [10]अव्वोगडाणं अव्वोच्छिन्नाणं अणिज्जूढाणं [11]अणवधारियाणं [12]एयमट्ठं णो [13]सद्दहिए, णो [14]पत्तिइए, णो रोइए, [15]इयाणिं भंते ! [16]एतेसिं [17]पयाणं [18]जाणणयाए [19]सवणयाए [20]बोहीए अभिगमेणं

सूत्र 185 (1) (स्थविर भगवन्तों का उत्तर सुनकर) वह कालास्यवेषि पुत्र अनगार बोध को प्राप्त हुए और उन्होंने स्थविर भगवन्तों की वन्दना की, नमस्कार किया, वन्दना नमस्कार करके इस प्रकार कहा—

भगवन् ! इन पदों को न जानने से, पहले सुने हुए न होने से, बोध न होने से, ज्ञान न होने से दृष्ट न होने से, विचारित न होने से, सुने हुए न होने से, विशेष रूप से न जानने से, कहे हुए न होने से, अनिर्णीत होने से उद्धृत न होने से और ये पद अवधारण किये हुए न होने से इस अर्थ में श्रद्धा नहीं की थी, प्रतीति नहीं की थी, रुचि नहीं की थी, किन्तु भगवन् ! अब इन (पदों) को जान लेने से सुन लेने से, बोध से, अभिगमन होने से, दृष्ट होने से, निर्णीत होने से श्रुत होने से, विशेष जान लेने से, कथित होने

1. गेत्य - ला २ ॥ २. ०पुत्त - अमो० ॥ ३. वंदइ णमंसइ - अमो० घा० ॥ ४. एतेसि - वे० म० । एएसि - लों० ॥ ५. पदाणं - वे० म० ॥ ६. असवणताए - लों० ॥ ७. अबोहियाए - पु० अमो० भा० ज० स० ॥ ८. अस्सुताणं - वे० म० । अनुयाणं - ला० । अस्सुयाणं त्ति अस्मृतानाम् - अवृ ॥ ९. असुयाणं - पु० अमो० मं० । 'अस्मृतानां' इति व्याख्यानमस्ति - वृत्तौ । असुताणं अवि वे० म० ॥ १०. अव्वोकडाणं - न० लों० ला १ । अवोगडाणं - क० म० ॥ ११. ०धारिताणं वे० म० । अणवधा० ला० लों० ॥ १२. एयमट्ठे - न० ला ४ । एतमट्ठे वे० म० ॥ १३. सद्दहिते - वे० म० । सद्दहति ला० ॥ १४. पत्तइए घा० । पतिए - वे० म० । 'नो पत्तिए' त्ति नो नैव प्रातर्न प्रीतिः उच्यते संयोगात् पत्तिए त्ति प्रीतः प्रीतिविषयीकृतः अथवा न प्रीतिः न प्रत्ययितो वा हेतुभिः." - अवृ० । पत्तिइए - ला २. ३. । पतिते - ला १. ४ ॥ १५. इदाणि - न० वे० म० ॥ १६. एएसि णं पयाणं - अमो० ॥ १७. पदाणं - वे० म० ॥ १८. जाणयाए - न० । जाणताए - वे० म० ॥ १९. सवणताए - वे० म० । सवणाए -

दिट्ठाणं [२१]सुयाणं [२२]मुयाणं [२३]विण्णायाणं वोगडाणं वोच्छिन्नाणं [२४]णिज्जूढाणं [२५]उवधरियाणं [२६]एयमट्ठं सद्दहामि, पत्तियामि, [२७]रोएमि । [२८]एवमेयं से [२९]जहेयं तुब्भे [३०]वदह ।

(II) तए णं थेरा भगवन्तो [१]कालासवेसियपुत्तं अणगारं एवं वयासी–[२]सद्दहाहि अज्जो ! [३]पत्तियाहि अज्जो ! रोएहि अज्जो ! [४]से जहेयं अम्हे [५]वदामो ।

सूत्र 186 I तए णं से कालासवेसियपुत्ते अणगारे थेरे [६]भगवंतो वदइ [७]नमंसइ नमंसित्ता एवं [८]वयासी– इच्छामि णं भंते ! तुब्भं अंतिए चाउज्जामाओ धम्माओ पंच [९]महव्वइय सपडिक्कमणं धम्मं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए । अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा [१०]पडिबंध करेह ।

(II) तए णं से [११]कालासवेसियपुत्ते अणगारे थेरे भगवंते वंदइ नमंसइ, वंदित्ता, नमंसित्ता चाउज्जमाओ धम्माओ [१२]पंचमहव्वइयं सपडिक्कमणं धम्मं उवसंपज्जित्ताण [१३]विहरइ ।

से निर्णीत होने से, कहे हुए होने से, उद्धृत होने से और इन पदों का अवधारण करने से इस अर्थ पर मैं श्रद्धा करता हूं प्रतीति करता हूं रुचि करता हूं भगवन् ! आप जो यह कहते हैं, यथार्थ हैं, वह इसी प्रकार है।

(II) तब उन स्थविर भगवन्तों ने कालास्यवेषिपुत्र अनगार से इस प्रकार कहा–हे आर्य ! हम जैसा कहते हैं उस पर वैसी ही श्रद्धा करो, आर्य ! उस पर प्रतीति करो, आर्य! उसमें रुचि रखो।

सूत्र 186 (I) बाद में कालास्यवेषिपुत्र अनगार ने उन स्थविर भगवन्तों को वन्दना की, नमस्कार किया, और तब वह इस प्रकार बोले–
"हे भगवन् ! पहले मैंने चातुर्याम धर्म स्वीकार किया है. अब मैं आपके पास प्रतिक्रमण सहित पंचमहाव्रतरूप धर्म स्वीकार करके विचरण करना चाहता हूं । "हे देवानुप्रिय ! जैसे सुख हो, वैसे करो । परन्तु विलम्ब न करो।'

(II) बाद में कालास्यवेषिपुत्र अनगार ने स्थविर भगवन्तों को वन्दना की नमस्कार किया, वन्दना नमस्कार करके और फिर चातुर्याम धर्म के स्थान पर प्रतिक्रमण सहित पंचमहाव्रत रूप धर्म स्वीकार किया और विचरण करने लगे।

ला २ ॥ २०. वोच्छिणाए - अमो० ॥ २१ सुयाणं - वे० म० ॥ २२ मुयाणं - पा० म० । मुयाणं [illegible] २३ विण्णायाणं - वे० म० ॥ २४ णिज्जूढाणं - अमो० ॥ २५ अवधारियाणं - मं० । उवधारियाणं - वे० म० अवधा० - ला० ॥ २६ एयमट्ठं - वे० म० ॥ २७ रोयामि - ला १-४ ॥ २८ एवमेतं - वे० म० ॥ २९ [illegible] ला० ॥ ३० वयह - अमो० ॥

(ii) १. एग - अमो० ॥ २. सद्दहाहि - अमो० पा० न० वे० म० ॥ सद्दाहि - ला ८ ॥ ३. पत्तियाहि - ला० ॥ ४. [illegible] जहेयं - वे० म० ॥ ५. वयामो - अमो० ॥ ६ भगवंते - पा० न० वे० म० ॥ ७. "इ वंदित्ता नमंसइ [illegible] "इ वंदित्ता नमं° न० वे० म० ॥ ८. वयासी - पु० न० वे० म० ॥ ९. महव्वयाइयं - ला १ ॥ १०. [illegible] मह - पु० अमो० पा० । मं० ॥ मह - न० । [illegible] - पु० । "बंधं करेह - वे० म० । [illegible] ला० ॥ ११ कालास° - वे० म० ॥ १२. महव्वयाइयं - ला० ॥ १३. विहरति - न० ॥

सूत्र 187 तए णं से कालासवेसियपुत्ते अणगारे बहूणि वासाणि सामण्णपरियागं [1]पाउणइ, पाउणित्ता जस्सट्ठाए [2]कीरइ नग्गभावे मुण्डभावे अण्हाणयं [3]अदंतधुवणयं अछत्तयं अणोवाहणयं भूमिसेज्जा [4]फलगसेज्जा [5]कट्ठसेज्जा केसलोओ बंभचेरवासो [6]परघरपवेसो लद्धावलद्धी, उच्चावया [7]गामकंटगा बावीसं परिसहोवसग्गा [8]अहियासिज्जंति तमट्ठं आराहेइ [9]आराहित्ता [10]चरमेहिं उस्सास-नीसासेहिं सिद्धे बुद्धे [11]मुक्के [12]परिनिव्वुडे सव्वदुक्खप्पहीणे।

सूत्र 187 इसके बाद कालास्यवेषि पुत्र अनगार ने बहुत वर्षों तक साधुत्व का पालन किया, पालन करके और जिस प्रयोजन से नग्नभाव, मुण्डभाव अस्नान, अदन्त धावन, छत्रवर्जन, पैरों में जूते न पहनना, भूमिशयन, पट्टे पर शय्या, काठ पर शयन, केशलोच, ब्रह्मचर्यवास, भिक्षार्थ गृहस्थों के घरों में प्रवेश, लाभ और अलाभ अनुकूल और प्रतिकूल, इन्द्रिय समूह के लिए कण्टकसम चुभने वाले कठोर क्षुधादि २२ परीषहों को सहन करना इन सब (साधनाओं) को स्वीकार किया, उस अभीष्ट प्रयोजन को सम्यक् रूप से आराधना की आराधना करके अन्तिम उच्छ्वास-निःश्वास द्वारा सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हुए और समस्त दुःखों से रहित हुए।

विवेचन—

स्थविर भगवंतो के द्वारा कालास्यवेषिक पुत्र नामक अनगार ने सामायिक आदि का विशेष ज्ञान प्राप्त किया। अत: उन्होने स्थविर भगवंतों को वन्दन नमस्कार किया तथा चातुर्याम प्राणातिपात का त्याग, मृषावाद का त्याग, अदत्तादान का त्याग मैथुन का त्याग और परिग्रह का त्याग रूप भ. महावीर द्वारा विवेचित पंचमहाव्रत रूप धर्म को स्वीकार किया तथा भ० महावीर द्वारा प्रवर्तित धर्मसंघ के नियमोपनियमों का पालन करने लगे।

१. °इ जस्स° - पु० ॥ २. °इ थेरकप्पभावे जिणकप्पभावे मुंड भावे - पु० । कीरंति - बे० म० ॥ ३. अदंतवनयं - जे० ला० ला० १। अदंतवण्णयं क० ॥ ४. फलहसेज्जा - पु० अमो० पा० लों० ला० ला १। फलगेज्जा - ज० । फलहसेज्जा ला ४ ॥ ५. काष्ठशय्या, कष्टशय्या, अमनोज्ञा वसतिः इति पर्यायाः अभय०, अत्रदा 'वसति' इति भावो यथा: तदा 'कट्ठसेज्जा' एतस्य समान संस्कृतः 'कष्टशय्या' शब्दो बोध्य', मतनम् मध्य गदा एते पर्यायशब्दाः 'वसति' वाचकाः ॥ ६. °रप्पवेसो - अमो० पा० ज० ॥ ७. कंटया - अमो० । °कटया - पा० ॥ ८. °सिज्जइ - अमो० । °ति एतमट्ठं - ला० ॥ ९. आराहेइत्ता - अमो० । आराहेत्ता - ज० ॥ १०. चरिमेहिं - पु० ॥ ११ मुत्ते - अमो० पा० ला २ ॥ १२. परिणिव्वुए - अ० ता० व० । परिणिव्वुत्ते - क० मं० । °निव्वुते त° - ला १ ॥

यथार्थ में चातुर्याम तथा पंचमहाव्रत धर्म में मूलतः कोई अन्तर नहीं है। किन्तु जब काल परिवर्तित हो जाता है, तब समयानुसार तीर्थंकर देव धर्म की प्ररूपणा करते हैं। भ० पार्श्वनाथ के समय काल की स्थिति कुछ और थी, उस समय साधु-साध्वी ऋजुप्रज्ञ थे। उन्हें पानी में तेल की बूंद की तरह थोड़ा समझाने पर भी बहुत कुछ समझ जाते थे। अतः उनके लिए पार्श्वनाथ भगवान ने नियम-नियमों का उसी रूप में विधान किया था। किन्तु भ० महावीर के समय से साधु-साध्वी वक्रजड़ थे। समझ की भी कमी थी, साथ ही कुतर्की भी थे। अतः ऐसे साधुओं के लिए भ० महावीर ने पंचमहाव्रत एवं दैवसिक राइसी, पक्खी, चौमासी संवत्सरी प्रतिक्रमण आदि नियमों का विधान किया है।

कालास्यवेषिक अनगार के विचरण के समय में प्रभु महावीर का धर्मसंघ प्रवर्तित हो चुका था। मुक्ति का लक्ष्य एक होने के साथ ही दोनों ही धर्म तीर्थंकरों द्वारा प्ररूपित होने से तथा बाह्य आचार-विचार में भी एकरूपता रहे इस आशय से कालास्यवेषिक अनगार चातुर्याम से पंचमहाव्रत धर्म को स्वीकार कर प्रभु महावीर के धर्म संघ में सम्मिलित हो गए।

इसीप्रकार की घटना उत्तराध्ययनसूत्र में गौतमस्वामी और केशी श्रमण की भी प्राप्त होती है। वे भी गौतमस्वामी से बोध पाकर भ० महावीर के धर्म संघ में सम्मिलित हुए थे।

शीतऋतु के अन्दर ऊनी कपड़ों का उपयोग किया जाता है, ग्रीष्म-ऋतु में शीतल वस्त्रों का उपयोग किया जाता है: दोनों का परिवर्तन शरीर रक्षा के लिए होता है। इसी प्रकार जब काल परिवर्तन होता है तब मनोवृत्तियों में परिवर्तन भी होता है उसको लक्ष्य में रखकर संयम की रक्षा के लिये नियमोपनियम में परिवर्तन करना होता है। जब काल परिवर्तन से मुनियों की वक्र-जड़ मति होने लगी तब संयम की रक्षा के लिए ही मूल सिद्धान्तों-मर्यादाओं को रखते हुए उत्तरवर्ती नियमों का तीर्थंकर भगवान् ने परिवर्तन कर दिया। दोनों ही परिवर्तन संयम की रक्षा के लिये आवश्यक थे। शीतऋतु में व्यक्ति शीत का निवारण करने के लिए खादी के वस्त्रों को छोड़कर ऊनी वस्त्र पहन लेता है। उसी प्रकार भ० महावीर के समय वक्रजड़त्व का काल आ जाने के कारण कालास्यवेषिक आदि अनेकों पार्श्वनाथ परम्परा के अनगारों ने संयम की रक्षा के लिए ही भ० महावीर द्वारा प्रतिपादित पंचमहाव्रत धर्म को स्वीकार कर लिया था।

इस प्रकार सरलता के साथ कालास्यवेषिक अनगार ने सामायिकादि का विशेष बोध पाकर पंचमहाव्रत धर्म को स्वीकार किया। भगवान ने सत्य कहा है -'धम्मो सुद्धस्स चिट्ठइ' धर्म शुद्धता में ठहरता है। जिसकी मति दुराग्रह से ग्रसित है, वह ज्ञान को पाकर भी पहले से पकड़े हुए मिथ्या आग्रह को नहीं छोड़ता, उसकी कभी भी मुक्ति नहीं हो सकती। यद्यपि कालास्यवेषिक अनगार को कोई मिथ्या आग्रह नहीं था, फिर भी सामान्यज्ञान से विशिष्टज्ञान को पाकर

वे प्रफुल्लित हुए और स्थविर भगवंतों के चरणों में झुक गए। तप संयम की दृढ़ता के साथ आराधना की, अन्त में सभी कर्मों का अन्त करके सिद्ध, बुद्ध, मुक्त अवस्था को प्राप्त हुए।

मूलपाठ में जो "नग्गभावे" शब्द आया है, इसका यह तात्पर्य नहीं कि वे नग्न रहते थे किन्तु अल्पतर वस्त्र रखते थे। क्योंकि विधान बहुलता से होता है "बाहुल्येन व्यपदेशाः भवन्ति" कार्षापण मात्र धन के स्वामी को धनिक नहीं कहा, अल्पतर वस्त्रों के धारी मुनिराज को नग्नभाव में विचरण करने वाला कहा जा सकता है।

आज के युग में विद्वानों के द्वारा यह सुनने को तथा पढ़ने का मिलता है कि दीक्षा लेते समय ो मुण्डन और लुचन करने का वर्णन शास्त्रों में मिलता है, किन्तु दीक्षा लेने के बाद किसी सन्त ने ्ण्डन किया हो, लुचन किया हो ऐसा वर्णन कहाँ मिलता है ?

इस प्रश्न का समाधान प्रस्तुत भगवती सूत्र के प्रथम शतक के नवमें उद्देशक में कालास्यवेषिक ्त्र नामक अनगार के प्रसंग में मिलता है। जब वे भगवान् महावीर के स्थविर भगवन्तों के द्वारा समायि-ादि का विशेष ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं, तब चातुर्यामधर्म से पंचमहाव्रत धर्म को स्वीकार करते हैं ौर भगवान् महावीर के धर्म संघ मे सम्मिलित हो जाते हैं। इसके बाद कालास्यवेषिक अनगार ने ंस प्रकार से संयम की आराधना की और मुक्ति में गये, उसका वर्णन शास्त्रकार ने निम्न प्रकार से ेया है—

"तए णं से कालासवेसियपुत्ते……सामण्ण परियागं पाउणइ, पाउणित्ता जस्सट्ठाए कीरइ ग्गभावे मुंडभावे……केसलोओ……सव्वदुक्खप्पहीणे।"

उपर्युक्त मूलपाठ में 'मुंडभावे' और 'केसलोए' पाठ भी आया है, जिसका स्पष्ट अर्थ है कि ालास्यवेषिक अनगार ने बहुत वर्षों तक मुण्डन और केशलुंचन भी किया था। अतः स्पष्ट रूप से ास्त्रकारों ने दीक्षित होने के बाद में मुण्डन और केशलुंचन का विधान किया है। आज के विद्वान ाहाशयों का जो यह ज्वलंत प्रश्न है—कि शास्त्रों में कहीं पर भी दीक्षा लेने के बाद केशलुञ्चन और ुण्डन का वर्णन नहीं आया, यह स्पष्टतः खण्डित हो जाता है।

सूत्र १८८. श्रेष्ठि आदि चारों में अप्रत्याख्यान क्रिया सम्बन्धी चर्चा—

उत्थानिका—

पूर्व सूत्रों में कालास्यवेषिक अनगार द्वारा पूछे गए षट् प्रश्नों का वर्णन किया गया। उसमें ्क प्रश्न प्रत्याख्यान विषयक भी किया गया था। प्रस्तुत सूत्र में अप्रत्याख्यान से होने वाली क्रिया विषयक प्रश्न किया जा रहा है—

सूत्र १८८ 'भंते !' त्ति भगवं गोयमे समणं भगवं महावीरं [1]वंदति नमंसति वंदित्ता, नमंसित्ता एवं [2]वयासी–से नूणं भंते ! [3]सेट्ठियस्स य [4]तणुयस्स य [5]किविणस्स य [6]खत्तियस्स य [7]समं चेव अपच्चक्खाणकिरिया कज्जइ ?

हंता, गोयमा ! [8]सेट्ठियस्स य [A]जाव अपच्चक्खाणकिरिया कज्जइ । से केणट्ठेणं [B]भंते ! ?

गोयमा ! [9]अविरतिं पडुच्च, से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ [10]सेट्ठियस्स य, [11]तणुयस्स य [C]जाव कज्जइ ।

सूत्र १८८ हे भगवान ! ऐसा कहकर भगवान गौतम स्वामी ने श्रमण भगवान महावीर स्वामी को वन्दन-नमस्कार किया और इस प्रकार कहा– क्या श्रेष्ठी और दरिद्र को, रंक को और क्षत्रिय (राजा) को अप्रत्याख्यान क्रिया समान है ?

हाँ गौतम ! श्रेष्ठी यावत् क्षत्रिय राजा के अप्रत्याख्यान क्रिया समान है।

भगवन् ! आप ऐसा किस कारण से कहते हैं ? गौतम ! (इन चारों के लिए) अविरति को लेकर ऐसा कहा जाता है कि श्रेष्ठी और दरिद्र, रंक और राजा इन सबको अप्रत्याख्यान क्रिया समान लगती है।

विवेचन :-

शास्त्रकार ने बतलाया है कि कृपण हो या दरिद्र यदि, अविरत है, किसी भी प्रकार का प्रत्याख्यान धारण नहीं किया है, तो उन्हें समान रूप से अप्रत्याख्यान की क्रिया लगती है।

---

१. वंदइ नमंसइ - अमो० पा० म० ॥ २ वयासी - म० बे० म० ॥ ३. सेट्ठिस्स य - अमो० ला० बे० । सिट्ठिस्स - मं० । सेट्ठिस्स य - बे० म० । सिट्ठिस्स - ला० । श्री देवआज्ञाधारितगोदगंरट्ठ विभूषित शिरोरत्नाविद्योतन[illegible] गायकस्य" - अवृ० ॥ ४. "[illegible] कि - अमो० । "दरिद्रस्य" - अवृ० ॥ ५. किवणस्स - पु० अमो० पा० म० । "रङ्कस्य" अवृ० ॥ ६. "राज्ञः" - अवृ० ॥ ७. समाचेव - अमो० म० । समच्चेव - बे० म० मॉ० । समा - बे० म० ॥ ८. सेट्ठिस्स य - बे० म० । सेट्ठ जाव - अमो० म० ॥ ९. अविरइं - अमो० । अविरइ - पा० ॥ १०. सेट्ठिस्स य - अमो० बे० म० । सेट्ठिस्स - ला० ॥ ११. तणु जाव - अमो० । तणु० जाव - बे० म० । सेट्ठ जाव - म० ॥

A. तणुयस्स य किवणस्स य खत्तियस्स य समा चेव ॥

B. एवं वुच्चइ सेट्ठिस्स य तणुयस्स य किवणस्स य खत्तियस्स य समा चेव अपच्चक्खाणकिरिया कज्जइ ॥

C. य किवणस्स य खत्तियस्स य समा चेव अपच्चक्खाणकिरिया ॥

सूत्र १८९. आधाकर्म, प्रासुक-एषणीयादि आहारसेवन का फल—

सूत्र 189 [1]आहाकम्मं णं [2]भुंजमाणे समणे निग्गंथे किं [3]बंधइ ? किं [4]पकरेइ ? किं [5]चिणाइ किं [6]उवचिणाइ !

गोयमा ! [7]आहाकम्मं णं [8]भुंजमाणे आउयवज्जाओ सत्त [9]कम्मप्पगडीओ सिढिलबंधणबद्धाओ धणियबंधणबद्धाओ पकरेइ [A]जाव [10]अणुपरियट्टइ ।

से [11]केणट्ठेणं [12]जाव[B] अणुपरियट्टइ ?

गोयमा ! आहाकम्मं णं [13]भुंजमाणे आयाए धम्मं [14]अइक्कमइ, आयाए धम्मं [15]अइक्कममाणे [16]पुढविकायं [17]णावकंखइ [C]जाव तसकायं [18]णावकंखइ, जेसिं पि य णं जीवाणं [19]सरीराइं आहारमाहारेइ ते वि जीवे [20]नावकंखइ से [21]तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ—

सूत्र 189 भगवन् ! आधाकर्म दोषयुक्त आहारादि का उपभोग करता हुआ श्रमण निर्ग्रन्थ क्या बांधता है ? क्या करता है ? किसका चय करता है ? और किसका उपचय करता है ?

गौतम ! आधाकर्म दोष युक्त आहारादि का उपभोग करता हुआ श्रमण-निर्ग्रन्थ आयुष्य कर्म को छोड़कर शिथिल बन्धन से बंधी हुई सातकर्म प्रकृतियों को दृढ़ बन्धन से बंधी हुई बना लेता है। यावत् संसार में बार-बार पर्यटन करता है।

भगवन् ! इसका क्या कारण है कि यावत वह संसार मे बार-बार पर्यटन करता है ?

गौतम ? आधाकर्मी आहारादि का उपभोग करता हुआ श्रमण-निर्ग्रन्थ अपने आत्मधर्म का उल्लंघन करता है अपने आत्मधर्म का अतिक्रमण करता हुआ पृथ्वी काय के जीवों की अपेक्षा नहीं करता और यावत् त्रसकाय के जीवों की चिन्ता नहीं करता और जिन जीवों के शरीरों का वह भोग करता है उन जीवों की भी चिन्ता नहीं करता।

---

१. °कम्मं भु° - पु० । आहाकम्मे णं - क० । आहाकम्म ण - ता० । आहाकम्मं णं - ब० । आहाकम्मणं - मं० ॥ २. °माणे किं -लो० ॥ ३. बंधति - बे० म० । ४. पकरेति - बे० म० ॥ ५. चिणाइ - पा० । चिणाति - बे० म० ॥ ६. °चिणाति - बे० म० ॥ ७. °कम्म भु° - अमो० ॥ ८. °माणे समणे निग्गंथे आउय - पा० ॥ ९. कम्मपग° - अमो० पा० १०. °इ जाव आहाकम्मं णं भुंजमाणे जाव अणुपरियट्टइ ? - ला० ला १.२. ॥ ११. भंते एवं वुच्चइ—आहाकम्मं णं भुंजमाणे आउयवज्जाओ सत्तकम्मप्पगडीओ सिढिल बंधणबद्धाओ धणिय बंधणबद्धाओ पकरेइ जाव चाउरंतं संसारकंतारं अणु° - मं० ॥ १२. जाव आहाकम्मं णं भुंजमाणे जाव अणु° - अमो० ॥ १३. °णे समणे निग्गंथे आ° - पा० १४. अतिक्कमति - बे० म० ॥ १५. अतिक्कममाणे - बे० म० ॥ १६ पुढविकायं - अमो० म० । पुढविकाइयं - पा० ॥ १७. १८. २०. °कंखति - बे० म० ॥ १९. सरीरयाइं - लो० ला० २. ४. ॥ २१. से तेणट्ठेणं - लो० ॥

A. हस्सकालठिइयाओ दीहकालठिइयाओ पकरेइ, मंदाणुभावाओ, तिव्वाणुभावाओ पकरेइ, अप्पपएसग्गाओ, बहुप्पएसग्गाओ पकरेइ आउयं च णं कम्मं सिय बंधइ सिय नो बंधइ, अस्सायावेयणिज्जं च णं कम्मं भुज्जो-भुज्जो उवचिणाइ, अणाइयं च णं अणवदग्गं दीहमद्धं चाउरंत संसारकंतारं ॥

B. सूत्र १८९ में पकरेइ जाव अणुपरियट्टइ तक ॥

C. आउकायं णावकंखइ तेउकायं णावकंखइ वाउकायं णावकंखइ, वणस्सइकायं णावकंखइ ॥

आहाकम्मं णं [22]भुंजमाणे आउयवज्जाओ सत्त [23]कम्मपगडीओ [D]जाव [24]अणुपरियट्टइ।

इस कारण हे गौतम ! ऐसा कहा गया है कि आधाकर्म दोष युक्त आहार भोगता हुआ आयु कर्म को छोड़कर सात कर्मों की शिथिलबद्ध प्रकृतियों को गाढ बन्धन से बद्ध कर लेता है यावत् संसार में बार-बार परिभ्रमण करता है।

विवेचन—

"आधाकर्म" जैन सिद्धान्त का पारिभाषिक शब्द है। टीकाकार ने इसका अर्थ निम्न प्रकार से किया है—साधु के लिए सचित्त वस्तु अचित्त की जाय, अचित्त को पकाया जाय, साधु के लिए घर मकान आदि का निर्माण किया जाय, वस्त्रों को बुनवाया जाय, उसे आधाकर्म कहते हैं।[1] अर्थात् जो वस्तु जिस साधु के निमित्त से बनाई जाती है, उस वस्तु का उपयोग वही साधु करता है तो उसे 'आधाकर्म' दोष लगता है।

मूलपाठ में आगत 'बंधइ' शब्द प्रकृतिबंध की अपेक्षा अथवा कर्म स्पृष्ट की अपेक्षा से है। शिथिल बंधन में बद्ध प्रकृतियों को गाढ़ बंधन वाली करता है। या कर्म प्रकृतियों को स्पृष्ट करता है। 'पकरेइ' शब्द स्थितिबंध की अपेक्षा या बद्ध अवस्था की अपेक्षा है। ह्रस्वकाल की स्थिति को दीर्घकाल की करता है या उन प्रकृतियों को बद्ध अवस्थाकालीन करता है "चिणइ" शब्द अनुभागबंध या निधत्त अवस्था की अपेक्षा से है। मन्द रसवाली प्रकृतियों को तीव्र रसयुक्त करता है या उद्वर्तना-अपवर्तन के अतिरिक्त समीकरणों के अयोग्य करता है। 'उवचिणइ' शब्द प्रदेशबंध की अपेक्षा या 'निकाचित' अवस्था की अपेक्षा है। अल्प प्रदेशवाली कर्म प्रकृतियों को बहुत प्रदेश वाली करता है। या सभी करणों के अयोग्य करता है।[2]

शतक १ उद्देशक १ में समझाया गया है कि जिस प्रकार बहुत-सी सुइयों को एक स्थान पर एकत्रित किया गया, वह एकत्रिकरण जरा सा स्पन्दन करने से बिखर जाता है, उसी प्रकार जिन कर्मबंध को निर्जीर्ण करने में अल्प प्रयत्न की अपेक्षा होती है, उन्हें 'स्पृष्ट कर्मबंध" कहते हैं।

---

२२. "पाठे गमगे निग्गंथे आ - पा० । पाठे अणुपरियट्टति - ज्ञाँ० ।। २३. "कम्मपगडीओ सिढिलबंधणबद्धाओ बंधणबद्धाउ पकरेति जहा संवुडे नवरं - ला० ।। २४. "पट्टति - जे० म० ।।

D. सिढिलबंधणबद्धाओ, धणियबंधणबद्धाओ पकरेइ, हस्सकालठिइयाओ, दीहकालठिइयाओ, पकरेइ, मंदाणुभावाओ तिव्वाणुभावाओ पकरेइ, अप्पपएसग्गाओ, बहुपएसग्गाओ पकरेइ, आउयं च णं कम्मं सिय बंधइ, सिय नो बंधइ, अस्सायावेयणिज्जं च णं कम्मं भुज्जो-भुज्जो उवचिणइ अणाइयं च णं अणवदग्गं दीहमद्धं चाउरंत संसारकंतारं अणुपरियट्टइ ।।

१. आधाय साधु प्रणिधानेन यत् सचित्तमचित्तं क्रियते अचित्तं वा पच्यते चीयते वा गृहादिकम्, वूयते वा वस्त्रादि तद् आधाकर्म ।

२. सुइयों के दृष्टान्त के द्वारा स्पृष्ट, बद्ध, निधत्त और निकाचित अवस्था को भगवतीसूत्र से समझा जा सकता है।

सामान्य अवस्था में उत्सर्ग मार्ग में आधाकर्मी आहार करने वाले श्रमण निर्ग्रन्थ के लिए शास्त्रकार ने बतलाया है कि वह आयुकर्म को छोड़कर अवशेष सातकर्म की अल्पतर स्थिति को दीर्घतर करता है। यहां आयुकर्म को इसलिए छोड़ा गया है कि जीव एकभव मे एक बार अन्तमुहूर्त काल के अन्दर आयुष्य बन्ध करता है।

आधाकर्म आहारी श्रमण—निर्ग्रन्थ निकाचितकर्मो का बंध तक कर लेता है, क्योंकि उसने जो श्रुत चारित्रधर्म अंगीकार किया था, उस आत्मधर्म का उलघन करता है। पट्काय का उपमर्दक होता है। अतः मुनि को उत्सर्ग मार्ग में रहते हुए सुख समाधे आधाकर्मी आहार का सेवन नहीं करना चाहिए अपवादमार्ग मे सेवित "आधाकर्मी आहार से लगने वाले दोषो की आलोचना, प्रतिक्रमण तप साधना आदि के द्वारा शुद्धिकरण करना चाहिये।

उत्थानिका:—

पूर्व सूत्र में आधाकर्मी सदोष आहार विषयक वर्णन किया गया। प्रस्तुत सूत्र में एषणीय निर्दोष आहार विषयक वर्णन किया जा रहा है।

सूत्र 190 [1]फासुएसणिज्जं भंते ! [2]भुंजमाणे किं बंधइ [A]जाव उवचिणाइ ?

गोयमा ! [3]फासुएसणिज्जं णं [4]भुंज-
ाणे आउयवज्जाओ सत्त [5]कम्मपय-
ोओ घणियबंधणबद्धाओ सिढिलबंध-
ावद्धाओ पकरेइ [B]जहा[6] संवुडे णं,
वरं आउयं च णं कम्म [7]सिय बंधइ,
सय नो बंधइ। सेसं तहेव जाव [8]वीई-
यइ।

सूत्र 190 भगवन् ! प्रासुक और एषणीय आहारादि का उपभोग करने वाला श्रमण निर्ग्रन्थ क्या बांधता है ? यावत् किसका उपचय करता है ?

हे गौतम ! प्रासुक और एषणीय आहारादि भोगने वाला श्रमण निर्ग्रन्थ आयुकर्म को छोड़कर सात कर्मो की दृढ़ बन्धन मे बद्ध प्रकृतियो को शिथिल करता है। उसे संवृत अनगार के समान समझना चाहिए। विशेषता यह है कि आयुकर्म को कदाचित् बांधता है और कदाचित् नही बांधता शेष उसी प्रकार समझना चाहिए यावत् संसार को पार कर जाता है।

१. ०ज्ज णं भते - धा० न० वे०म० ॥ २. °माणे समणे निग्गथे किं - धा० न० ।३. ज्जं भुंज° - अमो० । °ज्जं णं भंते भुंज° - धा० । फासुएस - ला १ ॥ ४. माणे समाणे निग्गंथे किं बंधइ जाव उवचिणाइ ? गोयमा फासुएसणिज्जं णं भुंजमाणे समणे निग्गंथे आउय° - धा० ॥ ५. °पगडीओ - अमो० धा० । कम्मप्पय° - वे० म० ॥ ६. जहा से संवुडे - अमो० । दीहकालट्ठिइयाओ हस्सकालट्ठिइयाओ पकरेइ तिव्वाणुभावाओ मंदाणुभावाओ पकरेइ, बहुप्पएसग्गाओ अप्पपएसग्गाओ पकरेइ, आउयं च णं कम्मं सिय बंधइ सिय नो बंधइ असायावेयणिज्जं च णं कम्मं नो भुज्जो भुज्जो उवचिणाइ, अनादीयं च णं अणावदग्गं दीहमद्धं चाउरंतं संसारकंतारं - न० ॥ ७. सि बंधइ - अमो० ॥ ८. वीइ-

A. किं पकरेइ ? किं चिणाइ ? किं ? ॥ B. सूत्र 11 (ii)

से [9]केणट्ठेणं [C]जाव [10]वीईवयइ ?

गोयमा ! [11]फासुएसणिज्जं [12]भुंजमाणे समणे निग्गंथे [13]आयाए [14]धम्मं [15]णाइक्कमइ, [16]आयाए धम्मं [17]अणइक्कममाणे [18]पुढविक्कायं [19]अवकंखति, जेसि पि य णं जीवाणं सरीराइं [20]आहारेइ [21]ते वि जीवे [22]अवकंखति, से [23]तेणट्ठेणं [D]जाव [24]वीईवयइ ।

भगवन् ! इसका क्या कारण है कि वह संसार को पार कर जाता है ?

हे गौतम ! प्रासुक एषणीय आहारादि लेने वाला श्रमण निर्ग्रन्थ, अपने आत्म धर्म का उल्लंघन नहीं करता हुआ वह श्रमण निर्ग्रन्थ पृथ्वीकाय जीवों का जीवन चाहता है, यावत् वनस्पति पर्यन्त समस्त जीवों का रक्षण चाहता है।

जिन जीवों का शरीर उसके उपभोग में आता है, उनका भी वह जीवन चाहता है। इस प्रकार से हे गौतम ! वह यावत् संसार को पार कर जाता है।

विवेचन :—

जो श्रमण-निर्ग्रन्थ ४२[1] दोष से रहित शुद्ध आहार ग्रहण करता है, उस श्रमण-निर्ग्रन्थ की फलश्रुति बतलाते हुए भगवन् ने फरमाया – वह आयुकर्म को छोड़कर अवशेष सातकर्मों के मजबूत बंधन को शिथिल करता है। आयुकर्म का बंधन किसी के होता है, किसी के नहीं होता। ऐसा श्रमण-निर्ग्रन्थ आत्मरक्षा के साथ षट्काय के जीवों का रक्षक होता है।[2]

वयइ - पा० । वीतीवयति - बे० म० । वितीवयइ - मो० ॥ ९. ०र्ण भंते एवं वुच्चइ फासुएसणिज्जं णं भुंजमाणे आउयवज्जाओ सत्तकम्मपगडीओ धणियबंधणबद्धाओ सिढिलबंधणबद्धाओ पकरेइ जाव णाउरंतं संसारं कंतारं वीई- म० ॥ १० वीइवयइ - पा० । वीतीवयति - बे० म० ॥ ११. ०ज्जं णं भुंज० - पा० म० । फासुएसणिज्जं भुंजमाणे भायाए - ला० १ ॥ १२ [illegible] आयाए - मो० ला० ४ । १३-१६. आयाए - बे० म० ॥ १४. धम्मं अइक्कमइ - पु० पा० ॥ १५ णाइक्कमति - बे० म० ॥ १७, अणतिक्कममाणे - बे० म० ॥ १८. [illegible] पा० । ०कायं - अमो० । पुढविकाय - म० ॥ १९. ०ति जाव तसकायं अवकंखइ पु० अवकंखइ जाव तसकायं [illegible] य णं - अमो० पा० म० । ०ति जाव तसकायं अवकंखति जेसिं - बे० म० ॥ २०. आहारेति - बे० म० ॥ २१. तेऽवि - पु० २२०कंखइ - अमो० पा० म० । २३. से गोयमा एवं वुच्चइ फासुएसणिज्जं णं भुंजमाणे आउयवज्जाओ सत्तकम्मपगडीओ धणियबंधणबद्धाओ सिढिलबंधणबद्धाओ पकरेइ जाव चाउरंतं संसार कंतारं वीईवयइ - म० ॥ २४ वीइवयइ - पा० । वीतीवयति - बे० म० ॥

C. सूत्र 100 तईए जाव वीईवयइ तक ॥

D. सूत्र 100 तईए जाव वीईवयइ तक ॥

१. ४२ दोषों का विवेचन – परिशिष्ट । में देखें ।

२. उपर्युक्त सूत्रपाठ में साधु को पृथ्वीकाय से लेकर त्रसकाय पर्यंत षड्जीवनिकाय की रक्षा के लिए [illegible] कहा है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि दूसरे प्राणों की रक्षा करना धर्म है। जो प्राणी रक्षा में पाप [illegible] उनकी यह मान्यता एवं प्ररूपणा दोनों से विरुद्ध है।

स्थिर-अस्थिरादि चर्चा—

सूत्र 191 । से नूणं भंते ! अथिरे [1]पलोट्टइ, नोथिरे [2]पलोट्टइ; अथिरे [3]भज्जइ, नो थिरे [4]भज्जइ; सासए, [5]बालए, बालियत्त असासयं; [6]सासए [7]पंडिए, [8]पंडियत्तं [9]असासयं ?

हंता, गोयमा ! अथिरे [10]पलोट्टइ [A]जाव [11]पंडियत्त [12]असासयं ।

सेव भंते ! सेव भंते ! त्ति [B]जाव [13]विहरति ।

॥ नवमो उद्देसो समत्तो ॥

सूत्र 191 भगवन् ! क्या अस्थिर पदार्थ बदलता है और स्थिर पदार्थ नहीं बदलता है ? क्या अस्थिर पदार्थ भंग होता है । और स्थिर पदार्थ भंग नहीं होता ?

क्या बाल शाश्वत है तथा बालत्व अशाश्वत है ? क्या पंडित शाश्वत है और पंडितत्व अशाश्वत है ।

हाँ गौतम ! अस्थिर पदार्थ बदलता है यावत् पण्डितत्व अशाश्वत है ।

भगवन् ! यह इसी प्रकार है, हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है । यों कहकर यावत् गौतम स्वामी विचरण करते हैं ।

॥ इति नवमो उद्देशक ॥

विवेचन :-

प्रस्तुत सूत्र में तत्वों के मौलिक स्वरूप को अभिव्यक्त किया गया है । गौतम स्वामी ने पूछा—पदार्थ बदलता है या नहीं ।

इसके उत्तर मे भगवान ने फरमाया कि पदार्थ परिवर्तनशील भी है एवं स्थिर रूप भी है । मौलिक पदार्थ द्रव्य की दृष्टि से स्थिर है तथा पर्याय की दृष्टि से अस्थिर है । क्योंकि सत् द्रव्य का लक्षण "उत्पाद-व्यय ध्रौव्य युक्तं सत्" के रूप में किया गया है । "उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य युक्त सत्" अतएव यह लक्षण सभी मौलिक तत्वों में पाये जाते हैं मुख्यतया पंचास्तिकाय का स्वरूप मौलिक है काल द्रव्य ओपचारिक माना गया है । अतः सब मिलाकर षट् द्रव्य की संख्या बनती है । प्रत्येक मौलिक द्रव्य तत्व में ये लक्षण पाये गए हैं । यहां मुख्यतया जड़ एवं चेतन का व्यवहार आम जनता के दृष्टि पथ पर आता है । जड़ द्रव्य भी अपने आप में स्वतन्त्र है । उसमें भी दोनों अवस्थाएं पायी

१. ०ट्टति - बे० म० । ०ट्टति अथिरे भज्जइ णो थिरे पलोट्टति नो थिरे भज्जति - ला० ॥ २. ट्टति - मु० बे० म० ॥ ३-४. भज्जति - बे० म० ॥ ५. बालए - घा० । बाले बालियं असा० - ला० ॥ ६. सासते - बे० म० ॥ ७. पंडिते - बे० म० ॥ ८. पंडितत्त - बे० म० ॥ ९. असासतं - बे० म० ॥ १०. ०ट्टति - बे० म० ॥ ११. पंडितत्तं - बे० म० १२. असासतं -बे० म० ॥ १३. विहरइ । पढमे सए नवमो उद्देसो सम्मत्तो - अबो० । विहरइ - घा० न० ॥

A. नो थिरे पलोट्टइ अथिरे भज्जइ नो थिरे भज्जइ सासए बालए बालियत्तं असासयं सासए पंडिए ॥

B. सूत्र 103 में पाठ पूर्ति (C) ॥

से [९]केणट्ठेणं [C]जाव [१०]वीईवयइ ?

गोयमा ! [११]फासुएसणिज्जं [१२]भुंजमाणे समणे निग्गंथे [१३]आयाए [१४]धम्मं [१५]णाइक्कमइ, [१६]आयाए धम्मं [१७]अणइक्कममाणे [१८]पुढविक्कायं [१९]अवकंखति, जेसिं पि य णं जीवाणं सरीराइं [२०]आहारेइ [२१]ते वि जीवे [२२]अवकंखति, से [२३]तेणट्ठेणं [D]जाव [२४]वीईवयइ ।

भगवन् ! इसका क्या कारण है कि वह संसार को पार कर जाता है ?

हे गौतम ! प्रासुक एषणीय आहारादि भोगने वाला श्रमण निर्ग्रन्थ, अपने आत्म धर्म का उल्लंघन नहीं करता हुआ वह श्रमण निर्ग्रन्थ पृथ्वीकाय जीवों का जीवन चाहता है, यावत् त्रसकाय पर्यन्त समस्त जीवों का रक्षण चाहता है।

जिन जीवों का शरीर उसके उपभोग में आता है, उनका भी वह जीवन चाहता है। इस कारण से हे गौतम ! वह यावत् संसार को पार कर जाता है।

विवेचन :—

जो श्रमण-निर्ग्रन्थ ४२[१] दोष से रहित शुद्ध आहार ग्रहण करता है, उस श्रमण-निर्ग्रन्थ की फलश्रुति बतलाते हुए भगवान् ने फरमाया – वह आयुकर्म को छोड़कर अवशेष सात कर्मों के कठोर बंधन को शिथिल करता है। आयुकर्म का बंधन किसी के होता है, किसी के नहीं होता। ऐसा श्रमण-निर्ग्रन्थ आत्मरक्षा के साथ षट्काय के जीवों का रक्षक होता है।[२]

वयइ – पा० । वीतीवयति – वे० म० । वितीवयइ – जे० ॥ ९. ०णं भंते ! एवं वुच्चइ फासुएसणिज्जं णं भुंजमाणे आउयवज्जाओ सत्तकम्मपगडीओ धणियबंधणबद्धाओ सिढिलबंधणबद्धाओ पकरेइ जाव चाउरंतं संसार कंतारं वीईव[illegible] म० ॥ १०. वीइवयइ – पा० । वीतीवयति – वे० म० ॥ ११. ०णं भुं[illegible] – पा० म० । फासुएसणिज्जं भुंजमाणे आयाए – ला० १ ॥ १२. ०माणे आयाए – जे० ला० ४ । १३-१४. आयाए – वे० म० ॥ १५. णाइक्कमइ – मु० पा० ॥ १६. णाइक्कमति – वे० म० ॥ १७. अणतिक्कममाणे – वे० म० ॥ १८. [illegible] – मु० पा० । ०कायं – जे० । पुढविकायं – म० ॥ १९. ०ति जाव तसकायं अवकंखइ मु० अवकंखइ जाव तसकायं [illegible] – जे० पा० म० । ०ति जाव तसकायं अवकंखति जेसिं – वे० म० ॥ २०. आहारेंति – वे० म० ॥ २१. तेऽवि – मु० २२. अवकंखइ – जे० पा० म० । २३. से णं गोयमा एवं वुच्चइ फासुएसणिज्जं णं भुंजमाणे आउय[illegible] सत्तकम्मपगडीओ धणियबंधणबद्धाओ सिढिलबंधणबद्धाओ पकरेइ जाव चाउरंतं संसार कंतारं वीईवयइ – म० ॥ २४. वीइवयइ – पा० । वीतीवयति – वे० म० ॥

C. सूत्र 100 [illegible] जाव वीईवयइ तक ॥

D. सूत्र 100 [illegible] जाव वीईवयइ तक ॥

१. ४२ दोषों का विवेचन – परिशिष्ट [illegible] में देखें।

२. प्रस्तुत सूत्र में साधु को पृथ्वीकाय से लेकर त्रसकाय पर्यन्त षट्जीवनिकाय की रक्षा के लिए उद्यत कहा है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि दूसरे प्राणी की रक्षा करना धर्म है। जो प्राणी रक्षा में पाप मानते हैं उनकी यह मान्यता शास्त्र एवं व्यवहार दोनों से विरुद्ध है।

स्थिर-अस्थिरादि चर्चा—

सूत्र 191। से नूणं भंते! अथिरे [1]पलोट्टइ, नोथिरे [2]पलोट्टइ; अथिरे [3]भज्जइ, नो थिरे [4]भज्जइ; सासए, [5]बालए, बालियत्त असासयं; [6]सासए [7]पंडिए, [8]पंडियत्तं [9]असासयं ?

हंता, गोयमा! अथिरे [10]पलोट्टइ [A]जाव [11]पंडियत्त [12]असासयं।

सेव भंते! सेव भंते! त्ति [B]जाव [13]विहरति।

॥ नवमो उद्देसो समत्तो ॥

सूत्र 191 भगवन्! क्या अस्थिर पदार्थ बदलता है और स्थिर पदार्थ नहीं बदलता है? क्या अस्थिर पदार्थ भंग होता है। और स्थिर पदार्थ भंग नहीं होता?

क्या बाल शाश्वत है तथा बालत्व अशाश्वत है? क्या पंडित शाश्वत है और पंडितत्व अशाश्वत है।

हाँ गौतम! अस्थिर पदार्थ बदलता है यावत् पण्डितत्व अशाश्वत है।

भगवन्! यह इसी प्रकार है, हे भगवन्! यह इसी प्रकार है। यों कहकर यावत् गौतम स्वामी विचरण करते हैं।

॥ इति नवमो उद्देशक ॥

विवेचन :-

प्रस्तुत सूत्र में तत्वों के मौलिक स्वरूप को अभिव्यक्त किया गया है। गौतम स्वामी ने पूछा— पदार्थ बदलता है या नहीं।

इसके उत्तर मे भगवान ने फरमाया कि पदार्थ परिवर्तनशील भी है एवं स्थिर रूप भी है। मौलिक पदार्थ द्रव्य की दृष्टि से स्थिर है तथा पर्याय की दृष्टि से अस्थिर है। क्योंकि सत् द्रव्य का लक्षण "उत्पाद-व्यय ध्रौव्य युक्तं सत्" के रूप में किया गया है। "उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य युक्त सत्" अतएव यह लक्षण सभी मौलिक तत्वों में पाये जाते हैं मुख्यतया पंचास्तिकाय का स्वरूप मौलिक है काल द्रव्य ओपचारिक माना गया है। अतः सब मिलाकर षट् द्रव्य की संख्या बनती है। प्रत्येक मौलिक द्रव्य तत्व में ये लक्षण पाये गए हैं। यहा मुख्यतया जड़ एवं चेतन का व्यवहार आम जनता के दृष्टि पथ पर आता है। जड़ द्रव्य भी अपने आप में स्वतन्त्र है। उसमें भी दोनों अवस्थाएं पायी

1. ल्ट्टति - वे० म०। ल्ट्टति अथिरे भज्जइ णो थिरे पलोट्टति नो थिरे भज्जति - ला० ॥ 2. ट्टति - पु० वे० म० ॥ 3-4. भज्जति - वे० म० ॥ 5. बालए - पा०। बाले बालियं असा० - ला० ॥ 6. सासते - वे० म० ॥ 7. पंडिते - वे० म० ॥ 8. पंडितत्त - वे० म० ॥ 9. असासतं - वे० म० ॥ 10. ल्ट्टति - वे० म० ॥ 11. पंडितत्तं - वे० म० 12. असासतं - वे० म० ॥ 13. विहरइ। पढमे गए नवमो उद्देसो सम्मत्तो - अयो०। विहरइ - पा० म० ॥॥

A. नो थिरे पलोट्टइ अथिरे भज्जइ नो थिरे भज्जइ सासए बालए बालियत्तं असासयं सासए पंडिए ॥

B. सूत्र 103 में पाठ पूर्ति (C) ॥

जायेगी। पुद्गल द्रव्य द्रव्यत्व के रूप में स्थिर रहता है और पर्याय की दृष्टि से परिवर्तनशील है। इसी प्रकार जीवद्रव्य द्रव्यत्व की दृष्टि से स्थिर स्थायी और पर्याय की दृष्टि से अस्थिर परिवर्तनशील है। यहां प्रश्न किया गया कि पदार्थ नष्ट होता है या नहीं !

पर्याय की दृष्टि से पदार्थ नष्ट होता है। किन्तु द्रव्य की दृष्टि से नष्ट नहीं होता है। पुद्गल द्रव्य स्कन्ध रूप पर्याय को धारण करता है। वह स्कन्ध रूप पर्याय एक दिन विनष्ट होती है। किन्तु उस स्कन्ध रूप पर्याय में जो परमाणु द्रव्य है वह स्थिर है। कार्मण शरीर धारण करने वाली आत्मा रूप है। उस अवस्था में कर्म और नोकर्म रूप जो शरीर स्कन्ध है, वह स्कन्ध भी नष्ट होता है किन्तु आत्मा का मौलिक स्वरूप नष्ट नहीं होता।

आत्मा कर्म वर्गणा के पुद्गल रूप स्कन्धों को कर्म रूप में परिणत करती है। वे कर्म रूप स्कन्ध विनष्ट होते है। परन्तु कर्म वर्गणा के रूप से विनष्ट नहीं होते है।

बाल शब्द यहाँ जीव के स्थायी स्वभाव के साथ संबंधित है। अभव्य आत्मा का सदा स्वरूप शाश्वत है पर भव्य आत्माओं का चाहे मिथ्या अवस्था में रहे पर अशाश्वत है। यहां जो बालत्व लिया गया है वह बालत्व आदि पर्याय की दृष्टि से लिया है। अर्थात् शरीर की दृष्टि से जो बालत्व कहलाता है, वह परिवर्तनशीलता अशाश्वत है और आत्मा की वैभाविक पर्यायों की अवस्था जब तक प्रथम गुणस्थान से लेकर चतुर्थ गुणस्थान तक रहती है, वह अवस्था भी बाल शब्द से अभिहित की गई है वह भी अशाश्वत।

यहां ध्यान रखने की आवश्यकता है कि अभव्य भी मिथ्यात्व अवस्था में है। पर उसके बाल रूप बाल पर्याय शाश्वत है। पंडित शब्द का व्यवहार प्रत्याख्यान की अवस्था में व्यवहृत होता है जहां षष्ठ गुणस्थान वर्ती साधुत्व की अवस्था को पंडित रूप से संबोधित किया है, यह आरम्भिक पंडितत्व की स्थिति से लेकर आगे के सभी पण्डित अवस्था में विकसित होती जाती है, जब तेरहवें गुणस्थान में अहिंसा सत्य आदि आत्मा के मौलिक गुण विकसित होते हुए परम सीमा पर पहुंचते हैं, तब वे यथाख्यात चारित्र की संज्ञा पाते हैं। जिसको क्षायिक चारित्र भी कह सकते हैं। यह पण्डित अवस्था शाश्वत है क्योंकि सिद्धों में भी उसी रूप में बना रहता है। पर जिन साधकों के केवल श्रुत ज्ञान रूप जो पण्डितत्व है, वह अशाश्वत है। इसी के अन्तर्गत चाहे अंगों का अध्ययन करने वाला पंडित हो या अंग बाह्य सूत्रों का अध्ययन करने वाला पंडित हो, अशाश्वत अवस्था में ही है।

॥ नवम उद्देशक समाप्त ॥

दसमो उद्देसओ : चलणाओ
दशम् उद्देशक : चलना

चलमान चलित आदि से संबंधित स्व-पर सिद्धान्त चर्चा—

उत्थानिका—

पूर्व उद्देशक के अंत में आत्मा और कर्म किंवा जड एव चैतन्य की स्थिरता पर विचार किया गया। प्रस्तुत उद्देशक में कर्म की अस्थिरता पर 'चलमाणे चलिए' के सिद्धान्त से पुन: विचार प्रस्तुत किया जा रहा है। यद्यपि प्रथमोद्देशक के प्रारम्भ मे इस पर विचार किया जा चुका है, तथापि यहाँ पर पुन: विचार करने का यह कारण है कि अन्ययूथिक (अन्यतीर्थी) प्रभु के इस सिद्धान्त को स्वीकार नही करते।

वे जो चल रहा है, उसे चला हुआ नही मानते। ऐसी गलत प्ररूपणाओं से होने वाली भ्रान्तियों का प्रस्तुत उद्देशक में निराकरण किया जा रहा है।

सूत्र 192 [1]अन्नउत्थिया णं भंते ! एवमाइक्खंति [A]जाव [2]एवं [3]परूवेंति—"एवं खलु चलमाणे [4]अचलिए [B]जाव निज्जरिज्जमाणे [5]अणिज्जिण्णे। दो परमाणुपोग्गला [6]एगयओ [7]न [8]साहणंति। [9]कम्हा दो [10]परमाणुपोग्गला [11]एगयओ न [12]साहणंति ?

सूत्र 192 भगवन् ! अन्य तीर्थिक इस प्रकार कहते है— यावत् इस प्रकार प्ररूपणा करते है कि जो चल रहा, वह अचलित है, चला नहीं कहलाता और यावत् जो निर्जीर्ण हो रहा है वह निर्जीण नही कहलाता। दो परमाणु पुद्गल एक साथ नही चिपकते। दो परमाणु पुद्गल एक साथ क्यो नही चिपकते ?

सूत्र १९२. १. अण्ण° - म० ॥ २. एव परूवेंति - ला २-३ ॥ ३. परवेंति - अमो० ॥ ४. अचलिते - दे० म० । अचलेत - ला ३ । ५. अनिज्जिण्णे - अमो० । अणिज्जिण्णे - पा० ॥ ६. एगयओ क, म., ला० ला १-३ । एगयओ - ला ॥ ७. णो - ला ॥ ८. साहन्नंति - दे० म० ॥ ९. कम्हा दो परमाणुपोग्गला एगयओ न साहणंति - नास्ति-पा० ॥ १०. पोग्गलाणं णत्थि सिणेहकाए - अमो० ॥ ११. एगयतो - पु० ला ३ । एगयतो - दे० म० ॥ १२. साहन्नंति -

A. एवं भासंति, एवं पण्णवेंति ।

B. उदीरिज्जमाणे अणुदीरिए । वेदिज्जमाणे अवेदिए । पहिज्जमाणे अपहीणे । छिज्जमाणे अछिन्ने । भिज्जमाणे अभिन्ने । दज्झमाणे अदड्ढे । मिज्जमाणे अमए ।

दोण्हं परमाणुपोग्गलाणं नत्थि सिणेहकाए तम्हा दो परमाणुपोग्गला [९]एगयओ न [१०]साहणंति। तिण्णि परमाणुपोग्गला एगयओ [११]साहणंति, कम्हा तिण्णि परमाणुपोग्गला एगयओ [१२]साहणंति ?

तिण्हं परमाणुपोग्गलाणं अत्थि सिणेहकाए तम्हा तिण्णि परमाणुपोग्गला [१३]एगयओ [१४]साहणंति। ते भिज्जमाणा दुहा [१५]वि [१६]तिहा वि [१७]कज्जंति, दुहा [१८]कज्जमाणा [१९]एगयओ दिवड्ढे परमाणुपोग्गले [२०]भवति।

[२१]एगयओ वि दिवड्ढे परमाणुपोग्गले [२२]भवति; तिहा कज्जमाणा तिण्णि परमाणुपोग्गला [२३]भवंति, [२४]एवं Aजाव चत्तारि, पंच परमाणुपोग्गला [२५]एगयओ [२६]साहणंति, एगयओ [२७]साहणित्ता दुक्खत्ताए कज्जंति, दुक्खे वि य णं से [२८]सासए [२९]सया [३०]समियं [३१]चिज्जइ

इस का कारण यह है कि दो परमाणु पुद्गलों में स्निग्धता नहीं होती। तीन परमाणु पुद्गल एक दूसरे से चिपक जाते हैं ? तीन परमाणु पुद्गल एक साथ क्यों चिपक जाते हैं ?

इसका कारण यह है कि तीन परमाणु पुद्गलों में स्निग्धता होती है, इसलिए तीन परमाणु पुद्गल आपस में चिपक जाते हैं ?

यदि तीन परमाणु पुद्गलों का भेदन [illegible] जाए तो दो भाग भी हो सकते हैं [illegible] भाग भी हो सकते हैं ? अगर तीन परमाणु पुद्गलों के दो भाग किये जाएं तो एक तरफ [illegible] परमाणु होता है—और दूसरी तरफ [illegible] परमाणु पुद्गल होता है। यदि तीन परमाणु पुद्गलों के तीन भाग किये जाएं तो एक-एक करके तीन परमाणु अलग-अलग हो जाते हैं।

इसी प्रकार यावत् चार परमाणु पुद्गलों के विषय में समझना चाहिए। पांच परमाणु पुद्गल परस्पर चिपक जाते हैं और वे दुःख रूप में परिणत होते हैं। वह दुःख भी शाश्वत है, और सदा सम्यक् प्रकार से [illegible] होता है और [illegible] को प्राप्त होता है। [illegible] की [illegible] भाषा है, वह भाषा है। [illegible] भाषा अभाषा है और [illegible]

[illegible]

य [1]अवचिज्जइ य। [2]पुव्विं भासा भासा, भासिज्जमाणी भासा अभासा, भासासमयवीतिक्कंतं च णं [3]भासिया [4]भासा भासा, सा किं [5]भासओ भासा? [6]अभासओ भासा?

[7]अभासओ णं सा भासा, [8]नो खलु सा [5]भासओ भासा। पुव्विं किरिया दुक्खा, कज्जमाणी [9]किरया अदुक्खा, किरिया [10]समयवीतिक्कंतं च णं कडा किरिया दुक्खा; [11]जा सा पुव्विं किरिया दुक्खा, [12]कज्जमाणी किरिया अदुक्खा, [13]किरिया [14]समय वीइक्कंतं च णं कडा किरिया दुक्खा, सा किं [15]करणओ दुक्खा [16]अकरणओ दुक्खा? अकरणओ णं सा दुक्खा, णो खलु सा [17]करणओ दुक्खा, सेवं वत्तव्वं सिया।

अकिच्चं दुक्खं अफुसं दुक्खं, अकज्जमाणकडं दुक्खं अकट्टु अकट्टु पाण-[18]भूय-जीव-सत्ता-[19]वेदणं वेदेंति ति वत्तव्वं सिया।" से कहमेयं भंते! एवं?

व्यतीत हो जाने के बाद की भाषा, भाषा है। क्या बोलते हुए पुरुष की वह भाषा, भाषा है या नहीं बोलते हुए पुरुष की भाषा, भाषा है?

न बोलते हुए की वह भाषा है बोलते हुए पुरुष की वह भाषा नहीं है।

पूर्वकृत क्रिया दुःख का कारण है। वर्तमान में की जाती हुई क्रिया दुःख का कारण नही है। क्रिया समय के व्यतीत होने के पश्चात् कृतक्रिया दुःख का कारण है। क्रिया से पूर्व वह दुःख का कारण है। की जाती हुई क्रिया दुःख का कारण नही है। क्रिया समय व्यतीत हो जाने के बाद कृत क्रिया दुःख का कारण है। तो क्या वह करने से दुःख का कारण है या न करने से दुःख का कारण है? नही किये जाने पर वह क्रिया दुःख का कारण है, किये जाने पर वह क्रिया दुःख का कारण नही है। ऐसा कहना चाहिए। अकृत्य दुःख है, अस्पृश्य दुःख है, और अक्रियमाण कृत दुःख है। उसे न करके प्राण भूत जीव सत्व वेदना वेदते हैं। ऐसा कहना जानना चाहिए।

श्री गौतम स्वामी पूछते है कि हे भगवन् क्या अन्यतीर्थिकों का इस प्रकार का यह मत सत्य है?

---

१. अवचिज्जति :- म० ॥ २. पुव्वं - क, म, स, ला० २ ॥ ३. भासिया - ला ३ ॥ ४. ०सा ना सा पुव्विं भासा भासा भासिज्जमाणी भासा अभासा भासा समयवीतिक्कंतं च णं भासिया - प्र०-अनो० पा० म० ॥ ५. भासतो - ला १ ॥ ६. अभासतो - ला १-३ ॥ ७ णो - अनो० ॥ ८. ०सा न दुक्खा - अमु० ॥ ९. किरिया० - ला १ ॥ °वइक्कंते ला २ ॥ १०. जा सा - नत्थि पा० ॥ ११. कज्जमाणी - पा० ॥ १२ ०माणि कडं समयं च - ला १ ॥ १३. °वइक्कंतसमयं च - ला० ॥ १४. °वइक्कंते ला २ ॥ १५. करणतो - वे० म० ॥ १६ अकरणतो - वे० म० ॥ १७. भूत - वे० म० ॥ १८. वेयणं - पा० ॥

गोयमा ! [1]जं णं ते [2]अण्णउत्थिया एवमाइक्खंति [A]जाव वेदणं वेदेन्ति ति वत्तव्वं सिया. जे ते एवमाहंसु [3]मिच्छा ते एवमाहंसु ।

[4]अहं पुण [5]गोयमा ! [6]एवमाइक्खामि[B]–एवं खलु चलमाणे [7]चलिए [C]जाव [8]निज्जरिज्जमाणे[9]निज्जिण्णे । दो परमाणुपोग्गला एगयओ [10]साहण्णंति । कम्हा दो परमाणुपोग्गला एगयओ [10]साहण्णंति ? दोण्हं परमाणुपोग्गलाणं अत्थि [11]सिणेहकाए, तम्हा दो परमाणुपोग्गला एगयओ [10]साहण्णंति, ते भिज्जमाणा दुहा कज्जंति, दुहा [12]कज्जमाणे एगयओ परमाणुपोग्गले एगयओ परमाणुपोग्गले [13]भवति ।

तिण्णि परमाणुपोग्गला [14]एगयओ [10]साहण्णंति, कम्हा तिण्णि परमाणुपोग्गला एगयओ साहण्णंति ? तिण्हं परमाणुपोग्गलाणं अत्थि [11]सिणेहकाए, तम्हा तिण्णि परमाणुपोग्गला एगयओ [15]साहण्णंति; ते भिज्जमाणा दुहा वि

गौतम! अन्यतीर्थिक जो इस प्रकार कहते हैं यावत्-वेदना वेदते हैं वे सब बातें जो उन्होंने कही हैं वे सब मिथ्या हैं।

हे गौतम ! मैं ऐसा कहता हूँ — जो चल रहा है उसे चला हुआ कहना यावत् जो निर्जीर्ण हो रहा है उसे निर्जीर्ण कहना। दो परमाणु पुद्गल एक साथ संयोजित हो जाते हैं। दो परमाणु पुद्गल एक साथ कैसे चिपक जाते हैं ? दो परमाणु पुद्गलों में स्नेहकाय है। अतः दो परमाणु पुद्गल एक साथ संयोजित हो जाते हैं। उनके विभक्त होने पर दो भाग होते हैं — दो भाग किए जाने पर एक-एक परमाणु पुद्गल दोनों तरफ होता है।

तीन परमाणु पुद्गल एक साथ संयोजित होते हैं। तीन परमाणु पुद्गल एक साथ कैसे चिपक जाते हैं ? तीनों परमाणु पुद्गलों में स्नेहकाय है। इसलिए तीनों परमाणु पुद्गल एक साथ संयोजित होते हैं। वे विभक्त होते हुए दो या तीन भागों में विभक्त हो जाते हैं। दो भाग होने पर एक तरफ एक परमाणु और

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

A. सूत्र 102
B. [illegible]
C. सूत्र 102 [illegible] 15

तिहा वि [३]कज्जंति, दुहा कज्जमाणा [४]एगयओ [५]परमाणुपोग्गले, [४]एगयओ [६]दुपदेसिए खंधे [७]भवति तिहा कज्जमाणा तिण्णि परमाणुपोग्गला भवंति । [८]एवं [A]जाव चत्तारि पंच परमाणुपोग्गला [१०]एगयओ [९]साहण्णं-ति[१०], [११]साहणित्ता खंधत्ताए कज्जंति, खंधे वि य णं से [१२]आसासए [१३]सया [१४]समियं [१५]उवचिज्जइ य अवचिज्जइ य ।

दुसरी तरफ दो प्रदेशिक स्कंध होता है । तीन भाग करने पर तीन परमाणु पुद्गल होते हैं । इस प्रकार चार परमाणु पुद्गल के विषय में भी जानना चाहिये । पांच परमाणु पुद्गल एक साथ संयोजित होते हैं । एकत्र संयोजित होकर स्कन्ध रूप कार्यान्वित हो जाते हैं । वह स्कन्ध अशाश्वत है, सदा उपचित (बढ़ता) अपचित (घटता) होता रहता है ।

पुव्विं भासा अभासा, भासिज्जमाणि भासा भासा [१६]भासासमयवीतिक्कंतं च णं [१७]भासिया भासा अभासा; जा सा पुव्विं भासा अभासा, भासिज्जमाणी भासा भासा, [१६]भासासमयवीतिक्कंतं च णं [१७]भासिया भासा अभासा, सा किं [१८]भासओ [१९]भासा ? अभासओ भासा ?

बोलने से पूर्व की भाषा अभाषा है, बोलते समय भाषा, भाषा है । भाषा समय के व्यतिक्रान्त होने पर भाषा अभाषा है । जो वह बोलने से पूर्व भाषा अभाषा है, बोलते समय भाषा, भाषा है, भाषा समय व्यतीत हो जाने पर भाषा अभाषा है तो क्या वह बोलते समय भाषा है या नहीं बोलते समय भाषा है ?

साहणित्ता - ला० । साहण्णंति - वें० म० ॥ किज्जंति - ला० २ ॥ ४. एगतओ - ला १ ॥ ५ ०पोग्गला - पा० ॥ ६. दुपएसिए - पा० म० ॥ ७. भवइ - अपो० पा० ॥ ८. एवं चत्तारि - पा० म० ॥ ९. साहण्णंति वें० म० ॥ १०. प० एगयओ - म० ॥ ११ साहणित्ता वें० म० ॥ १२. असासते - वें० म० ॥ १३. सया - ला० ला १ ॥ १४. समितं - म० ॥ १५. चिज्जइ - अपो० ॥ १६. ०वीइक्कंतं - पा० १७. भासिता - वें० म० ॥ १८. भासतो - वें० ला० ला १-३ ॥ १९. भासा ! गो० १ भास० ज० ॥

A-स्थ पाठस्य रचना एवं सम्भाव्यते —चत्तारि परमाणुपोग्गला एगयओ साहण्णंति, कम्हा चत्तारि परमाणुपोग्गला एगयओ साहण्णंति ? चउण्हं परमाणुपोग्गलाणं अत्थि सिणेहकाए, तम्हा चत्तारि परमाणुपोग्गला एगयओ साहण्णंति । ते भिज्जमाणा दुहा वि, तिहा वि, चउहा वि कज्जंति । दुहा कज्जमाणा एगयओ दुपदेसिए खंधे - एगयओ वि दुपदेसिए खंधे अहवा एगयओ तिपदेसिए खंधे-एगयओ परमाणुपोग्गले भवति । तिहा कज्जमाणा एगयओ दुपदेसिए खंधे-एगयओ एगे-एगे परमाणुपोग्गले भवति । चउहा कज्जमाणा चत्तारि परमाणुपोग्गला भवंति ।

भासओ [२०]णं सा भासा, नो खलु सा अभासओ भासा। पुव्विं किरिया अदुक्खा ^जहा भासा तहा [२१]भाणियव्वा किरिया वि ^जाव [२२]करणओ णं सा दुक्खा, नो खलु सा अकरणओ, दुक्खा, सेवं वत्तव्वं सिया। किच्चं दुक्खं, फुसं दुक्खं, कज्जमाणकडं दुक्खं कट्टु कट्टु पाण-[२३]भूय-जीव-सत्ता [२४]वेदणं [२५]वेदेन्ति [२६]त्ति वत्तव्वं सिया।

बोलने के समय ही भाषा, भाषा है। बोलने से पहले या पश्चात् अवस्था में अर्थात् नहीं बोलने के समय भाषा, अभाषा है। क्रिया करने से पूर्व क्रिया दुःख का कारण नहीं है। जैसा भाषा के विषय में कहा उसी प्रकार यहां पर भी कहना चाहिए। यावत् — यह क्रिया करने से दुःख का कारण है, न करने से दुःख का कारण नहीं है। ऐसा कहना चाहिए।

कृत्य दुःख है, स्पृश्य दुःख है, क्रियमाण दुःख है उसे कर करके प्राण, भूत, जीव और सत्त्व वेदना भोगते हैं, ऐसा कहना चाहिए।

विवेचन :—

आगमों में मुख्यतया दो तत्त्वों की विवेचना की गई है। जीव तत्त्व और अजीव तत्त्व। इन दो तत्त्वों से ही सम्पूर्ण सृष्टि चल रही है। प्रस्तुत पाठ में अजीव पुद्गलों की विवेचना की गई है। परमाणु से लेकर दो परमाणु, तीन परमाणु, चार परमाणु, आदि पुद्गल स्कंधों की रचना किस प्रकार होती है! वे स्कन्ध [illegible] होते हैं, या नहीं? इन विषयों का संकेत किया गया है।

परमाणु की विवेचना करने से पूर्व "चलमाणे चलिए" के सिद्धान्त पर विचार किया गया है यद्यपि इसकी विवेचना प्रथमोद्देशक में भी आ चुकी है।

परमाणु आदि पुद्गलों की विवेचना करने से पूर्व पुद्गल क्या है? इसकी व्याख्या आवश्यक है। जो पूरण, गलन और विध्वंसन स्वभाव वाला है, उसे पुद्गल कहते हैं। जो पुद्गल परस्पर संयोग होने पर मिल जाते हैं और पुनः बिखर भी जाते हैं, वह आधुनिक भाषा में पुद्गल [illegible] से अभिव्यंजित होते हैं।

आधुनिक विज्ञान जिसे 'मैटर' के नाम से संबोधित करता है। विश्व की प्रत्येक पौद्गलिक वस्तु में दो प्रकार की शक्तियां निहित होती हैं — विकर्षण शक्ति और आकर्षण शक्ति। पुद्गल का पूरण आकर्षण शक्ति एवं गलन (बिखरना) का विकर्षण शक्ति है।

२०. [illegible] ॥ २१. [illegible] ॥ २२. [illegible] ॥ २३. [illegible] ॥ २४. [illegible] ॥ २५. [illegible] ॥ २६. [illegible] ॥

^ [illegible]

उपर्युक्त सूत्र के दो विभाग है । पूर्वार्ध मे अन्य तीर्थिकों की विपरीत मान्यताओं का उल्लेख और उत्तरार्ध में उनका निराकरण किया है। अन्य तीर्थिकों के मतव्य इस प्रकार है —

जो चल रहा है, वह अचलित है – चला हुआ नही कहलाता यावत् जो निर्जीर्ण हो रहा है, वह निर्जीर्न नही कहलाता है

दो परमाणु पुद्गलों में चिकनापन नहीं होने से नही चिपकते हैं।

तीन परमाणु पुद्गलों में चिकनापन होने से वे परस्पर चिपकते हैं और उनका भेदन करने पर डेढ़-डेढ़ परमाणु के दो खंड होंगे।

चिपके हुए पांच परमाणु पुद्गल दुःखत्व रुप (कर्मरुप) होते है । दु.ख शाश्वत है और वह चय अपचय को प्राप्त होता रहता है।

बोलने से पहले की भाषा, भाषा है और बोलने का समय व्यतीत होने के बाद की भाषा भाषा है, किन्तु बोलने के समय की भाषा भाषा नही हैं।

करने से पूर्व की जो क्रिया है वह दु खरुप है और करने का समय व्यतीत होने के बाद की कृत क्रिया भी दु.ख रुप किन्तु वर्तमान में की जाती क्रिया दुःख रुप नही है।

करने से पूर्व की जो क्रिया है वह दु ख का कारण है और करने का समय व्यतीत होने के बाद की क्रिया दुःख का कारण है किन्तु वर्तमान में की जाती क्रिया दु ख का कारण नहीं है।

अकृत्य, अस्पृश्य और अक्रियमाण कृत दुःख है। उसे न करके जीव वेदना भोगते है।

इन मंतव्यो का निराकरण इस प्रकार है —

चलमान कर्म प्रथम समय में यदि चलित नहीं है तो द्वितीय आदि समयों में भी अचलित ही रहेगा। किसी भी समय वह चलित होगा ही नही। अतः जो चल रहा है वह चलित नहीं है, यह कथन अयुक्त है। क्योंकि पदार्थगत वस्तुत्व गुण का यह स्वभाव है कि पूर्व-पूर्व क्षण में परिवर्तित होकर उत्तर-उत्तर की पर्याय को उत्पन्न करे। अतएव यदि आद्यक्षण में पदार्थ अपना कार्य न करे तो अंत समय में भी उसके द्वारा कार्य कैसे किया जा सकता है जैसे मृतपिंड को स्यास, कोश कुशूल आदि के क्रम मे पूर्वोत्तर पर्यायें परिवर्तित न हों तो घट रुप अंतिम कार्य की निष्पत्ति नही हो सकेगी। अतएव यह मानना ही युक्ति संगत है कि प्रथम समय में चलित को चलित माना जाये न कि अचलित तथा चलमान को चलित न माना जाये तो निर्जरा किसकी होगी ? क्योंकि चलित कर्म ही निर्जरण योग्य बनता है।

जो अन्यतीर्थिको ने कहा है कि दो परमाणु स्निग्धता रहित होने से नहीं चिपकते, किन्तु तीन, चार, पांच आदि परमाणुओं में चिकनापन होने से चिपकते है, यह भी परस्पर विरुद्ध कथन है। क्योंकि जब दो परमाणुओं में स्नेह गुण नहीं होने से परस्पर संबंध नहीं हो सकता, तब तीसरे परमाणु के मिल जाने मात्र से चिपकना कैसे हो सकता है। दो परमाणुओं में स्नेह गुण का अभाव है तब तीसरे परमाणु में स्नेहत्व कहाँ से आजाता है ? अतएव स्पष्ट है कि तीन की तरह दो परमाणुओं में भी स्नेहगुण है। इसके कारण उनका द्वि प्रादेशिक स्कन्ध बनता है और विभेद होने पर पृथक-पृथक दो परमाणु हो जाते हैं।

तीन परमाणुओं का स्कन्ध डेढ़-डेढ़ परमाणुओं के रूप में विभक्त हो जाता है – यह कथन भी युक्ति संगत नहीं है । क्योंकि जिसका पुनः विभाग न हो सके उसे परमाणु कहते हैं तब एक परमाणु का समान आधा-आधा विभाग कैसे हो सकेगा ? यदि परमाणु का भी विभाग होना माना जाये तो वह परमाणु नहीं कहा जायेगा ।

मिलके हुए पांच परमाणु पुद्गल दुःखत्व रूप (कर्म रूप) होते हैं, यह कथन भी असंगत है । क्योंकि कर्म रूप में परिणत होने वाले स्कन्ध तो अनन्तानन्त प्रादेशिक होते हैं तथा कर्म तो जीव को आवृत करने के स्वभाव वाले हैं, अतः अगर पांच परमाणु रूप ही हों तो असंख्यात प्रदेश वाले जीव को कैसे आवृत कर सकते ?

दुःख (कर्म) शाश्वत है यह मानना भी ठीक नहीं है । क्योंकि कर्म को यदि शाश्वत माना जायेगा तो कर्म का क्षयोपशम क्षय आदि न होने से ज्ञानादि में हानि और वृद्धि नहीं हो सकेगी, किन्तु ज्ञानादि की हानिवृद्धि तो प्रत्यक्ष सिद्ध है, अतः कर्म शाश्वत नहीं है तथा कर्म को शाश्वत मानने पर जीव कभी भी कर्म क्षय करके मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकेगा । सदैव संसार में परिभ्रमण करता रहेगा, संसारी ही रहेगा ।

शाश्वत और चय-अपचय परस्पर विरुद्ध हैं । क्योंकि जिसमें चय-अपचय (हानि-वृद्धि) होना माना जावे उसको शाश्वत कैसे माना जा सकता है और हानि-वृद्धि होने पर शाश्वतता नहीं मानी जा सकती है ।

बोलने से पूर्व की तथा बोलने का समय व्यतीत होने के बाद की भाषा, भाषा है, किन्तु बोलते समय की भाषा अभाषा है (भाषा नहीं है) यह कथन भी अयुक्त है । क्योंकि बोलते समय की भाषा को अभाषा कहने का अर्थ यह हुआ कि वर्तमान काल व्यवहार का अंग नहीं है, जबकि लोक में वर्तमान काल को ही व्यवहार का अंग माना जाता है, क्योंकि भूतकाल नष्ट हो जाने के कारण और भविष्य असद् रूप होने से अविद्यमान है । अतः ये दोनों काल व्यवहार के अंग नहीं हैं और बोलने से पूर्व की भाषा को भाषा मानकर भी उसे न बोलते हुए पुरुष की भाषा मानना तो और भी युक्ति विरुद्ध है । क्योंकि अभाषक की भाषा को ही भाषा माना जायेगा तो सिद्ध-भगवान या जड़ को भी भाषा की प्राप्ति होगी, वे भाषक कहलायेंगे और जो भाषक हैं वे अभाषक कहलायेंगे यह प्रत्यक्ष विरुद्ध है ।

अतः बोलने से पूर्व एवं बोलने के पश्चात् भाषा अभाषा है । "भासिज्जमाणि भासा भासा" बोलते समय ही भाषा भाषा है ।

इसी प्रकार क्रिया के विषय में समझना चाहिए ।

क्रिया के विषय में भी भगवान ने यही फरमाया कि वर्तमान में की जाने वाली क्रिया दुःख का कारण है । भूत और भविष्य में वह दुःख का कारण नहीं है । जो क्रिया अभी तक प्रारम्भ ही नहीं हुई तो वह दुःख उत्पन्न कैसे कर सकती है ? जैसे कि बालक ने अभी जन्म ही नहीं लिया है, तब वह अपने माता को कैसे उत्पन्न कर सकता है ? इसी प्रकार क्रिया को समाप्ति के पश्चात् उसको दुःखजनक नहीं कहा जा सकती है, किन्तु क्रिया करते समय होने वाले दुःख को अनुभूति तो क्रिया करते समय ही होती है ।

इसका तात्पर्य यह है कि कोई भी कार्य विना कारण के उत्पन्न नहीं होता। भाषा, क्रिया आदि भी एक कार्य है, वे भी बिना कारण उत्पन्न नहीं होते। इसमें विचारणीय विषय तो यह है कि जब क्रिया भूतकाल में विद्यमान थी ही नहीं, तो वह तत्सम्बन्धी दुःख को उत्पन्न कैसे कर सकती हैं ? क्योंकि जो कारण स्वयं ही अभी उत्पन्न नहीं हुआ है, तो वह कार्योत्पत्ति कैसे कर सकता है ? इसी प्रकार जब कारण से उत्पन्न कार्य समाप्त हो चुका है, तब तत्सम्बन्धी दुःख की उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? अतः स्पष्ट है कि वर्तमान में क्रियमाण क्रिया ही दुःख की उत्पत्ति करती है। इसी प्रकार भाषा आदि के विषय में भी समझना चाहिये।

यदृच्छा तत्व के आधार पर अन्यतीर्थियों का यह कहना है कि बिना किये ही दुःख की उत्पत्ति हो जाती है। लेकिन यदृच्छा से कार्य की उत्पत्ति नहीं होती। यदृच्छा याने कार्य-कारण भाव के बिना अपने-आप। अपने आप यदि कार्य की उत्पत्ति होने लग जाय तो फिर किसी भी प्रकार के पुरुषार्थ की अपेक्षा नहीं रहेगी। ऐसी स्थिति में पेट भरने के लिये मुख मे भोजन का ग्रास डालने का प्रयास क्यों किया जाय ? यदि यदृच्छा से ही सब कुछ होता है तो कानो मे अंगुली डालने पर सुनाई क्यों नहीं देता। यदृच्छा के मानने पर तो सारा व्यवहार ही लोप हो जाएगा। अतः दुःख की उत्पत्ति का मूलकारण यदृच्छा नहीं अपितु कर्म है।

प्राण अर्थात् विकलेन्द्रिय त्रिक; भूत अर्थात् वनस्पति, जीव अर्थात् पंचेन्द्रिय, सत्व, अर्थात् पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु ये संसार के समस्त जीव वर्तमान मे होने वाली क्रिया आदि से दुःख की अनुभूति करते हैं। भूत भविष्य में तत्संबंधी दुःख की अनुभूति नहीं होती है।

सूत्र १९३. ऐर्यापथिकी और साम्परायिकी क्रिया संबंधी चर्चा—

उत्थानिका—

पूर्व सूत्र मे क्रिया के दुःख की अनुभूति कब होती है, इस पर विचार किया गया था प्रस्तुत सूत्र में एक समय में कितनी क्रियाएं जीव कर सकता है इस विषय पर विचार किया जा रहा है।

सूत्र 193 [१]अण्णउत्थिया णं भंते ! एवमाइक्खंति [A]जाव-एवं खलु एगे जीवे एगेणं समएणं दो [२]किरियाओ पकरेइ तं [४]जहा-इरियावहियं च संप-

सूत्र 193 भगवन् ! अन्य यूथिक इस प्रकार कहते हैं – यावत्-एक जीव एक समय में दो क्रियाएँ करता है। जैसे ऐर्यापथिकी और सांपरायिकी जिस समय ऐर्यापथिकी क्रिया करता है, उसी समय सांपरायिकी क्रिया करता है। जिस समय

१ अन्न० - पा० वे० म० ॥ २. किरियाओ - जं० ॥ ३. पकरेंति - पा० । पारेंति - वे० म० ॥ ४. [illegible] - वे० को० ॥

A. एवं भासंति, एवं पण्णवेंति, एवं परूवेंति ।

राइयं च। जं [६]समयं [७]इरियावहियं पकरेइ तं [८]समयं संपराइयं पकरेइ (जं समयं संपराइयं पकरेइ त समयं इरियावहियं पकरेइ; [९]इरियावहियापकरणयाए संपराइयं पकरेइ, [१०]संपराइयपकरणयाए इरियावहियं पकरेइ; एवं खलु एगे जीवे एगेणं [११]समएणं दो किरियाओ [१२]पकरेति, तं जहा—[१३]इरियावहियं च संपराइयं च।) [४]परउत्थियवत्तव्वं नेयव्वं। [५]ससमयवत्तव्वयाए [१४]नेयव्वं [१५]जाव इरियावहियं वा संपराइयं वा।

सांपरायिकी क्रिया करता है, उस समय ... पथिकी क्रिया करता है। ऐर्यापथिकी क्रिया ... में सांपरायिकी क्रिया करता है तथा सां... यिकी क्रिया करने से ऐर्यापथिकी क्रिया ... इस प्रकार एक जीव एक समय में दो क्रि... करता है—ऐर्यापथिकी और सांपरायिकी।

भगवन्! यह कैसे?

गौतम! जो अन्यतीर्थिक ऐसा कहते ... यावत् उन्होंने ऐसा जो कहा है सो मिथ्या ... है। हे गौतम! मैं इस प्रकार कहता हूँ कि ... जीव एक समय एक क्रिया करता है। यहाँ ... तीर्थिकों का तथा स्वसिद्धान्त का वक्तव्य ... चाहिये यावत् ऐर्यापथिकी अथवा सांपरा... क्रिया करता है।

विवेचन—

प्रस्तुत पाठ में दो क्रियाओं का वर्णन किया गया है। ऐर्यापथिकी और सांपरायिकी।

गमनागमन में लगने वाली क्रिया को ऐर्यापथिकी क्रिया कहते हैं। यह क्रिया योग ... कषाय के क्षीण या उपशान्त कर दिये जाने पर होती है। अतः यह क्रिया ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थानवर्ती जीवों को लगती है।

जो क्रिया कषायोदय के कारण लगती है, वह सांपरायिकी क्रिया है। यह क्रिया पहले गुणस्थान से लेकर दसवें गुणस्थानवर्ती जीवों तक होती है।

[illegible]

भगवान ने उक्त दो क्रियाओं में से एक समय में जीव के एक ही क्रिया लगने का विधान किया है। ऐर्यापथिकी और सांपरायिकी क्रिया भी एक साथ नहीं लगती है। क्योंकि ऐर्यापथिकी क्रिया कषाय के उपशम या क्षीण अवस्था में होती है। जबकि सांपरायिकी क्रिया कषायोदय के समय होती है। दोनों क्रियाओं को एक समय में एक साथ नहीं किया जा सकता।

स्थानाङ्ग सूत्र के द्वितीय ठाणे के अनुसार २५ क्रियाओं में से २४ क्रिया सांपरायिकी और एक क्रिया ऐर्यापथिकी कही गई है। क्योंकि २४ क्रिया तो कषाय और योग के साथ होती है, जबकि ऐर्यापथिकी केवल काय योग से होती है।

सूत्र १९४. नरक आदि गतियों में जीवों का उत्पाद-विरहकाल—

उत्थानिका—

पूर्व सूत्र में क्रियाओं के विषय में वर्णन किया गया। कषाय युक्त क्रियाओं को करने से जीव नरक गति में भी जा सकता है अतः प्रस्तुत सूत्र में नरक का उपपात्त और विरह बतलाया जा रहा है।

सूत्र 194 [1]निरयगई णं भंते! [2]केवतियं कालं [3]विरहिया [4]उववाएणं पण्णत्ता? गोयमा! [5]जहन्नेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं वारस मुहुत्ता। [6]एवं [7]वक्कंतीपयं [8]भाणियव्वं निरवसेसं।

सेवं भंते! सेवं भंते! त्ति [A]जाव [9]विहरइ।

॥ दसमो उद्देसओ समत्तो ॥

सूत्र 194 भगवन्! नरकगति, कितने समय तक उपपात से विरहित रहती है?

हे गौतम! जघन्य एक समय तक और उत्कृष्ट बारह मुहूर्त तक नरकगति उपपात से रहित रहती है। इसी प्रकार यहाँ (प्रज्ञापना सूत्र का सारा) व्युत्क्रान्तिपद' कहना चाहिए।

भगवन्! यह ऐसा ही है, यह ऐसा ही है, इस प्रकार कहकर यावत् गौतमस्वामी विचरते हैं।

॥ दशम उद्देशक समाप्त ॥

---

1. °गति - बे० म० ॥ 2. °इयं - अमो ॥ 3. °हिया - बे० म० । 4. उववातेणं - बे० म० । उववाएणं एवं वक्कंतीपदं सव्वं (पण्णवणासुत्तस्स छट्ठं पदं)। बारस य० गाहा (पण्णवणा सु० ५५१ पृ० १६३)) सेवं भंते! ज०। प्रका० महावीर जैन विद्यालय, बम्बई।
5. जहण्णेणं - अमो० पा० न० ॥ 6. एवं जाव वक्कंतीपए पदं भा° - ला ३। एवं जाव वक्कंतीए भा० - ला २ ॥
7. °तरं - बे० म० ॥ 8. °तव्वं - बे० म० ॥ 9. विहरति - बे० म० ॥

A. भगवं गोयमे समणं भगवं महावीरं वंदति नमंसति वंदित्ता नमंसित्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे।

राइयं च । जं ५समयं ६इरियावहियं पकरेइ तं ७समयं संपराइयं पकरेइ (जं समयं संपराइयं पकरेइ तं समयं इरियावहियं पकरेइ; ८इरियावहियापकरणयाए संपराइयं पकरेइ, ९संपराइयपकरणयाए इरियावहियं पकरेइ; एवं खलु एगे जीवे एगेणं १०समएणं दो किरियाओ ११पकरेति, तं जहा—१२इरियावहियं च संपराइयं च ।) 8परउत्थियवत्तव्वं नेयव्वं । Cससमयवत्तव्वयाए १३नेयव्वं १४जाव इरियावहियं वा संपराइयं वा ।

सांपरायिकी क्रिया करता है, उस समय ऐ[र्या]पथिकी क्रिया करता है। ऐर्यापथिकी क्रिया [करने] से सांपरायिकी क्रिया करता है तथा सां[परा]यिकी क्रिया करने से ऐर्यापथिकी क्रिया कर[ता है।] इस प्रकार एक जीव एक समय में दो क्रि[याएँ] करता है—ऐर्यापथिकी और सांपरायिकी।

भगवन् ! यह कैसे ?

गौतम ! जो अन्यतीर्थिक ऐसा कहते [हैं] यावत् उन्होंने ऐसा जो कहा है सो मिथ्या है। हे गौतम मैं इस प्रकार कहता हूँ कि [एक] जीव एक समय एक क्रिया करता है। यहाँ [अन्य]तीर्थिकों का तथा स्वसिद्धान्त का वक्तव्य [कहना] चाहिये यावत् ऐर्यापथिकी अथवा साम्परायिकी क्रिया करता है ।

विवेचन—

प्रस्तुत पाठ में दो क्रियाओं का वर्णन किया गया है। ऐर्यापथिकी और सांपरायिकी।

गमनागमन से लगने वाली क्रिया को ऐर्यापथिकी क्रिया कहते हैं। [1] यह क्रिया जीव के [?] कषाय के क्षीण या उपशान्त कर दिये जाने पर होती है। अतः यह क्रिया ग्यारहवें, बारहवें और तेर[हवें] गुणस्थानवर्ती जीवों को लगती है।

जो क्रिया कषायोदय के साथ लगती है, वह सांपरायिकी क्रिया है। [2] यह क्रिया पहले गुणस्[थान] से लेकर दसवें गुणस्थानवर्ती जीवों तक होती है।

---

५. °य-रिया - जे० लो० ॥ ६. °वधितं किरितं प° - जं० ॥ ७. समदं - जं० ॥ ८. °वहियाए° - पु० पा० [?] °वहिय° - अमो० ॥ ९. °पराइयं° - अमो० । संपराइयाए° - पा० म० ॥ १०. समयेणं - पा० ॥ ११. [?] अमो० ॥ १२ रिया० - अ, ला, ब, म ॥ १३. णेयव्वं - पा० ॥ १४. ०जरिया० - जे० लो० ॥

8. "परउत्थियवत्तव्वं ति इह सूत्रे अन्ययूथिकवक्तव्यं स्वयमुच्चारणीयम्, ग्रन्थगौरवभयेनालिखितत्वात्। [?] समयं संपराइयं पकरेइ तं समयं इरियावहियं पकरेइ; इरियावहियापकरणताए संपराइयं पकरेइ, संपराइयपकरण[?] याए इरियावहियं पकरेइ; एवं खलु एगे जीवे एगेणं समएणं दो किरियाओ पकरेति, तं जहा—इरियावहियं [च] संपराइयं च ।" इति - अवृ ॥ C. पाठ पूर्ति (परिशिष्ट देखें) ॥

१. ईर्या-गमनं तद्विषय: पन्था-मार्गः ईर्यापथस्तत्र भवा ऐर्यापथिकी। केवलकाययोग प्रत्यया।

२. संपरैति-परिभ्रमति प्राणी भवे एभिरिति संपरायाः कषायास्तत्प्रत्यया या सा साम्परायिकी।

भगवान ने उक्त दो क्रियाओं में से एक समय में जीव के एक ही क्रिया लगने का विधान किया है। ऐर्यापथिकी और सांपरायिकी क्रिया भी एक साथ नहीं लगती है। क्योंकि ऐर्यापथिकी क्रिया कषाय के उपशम या क्षीण अवस्था में होती है। जबकि सांपरायिकी क्रिया कषायोदय के समय होती है। दोनों क्रियाओं को एक समय में एक साथ नहीं किया जा सकता।

स्थानाङ्ग सूत्र के द्वितीय ठाणे के अनुसार २५ क्रियाओं में से २४ क्रिया सांपरायिकी और एक क्रिया ऐर्यापथिकी कही गई है। क्योंकि २४ क्रिया तो कषाय और योग के साथ होती है, जबकि ऐर्यापथिकी केवल काय योग से होती है।

सूत्र १९४. नरक आदि गतियों में जीवों का उत्पाद-विरहकाल—

उत्थानिका—

पूर्व सूत्र में क्रियाओं के विषय में वर्णन किया गया। कषाय युक्त क्रियाओं को करने से जीव नरक गति में भी जा सकता है अतः प्रस्तुत सूत्र में नरक का उपपात्त और विरह बतलाया जा रहा है।

सूत्र 194 [1]निरयगई णं भंते ! [2]केवतियं कालं [3]विरहिया [4]उववाएणं पण्णत्ता ?

गोयमा ! [5]जहन्नेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं बारस मुहुत्ता । [6]एवं [7]वक्कंतीपयं [8]भाणियव्वं निरवसेसं ।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति [A]जाव [9]विहरइ ।

॥ दसमो उद्देसओ समत्तो ॥

सूत्र 194 भगवन् ! नरकगति, कितने समय तक उपपात से विरहित रहती है ?

हे गौतम ! जघन्य एक समय तक और उत्कृष्ट बारह मुहूर्त तक नरकगति उपपात से रहित रहती है। इसी प्रकार यहाँ (प्रज्ञापना सूत्र का सारा) व्युत्क्रान्तिपद' कहना चाहिए।

भगवन् ! यह ऐसा ही है, यह ऐसा ही है, इस प्रकार कहकर यावत् गौतमस्वामी विचरते हैं।

॥ दशम उद्देशक समाप्त ॥

---

१. °गति - वे० म० ॥ २. °इयं - अमो ॥ ३. °हिता - वे० म० । ४. उववातेणं - वे० म० । उववाएणं एवं वक्कंतीयं सव्वं (पण्णवणासुत्तस्स छट्ठं पदं)। बारस म० गाहा (पण्णवणा सु० ५५१ पृ० १६३)) सेव भंते ! जं०। प्रका० महावीर जैन विद्यालय, बम्बई।

५. जहन्नेणं - अमो० मा० न० ॥ ६ एवं जाव वक्कंतीपए पदं भा° - ला ३। एवं जाव वक्कंतीए भा० - ला २ ॥

७. °पदं - वे० म० ॥ ८. °तव्वं - वे० म० ॥ ९. विहरति - वे० म० ॥

A. समणे गोयमे समणं भगवं महावीरं वंदति नमंसति वंदित्ता नमंसित्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे।

विवेचन :—

प्रस्तुत पाठ में संक्षिप्त रूप से नारकी के उपपात विरह का जघन्य समय और उत्कृष्ट १२ मुहूर्त बतलाया है। साथ ही प्रज्ञापना सूत्र के छठे उत्क्रांतिपद की भुलावण दी गई है।

यहा पर संक्षिप्त रूप से उत्क्रांति पद का विवेचन करते हैं।

सप्तनारकियों में उपपात विरह[1] :—

रत्नप्रभा में २४ मुहूर्त

शर्कराप्रभा में ७ अहोरात्र

वालुकाप्रभा में १५ "

पंकप्रभा में १ मास

घूमप्रभा में २ मास

तमप्रभा में ४ मास

तमस्तमप्रभा में ६ मास

उपर्युक्त उपपात विरह उत्कृष्ट है। जघन्य तो सभी का एक समय है।
देवों का उपपात विरह[2]—

भवनपति वाणव्यंतर ज्योतिषि पहला दूसरा देवलोक	२४ मुहूर्त

तीसरे देवलोक में ९ दिन २० मुहूर्त

१—चउवीसइ मुहुत्ता १ सत्त अहोरत्त २ तह य पन्नरस ३।
मासो य ४ दो य ५ चउरो ६ छम्मासा ७ विरहकालोउ ॥
उक्कोसो रयणाइसु सव्वासु जहण्णओ भवे समओ।
एमेव य उव्वट्टण संखापुण सुरवरा तुल्ला ॥

२—भवण वण जोइ सोहम्मीसाणे चउवीस मुहुत्ताओ।
उक्कोस विरहकालो पंचसु वि जहन्नओ समओ ॥
नव दिन वीस मुहुत्ता बारस दस चेव दिण मुहुत्ताओ।
बावीसा अद्ध चिय पणयाल असीइ दिवस सयं ॥
संखेज्जामासा आणय-पाणएसु तहा आरणच्चुएवासा।
संखेज्जाविण्णेया गेवेज्जेसु अओ वोच्छं ॥
हेट्ठिमवाससयाइं मज्झि सहस्साइं उवरिमे लक्खा।
संखेज्जा विन्नेया जहा संखेज्जं सु ति सं पि ॥

चौथे देवलोक में १२ दिन १० मुहूर्त
पाँचवें देवलोक में २२½ दिन —
छठे देवलोक से ४५ दिन —
सातवें देवलोक में ८० दिन —
आठवें देवलोक में १०० दिन —
नववें, दसवें देवलोक में—संख्यात महीने (जो एक वर्ष से अधिक न हो)
ग्यारहवें, बारहवें देवलोक में—संख्यात वर्ष (जो १०० वर्ष से अधिक न हो)
ग्रैवेयक के पहले त्रिक में—संख्यात करोड़ों वर्ष
ग्रैवेयक के दूसरे त्रिक में—संख्यात हजारों वर्ष
ग्रैवेयक के तीसरे त्रिक में—संख्यात लाखों वर्ष

आदि के चार अनुत्तर विमानों में पल्योपम का असंख्यातवा भाग, सर्वार्थ सिद्ध विमान में—पल्योपम का संख्यातवाँ भाग विरह काल होता है। सभी में जघन्य एक समय का।

तिर्यञ्चों में विरह[1]—

पांच स्थावरों में विरह होता ही नही है।
तीन विकलेन्द्रिय असंज्ञी पंचेन्द्रिय में अन्तमुहूर्त का
संज्ञी तिर्यञ्च में—१२ मुहूर्त का
संज्ञी मनुष्यों में—१२ मुहूर्त का विरह होता है।
सिद्ध अवस्था में—६ मास का विरह होता है।
उपर्युक्त विरहकाल उत्पत्ति संबंधी है।

---

[1]पलिया असंखभागो उक्कोसो होइ विरहकालोउ।
विजयाइ सु निद्दिट्ठो, सव्वेसु जहन्नओ समओ॥

॥ प्रथम शतक समाप्त ॥

बीअं सयं – पढमो उद्देसो

द्वितीय शतक – प्रथम उद्देशक

प्राथमिक

कर्मों से आबद्ध होकर अनन्तानन्त आत्माएं विविध परिवेश में संसार में जन्म-मरण करती हुई सुख-दुःख का अनुभव कर रही हैं। आगमिक भाषा में जिनका संकलन चौरासी लाख जीव योनियों के द्वारा किया गया है। इन्हीं का संक्षिप्तीकरण पांच इन्द्रियों के अन्तर्गत किया गया है।

जिन जीवों के केवल त्वचा ही है, उन्हें एकेन्द्रिय कहा गया है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति के सभी जीव एकेन्द्रिय की श्रेणी में आते हैं।

जिन जीवों के त्वचा और जिह्वा ये दो इन्द्रियाएं हैं, उन्हें बेइन्द्रिय कहा गया है।

जिन जीवों के त्वचा, जिह्वा और घ्राण ये तीन इन्द्रियां हैं, उन्हें त्रिइन्द्रिय कहा गया है।

जिन जीवों के त्वचा, जिह्वा, घ्राण, लोचन ये चार इन्द्रियां हैं, उन्हें चतुरिन्द्रिय कहा गया है।

जिन जीवों के त्वचा, जिह्वा, घ्राण, लोचन और कर्ण ये पांच इन्द्रियां हैं, उन्हें पंचेन्द्रिय कहा गया है।

इन पांचों ही इन्द्रियों के विभाग में संसार के समस्त जीव आ जाते हैं। आदि की चार इन्द्रियों तक के जीव तो तिर्यंच योनि में ही होते हैं। पांचों इन्द्रियों वाले तिर्यंच के अतिरिक्त नारकी, मनुष्य एवं देव भी होते हैं।

एक जीव के असंख्य प्रदेश होते हैं। ये जीव प्रदेश प्रकाश की तरह संकोच-विकासशील स्वभाव वाले होते हैं। ऐसे समस्त जीव लोकाकाश में रहते हैं। लोकाकाश भी असंख्य प्रदेशात्मक है। परन्तु असंख्य आकाश प्रदेश के भी असंख्य भेद हैं। जीव कर्मों के आवरण से संकोच की ओर बढ़ता है तो उसके असंख्य प्रदेश इतने सिकुड़ जाते हैं कि जिनकी अवगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग तक रह जाती है। लेकिन उस अंगुल के असंख्यातवें भाग की अवगाहना वाला जीव भी लोकाकाश के एक

प्रदेशों पर नहीं, किन्तु कम से कम असंख्य प्रदेशों में अवगाहित रहता है। ये असंख्य प्रदेश लोकाकाश के असंख्य भेदों में से एक भेद रूप है। इन असंख्य प्रदेशों में एक जीव भी रह सकता है, तथा दो, तीन यावत् दस संख्यात असंख्यात एवं अनन्त जीव भी रह सकते हैं। साथ ही पुद्गल वर्गणाओं के भी अनन्तानन्त स्कंध उसी असंख्य प्रदेश वाले अवगाह स्थान पर रह सकते है। और जब जीव के आत्म-प्रदेश विकासोन्मुख होते हैं, तो कभी-कभी समग्र लोकाकाश के प्रदेशों में अपने आत्मप्रदेशों को फैला लेते हैं। ऐसा प्रसंग केवलि-समुद्घात के चतुर्थ समय में आता है। इस प्रकार लोक का संपूर्ण विज्ञान सर्वज्ञ-सर्वदर्शी के केवलालोक में स्पष्टतया आलोकित हो रहा है। उनके ज्ञान में तो लोक का कोई भी अंश अदृश्य नहीं है। सर्वज्ञ-सर्वदर्शी का ज्ञान अभ्रान्त सत्य होता है। वे राग और द्वेष के विजेता होने से अवितथ भाषी होते हैं। उनकी विवेचना में कहीं पर भी, एकांश में भी स्खलना नहीं आ सकती।

भगवान् महावीर इस अवसर्पिणीकाल के चरम तीर्थङ्कर थे। कठोर तप-संयम की आराधना के अन्तर घनघाती कर्मों का क्षय किया और वे अनंत (चतुष्टय) श्री से सम्पन्न हुए। तब उन्होंने तीर्थ की स्थापना की तथा भव्य प्राणियों के हित एवं सुख के लिए धर्मोपदेशना प्रदान की। इसके साथ ही गणधर गौतमादि द्वारा प्रस्तुत की गई जिज्ञासाओं का यथोचित समाधान दिया।

प्रस्तुत सूत्र में उन्हीं प्रश्नोत्तरों का सकलन किया गया है। प्रथम शतक में विभिन्न विषयों पर प्रस्तुत की गई शंकाओं का समाधान भगवान् ने प्रदान किया था। द्वितीय शतक में भी विभिन्न विषयों पर की गई अनेक जिज्ञासाओं का समाधान किया गया है। इस शतक में दस उद्देशक हैं।

बिइयं सयं

द्वितीय शतक के दस उद्देशकों के नाम निरूपण—

गाहा—

१ [1]उसास खंदए वि [2]य, २ समुग्घाय, ३, ४ पुढविंदिय, ५ [3]अण्णउत्थि, ६ भासा य । ७ देवाय, ८ चमरचंचा, ९, १० [4]समयखित्तऽत्थिकाय [5]बीय-सए ॥ १ ॥

(१) गाथा—

(१) उच्छ्वास (श्वासोच्छ्वास) और स्कन्द अणगार (२) समुद्घात (३) पृथ्वी (४) इन्द्रिय (५) अन्यतीर्थिक और (६) भाषा (७) दे (८) चमरचंचा राजधानी (९) समय क्षेत्र का स्वरू (१०) अस्तिकाय का विवेचन—इन विषयों प मुख्यतया द्वितीय शतक में विचारणा की गई है।

विवेचन :-

संसार के अनन्तानन्त जीव जो एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक किसी भी श्रेणी में आते हों, वे सभी श्वासोच्छ्वास का ग्रहण और विसर्जन करते हैं। अतः प्रथमोद्देशक में जीव की श्वासोच्छ्वास सम्बन्धी प्रक्रियाओं का विवेचन दिया गया है। प्रथम शतक के दसवें उद्देशक के अन्त में जीवों का उत्पात विरह बतलाया गया। कोई भी जीव अपनी योनि में उत्पन्न होकर अपनी बद्ध पर्याय को पूर्ण करता है। आहार, शरीर, इन्द्रिय पर्याप्ति के पश्चात् वह श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति पूर्ण करता है। उस पर्याप्ति के द्वारा श्वास का ग्रहण-विसर्जन करता है। इस अपेक्षा से प्रथम शतक का द्वितीय शतक से सम्बन्ध है।

श्वासोच्छ्वास की प्रक्रिया संज्ञी पंचेन्द्रिय, तिर्यंच, नारकी, मनुष्य और देवता में तो स्पष्ट परिलक्षित होती है। किन्तु पृथ्वी, पानी आदि स्थावर कायिक जीवों में उसका स्पष्ट विधान नहीं होता। अतः स्पष्टता के अभाव में सामान्य आत्मा को स्थावरकायिक जीवों के श्वासोच्छ्वास होने में संदेह उत्पन्न हो जाता है।

उस सन्देह का निवारण करने के लिए गौतम स्वामी ने उद्देशक के प्रारम्भ में यही जिज्ञासा भगवान् के सामने प्रस्तुत की है।

---

१. "आलमति १ समुग्घाया २ पुढवी ३ इंदिय ४ नियंठ ५ भासा य ६ । देव ७ चमर ८ दीव ९ अत्थिय १० बीयंमि सए दसुद्देसा ॥ १ ॥ - वे० म० ॥ २. दिय पुढविंदिय - अभो० ॥ ३. अन्न - अभो० म० ॥ ४. समय खित्तत्थिकाए - पु० अभो० । [5]त्थिगत्थिकाय - म० ॥ ५. बीयसए - पु० अभो० म० प्रा० । बीयसए - मलि—अ० वा० व० सं० ॥

पढमो उद्देसो : ऊसास

एकेन्द्रिय आदि जीवों की श्वासोच्छ्‌वास सम्बन्धी चर्चा—

॥ २ ॥ तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे [1]नामं [2]नगरे होत्था । [A]वण्णओ, सामी समोसढे । परिसा [3]निग्गया, धम्मो [4]कहियो [5]पडिगया[6] परिसा । तेणं कालेणं तेणं [7]समएणं जेट्ठे [8]अंतेवासी [B]जाव पज्जुवासमाणे एव [9]वयासी-

॥ ३ ॥ जे इमे भंते ! [10]बेइंदिया तेइंदिया चउरिंदिया [11]पंचेन्दिया जीवा [12]एएसि [13]णं आणामं वा पाणामं वा उस्सासं वा [14]नीसासं वा जाणामो पासामो । जे इमे [15]पुढविक्काइया [C]जाव [16]वणस्सइकाइया एगिंदिया जीवा एएसि [17]णं आणामं वा पाणामं

(२) उस काल उस समय में राजगृह नामक नगर था । (उसका) वर्णन (औपपातिक सूत्र के अनुसार समझना चाहिए) (एक बार) भगवान् महावीर स्वामी का पदार्पण हुआ । परिषद् (शहर से) निकलकर (समवसरण में पहुँची) । (भगवान् ने, धर्म का (स्वरूप) बतलाया । (जिसे श्रवण कर आनन्दित होती हुई) परिषद् (अपने अपने स्थान पर) चली गई । उस काल उस समय में ज्येष्ठ अंतेवासी, इन्द्रभूति अनगार) यावत् भगवान् की पर्युपासना करते हुए इस प्रकार बोले—

(३) हे भगवन् ! बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय जीव है । उनका (आभ्यंतर) आन प्राण और (बाह्य) उच्छ्‌वास–निःश्वास को हम जानते हैं और देखते हैं । (किन्तु) जो इनमें पृथ्वीकाय से लेकर वनस्पतिकाय तक के

---

१. णाम - न० घा० ॥ २. नयरे - न० घा० ॥ ३. निग्गता - बे० म० । णिग्गया - घा० ॥ ४. कहिओ - पु० अमो० घा० न० । कहितो - बे० म० ॥ ५. परिसा पडिगया - अमो० घा० ६. पडिगता - बे० म० ॥ ७. प्र०— णं समणस्स भगवओ महावीरस्स - न० घा० ॥ ८. सामी इंदभूती णामं अणगारे जाव पज्जु॰ - ला० ९. वयासी - न० बे० म० ॥ १०. बेंदिया तेन्दिया - ला० ॥ ११. पंचिंदिया - बे० न० घा० । पंचिंदिया - म० ॥ १२. एतेसि णं आहारं वा नीहारं वा उसासं वा णीसासं वा - जं ॥ १३. णं जीवाणं - आ० लो० ॥ १४. निस्सासं वा - अमो० न घा० ॥ १५. पुढविकाइया - अमो० न० । °काइया ४ एगिंदिया - जं० । पुढवी॰ - घा० ॥ १६. वणस्सइकाइया - अमो० न० घा० ॥ वणस्सति॰ - बे० म० । वणफ्फइकाइया जीवा - लो० ॥ १७. णं आहारं वा ४ ण याणामो - जं० ॥

A. नगर । उद्देशक । । सूत्र नं० ५ (I)

B. [illegible] । उद्देशक । सूत्र नं० ५ (III)

[illegible] आउत्तायं णावकंखइ तेउत्तायं णावकंखइ वाउत्तायं णावकंखइ ॥

वा उस्सासं वा निस्सासं वा [18]णं [19]याणामो [20]णं पासामो, [21]एएसि णं भंते ! जीवा [22]आणमंति वा पाणमंति वा [23]उस्ससंति वा [24]नीससंति वा ?

हंता गोयमा ! एए वि [25]य णं जीवा आणमंति वा पाणमंति वा [26]उस्ससंति वा निससंति वा ।

एकेन्द्रिय जीव है, उनके (आंतरी) आन प्राण को तथा (बाह्य) उच्छ्वास-निःश्वास को न ही जानते है और न ही देखते है। तो हे भगवन्! क्या जीव (आभ्यंतर) आन प्राण और (बाह्य) उच्छ्वास-निःश्वास भी लेते हैं ?

हां गौतम ! ये जीव आन-प्राण लेते हैं और उच्छ्वास-निःश्वास भी लेते हैं।

॥ ४ ॥ (I। [1]किण्णं [2]भंते ! जीवा [3]आणमंति वा पाणमंति वा [4]उस्ससंति वा [5]निस्ससंति वा ?

(४) भगवन् ! (वे) जीव (किन द्रव्यों को) आन प्राण और उच्छ्वास-निःश्वास के रूप में ग्रहण-विसर्जन करते हैं ?

गोयमा [6]दव्वओ [7]णं [8]अणंतपएसियाइं दव्वाइं [9]खेत्तओ [10]णं [11]असंखपएसोगाढाइं, कालओ [12]अन्नयरट्ठितीयाइं भावओ [13]वण्णमंताइं गंधमंताइं रसमंताइं फासमंताइं आणमंति वा [14]पाणमंति वा ऊससंति वा [15]नीससंति वा ।

गौतम ! द्रव्य से अनन्त प्रादेशिक द्रव्यों को, क्षेत्र से असंख्य प्रदेशावगाढ द्रव्यों को, काल से किसी भी स्थिति में स्थित द्रव्यों को, भाव से वर्ण वाले, गंध वाले, रसवाले, और स्पर्श वाले द्रव्यों को आभ्यंतर आन-प्राण, बाह्य उच्छ्वास-निःश्वास के रूप में ग्रहण और विसर्जन करते हैं।

१८-२०. न - न० ॥ १९ जाणामो - अमी० ला० पा० ॥ २१. एए णं - ला० म० । एए वि य णं - [illegible] २२ "आणमंति 'आनन्ति' अन् प्राणने इति धातु पाठात् [illegible] अन्तर्भावित [illegible] [illegible] [illegible] - अथवा आनमन्ति प्राणमन्ति इति 'णम् प्रह्वत्वे' [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]। अथवे आणमंति-'आनन्ति प्राणन्ति [illegible] [illegible] उच्छ्वास निःश्वासक्रिया [illegible] [illegible] निःश्वसन्ति [illegible] तु बाह्या" प्रज्ञा० वृत्ती पृ० २२० ॥ २३-२६. [illegible] - म० बे० म० ॥ २४ [illegible] [illegible] - अमी० ॥ २५. वि णं - अमी० म० ॥

१. कि ण - मा० म० बे० । कि भंते - [illegible] । [illegible] - ला० ॥ २. भंते ! [illegible] - अमी० म० बे० [illegible] ३. आणमंति - म० ॥ ४. [illegible] - म० ॥ ५. नीससंति - पु० म० बे० म० पा० । [illegible] वा - अमी० [illegible] [illegible] - बे० म० ॥ ७. णं - नत्थि म० ॥ ८. [illegible] - ला० ॥ ९. खित्तओ - अमी० । [illegible] ॥ १० णं - नत्थि अमी० म० ॥ ११. [illegible] - अमी० म० बे० म० । [illegible] [illegible] - अमी० । [illegible] - म० । [illegible] - [illegible] ॥ १३ [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ॥ १४. [illegible] - अमी० ॥ १५. [illegible] - अमी० ॥ १६. [illegible]

(।।) जाइं भावओ [16]वन्नमन्ताइं [17]आणमन्ति वा [18]पाणमन्ति वा [19]उस्ससंति वा [20]नीससंति वा ताइं किं [21]एगवण्णाइं [22]आणमन्ति वा [23]पाणमन्ति वा [24]उस्ससन्ति वा नीससन्ति वा ?

[25]आहारगमो [26]णेयव्वो [A]जाव[27] [28]ति-चउ-[29]पंचदिसिं।

(।।) भगवन् ! (एकेन्द्रिय जीव) भाव से वर्ण वाले द्रव्यों को आभ्यंतर और बाह्य आन-प्राण और श्वासोच्छ्वास के रूप में ग्रहण विसर्जन करते हैं। तो क्या वे एक वर्णवाले द्रव्य को आन-प्राण और उच्छ्वास निःश्वास के रूप में ग्रहण विसर्जन करते हैं ?

गौतम ! प्रज्ञापनासूत्र के अट्ठाइसवें आहारक पद के अनुसार यहां पर भी जानना चाहिए। यावत् वे तीन-चार पांच दिशाओं से आहार पुद्गलों को ग्रहण करते हैं।

॥ ५ ॥ [1]किण्णं भंते ! [2]नेरइया [3]आणमन्ति वा पाणमन्ति वा [4]उस्ससंति वा [5]नीससन्ति वा ?

तं चेव [A]जाव [6]नियमा छद्दिसिं। [7]आणमन्ति वा पाणमन्ति वा [8]उस्ससन्ति वा [9]नीससन्ति। [10]जीवा एगिं-

(५) भगवन् ! नैरयिक किस प्रकार के पुद्गलों को आभ्यंतर आन-प्राण रूप से तथा बाह्य श्वासोच्छ्वास रूप से ग्रहण करते तथा विसर्जन करते हैं।

पूर्व की तरह ही यहां पर वे नियम से छहों दिशाओं के पुद्गलों को आभ्यंतर आन-प्राण और बाह्य श्वासोच्छ्वास के रूप में ग्रहण और विसर्जन करते हैं। सामान्य जीव और एकेन्द्रिय

म० वे० ॥ १७. आणमन्ति पाणमन्ति ऊससंति नीससंति - पु० म० वे० ॥ १८ पणमंति - अमो० ॥ १९. ऊससंति वा० न० ॥ २०. निस्ससंति - अमो० ॥ २१. प्र०—वण्णाइं जाव किं पंचवण्णाइं आणमंति वा पाणमंति वा ऊससंति वा ? नीससंति वा ? गोयमा ! ठाणमग्गणं पडुच्च एगवण्णाइं पि जाव पंचवण्णाइं पि आणमंति वा पाणमंति वा ऊससंति वा नीससंति वा। विहाणमग्गणं पडुच्च कालवण्णाइं पि— जाव सुक्किलाइं। न० ॥ २२. °मंति पाण० मंति० ऊस० - पु० वे० ॥ २३. मंतिऊस० नीस० ? म० ॥ २४. उस्ससंति वा निस्स° - अमो० ॥ २५. आहारगमो नेयव्वो ति प्रज्ञापनाष्टाविंशतितमाहार पदोक्तसूत्रपद्धतिरिहाध्येयेत्यर्थः इति - अवृ० ॥ २६. नेयव्वो - पु० अमो० न० म० वे० ॥ २७. प्र०—पुढवि काइया णं भंते। कइदिसिं आणमंति वा पाणमंति वा ऊससंति वा नीससंति वा ? गोयमा ! निव्वाघाएणं छद्दिसिं वाघायं पडुच्चसिय तिदिसिं सिय चउदिसिं सिय - न०। जाव पंच० - वे० म० ॥ २८. सिय चउदिसिय - अमो० ॥ २९. °दिसं - अमो० ॥

A. पन्न० २८।१ ॥

१. कि ण - वे० म० ॥ २. णरइया - अमो० ॥ ३. आणमंति पाणमंति ऊससंति नीससंति - पु० वे० म० ॥ ४. ऊससंति वा - न० ॥ ५. निस्स० - अमो० ॥ नो० एव चेव नियमा छद्दिसिं। एवं जाव वेमाणिया एगिंदिएसु निव्वाघा.... वी अवसेसेसु नियमा छद्दिसिं। जं० ॥ ६. नियमा आ० पा० ऊ० नी० - वे० म० ॥ ७. आणमंति पाणमंति ऊससंति नीससंति - पु० ॥ ८. ऊससंति - न० ॥ ९. निस्ससंति वा - अमो० न० ॥ १०. जीवे - अमो० । जीव - न० ॥

A पन्न० २८।१ ॥

वा उस्सासं वा निस्सासं वा [१८]णं [१९]याणामो [२०]णं पासामो, [२१]एएसि णं भंते ! जीवा [२२]आणमंति वा पाणमंति वा [२३]उस्ससंति वा [२४]नीससंति वा ?

हंता गोयमा ! एए वि [२५]य णं जीवा आणमंति वा पाणमंति वा [२६]उस्ससंति वा निससंति वा ।

एकेन्द्रिय जीव है, उनके (भीतरी) आन प्राण को तथा (बाह्य) उच्छ्वास-निःश्वास को नहीं जानते है और न ही देखते हैं । तो हे भगवन्! क्या जीव (आभ्यंतर) आन प्राण और (बाह्य) उच्छ्वास-निःश्वास भी लेते हैं ?

हाँ गौतम ! ये जीव आन-प्राण लेते है और उच्छ्वास-निःश्वास भी लेते है ।

॥ ४ ॥ (i) [१]किण्णं [२]भंते ! जीवा [३]आणमंति वा पाणमंति वा [४]उस्ससंति वा [५]निस्ससंति वा ?

गोयमा [६]दव्वओ [७]णं [८]अणंतपएसियाइं दव्वाइं [९]खेत्तओ [१०]णं [११]असंखपएसोगाढाइं, कालओ [१२]अन्नयरट्ठितीयाइ भावओ [१३]वण्णमंताइं गंधमंताइं रसमंताइं फासमंताइं आणमंति वा [१४]पाणमंति वा ऊससंति वा [१५]नीससंति वा ।

(४) भगवन् ! (वे) जीव (किन द्रव्यो को) आन-प्राण और उच्छ्वास-निःश्वास के रूप में ग्रहण-विसर्जन करते हैं ?

गौतम ! द्रव्य से अनन्त प्रादेशिक द्रव्यों को क्षेत्र से असंख्य-प्रदेशावगाढ़ द्रव्यों को काल से किसी भी स्थिति में स्थित द्रव्यों को, भाव से वर्ण वाले, गंध वाले, रसवाले, और स्पर्श वाले, द्रव्यो को आभ्यंतर आन-प्राण, बाह्य उच्छ्वास निःश्वास के रूप में ग्रहण और विसर्जन करते हैं।

१८-२०. न - न० ॥ १९ जाणामो - अमो० ला० पा० ॥ २१. एए णं - ला० न० । एए वि य णं - वे० म० २२ "आणमंति 'आनन्ति' अन् प्राणने इति धातु पाठात् मकारः अलाक्षणिकः । एवमन्यत्रापि यथायोगं परिभावनीयम् —अथवा आनमन्ति प्राणमन्ति इति 'णम् प्रह्वत्वे' इत्यस्य द्रष्टव्यम धातूनामनेकार्थत्वादवसनार्थस्य च अविरोध । अपरे आचक्षते-'आनन्ति प्राणान्ति इत्यनेन् अंत. स्फुरन्ती उच्छ्वास निःश्वासक्रिया परिगृह्यते उच्छ्वसन्ति निःश्वसन्तीत्यनेन तु बाह्या" प्रज्ञा० वृतौ प्र० २२० ॥ २३-२६. ऊससंति - न० वे० म० ॥ २४. निससंति वा - अमो० ॥ २५. वि णं - अमो० न० ॥

१. किं णं - ना० म० वे० । किं भंते - लो० । किन्हं भंते जीवा - ला० ॥ २. भंते ! एते जीवा - अमो० न० वे० म० ३. आणामंति - ज० ॥ ४. ऊससंति - न० ॥ ५. नीससंति - पु० न० वे० म० पा० । निस्ससंति वा - अमो० ॥ ६. दव्वतो - वे० म० ॥ ७. णं - नत्थि न० ॥ ८. ०पदेसयाइं - ला० ॥ ९. खित्तओ - अमो० । खेत्तओ अणंतपएसो ॥ १० णं - नत्थि अमो० न० ॥ ११. असंखेज्जपएसोगा० - अमो० न० वे० म० । ०पत्तेसो० - जं० ॥ १२. अण्णयरठिईयाइं - अमो० । अण्णयरठितियाइं - न० । ०ठितीयाइं - अ० क० ता० व० मं० म० ॥ १३. वण्णमंताइं जाव फासमंताइं जधा आधारगमो जाव निव्वाधाएणं छद्दिसिं वाघातं पडुच्च सिय तिदिसिं जाव सव्वप्पणताते आणमंति वा ४।५ किं णं - जं० ॥ १४. °मंति वा उस्स° - अमो० ॥ १५. निस्ससंति - अमो० ॥ १६. वण्ण° - पु० अमो०

(II) जाइं भावओ [16]वण्णमन्ताइं [17]आणमन्ति वा [18]पाणमन्ति वा [19]उस्ससंति वा [20]नीससंति वा ताइं किं [21]एगवण्णाइं [22]आणमन्ति वा [23]पाणमन्ति वा [24]उस्ससन्ति वा नीससन्ति वा ?

[25]आहारगमो [26]णेयव्वो [A]जाव[27] [28]ति-चउ-[29]पंचदिसिं।

(II) भगवन् ! (एकेन्द्रिय जीव) भाव से वर्ण वाले द्रव्यों को आभ्यंतर और वाह्य आन-प्राण और श्वासोच्छ्वास के रूप में ग्रहण विसर्जन करते हैं। तो क्या वे एक वर्णवाले द्रव्य को आन-प्राण और उच्छ्वास निःश्वास के रूप में ग्रहण विसर्जन करते हैं ?

गौतम ! प्रज्ञापनासूत्र के अट्ठाइसवें आहारक पद के अनुसार यहां पर भी जानना चाहिए। यावत् वे तीन-चार पांच दिशाओं से आहार पुद्गलों को ग्रहण करते हैं।

॥ ५ ॥ [1]किण्णं भंते ! [2]नेरइया [3]आणमन्ति वा पाणमन्ति वा [4]उस्ससंति वा [5]नीससन्ति वा ?

तं चेव [A]जाव [6]नियमा छद्दिसिं। [7]आणमन्ति वा पाणमन्ति वा [8]उस्ससन्ति वा [9]नीससन्ति। [10]जीवा एगिं-

(५) भगवन् ! नैरयिक किस प्रकार के पुद्गलों को आभ्यंतर आन-प्राण रूप से तथा वाह्य श्वासोच्छ्वास रूप से ग्रहण करते तथा विसर्जन करते हैं।

पूर्व की तरह ही यहां पर वे नियम से छहों दिशाओं के पुद्गलों को आभ्यतर आन-प्राण और वाह्य श्वासोच्छ्वास के रूप में ग्रहण और विसर्जन करते हैं। सामान्य जीव और एकेन्द्रिय

म० वे० ॥ १७. आणमन्ति पाणमन्ति ऊससंति नीससंति - पु० म० वे० ॥ १८. पणमंति - अमो० ॥ १९. ऊससंति - वा० न० ॥ २०. निस्ससंति - अमो० ॥ २१. प्र०—वण्णाइं जाव किं पंचवण्णाइं आणमंति वा पाणमंति वा ऊससंति वा ? नीससंति वा ? गोयमा ! ठाणमग्गण पडुच्च एगवण्णाइं पि जाव पंचवण्णाइं पि आणमंति वा पाणमंति वा ऊससंति वा नीससंति वा। विहाणमग्गणं पडुच्च कालवण्णाइं वि— जाव सुक्किलाइं। न० ॥ २२. °मंति पाण० मंति० ऊस० - पु० वे० ॥ २३. मंतिऊस० नीस० ? म० ॥ २४. उस्ससन्ति वा निस्स° - अमो० ॥ २५. आहारगमो नेयव्वो इति प्रज्ञापनाष्टाविंशतितमाहार पदोक्तसूत्रपद्धतिरिहाध्येयेत्यर्थः इति - अभ० ॥ २६. नेयव्वो - पु० अमो० न० म० वे० ॥ २७. प्र०—पुढवि काइया ण भंते। कइदिसं आणमंति वा पाणमंति वा ऊससंति वा नीससंति वा ? गोयमा ! निव्वाघाएणं छद्दिसिं वाघायं पडुच्चसिय तिदिसिं सिय चउदिसिं सिय - न०। जाव पच० - लों० मा० ॥ २८. ति चउसिय - अमो० ॥ २९. °दिसं - अमो० ॥

A. पन्न० २८।१ ॥

१. किं ण - वे० म० ॥ २. णरइया - अमो० ॥ ३. आणमंति पाणमंति ऊससंति नीससंति - पु० वे० म० ॥ ४. ऊससंति वा - न० ॥ ५. निस्स० - अमो० ॥ नी० तं चेव नियमा छद्दिसिं। एवं जाव वेमाणिया एगिंदिएसु निव्वाघा... वाघायं पडुच्च सिय तिदिसिं सेसेसु नियमा छद्दिसिं। जं० ॥ ६. नियमा आ० पा० ऊ० नी० - वे० म० ॥ ७. आणमंति पाणमंति ऊससंति नीससंति - पु० ॥ ८. ऊससंति - न० ॥ ९. निस्ससंति वा - अमो० म० ॥ १०. जीवे - अमो० । जीव - न० ॥

A. पन्न० २८।१ ॥

दिया [11]वाघाय य निव्वाघाया [12]य [B]भाणियव्वा । सेसा नियमा छद्दिसिं ॥

व्याघात होने पर कदाचित् तीन चार और दिशाओं से श्वासोच्छ्वास के पुद्गल ग्रहण हैं । निर्व्याघात अवस्था में छहों दिशाओं से श्वासोच्छ्वास के पुद्गल लेते हैं। शेष छहों दिशाओं से नियम से श्वासोच्छ्वास पुद्गल ग्रहण करते हैं ।

विवेचन :-

प्रस्तुत सूत्र में स्थावरकायिक जीवों के श्वासोच्छ्वास के विषय में चर्चा की गई है । त्रसादि जीवों में तो श्वासोच्छ्वास की प्रक्रिया स्पष्ट देखने को मिलती है, किन्तु स्थावरकायिक पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति के जीवों में बाह्य और आभ्यंतर दोनों ही प्रकार के श्वासोच्छ्वास की प्रक्रिया परिलक्षित नहीं होती है । तब उनमें श्वासोच्छ्वास होता है या नहीं ? ऐसी जिज्ञासा जब गौतम स्वामी ने भगवान के समक्ष रखी । तब भगवान् ने फरमाया गौतम ! स्थावरकायिक जीवों में भी बाह्य और आभ्यंतर दोनों ही प्रकार का श्वासोच्छ्वास होता है । क्योंकि स्थावरकायिक जीव चेतनावान है । उन स्थावरकायिक जीवों में चेतना के अस्तित्व विषयक प्रमाण पूर्व में प्रथम शतक में दे चुके हैं । जो चेतनावान होता है, वह श्वासोच्छ्वास ग्रहण करता है । स्थावरकायिक जीव भी चेतनावान् हैं । अतः उनके श्वासोच्छ्वास के विषय में कोई संदेह नहीं है ।

पंचेन्द्रिय जीवों में तो पांचों इन्द्रियां होने से श्वासोच्छ्वास की प्रक्रिया स्पष्ट परिलक्षित हो जाती है । स्थावरकायिक जीवों में केवल एक स्पर्शनेन्द्रिय (त्वचा) होती है । जिह्वा, घ्राण आदि इन्द्रियां उनके नहीं होतीं । यद्यपि बाह्य रूप में देखा जाय तो पंचेन्द्रिय जीव नासिका से श्वासोच्छ्वास ग्रहण करता है । परन्तु एकेन्द्रिय में नासिका नहीं है । अतः उनका श्वासोच्छ्वास त्वचा से ही होता है। जिस प्रकार जिह्वा न होने पर आहार ग्रहण त्वचा द्वारा होता है । उसी प्रकार घ्राण न होने पर भी श्वासोच्छ्वास का ग्रहण-विसर्जन भी त्वचा द्वारा होता है ।

दूसरी बात यह है कि यदि एकेन्द्रिय जीव में श्वासोच्छ्वास नहीं होता तो भगवान् उनके लिए चार पर्याप्तियों का विधान नहीं करते । जबकि एकेन्द्रिय जीव में चार पर्याप्तियां बतलाई गई हैं । उनमें चौथी पर्याप्ति श्वासोच्छ्वास की है । अतः स्पष्ट है कि एकेन्द्रिय जीव भी श्वासोच्छ्वास ग्रहण करते हैं ।

११. वाघाया निव्वा- अमो० न० । वाघाय–निव्वाघाय वे० म० ॥ १२. य – पतिय-अमो० । च – न० ॥
B. पन्न० २८ । १ ॥

दूसरी जिज्ञासा गौतम स्वामी ने यह उपस्थित की—'भगवन् ! वे श्वासोच्छ्वास ग्रहण करते हैं, यह आपका कथन 'तहमेव' सत्य है, किन्तु वे एकेन्द्रिय जीव श्वासोच्छ्वास द्वारा किन पुद्गलों का ग्रहण विसर्जन करते हैं ?

भगवान् ने कहा—हे गौतम ! वे जिन पुद्गलों का श्वासोच्छ्वास के रूप में ग्रहण और विसर्जन करते हैं, वे पुद्गल दो वर्ण वाले, तीन वर्ण वाले यावत् पांच वर्ण वाले होते हैं। वे एक गुणकाले से लेकर अनन्त गुणकाले होते हैं।[1]

उन पुद्गलों को एकेन्द्रिय आदि सभी जीव निर्व्याघात अवस्था में छहों दिशाओं से ग्रहण करते हैं। व्याघात अवस्था में तीन-चार-पांच दिशाओं से ग्रहण करते हैं। क्योंकि एकेन्द्रिय त्रसनाड़ी से बाहर लोकान्त तक होने से उन्हें अलोक का व्याघात आता है। अन्य एकेन्द्रिय से अतिरिक्त जीवों में व्याघात नहीं आने से वे छहों दिशाओं से पुद्गल ग्रहण करते हैं।

वायुकाय आदि जीवों की श्वासोच्छ्वास संबंधी चर्चा

।६॥ [1]वाउयाए णं भंते ! [2]वाउयाए चेव आणमंति वा पाणमंति वा [3]ऊससंति वा [4]नीससंति [5]वा ?

[6]हंता, गोयमा ! वाउयाए [7]णं [A]जाव नीससंति वा।

(६) भगवन् ! क्या वायुकायिक जीव वायुकाय का ही आन-प्राण और श्वासोच्छ्वास लेते हैं ?

हां गौतम ! वायुकायिक जीव वायुकाय का ही आन-प्राण और श्वासोच्छ्वास लेते हैं।

।७॥ वाउयाए णं भंते ! वाउयाए चेव अणेगसयसहस्सखुत्तो [9]उद्दाइत्ता उद्दाइत्ता [10]तत्थेव भुज्जो भुज्जो [11]पच्चायाति ?

हंता गोयमा ! [12]जाव[B] [13]पच्चायाति।

(७) भगवन् ! वायुकायिक जीव वायुकाय में ही अनेक लाखों बार मर-मरकर उसी वायुकाय में बार बार जन्म लेते हैं।

हां गौतम ! वायुकाय के जीव उसी में बार बार जन्म-मरण करते हैं।

---

१. इसकी विस्तृत विवेचना प्रज्ञापना सूत्र के २८ वें पद से ज्ञातव्य है।

१. वाउआणं - लों॰ लो ॥ २. वाउआअं चेव - जं॰ ३. उसम - अमो॰ ॥ ४. निसम - अमो॰ ॥ ५. वा ? गो॰ वाउ - लो॰ ॥ ६. हंता गो॰। वाउआते णं वाउआअं एवं आणमंति वा ४ - जं॰ ॥ ७. णं वाउयाए - बे॰ म॰ ॥ ८. निस्स - अमो॰ ॥ ९. उद्दाइ उद्दाइत्ता - अमो॰ ॥ १० तत्थेव २ भुज्जो २ - ला॰। तत्थेव तत्थेव भु - जं॰ ॥ ११. पच्चायाइ - अमो॰ ॥ १२. जाव वाउ॰ भुज्जो भुज्जो पच्चायाति - न॰ ॥ १३. पच्चायाइ - अमो॰ ॥

A. वाउयाए चेव आ॰ पा॰ ऊस॰ नीस॰ वा ॥

B. वाउयाए णं वाउयाए चेव अणेगसयसहस्सखुत्तो उद्दाइत्ता उद्दाइत्ता तत्थेव भुज्जो भुज्जो पच्चायाति ॥

॥ ८ ॥ [14]से भंते किं पुट्ठे उद्दाति अपुट्ठे उद्दाति ?

गोयमा ! पुट्ठे [15]उद्दाइ, नो अपुट्ठे [16]उद्दाइ ।

॥ ९ ॥ से भंते ! [1]किं ससरीरी [2]निक्खमइ असरीरी [3]निक्खमइ ?

[4]गोयमा ! [5]सिय ससरीरी निक्खमइ सिय असरीरी निक्खमइ ।

॥ १० ॥ से केणट्ठेणं भंते [6]एवं वुच्चइ [7]सिय ससरीरी निक्खमइ सिय असरीरी निक्खमइ ?

गोयमा ! [8]वाउयायस्स णं चत्तारि सरीरया [9]पन्नत्ता, तंजहा—[10]ओरालिए, वेउव्विए, [11]तेयए, कम्मए, [12]ओरालियवेउव्वियाइं [13]विप्पजहाय तेय-[14]कम्मएहिं [15]निक्खमति [16]से तेणट्ठेणं गोयमा एवं [17]वुच्चइ—सिय [18]ससरीरी सिय असरीरी निक्खमइ ।

(८) भगवन् ! क्या स्व जाति अथवा पर जाति [के] वायुकायिक जीवों के साथ स्पृष्ट होकर मर[ण] पाते है या अस्पृष्ट होकर मरण पाते हैं ?

गौतम ! स्पृष्ट होकर मरण पाते हैं। अस्पृ[ष्ट] होकर मरण नहीं पाते हैं।

(९) भगवन् ! सशरीर मरण पाते हैं या अशरी[री] होकर मरण पाते हैं ?

गौतम ! कदाचित् सशरीरी मरते हैं। कदा[चित्] अशरीरी होकर मरते है।

(१०) भगवन् ! आप किस कारण ऐसा फरमाते हैं कि कदाचित् सशरीरी मरण पाते हैं ? और कदा[चित्] अशरीरी होकर मरण पाते हैं ?

गौतम ! वायुकाय के चार शरीर कहे गये हैं, यथा औदारिक, वैक्रिय, तेजस और कार्मण। औदारिक और वैक्रिय शरीर को छोड़कर वायुकायिक जीव तैजस कार्मण के साथ मरण पाते हैं। इसलिए गौतम ! मैं ऐसा कहता हूँ कि वायुकायिक जीव औदारिक, वैक्रिय शरीर की अपेक्षा तो अशरीरी और तैजस-कार्मण की अपेक्षा सशरीरी होकर मरण प्राप्त करते हैं।

१४. से तं भंते - ज० ॥ १५-१६ उद्दाति ॥

१. किं सरीरी निग्ग० - ज० लो० ला० ॥ २-३. निक्कमइ - जं ॥ ४. गोयमा ! सरी० णिक्खमइ णो असरीरी णिक्कमति - जं० ॥ ५. सिय सरीरी - लो० ला० ॥ ६. एवं सरीरी णि० णो असरीरी - जं० ॥ ७. सिय सरीरी - लो० ला० ॥ वाउयायस्स - पु० अमो० म० । वाउक्काइयाणं - चत्तारि सरीरा पन्नता - जं० ९. पण्णत्ता - म० दे० म० ॥ १०. उरालिए - अमो० ॥ ११. तेयने - जं० ॥ १२. उरालिय - अमो० ॥ १३. विप्पहाय - लो० ला० १४. तेयकम्म० - म० ॥ तेया-कम्म० - जं० ॥ १५. निक्खमइ - अमो० म० ॥ १६. तेणट्ठेणं० । ८ सरी० लो० ला० । १७. वुच्चइ ससरीरी णि० णो असरीरी णिक्कमंति । जं० ॥ १८. °रीरी निक्खमइ सिय - म० ॥

विवेचन – यद्यपि पूर्व सूत्र में सभी पांचों स्थावर जीवों के श्वासोच्छवास लेने छोड़ने का निरुपण किया है। उनमें वायु कायिक जीवों का भी समावेश है, तो पुनः पृथक से वायु कायिक जीवों के श्वासोच्छवास का वर्णन क्यों किया ? इसका समाधान यह है कि यहां वायु काय के श्वासोच्छवास के साथ-साथ जन्म मरणादि कई प्रश्न भी किए गए हैं। जो पूर्व प्रकरण मे नहीं है । दूसरी बात प्रस्तुत प्रकरण में वायुकाय को वायुकाय का जो श्वासोच्छवास लेना कहा है वह श्वासोच्छवास की गंभीरता को ध्वनित करता है। यह स्पष्ट है कि जिस वायुकाय का हमें स्पर्श ज्ञान होता है वह वायुकाय श्वासोच्छवास रुप में ग्रहण नहीं हो सकती है, क्योंकि वह सचेतन है तथा अष्ठ स्पर्शी है। जो श्वासोच्छवास-पर्याप्ति के योग्य नहीं है। श्वासोच्छवास पर्याप्ति के लिए श्वासोच्छवास वर्गणा के पुद्गल ही ग्राह्य होते हैं। जिन्हें प्रस्तुत सूत्र के आधार पर वायु विशेष कह सकते हैं। वह श्वासोच्छवास रुप वायु विशेष ही जीवों के लिये आन-प्राण रुप प्रयोग मे आतो है, न कि स्पर्शयमान वायुकाय। अतः श्वासोच्छवास वर्गणा के स्वरुप को बताने के लिए यहां वर्गणाओं का विवेचन करते हैं।

वर्गणाओं का स्वरुप और व्याख्या

वर्गणा यह जैन सिद्धान्त का परिभाषिक शब्द है । समान जातीय पुद्गलों के समूह को वर्गणा कहते हैं। ये वर्गणाए अनंत होती हैं । जैसे लोकाकाश में विद्यमान कुछ एकाकी परमाणुओं को पहली परमाणु वर्गणा, द्वि प्रदेशिक स्कंध की दूसरी द्वि प्रादेशिक वर्गणा, तीन प्रदेशों के मेल से बनने वाली तीसरी-त्रिप्रादेशिक वर्गणा। इसी प्रकार एक एक परमाणु के बढ़ते-बढ़ते संख्यात-प्रदेशी स्कंधों की संख्याताणुक वर्गणा, असंख्यात प्रदेशी स्कंध की असंख्याताणुक वर्गणा अनंत प्रदेशी स्कंधों की अनन्ताणुक वर्गणा और अनतानंत प्रदेशी स्कंधों को अनन्तानन्ताणुक वर्गणा, तक समझना चाहिए।

ये वर्गणायें अग्रहण योग्य और ग्रहण योग्य के भेद से दो प्रकार की है । जो वर्गणाएं अल्प परमाणु वाली होने से जीव द्वारा ग्रहण योग्य नहीं बनती वे अग्रहण योग्य वर्गणाएं कहलाती हैं। जीव द्वारा जो वर्गणायें ग्रहण योग्य बनती है उनमे अभव्य राशि से अनन्त गुणे और सिद्ध राशि के अनन्तवें भाग परमाणु होते हैं अर्थात् इतने परमाणु वाले स्कंध जीव द्वारा ग्रहण करने योग्य बनते हैं। ग्रहण योग्य आठ वर्गणाएं मानी गई है —

१. औदारिक वर्गणा २. वैक्रिय वर्गणा ३. आहारक वर्गणा ४. तैजस वर्गणा ५. भाषा वर्गणा ६. श्वासोच्छवास वर्गणा ७. मनो वर्गणा ८ कार्मण वर्गणा। इन वर्गणाओं द्वारा अपने-अपने योग्य कार्य होता है। जैसे औदारिक वर्गणा से औदारिक शरीर बनता है । वैक्रिय वर्गणा से वैक्रिय शरीर का, आहारक वर्गणा से आहारक शरीर का तैजस वर्गणा से तैजस शरीर का निर्माण होता है। भाषा वर्गणा के पुद्गल शब्द रुप में श्वासोच्छवास वर्गणा के पुद्गल श्वासोच्छवास रुप में मनोवर्गणा के पुद्गल मनोद्रव्य रुप में एवं कार्मण वर्गणा के पुद्गल कर्म रुप में परिणत होते हैं।

इन ग्रहण योग्य वर्गणाओं के नाम की तरह अग्रहण योग्य वर्गणाओं के नाम भी हैं। जैसे औदारिक अग्रहण योग्य वर्गणा यावत् कार्मण अग्रहण योग्य वर्गणा। इस प्रकार कुल मिलाकर सोलह भेद होते हैं। इन सोलह वर्गणाओं में से प्रत्येक के जघन्य और उत्कृष्ट मुख्य विकल्प हैं और जघन्य उत्कृष्ट के अंतराल में अनन्त मध्यम विकल्प होते हैं। ग्रहण वर्गणा के जघन्य से उसका उत्कृष्ट अनन्तवें भाग अधिक और अग्रहण वर्गणा के जघन्य से उत्कृष्ट अनन्तगुण अधिक होता है।

ग्रहण और अग्रहण योग्य वर्गणा के जघन्य और उत्कृष्ट के बीच जो मध्यम विकल्प होते हैं वे भेद उस-उस वर्गणा के जानने चाहिए न कि कुल वर्गणाओं के अग्रहण योग्य वर्गणाओं के बारे में विशेष बात जानने योग्य यह है–ये ग्रहण योग्य वर्गणाओं के अंतराल में होती है अर्थात् अग्रहण-वर्गणा के बाद ग्रहण-वर्गणा और ग्रहण-वर्गणा के बाद अग्रहण-वर्गणा के क्रम से होती है।

ये सभी वर्गणाए उत्तरोत्तर सूक्ष्म-सघन एवं बहु प्रदेशो है। इसका कारण उनमें वर्तमान सूक्ष्मत्व एवं बहुप्रदेशत्व है। आकार के सूक्ष्म-सूक्ष्मतर होते जाने से इनका अवगाहना क्षेत्र सामान्य से अंगुल के असंख्यातवें भाग है, किंतु वह अंगुल का असंख्यातवां भाग उत्तरोत्तर हीन हीन है। जिसे रुई, लकड़ी, मिट्टी, पत्थर, लोहा, सीसा, चांदी और सोने के उदाहरण से समझा जा सकता है कि समान परिमाण में इन वस्तुओं को लिया जाय तो इनका आकार उत्तरोत्तर छोटा व सघन होगा।

ग्रहण योग्य आठ वर्गणाओं में आदि की चार वर्गणाएं अष्ट स्पर्शी और अंत की चार चतुस्पर्शी कहलाती है। अष्ट स्पर्शी वर्गणाओं के परमाणुओं में तो गुरुलघु आदि आठ स्पर्श भेदों में से कोई से अविरुद्ध स्पर्श होते है और चतुस्पर्शी वर्गणाओं में शीत-उष्ण-स्निग्ध-रूक्ष इन चार स्पर्शों में से कोई दो अविरोधी स्पर्श होते है। यह भेद अष्ट स्पर्शी और चतुस्पर्शी वर्गणा मानने का कारण है।

इस प्रकार सामान्य से वर्गणा भेदों की रूप रेखा बताने के बाद अब पृथक् पृथक् उनकी स्वरूप व्याख्या करते हैं —

१ औदारिक वर्गणा — अनंत प्रदेशी, अनन्तानन्त प्रदेशी तक की सभी वर्गणाएं अग्रहण योग्य हैं। किन्तु अभव्यों से अनन्त गुण और सिद्धों के अनन्तवें भाग प्रमाण परमाणु जिस स्कंध में होते हैं, उतने प्रमाण वाली वर्गणा औदारिक शरीर के निर्माण योग्य जघन्य वर्गणा बनती है। अर्थात् कम से कम इतने परमाणुओं के समुदाय को ग्रहण करके जीव औदारिक शरीर रूप में परिणमाता है। इसलिए इसे औदारिक वर्गणा कहते हैं।

तत्पश्चात् इस जघन्य वर्गणा के उपर एक-एक परमाणु बढ़ते स्कंधों की पहली, दूसरी, तीसरी यावत् अनन्त वर्गणाएं औदारिक शरीर के ग्रहण योग्य बनती हैं। जिससे इस औदारिक शरीर की

ग्रहण योग्य जघन्य वर्गणा से अनन्त भाग अधिक परमाणु वाली औदारिक शरीर की ग्रहण योग्य उत्कृष्ट वर्गणा होती हैं। इस अनन्तवें भाग में अनन्त परमाणु होते हैं। जघन्य से लेकर उत्कृष्ट पर्यन्त में सभी अनन्त वर्गणाएं औदारिक शरीर की ग्रहण योग्य जानना चाहिए।

इस औदारिक शरीर ग्रहण योग्य उत्कृष्ट वर्गणा से एक अधिक परमाणु वाली औदारिक-शरीर-अग्रहण-योग्य जघन्य वर्गणा होती हैं। इस अग्रहणता का कारण यह है—औदारिक को अपेक्षा अधिक परमाणु वाली और सूक्ष्म है। जिससे औदारिक के ग्रहण योग्य नहो बन पाती हैं और जिन स्कंधों से वैक्रिय शरीर बने, उनकी अपेक्षा अल्प प्रदेश वाली है। इस औदारिक जघन्य अग्रहण योग्य वर्गणा से एक-एक परमाणु बढ़ते बढ़ते स्कधों को अग्रहण योग्य उत्कृष्ट वर्गणा पर्यन्त अनन्त वर्गणाएं होती है। जैसे औदारिक शरीर की ग्रहण योग्य जघन्य वर्गणा से उत्कृष्ट वर्गणा (सिद्धों के) अनन्तवें भाग अधिक होती हैं। उसी प्रकार इसकी अग्रहण जघन्य वर्गणा से उत्कृष्ट वर्गणा (अभव्यो मे) अनन्त गुण अधिक होती है। इसी प्रकार आगे को सभी ग्रहण और अग्रहण वर्गणाओं की जघन्य उत्कृष्ट पर्यन्त अल्पाधिकता जानना चाहिए।

वैक्रिय वर्गणा— औदारिक शरीर की अग्रहण योग्य उत्कृष्ट वर्गणा के स्कंध के परमाणुओं से एक अधिक परमाणु वाले स्कंधों की समूह रुप वर्गणा वैक्रिय शरीर की ग्रहण योग्य जघन्य वर्गणा होती है। इस जघन्य वर्गणा के पश्चात् एक-एक परमाणु अधिक-अधिक मध्य मे अनन्त मध्यम वर्गणाए होने के बाद उत्कृष्ट ग्रहण योग्य वर्गणा होती है।

इस वैक्रिय शरीर ग्रहण योग्य उत्कृष्ट वर्गणा से एक अधिक परमाणु वाले स्कंध की वैक्रिय अग्रहण योग्य वर्गणा होती हैं। इसकी अग्रहणता का कारण वैक्रिय शरीर द्वारा ग्रहण योग्य होने की अपेक्षा बहु प्रदेशी और आहारक शरीर के द्वारा ग्रहण योग्य बनने को अपेक्षा अल्प प्रदेशी व स्थूल होना है। यह जघन्य अग्रहण वर्गणा है। इसके बाद मध्य मे एकोत्तर परमाणु वाली अनंत मध्यम अग्रहण वर्गणाएं होती हैं। तत्पश्चात् उत्कृष्ट अग्रहण वर्गणा प्राप्त होती है।

आहारक वर्गणा— वैक्रिय उत्कृष्ट अग्रहण योग्य वर्गणा के पश्चात् जो एक अधिक परमाणु वाले स्कंधों की वर्गणा है, वह आहारक शरीर ग्रहण प्रायोग्य जघन्य वर्गणा है। इन जघन्य ग्रहण योग्य वर्गणा के पश्चात् एक-एक परमाणु वृद्धि वाले स्कधों को अनन्त मध्यम वर्गणाए जानना चाहिए और अंतिम उत्कृष्ट ग्रहण प्रायोग्य वर्गणा है, इन जघन्य से लेकर उत्कृष्ट पर्यन्त ग्रहण योग्य वर्गणाओं से आहारक शरीर बनता है।

आहारक शरीर की ग्रहण योग्य उत्कृष्ट वर्गणा से एक अधिक परमाणु वाला स्कंध आहारक अग्रहण प्रायोग्य जघन्य वर्गणा है। मध्य में एकोत्तर वृद्धि वाले परमाणुओं की अनन्त अग्रहण प्रायोग्य अनन्त वर्गणाएं होती है और अंतिम उत्कृष्ट वर्गणा है।

तैजस वर्गणा — आहारक प्रायोग्य उत्कृष्ट अग्रहण वर्गणा मे एक अधिक परमाणु वाले स्कंध को तैजस प्रायोग्य जघन्य ग्रहण वर्गणा है। उसके ऊपर-एक-एक परमाणु बढ़ते-बढ़ते तैजस शरीर प्रायोग्य जघन्य वर्गणा से अनंत भाग अधिक परमाणु वाले स्कधों की उत्कृष्ट वर्गणा होती है।

इस तैजस शरीर की ग्रहण योग्य उत्कृष्ट वर्गणा के स्कंध से एक अधिक परमाणु वाले स्कंधों की जघन्य अग्रहण प्रायोग्य वर्गणा होती है और उससे, ऊपर एक-एक परमाणु बढ़ते-बढ़ते जघन्य अग्रहण वर्गणा से अनन्त गुणे अधिक परमाणु वाले स्कधों की उत्कृष्ट अग्रहण योग्य वर्गणा होती है। ये अनन्त वर्गणाएं तैजस शरीर की अपेक्षा बहु प्रदेशी वाली और सूक्ष्म तथा भाषा योग्य बनने की स्थूलएवं अल्प प्रदेश वाली होने से अग्रहण योग्य है।

भाषा वर्गणा – उक्त तैजस प्रायोग्य उत्कृष्ट अग्रहण वर्गणाओं से एक परमाणु अधिक स्कंध की भाषा ग्रहण प्रायोग्य जघन्य वर्गणा है। पूर्व की तरह इस जघन्य वर्गणा के उपर क्रमशः एकोतर वृद्धि वाली अनन्त मध्यम वर्गणाए होने के बाद जघन्य वर्गणा के अनन्तवें भाग अधिक परमाणु वाले स्कंधों की भाषा प्रायोग्य उत्कृष्ट ग्रहण वर्गणा होती है।

इस भाषा प्रायोग्य उत्कृष्ट ग्रहण वर्गणा के स्कंध से एक अधिक परमाणु वाले स्कंध की अग्रहण योग्य जघन्य वर्गणा होती है और उसके उपर एक-एक परमाणु की वृद्धि से जघन्य वर्गणा से अनन्त गुण परमाणु वाले स्कंध की भाषा अग्रहण योग्य उत्कृष्ट वर्गणा होती है।

श्वासोच्छवास वर्गणा – भाषा अग्रहण प्रायोग्य उत्कृष्ट वर्गणा से एक अधिक परमाणु वाले स्कध की श्वासोच्छवास ग्रहण प्रायोग्य जघन्य वर्गणा होती है। इसके उपर एक-एक परमाणु बढ़ते-बढ़ते जघन्य वर्गणा के स्कंध के परमाणुओं से अनन्तवें भाग अधिक परमाणु वाले स्कंधों की श्वासोच्छवास योग्य उत्कृष्ट ग्रहण वर्गणा होती है।

श्वासोच्छवास की इस ग्रहण योग्य उत्कृष्ट वर्गणा के स्कंधों से एक अधिक परमाणु वाले स्कंध की जघन्य अग्रहण योग्य वर्गणा होती है। तत्पश्चात् एक-एक प्रदेश की वृद्धि से अनन्त गुण परमाणु वाले स्कंध की अग्रहण योग्य वर्गणा है।

मनोवर्गणा – इस उत्कृष्ट श्वासोच्छवास अग्रहण योग्य वर्गणा से एक अधिक परमाणु वाले स्कंध की मनोयोग्य जघन्य ग्रहण वर्गणा होती है। तत्पश्चात् उसके उपर एक-एक परमाणु के बढ़ते-बढ़ते जघन्य वर्गणा के परमाणुओं से अनन्तवें भाग अधिक परमाणु वाले स्कंध की उत्कृष्ट ग्रहण योग्य मनो वर्गणा होती है।

इस उत्कृष्ट ग्रहण प्रायोग्य मनो वर्गणा से एक अधिक परमाणु वाले स्कंध की अग्रहण प्रायोग्य जघन्य मनो वर्गणा होती है। उसके उपर एक-एक परमाणु की वृद्धि से जघन्य वर्गणा के स्कंध परमाणुओं से अनन्त गुणे परमाणु वाले स्कध की उत्कृष्ट अग्रहण प्रायोग्य मनो वर्गणा होती है।

कार्मण वर्गणा – इस उत्कृष्ट अग्रहण योग्य मनो वर्गणा से एक अधिक परमाणु वाले स्कंध की कर्म प्रायोग्य जघन्य ग्रहण वर्गणा होती है। तत्पश्चात् एक-एक परमाणु की वृद्धि से जघन्य वर्गणा के स्कध परमाणुओं से अनन्तवें भाग अधिक परमाणु वाले स्कंध की कर्म योग्य उत्कृष्ट वर्गणा होती है।

इस प्रकार से आठ ग्रहण योग्य वर्गणाओं का स्वरूप जानना चाहिए। इसके बाद भी अन्य पौद्गलिक वर्गणाएं हैं किन्तु वे जीव द्वारा ग्रहण योग्य नहीं होने से उनका यहां वर्णन किया जाना अपेक्षित नहीं है।

तैजस और कार्मण शरीर के मध्य में भाषा श्वासोच्छ्वास और मनो वर्गणाए स्थित है। अर्थात तैजस शरीर के ग्रहण योग्य वर्गणा से वह वर्गणा अधिक सूक्ष्म है जो हमारे बातचीत करते समय शब्द-रूप परिणत होती है और उससे भी वह वर्गणा अधिक सूक्ष्म है, जो जीव के श्वास रूप परिणत होती है। श्वासोच्छवास वर्गणा से भी मनोवर्गणा सूक्ष्म है और उस मनोवर्गणा से भी कार्मण वर्गणा की सूक्ष्मता प्रतिपादित है।

इससे हम यह अनुमान कर सकते हैं कि कर्म वर्गणाएं कितनी अधिक सूक्ष्म होती हैं, किन्तु उनमें परमाणुओं की संख्या कितनी अधिक रहती है। यहा इन वर्गणाओं के कथन करने का यही उद्देश्य है कि जो चीज कर्मरूप परिणत होती है उसके स्वरूप की रूपरेखा दृष्टि में आ जाये। इसी से यहां केवल १६ वर्गणाओं का ही स्वरूप बतलाया है।

इन वर्गणाओ के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि श्वासोश्वास वर्गणा अपने आप में स्वतन्त्र है और शरीर धारी आत्मा उस वर्गणा को श्वासोच्छवासों के रूप मे लेती है एवं छोड़ती है।

इस दृष्टि से श्वासोच्छवास वर्गणा स्वतत्र निर्जीव पुद्गल स्कंध है और वह पुद्गल स्कंध जीव धारी आत्मा जब श्वासोच्छवास पर्याप्ति से संग्रहण करती है, तब वह वर्गणा शरीर में परिणत होती है। तब उसका रूप बदल जाता है। जैसे निर्जीव दुग्ध या पकवान ये स्वतंत्र निर्जीव पदार्थ है। इनको औदारिक वर्गणा के लिये जीव प्रयोग में लेता है और वे औदारिक आदि के रूप मे परिणत कर देता है। पर दुग्ध जाव नहीं है, वह निर्जीव है। वैसे जो कार्मण वर्गणा आत्मा ग्रहण करती है। वह कार्मणा वगणा निर्जीव है। वह जब आत्मा के साथ कर्म रूप में परिणत होती है तब जाकर सक्रियताका संज्ञा पाती है। पर ग्रह्यमाण कार्मण वर्गणा तो निर्जीव ही है। इस प्रकार ग्रह्यमाणजो श्वासोच्छवास वगणा के पुद्गल हे वे निर्जीव है। जीव श्वासोच्छवास पर्याप्ति स उन्हे ग्रहण करता है। गृह्यमाण श्वासोच्छवास पुद्गल निर्जीव होते हुए भी गृहीत होने पर वे कार्मण वगणा का तरह सक्रियता की संज्ञा पा सकते हैं।

यही कारण है कि शास्त्र के मूल पाठ मे श्वासोच्छवास का उल्लेख तो है परन्तु सजीव पुद्गलों का श्वासोच्छवास लिया जाता है, यह उल्लेख नही है। जहा आम जनता की दृष्टि में सामान्यतया यही बोध रहता है कि वायुकायिक जीवो का श्वासोच्छ्वास लिया जाता है। इस सामान्य जनता का अवबोध स्थिति को लेकर गौतम स्वामी ने वायुकायिक जोव के श्वासोच्छ्वास के ग्रहण विसर्जन का प्रश्न स्वतत्र उठाया है। और उसमें यह पूछा गया है कि वायुकाय जीव वायुकायिक चतन्य पुद्गलों का आहार लेती है या कैसे?

"वाउयाए णं भंते। वाउयाए चेव आणंमंति वा पाणमंति वा उससति वा नीससति वा।

यदि वायुकाय के जीव सचित वायुकाय का आहार लेते है तो जो जीव जिन वायुकायिक जीवों का आहार लेते हैं तो वे भी स्वयं किसी अन्य वायुकायिक जीवों का आहार लेंगे। इस उत्तर के मिलने मे अनवस्था दोष आ जाता है। इसका उत्तर यह है कि वायुकायिक जीव जिन पुद्गलों का आहार लेता है, वे पुद्गल निर्जीव है। और ऐसे निर्जीव पुद्गलों को श्वासोच्छ्वास लेने की आवश्यकता नहीं रहती। अतः इसमे अनवस्था दोष का प्रसंग नही आता। जैसे वायुकायिक जीव के लिये श्वासोच्छ्वास के पुद्गल निर्जीव है वैसे ही अन्य एकेन्द्रिय आदि प्राणियों के लिये गृह्यमाण श्वासोच्छ्वास निर्जीव पुद्गलों का होता है। वायुकायिक जीवों के लिये ही निर्जीव पुद्गलों का श्वासोच्छ्वास के रूप

में ग्रहण विसर्जन ही प्रस्तुत सूत्र का आशय होता तथा अन्य पृथ्वीकायिक जीवों के लिये शरीर युक्त चैतन्य पुद्गलों का श्वासोच्छ्वास के रूप में ग्रहण-विसर्जन मान्य होता तो गौतम स्वामी के वायुकायिक प्रश्न में "भी" शब्द का प्रयोग होता जिसका स्पष्ट अर्थ यह निकलता कि अन्य प्राणी तो जीव युक्त पुद्गलों का श्वासोच्छ्वास के रूप में गृहीत विसर्जित करते हैं पर क्या वायुकाय भी अन्य जीव युक्त पुद्गलों का ग्रहण विसर्जन करते हैं, पर "भी" शब्द का प्रयोग नहीं होने से यह स्पष्ट फलित होता है कि सभी जीव श्वासोच्छ्वास वर्गणा के पुद्गलों का श्वासोच्छ्वास रूप में ग्रहण करते हैं। क्योंकि जीव रूप में शरीर धारी जितने भी प्राणी हैं उन प्राणियों के औदारिक आदि जो शरीर हैं उन शरीर धारी चैतन्य पुद्गलों का श्वासोच्छ्वास के रूप में ग्रहण करने का प्रसंग होता तो श्वासोच्छ्वास वर्गणा का स्वतन्त्र उल्लेख नहीं होता। परन्तु श्वासोच्छ्वास वर्गणा स्वतन्त्र है तथा उसके ग्रहण विसर्जन के लिये श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति है। और वह पर्याप्ति आहार पर्याप्ति शरीर इन्द्रिय पर्याप्ति के बाद आती है। अतएव इन पूर्व की पर्याप्तियों की अपेक्षा श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति के पुद्गल सूक्ष्म हैं और सूक्ष्म पुद्गल पूर्व के स्थूल पुद्गलों के ग्रहण में एकाएक योग्य नहीं बनता। अतएव श्वासोच्छ्वास वर्गणा ग्रहण करने योग्य पुद्गलों [मैटर] होगा वह शरीर आदि वर्गणाओं से भिन्न सूक्ष्म वर्गणाओं वाला होगा। और जीवधारी प्राणी एकेन्द्रिय भी औदारिक शरीर युक्त है। अतएव औदारिकादि वर्गणा तक पुद्गल श्वासोच्छ्वास वर्गणा के योग्य सीधे नहीं बनते। क्योंकि श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति के ग्रहण योग्य पुद्गल अतिसूक्ष्म होते हैं। टीकाकार ने भी वायुकाय के श्वास सम्बन्धी प्रश्न के उत्तर का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि— "उच्छ्वासादि पुद्गलानां" यहां भी उच्छ्वासादि पुद्गल बतलाए हैं। आगे भी टीकाकार ने लिखा है "अचेतनत्वात् तस्य" अर्थात् श्वासोच्छ्वास से ग्रहण तथा विसर्जन किये जाने वाले पुद्गल अचेतन हैं। दूसरी बात यह है कि "अथ उच्छ्वासवायु सवायुत्वेपि न वायुसंभाव्योदारिकवैक्रिय शरीर रूपः अर्थात् यह उच्छ्वास वायु, वायु होते हुए भी वायुकायिक जीव रूप नहीं है क्योंकि औदारिक वैक्रिय शरीर रूप वायु "तदीय पुद्गलानां आन प्राण संज्ञितानां औदारिक वैक्रिय शरीर पुद्गलेभ्यो अनन्त गुण प्रदेशत्वेन सूक्ष्मत्वेनच्छरीर व्यपदेशत्वात् अर्थात् औदारिक, वैक्रिय शरीरधारी शरीर वर्गणा के पुद्गल से श्वासोच्छ्वास वर्गणा के पुद्गल अनन्त गुण प्रदेश वाले होने से सूक्ष्म है। इससे भी यह स्पष्ट हो जाता है कि श्वासोच्छ्वास में ग्रहण विसर्जन करने योग्य पुद्गल श्वासोच्छ्वास वर्गणा के निर्जीव पुद्गल है। हां, यदि जीव श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति के माध्यम से श्वासोच्छ्वास ग्रहण न कर मुंह आदि से श्वासोच्छ्वास ग्रहण करता है तो उसमें सशरीर वायुकायिक जीव भी मुंह आदि में प्रवेश पाकर समाप्त हो सकते हैं इसीलिये तीर्थंकर देवों ने खुले मुंह बोलने पर सावद्य भाषा कही है क्योंकि मुंह से जो श्वास छूटता है वह अधिक मात्रा में होने से तथा भीतर की अधिक गर्मी की मात्रा के कारण होने से बाहर जो रहने वाले वायुकायिक जीव हैं, उनके लिये शस्त्र बन जाते हैं। जैसे मुंह से दहन करने पर वायुकायिक जीव नष्ट होते हैं। वैसे ही मुंह से हवा छोड़ने पर भी वायुकायिक जीव नष्ट

होते हैं। श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति की पद्धति से श्वास ग्रहण करने पर श्वासोच्छ्वास वर्गणा के निर्जीव पुद्गल ग्रहण करने में आते हैं अतएव शरीर इन्द्रिय धारी जीवों की क्षति का प्रसंग नही आता तथा निर्जीव पुद्गलों का ही श्ववासोच्छ्वास के रूप मे ग्रहण विसर्जन का प्रसंग आता है। वायुकायिक जीव के लिये जो वायुकायिक निर्जीव पुद्गलों का श्वासोच्छ्वास के रूप में ग्रहण विसर्जन का वर्णन मूल पाठ मे आता है, उसका यह तात्पर्य समझना चाहिये कि यदि वायुकायिक जीव के मुक्त (छोड़े हुए) पुद्गल हो तो वे पुद्गल उसी रूप में वायुकायिक जीव के लिये ग्राह्य नही हो जाते है। क्योंकि वायुकायिक जीव द्वारा छोड़े गए पुद्गल औदारिक वैक्रिय तंजस शरीर से सबधित होते हैं। ये पुद्गल श्वासोच्छ्वास वर्गणा की अपेक्षा अल्प और स्थूल होने से उसी रूप मे वायुकायिक जीव के लिये ग्राह्य नहीं होते, किन्तु जब उनमें अनन्तगुण प्रदेश वाले स्कन्धों का मिश्रण होता है अर्थात् तंजस शरीर के ग्रहण योग्य वर्गणा के बाद भाषा शरीर के ग्रहण योग्य वर्गणा बनती है। उसके बाद अनन्तगुण पुद्गल स्कन्ध मिलने पर श्वासोच्छ्वास के ग्रहण योग्य वर्गणा बनती है। अतः मूल पाठ मे जो वायुकायिक जीव के लिये वायु का श्वासोच्छ्वास रूप में ग्रहण विसर्जन का कहा है, वह वायुकायिक जीव द्वारा छोड़े गए पुद्गलों मे उपर्युक्त प्रकार से पुद्गलों के मिलने पर वे पुद्गल वायुकायिक जीव के लिये श्वासोच्छ्वास के रूप में ग्रहण-विसर्जन के योग्य बनते है।

त्थानिका—

अचरम शरीरी मृतादो अनगार—

पूर्व सूत्र में वायुकाय की मुख्यता के साथ अन्य स्थावरकायिक जीवों का वर्णन किया था। न स्थावरकायिक जीवों के रक्षक अनगार होते हैं। किन्तु जो अनगार इनकी रक्षा में उपेक्षित हो ाते हैं। ऐसे मृतादो अनगार का विवेचन प्रस्तुत सूत्र में दिया जा रहा है। :—

११॥ [1]मडाई णं भंते ! नियंठे नो रुद्धभवे, नो [2]निरुद्धभवपवंचे, णो हीणसंसारे [3]णो [4]पहीणसंसारवेयणिज्जे गो वोच्छिण्णसंसारे, [6]णो [7]वोच्छिण्ण-सारवेयणिज्जे, [8]नो निट्ठियट्ठे नो

(११) भगवन् ! मृतादी अनगार जो निरुद्ध—जिसने भव-संसार का निरोध नहीं किया, न ही भव-प्रपञ्च का निरोध किया है। जिसका संसार क्षीण नहीं हुआ, जिसका संसार वेदनीय कर्म क्षीण नहीं हुआ है। जिसका संसार व्युच्छिन्न नहीं हुआ है, जिसका संसार-वेदनीय कर्म

[1]. मडाई - ता० । मडायी णं - लों० । मयायी णं - जं० "मडाइ-मृतादी-प्रासुकभोजी उपलक्षणत्वादेषणीयादी चेति सद्" इति - अवृ० । "मृतक-याचितम् अस्ति इति मृतादी । द्वे याचितायाचितयो. यथासंख्यं मृतामृते' - अमरकोश और वा० वैश्यव० श्लो ३ । "मृतं तु याचितम्" - अभिधान चिंता० मर्त्यकांड श्लो० ८६६ ॥ २ निरुद्धे - ब० ॥ [4]-[6]. नो - न० वे० म० । ३. णो पहीण० - जं० ॥ ४-७. वेदणिज्जे - वे० म० ॥ ८. णो - अमो० ॥ ९, इट्ठं -

निट्ठियट्ठकरणिज्जे पुणरवि [9]इत्यत्तं [10]हव्वमागच्छति !

हंता, गोयमा ! मडाई णं नियंठे [11]जाव[A] पुणरवि [12]इत्यत्तं [13]हव्वमागच्छति ।

॥ १२ ॥ से णं भंते ! [14]किं वत्तव्वं सिया ?

गोयमा ! पाणे त्ति वत्तव्वं सिया, [15]भूते त्ति वत्तव्वं सिया जीवे त्ति वत्तव्वं सिया, सत्ते त्ति [16]वत्तव्वं, [17]विन्नू त्ति वत्तव्वं सिया, [18]वेदेत्ति वत्तव्वं सिया ? पाणे, भूए, जीवे, सत्ते, विन्नू, विए त्ति वत्तव्वं सिया ।

॥१३॥ से केणट्ठेणं [1]भंते ! पाणे त्ति वत्तव्वं सिया [A]जाव [2]वेदे ति वत्तव्वं सिया ?

[3]गोयमा ! जम्हा [4]आणमइ वा, पाणमइ वा, उस्ससइ वा, नीससइ

व्युच्छिन्न नहीं हुआ हैं। जो निष्ठितार्थ (निष्ठ प्रयोजन कृतार्थ) नहीं हुआ है जिसका निष्ठित कार्यसिद्ध नहीं हुआ हैं। वह क्या पुनः पुनः संसार में आता है ?

हां गौतम ! मृतादी अनगार यावत् पुनः मनुष्यादि भवों को प्राप्त करता है।

(१२) भगवन् ! उस प्रकार के निर्ग्रन्थ को किस शब्द से कहना चाहिए ?

गौतम ! कदाचित् प्राण कहना चाहिए। कदाचित् भूत कहना चाहिए। कदाचित् जीव कहना चाहिए। कदाचित् सत्व कहना चाहिए। कदाचित् विज्ञ कहना चाहिए। कदाचित् वेद कहना चाहिए ? कदाचित् प्राण, भूत, जीव, सत्व विज्ञ और वेद कहना चाहिए।

(13) भगवन् ! किस कारण कदाचित् प्राण कहना चाहिए; यावत् कदाचित् वेद कहना चाहिए ?

गौतम ! वह निर्ग्रन्थ जीव जब आन-प्राण और श्वासोच्छवास लेता है तब उसे प्राण कहना चाहिए। वह निर्ग्रन्थ भूत में था, वर्तमान में है, भविष्य में रहेगा, इसलिए उसे भूत

अमो० । इत्यत्तं - न० । इत्तत्थ क; पुनोइत्थयं एनमयंम् इति व्याख्यातमति तेन तथापि इत्तत्थमपि पाठः संभाव्यते ॥ १०. °गच्छइ - अमो० न० ॥ ११. प्र०—जावपूर्ति-नो निरुद्ध ... ...करणिज्जे पुणरवि - न० ॥ १२. इत्तत्थं अमो० । इत्तत्थं - वे० म० ॥ १३. °गच्छइ - अमो० न० वे० म० ॥ १४. कि ति वत्तव्वं - न० वे० म० । १५. भूए ति - न० ॥ १६. वत्तव्वं सिया - अमो० वे० म० ॥ १७. विनुत्ति - पु० । विन्नुएति - अमो० । विन्नु त्ति - न० । विन्नुय (व) विन्नुत्ति - वे० म० ॥ १८. वेदाति - क० ता० ब० मं० म० वे० ॥

A. नो निरुद्ध भवे नो निरुद्धभवपवंचे नो पहीणसंसारे नो पहीणसंसारवेयणिज्जे नो वोच्छिन्नसंसारे नो वोच्छिन्नसंसारवेयणिज्जे नो निट्ठियट्ठे नो निट्ठियट्ठकरणिज्जे ॥

१. भंते पत्थि - अमो० न० लो० ॥ २. वेदा ति - वे० म० ॥ ३. गोयमा - पत्थि अमो० ॥ ४. आनमंति पानमंति

A भग. २/१२

वा, तम्हा पाणे त्ति वत्तव्वं सिया। जम्हा [5]भूते, [6]भवति [7]भविस्सति [8]य तम्हा भूए त्ति वत्तव्वं सिया। जम्हा जीवे [9]जीवइ जीवत्तं आउयं च कम्मं [10]उवजीवइ तम्हा जीवे त्ति वत्तव्वं सिया, [11]जम्हा सत्ते [12]सुहासुहेहिं कम्मेहिं तम्हा [13]सत्ते [14]त्ति वत्तव्वं सिया। जम्हा तित्त [15]कडुय-[16]कसाय-अंबिले [17]महुरे रसे जाणइ तम्हा [18]विन्नू त्ति वत्तव्वं [19]सिया। जम्हा [20]वेदेइ य सुह-दुक्खं तम्हा [21]वेदे ति वत्तव्वं सिया। से तेणट्ठेणं [C]जाव[22]पाणे त्ति वत्तव्वं सिया [B]जाव वेदे [23]त्ति वत्तव्वं सिया।

कहना चाहिए। वह जीता है, जीवत्व और आयुष्य कर्म का अनुभव करता है, इसलिए उसे जीव कहना चाहिए। वह शुभाशुभ कर्मों से सम्बन्धित है, इसलिए उसे सत्व कहना चाहिए। वह तिक्त, कटु, कसैला, खट्टा-मीठा आदि रस को जानता है, अतः उसे "विज्ञ" कहना चाहिए। सुख-दुक्ख का वेदन करता है इसलिए उसे वेद कहना चाहिए। इसलिये (गौतम पूर्वोक्त मृतादी अनगार) को प्राण यावत् वेद कहना चाहिए।

विवेचन :—

गत सूत्र में वायु-काय की पुनः पुनः उत्पत्ति होना बतलाया गया है। क्या इसी प्रकार मनुष्य की भी मनुष्य भव में पुनः पुनः उत्पत्ति होती है? मनुष्य में भी साधु की पुनः पुनः उसी में उत्पत्ति होती है? यदि होती है तो क्यों होती है? किस कारण होती है? इसकी विस्तृत विवेचना मिलती है। परन्तु यहाँ मृतादि अनगार को लेकर कुछ बतलाया गया है।

पस्समंति नीससति - पु० । आणमंति वा पा० व० ऊ० वा० निस्स० वा - अमो० ॥ ५. भूए - अमो० ॥ ६. भवइ - अमो० ॥ ७. भविस्सइ - अमो ॥ ८. य - नत्थि अमो० ॥ ९. जीवति - न० । जीवेति - व० ॥ १०. उवजीवति - न० । उवजीवेइ - व० ॥ ११. जम्हा सुभासुभेहिं कामेहिं तम्हा - ला० ॥ १२. सुभासुभेहिं - म० बे० म० ॥ १३ सत्तेति वत्त० - अमो० ॥ १४. त्ति - नत्थि पु० म० न० ॥ १५. कडु - अमो० । कडुयकसायंबिल - म० ॥ १६. कसायंबिल - बे० म० ॥ १७. °महुररसे - ला० मं० ॥ १८. विन्नुत्ति - पु० । विन्नुतत्ति - अमो० । विन्नु - न० । विन्नु त्ति - बे० म० । विन्न त्ति - ला० ॥ १९. सिया वेदेइ - पु० अमो० । सिया वेदेति य - ला० विना ॥ २०. वेदेति - न० ॥ २१-२३. वेदाति - बे० म० ॥ २२. जाव - नत्थि न० ॥

B पन्न. २/१२ C भग. २/१२

A, B, C. भूतेति वत्तव्वं सिया जीवेति वत्तव्वं सिया सत्तेति वत्तव्वं विन्नूति वत्तव्वं सिया ॥

मडाई-अनगार का पुनः-पुनः मनुष्यादि भवों में आना बतलाया गया है। मडाई निर्ग्रन्थ के तात्पर्य—"मृतादी-प्रासुक भोजी उपलक्षणत्वाद् एषणीयादि चेति इत्यं निर्ग्रन्थः साधुरित्यर्थः।" मृत वस्तुएँ अर्थात्—अचित्त वस्तुओं को काम में लेने वाले मृतादी-अनगार निम्न विशेषणों से युक्त होते हैं, तो वे अनगार होते हुए भी चार गति रूप संसार को पुनः प्राप्त करते हैं।

शास्त्रकारों ने चतुर्गति संसार में आने वाले मृतादी-अनगार के निम्न विशेषण लगाये हैं—"नो निरुद्धभवे-अनिरुद्धाग्रेतनजन्मा चरमभवाप्राप्तः"—जिसने अपने जन्म को नहीं रोका है, चरम भव को अप्राप्त है, ऐसा नो निरुद्ध भवी लेना चाहिये।

इससे यह तात्पर्य नहीं है कि दो-तीन भव में ही उसकी मुक्ति हो जायगी। इसलिये अगला विशेषण दिया है—"नो निरुद्धभवप्रवंचे"—जिसने चतुर्गति रूप भव-प्रपंच का अवरोध नहीं किया है। अतः यहाँ पर दो भवों में मुक्ति में जाने वाला श्रमण-निर्ग्रन्थ विवक्षित नहीं है। "णो पहीणसंसारे"—जिसका चतुर्गति संसार में परिभ्रमण करना प्रहीण (क्षीण) नहीं हुआ है। "नो पहीणसंसारवेयणिज्जे"—जिसका संसार व्यवच्छिन्न नहीं हुआ है। अभी चारों गतियों में अनेक बार परिभ्रमण करना अवशेष है। "नो वोच्छिन्नसंसारवेयणिज्जे"—अनेक बार चतुर्गति संसार में परिभ्रमण करने वाला कर्म अभी टूटा नहीं है। "नो निट्ठियट्ठे"—जिससे उनका मोक्षरूप प्रयोजन पूर्ण नहीं हुआ है। "नो निट्ठियट्ठकरणिज्जे"—निष्ठितार्थ कार्य की तरह जिसके कार्य पूर्ण नहीं हुए हैं।

प्रासुक-एषणीय आहार लाने वाले होते हुए भी उपर्युक्त विशेषणों से युक्त होने के कारण मृतादी-अनगार चतुर्गति संसार में अनेक बार परिभ्रमण करते हैं।

मूल में जो पहीण संसारे' आदि विशेषण आए हैं, वे विशेषण भी भव से संबंधित हैं। क्योंकि जिनके अभी भव अवशेष है, वह पहीणसंसारी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि भव भी संसार ही है। पहीण-संसार तभी कहलाएगा, जबकि वह मोक्ष में चला जाएगा। 'णो पहीण संसारे' आदि विशेषणों से यह तात्पर्य नहीं निकालना कि मृतादी अनगार का संसार परित्त हुआ ही नहीं। क्योंकि संसार परित्त तो सम्यक् दृष्टि भाव आते ही हो जाता है। तदनन्तर ही आगे की प्रक्रिया बनने के साथ ही निर्ग्रन्थ की स्थिति बनती है। अतएव जो निर्ग्रन्थ है, वह परित्त-संसारी तो होता ही है। परन्तु 'भव संसार' जब तक वह मोक्ष में नहीं जाता है, तब तक विद्यमान रहता है।

इस प्रकार संसार में परिभ्रमण करने वाला मृतादी-अनगार भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से भिन्न-भिन्न शब्दों द्वारा कहा जाता है।

जब आन-प्राण, श्वासोच्छ्वास की विवक्षा करनी हो तो प्राण शब्द से कहा जाता है।

जब त्रिकाल की (शाश्वत) अवस्था बतलानी हो, तब भूत शब्द से कहा जाता है।

(१) टिप्पण—मृतं प्रासुकं अति इति मृतादी है मानिताचित्तपो. यथासंयमगुणाभूत। अमरकोश द्वितीय का०

वर्तमान देह में विद्यमान पूर्वबद्ध आयुष्य कर्म का अनुभव करने वाले जीव की उस रूप में विवक्षा करनी हो तो जीव शब्द से कहा जाता है।

शुभाशुभ कर्मों से संबद्ध होने की विवक्षा 'सत्व' शब्द से की जाती है।

पांचों रसों की अनुभूति की विवक्षा 'विज्ञ' शब्द से की जाती है।

सुख: दुःख के वेदन की विवक्षा 'वेद' शब्द से की जाती है।

इस प्रकार अलग-अलग अवस्था की अलग-अलग शब्द से विवक्षा की जाती है। किन्तु सभी अवस्थाओं की एक साथ विवक्षा करनी हो तो प्राण, भूत, जीव, सत्व, विज्ञ और वेद शब्दों से की जाती है।

मृतादी अनगार प्रासुक एषणीय आहार ग्रहण करता हुआ भी उसी भव में मोक्ष नहीं जाता है। उनकी आत्मा के लिये मनुष्य-तिर्यंच आदि कई भव अवशेष रहे हुए हैं। अतएव उसे निरुद्ध भव आदि नहीं कहा। गौतम स्वामी का प्रश्न भव निरुद्ध से ही प्रारम्भ हुआ न कि संसार निरुद्ध से। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि उसका संसार तो निरुद्ध हो चुका है किन्तु भव अवशेष रहे हुए हैं। इससे मृतादी अनगार को उस अवस्था में सम्यक् दृष्टि कहा जा सकता है, मिथ्या दृष्टि नहीं। क्योंकि वह मृतादी अनगार के भव में प्रासुक एवं एषणीय आहार को काम में लेने वाला है, इसलिये वह साधुत्व स्थिति का भी यथाशक्ति पालन करता है। परंतु नो भव निरुद्ध एवं अचरम शरीरी होने से उसके चारित्र पालन की आराधना भवादि का अन्त करने वाली नहीं होती। उसके अभाव में मृतादी अनगार के लिये भवादि का अन्त करने वाली चरित्र आराधना का प्रसंग प्रायः नहीं बनता है। क्योंकि गौतम स्वामी का प्रश्न उसी मडाइ अनगार को लेकर मनुष्यादि गति में जाने का हुआ है। यदि मडाइ अनगार उस मडाइ संज्ञक आचरण से साधु जीवन की आराधना करने वाला होता तो मनुष्य भव में जाने की पृच्छा नहीं होती। पर मनुष्यादि भवों की पृच्छा की गई है।[1] इससे यह बात भी फलित होती है कि वह साधु व्रत की सम्यक् आराधना भले ही पूरी न कर पाए पर उसमें सम्यक् दृष्टि भाव की अवस्था तो रहती ही है।। ऐसी अवस्था में भी उसका मनुष्य तथा अन्यान्य गतियों में परिभ्रमण बतलाया है। इससे यह भी फलित होता है कि सम्यक् दृष्टि आत्मा के वैमानिक से अतिरिक्त आयुष्य के बंध का प्रसंग भी बन सकता है।[2]

---

१ जब कषायों का तीव्र उदय आ जाता है तब साधक चारित्र से पतित हो जाता है। चारित्र से पतित साधु संसार की भव परम्परा को नहीं रोक पाने के कारण चतुर्गति में भटकता रहता है। जैसा कि टीकाकार ने कहा है कि—"कषायोदयात् प्रतिपतितचरणानां संसार सागर परिभ्रमणं" कषायोदय से प्रतिपतित चरण वाला संसार सागर में परिभ्रमण करता है।

२. मृतादी अनगार को चारित्र से प्रतिपतित कहा है सम्यक्त्व से नहीं। ऐसे मृतादी अनगार को सम्यक्त्व में रहते हुए भी किसी भी गति के आयुष्य बंधन के लिये शास्त्रकारों ने कहा है। उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि सम्यक्त्वावस्था में रहता हुआ भी जीव वैमानिक से अतिरिक्त अन्य गति का आयुष्य बंध भी कर सकता है।

पर वह मृतादी अनगार संसार में परिभ्रमण नहीं कर सकता क्योंकि संसार का छेदन तो वह कर चुका है ; किन्तु भव छेदन अवशेष है ।

इस प्रकार की आत्मा पुनः अनादि संसार में पूर्व की तरह नहीं भटकती जैसा कि टीकाकार ने भी लिखा है—"नो" नैवनिष्ठितार्थानामिव करणीयानि कृत्यानि यस्य स तथा यतः एवंविधो ऽतः पुनरपि अनादी संसारे पूर्व प्राप्तं इदानीं पुन-पुन विशुद्धचरणावाप्ते सकाशाद् असंभावनीयम्।"

अर्थात् मृतादी अनगार को निष्ठितार्थ की तरह जो कृत्य करने चाहिये वे कृत्य नहीं करने पर भी वह आत्मा पूर्व की तरह अनादि भव परिभ्रमण नहीं करती । वह शुद्ध चारित्र को प्राप्त कर चुका है, किन्तु उसे आराधना की सीमा तक नहीं ले जा सकती । इसलिये अनादि काल परिभ्रमण असंभव है। यहाँ इत्यत्तं पाठानुसार जो तिर्यंच नारकादि भव भ्रमण की स्थिति बतलाई है, वह भी अनादि-कालीन नहीं है । एक न एक दिन उसको भवान्तादि अवस्था होगी । वह उपयुक्त है । अतः प्रस्तुत प्रकरणगत मडाइ अनगार का अचरम शरीरी आत्मा के रूप में समझा जा सकता है ।

चरम शरीरी मृतादी अनगार—

|| १४ || [1]मडाई णं भंते ! नियंठे निरुद्धभवे [2]निरुद्धभवे-पवंचे [3]जाव[A] निट्ठियट्ठकरणिज्जे [4]णो पुणरवि [5]इत्यत्तं [6]हव्वमागच्छति ?

हंता गोयमा ! [7]मडाई णं नियंठे [8]जाव[B] [9]नो पुणरवि [10]इत्यत्तं [11]हव्व-मागच्छति ।

(14) भगवन् ! मृतादी अनगार जिसने भव संसार का निरोध किया है, भव संसार प्रपंच का निरोध किया है यावत् निष्ठितार्थ करणीय हो चुका है । क्या ऐसा जीव पुनः यहाँ शीघ्र नहीं आता है ?

हाँ गौतम ! मृतादी-अनगार यावत् पुनः मनुष्यादि भवों को प्राप्त नहीं करता है ।

|| १५ || से णं भंते ! [12]किं ति वत्तव्वं सिया ?

(15) ऐसे स्वरूप वाले निर्ग्रन्थ को किन-किन नामों से कहना चाहिए ?

---

१. मडाधी - खं० ॥ २. °भव पवंचे - पु० अमो० म० मु० बे० पा० ॥ ३. ज वर्णि A - म० ॥ ४. नो - मो ॥
५. इत्थत्तं - अमो० । इत्थत्थ - म० पा० । इत्यत्थं - बे० मु० ॥ ६. °हव्वठइ - अमो० म० । हव्वं आगच्छइ - पा० ॥
७. मडाती - खं० ॥ ८. जावर्णि B - म० ॥ ९. नो - नत्थि पा० । १०. इत्थत्थं - पा० मु० । इत्थं - बे० मु० ॥
११. °गच्छइ - अमो० म० । हव्वं आगच्छइ - पा० ॥ १२. कि वत्तव्वं - अमो० पा० ॥ १३. णाम [illegible]
A. पहीण संसारे पहीण संसारवेयणिज्जे वोच्छिण्ण संसारे वोच्छिण्ण संसार वेयणिज्जे निट्ठियट्ठे ।
B. निरुद्ध भवे निरुद्ध भव पवंचे पहीणसंसारे पहीण संसारवेयणिज्जे वोच्छिण्णसंसारे वोच्छिण्णसंसारवेयणिज्जे निट्ठियट्ठे ।

गोयमा ! सिद्धे त्ति वत्तव्वं सिया, बुद्धे त्ति वत्तव्वं सिया, मुत्ते त्ति वत्तव्वं सिया, [13]पारगए त्ति वत्तव्वं सिया, परंपरगए त्ति वत्तव्वं सिया, सिद्धे बुद्धे, मुत्ते, परिनिव्वुडे [14]अंतकडे [15]सव्वदुक्खप्पहीणे त्ति वत्तव्वं सिया।

सेवं [16]भंते ! सेवं भंते ! त्ति भगवं [17]गोयमे समणं भगवं महावीरं [18]वंदइ [19]नमंसइ, २ सजमेण तवसा अप्पाणं भावेमाणे [20]विहरति।

गौतम ! सिद्ध कहना चाहिए। कदाचित् बुद्ध कहना चाहिए। कदाचित् मुक्त कहना चाहिए। कदाचित् पारंगत (संसार के पार पहुंचा हुआ) कहना चाहिए। कदाचित् परंपरागत कहना चाहिए। कदाचित् सिद्ध, बुद्ध, मुक्त, परिनिवृत, अन्तकृत एवं सर्वदुःखप्रहीण कहना चाहिए।

भगवन् ! यह इसी प्रकार है। हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है—इस प्रकार कहते हुए भगवान गौतम श्रमण भगवान् महावीर को वन्दना करते है नमस्कार करते हैं। वन्दन नमस्कार करके संयम और तप से अपनी आत्मा को भावित करते हुए विचरण करने लगते हैं।

विवेचन :-

पूर्व सूत्र में जिस मृतादी-अनगार की व्याख्या की गई थी, उसमें जिन विशेषणों का प्रयोग किया गया, उनमें ठीक विपरीत विशेषणों वाला मृतादी-अनगार प्रस्तुत प्रकरण से सम्बन्धित है।

ऐसे मृतादी-अनगार ने भव-परम्परा को रोक दिया। जिसके कोई भव-प्रपंच अब शेष नहीं रहे हैं। जो प्रहीण संसारी हो चुका है आदि विशेषणों से सम्पन्न परिनिष्ठित कार्य वाला मृतादी-अनगार उसी भव में मोक्ष जाने वाला चरम शरीरी निर्ग्रन्थ है।

मृतादी-अनगार के माध्यम से साधुवेश में चलने वाले साधकों की साधना का सुन्दर रूप से भगवान ने विश्लेषण किया है। जब तक मानसिक जीवन का रूपान्तरण नहीं होगा, साधुता की पवित्र भावना उद्भूत नहीं होगी, भौतिकता के सुनहरे आकर्षण से हटकर विचार आध्यात्मिकता में प्रवेश नहीं करेंगे, तब तक साधुता का बाह्यरूप से उत्कृष्ट आचरण भी साधु को मुक्ति की दिशा में एक कदम भी आगे नहीं बढ़ा सकता।

व्यवहार से साधु दिखने वाले साधकों में साधुता की कितनी भावना अनुप्राणित हो रही है, इसका विश्लेषण तो कोई विशिष्ट ज्ञानी पुरुष ही कर सकता है। इसीलिये भगवान ने साधु संघ में प्रवेश हो जाने मात्र से ही किसी को मुक्ति नहीं बतलाई है। इसी का निर्देश मृतादी-अनगार का प्रकरण दे रहा है।

१४ अंतगडे - क० ॥ १५. °सव्वदुक्खप्पहीणे - धा० ॥ १६. भंते ! त्ति - अमो० । १७. गोयमो - गो० ॥ १८. वंदति नमंसति - न० ॥ १९. नमंसइ वंदित्ता नमंसइत्ता - अमो० न० धा० ॥ २०. विहरइ - अमो० धा० ॥

जो साधक मन-वचन-काया की त्रिपुटी के साथ संयमी जीवन में एकाकार होता हुआ साधना के कंटकाकीर्ण पथ पर दृढ़ता के साथ बढ़ता ही चला जाता है, वह साधक मुक्ति के चरम लक्ष्य को प्राप्त करता है। ऐसे साधक को अनेक विशेषणों से शास्त्रकार ने अलंकृत किया है। यथा सिद्ध, बुद्ध, मुक्त, पारगत, परम्परागत, परिनिर्वृत, अन्तकृत, सर्वदुःखप्रहीण आदि।

सिद्ध—जो अपने सकल कार्यों को सिद्ध (पूर्ण) कर चुका है—अर्थात् जिस लक्ष्य को लेकर उसने कार्य प्रारम्भ किया था, वह पूर्ण हो चुका है।

बुद्ध—जो घन घातिकआदि कर्मों के क्षय हो जाने से विमल केवलालोक से समस्त वस्तु-स्तोम का विज्ञाता हो चुका है।

मुक्त—जो ज्ञानावरणीयादि अष्ट कर्मों से मुक्त हो चुका है।

पारगत—जो संसार को पार कर चुका है। भविष्य में होने वाली मुक्ति निश्चित होने से उसे हो चुकी के रूप में कहा गया है।

परम्परागत—मनुष्य रूप सुगति या मिथ्यात्वादि गुणस्थानों की परम्परा के मार्ग से आगे बढ़ता हुआ जो भव-समुद्र को पार कर चुका है।

परिनिर्वृति—जो सभी प्रकार की पाप वासनाओं से समग्र रूप से निवृत्त हो चुका है।

अन्तकृत—जिसने सभी कर्मों का, भवों का अन्त कर दिया है।

सर्वदुःखप्रहीण—जिसने सभी दुःखों का नाश कर दिया है।

इस प्रकार भगवान के द्वारा शंका का समाधान होने पर गौतम स्वामी अपनी आत्मा को तप-संयम से भावित करते हुए विचरण करने लगते हैं।

पिंगल निर्ग्रन्थ के प्रश्नों से निरुत्तर स्कन्दक परिव्राजक—

उत्थानिका—

पूर्व सूत्र में मृतादी-अनगार के विषय में विवेचना की गयी, जिसे श्रवण कर गौतम स्वामी तुष्ट होते हुए अपनी आत्मा को तप संयम से भावित करते हुए विचरने लगते हैं। भगवान महावीर अपने शिष्य समुदाय सहित जब वहां से विहार कर कृतंगला नामक नगरी में पधारे—वहां पर श्रावस्ती नगरी में स्थित स्कंदक परिव्राजक कैसे आता है? आदि का वर्णन प्रस्तुत सूत्र में किया गया है।

॥ १६ ॥ [1]तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं [2]महावीरे रायगिहाओ [3]नगराओ [4]गुणसिलाओ [5]चेइयाओ पडिनिक्खमइ, [6]पडिनिक्खमित्ता [7]बहिया जणवयविहारं विहरइ।

(16) उस काल, उस समय में श्रमण भगवान महावीर राजगृह नगर के गुणशील नामक उद्यान से निकलते हैं। निकल कर बाहर जनपद में विचरण करने लगते हैं।

॥ १७ ॥ तेणं कालेणं तेणं समएणं कयंगला [8]नामं [9]नगरी होत्था। [10]वण्णओ[A] तीसे णं कयंगलाए [11]नगरीए बहिया [12]उत्तरपुरच्छिमे [13]दिसीभाए छत्तपलासए [14]नामं [15]चेइए होत्था। [B]वण्णओ। तए णं समणे भगवं महावीरे [16]उप्पण्णनाण-दंसणधरे [17]जाव[C] समोसरणं परिसा [18]निगच्छति।

(17) उस काल उस समय में कृतंगला नामक नगरी थी। जिसका वर्णन (औपपातिक सूत्र के चम्पा नामक नगरी के समान जानना चाहिए। उस कृतंगला नगरी के बाहर उत्तर-पूर्व दिशाभाग में छत्रपलासक नामक उद्यान था। जिसका वर्णन (औपपातिक सूत्र में वर्णित पूर्णभद्र चैत्य के अनुसार जानना चाहिए) वहां पर एक बार उत्पन्न केवलज्ञान-केवलदर्शन के धारक श्रमण भगवान महावीर पधारे। यावत् समवसरण की रचना हुई, परिषद् निकली।

---

१. तेणं कालेणं तेणं समएणं - णत्थि अमो० न० वे० म०। तए णं समणे भगवं महावीरे - अमो० न० वे० म० ॥ २. महावीरे अन्नया कयाई पाडिहारियं पीढफलगसिज्जासंथारगं पच्चप्पिणइ २ रायगिहाओ - लो सं० ॥ ३. नयराओ - अमो० पा० ॥ ४. गुणसीलाओ - पा० ॥ ५. उज्जाणाओ - पु०। चेइआओ - पा० न० ॥ ६. °निक्खमइत्ता - अमो० ॥ ७. बहिया जाणवय - पा० ॥ ८. णामं - अमो० ॥ ९. नयरी - अमो० १०. °ओ। तेणं कालेणं ते २ समएणं - ला० ॥ ११. नयरीए - अमो० न० ॥ १२. °पुरत्थिमे - पा० न० वे० म० ॥ १३. दिसिभाए - पा० ॥ १४. णामं - अमो० पा० ॥ १५ उज्जाणे - पु० १६. उप्पन्नणाण - अमो०। उप्पन्ननाण° - पा० ॥ १७. जावपूर्ति-पाठ ……जाव समोसरणं - न० अवृ०। १८. निग्गच्छति - पु०। निग्गया - अमो० पा०। निग्गच्छइ - न० ॥

A. शतक १। उद्दे० १। सूत्र न० 4 (I) जावपूर्ति A

B. शतक १। उद्दे० १। सूत्र न० 4 (I) जावपूर्ति B

C. कयाइ विमे केवली जेणेव कयंगला नयरी जेणेव छत्तपलासए चेइए तेणेव उवागच्छइ अहापडिरूवं ओग्गहं ओगिण्हित्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ जाव (अ) समोसरणं।

(अ) औ० सू० १९-५१ ॥

सारक—वे वेदों के स्मारक थे अर्थात् विस्मृत ज्ञान का बोध कराने वाले थे।[1] अथवा वेदों के अध्यापन द्वारा प्रवर्तक थे।

वारक—दूसरों द्वारा उच्चरित अशुद्ध पाठादि को रोकने वाले होने से वारक थे।[2]

धारक—अधीत वेदों को धारण करने वाले होने से धारक थे।[3]

पारक—तत्संबंधी समस्त पदार्थ ज्ञान से संपन्न थे[5] तथा षड्अंगादि का विचार करने वाले थे।[4]

शिक्षा - अक्षरों के स्वरूप का बोध कराने वाले शास्त्र को शिक्षा कहते हैं।

कल्प—वेद विहित आचार-शास्त्र के निरूपक ग्रन्थ को कल्प कहते हैं।

व्याकरण—शब्दों का यथार्थ बोध कराने वाले शास्त्र को व्याकरण कहते हैं।

छन्द—कविता आदि को बनाने में सहायक नियमोपनियमों को छन्द कहते हैं।

निरुक्त—शब्दों की व्युत्पत्ति अभिव्यक्त करने वाले शास्त्र को निरुक्त कहते हैं।

ज्योतिष—निमित, ग्रह, नक्षत्र, आदि बतलाने वाले शास्त्र को ज्योतिष कहते हैं।

उपर्युक्त अनेक विशेषताओं से युक्त स्कंधक परिव्राजक कतंगला नगरी के पास श्रावस्ती नगरी में रहता था। उसी नगरी में विशाला का अपत्य पुत्र भगवान महावीर की देशना का रसिक वैशालिक श्रावक[1] पिंगल निर्ग्रन्थ भी रहता था। जो जीवाजीव तत्त्वों का विज्ञाता था। जिसका जिन-धर्म के प्रति अगाध श्रद्धा और विश्वास था। जिनेश्वरों द्वारा प्ररूपित तत्त्वज्ञान के समक्ष अन्य मत-मतान्तरों के प्रवर्तकों द्वारा प्ररूपित तत्त्वज्ञान को वह अपूर्ण मानता था।

इसी बात को विज्ञप्ति करवाने के लिये एक दिन वह वैशालिक श्रावक दृढ़ता के साथ निडर होकर स्कंधक नामक परिव्राजक के समक्ष पहुँचता है। उस पर आक्षेप करता हुआ, उनके समक्ष कुछ प्रश्न उपस्थित करता है। हे मागध! मगधदेश के निवासी स्कन्धक परिव्राजक! तुम्हें वेदों का रहस्यपूर्ण विज्ञान है। तब बतलाओ—

---

१. सारक - सारकोऽध्यापन द्वारेण प्रवर्तक स्मारको वाऽन्येषां विस्मृतस्य सूत्रादेः स्मरणात्।

२. वारक वारकोऽशुद्धपाठ निषेधात्।

३. धारक—अधीतानामेषां धारणात्।

४. पारग—पारगामी 'षडङ्गविदि' त्ति षडङ्गानि-शिक्षादीनि वक्ष्यमाणानि सांगोपांगानामिति बहुत्वं तद्भेदा- पेक्षमेतद्।

५. अथवा षडङ्गवित्थिवान तद्विचारकत्वं गृहीतं।

१. विशाला-महावीर जननी तस्या अपत्य इति वैशालिक-भगवांस्तस्य वचनं शृणोति तद्रसिकत्वादिति वैशालिक- श्रावकः।

(१) यह लोक सान्त-अन्त वाला है या अनन्त-अन्त रहित है ?

(२) जीव सान्त है या अनन्त ?

(३) सिद्धी सान्त है या अनन्त ?

(४) सिद्ध सान्त है या अनन्त ?

(५) किस मरण से मरता हुआ जीव संसार घटाता है और किस मरण से मरता हुआ जीव संसार बढ़ाता है ?

उपर्युक्त प्रकरण में पिंगल श्रावक के लिये शास्त्रकारों ने 'निर्ग्रन्थ' शब्द का प्रयोग किया है। यह बाह्य और आभ्यंतर ग्रन्थो से विमुक्त होकर आचरण रूप निर्ग्रन्थ से सम्बन्धित नहीं समझना चाहिये, परन्तु ऐसे निर्ग्रन्थ के प्रति श्रद्धा एवं उसी सुश्रद्धा पूर्वक जानकारी रखनेवाला होने से पिंगल श्रावक को निर्ग्रंथ विशेषण से संबोधित किया है। जैसा कि आवश्यक सूत्र में साधक के लिये ध्यान के विषय में प्रतिक्रमण करने के लिये बतलाया है कि —आर्तध्यान-रौद्रध्यान ध्याया हो धर्मध्यान-शुक्लध्यान न ध्याया हो तो 'तस्स मिच्छामि दुक्कडं'। इस बात को शास्त्रकार ने "चउव्विहे झाणे पण्णत्ते" के रूप में प्रतिपादित किया है। पर आज इस क्षेत्र के साधक मे वर्तमान में रौद्रध्यान, शुक्लध्यान की स्थिति प्रायः नहीं बनती है, फिर भी उसके लिए 'मिच्छामि दुक्कडं' कहा है जो कि श्रद्धा प्ररूपणा में विपरीतता आई हो उसके लिए समझा जाता है। हर विषय की स्थिति श्रद्धा, प्ररूपणा स्पर्शना के रूप में ली जाती है। यद्यपि पिंगल श्रावक में निर्ग्रन्थ रूप आचरण की स्थिति तो नहीं थी किन्तु श्रद्धा एवं प्ररूपणा की स्थिति से वह सम्पन्न था। अतः निर्ग्रन्थ विशेषण श्रद्धा प्ररूपणा की अपेक्षा से संभवित है। पिंगल श्रावक को "वैशालिक श्रावक पिंगल निर्ग्रन्थ" के शब्द से संबोधित किया है।

॥ २० ॥ **तए णं से खंदए [१]कच्चायण-सगोत्ते पिंगलएणं णियंठेणं [२]वेसाली-सावएणं इणमक्खेणं पुच्छिए समाणे संकिए कंखिए [३]वितिगिंछिए [४]भेद-समावन्ने [५]कलुसमावन्ने णो संचाएइ [६]पिंगलयस्स नियंठस्स [७]वेसालियसाव-**

(20) उस समय कात्यायन गोत्रीय स्कन्धक नामक परिव्राजक को, वैशालिक श्रावक-पिंगल निर्ग्रन्थ द्वारा इस प्रकार आक्षेपित प्रश्नों के पूछे जाने पर वह शंकायुक्त हुआ, कांक्षायुक्त हुआ, विचिकित्सित हुआ, भेद समापन्न हुआ, कलुष समापन्न हुआ, और वह, पिंगल निर्ग्रन्थ-वैशालिक श्रावक द्वारा पूछे गये प्रश्नों में से किसी प्रश्न का उत्तर

१. °च्चसगोत्ते - अमो० म० न० वे० ॥ २. वेसालिय सा° - न० पा० ॥ ३. विति गिछिए — वे० म० ॥ ४. °भेद-समावन्ने - अमो० ॥ ५. कलुसमावन्ने - पु० अमो० पा० न० ॥ ६. पिंगलस्स - लो० ॥ ७. °सालिया° - लो० ॥ °सालीया° - न० ॥

यस्स किंचि वि [८]पमोक्खमक्खाइउं, तुसिणीए संचिट्ठइ ।

॥ २१ ॥ तए णं से [९]पिंगले नियंठे [१०]वेसालीसावए खंदयं [११]कच्चायणस्सगोत्तं दोच्चं पि [१२]तच्चं पि इणमक्खेवं पुच्छे-मागहा ! किं सअंते लोए [A]जाव केण वा मरणेणं मरमाणे जीवे [१३]वड्ढइ वा [१४]हायति वा ? एतावं ताव आइक्खाहि वुच्चमाणे एवं ।

॥ २२ ॥ [१]तते णं [२]से खंदए [३]कच्चायणस्सगोत्ते पिंगलएणं नियंठेणं [४]वेसालीसावएणं दोच्चं पि तच्चं पि इणमक्खेवं पुच्छिए समाणे संकिए कंखिए [५]वितिगिच्छिए [६]भेदसमावण्णे [७]कलुससमावण्णे [८]नो [९]संचाएइ [१०]पिंगलयस्स नियंठस्स [११]वेसालिसावयस्स किंचि वि [१२]पमोक्खमक्खाउं [१३]तुसिणीए संचिट्ठइ ।

देने में समर्थ नहीं हुआ । तब वह चुप-मौन हो जाता है ।

(21) तब वैशालिक श्रावक पिंगल निर्ग्रन्थ ने कात्यायन गोत्रीय स्कंधक परिव्राजक को दो-तीन बार अपने प्रश्नों को पूछा कि हे मगध ! क्या लोक सान्त है या अनन्त ? यावत् किस मरण से मरता हुआ जीव संसार को बढ़ाता है । या घटाता है ? हे स्कंधक परिव्राजक ! मेरे द्वारा इस प्रकार से पूछे गये प्रश्नों का उत्तर दो ।

(22) इस प्रकार कात्यायन गोत्रीय स्कंधक के समक्ष वैशालिक श्रावक पिंगल निर्ग्रंथ, के द्वारा दो बार-तीन बार आक्षेपयुक्त, प्रश्नों के पूछे जाने पर शंकित, कांक्षित, विचिकित्सित, भेदसमापन्न और कलुष समापन्न हुआ । वह कुछ भी उत्तर देने में समर्थ नहीं हुआ । अर्थात् पिंगल निर्ग्रंथ वैशालिक श्रावक द्वारा पूछे गये प्रश्नों का स्कंधक परिव्राजक कुछ भी उत्तर न देकर चुप-चाप बैठ जाता है । (तब पिंगल निर्ग्रंथ वहां से चला जाता है ।

८. °मक्खाइओ - अमो० ॥ पामोक्खमक्खाइउं - पा० ॥ ९. पिंगलए - अमो० पा० न० बे० म० ॥ १०. वेसालिय° - न० ॥ ११. कच्चायणस गोत्तं - अमो० न० बे० म० ॥ १२. तच्चं पि - नास्ति अमो० ॥ पि इणमक्खेवं पुच्छेइ मागहे - पा० ॥ १३. वड्ढति वा - न० ॥ १४. हायइ वा - अमो० पा० ॥ १५. तुसिणीए - अमो० ॥
A. अणंते लोए ? २ सअंते - जीवे ? अणंते - जीवे ? सअंता सिद्धी ? अणंता सिद्धी ? ४. सअंते सिद्धे ? अणंते सिद्धे ?
सूत्र २२.
१. तए णं - अमो० पा० न० बे० म० ॥ २. से - अमो० ॥ ३. °यणस गोत्ते - अमो० न० बे० म० ॥ ४. वेसालियसा° - पा० न० ॥ ५. वितिगिच्छिए - अ० ॥ ६. °समावण्णे कलुससमावण्णे - न० । ०समावन्ने - पा० ॥ ७. कलुससमा° - अमो० पा० । °समावन्ने - बे० म० ॥ ८. णो - पा० न० ॥ ९. संचाएइ - अमो० । संचाति [illegible] ॥ १०. पिंगलगस्स - पा० न० ॥ ११. वेसालियसाव० - अमो० पा० न० ॥ १२. °मक्खाइओ अमो० । पमोक्खमक्खाइउं - पा० । ०मक्खाइउं - न० बे० म० । "प्रमुच्यते पर्यनुयोगबन्धनाद् अनेन इति प्रमोक्षम्-उत्तरम्" - वृ० ॥ १३. तुसिणीए - पा० ॥

विवेचन :–

वैशालिक श्रावक पिंगल निर्ग्रन्थ के द्वारा प्रश्नों के पूछे जाने पर स्कंधक परिव्राजक एकदम स्तंभित हो गये। प्रश्नों का समाधान पाने के लिए मस्तिष्क में अनेक तरह की विचार तरंगें उठने लगी किन्तु ऐसे प्रश्नों को स्कंधक परिव्राजक ने पहले कभी नहीं सुने थे। अतः वे उनका कोई समाधान नहीं खोज सके। तब वे शंकित, कांक्षित, विचिकित्सित, भेद समापन्न और कलुष समापन्न हुए।

वैशालिक श्रावक द्वारा दो तीन बार भी इस प्रकार पूछे जाने पर भी स्कंधक परिव्राजक किसी प्रकार का उत्तर नहीं दे पाने के कारण चुप मौन रह जाते हैं।

शंका—मन में अनेक तरह की शकाएं उठने लगी कि इस प्रश्न का उत्तर क्या है ?[१]

कांक्षा—इस प्रश्न का किस प्रकार उत्तर दूं। यदि इस प्रकार से उत्तर देता हूँ तदपि समुचित नहीं है यदि दूसरे प्रकार से उत्तर देता हूँ फिर भी समुचित नहीं है। तब इसका सत्य उत्तर क्या है ? ऐसी कांक्षा उत्पन्न हुई।[२]

विचिकित्सा—यदि मैं इन प्रश्नों का उत्तर इस प्रकार देता हूँ तो पिंगल-निर्ग्रन्थ-वैशालिक श्रावक को उस पर श्रद्धा होगी या नहीं ? इस प्रकार विचिकित्सित हुआ।[३]

भेदसमापन्नता—अब मैं क्या करूं ? इसका उत्तर कैसे दूं ? कुछ भी समझ में नहीं आ रहा है, इस प्रकार सोचता हुआ वह किंकर्त्तव्य विमूढ़ हो गया। मति किसी भी विषय पर स्थिर नहीं रह पाने के कारण भेद समापन्न हो गया।[४]

कलुषसमापन्नता—मुझे इन प्रश्नों का सत्य और निर्णयात्मक समाधान नहीं आता, ऐसी स्थिति में वह अपने आप में झुंझला गए, खिसिया गए। उसका मन कलुषित भाव से आपूरित हो गया।[५]

---

१ शंका—किमिदमिहोत्तरमिदं वा ? इतिसंजातशङ्कः।

२. कांक्षा—इदमिहोत्तरं साधु इदं च न साधु अतः कथं अत्रोत्तरं लप्स्ये ? इति उत्तरलाभाकाङ्क्षावान् कांक्षितः।

३ विचिकित्सा—अस्मिन्नुत्तरे दत्ते किमस्य प्रतीतिरुत्पत्स्यते न वा ? इत्येवं विचिकित्सितः।

४. भेदसमापन्नता—मतेर्भङ्ग-कि कर्तव्यताव्याकुलता लक्षणमापन्नः।

५ कलुषसमापन्नता—नाहं इह किञ्चिज्जानामि इति एवं स्वविषयं कालुष्यं समापन्नः।

सू. २३. स्कन्दक परिव्राजक का भ. महावीर की सेवा में जाने का संकल्प और प्रयाण—

॥ २३ ॥ तए णं सावत्थीए [1]नयरीए सिंघाडग [A]जाव[2] महापहेसु महया [3]जणसंमद्दे इ वा जणवूहे इ [4]वा [5]परिसा [6]निगच्छइ ।

तए णं तस्स खंदयस्स [7]कच्चायणस्सगोत्तस्स बहुजणस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा निसम्म [8]इमेयारूवे [9]अज्झत्थिए [10]चिंतिए [11]पत्थिए मणोगए [12]संकप्पे [13]समुप्पज्जित्था–[14]एवं खलु समणे भगवं महावीरे, कयंगलाए नयरीए बहिया छत्तपलासए [15]चेइए संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ । तं गच्छामि

(23) उस समय श्रावस्ती नगरी में तीन मार्ग, चार मार्ग यावत् महापथों में जन समूह एकत्रित हो गया और भगवान के पदार्पण की चर्चा करने लगा । परिषद् निकलती है वह जन समूह भगवान् के दर्शन करने के लिए जाने लगा।

तब कात्यायन गोत्रीय स्कंधक नामक परिव्राजक बहुत मनुष्यों के मुख से इस प्रकार सुनकर, हृदय में धारण कर तब उसे इस प्रकार आध्यात्मिक, चिन्तित, कल्पित, प्रार्थित मनोगत संकल्प उत्पन्न हुआ । श्रमण भगवान् महावीर स्वामी कृतंगला नगरी के बाहर छत्र पलाश नामक बगीचे में संयम और तप से आत्मा को भावित करते हुए विचरते हैं।

१. णयरीए महया जणसद्दे ति वा जणवूहे ति वा - जै॰ ला॰ ॥ २. जाव पहेसु - अमो॰ न॰ । जाव पहेसु महया - पा॰ ॥ ३. जणसद्दे इ वा - अमो॰ पा॰ । जणसम्मद्दे - बे॰ म॰ । जणसद्दे इ वा - अवृत्ति॰ ॥ ४. वा जिणबोल इ - अमो॰ । इवा जाव बोले "मज्झंमज्झेणं - न॰ । वा जाव परि॰ - पा॰ ॥ ५. परिसा पडिग - न॰ ॥ ६. निग्गच्छति - न॰ । निग्गच्छइ - बे॰ म॰ ॥ ७. ॰यणस गो॰ - अमो॰ न॰ बे॰ म॰ ॥ ८. इमेयारूवे - अमो॰ पा॰ ॥ ९. अज्झत्थिए - अमो॰ ॥ १०. ॰िए कप्पिए पत्थि॰ - पा ॥ ११. पत्थिए - अमो॰ ॥ १२. संकप्पे - पा॰ ॥ १३ समुप्पज्जित्थो - पा॰ ॥ १४. ॰एतत् चतुष्टयान्तर्गतः पाठो - जै॰ मो॰ ला॰ ॥ आदर्शेषु नास्ति नापि च - वृत्तौ व्याख्यातः ॥ १५. उज्जाणे - पु॰ ॥

A. जावपूर्ति —"अनंतरगमपदं इत्यत्र" इति निर्दिष्टं सुचायां पाठो निर्दिष्टः :—"जणबोले इ वा जणकलकले इ वा जणुम्मी इ वा जणुक्कलिया इ वा जणसन्निवाए इ वा बहुजणो अन्नमन्नस्स एवमाइक्खइ ४. एवं खलु देवाणुप्पिया! समणे ३ आइगरे जाव संपाविउकामे पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे गामाणुगामं दूइज्जमाणे कयंगलाए नयरीए छत्तपलासए चेइए अहापडिरूवं उग्गहं उग्गिण्हित्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ । तं महप्फलं खलु भो देवाणुप्पिया! तहारूवाणं अरहंताणं भगवंताणं नाम गोयस्स वि सवणयाए किमंग पुण अभिगमण वंदण नमंसण पडिपुच्छण पज्जुवासणयाए एगस्स वि आरियस्स धम्मियस्स सुवयणस्स सवणयाए ? किमंग पुण विउलस्स अट्ठस्स गहणयाए ? तं गच्छामो णं देवाणुप्पिया ! समणं भगवं महावीरं वंदामो नमंसामो सक्कारेमो सम्माणेमो कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासामो । एयं णे पेच्चभवे इहभवे य हियाए सुहाए खमाए निस्सेयसाए आणुगामियत्ताए भविस्सइ त्ति कट्टु बहवे उग्गा उग्गपुत्ता एवं भोगा राइण्णा खत्तिया माहणा भडा जोहा मल्लई लेच्छई अन्ने य बहवे राईसर-तलवर माडंबिय-कोडुंबिय-इब्भ-सेट्ठि-सेणावइ-सत्थवाहप्पभिइओ जाव उक्किट्ठसीहनाय बोल-कलकलरवेणं समुद्दरवभूयं पिव करेमाणा सावत्थीए नयरीए मज्झंमज्झेणं निग्गच्छंति" । अत्र समस्तस्य पाठस्य वृत्तौ विवरणमपि कृतम् ॥

णं समणं भगवं महावीरं वंदामि [1]नमंसामि, सेयं खलु मे समणं भगवं महावीरं वंदित्ता [2]णमंसित्ता [3]सक्कारेत्ता [4]सम्माणित्ता कल्लाणं मंगलं [5]देवयं [6]चेइयं [7]पज्जुवासित्ता इमाइं च णं एयारुवाइं अट्ठाइं हेऊइं पसिणाइं [8]कारणाइं पुच्छित्तए [9]त्ति कट्टु एवं [10]संपेहेइ [12]संपेहित्ता जेणेव [13]परिव्वायावसहे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता तिदंडं च [14]कुंडियं च कंचणियं च करोडियं च भिसियं च केसरियं च [15]छन्नालयं च अंकुसयं च [16]पवित्तियं य [17]गणेत्तियं च छत्तयं च [18]वाहणाओ य [19]पाउयाओ य [20]धाउरत्ताओ य गेण्हइ, गेण्हइत्ता [21]परिव्वायवसहीओ [22] [23]पडिनिक्खमइ, [24]पडिनिक्खमित्ता [25]तिदंड-[26]कुंडिय-कंचणिय-[27]करोडिय-

इसलिए मैं उनके पास जाऊं और उन्हें वंदन नमस्कार करूं। मेरे लिए यही श्रेयस्कर है कि श्रमण भगवान् महावीर स्वामी को वन्दन-नमस्कार कर, सत्कार-सन्मान कर, कल्याण रूप, मंगलरूप, देवरूप, चैत्यरूप भगवान् महावीर स्वामी की पर्युपासना करूं, पर्युपासना करके उनसे इस रूप में अर्थ हेतु, प्रश्न, व्याकरण पूछ-इस प्रकार सोचता है, सोच करके जिधर परिव्राजकों के रहने का स्थान (मठ) था, उधर आता है आकर के त्रिदंड, कुंडी, रुद्राक्ष-माला, करोटिका (मिट्टी का पात्र विशेष) भृशिका (आसन विशेष) आसन, केसरिका (बर्तन साफ करने का वस्त्र) त्रिकाष्टिका (त्रिगडी) अंकुशक, अंगूठी, गणेत्रिका (हाथ की कलाई पर बांधा जाने वाला आवरण विशेष) छत्रक, पगरखे, काष्ठ की खडाऊ (पादुका) गैरिक (धातु विशेष) आदि धातुओं से रंजित शाटिका को ग्रहण किया। ग्रहण करके परिव्राजक वस्ती से निकलता है, निकलकर त्रिदण्डी, कुण्डिका, कांचनिका, करो-

---

१. नमंसामि - णत्थि क० ता० व० ॥ २. नमसित्ता - अमो० धा० न० ॥ ३. सक्कारित्ता - धा० ॥ ४. सम्माणेत्ता - अमो० न० ॥ ५. देवतं - बे० म० ॥ ६. चेतियं - बे० म० । ०य सपज्जु० - लो० ॥ ७. पज्जुवासेत्ता - अमो० ॥ ८. कारणाइं - णत्थि अ० व० मं० । वागरणाइं - अमो० - कारणाइं वागरणाइं पुच्छि० - धा० न० बे० म० ॥ ९. त्ति कट्टो एवं - ला० । अस्या प्रतौ 'कट्टु' स्थाने 'कट्टो' इत्येव पाठः ॥ १०. संपेहेइ-२ जेणेव - पु० ॥ संपेहेत्ता - न० ॥ १३. परिव्वायगावसही - अमो० । परिव्वायगावसहे - धा० न० ॥ १४. कुंडियं च - णत्थि धा० ॥ १५. छण्णालियं च - अमो० । छण्णालयं - धा० न० । छण्णालयं - ला० । छन्नालयं च - ला० ॥ १६. पवित्तियं - क० ॥ १७. गणेत्तियं च - ला० ॥ १८. वाहणाउय - अमो० । उवाहणाओ - धा० । वाहणाओ - ला० ॥ १९. पाउयाउय - अमो० । पाउयाओ इति पदं नास्ति, प्रस्तुत प्रकरणे गि (टिप्पणे) चतोवाहनसंयुते द्रष्टव्यानि नन्दीनि - बं० पृ० ११७ ॥ २०. धाउरत्ताउ य अमो० ॥ २१. परिव्वायाव० - पु० न० बे० म० । ०वसाहमा० - अमो० । ०वसहाओ - धा० ॥ २२. ०वसहाओ - न० बे० म० ॥ २३. पडिनि० - अमो० ॥ २४. पडिनिक्ख० - अमो० ॥ २५. तिदंडं कुंडियं कंचणियं करोडियं भिसियकेसरिय० - ला० ॥ २६. कुंडियं कंचणियं - अमो० ॥ २७. करोडियं - अमो० ॥

भिसिय- केसरिय- [१]छन्नालय- अंकुसय- [२]पवित्त-गणेत्तियहत्थगए [३]छत्तोवाहण-संजुत्ते धाउरत्तवत्थपरिहिए सावत्थीए [४]नयरीए मंजझंमज्झेणं [५]निगच्छइ, [६]निगच्छाइत्ता [७]जेणेव [८]कयंगला [९]नगरी जेणेव [१०]छत्तपलासए [११]चेइए जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव [१२]पहारेत्थ गमणाए।

टिका, केसरिका, त्रिगडी, अंकुशक, पवित्र, गणेत्रिका इन सबको हाथ में रखकर छत्र को तानकर, पगरखे पहनकर वह स्कंधक परिव्राजक श्रावस्ती नगरी के मध्य में से निकला। निकलकर जिधर कृतंगला नगरी थी, जिधर छत्र पलाशक नामक उद्यान था और जहाँ पर श्रमण भगवान् महावीर स्वामी विराजमान थे, उस तरफ जाने लगा।

विवेचन :—

जब से स्कंधक परिव्राजक ने वैशालिक श्रावक पिंगल निर्ग्रन्थ से प्रश्नों को सुना था तभी से उनके मन मे प्रश्नों का समाधान पाने की तीव्र जिज्ञासा जागृत हो चुकी थी। वे किसी प्रकार से प्रश्नों का समाधान पाने की खोज में लगे हुए थे। इतने में ही उन्हें श्रावस्ती नगरी के मध्य मार्ग में से जाते हुए लोगों का कोलाहल सुनाई दिया। वे परस्पर वार्ता कर रहे थे—सर्वज्ञ-सर्वदर्शी समस्त वस्तुओं के ज्ञाता श्रमण भगवान् महावीर स्वामी का कृतंगला नगरी में पदार्पण हुआ है।

भगवान महावीर का कृतंगला नगरी में आगमन सुनकर स्कंधक परिव्राजक बहुत प्रसन्न होते हैं। उनके मन में भगवान के प्रति आदर भाव जागृत होता है। वे उन्हें कल्याणरूप, मंगलरूप, देवरूप समझने लगे। उनके मन में यह विश्वास हो गया कि भगवान महावीर स्वामी मेरे मन में उत्पन्न हुए प्रश्नों का सत्य-सचोट समाधान दे सकते हैं।

अतः मुझे भगवान् महावीर स्वामी की सेवा में पहुँचना चाहिये। इस प्रकार विचार करते हुए स्कंधक परिव्राजक, परिव्राजक योग्य वस्त्रों को धारण करते हैं। उन परिव्राजक योग्य वस्त्रों को धारण करके श्रावस्ती नगरी से कृतंगला नगरी की ओर प्रस्थान करते हैं। कृतंगला नगरी में जिधर छत्रपलाशक नामक उद्यान था, उसमें जिस स्थान पर लोकालोक प्रकाशक केवलज्ञान और केवलदर्शन के धारक श्रमण भगवान् महावीर स्वामी विराजमान थे, वहाँ पहुँचने के लिये प्रस्थान किया।

१. छन्नालय - अर्धा० । छन्नालक । पा० न० ॥ २. पवित्तिय अर्धा० न० । पविगंत - पा० दे० म० ॥ ३. छत्तो- वाण । - पा० न० ॥ ४. नयरीए - पु० दे० म० ॥ ५. निगच्छइ - अर्धा० न० म० ॥ ६. निग्गच्छित्ता - म० म० ॥ ७. जत्थेव - पा० ॥ ८. कयंगलाए नयरीए जेणेव - ला० ॥ ९. नगरी - ला० ॥ १०. छत्तपलासे - पु० ॥ ११. जेणेव उज्जाणे—ते णा पहारेत्य - ला० ॥ १२. पहारेत्थ - अर्धा० ॥

स्कंधक परिव्राजक के प्रस्थान करने के पश्चात् उधर श्रमण भगवान महावीर स्वामी गौतम स्वामी को क्या कहते हैं ? यह अगले पाठ में बतला रहे हैं।

गौतम स्वामी द्वारा स्कन्दक का स्वागत और वार्तालाप—

॥ २४ ॥ [१]गोयमा ! इ समणे भगवं महावीरे भगवं गोयमं एवं [२]वयासी-दच्छिसि णं गोयमा ! [३]पुव्वसंगतियं।

[४]कहं भंते ?

खदयं नाम।

से [५]काहे वा [६]किहं वा केवच्चिरेण वा ?

ं खलु गोयमा ! तेणं कालेणं [७]सम-एं सावत्थी [८]नामं [९]नगरी होत्था। वण्णओ[A]। तत्थ णं सावत्थीए [११]नग-ए गद्दभालस्स अंतेवासी खंदए [१२]णामं च्चायणस्सगोत्ते परिव्वायए परिवसइ, [१४]चेव [B]जाव जेणेव ममं [१५]अंतिए पहारेत्थ गमणाए। से [१७]य [१८]अदूरा-ते बहुसंपत्ते [१९]अद्धाणपडिवण्णे अंतरापहे ट्टइ। अज्जेव [२०]णं [२१]दच्छिसि गोयमा।

(24) जब स्कंधक परिव्राजक श्रावस्ती नगरी से निकल चुका, तब श्रमण भगवान महावीर स्वामी अपने ज्येष्ठ शिष्य गौतम स्वामी को इस प्रकार बोले—गौतम ! तुम अपने पूर्व संबंधी परिचित को आज देखोगे।

भगवन् ! मैं आज किसको देखूंगा ?

गौतम ! तू स्कंधक (नामक परिव्राजक) को देखेगा।

मैं उसको कहां पर, किस तरह और कैसे देखूंगा ? तब भगवान् ने फरमाया—

गौतम ! उस काल, उस समय में श्रावस्ती नामक नगरी थी। उसका वर्णन जानना चाहिए। उस श्रावस्ती नगरी में गर्दभाली नामक परिव्राजक का शिष्य कात्यायन गोत्रीय स्कंदक परिव्राजक रहता है। वह वहां से यावत् जहां मैं हूँ, यहां आने के लिए प्रस्थान कर चुका है। (भगवान महावीर ने पूर्व का सारा वृत्तान्त गौतम स्वामी को सुनाया) अब वह अपने इस स्थान से

---

१. गोयमा ! इ इ - पा० । गोयमादि - क० ला० मं० । "गोयमा इ' त्ति गौतम ! इति-एवम्-आमन्त्र ......अथवा (गौतम) अयि इति आमन्त्रणार्थमेव" अवृ० । "गौतमादि श्रमणो भगवान अर्थात् गौतमस्य आदि भूतः" इति मलय-गिरेः रायपसेणइयसूत्र वृत्तौ ॥ २. दच्छिहिसि - लो० । दच्छसि पा० । दच्छिहिसि णं - ला० ॥ ३. °संगइयं - अमो० पा० न० ॥ ४. कं सं कं भंते - अमो० । कं णं - पा० ॥ कं भंते - न० बे० म० । कंत भंते - अ० न० ॥ ५. काहं - पु० ॥ ६ किहया - न० बे० म० । ७ कहं वा - पा० ॥ समएणं - अमो० पा० न० ॥ ८. णामं - अमो० ॥ ९. णयरी - अमो० नयरी - पा ॥ १०. वन्नओ - पु० ॥ ११. नयरीए - पा० न० ॥ १२. नामं - पा० ॥ १३. ल्यायणसगोत्ते - अमो० न० बे० म० ॥ १४. नेव जेणेव मम - पा० ॥ १५ अंतिए गमणा ने० - ॥ १६. पहारिच्छ - अमो० । पाहारेत्य - लो० ॥ १७. से अद० - अमो० न० ॥ से णं - पा० ॥ १८ अदू-... - अमो० न० । अदूरियाते - च० । अदूरागते - लो० । अदूरागए - पा० ॥ १९. ...पडिवन्ने - पा० बे० ॥ २०. वं ...मि - लो० ॥ २१. दिच्छसि - अ० न० ॥ दच्छसि - पा० मं० ला० ॥

A. ... १ उद्दे० १ सूत्र ४ (1) जावपूर्ति A B. भग सू० सूत्र १९ से २३ तक

भंते ! त्ति भगवं गोयमे समणं भगवं [1]महावीरं वन्दइ नमंसइ, वन्दित्ता, नमंसित्ता एवं [2]वयासी–पहू णं भंते ! खंदए [3]कच्चायणस्सगोत्ते देवाणुप्पियाणं अन्तिए [4]मुण्डे [5]भवित्ता [6]अगाराओ अणगारियं पव्वइत्तए ? हंता, पभू ।

अधिक दूर पर नहीं है। बहुत समीप आ चुका है। बीच रास्ते में चल रहा है। गौतम ! तुम उसे आज ही देखोगे । हे भगवन् ! इस प्रकार कहते हुए भगवान् गौतम ने श्रमण भगवान् महावीर स्वामी को वन्दना की नमस्कार करके इस प्रकार बोले भगवान् ! यह स्कन्दक परिव्राजक आपके सान्निध्य में आगार से अनगार अवस्था में प्रव्रजित होने में समर्थ है ?

हाँ गौतम ! समर्थ है ।

॥ २५ ॥ जावं च णं समणे भगवं महावीरे भगवओ गोयमस्स एयमट्ठं परिकहेइ तावं [7]च णं [8]से खंदए [9]कच्चायणस्सगोत्ते तं देसं [10]हव्वमागते ।

(25) इसप्रकार जिस समय श्रमण भगवान् महावीर स्वामी गौतम को यह वृत्तान्त सुना रहे थे उसी समय कात्यायन गोत्रीय स्कन्दक परिव्राजक उस देश को शीघ्र प्राप्त हो गये अर्थात् भगवान् महावीर के समक्ष आ गए ।

विवेचन—

जिस समय स्कंदक परिव्राजक परिव्राजकीय वेश से युक्त हो, श्रावस्ती नगरी से कृतांगला नगरी की ओर प्रस्थान कर चुके थे, उसी समय श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने अपने प्रथम शिष्य गौतम स्वामी को सम्बोधित करते हुए फरमाया—हे गौतम ! आज तुम अपने पूर्व परिचित व्यक्ति से मिलोगे ।

भगवान् के मुख से इस प्रकार की बात सुनकर गौतमस्वामी को आश्चर्य मिश्रित हर्ष हुआ । अपने आश्चर्य को शान्त करने के लिये वे भगवान् से पूछ बैठे—भगवन् ! मैं उस व्यक्ति को कहाँ, कब और कैसे देखूंगा ?

भगवान ने फरमाया हे गौतम ! वैशालिक श्रावक पिंगल नामक निर्ग्रन्थ ने उनसे अनेक प्रश्न किये । उनका समाधान उन्हें नहीं आया । तब वे अनेक शंकादि, संकल्पों-विकल्पों से युक्त हो गए । किन्तु जब उसने श्रावस्ती के लोगों से मेरी कृतांगला नगरी में आने की बात सुनी तो वह प्रसन्न होता हुआ सभी परिव्राजकीय वेश को धारण कर मुझ से अपने प्रश्नों का समाधान पाने के लिये श्रावस्ती

१. महावीरे – प्रति पु० वै० म० ॥ २. वयासी – अमो – पा० ॥ ३. कच्चायणसगोत्ते – अमो० म० वै० म० [illegible] ४. मुण्डे भ० अमो० ॥ ५. भवित्ता णं – [illegible] ॥ ६. आगाराओ – [illegible] ७. च णं – वै० म० ॥ ८. से – प्रति अमो० । ९. कच्चायणसगोत्ते – अमो० म० वै० म० ॥ १०. हव्वमागए – [illegible] म० । हव्वं आगए – पा० ॥

में रवाना हो चुके हैं। शीघ्र ही वह यहां पहुँचने वाले हैं।

इस बात को सुनकर गौतम स्वामी ने एक जिज्ञासा उपस्थित की—हे भगवन् ! क्या वे स्कन्दक परिव्राजक आपके सान्निध्य में दीक्षा अंगीकार करेंगे ?

भगवान् ने फरमाया—हाँ गौतम—वह दीक्षा ग्रहण करेंगे, दीक्षा लेने में वे समर्थ हैं।

इस प्रकार भगवान् महावीर और गौतमस्वामी के बीच वार्तालाप हो ही रहा था, इतने में स्कन्दक नामक परिव्राजक छत्रपलाशक नामक बगीचे में प्रवेश कर चुका था तथा भगवान के समक्ष निरन्तर बढ़ रहा था।

स्कन्दक परिव्राजक को इस प्रकार आते देखकर गौतमस्वामी ने क्या किया ? इसका वर्णन अगले पाठ मे किया जा रहा है।

॥ २६ ॥ तए णं भगवं गोयमे खंदयं [1]कच्चायणस्सगोत्तं [2]अदूरआगयं [3]जाणित्ता खिप्पामेव [4]अब्भुट्ठेति खिप्पामेव [5]पच्चुवगच्छइ, २ जेणेव खंदए [6]कच्चायणस्सगोत्ते तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता खंदयं [7]कच्चायणस्सगोत्तं एवं वयासी—'हे खंदया ! सागयं खंदया ! [8]सुसागयं खंदया ! [9]अणुरागयं खंदया ! [10]सागयमणुरागयं खंदया ! से [11]नूणं तुमं खंदया ! सावत्थीए [12]नयरीए पिंगलएणं नियंठेणं [13]वेसालियसावएणं[14] इणमक्खेवं पुच्छिए 'मागहा ! [15]किं सअंते [16]लोगे [17]अणंते लोगे ?

(२०) [जिस समय भगवान महावीर और गौतम स्वामी का वार्तालाप हो रहा था] उसी समय कात्यायन गोत्रीय स्कन्दक परिव्राजक, न अति दूर न अति निकट योग्य स्थान पर आ गये थे, भगवान् गौतम स्वामी उन्हें इतने पास में आये हुए जानकर शीघ्र ही अपने आसन से उठते हैं। उठकर के शीघ्रता से स्कन्दक परिव्राजक के सामने जाते हैं। सामने जाकर जिधर कात्यायन गोत्रीय स्कंदक परिव्राजक था, उसके पास में जाते हैं, पास में आकर कात्यायन गोत्रीय स्कन्दक से इसप्रकार बोले—हे स्कन्दक ! स्वागत है : हे स्कन्दक तुम्हारा स्वागत है। हे स्कन्दक तुम्हारा सुस्वागत है, हे स्कन्दक तुम्हारा अन्वागत है। हे स्कन्दक तुम्हारा स्वागत अन्वागत

१. [illegible]गोत्तं - अमो० न० ढे० म० ॥ २. आगय - अमो० । अदूरागतं - न० । अदूरयागतं - ता० ॥ ३. जाणेत्ता - [illegible] ॥ अब्भुट्ठेइ अब्भुट्ठेइत्ता - अमो० । अब्भुट्ठेति अब्भुट्ठेत्ता - न० । अब्भुट्ठेइ अब्भुट्ठित्ता - ता० ॥ ५. पच्चु- [illegible] - अमो० अ० क० ता० मं० । पच्चुगच्छइ - व० ॥ ६. °यनगोत्ते - अमो० न० ढे० म० ॥ ७. °यनगोत्तं - [illegible] न० ढे० म० ॥ ८. °गी ! खदगा - पा० । ९. [illegible] ॥ १०. [illegible] - अमो० ॥ [illegible] - अमो० पा० ॥ १२. नयरीए - अमो० ॥ १३ वेसालिया - [illegible] ता० ॥ १४. [illegible] - पा० ॥ [illegible] लोगे एवं तं चेव - [illegible] ॥ १६. लोए - अमो० । लोहे - ता० ॥ १७. अनंते लोगे - [illegible] अमो० ॥

[1]एवं त चेव' ([2]जाव[A]) जेणेव इहं तेणेव हव्वमागए। से [3]नूणं खंदया! अट्ठे [4]समट्ठे ? हंता अत्थि।

तए णं से खंदए [5]कच्चायणस्सगोत्ते भगवं [6]गोयमं एवं वयासी—से [7]केणट्ठे णं गोयमा! [8]तहारूवे [9]नाणी वा तवस्सी वा जेणं तव एस अट्ठे मम [10]ताव रहस्सकडे हव्वमक्खाए, जओ णं तुमं जाणसि ?

तए [11]णं से भगवं गोयमे खन्दयं [12]कच्चायणस्सगोत्तं एवं वयासी—एवं खलु खन्दया! [13]मम धम्मायरिए धम्मोवएसए समणे भगवं महावीरे [14]उप्पण्णणाण[15]-दंसणधरे अरहा जिणे केवली तीय [16]पच्चुप्पन्नमणागयवियाणए[17] [18]सव्वन्नू सव्वदरिसी जेणं [19]ममं एस [20]अट्ठे तव ताव रहस्सकडे हव्वमक्खाए, जओ णं अहं जाणामि खंदया!

है। हे स्कन्दक! तुमसे श्रावस्ती नगरी में वैशालिक श्रावक पिंगल निर्ग्रन्थ ने इस प्रकार से प्रश्न पूछे थे। मागध! लोक सान्त है या अनन्त ? इत्यादि (पहले की तरह कहना चाहिए)। उनके प्रश्नों से निरुत्तर होकर उनके उत्तर पूछने के लिए यहाँ भगवान् के पास आये हो। हे स्कन्दक! कहो यह बात सत्य है या नहीं ? हां गौतम! यह बात सत्य है।

तब कात्यायन गोत्रीय स्कंदक परिव्राजक ने भगवान् गौतम को इस प्रकार कहा—गौतम! कौन तथारूप ज्ञानी या तपस्वी है, जिसने मेरे रहस्यकृत गुह्य-अर्थ को स्पष्ट रूप से [illegible] आपको कह दिया है। जिससे तुम इस बात [illegible] जानते हो ?

तब भगवान् गौतम ने कात्यायन गोत्रीय स्कंदक परिव्राजक को इस प्रकार कहा—स्कंदक! मेरे धर्माचार्य—धर्मोपदेशक श्रमण भगवान् महावीर उत्पन्न केवल ज्ञान दर्शन के धारक अर्हन्त,-जिन केवली हैं।

वे अतीत, अनागत, वर्तमान को [illegible] जानते हैं। सर्वज्ञ सर्वदर्शी हैं। उन्होंने तुम्हारे मन में रही हुई गुप्त बात मुझे शीघ्र कह दी [illegible]

1. एवं - [illegible] ॥ 2. [illegible] ॥ 3. नूणं - [illegible] ॥ 4. [illegible] ॥ 5. [illegible] ॥ 6. गोयमे - [illegible] ॥ 7. केणट्ठं - [illegible] ॥ 8. तहारूवे - [illegible] ॥ 9. [illegible] ॥ 10. ताव - [illegible] ॥ 11. णं भगवं - [illegible] ॥ 12. [illegible] ॥ 13. [illegible] ॥ 14. [illegible] ॥ 15. [illegible] ॥ 16. [illegible] ॥ 17. [illegible] ॥ 18. [illegible] ॥ 19. [illegible] ॥ 20. अट्ठे - [illegible] ॥

A. भग० सूत्र० ३१ से ३५ तक

तए णं से खन्दए [1]कच्चायणस्सगोत्ते भगवं गोयमं एवं वयासी-गच्छामो णं [2]गोयमा ! तव धम्मायरियं धम्मोवदेसयं समणं भगवं महावीरं वंदामो [3]णमंसमो [A]जाव पज्जुवासामो । अहासुहं देवाणुप्पिया ! [4]मा पडिबंधं !

तए णं से भगवं गोयमे खन्दएणं [5]कच्चायणस्सगोत्तेण सद्धिं जेणेव समणे भगवं महावीरे [6]तेणेव [7]पहारेत्थ [8]गमणयाए ।

हे स्कन्दक ! मैं तुम्हारी उस गुप्त बात को जानता हूँ ।

तत्पश्चात् कात्यायन गोत्रीय स्कंदक परिव्राजक ने भगवान् गौतम से इस प्रकार कहा—हे गौतम ! चलिये । मैं आपके धर्माचार्य धर्मोपदेशक, श्रमण भगवान महावीर को वंदन नमस्कार यावत् पर्युपासना करना चाहता हूँ । तब गौतम स्वामी ने कहा - हे देवानुप्रिय ! तुम्हें जैसा सुख हो वैसा करो । किन्तु शुभ कार्य मे विलम्ब मत करो । तब गौतम स्वामी ने कात्यायन गोत्रीय स्कंदक परिव्राजक के साथ जिधर श्रमण भगवान् महावीर स्वामी विराजमान थे, उधर जाने का संकल्प किया ।

विवेचन :—

सभी शंकाओं के समाधानकर्ता श्रमण भगवान महावीर स्वामी के सान्निध्य में वेद-वेदांग के प्रकांड विद्वान् स्कंदक परिव्राजक अपनी शंकाओं के समाधान करने के लिए उपस्थित हुए । घनघातिकर्मों का सर्वथा क्षय हो जाने से भगवान के ज्ञान में किसी भी प्रकार का आवरण अवशेष नहीं रह गया था । जिस प्रकार विशुद्ध पारदर्शी दर्पण में सभी वस्तुएं स्पष्ट रूप से दिखलाई देती है । निस्तरंग और निर्मल सरोवर में भी तलगत वस्तुएं स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है । इसी प्रकार भगवान् महावीर का ज्ञान इससे भी अधिक विशुद्ध होने से उसमें घनघातिककर्मों का आंशिक भी कश्मल नहीं रहा । परिणामस्वरूप वे अपने विशुद्ध ज्ञान में लोकगत सम्पूर्ण वस्तुओं को तथा भूत, भविष्यत्, वर्तमान के सारे व्यवहार को स्पष्ट रूप से जानने व देखने में समर्थ है । इसीलिए गौतम स्वामी को भगवान् महावीर ने स्कंदक परिव्राजक के आने से पूर्व ही उससे सम्बन्धित सारा वृत्त यथावत् बतला दिया था ।

स्कंदक परिव्राजक को जब गौतम स्वामी ने आते हुए देखा तो वे बड़े ही प्रसन्न भाव से खड़े हुए और स्कंदक परिव्राजक के सामने गये । उनके पास में पहुँचकर गौतमस्वामी ने कहा—हे स्कंदक ! तुम्हारा स्वागत है । सुस्वागत है । अन्वागत है । स्वागत-अन्वागत है ।

१. कच्चायणगोत्ते - अभो० न० वे० म० ॥ २. गोयमाइ - धा० ॥ ३. नमंसामो - अभो० धा० न० ॥ ४. मा एवं पडिबंधं - प० ॥ ५. कच्चायणगोत्तेणं - अभो० न० वे० म० ॥ ६. तेणाम - अभो० । तेणेव पहारेत्थ - [illegible] ॥ ७. पहारेत्थ गमणाए - अभो० ॥ ८. गमणाए - धा० न० ॥
A. 'सत्कारेमो सम्माणेमो कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं'

इस प्रकार कहते हुए गौतमस्वामी ने उनका सत्कार सम्मान किया। साथ ही उनके आने के कारण को भी स्पष्ट किया, जिसे श्रवणकर स्कंदक परिव्राजक को बड़ा आश्चर्य हुआ। वह सोचने लगा—मैंने अपने मनोगत भावों को किसी को नहीं बताया, नहीं मैंने यहाँ आने का कारण भी किसी को बतलाया। फिर गौतम इसको कैसे जान गए? आश्चर्ययुक्त होते हुए स्कंदक परिव्राजक ने कहा—गौतम! यहाँ पर कोई विशेष ज्ञानी अथवा तपस्वी है क्या? जो मेरे मनोगत भावों को जान गये हैं।

गौतमस्वामी ने कहा—हे स्कंदक परिव्राजक! क्या तुम्हें मालूम नहीं? मेरे धर्माचार्य, धर्मगुरु सर्वज्ञ-सर्वदर्शी हैं। उनके ज्ञान में संसार की कोई भी वस्तु अदृश्य नहीं है। उन्हीं धर्माचार्य भगवान् महावीर के द्वारा मैं तुम्हारे यहाँ आगमन के कारण को जानने में समर्थ हुआ हूँ।

यह सुनकर स्कंदक परिव्राजक के मन में भगवान के प्रति अत्यधिक बहुमान तथा श्रद्धा का भाव प्रादुर्भाव हुआ, तथा उसे यह दृढ़ निश्चय हो गया कि भगवान् महावीर के द्वारा मेरी शंकाओं का निराकरण हो जायगा। वहाँ मुझे जीवन की नई दिशा प्राप्त होगी। इसी संकल्प-विकल्प के साथ उसके मन में भगवान के दर्शन करने की तीव्र पिपासा जागृत हुई। जिसे शांत करने के लिए स्कंदक परिव्राजक ने गौतमस्वामी को कहा—हे गौतम! मैं आपके धर्माचार्य, धर्मगुरु, सकलवस्तु तत्व के [illegible] श्रमण भगवान् महावीरस्वामी के दर्शन, वन्दन-नमस्कार करना चाहता हूँ। आप मुझे वहाँ ले चलिये। गौतम स्वामी ने कहा—अवश्यमेव। ऐसे शुभ कार्यों में कभी भी विलम्ब नहीं करना चाहिए। अहासुहं देवाणुप्पिया! मा पडिबंधं करेह।—हे देवानुप्रिय! स्कंदक परिव्राजक! तुम्हें जिससे सुख हो, वह करो किन्तु शुभ कार्य में किंचित् भी विलम्ब मत करो।

गौतमस्वामी स्कंदक परिव्राजक को लेकर जिधर भगवान् महावीर स्वामी विराजमान थे उधर चले गए। गौतमस्वामी ने स्कंदक परिव्राजक को भाव-भक्ति-पूर्वक सम्यक् ज्ञान के साथ श्रमण भगवान् महावीर स्वामी का वन्दन नमस्कार करने की आज्ञा दी थी, न कि भाव रहित वन्दन नमस्कार करने की।

मिथ्यादृष्टि के वन्दन-नमस्कार को भगवान् की आज्ञा में मानने वाले एक [illegible] का कहना है कि प्रथम गुणस्थानवर्ती स्कंदक परिव्राजक को गौतमस्वामी ने वन्दना करने के लिए कहा, तथा उसे शुभकार्य बतलाया, तब उसको वन्दना की आज्ञा-बाहर कैसे कहा जा सकता है?

किन्तु यहाँ विचारणीय विषय यह है कि गौतमस्वामी ने तो सम्यक्ज्ञानपूर्वक भक्ति भाव से वन्दन करने के लिए कहा था। तब मिथ्यादृष्टि का वन्दन-नमस्कार भगवान की आज्ञा में कैसे हो सकता है? क्योंकि मिथ्यादृष्टि का नमस्कार सम्यक्ज्ञान और भक्तिभाव से रहित [illegible] होता है।

यदि यह कहा जाय कि भाव-भक्ति रहित द्रव्य-वन्दन की गौतमस्वामी ने आज्ञा दी थी तो यह युक्ति-सगत नहीं है। क्योंकि साधु किसो को भी भाव-भक्ति से रहित द्रव्य-वन्दन की आज्ञा नहीं देता। अतः स्पष्ट है कि गौतम स्वामी जैसे विशुद्ध-संयमी ने स्कंदक परिव्राजक को भक्ति-भाव से युक्त सम्यग्ज्ञान के साथ ही वन्दना करने को आज्ञा दी थी। तदनुसार हो स्कंदक परिव्राजक ने भगवान् को वन्दन किया तो वह मिथ्यादृष्टि नहीं सम्यक्दृष्टि हो था। कदाचित् स्कंदक परिव्राजक ने भक्ति-भाव रहित द्रव्य वन्दन किया तो वह द्रव्य वन्दन गौतमस्वामी की आज्ञा में नहीं हुआ।

इसप्रकार मिथ्यादृष्टि का वन्दन भगवान की आज्ञा में नही है, यह स्पष्ट फलित होता है।

जिज्ञासा—यहा पर एक सहज जिज्ञासा प्रादुर्भूत होती है-गौतमस्वामी ने स्कंदक परिव्राजक का स्वागत कैसे किया ? स्कंदक तो असंयति था। असंयति का संयति स्वागत नहीं करते है। फिर गौतमस्वामी तो भगवान् महावीर के प्रथम शिष्य और विशुद्ध सयमी थे।

समाधान—स्थानांगसूत्र में पांच प्रकार के व्यवहार बतलाये हैं। जैसे—आगम व्यवहार श्रुत व्यवहार, आज्ञाव्यवहार, धारणाव्यवहार और जीतव्यवहार। गौतमस्वामी चार ज्ञान के धारक, सर्वाक्षर सन्निपाती, आगम व्यवहारी थे। इनके पीछे कौनसा विशेष कारण था—यह निर्णयात्मक रूप मे नहीं कहा जा सकता। गौतमस्वामी को भगवान् महावीर ने स्पष्ट रूप से उनके आगमन की सूचना दे दी थी। तब गौतमस्वामी ने पूछा था—क्या वह आपके सान्निध्य में प्रव्रज्या अंगीकार करेगा ? भगवान् ने फरमाया—हा गौतम ! करेगा।

भगवान के मुख से इस कथन को सुनकर गौतमस्वामी के मन में यह दृढ़ निश्चय हो चुका था कि आगन्तुक परिव्राजक अनगार बनेगा। अतः भविष्य की स्थिति को लक्ष्य में रखते हुए गौतमस्वामी ने उनका स्वागत किया। क्योंकि इस प्रकार का स्वागत गौतम ने अन्य किसी परिव्राजक का किया हो ऐसा उल्लेख संभवतः नहीं मिलता। गोशालक भी भगवान् की सेवा में उपस्थित हुआ था, किन्तु उसका कोई स्वागत नहीं किया गया। क्योंकि उसके मन में कोई प्रव्रज्या धारण करने की भावना नहीं थी। वह तो भगवान् के साथ संघर्ष करने के लिए आया था। किन्तु स्कंदक परिव्राजक अपनी जिज्ञासाओं को शांत करने के लिए भगवान् के प्रति बहुमान एवं भक्ति रखता हुआ उपस्थित हुआ था। यह सब विज्ञप्ति गौतमस्वामी को पूर्व में हो चुकी थी। इसी उद्देश्य से उन्होंने उनका स्वागत किया।

दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि गौतमस्वामी के सामने जाने पर तथा पूर्व घटित बात के बतलाने पर स्कंदक परिव्राजक के मन में आश्चर्य होगा कि यह किसने बतलाया ? गौतमस्वामी द्वारा भगवान् महावीर का नाम लेने पर उसके मन में भगवान के प्रति श्रद्धाभाव जागृत होगा और भगवान् का ज्ञानातिशय भी प्रकट होगा।

उपर्युक्त कारणों से प्रश्न का यथार्थ समाधान नहीं मिलता। क्योंकि इनसे जिज्ञासुओं के मन में अन्य शंकाओं का भी प्रादुर्भाव होता है। अतः प्रस्तुत प्रकरण में प्रयुक्त गौतमस्वामी के शब्दों के भी यथार्थ विवेचना समझना आवश्यक है। वह निम्न प्रकार से है—

गौतम स्वामी ने कहा—हे स्कंदक ! तुम्हारा आना उपयुक्त हुआ-अच्छा हुआ, शोभनरूप हुआ, क्योंकि महाकल्याणकारी निधि भगवान् महावीर से तुम्हारा संपर्क होगा। भगवान् कल्याणरूप प्राप्ति में सहायक है। इसलिए तुम्हारा आगमन अत्यधिक अच्छा हुआ। हे स्कंदक !, तुम्हारा आगमन तुम्हारे विचारों के अनुरूप है। अपने विचारों के अनुरूप आगमन शोभायुक्त होता है। तुम्हारा आगमन भी तुम्हारे विचारों के अनुरूप जिधर श्रमण भगवान् महावीर का समवसरण है, उधर हुआ है।

उपर्युक्त वाक्यावली को लेकर जो विरोधाभास खड़ा हुआ है। वह अभिप्राय को नहीं समझने का परिणाम है। इन शब्दों में गौतमस्वामी ने स्कंदक का व्यावहारिक (लोक में रूढ़) स्वागत किया हो, ऐसा अर्थ फलित नहीं होता है। गौतमस्वामी को स्कंदक का स्वागत ही करना होता तो वे स्पष्ट कहते—हे स्कंदक मैं तुम्हारा स्वागत करता हूँ। किन्तु मूल पाठ में कहीं पर भी स्वागतकर्त्ता का उल्लेख नहीं है। यहां पर तो स्कंदक परिव्राजक का उत्तम भाव से युक्त होकर जो भगवान के पास आगमन हुआ, तत्संबंधी विशेषण है।

"आगत" शब्द का अर्थ होता है—आगमन किया हुआ। यह शब्द विशेषण रहित है। इस शब्द के साथ मूलपाठ में 'सु' उपसर्ग संयोजित कर 'स्वागत' शब्द का प्रयोग किया है। आगमन की क्रिया अच्छी और बुरी दोनों प्रकार की होती है। अच्छापन और बुरापन आगमनकर्त्ता के उद्देश्य पर निर्भर करता है। उत्तम उद्देश्य को लेकर जब आगमन होता है, तब उस उद्देश्य का सूचक 'सु' का प्रयोग किया जाता है। 'सु' और 'आगत' में संधि होने पर स्वागत शब्द बनता है।

गौतमस्वामी ने स्कंदक परिव्राजक के लिये जो स्वागत शब्द का प्रयोग किया, उसका यह तात्पर्य था कि—हे स्कंदक तुम्हारा जो यहां पर आगमन हुआ है वह उत्तम उद्देश्य की पूर्ति के लिये हुआ है। ऐसे आगमन को शुभागमन कहा जाता है। इसी अर्थ को बतलाने के लिए 'सु' की संयोजना की गयी है, जिससे 'सुस्वागतम्' शब्द निष्पन्न हुआ।

इसका अभिप्राय यह है कि स्कंदक ! तुम्हारा यहां आगमन अतिशय अर्थ की उपलब्धि के लिये हुआ है।

इस बात को और पुष्ट करने के लिये 'अन्वागतम्', 'स्वागतमन्वागतम्' आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है।

हे स्कंदक ! तुम अपने विचारों के अनुरूप आए हो अर्थात् तुम शुभ विचारों के अनु-पीछे चलने वाले हो। इसीलिये जिस दिशा में प्रभु महावीर विराजमान है—उसी दिशा में तुम्हारे चरण उठे हैं।

अतः मूलपाठगत 'सागयं ....' आदि शब्दों से यह फलित नहीं होता है कि गौतमस्वामी लौकिक स्वागत के अनुसार उनका स्वागत किया हो। गौतमस्वामी ने तो उनके विचारों के अनुरूप सुउद्देश्य के स्वरूप का प्रकटीकरण किया था, न कि लौकिक भाषा में रूढ स्वागत। अतः लौकिक भाषा में रूढ स्वागत शब्द को लेकर यह कह देना कि गौतमस्वामी ने असंयति स्कन्दक परिव्राजक का स्वागत किया—यह कथन पूर्वापर शास्त्र के अर्थ से असंगत है।

यदि गौतमस्वामी को लौकिक भाषानुसार ही उनका स्वागत करना होता तो वे यही कहते कि मैं तुम्हारा स्वागत करता हूँ सुस्वागत करता हूँ।

इस प्रकार कर्ता की स्थिति को पहले अभिव्यक्त करते। परन्तु मूलपाठ में कहीं पर भी स्वागत-कर्ता के रूप में 'अहं' आदि किसी भी शब्द का उल्लेख नहीं है।

स्कंदक परिव्राजक के आने का उद्देश्य स्पष्ट करते हुए गौतमस्वामी ने विषय का उपसंहार करते हुए कहा कि—"से नूणं तुमं खदया....।" इस प्रकार कहते हुए परिपूर्ण 'सु' उद्देश्य प्रकट किया है और स्कंदक परिव्राजक से पूछा कि—'क्यों जो मैं कह रहा हूँ, वह बात सत्य है न ?' (मेरे द्वारा कहे गये उद्देश्य के अनुसार तुम्हारा यहाँ पर आगमन हुआ है न ?) तब स्कंदक परिव्राजक ने स्वीकृति सूचक शब्दों में कहा—"हंता अत्थि।"

हाँ गौतम। जो तुमने कहा उसी के अनुसार मेरे आने का पवित्र उद्देश्य है। परन्तु मैं किस पवित्र उद्देश्य को लेकर यहाँ आ रहा हूँ, इस बात को बतलाने वाला कौन है ? यह जिज्ञासा आगे पुनः उपस्थित होती है।

इन अनेक संदर्भों से गौतमस्वामी द्वारा प्रयुक्त शब्दों का उपर्युक्त अर्थ संगत लगता है। इससे गौतमस्वामी के द्वारा संयममर्यादाओं का पूर्णतः पालन करना भी अभिव्यक्त होता है। इतने ज्ञान संपन्न होकर भी गौतमस्वामी संयमीय मर्यादाओं का पूर्णतया पालन करते थे।

'स्वागत' शब्द का व्युत्पत्ति परक अर्थ निकाला जाय तो वह भी सरल-संगत ही फलित होता है। इसकी व्युत्पत्ति है- "स्वस्मिन् आगतं इति स्वागतम्" अपने आप में आ जाना स्वागत है। जिस प्रकार कोई व्यक्ति घर को भूल कर परदेश में रह जाता है, तो वह भूला हुआ कहलाता है। जब उसे अपने घर की याद आती है, और अपने देश में पहुँचकर निज स्थान पहुँच जाता है, तब वह भूला हुआ नहीं कहलाता है। वास्तव में बाह्यरूप में दिखलाई देने वाले घर, परिवार, मकान, वैभव आदि

उसके अपने नहीं है। यहाँ तक कि यह शरीर पिंड भी अपना नहीं है। यह सब वस्तुएँ एक न एक दिन नष्ट होने वाली है। उस जीव का स्वस्थान तो शरीर में रहने वाली आत्मा है, जो कर्मों से आवृत होकर जन्मजन्मान्तर में भटकती जा रही है। अपने आपके स्वरूप को भूलकर चेतना बाहर ही बाहर भटक रही है। उसे अपने आप में लाना ही सच्चा स्वागत है।

सुस्वागत से तात्पर्य है—अतिशय रूप से तुम्हारा स्वागत है। अर्थात् तुम अपने स्वरूप को प्राप्त करने में सम्यक् रीति से सक्षम हो जाओगे।

स्कन्दक परिव्राजक अब तक अपने आत्मीय स्वरूप से बाहर ही बाहर भटकता रहा। किन्तु यह भगवान महावीर के सान्निध्य में अब स्वगत् अवस्था में आने वाला है। ऐसा निश्चयात्मक बोध गौतमस्वामी को भगवान के वचनों से हो चुका था। इसीलिए गौतमस्वामी ने कहा—

हे स्कन्दक ! तुम्हारा स्वागत है, सुस्वागत है। अर्थात् अब तुम अपने आत्म स्वरूप को जानने वाले हो। तुम्हारे मन में, जो प्रश्न उठे हैं, उनका निर्णय हो जायगा। उनकी अनिर्णीत अवस्था से जो तुम अस्वस्थ हो रहे हो, स्वस्थ बन जाओगे। तुम्हारा यहाँ आना कल्याणप्रद है।[1] इसके पश्चात् ही गौतमस्वामी ने कहा—हे स्कन्दक ! तुम्हारा अन्वागत है, स्वागत अन्वागत है।

इसका तात्पर्य यह है कि शोभनागत और अनुरूपागत दोनों से युक्त है। तुम्हारे यहाँ आने से तुम्हारी शंकाओं का तो समाधान होगा ही, साथ ही तुम्हें कल्याणरूप मुक्ति की प्राप्ति होगी। तुम यहाँ आकर अपने स्वगत स्वरूप को समझते हुए आत्मा से परमात्मपद प्राप्त कर लोगे।[2]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्टतया सिद्ध हो जाता है कि गौतमस्वामी ने स्कन्दक परिव्राजक के अनागत के आध्यात्मिक जीवन का स्वागत किया था; अर्थात् तुम तुम्हारे आत्मोत्थान के लिए करने वाले हो, यह बताया था न कि लौकिक भाषा के अनुसार बाह्य वेशभूषा या वैदिक कर्मकाण्डी परिव्राजक का स्वागत किया था। किन्तु आज के आधुनिक युग में कुछ मनचले आधुनिकता के प्रवाह में बहते हुए सबका ही स्वागत कर देते हैं। और उसके लिये गौतमस्वामी का उदाहरण भी देते हैं, जो कि आगम मर्यादाओं के विपरीत है।

---

१. [illegible] स्कन्दक ! [illegible] स्वागतम् ।
सुस्वागतम् [illegible] ॥

२. अन्वागतम् [illegible] ।
[illegible] ॥

भगवान् द्वारा स्कन्दक के मन की शंकाओं का समाधान—

॥ २७ ॥ तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे [1]वियडभोति यावी होत्था । तएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स [2]वियट्टभोगियस्स [3]शरीर [4]ओरालं सिगारं कल्लाणं सिवं [5]धण्ण [6]मंगल्लं [7]सस्सिरीयं अणलंकियविभूसियं लक्खण-वंजणगुणोववेयं सिरीए [8]अतीव अतीव [9]उवसोभमाणे चिट्ठइ ।

(27) उस काल उस समय में श्रमण भगवान् महावीर स्वामी व्यावृतभोजी (प्रतिदिन भोजन करने वाले) थे । उस समय व्यावृतभोजी श्रमण भगवान महावीर स्वामी का शरीर उदार (प्रधान) शृंगार (शोभा) रूप, कल्याण रूप, शिवरूप धन्य रूप, मंगल रूप, सश्रीक (आध्यात्मिक-लक्ष्मीयुक्त) रूप, बिना अलंकारों से विभूषित समस्त शुभ लक्षण, व्यंजन और गुणों से युक्त होने से अतीव शोभित था ।

॥ २८ ॥ तए णं से खदए [10]कच्चायणस्सगोत्ते समणस्स भगवओ महावीरस्स [11]वियट्टभोगिस्स [12]सरीरं [13]ओराल [A]जाव[14] [15]अतीव अतीव उवसोभेमाणे पासइ, पासित्ता [16]हट्ठतुट्ठचित्तमाणंदिए [17]पीइमणे [18]परमसोमणस्सिए हरिसव-

(28) व्यावृत भोजी श्रमण भगवान् महावीर के उदार प्रधान यावत् अतीव अतीव उपशोभित होते हुए शरीर को वह कात्यायन गोत्रीय स्कंदक परिव्राजक देखता है, देखकर हृष्ट-तुष्ट होता हुआ आनन्दित चितवाला हुआ । भगवान् के प्रति मन में प्रीति जागृत होने से परम सौम्यमन वाला हुआ । तथा हर्ष के वेग

---

१. भोइ - पु० म० पा० । अत्र वृत्तिकारा मूलपाठे 'वियट्ट भोइ' ति पाठं स्वीकुर्वन्ति 'व्यावृत्ते व्यावृत्ते सूर्ये भुङ्क्ते इत्येवंशील: व्यावृत्तभोजी प्रतिदिनभोजी इत्यर्थः" इत्येवं च तस्य पाठस्य व्याख्या कुर्वन्ति । अस्माभिस्तु उभयत्र वियडभोई तथा वियडभोगिस्स इत्येव पाठ: स्वीकृत:, आचाराङ्गसूत्रे नवमे उपधानश्रुताध्ययने भगवत्स्वामिन वर्णने [illegible] गाथायां "ज ऽऽवि पावगं भगवं तं अकुव्वं वियडं भुंजित्था" इत्येव विधानात् तथा उत्तराध्ययनसूत्रे [illegible] द्वितीय उपसर्गाख्ये अध्ययने चतुर्थ गाथायां 'वियडस्सेसण चरे' इत्येवं सुस्पष्टविधानाच्च तथा अस्मदीय [illegible] ३ प्रतौ. एतादृशस्य पाठस्य सुस्पष्टता समुपलभ्यत्व अन्यच्च मनागपाद्ये एकादशगणधरे वियडभोइ [illegible] तत्र प्रकाशभोजी इति व्याख्याऽस्ति । वियट्टभोति - अ० ला० व० मं० म० । वियट्टभोगी - जे० मो० । [illegible] - बे० म० । २ ११. भोइस्स - पु० अमो० पा० म० । वियडभोगिस्स - म० बे० । वियट्टभोगिस्स - [illegible] ला० व मं० ॥ ३-१२. सरीरयं - अमो० पा० बे० म० न० ४. उराल - अमो० ॥ ५. धन्न - अमो० [illegible] ॥ ६. मगलं - पा० ॥ ७ सस्सिरीयं - पाठित अमो० न० । सस्सिरीय इति - बे० लो० [illegible] [illegible] ॥ ८ १५. अईव अईव - पा० ॥ ९. उवसोभेमाणे - न० बे० म० ॥ १०. कच्चायणगोत्ते - अमो० म० बे० [illegible] ॥ १३. उरालं - अमो० ॥ १४. जाव [illegible] सिगारं [illegible] - न० ॥ १६. [illegible] - म० बे० । [illegible] - न० ॥ १७ पीइमाण - अमो० । पीतीमणे - लो० । पीयमणे - अ० म० ॥ १८. [illegible] - अमो० [illegible] ला० व० मं० म० ॥

A. [illegible] जाव सिगारं कल्लाणं सिवं धन्नं मंगल्लं अणलंकियविभूसियं लक्खण वंजण गुणोववेयं सिरीए ।

सविसप्पमाणहियए जेणेव समणे भगवं [1]महावीरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो [2]आयहिणप्पयाहिणं करेइ [A]जाव[3] पज्जुवासइ।

से उसका मन उल्लसित हुआ। हर्षातिरेक से युक्त होता हुआ, जहाँ श्रमण भगवान् महावीर विराजमान थे, वहाँ आता है, आकर के तीन बार आदक्षिण प्रदक्षिणा करता है यावत् पर्युपासना करता है।

॥ २९ ॥ "खंदया !" ति समणे भगवं महावीरे खंदयं [4]कच्चायणसगोत्तं एवं वयासी–से [5]नूणं तुमं खंदया ! सावत्थीए [7]नयरीए [8]पिंगलेणं [9]नियंठेणं [10]वेसालियसावएणं इणमक्खेवं [11]पुच्छिए [12]मागहा ! किं सअंते [13]लोए अणंते [14]लोए एवं [15]तं चेव [B]जाव जेणेव [16]मम अंतिए तेणेव हव्वमागए। से [17]नूणं [18]खंदया ! [19]अयमट्ठे समट्ठे ? हंता अत्थि !

(29) हे स्कन्दक ! इस प्रकार सम्बोधन करके स्कन्दक परिव्राजक को संबोधित करते हुए श्रमण भगवान महावीर इस प्रकार बोले– स्कन्दक ! तुमने निर्ग्रन्थ पिंगल श्रावस्ती नगरी के निवासी वैशालिक श्रावक पिंगल निर्ग्रन्थ के आक्षेपयुक्त कुछ प्रश्न पूछे थे।

मागध ! क्या लोक सान्त है या अनन्त ? आदि सारी घटना बतलाई। तदनन्तर उन्हीं से यहाँ शीघ्र आये हो। स्कन्दक ! क्या यह अर्थ (कथन) समर्थ (सत्य) है ? स्कन्दक ने कहा – हाँ ! आपने जो फरमाया वह सत्य (सत्य) है।

विवेचन :-

तीर्थंकर भगवान महावीर का आध्यात्मिक श्री से तो सम्पन्न होते ही हैं, किन्तु तीर्थंकर नामकर्म के उदय से बाह्य श्री से भी सम्पन्न होते हैं। अर्थात् उनका शरीर सर्व लक्षणों से युक्त उदार

१. महावीरं – पा० ॥ २. [illegible] ॥ ३. [illegible] ॥ ४. [illegible] ॥ ५. [illegible] ॥ ६. नूणं – [illegible] ॥ ७. [illegible] ॥ ८. [illegible] ॥ ९. [illegible] ॥ १०. वेसालिय [illegible] ॥ ११. पुच्छिए [illegible] ॥ १२. [illegible] ॥ १३. [illegible] ॥ १४. [illegible] ॥ १५. [illegible] ॥ १६. [illegible] ॥ १७. [illegible] ॥ १८. [illegible] ॥ १९. अट्ठे समट्ठे – [illegible] ॥

A. [illegible]

B. [illegible]

(प्रधान) कल्याणकारी और शिवरूप होता है। तथा वे चौंतीस[1] अतिशय और पैंतीस वचनातिशय से सुशोभित होते हैं।

तीर्थंकरों का शरीर लक्षण, व्यंजन और गुणों से युक्त होता है। इन तीनों की व्याख्या निम्न प्रकार से की जा सकती है—

लक्षण— मान, उन्मान और प्रमाण से लक्षण की व्याख्या तीन प्रकार से की जा सकती है।

(i) मान—एक द्रोण पानी निकले उसे मान कहते हैं। जैसे—जल से भरी हुई एक कुण्डी है, उसमें एक पुरुष को बिठाया जाय, उस पुरुष के बैठने पर उसमें से एक द्रोण (३२ सेर) पानी बाहर आ जाय, तो वह पुरुष मानोपेत कहलाता है।

(ii) उन्मान— आधा भार वजन को उन्मान कहते है। जैसे—जिस पुरुष का वजन तराजू पर तोलने पर आधा भार (चार हजार तोला) हो, उसे उन्मानोपेत कहते हैं।

(iii) प्रमाण— मुख की ऊंचाई से नव गुणा ऊंचा हो, उसे प्रमाण कहते हैं। अर्थात् जिस पुरुष की ऊंचाई अपने अंगुल से १०८ अंगुल प्रमाण हो उसे प्रमाणोपेत कहते हैं।

जन्मगत जो स्वाभाविक चिन्ह हो, उसे लक्षण कहते हैं। उपर्युक्त तीनों अवस्थाएं भी लक्षण ही कहलाती है।

व्यंजन—शरीर के तिल, मस आदि चिन्हों को व्यञ्जन कहते हैं।

गुण—सौभाग्य आदि अवस्थाएं गुण कहलाती हैं।

पाठगत-वियावृतभोजी—इसका अर्थ है—प्रतिदिन भोजी। भगवान् महावीर उस समय प्रतिदिन आहार ग्रहण करते थे।[2]

(१) लोक सान्त है या अनन्त—

॥ ३० ॥ जे वि य ते खन्दया! [1]अयमेयारूवे[2] अज्झत्थिए चिंतिए [3]पत्थिए मणोगए संकप्पे समुप्पज्जित्था-किं [4]सअंते [5]लोए, अणंते लोए?

(३०) स्कंदक! जो तुम्हें इस प्रकार आध्यात्मिक चिन्तन प्रार्थित, मनोगत संकल्प उत्पन्न हुआ। वह लोक सान्त है या लोक अनन्त है।

---

1. जलदोणं अद्धभारं समुहाइ, समूसिओ उ जो नवओ।
   माणुम्माणपमाणं तिविहं खलु लक्खणं एयं॥
2. वियावृत्ते भत्ते... वियावृत्तभोजी प्रतिदिन-भोजी इत्यर्थः॥

1. अयम् एतद्रूपे - ला० प्रा० ३। 2. °यारूए - जं०॥ 3. पत्थिए कप्पिए - पा०॥ 4. सअंते - मो० अन्यत्र ... स्थाने बहुशः सअंते इति। सते - जं०॥ 5. लोए अणंते लोए ... - पु० अमो० म० प्रा० बि० म०॥

तस्स वि य णं अयमट्ठे-एवं खलु मए खन्दया ! [1]चउव्विए लोए [2]पन्नत्ते, तं जहा-दव्वओ खेत्तओ कालओ भावओ। दव्वओ णं एगे लोए [3]सअंते। [4]खेत्तओ णं लोए असंखेज्जाओ जोयणकोडा-कोडीओ आयाम-[5]विक्खंभेणं, असंखे-ज्जाओ जोयणकोडाकोडीओ परिक्खेवेणं [6]पण्णत्ता, अत्थि [7]पुण [8]सअंते। कालओ णं लोए [9]ण [10]कयावि न [11]आसी न [12]कयावि न [13]भवति न [14]कयावि न [15]भविस्सति [16]भविंसु य [17]भवति य भविस्सइ य धुवे [18]णितिए [19]सासते [20]अक्खए अव्वए अवट्ठिए [21]णिच्चे [22]णत्थि [23]पुणे से अंते। भावओ णं लोए अणंता [24]वण्णपज्जवा गंध० रस० [25]फासपज्जवा अणंता [26]संठाणपज्जवा अणंता [27]गुरुयलहुयपज्जवा अणंता [28]अगरुयलहुयपज्जवा, नत्थि [29]पुण से

उसका यह अर्थ है। हे स्कंदक ! मैंने चार प्रकार का बतलाया है। वह इस प्रकार है—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। द्रव्य की अपेक्षा से लोक एक है। अन्त सहित है। क्षेत्र की अपेक्षा असंख्यात कोटाकोटी योजन लम्बा चौड़ा है। परिक्षेप (परिधि) की अपेक्षा असंख्यात कोटा-कोटी योजन है। इस प्रकार उसका अंत है। काल की अपेक्षा से लोक भूतकाल में कभी नहीं था, ऐसी बात नहीं है; वर्तमान में नहीं है ऐसा नहीं है। भविष्य में नहीं रहेगा ऐसा भी नहीं है। अर्थात् काल से लोक त्रैकालिक है। लोक भूतकाल में था, वर्तमान में है और भविष्य में रहेगा। अतः लोक ध्रुव नियत, शाश्वत, अक्षय, अव्यय, अवस्थित और नित्य है; इसका कोई अन्त नहीं है।

भाव की अपेक्षा लोक अनन्तवर्ण, अनन्त गंध, अनन्तरस, अनन्त स्पर्श, अनन्त संस्थान, अनन्त गुरुलघु तथा अनन्त अगुरुलघु पर्याय रूप है। भाव से लोक का अन्त नहीं है। इसलिए हे स्कंदक ! द्रव्य से लोक अंत सहित है, क्षेत्र से

[illegible]

अंते । से [1]तं [2]खन्दगा ! दव्वओ [3]लोए सअंते, खेत्तओ लोए [4]सअंते, [5]कालतो लोए अणंते, भावओ लोए अणंते ।

अपेक्षा लोक अन्त सहित है । परन्तु काल की अपेक्षा से लोक अन्त रहित है, भाव की अपेक्षा से भी अनन्त अन्त रहित है ।

विवेचन—

वैशालिक श्रावक पिंगल निर्ग्रन्थ ने स्कंदक परिव्राजक से जो प्रश्न किये थे, जिनका उत्तर स्कंदक परिव्राजक न दे सके इस कारण वे भगवान के सानिध्य में पहुँचे । भगवान ने उनके प्रश्नों का समाधान दिया । उनमें पहला प्रश्न था—यह लोक अन्त सहित है या अन्त रहित है ?

इसका उत्तर भगवान् ने दिया—'लोक्यते इति लोकः' जो दृष्टिगोचर हो, अवभासित हो उसे लोक कहते हैं । अर्थात् जिन आकाश प्रदेशों में गति सहायक धर्मास्तिकाय, उपयोगरूप जीवास्तिकाय, उत्पात्-विनाशवान् पुद्गलास्तिकाय तथा परिवर्तनशील काल इन षड्-द्रव्यों का अस्तित्व हो, उसे लोक कहते हैं ।

इस लोक की विवेचना द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव चार प्रकार से की गई है ।

(१) द्रव्य—द्रव्य की अपेक्षा से लोक एक और अन्त सहित है । लोक पंचास्तिकाय का स्थान होने से, पंचास्तिकाय रूप द्रव्यत्व की अपेक्षा से एक है । जितने आकाश प्रदेशों तक इनका फैलाव है, वहाँ तक लोक है । इसके पश्चात् अलोक प्रारंभ हो जाता है । इस अपेक्षा से लोक का अन्त भी है ।

(२) क्षेत्र—क्षेत्र की अपेक्षा से भी लोक अन्त सहित है । लोक का आयाम और विष्कंभ (लंबाई और चौड़ाई) तथा परिधि-घेराव असंख्यात कोडाकोडी योजन प्रमाण है । असंख्यात कोडाकोडी योजन भी, एक सीमा है, जिस सीमा तक ही लोक का विस्तार है । अतः क्षेत्रापेक्षा लोक को सान्त माना गया है ।

(३) काल—काल की अपेक्षा लोक त्रैकालिक है, अनादि अनन्त है । अतीतकाल में एक भी ऐसा समय नहीं था, जब लोक का अस्तित्व नहीं रहा हो । भविष्य में ऐसा कोई भी समय नहीं होगा, जिस समय लोक का अस्तित्व नहीं रहेगा । सदा सर्वदा के लिये इसका अस्तित्व द्रव्यत्व की दृष्टि से अक्षुण्ण है ।

इसीलिए शास्त्रकारों ने काल-लोक की विवेचना में कुछ शब्दों का प्रयोग किया है, जिनका अर्थ निम्नप्रकार से है—

---

१. तं दव्वओ - जं० लो० ला० तं० खं० ला ३ ॥ २. खंदया - अवी० । खंदगा - मुनि क० म० ॥ ३. लोगे - अवी० ॥ ४. साते - जं० सअंते स्थाने 'सांते' इति पाठान्तरम् अत्र प्रश्नो अग्रतःपि ॥ ५. कालओ - अवी० पा० मु०॥

ध्रुव—लोक का अस्तित्व सदा अचल होने से ध्रुव है।

नियत—यह लोक एक स्वरूप वाला होने से नियत है।

शाश्वत—प्रतिक्षण लोक का सद्भाव रहने से शाश्वत है।

अक्षय—किसी भी समय इसका विनाश न होने से अक्षय है।

अव्यय—लोकगत प्रदेशों की अल्पता-अधिकता नहीं होने से अव्यय है।

अवस्थित—लोक में स्थित अनन्त पर्यायें सदाकाल उसमें विद्यमान रहती हैं, अतः लोक अवस्थित है।

नित्य—द्रव्य और पर्याय की विद्यमानता की अपेक्षा से लोक नित्य है।

अनन्त—सदा-सर्वदा लोक का अस्तित्व विद्यमान रहने से अनन्त अन्तरहित है।

(४) भाव—भाव में द्रव्यगत रूप, रस, गंध, स्पर्श, संस्थान लिये जाते हैं। भावलोक की विवेचना वर्णादि द्वारा की गई है। भाव से लोक अनंत वर्ण पर्याय वाला है। एक गुण कृष्ण से लेकर अनन्तगुण कृष्ण है। इसी प्रकार अन्य नीलादि वर्णों के विषय में भी समझना चाहिये। भाव से लोक अनन्त गन्ध पर्याय वाला है। अनन्त रस, स्पर्श पर्याय वाले हैं। पूर्व की तरह यहाँ पर भी अनन्त पर्यायें समझनी चाहिये। संस्थान से भी अनन्त संस्थान पर्यायवाला है। गुरुलघु की अनन्त पर्यायें, जो बादर स्कन्धों में विद्यमान होने से, यह अनन्त गुरुलघु पर्यायवाला है। सूक्ष्म पुद्गल परमाणु, सूक्ष्मस्कंध तथा अमूर्त धर्मास्तिकाय आदि अगुरुलघु पर्याय रूप हैं, जो कि लोक में विद्यमान हैं। अतः लोक अनन्त अगुरुलघु पर्याय वाला भी है। इस प्रकार भाव की अपेक्षा से भी लोक अनन्त कहा गया है।

जीव सान्त है या अनन्त—

उत्थानिका—

पूर्व सूत्र में लोक की सान्तता-अनन्तता विषयक प्रश्न का समाधान किया गया। यह लोक [illegible] जीवों का निवास स्थान है। लोक का एक भी प्रदेश ऐसा नहीं है जहाँ जीवों की विद्यमानता नहीं हो। अर्थात् लोक जीवों से ठसाठस भरा हुआ है। वे जीव सान्त हैं या अनन्त इस द्वितीय प्रश्न का समाधान प्रस्तुत सूत्र में किया जा रहा है।

(२) जे वि य ते [1]खंदया! [2]जाव[3] [4]सअन्ते जीवे अणंते जीवे? तस्स वि।

(२) हे स्कन्दक! यावत् जीव के विषय में जो तुम्हें [illegible] उत्पन्न हुआ कि जीव सान्त है या अन[illegible]

१ [illegible] २ [illegible] ३ [illegible] ४ [illegible]

[illegible]

य णं अयमट्ठे-[४]एवं खलु [B]जाव[५] दव्वओ णं एगे [६]जीवे सअन्ते, खेत्तओ णं जीवे [७]असंखेज्जपएसिए [८]असंखेज्जपदेसोगाढे अत्थि [९]पुण से अन्ते, कालओ णं जीवे न [१०]कयावि न [११]आसि [१२]जाव[C] [१३]निच्चे, नत्थि [१४]पुण से अन्ते । भावओ णं जीवे अणंता [१५]णाणपज्जवा[१६] अणंता दंसणपज्जवा अणंता [१७]चरित्तपज्जवा [१८]अणंता [१९]अगुरुलहुयपज्जवा, नत्थि [२०]पुण से अंते । [२१]से त्तं दव्वओ [२२]जीवे सअन्ते, खेत्तओ [२३]जीवे सअंते, [२४]कालओ जीवे अणंते, [२५]भावओ जीवे अणंते ।

रहित है? उसका यह अर्थ है - इस प्रकार यावत् द्रव्य की अपेक्षा से एक जीव है, वह अन्तसहित है क्षेत्र की अपेक्षा से जीव असंख्यात प्रदेशी है और असंख्यात प्रदेशों में अवगाढ़-अवगाहित है तथा अन्तसहित है काल से जीव भूतकाल आदि में किसी समय नहीं था, ऐसा नहीं है, यावत् नित्य त्रैकालिक है अतः उसका अंत नहीं है, भाव से जीव के अनन्त ज्ञानपर्याय अनन्तदर्शन पर्याय अनन्त चारित्र पर्याय और अनन्त अगुरुलघु पर्याय हैं। और वह अन्त रहित है। इस प्रकार द्रव्य से तथा क्षेत्र से जीव अन्त सहित है, किन्तु काल और भाव से अन्त रहित-अनन्त है।

विवेचन—

'जीव सान्त है या अनन्त' इसके समाधान में भगवान् ने द्रव्यादि चतुष्टय के माध्यम से जीव की विवेचना प्रस्तुत की है।

---

४. एवं खंदया ! मए (च) उव्विहे जीवे पण्णत्ते दव्वतो ४। दव्वतो एगे - जं० ॥ ५. जावपूर्ति—मए ......भावओ - नं० ॥ ६. जीवे सांते - जं० ॥ ७. °पतेसिते - जं। °पदेसोगाढे अ° - ला १ ॥ ८. पदसोगाढे - अमो० पा० नं० ॥ ९. पुन अंते - नं०। पुणाई से - जं०। पुणं - लों० ॥ १०. कदाइ - अमो०। कयाइ - पा० नं०। कदावि ण - ला १। कयाइ णासि - जं० ॥ ११. आसी - पा० नं० । १२. जाव - णत्थि अमो० पा० जं। जावपूर्ति—न कयाइ ......अवट्ठिए - नं० ॥ १३. णिच्चे - अमो० ॥ १४ पुणाइ - ता० व० मं० वे० म० ॥ १५. नाण° - नं० ॥ १६. °वा एवं दंसण चरित्त प० अ०-अगुरुलहुय पज्जवा - जं० ॥ १७. चरित्त° - नं० लों० ॥ १८. प्र०—गुरुयलहुय पज्जवा अणंता अगु० - अमो०। गरुयलहुय पज्जवा अणंता अगरुय° - नं० वे० म० ॥ १९. अगुरुयल० - अमो० ॥ २०. पुणाइ से - जं० ॥ २१. सेत्तं खंदगा दव्व° - नं० । २२-२३ जीवे सांते - जं० ॥ २४. काल० अणंते भावओ - नं० ॥ २५. भावओ जीवे अणंते - णत्थि पा० ॥

B. एवं खंदया ! चउव्विहे जीवे पण्णत्ते, तं जहा दव्वओ, खेत्तओ, कालओ, भावओ ॥

C. न कयाइ न भवइ न कयाइ न भविस्सइ—भविंसु य, भवति य, भविस्सइ य-धुवे नियए सासए अक्खए अव्वए अवट्ठिए ॥

द्रव्य—द्रव्यापेक्षा जीव एक और अन्त सहित है। अनन्तानन्त जीवों का उपयोगमय स्वरूप एक समान है। कर्मों के कारण उनमें न्यूनाधिक, उत्कर्ष और अपकर्ष रूप से चैतन्य परिलक्षित होता है। इसी बात का द्योतन करने के लिए स्थानांगसूत्र के प्रथम स्थान के आदि सूत्र में भगवान् ने कहा—'एगे आया'—आत्मा एक है। किन्तु अपने-अपने स्वतन्त्र अस्तित्व की अपेक्षा से आत्माएँ अनन्त-अनन्त हैं। उनमें से एक आत्मा की अपेक्षा जीव का अन्त प्रतिपादित किया गया है, क्योंकि एक की संख्या के बाद जब दो संख्या आती है, तो एक का अन्त हो जाता है। यह आपेक्षिक दृष्टिकोण है।

क्षेत्र—क्षेत्र की अपेक्षा से जीव असंख्यात प्रदेशवाला है तथा असंख्यातप्रदेशों में अवगाहित है। सूक्ष्मपनकीय निगोदिया जीव की अवगाहना जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण होती है। यह अंगुल का असंख्यातवाँ भाग प्रमाण स्थान भी असंख्यात प्रदेशात्मक होता है। लोकाकाश के प्रदेश असंख्यातप्रदेशात्मक हैं। असंख्यात के भी असंख्य भेद होते हैं। अतः अंगुल के असंख्यातवें भाग में स्थित असंख्य आकाशप्रदेश असंख्यातप्रदेशात्मक लोकाकाश के असंख्यातवें भाग रूप हैं।

इसका तात्पर्य यह है कि कम से कम अंगुल के असंख्यातवें भागरूप आकाशप्रदेश एक जीव का अवगाहस्थान है। किन्तु उसी असंख्यातवें भाग में अनेक जीव भी रह सकते हैं। तथा आत्मप्रदेशों के विस्तार होने पर वैसे ही भागों में भी एक जीव रह सकता है। इस प्रकार विस्तार पाते-पाते केवलिसमुद्घात की अवस्था में) तब तो जीव के प्रदेश सम्पूर्ण लोक के असंख्यात प्रदेशों में फैल जाते हैं। अर्थात् जीव का स्वभाव संकोच और विकासशील है। संकुचित होती हुई आत्मा अंगुल के असंख्यात प्रदेश में भी रह सकती है। और विस्तृत होती हुई वह आत्मा सम्पूर्ण लोकाकाश के असंख्य प्रदेशों में भी फैल सकती है। किन्तु आत्मा का उत्कृष्ट अवगाहस्थान भी असंख्य आकाशप्रदेशात्मक रहता है। अतः एक जीव असंख्य आकाश प्रदेश में अवगाहित होने से सान्त-अन्तसहित है। इस प्रकार क्षेत्र की अपेक्षा से जीव द्रव्य एक सान्त है।

यहाँ यह जिज्ञासा हो सकती है कि जीव के द्वारा कम से कम अवगाहित अंगुल के असंख्यातवें भागरूप असंख्य आकाश प्रदेशों में अन्य जीवों का भी निवास कैसे सम्भवित है?

समाधान—लोकाकाश असंख्यप्रदेशात्मक है। वे असंख्यप्रदेश भी जीव के असंख्यप्रदेशों से पूर्ण हैं। यह पूर्णता केवलिसमुद्घात की अवस्था में जानी जा सकती है। परन्तु जीव के प्रदेशों का संकोच स्वभाव भी है। वे संकुचित होते-होते इतने संकुचित हो जाते हैं कि जितने अधिक संकुचित हो सकते हैं। ऐसे जीव के प्रदेशों को अवगाहन देने वाले आकाश प्रदेश भी असंख्यात से कम नहीं होते। यह असंख्यात भाग, आकाश के असंख्यात भेदों में से एक है। इसी लोक के असंख्यात प्रदेशों में एक-एक जीव का अवस्थान रहे, तब भी लोक के असंख्यात हैं, जीवों का समावेश हो सकता है। अनन्त जीवों का नहीं। ऐसी स्थिति में अन्य जीवों का कहाँ स्थान होगा, ये कहाँ रहेंगे? अतः अनेक जीवों का

संख्या अनन्तानन्त है। जो कि लोकाकाश में ही है। उसी लोकाकाश के छोटे से छोटे असंख्यातवें भाग पर अन्य अनेक जीवों का बल्कि कहीं उतने स्थल पर अनन्त जीवों के रहने का अवकाश माना जायगा, तभी असंख्यात भेद-वाले, असंख्यात लोकाकाश में अनन्तानन्त जीवों का समावेश संभावित होगा। उदाहरण के तौर पर निगोद का शरीर जिन असंख्यात आकाश प्रदेशों पर है, उन्हीं आकाश प्रदेशों में पांच स्थावरकाय के सूक्ष्म जीव भी विद्यमान हैं। यदि एक निगोद के शरीर द्वारा अवगाहित असंख्यात प्रदेशात्मक आकाश में पांच सूक्ष्म स्थावरकायिक जीवों का अवगाह-निवास नहीं माना जाय तो फिर सूक्ष्म जीवों को लोकव्यापी नहीं कह सकते। पर ऐसा कोई कहने का साहस नहीं करेगा। क्योंकि ज्ञानियों के अभिप्रायानुसार समग्रलोक में सूक्ष्म- स्थावरकाय के जीव इस रूप में समाए हुए हैं, जिस प्रकार की काजल की डिब्बी में काजल खचाखच भरा रहता है। अत: फलित हुआ कि जिन असंख्य आकाश प्रदेशों में निगोद का एक शरीर रहा हुआ है, उन्हीं आकाश प्रदेशों पर सूक्ष्म-स्थावरकायिक जीवों के अतिरिक्त अन्य जीव एवं अनन्तानन्त पुद्गलस्कन्धों की वर्गणा भी विद्यमान है। क्योंकि आकाश का स्वभाव अवकाश देने का है। उस अवकाश स्वभाव में कभी भी संकुचितता नहीं आ सकती। इस दृष्टि से अंगुल के असंख्यातवें भाग आकाश प्रदेशों में एक से अधिक जीव तथा क्वचित् अनन्त जीव भी रह सकते हैं।

काल—काल की अपेक्षा से जीव अन्त रहित है। भूतकाल में ऐसा कोई समय नहीं था जिसमें जीव का अस्तित्व नहीं रहा हो, वर्तमान में भी जीव का अस्तित्व सदा विद्यमान है। भविष्य में भी ऐसा कोई समय नहीं होगा, जिस समय जीव का अस्तित्व नहीं रहेगा। अर्थात् अनादि अनन्तकाल से जीव चला आ रहा है और अनादि-अनन्तकाल तक चलता रहेगा। जीव की सत्ता ध्रुव शाश्वत है।

भाव—भाव की अपेक्षा से जीव अन्त रहित है। अनन्त ज्ञानपर्यायरूप है, अनन्त दर्शनपर्यायरूप है, अनंत चरित्र पर्यायरूप है।[1] क्योंकि ज्ञानादित्रय की सर्वज्ञ में अनन्त पर्यायें होती हैं। कार्मणशरीर और जीव के स्वरूप की अपेक्षा से जीव अनंत अगुरुलघुपर्याय वाला है; औदारिक शरीर की अपेक्षा से अनंत गुरुलघुपर्याय वाला है।

अत: भाव की अपेक्षा से जीव अन्त रहित है अनन्त है।

द्रव्य और क्षेत्र की अपेक्षा से जीव सान्त-अन्त-सहित है। काल और भाव की अपेक्षा से अनन्त- अन्त रहित है।

---

1. मूलपाठ के अन्दर भाव की अपेक्षा से जीव में 'अणंता चरित्तपज्जवा' कहा है। जीव अनन्त चारित्रपर्याय वाला होता है। जिस प्रकार जीव की अनन्त ज्ञानपर्याय और अनन्त दर्शनपर्याय तत् तत् योग्य कर्मों के क्षय होने पर प्रगट होती है और सिद्ध अवस्था में भी विद्यमान रहती है क्योंकि यह जीव की स्वाभाविक पर्यायें हैं। जिनका आत्मा के साथ अग्नि और उष्णता की तरह अभिन्न संबंध है। इसी प्रकार जीव अनंत चारित्रपर्याय से भी संबंद्ध है। वे अनन्त चारित्रपर्यायें तद्योग्यकर्म के क्षय होने पर प्रगट होती है और सिद्ध अवस्था में भी आत्मा के साथ रहती है। अत: उपर्युक्त पाठ की अपेक्षा से सिद्धों में अनन्त चारित्र प्रमाणित होता है।

(३) सिद्धि सान्त है या अनन्त

उत्थानिका—

द्वितीय प्रश्न में जीव की सान्तता और अनन्तता पूछी गई। यह जीव जब अपने समस्त कर्मों का क्षय कर देता है, तब उसकी आत्मा लोक के अग्रिम भाग सिद्ध स्थान में जाकर स्वरूप में अवस्थित हो जाता है, उस सिद्ध स्थान को सिद्धि भी कहते हैं। यह सिद्धि सान्त है या अनन्त? इसका ज्ञान प्राप्त करने के लिये तृतीय प्रश्न पूछा गया है। जिसका समाधान प्रस्तुत पाठ में दिया जा रहा है।

॥ ३ ॥ जे वि य ते खंदया! पुच्छा। (इमेयारूवे चिंतिए जाव सअंता सिद्धी, अणंता सिद्धी, तस्स वि य णं अयमट्ठे खंदया! मए एवं खलु चउव्विहा सिद्धी पण्णत्ता, तंजहा— दव्वओ, खेत्तओ, कालओ, भावओ। दव्वओ णं एगा सिद्धी सअंता) खेत्तओ णं सिद्धी पणयालीसं जोयण-

(३) हे स्कन्दक! तुम्हारे मन में जो सिद्धि-विषयक विकल्प के विषय में प्रश्न उठा, उसका समाधान इस प्रकार है—हे स्कन्दक! मैं चार प्रकार की सिद्धि प्रतिपादित करता हूँ—द्रव्यसिद्धि, क्षेत्रसिद्धि, कालसिद्धि, भावसिद्धि। द्रव्य से सिद्धि एक और सान्त है। क्षेत्र से सिद्धि ४५ लाख योजन की लम्बी-चौड़ी है। सिद्धशिला का परिक्षेप (घेराव) एक करोड़ बयालीस लाख तीस हजार दो सौ उनचास योजन (१,४२,३०,२४९) से भी अधिक है फिर भी सान्त

[illegible]

सयसहस्साइं आयाम-विक्खंभेणं, एगा, जोयणकोडी [10]बायालीसं च [11]जोयण-सयसहस्साइं तीसं [12]च जोयणसहस्साइं [13]दोन्नि य [14]अउणापन्न जोयणसए किंचि विसेसाहिए [15]परिक्खेवेणं अत्थि पुण से अन्ते; कालओ णं सिद्धी न [16]कयावि न [17]आसि; भावओ य जहा लोयस्स तहा भाणियव्वा। तत्थ दव्वओ सिद्धी सअंता, खेत्तओ सिद्धी सअन्ता कालओ सिद्धी अणंता भावओ सिद्धी अणंता।

सहित है। काल से सिद्धि नहीं है, ऐसी बात नहीं है, न थी ऐसी बात भी नहीं है। नहीं रहेगी ऐसी बात भी नहीं है। अर्थात् त्रैकालिक है। भाव से जैसे लोक के लिये कहा गया है। उसी प्रकार जानना चाहिये। इस प्रकार द्रव्य और क्षेत्र से सिद्धि सान्त-अन्त सहित है। काल और भाव से सिद्धि अनन्त-अन्तरहित है।

विवेचन—

स्कंदक का तृतीय प्रश्न सिद्धि की सान्तता और अनन्तता विषयक है। सिद्ध स्वरूप की जो उपलब्धि है, वह सिद्धि है। जब आत्मा समग्र कर्मों से सर्वथा विलग हो जाती है, तब आत्मीय समग्र शक्तियों का परिपूर्ण प्रकटीकरण होता है। ऐसा स्वरूप अनादिकालीन चतुर्गति संसार में परिभ्रमण करते हुए चरमशरीर (अयोगी अवस्था) की उपलब्धि के साथ साधना की परिपूर्णता होने पर अभिव्यक्त होता है। इस परिपूर्ण स्वरूप को साधना से साध्य सिद्धि होना कहा गया है। ऐसी सिद्धि चरमशरीरी (अयोगी अवस्था) जीव के सर्व कर्म मुक्त होते ही आत्मा को संप्राप्त होती है। उस सिद्धि का स्थान तिर्छेलोक के अन्तर्गत चरमशरीरी (अयोगी अवस्था) द्वारा अवगाहित आकाश प्रदेशों की पंक्ति होती है। अतएव आत्मा की सिद्ध अवस्था तिर्छेलोक में उपर्युक्त दृष्टिकोण से प्राप्त हो चुकी होती है। आत्मा का ऊर्ध्व स्वभाव होने से वह तिर्छेलोक में अवस्थित नहीं रह सकती, अतएव वह एक

---

१०. ०आमं गप० - अमो० । ०ओसं च सय° - न० । ०लीसं च सयसह° - लों० टा १-२-३ ॥ ११. °सहस्स° - ला० ॥ १२ य सहस्साइं - अमो० न० ॥ १३ दोण्णि - अमो० पा० न० ॥ १४. ०ण्णे - अमो० । °पन्ने - वे० म० । १५. ०वेणं पण्णत्ता अत्थि - अमो० पा० न० वे० म० ॥ १६. कदाइ - अमो० । कयाइ न आसी - पा० न० । क्याति - लों० । केदाइ - ला० ॥ १७. प्र० आसी न कयाइ न भवइ न कयाइ न भविस्सइ भविंसु य भवति य भविस्सइ य धुवा निच्चा सासिया अक्खया अव्वया अवट्ठिया निच्चा नत्थि पुण सा अंता । भावओ णं सिद्धीए अणंता वण्णपज्जवा अणंता गंधपज्जवा अणंता रसपज्जवा अणंता फासपज्जवा अणंता संठाणपज्जवा अणंता गरुयलहुयपज्जवा अणंता अगरुयलहुयपज्जवा नत्थि पुण सा अंता ! सेत्तं खंदया ! दव्वओ - न० । आसी जाव निच्चा सा° - पा० ॥ १८. प्र०—अयमेयारूवे अज्झत्थिए चिंतिए पत्थिए मणोगए संकप्पे समुप्पज्जित्था कि सअंता - न० ॥

(३ सिद्धि सान्त है या अनन्त

उत्थानिका—

द्वितीय प्रश्न में जीव की सान्तता और अनन्तता पूछी गई । वह जीव जब अपने समस्त कर्मों का क्षय कर लेता है, तब उसकी आत्मा लोक के अन्तिम छोर सिद्ध स्थान में जाकर स्वरूप में तन्मय हो जाता है, उस सिद्ध स्थान को सिद्धि भी कहते हैं । वह सिद्धि सान्त है या अनन्त ? इसका ज्ञान प्राप्त करने के लिये तृतीय प्रश्न पूछा गया है । जिसका समाधान प्रस्तुत पाठ में दिया जा रहा है ।

॥ ३ ॥ जे वि [१]य ते [२]खंदया ! [३]पुच्छा[१८] ! ([४]इमेयारूवे चिंतिए [५]जाव सअंता सिद्धी, अणंता सिद्धी, तस्स वि [६]य णं [७]अयमट्ठे खंदया ! मए एवं खलु चउव्विहा सिद्धी पण्णत्ता, तंजहा–दव्वओ, खेत्तओ, कालओ, भावओ दव्वओ [८]णं एगा सिद्धी [९]सअन्ता) खेत्तओ णं सिद्धी पणयालीसं जोयण-

(१) हे स्कन्दक ! तुम्हारे मन में जो सिद्धि-सिद्धशिला के विषय में प्रश्न उठा, उसका समाधान इस प्रकार है—हे स्कन्दक ! मैं चार प्रकार की सिद्धि प्रतिपादित करता हूँ—द्रव्यसिद्धि, क्षेत्रसिद्धि, कालसिद्धि, भावसिद्धि । द्रव्य से सिद्धि एक और सान्त है । क्षेत्र से सिद्धि ४५ लाख योजन की लम्बी-चौड़ी है । सिद्धशिला का परिक्षेप (घेराव) एक करोड़ बयालीस लाख तीस हजार दो सौ उनपचास योजन (१४२,३०,२४९) से भी अधिक है फिर भी अन्त

१. य णं ते - अमो० ॥ २. °या ! इमेयारूवे अज्झत्थिते कि सांता सिद्धी० ? तस्स वि य णं अयमट्ठे—एवं खलु खंदया ! मते चउव्विहा सिद्धी पण्णत्ता तं जहा—दव्वओ खेत्तदो कालदो भावदो । दव्वतो णं एगा सिद्धी सांता, खेत्ततो ण सिद्धी पणयालीसं जोयणसयसहस्साइं आयाम-विक्खंभेणं एगा जोयणकोडी बायालीसं सयसहस्साइं दोण्णि य अउणापण्णे जोयणसए किंचि विसेसाहिये परिक्खेवेणं प० अत्थि पुणाइं से अंते । कालतो णं सिद्धि ण कयादि णासि जाव णत्थि पुणाइं से अंते । भावतो णंता वण्णपज्जवा जाव अगुरुलहुयपज्जवा, णत्थि पुणाइं से अंते । से त्तं दव्वतो सिद्धी सांता ४ । (४) जेवि य खंदया । इमे कि साते सिद्धे अ० २ । तस्स वि य ण अयमट्ठे एवं खलु खंदया । °४, तं० दव्वओ णं एगे सिद्धे साते खेत्तओ जधा जीवे, कालदो सादीते अपज्जवसिते, नत्थि पुणाइं से अंते । भावतो णं सिद्धे अणंता णाण पज्जवा, अणं० दंसण० अणंता अगुरुलहुया पज्जवा णत्थि पुणाइं से अंतो । से त्तं दव्वदो सिद्धे साते ४ - जं० ॥ ३. पुच्छा - णत्थि न० । 'पुच्छ' त्ति अनेन समग्रसिद्धिप्रश्नसूत्रम् उपलक्षणत्वाच्च उत्तरसूत्रांशश्च सूचितः तच्च इत्थमपि एवम् जे वि य ते खंदया ! इमेयारूवे जाव कि सअंता सिद्धि, अणंता सिद्धी ? तस्स वि य णं अयमट्ठे—एवं खलु मए खंदया ! चउव्विहा सिद्धी पण्णत्ता, तंजहा—दव्वओ खेत्तओ कालओ भावओ त्ति" - अवृ० । अत्र य उत्तरसूत्रांशः शेष स मूलपाठे निर्दिष्ट. । पुच्छा-अयमेयारूवे० चिंति सांता सिद्धि २ । तस्स वि य णं अयमट्ठे मए चउव्विहा सिद्धी प० दव्वतो णं एगा - ला० १ ॥ ४. इमेयारूवे चिंतिए जाव स° - णत्थि अमो० । इमेयारूवे चिंतिए - णत्थि पा० । इमेयारूवे ……भावओ - णत्थि वे० म० । ५. जाव कि स° - पा० ॥ ६. य ए णं - अमो० ॥ ७. °मट्ठे मए चउ° - अमो० । °मट्ठे एवं खलु मए खंदया चउ° - न० । मट्ठे मए खंद° - पा० ॥ ८. णं - णत्थि पा० ॥ ९. सिद्धी सअंता - पु० अमो० पा० म० वे० म० । सिद्धी सअंता - लो० ला १–३ ॥

सयसहस्साइं आयाम-विक्खंभेणं, एगा, जोयणकोडी [10]बायालीसं च [11]जोयण-सयसहस्साइं तीसं [12]च जोयणसहस्साइं [13]दोन्नि य [14]अउणापन्न जोयणसए किंचि विसेसाहिए [15]परिक्खेवेणं अत्थि पुण से अन्ते; कालओ णं सिद्धी न [16]कयावि न [17]आसि; भावओ य जहा लोयस्स तहा भाणियव्वा। तत्थ दव्वओ सिद्धी सअंता, खेत्तओ सिद्धी सअन्ता कालओ सिद्धी अणंता भावओ सिद्धी अणंता।

सहित है। काल से सिद्धि नहीं है, ऐसी बात नहीं है, न थी ऐसी बात भी नहीं है। नहीं रहेगी ऐसी बात भी नहीं है। अर्थात् त्रैकालिक है। भाव से जैसे लोक के लिये कहा गया है। उसी प्रकार जानना चाहिये। इस प्रकार द्रव्य और क्षेत्र से सिद्धि सान्त-अन्त सहित है। काल और भाव से सिद्धि अनन्त-अन्तरहित है।

विवेचन—

स्कंदक का तृतीय प्रश्न सिद्धि की सान्तता और अनन्तता विषयक है। सिद्ध स्वरूप की जो उपलब्धि है, वह सिद्धि है। जब आत्मा समग्र कर्मों से सर्वथा विलग हो जाती है, तब आत्मीय समग्र शक्तियों का परिपूर्ण प्रकटीकरण होता है। ऐसा स्वरूप अनादिकालीन चतुर्गति संसार में परिभ्रमण करते हुए चरमशरीर (अयोगी अवस्था) की उपलब्धि के साथ साधना की परिपूर्णता होने पर अभिव्यक्त होता है। इस परिपूर्ण स्वरूप को साधना से साध्य सिद्धि होना कहा गया है। ऐसी सिद्धि चरमशरीरी (अयोगी अवस्था) जीव के सर्व कर्म मुक्त होते ही आत्मा को संप्राप्त होती है। उस सिद्धि का स्थान तिर्छेलोक के अन्तर्गत चरमशरीरी (अयोगी अवस्था) द्वारा अवगाहित आकाश प्रदेशों की पंक्ति होती है। अतएव आत्मा की सिद्ध अवस्था तिर्छेलोक में उपर्युक्त दृष्टिकोण से प्राप्त हो चुकी होती है। आत्मा का ऊर्ध्व स्वभाव होने से वह तिर्छेलोक में अवस्थित नहीं रह सकती, अतएव वह एक

१०. ०यालं सय० - अमो० । ०लीसं च सय० - न० । ०लीसं च सयसह० - लों० ला १-२-३ ॥ ११. °सहस्स° - ला० ॥ १२ च सहस्साइं - अमो० म० ॥ १३ दोण्णि - अमो० घा० न० । १४. ०पण्णे - अमो० । °पन्ने - वें० म० । १५. ०वेणं पण्णत्ता अत्थि - अमो० घा० न० वें० म० ॥ १६. कदाइ - अमो० । कयाइ न आसी - घा० न० । कयावि - लों० । केयाइ - ला० ॥ १७. प्र० आसी न कयाइ न भवइ न कयाइ न भविस्सइ भविंसु य भवति य भविस्सइ य धुवा नियया सासया अक्खया अव्वया अवट्ठिया निच्चा नत्थि पुन सा अंता । भावओ णं सिद्धीए अणंता वण्णपज्जवा अणंता गंधपज्जवा अणंता रसपज्जवा अणंता फासपज्जवा अणंता संठाणपज्जवा अणंता गरुयलहुयपज्जवा अणंता अगरुयलहुयपज्जवा नत्थि पुण सा अंता ! सेत्तं खंदया ! दव्वओ - न० । आसी जाव निच्चा ... - घा० ॥ १८. प्र०—अयमेयारूवे अज्झत्थिए चिंतिए पत्थिए मणोगए संकप्पे समुप्पज्जित्था कि सअंता - म० ॥

समय में उर्ध्वगमन कर लोक के अन्त में रहने वाले असंख्य आकाश प्रदेशों में सिद्ध अवगाहना के रूप में अवस्थित हो जाती है। वे आकाशप्रदेश अवकाश के रूप में रहे हुए है, पर वे आत्मप्रदेशों को सिद्धि नहीं है। आत्मप्रदेशों की सिद्धि आत्मा के असंख्य आत्म-प्रदेशों में रही हुई है। वही वास्तविक सिद्धि है। जिन आकाशप्रदेशों में सिद्ध भगवन्तों के असंख्य आत्म-प्रदेश रहे हुए हैं उन आकाश प्रदेशों को भी उपचार से सिद्धि-स्थान कह सकते हैं। उन आकाश प्रदेशों से कुछ नीचे जो पृथ्वीशिला पट्टक है, वह पृथ्वीशिला अन्य एवं विमानादिकों की पुद्गल संरचना की अपेक्षा अत्यधिक प्रशस्त एवं उज्ज्वल परमाणुओं से निर्मित है। पुद्गलो की वर्णादि संबंधी तरतमता उज्ज्वल, उज्ज्वलतर होती हुई उज्ज्वलतम के रूप में परिसमाप्ति (अनुत्तर विमान से ऊपर एवं सिद्धो से नीचे) इस पृथ्वीशिला पट्ट मे हुई है। अतएव पौद्गलिक स्वच्छता की चरम सिद्धि इस शिला में होती है। अर्थात् इस शिला के पुद्गल स्कन्धों से बढ़कर उज्ज्वलता के अन्य परमाणु नहीं होने से इसे पौद्गलिक सिद्धि भी कहा जा सकता है। पर यह आत्मिक सिद्धि नहीं है, और न हो सिद्ध भगवन्त इस शिला पर आसीन होते हैं। सिद्ध भगवंतों के यह शिला समीप होने से इसकी पहचान सिद्धशिला के नाम से कराई गयी है। इसका जो द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव सम्बन्धी वर्णन प्रस्तुत प्रकरण में वर्णित हुआ है, उसमें सिद्धशिला रूप सिद्धि के भाव वर्णन में वर्णादिक पुद्गलों का ही उल्लेख किया है जबकि चैतन्य देव की भाव-सिद्धि में वर्णादि की रहितता प्रतिपादित है। अतएव सिद्धशिला रूप सिद्धि एवं आत्मिक असंख्य प्रदेशों की परिपूर्णतारूप सिद्धि भिन्न-२ है। वह सिद्धशिला द्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा से चार प्रकार की है—

द्रव्य की अपेक्षा सिद्धि एक और अन्त सहित है। क्षेत्र की अपेक्षा सिद्धि ४५ लाख योजन आयाम विष्कंभ वाली है तथा १,४२,३०,२४९ योजन से अधिक परिक्षेप वाली है। यद्यपि सिद्धि तो सर्वकर्म क्षयरूप है किन्तु यह सिद्ध जीवों के समीप होने से ईषत्प्राग्भारा-सिद्ध-शिला पृथ्वी ही यहां ली गई है। वह सिद्धि अन्त सहित है। काल की अपेक्षा सिद्धि अनन्त अन्त रहित है। सदा सर्वदा उसका अस्तित्व विद्यमान है। भाव की अपेक्षासे सिद्धि लोक की तरह अनन्त वर्णादि पर्यायरूप होने से अन्त रहित है।

(४) सिद्धों की सान्तता अनन्तता—

उत्थानिका—

सिद्धि की व्याख्या करने के बाद क्रम प्राप्त सिद्ध सम्बन्धी प्रश्न के उत्तर में सिद्धों की व्याख्या की जा रही है—

(४) जे वि य ते खंदया ! जाव[A] [1]किं अणंते सिद्धे तं चेव [B]जाव दव्वओ णं एगे सिद्धे सअंते, खेत्तओ णं सिद्धे असंखेज्ज पएसिए, [3]असंखेज्जपदेसो गाढे, नत्थि [4]पुण से अंते, कालओ णं सिद्धे सादीए [5]अपज्जवसिए नत्थि [7]पुण से अंते, [8]भावओ णं सिद्धे अणंता [9]णाण पज्जवा अणंता दंसणपज्जवा [C]जाव[10] [11]अणंता [12]अगुरुयलहुयपज्जवा नत्थि [13]पुण से अंते से [14]तं [15]दव्वओ सिद्धे [16]सअंते [17]खेत्तओ सिद्धे [18]सअंते कालओ [19]णं सिद्धे अणंते, भावओ [20]णं सिद्धे [21]अणंते। (सेत्तं [22]खंदया)

(४) हे स्कंदक ! सिद्ध की सान्तता अनन्तता के विषय में तुम्हे संदेह हुआ। उसका समाधान इस प्रकार है—द्रव्य से एक सिद्ध सांत है। क्षेत्र से सिद्ध असंख्यातप्रदेशात्मक है। असंख्यात प्रदेश में रहने वाला है तथा अंतसहित है। काल से सिद्ध सादि अपर्यवसित है, उसका अंत नहीं है। भाव से सिद्ध अनंत ज्ञान पर्याय अनंत दर्शन पर्याय यावत् अनंत अगुरुलघुपर्याय रूप है। तथा अन्त रहित है। इस प्रकार द्रव्य तथा क्षेत्र से सिद्ध सांत-अंतसहित है और काल तथा भाव से सिद्ध अनंत-अंत रहित है।

विवेचन :—

स्कंदक परिव्राजक का चौथा प्रश्न था—सिद्ध सांत है या अनन्त।

इसका समाधान करते हुए भगवान् ने फरमाया—हे स्कंदक ! सिद्ध चार प्रकार के होते हैं—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव सिद्ध।

द्रव्य की अपेक्षा से सिद्ध एक और सांत-अन्त सहित है।

---

१. किं अणंते सिद्धे तं चेव जाव - णत्थि न० ॥ २. अंनते - अमो० ॥ ३. °पएसो - अमो० पा० न० ॥ ४. पुन अंते - अमो० ॥ ५. सादए - पु० । सादिए - पा० ॥ ६. अपज्जविए - पा० । ७-१३. पुनं - लों० सा १-२ ॥ ८. भावओ सिद्धे - वे० म० ॥ ९. नाण - ग० ॥ १०. जाव - णत्थि अमो० पा० न० लों० सा ३ ॥ ११. अणंता गरुयलहुयपज्जवा - अ० क० ता० व० मं० म० ॥ १२. अगरुय - न० वे० न० ॥ १४. सेत्तं खंदया दव्व - न० । १५. दव्वओ णं सिद्धे - पा० ॥ १६-१८. साअंते - लों० ॥ १७. खेतओ णं सिद्धे - पा० ॥ १९-२०. णं - णत्थि पु० अमो० न० वे० म० ॥ २१. अणंते तं चेव जाव सिद्धे अणंते - जे० सा ४ ॥ २२. सेत्तं खंदया - णत्थि पु० अमो० पा० न० वे० म० ॥

A. जयेरुयारूवे अज्झत्थिए चिंतिए पत्थिए मणोगए संकप्पे समुप्पज्जित्था कि सअंते सिद्धे अणंते सिद्धे।

B. एवं खलु मए खंदया ! चउव्विहे सिद्धे पण्णत्ते ! तं जहा—दव्वओ, खेत्तओ, कालओ, भावओ।

C. अनंतअगुरुलघु पज्जवा।

क्षेत्र की अपेक्षा से असंख्यातप्रदेश वाले सिद्ध असंख्यातप्रदेशात्मक आकाशस्थान में अवगाहित है। अतः सांत-अंत सहित है।

काल की अपेक्षा आदिसहित अपर्यवसित है। यह एक सिद्ध की अपेक्षा से है। जब जीव सिद्ध होता है तब उसकी आदि होती है। सिद्ध अवस्था में जाने के बाद अनन्तकाल तक वहां रहता है, इसलिये अपर्यवसित है। अनन्त सिद्धों की अपेक्षा से अनादि अपर्यवसित है। इसका अंत नहीं होने से अनन्त है।

भाव की अपेक्षा सिद्ध जीवों के अनंतज्ञानपर्याय अनंतदर्शनपर्याय यावत् शब्द से अनंतचारित्र-पर्याय[1] और अनंत अगुरुलघुपर्याय होने से सिद्ध अनंत है। अगुरुलघु अवस्था जीव के स्वरूप की अपेक्षा से जानना चाहिये। इसका कोई अंत नहीं है।

सिद्ध भगवंत के इस विवेचन में सिद्ध अवस्था सम्पन्न आत्माओं का परिपूर्ण विवेचन आता है। आत्मा की अनंत पर्यायें मानी गयी है। उन समग्र पर्यायों का वर्गीकरण आवरक कर्मों की अपेक्षा मुख्यतः आठ विभागों में कर दिया गया है अर्थात् आठों कर्मों ने आत्मा की अनंतपर्यायों को आठ प्रकार के विभागीकरण द्वारा आच्छादित की है। आत्मा सम्यक् ज्ञान के साथ प्रबल सत्पुरुषार्थ के माध्यम से आठों कर्मों को अपने आप से जब विलग कर देती है, तब आत्मा की अनंतपर्यायें परिपूर्ण विकसित हो जाती है, उसे ही सिद्ध अवस्था कहते हैं। उस सिद्धावस्थागत समग्र पर्यायों का परिगणन करने का जब प्रसंग आता है, तब आवरक कर्म रहित आठ शक्तियों में उनका समावेश कर लिया जाता है। इसीलिये सिद्धों के अष्टगुण प्रतिपादित किये गये हैं। ये आठ ही गुण अनंत पर्यायों के समूह रूप है। अतएव जिस प्रकार सिद्ध-भगवन्तों में ज्ञानावरणीय के परिपूर्ण क्षय होने पर अनंतज्ञानपर्याय का प्रादुर्भाव होता है, उसी प्रकार अन्य कर्मों के क्षय होने पर अन्यान्य शक्तियों का भी प्रकटीकरण समझना चाहिए। तदनुसार वर्गीकरण के रूप में एक सिद्ध में आठ-आठ मुख्य पर्यायें हैं। इसी संदर्भ में सिद्ध संबंधी वर्णन समझना चाहिए।

इस प्रकार सिद्ध जीव द्रव्य और क्षेत्र की अपेक्षा सांत-अंतसहित, काल और भाव की अपेक्षा अंत रहित होते हैं।

---

१. भाव की अपेक्षा सिद्धों के विवेचन में भी अनन्तज्ञान और अनन्तदर्शन की पर्यायें बतलाई है, साथ ही याव शब्द लगाया है, जो स्पष्टतया अनन्तचारित्रपर्याय की ओर इंगित करता है, अर्थात् सिद्धों में जिस प्रकार अनन्तज्ञान और अनन्तदर्शन की पर्यायें होती है, उसी प्रकार अनन्तचारित्र की पर्याय भी होती है। इस प्रकार स्पष्ट रूप से सिद्धों में अनन्तचारित्रता भी आगम सिद्धान्त के अनुसार प्रमाणित होती है। यशोविजय जी ने भी अपने 'ज्ञान सागर' ग्रन्थ में यही बात स्पष्ट की है – "चारित्रं स्थिरता रूपं मतः सिद्धेष्वपीष्यते"

उपाध्याय श्री अमर मुनिजी ने सामायिक सूत्र पुस्तक के पृष्ठ ६१ पर बतलाया है कि—"आत्मस्थिरता रूप चारित्र तो सिद्धों में भी होता है। सिद्धों में स्थूल क्रिया काण्ड रूप चारित्र नहीं होता, परन्तु आत्म स्थिरता रूप निश्चय चारित्र तो वहां पर भी आगम सम्मत है। चारित्र आत्म-विकास का एक गुण है, अतः उसके अभाव में सिद्धत्व सिवाय शून्य के और कुछ नहीं रहेगा।

५) मरण विषयक प्रश्न—

उत्थानिका—

सिद्धों के प्रश्न के उत्तर के बाद मरण विषयक प्रश्न का उत्तर दिया जा रहा है—

॥ ३१ ॥ जे वि [1]य ते खंदया ! [2]इमेयारूवे [3]अब्भत्थिए चिंतिए [A]जाव [4]समुप्पज्जित्था केण वा मरणेणं मरमाणे जीवे [5]वड्ढति वा हायति वा ? तस्स वि य णं अयमट्ठे—एवं खलु खंदया ! मए दुविहे मरणे पण्णत्ते, तं जहा—बालमरणे य [6]पंडितमरणे य ।

(३१) स्कन्दक ! तुम्हारे मन में इस प्रकार विचार उत्पन्न हुआ कि किस मरण से मरता हुआ जीव वृद्धि को पाता है ? संसार बढ़ाता है और किस मरण से मरता हुआ जीव हानि को पाता है ? संसार घटाता है ? हे स्कंदक ! इसका समाधान इस प्रकार है—स्कंदक ! मैंने दो प्रकार के मरण प्रज्ञप्त किये हैं—यथा बालमरण और पंडित मरण ।

॥ ३२ ॥ से [7]किं तं बालमरणे ? बालमरणे दुवालसविहे [8]पन्नत्ते, तं जहा-[9]वलयमरणे, [10]वसट्टमरणे, अंतोसल्लमरणे, तब्भवमरणे, गिरिपडणे, तरुपडणे, जलप्पवेसे, जलणप्पवेसे, विसभक्खणे, सत्थोवाडणे, [11]वेहाणसे, गिद्धपट्ठे । [12]इच्चेतेणं खंदया ! दुवालसविहेणं बालमरणेणं मरमाणे जीवे अणंतेहिं [14]नेरइयभवग्गहणेहिं अप्पाणं संजोएइ [16]तिरियमणुयदेव, [17]अणा-

(३२) बालमरण कितने प्रकार का है ? बालमरण बारह प्रकार का कहा गया है—यथा वलयमरण वशार्तमरण अन्तःशल्यमरण, तद्भवमरण, गिरिपतन, तरुपतन, जलप्रवेश, ज्वलनप्रवेश, विषभक्षण शस्त्रावपाटन, वैहानस, गृद्धपृष्ठमरण । हे स्कन्दक ! इन १२ बालमरणों से मरता हुआ जीव अनंत बार नारक भवों को प्राप्त करता है, नरक की तरह वह अज्ञानी जीव तिर्यंच मनुष्य और देवरूप चातुर्गतिक अनादि

१. य मरता - जं० ॥ २. इमेतारूवे ५ केण वा - जं० ला १ ला ४ । ३. अज्झत्थिए - अमो० पा० न० वे० म० ॥ ४. समुप्पज्जि० - पा० ॥ ५. वड्ढइ वा हायइ वा - अमो० पा० । ६. पंडिय° - अमो० न० वे० म० ॥ ७. किं तं - पा० ॥ ८. पण्णते - पु० अमो० । पण्णत्ते तं जहा - वे० । पण्णत्ते तंजहा - म० । ९. वलय° - पा० न० । ...मो० ला १ ॥ १०. वसट्टम० तब्भवम० अंतोसल्लमरणेगिरि० - जं० ॥ ११. विहा° - ला० ला २-३ ॥ १२. गिद्धपिट्ठे - अमो० पा० । गद्धपट्ठे - न० वे० म० ॥ १३. इच्चेएणं - अमो० ॥ १४. °हणेणं - ला० ला ३ ॥ १५. ...एइ अणंतेहिं तिरियभवग्गहणेहिं अप्पाणं संजोएइ अणंतेहिं मणुयभवग्गहणेहिं अप्पाणं संजोएइ अणंतेहिं देवभवग्गहणेहिं अप्पाणं संजोएइ अणा० - न० । संजोएति ४ जाव देवभवग्गहणेहिं अणादीय - जं० । संजोएइ - पा० ॥ १६. मणुदेव° - अमो० । मणुयदेव भवग्गहणेहिं अप्पाणं संजोएइ अ° - पा० ॥ १७. अणादीयं - ला० ला १ ॥ १८. ...र मणोगए संकप्पे समु० ॥

इयं च णं १८भणवदग्गं १९दीहमद्धं चाउरंत २०संसारकंतारं अणुपरियट्टइ, से २१तं २२मरमाणे वड्ढइ। से त्तं वालमरणे।

अनंत संसार रूप कान्तार (वन) में चार-ब... परिभ्रमण करता है। इस प्रकार बालमरण... मरता हुआ जीव संसार को बढ़ाता है।

विवेचन—

स्कंदक परिव्राजक के पांचवें प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् ने बालमरण के १२ भेद प्रति-पादित किये हैं। विवेकहीन होकर जो व्यक्ति अपने प्राणों का हनन करता है, उसे बालमरण कहते हैं।

(१) बलन्मरण—अज्ञानतावश तीव्र भूख और प्यास से तड़फड़ाते हुए व्यक्ति का जो मरण होता है, उसे बलन्मरण कहते हैं या संयम से पतित हुए प्राणी के मरण को बलन्मरण कहते हैं।[1]

(२) वशार्तमरण—प्रदीप्त दीपक की लौ से आकृष्ट होकर उस पर झंपापात कर मरण पाते हुए पतंग की तरह जो व्यक्ति इन्द्रियों की आसक्ति से तन्मय होकर मरण पाता है, उसे वशार्तमरण कहते हैं।[2]

(३) अन्तः शल्यमरण—यह मरण द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार का है। तीर आदि शस्त्र शरीर से घुस जाने पर पुनः न निकलने के कारण उस घायल व्यक्ति की मृत्यु को द्रव्य अन्तःशल्य-मरण कहते हैं। लगे हुए दोषों की आलोचना नहीं करने पर जो अन्तःशल्य रह जाता है, उसे भाव अन्तःशल्य मरण कहते हैं।[3]

(४) तद्भवमरण—जिस गति में जन्म लिया है, मरकर पुनः उसी गति में जन्म ले लेना, तद्-भवमरण है। अज्ञानतावश किये गये आचरण से मनुष्य से मरकर मनुष्य होना, तिर्यंच में मरकर, तिर्यंच होना, तद्भवमरण है। देव-नारकी मरकर पुनः अपनी गति में उत्पन्न नहीं होते अतः देव और नैरयिकों को तद्भवमरण नहीं होता है।[4]

(५) गिरिपतन—पर्वत आदि से कूदकर प्राणों का नाश करना गिरिपतन मरण है।

---

१८. अणवदग्गं - अ० ब० जै० भु० विना। अणवदग्गं - मं०। १९. दीहद्धं - अमो०। दीहमद्धं - सादि० न०॥ २०. °तारादि° - लो०॥ २१. प्र०—तं बाल मरणेण मर० - ममो० मा०। २२. मरमाणे जीवे वड्ढइ से - मा०॥

१ बलतो बुभुक्षादिपरिगतेन वलवलायमानस्य संयमाद्वा भ्रश्यतो यत् मरणं तद् बलन्मरणम्।

२. वशेन-इन्द्रियवशेन ऋतस्य पीडितस्य दीपकलिकादिपतङ्गस्येव यन्मरणं तद्वशार्तमरणम्।

३. अन्तःशल्यस्य द्रव्यतो अनुद्धृततोमरादेः भावतः सातिचारस्य यन्मरणं तदन्तःशल्यमरणम्।

४. तस्मै भवाय मनुष्यादेः सतो मनुष्यादिरेव बद्धायुषे यन्मरणं तत्तद्भवमरणं।

(६) तरुपतन—वृक्ष आदि से कूदकर प्राणों का नाश करना तरुपतन मरण है।

(७) जलप्रवेश—पानी में डूबकर मर जाना या अज्ञानतावश पानी में जाकर मरणसमाधि लेना, जलप्रवेश मरण है।

(८) जलणप्रवेश—अग्नि में कूदकर प्राणों का नाश करना जलनप्रवेश मरण है।

(९) विषभक्षण—ज़हर खाकर अपने प्राणों का नाश करना विषभक्षण मरण है।

(१०) शस्त्रावपाटन—छुरी-तलवार आदि शस्त्रों से अपने अंगों का उत्पाटन कर प्राणों का नाश करना, शस्त्रावपाटन मरण है।[1]

(११) वैहानसमरण गले में फांसी लगाकर, वृक्ष आदि की डाल पर उल्टे लटककर प्राणों का नाश करना वैहानसमरण है।[2]

(१२) गृध्रपृष्ठमरण—मांसलुब्ध शृंगाल आदि द्वारा विदारित हाथी, ऊंट, गधे आदि के मृत कलेवर में प्रवेश करने पर होने वाले मरण को गृध्रपृष्ठमरण कहते हैं। हिंसक गिद्ध आदि के द्वारा भक्षण किये जाने पर होने वाले मरण को गृध्रपृष्ठमरण कहते हैं।[3]

उपर्युक्त द्वादश प्रकार के बालमरणों में से किसी भी मरण से मरता हुआ जीव संसार बढ़ाता है।

पंडित मरण—

उत्थानिका—

पूर्व के मूलपाठ में संसार को बढ़ाने वाले बालमरण पर विवेचन किया गया। प्रस्तुत पाठ में संसार को घटाने वाले एवं मुक्ति को प्राप्त कराने वाले पंडित मरण पर विचार किया जा रहा है—

॥ ३३ ॥ से किं तं पंडियमरणे ? पंडियमरणे दुविहे [1]पण्णत्ते, तं जहा-[2]पाओवगमणे य भत्तपच्चक्खाणे य।

(३३) पण्डित मरण क्या है ? पण्डित मरण दो प्रकार का कहा गया है। वह इस प्रकार है—पादोपगमन और भक्त प्रत्याख्यान।

---

1. शस्त्रेण छुरिकादिना अवपाटन-विदारणं देहस्य यस्मिन्मरणे तच्छस्त्रावपाटनं मरणम्।
2. विहायसि-आकाशे भवं वृक्षशाखाद्युद्बन्धनेन यत्तन्निरुक्तिवशाद् हानसं मरणम्।
3. गृध्रैः पक्षिविशेषैर्गृद्धैर्वा-मांसलुब्धैः शृगालादिभिः स्पृष्टस्य-विदारितस्य करि-करभ-रासभादि-शरीरान्तर्गमनेन स्पर्शनं तद्गृध्रस्पृष्टं वा गृद्धस्पृष्टं वा गृध्रैर्वा भक्षितस्य-स्पृष्टस्य यत्तद् गृध्रपृष्टं मरणम्।

सू. ३३—

1. पण्णत्ते-पा० ॥ २. पाओव - ता० मं० । पाओवगमणे - पु० अमो० पा० न० बे० म० । (सर्वे भग० ओघ०)

॥ ३४ ॥ से किं तं [३]पाओवगमणे ? पाओवगमणे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा-नीहारिमे य [४]अनीहारिमे य, नियमा [५]अप्पडिकम्मे । से तं [६]पाओवगमणे ।

(३४) पादोपगमन क्या है ? पादोपगमन दो प्रकार का कहा गया है वह इस प्रकार है—निर्हारिम और अनिर्हारिम । यह दोनों प्रकार का पादोपगमन-मरण नियम से अप्रतिकर्म होता है, यह पादोपगमन मरण का स्वरूप है ।

॥ ३५ ॥ से किं तं भत्तपच्चक्खाणे ? भत्तपच्चक्खाणे दुविहे [७]पण्णत्ते, तं जहा-नीहारिमे य अनीहारिमे य, नियमा [८]सपडिक्कमे । से तं भत्तपच्चक्खाणे ।

(३५) भक्त प्रत्याख्यान (मरण) क्या है ? भक्त प्रत्याख्यान (मरण) दो प्रकार का कहा गया है । वह इस प्रकार है—निर्हारिम और अनिर्हारिम । यह दोनों प्रकार का भक्त प्रत्याख्यान मरण नियम से सप्रतिकर्म होता है । यह है—भक्त-प्रत्याख्यान का स्वरूप ।

॥ ३६ ॥ [९]इच्चेतेणं खंदया ! दुविहेणं पडियमरणेणं मरमाणे जीवे अणंतेहिं नेरइयभवग्गहणेहिं अप्पाणं विसंजोएइ [A]जाव [१०]वीइवयति से [११]त्तं मरमाणे [१२]हायइ । से [१३]त्तं पंडियमरणे ।

(३६) हे स्कंदक ! इन दोनों प्रकार के पंडित मरणों से मरता हुआ जीव नैरयिक आदि चारों भवों को अपनी आत्मा से विसंयोजित करता है और चतुर्गति रूप संसार घटाता है । इसे पंडितमरण कहा गया है ।

॥ ३७ ॥ इच्चेएणं खंदया ! दुविहेणं मरणेणं मरमाणे जीवे वड्ढइ वा [१४]हायति वा ।

(३७) हे स्कंदक ! दोनों प्रकार के मरणों से मरता हुआ जीव अर्थात् बालमरण से मरता हुआ जीव संसार बढ़ाता है । किन्तु पंडितमरण से मरता हुआ जीव संसार घटाता है ।

॥ ३८ ॥ [१५]एत्थ णं [१६]खंदए [१७]कच्चायण-सगोत्ते [१८]संबुद्धे समणं भगवं महावीरं

(३८) प्रश्नों के समाधान होने पर वह कात्यायन गोत्रीय स्कंदक परिव्राजक संबुद्ध हुआ । तथा

३. पाओव० - जं० ला० १ ॥ ४. अनिहा० - पा० ॥ ५. ०डिकम्मे - पु० अमो० पा० न० वे० म० ॥ ६. °वगमन-मरणे से - पा० ॥ ७. पन्नत्ते - पा० ॥ ८. सप्पडि० पा० । सपडिकम्मे -वे०म० ॥ ९. इच्चेते यद० - पु० । इच्चेतेण - अमो ॥ १०. वीयीवयइ - अमो० लो० । वीइवयइ - पा० । वीतीवयंति - जं० ला १ । वीतीवयति - ला ४ ॥ ११. प्र०—सेत्तं पंडियमरणेण मरमाणे जीवे हा० - पा० । से तं - ला १–२ ॥ १२. हायइ हायइ - म० वे० न० । हायइ हायइ या । २० इच्चेत० - जे० लो० । हायति । ३० इच्चे - ला० ला २-३-४ । १३. से तं - ला १–२ ॥ १४. हायइ वा - अमो० पा० न० ॥ १५. णं से ग०- पु० अमो० पा० न० वे० म० । इच्चेतेणं से - ला २ ॥ १६. खंदते - जं० ॥ १७. ०यणस्स - पु० पा० ॥ १८. संबुद्धे - पा० ॥

A. अणंतेहिं तिरियभवग्गहणेहिं अप्पाणं विसंजोएइ अणंतेहिं मणुयभवग्गहणेहिं अप्पाणं विसंजोएइ अणंतेहिं देवभवग्गहणेहिं अप्पाणं विसंजोएइ अणाइयं च णं अणवदग्गं चाउरंतं संसार कंतारं ॥

वंदइ [१९]नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता एवं [२०]वयासी–इच्छामि णं भंते ! [२१]तुब्भं [२२]अंतिए [२३]केवलि पन्नत्तं धम्मं [२४]निसामेत्तए। अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा [२५]पडिबंधं [२६]करेह !

श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार करता है, वन्दन नमस्कार करके इसप्रकार बोला—हे भगवन् ! मैं यह इच्छा करता हूँ कि आपके सान्निध्य में केवली प्ररूपित धर्म को सुनूं। भगवान् ने फरमाया-हे देवानुप्रिय स्कंदक ! तुम्हें जैसा सुख हो वैसा करो, किन्तु शुभ कार्य में विलम्ब मत करो।

विवेचन :-

जिस व्यक्ति का मरण ज्ञानपूर्वक विवेक के साथ होता है उसे पण्डितमरण कहते हैं। इसके दो भेद हैं- पादोपगमन मरण और भक्तप्रत्याख्यान मरण।

(1) **पादोपगमनमरण**—'पादप' का अर्थ वृक्ष होता है। जिस प्रकार कटा हुआ वृक्ष किसी भी स्थल पर गिर जाता है, चाहे भूमि सम हो या विषम। इसी प्रकार सम अथवा विषम किसी भी स्थान में रहता हुआ मुनि यावत् जीवन चारों आहार का त्यागकर निष्क्रिय हो जाता है। हलन-चलन नहीं करता है, ऐसी अवस्था में होने वाले मरण को पादोपगमनमरण कहते हैं। यह मरण निर्हारिम और अनिर्हारिम के भेद से दो प्रकार का होता है।

(i) **निर्हारिममरण**—जिस मरण मे साधु पादोपगमन संथारा पूर्वक अपने भौतिकपिण्ड को उपाश्रय में छोड़ता है। वह पार्थिव देह श्रावकों द्वारा बाहर ले जाई जाती है। निर्हारिम शब्द का अर्थ है—बाहर निकालना।

(ii) **अनिर्हारिममरण**—जिस मरण में पादोपगमन संथारा करने वाला साधक जंगल में या किसी गुफा विशेष में अपने शरीर को छोड़ता है। जिससे कि उसके शरीर को लेकर किसी भी व्यक्ति को बाहर ले जाने की क्रिया नहीं करनी पड़ती। ये दोनों ही प्रकार के मरण वाले साधक, किसी भी अन्य साधक के द्वारा वैयावृत्य नहीं करवाते हैं तथा हलन-चलन भी नहीं करते हैं। अतः यह मरण अप्रतिकर्म होता है।

(2) **भक्तप्रत्याख्यानमरण**—यावज्जीवन तीन या चारों आहारों का त्याग करने पर जिस साधक का मरण होता है, उसे भक्त प्रत्याख्यानमरण कहते हैं। यह भी निर्हारिम और अनिर्हारिम के भेद से दो प्रकार का है। यह मरण सप्रतिकर्म होता है। इसमें दूसरे साधक से सेवा ली जा सकती

१९. °सइ नमं° - अमो० ॥ २०. वदासी - पु० वे० म० ॥ २१. तुज्झं - अमो० । तुज्झए अं° - ला २ ॥ २२. अंतिते - ला ४ ॥ २३. केवली - अमो० । केवलिपण्णत्तं - न० ॥ २४. निसामित्तए - अमो० पा० न० । सुणेत्तए । २२ तरे पं म° - जं० ॥ २५. °बधं - पा० ॥ २६. करेह - नत्थि पु० अमो० न० वे० म० ॥

है। अन्यत्र इंगितमरण का कथन है, वह इस मरण का ही विशेष रूप है अतः उसका अलग कथन नहीं किया है।

इन दोनों मरणों से मरनेवाला जीव चतुर्गतिरूप संसार घटाता है तथा भवोच्छेद करता हुआ अन्त में मोक्षपद को प्राप्त करता है।

स्कन्दक परिव्राजक को प्रतिबोध—

उत्थानिका—

स्कंदक परिव्राजक के प्रश्नों का समाधान करने के बाद भगवान् ने स्कंदक एवं विशाल जन समूह को देशना प्रदान की उसका वर्णन प्रस्तुत पाठ में किया जा रहा है—

॥ ३९ ॥ [1]तए णं समणे भगवं [2]महावीरे [3]खंदयस्स [4]कच्चायणसगोत्तस्स तीसे य [5]महतिमहालियाए[6] परिसाए धम्मं [7]परिकहेइ। [8]धम्मकहा [A]भाणियव्वा।

(३९) इसके पश्चात् श्रमण भगवान महावीर स्वामी कात्यायन गोत्रीय स्कंदक परिव्राजक तथा विशाल परिषद् को धर्म-देशना प्रदान की। यहाँ धर्म कथा का वर्णन (औपपातिक सूत्र के अनुसार) करना चाहिए।

॥ ४० ॥ तए णं से [9]खंदए [10]कच्चायणस्सगोत्ते समणस्स भगवओ महावीरस्स [11]अंतिए धम्मं सोच्चा [12]निसम्म [13]हट्ठतुट्ठे [14]जाव[B] हियहियए उट्ठाए [15]उट्ठेइ, [16]उट्ठित्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो [17]आयाहिणं पयाहिणं करेइ,

(४०) वह कात्यायन गोत्रीय स्कंदक श्रमण भगवान महावीर के पास में धर्मोपदेश सुनकर हृदय में धारणकर हृष्ट-तुष्ट है यावत् उसका हृदय हर्ष से विकसित हो जाता है, तदनन्तर खड़ा होता है, खड़े होकर श्रमण भगवान् महावीर स्वामी को तीन बार आदक्षिणा प्रदक्षिणा करके इस प्रकार बोलता है—भगवन्! मैं

१. तते णं से समण° - ला० ला ३। समे णं - ला १ ॥ २. महावीरं - पा० ॥ ३. खदगस्स - ला ३४ ॥ ४. °यणस°- अमो० न० म० ॥ ५. महइ° - अमो० पा० न० ॥ ६. °महालयाए - पा०। ला महइमहालियाए परिसाए ध° - जं० ॥ ७ °कहेति-"जह जीवा बज्झंती मुच्चंति" । जा महति महालिया जाव परिसा पडिगया । ३३. तते णं से खंदए कच्चा० समणस्स - जं० ॥ ८. धम्मकहाओ - पा० ॥ ९ खंदे - ला ४ ॥ १०. °यणसगोत्ते - अमो० न० म० ॥ ११. अंतिते - जं०। अंतिते - ला ४। अंतिए एयमट्ठ सोच्चा - मो० ॥ १२. निसम्म - पा० ॥ १३. हट्ठतुट्ठे - अमो० पा० न० ॥ १४. जाव हियहियए - अमो० मो० ला २ ३-४। जावहियये - ५०। जाव हियहियए - ला १ ॥ १५. उट्ठइ - पा० ॥ १६. उट्ठेइत्ता - अमो०। उट्ठेत्ता - म० ॥ १७. आदाहिणपया° - मो०। आदाहिणपदाहिणं - ला १ ॥

A. ओ० सू० ७१-७७ - न० ॥ B. चित्तमाणंदिए पीइमणे परमसोमणस्सिए हरिसवसविसप्पमाण ॥

[1]करित्ता[A] एवं [2]वदासी-सद्दहामि णं भंते ! [3]निग्गंथं पावयणं, पत्तियामि णं भंते ! निग्गंथं पावयणं, [4]रोएमि णं भंते ! निग्गंथं पावयणं, अब्भुट्ठेमि णं भंते ! निग्गंथं पावयणं एवमेयं भंते ! तहमेयं भंते ! [5]अवित्तहमेयं भंते ! असंदिद्धमेयं भंते ! इच्छियमेयं भंते ! पडिच्छियमेयं भंते । [6]इच्छियपडिच्छियमेयं भंते ! से जहेयं [7]तुब्भे [8]वदह त्ति [9]कट्टु समणं भगवं महावीरं [10]वदति नमंसति वंदित्ता [11]नमंसित्ता [12]उत्तरपुरच्छिमं [13]दिसीभायं अवक्कमइ अवक्कामित्ता तिदंडं [14]च कुंडियं च [B]जाव [15]धातुरत्ताओ य [16]एगंते एडेइ, [17]एडित्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता समणं भगवं महावीरं [18]तिक्खुत्तो [19]आयाहिणं पयाहिणं करेइ [20]करेइत्ता जाव[C] नमंसित्ता एवं [21]वदासी—

निर्ग्रन्थ प्रवचन पर श्रद्धा रखता हूँ। हे भगवन् ! मैं निर्ग्रन्थ प्रवचन पर प्रीति रखता हूँ। भगवन् ! मैं निर्ग्रन्थ प्रवचन पर रुचि रखता हूँ। भगवान ! मैं निर्ग्रन्थ प्रवचन को स्वीकार करता हूँ। भगवान यह निर्ग्रन्थ प्रवचन इसी प्रकार हैं। भगवन् ! यह निर्ग्रन्थ प्रवचन इसी रीति से है। भगवन् ! यह निर्ग्रन्थ प्रवचन सत्य है। भगवन् ! यह निर्ग्रंथ प्रवचन असंदिग्ध है। भगवन् ! यह निर्ग्रन्थ प्रवचन वांछनीय है, भगवन् ! यह निर्ग्रन्थ प्रवचन अत्यन्त वांछनीय है। भगवन् ! यह निर्ग्रन्थ प्रवचन एकान्ततः वांछनीय है। जैसा आप फरमाते हैं वैसा ही है। ऐसा कहकर श्रमण भगवान् महावीर स्वामी को वन्दन नमस्कार करता है वन्दन नमस्कार करके उत्तर-पूर्व दिशा भाग-ईशानकोण में जाता है, जाकर के त्रिदण्ड कुण्डिका यावत् गेरुए वस्त्र तथा भंडोपकरणों को एकान्त में छोड़ता है, छोड़कर जिधर श्रमण भगवान महावीरस्वामी विराजमान थे, उधर आता है आकर के उन्हें वंदना करता है यावत् नमस्कार करके इस प्रकार बोला—भगवन् ! यह लोक जरा-मरण

---

१. करेत्ता - न० । प्र०— वंदइ नमंसइ वंदित्ता नमंसित्ता एवं - पा० न० ॥ २. वयासी - अमो० पा० न० । वदासि - ला १ । वयासि ला २ ॥ ३. णिग्गंथपावयणं पत्ति० रोएमि० अब्भुट्ठेमि णं भंते णिग्गंथपावयणं अभिगच्छामि णं भंते णिग्गंथपावयणं एवमेयं भंते ! जं० ॥ ४. रोयामि ला १ ॥ ५. अवितह० - पा० न० म० बे० ॥ ६. °यमेयं भंते ! मच्चे ण एसट्ठे जं णं तुब्भे वदह त्ति कट्टु तिक्खुत्तो आ० वंदति - जं० ७. तुज्झे - अमो० ॥ ८. वयह - पा० ॥ ९. °कट्टु - ला ४ । कट्टो - ला० ॥ १०. वदइ नमंसइ - अमो० । वंदइ नमंसइ - पा० न० ॥ ११. णमंस इत्ता - जं० ॥ १२. °पुरत्थिमं - पा० न० बे० म० ॥ १३. °भाग - पा० ॥ १४. च जाव हाउरत्तवत्थाइं एगंते - जं० । च जाव धा° - ला २ ॥ १५. °रत्ताउय - अमो० । धाउरत्ताओ - बे० पा० ॥ १६. एगंते मेरे एडेइ - ला० ॥ १७. एडित्ता - अमो० । एडेत्ता - न० ॥ १८. तिखुत्तो - अमो० ॥ १९. आयाहिणं - अमो० । आयाहिण - पा० न० । आयाहिणपयाहिणं - ला १ ॥ २०. करित्ता - पा० । करेत्ता - न० बे० । २१. वयासी - अमो० पा० म० ॥

A-B—वंदइ नमंसइ वंदित्ता नमंसित्ता ॥ C—कंचणिय करोडिय भिसिय केसरिय छन्नालय अंकुसय पवित्तय गणेत्तिय छत्तय वाहणाओ पाउयाओ धाउरत्ताओ ॥

आलित्ते णं भंते ! लोए, पलित्ते णं [१]भंते ! आलित्त-पलित्ते णं भंते ! लोए [२]जरा मरणेण य, से [३]जहा-[४]नामए [५]केइ [६]गाहावती [७]आगारंसि [८]झियायमाणंसि जे से तत्थ भंडे भवइ [९]अप्पसारे [१०]मोल्लगरुए तं गहाय आयाए एगंतमंतं [११]अवक्कमइ, त्ति एस मे नित्थारिए समाणे पच्छा [१२]पुरा हियाए [१३]सुहाए [१४]खमाए [१५]निस्सेसाए आणु-गमियत्ताए [१६]भविस्सइ । एवामेव देवाणुप्पिया ! मज्झ वि [१७]आया एगे [१८]भंडे इट्ठे कंते [१९]पिए [२०]मणुन्ने मणामे [२१]थेज्जे [२२]वेसासिए [२३]सम्मए बहुमए [२४]अणुमए भंडकरंडगसमाणे मा णं [२५]सीयं मा णं [२६]उण्हं मा णं खुहा मा णं पिवासा मा [२७]णं चोरा मा णं वाला मा णं दंसा मा णं [२८]मसगा मा णं

रूपी अग्नि से आदीप्त है, प्रदीप्त है विशेष रूप से आदीप्त-प्रदीप्त है, जैसे किसी—गृहस्थ के घर में आग लग जाने पर घर में जो भंडोपकरण है, उनमें जो अल्प भार वाले और बहुमूल्य हैं, उन्हें पहले निकालकर एकान्त में रखता है तथा मानता है कि यह धनादि मेरे लिये आगे पीछे कभी भी हितरूप, सुखरूप, कुशलरूप और कल्याणरूप सिद्ध होगा। इसी प्रकार हे देवानु-प्रिय भगवन् ! मेरी आत्मा भी एक भाण्ड रूप है जो कि मुझे इष्ट, कान्त, प्रिय सुन्दर मनोज्ञ, विश्वस्त, सम्मत, बहुमत, अनुमत, और रत्नकरंड (पिटारे) के समान है। अतः उसे ठंड, गर्मी, भूख, प्यास, चोर, सिंह, सर्प—डांस, मच्छर, वात-पित्त-कफ और सन्नि-पात आदि अनेक प्रकार के रोग आतंकित, पीड़ित न करें परीषह एवं उपसर्ग न आ पावें इस प्रकार विचार करके मैं परलोक में हित-कारक, सुखकारक, क्षेमकारक, कल्याणकारक, परम्परागत भी कल्याणकारक होगा, इसलिए हे देवानुप्रिय भगवन् मैं चाहता हूँ कि आप

१ भंते लोए आ० द० भं० लो० जरा - पु० अमो० पा० न० वे० म० । २. जराए - अमो० म० वे० म० ॥ ३. जधानामते केहि पुरिसे अगा° - जं० ॥ ४. णामए - पा० ॥ ५. केवि - लों० । केति - ला २ ॥ ६ गाहावइ - अमो० पा० । गाहावई - न० ॥ ७. अगारंसि - न० म० ॥ ८. झियाय० - पा० ॥ ९. अप्पभारे - पु० अमो० पा० न० । एतद् परिवर्तनं लिपिहेतुकं संभाव्यते सुलिपादेन परिवर्तित पाठो लक्ष्य. सर्वत्र व्याख्यानः अथवा पुरा° यति भारस्य सारदृशेण परिवर्तनं जातं स्यात् । अर्धमागधा भारपदस्यैवात्र संगतिवर्तते ॥ १०. गुरुए - अमो० पा० न० म० ला २ ॥ ११. °मइ एग मे - अमो० न० वे० म० । °मइ एग नित्था° पा० ॥ १२. पुराए - अमो० प० ना० म० । पुरार - पा० न० वे० म० । पुरओ हियाते सु° - जं० ॥ १३. सुभाए - पा० ला० २-३-४ ॥ १४. खेमाए - पा० ॥ १५. निस्सेयसाए - अमो० पा० म० लों० ॥ १६. भविस्सती - ला० ला १-२-३-४ ॥ १७. आता - जं० ॥ १८ भंडए इ° - ला० ला ३ ॥ १९. पिते - ला २ ॥ २०. मणुन्नं - अमो० म० । मणुन्ने - पा० ॥ २१. थिज्जे - अमो० । थेज्जे - अ० । थेज्जे - मं० ॥ २२. विसासिए - अमो० । वेस्सासिए - पा० न० । वेस्सनि° - ला ४ ॥ २३. मणए अनुमए बहुमए भंडक - पा० ॥ २४. समए बहुमए - पा० ॥ २५. सीतं - जं० २६. उण्हं एवं खुहा - जं० ॥ २७. णं वाला - जं० ॥ २८. मसगा - अमो० पा० ॥

वाइय-पित्तिय - [1]संभिय - [2]संनिवाइय विविहा रोगायंका [3]परीसहोवसग्गा फुसंतु [4]त्ति कट्टु, [5]एस मे [6]नित्था-रिए समाणे परलोयस्स हियाए सुहाए खमाए [8]नीसेसाए [9]अणुगामियत्ताए भविस्सइ। तं [10]इच्छामि णं देवा-णुप्पिया! सयमेव पव्वावियं सयमेव [12]मुडावियं सयमेव [13]सेहावियं सयमेव [14]सिक्खावियं सयमेव आयारगोयरं [15]विणय-[16]वेणइय-चरण-करण-[17]जाया [18]मायावत्तियं[19] [20]धम्ममाइक्खिअं!

स्वयं ही मुझे प्रव्रजित करें, स्वयं ही मुण्डित करें। स्वयं ही संयमीय क्रियाएँ सिखावें। स्वयं ही शिक्षित करें। आप स्वयं ही मुझे आचार-गोचर (भिक्षाटन) विनय, विनय का फल, चरण करण अर्थात् चारित्र और पिण्ड विशुद्धि संयम यात्रा और उसका निर्वहन करने के लिये आहारादि ग्रहण रूप धर्म का उपदेश प्रदान करें।

चन—

स्कंदक परिव्राजक की शंकाओं का समाधान करने के पश्चात् भगवान ने [1]धर्मकथा मोपदेश) कही। स्कंदक परिव्राजक के साथ ही विशाल सभा ने भगवान् के मुखरूप निर्झर से ती हुई देशना का पान किया। स्कंदक, भगवान् के मुख से अमृतमय उपदेश का पानकर अत्यधिक त होता है, प्रमुदित होता है।

संभिय - धा०। सें भिय - न० ला १। सिंभियसन्नि° - वे० म० ॥ २. मण्णिवा° - अमो०। सन्निवा० - धा०। न्न° - न०। इह प्रथमा बहुवचन लोपो दृश्य. वृ० अवृ० ॥ ३. परिस्सहो° - ता० मं० ला १-२-४ ॥ ४. नि कट्टु. ।ह्यभिसन्धाय यः पालित इति शेष." - अवृ० ॥ ५. एम. नि० - अमो० ला० ला १-२-४ जं० क० ता० ब० ॥ ६. °रिय - अमो० ॥ ७. खेमाए - धा० ॥ ८. निस्सेयसाए - अमो०। नीस्सेयसाए - धा० ॥ ९. आनुगमि° - मो०। आनुगामि° - न० वे० म० ॥ १०. इच्छामो णं - ला० ला० ३ ॥ ०या सयमेव पव्वाविउं - धा०। ावियं एवं मुंडा - जं० ॥ १२. मुडाविउं - धा०। १३. सेहाविउं - धा० ॥ १४. सिक्खाविउं - धा० ॥ १५. विणय वेणतिय - ला १-२-४ ॥ १६. वेणयिय - अमो० ॥ १७. जाना माता उत्तियं - जं० ॥ १८. माया त्तियं - ला १-२। मायाधुवं धम्म - लों० ॥ १९. वित्तियं - धुं - क०। ०वित्तियं - ता० मं० म० ॥ २०. ०यं - अमो० न०। ०क्खिउं - धा० लों०। ०क्खिउं - ला १। क्खिउं - ला २ ॥

---

१. धर्मकथा—दया, दान, क्षमा आदि धर्म के अंगों का वर्णन करनेवाली तथा धर्म की उपादेयता बताने वाली कथा "धर्मकथा" है। इसके मुख्यतया चार भेद हैं—१. आक्षेपिणी २. विक्षेपिणी ३. संवेगिनी ४. निर्वेदनी।

वह प्रसन्नता व्यक्त करता हुआ उठकर भगवान् को वन्दन-नमस्कार करता है। धर्म देशना पर हुई श्रद्धा को अभिव्यक्त करता है। उत्तर-पूर्व के मध्य भाग (ईशानकोण) में जाकर संन्यासीवेश परिवर्तित कर, साधुवेश धारण करता है। तदनन्तर भगवान् के चरणों में उपस्थित हो भगवान् से इस प्रकार कहने लगा—

'हे भगवन् ! यह सारा संसार जल रहा है। विशेषरूप से जल रहा है।' इसका तात्पर्य यह नहीं कि सारी दुनियां में दावानल सुलग गया है, किन्तु तात्पर्य यह है कि संसार में समस्त कर्मबद्ध प्राणी जरा और मरण से पीड़ित हो रहे हैं। जल रहे हैं।

---

1. आक्षेपिणी—श्रोताओं को मोह से हटाकर तत्व की ओर आकर्षित करनेवाली कथा को आक्षेपिणी कहते हैं। इसके चार भेद हैं—१. आचार आक्षेपिणी २. व्यवहार आक्षेपिणी ३. प्रज्ञप्ति आक्षेपिणी ४ दृष्टिवाद आक्षेपिणी।

केशलोच, अस्नान आदि आचार के अथवा आचारांगसूत्र के व्याख्यान द्वारा श्रोता को तत्व के प्रति आकर्षित करने वाली कथा आचार आक्षेपिणी है।

किसी तरह दोष लगने पर उसकी शुद्धि के लिये प्रायश्चित्त या व्यवहारसूत्र के व्याख्यान द्वारा तत्व के प्रति आकर्षित करनेवाली कथा को व्यवहार आक्षेपिणी कहते हैं।

संशययुक्त श्रोता को मधुर वचनों से समझाकर या प्रज्ञप्तिसूत्र के व्याख्यान द्वारा तत्व के प्रति झुकाने वाली कथा को प्रज्ञप्ति आक्षेपिणी कथा कहते हैं।

श्रोता का ध्यान रखते हुए सात नयों के अनुसार सूक्ष्म जीवादि तत्वों के कथन द्वारा अथवा दृष्टिवाद के व्याख्यान द्वारा तत्व के प्रति आकृष्ट करने वाली कथा को दृष्टिवाद आक्षेपिणी कहते हैं।

२. विक्षेपिणी कथा—श्रोता को कुमार्ग से हटाकर सन्मार्ग में लाने वाली कथा विक्षेपिणी है। अर्थात् उन्मार्ग के दोषों तथा सन्मार्ग के गुणों को बताकर श्रोताओं को सन्मार्ग में स्थापित करना। इसके भी चार भेद हैं :—

(I) अपने सिद्धान्त के गुणों को बतलाकर पर-सिद्धान्त की स्थापना करने वाली।

(II) पर-सिद्धान्त का कथन करते हुए स्व. सिद्धांत की स्थापना करने वाली।

(III) पर-सिद्धान्त में घुणाक्षर-न्याय से जितनी बातें सिद्धान्त संगत है, उन्हें बताकर जिनागम विपरीत बात में दोष दिखाना अथवा आस्तिकवादी का अभिप्राय बतलाकर नास्तिकता का अभिप्राय बताने वाली।

इस जरा-मरण के भयानक दावानल में यह आत्मा अनन्त बार जन्म-मरण कर रही है, जल रही है। यही नहीं कषाय का भयानक दावानल हमारी आत्मा के अनन्त अनन्त गुणों को क्षत-विक्षत कर रहा है।

(iv) पर सिद्धान्त मे कथित जिनागम विपरीत मिथ्यावाद का कथन कर जिनागम सदृश बातों का वर्णन करने वाली या नास्तिकवादी की दृष्टि का वर्णन कर आस्तिकवादी को दृष्टि का कथन करने वाली।

3. संवेगिनी कथा—जिसके द्वारा कर्मों के विपाक की विरसता बताकर श्रोताओं में वैराग्य हो उसे संवेगिनी कथा कहते हैं। इसके भी चार भेद है-

(i) इहलोक संवेगिनी—यह मनुष्यत्व कदलीस्तम्भ के समान असार है, अस्थिर है इत्यादि, मनुष्य जन्म का स्वरूप बताकर वैराग्य पैदा करने वाली।

(ii) परलोकसंवेगिनी—देवता ईर्ष्या, विवाद भय, वियोग आदि विविध दुखों से दुखी है। इत्यादि परलोक स्वरूप बतलाकर वैराग्य पैदा करने वाली।

(iii) स्वशरीरसंवेगिनी—यह शरीर स्वय अशुचिमय है। अशुचि से उत्पन्न है, अशुचि विषयों से पोषित है, अशुचि से भरा है, इत्यादि मानव शरीर की अवस्था बतलाकर वैराग्य उत्पन्न करने वाली।

(iv) पर शरीर संवेगिनी – किसी मुर्दे शरीर की अवस्था का वर्णन कर वैराग्यभाव उत्पन्न करने वाली।

4. निर्वेदनी कथा—इहलोक और परलोक में पाप-पुण्य के शुभाशुभ फल को बतलाकर संसार से उदासीनता उत्पन्न कराने वाली कथा को निर्वेदनी कहते हैं। यह भी चार प्रकार की है—

(i) इसलोक में किये गये गये दुष्टकर्म इस लोक में दुःख देने वाले होते है जैसे—चोरी, परस्त्रीगमन आदि। इसी प्रकार इस लोक में किये गये सुकृत इसी लोक में शुभ फल देने वाले होते हैं—जैसे तीर्थंकर भगवान को दान देने वाले पुरुष को आत्मशुद्धि के साथ-साथ आनुषंगिक रूप से सुवर्ण वृष्टि आदि सुखरूप फल यहीं मिलता है।

(ii) इस लोक में किये गये दुष्टकर्म परलोक में दुःखरूप फल देते हैं जैसे—महारंभ, महापरिग्रह आदि नरक योग्य अशुभ कर्म करने वाले जीव को परभव मे नरकादि में जाकर दुःख भोगना पड़ता है। इसी प्रकार इस भव में किये गए शुभ कार्यों का परभव में सुखरूप फल मिलता है। जिस प्रकार सुसाधु को इस लोक मे पाले गये निरतिचार चारित्र का परलोक मे शुभफल प्राप्त होता है।

(iii परलोक में कृत अशुभकर्म इस लोक में दुःख देते है—जैसे परलोक में किये गए अशुभ कर्म के कारण कई जीव इस भव मे हीनकुल में उत्पन्न हो, कुष्टादि रोगों से पीड़ित होकर दरिद्रता का अनुभव करते हुए देखे जाते हैं। इसी प्रकार प्राणी परलोक मे कृत शुभ कर्मों से इस लोक में सुख अनुभव करते हैं—जैसे पूर्वकृत सुकृत्यों से अनेक व्यक्ति तीर्थंकर आदि सुखरूप फल पाते हैं।

(iv) परलोक में कृत अशुभ कर्म परलोक में दुःखरूप फल देते है—जैसे पूर्वकृत अशुभकर्मों से जीव काग गिद्ध आदि के रूप में उत्पन्न होता है। उनके नरकयोग्य अशुभकर्म बचे हुए होते है और अशुभकर्म करके वे यहां नरक योग्य अधूरे कर्म को पूर्ण कर देते हैं। इसके बाद नरक मे जाकर दुःख भोगते हैं। इसी प्रकार परलोक में किये गये शुभकार्य परलोक में सुखरूप फल देते है। जैसे देवभव में रहा हुआ तीर्थंकर का जीव पूर्वभव में तीर्थंकर प्रकृति रूप शुभकर्मों का फल देव भव के बाद तीर्थंकर के भव में भोगेगा। (स्थानाङ्गसूत्र की टीका)

हे भगवन् ! मैं इस दावानल से अपनी आत्मा को बचाना चाहता हूँ । जिसप्रकार किसी व्यक्ति के घर में आग लग जाने पर वह अपने अल्पभार वाले किन्तु बहुमूल्य पदार्थों को पहले बाहर निकालता है ताकि वे पदार्थ भविष्य में उसके लिये अधिक उपयोगी बन सके ।

हे भगवन् ! मैं भी कषाय-जरा-मरण रूप जलती हुई आग से अपनी आत्मा की रक्षा करना चाहता हूँ । अतः मेरी रक्षा कीजिये । मुझे प्रव्रजित कर संयमीय जीवन में आरोहण करवाने की कृपा करें ।

स्कन्दक द्वारा प्रव्रज्या अंगीकार—

॥ ४१ ॥ तए णं समणे भगवं [1]महावीरे खंदयं [2]कच्चायणस्सगोत्तं सयमेव पव्वावेइ [3]जाव [4]धम्ममातिक्खइ–एवं [5]देवाणुप्पिया ! गंतव्वं एवं चिट्ठियव्वं, एवं [6]निसीतियव्वं, एवं तुयट्टियव्वं, एवं भुंजियव्वं एवं भासियव्वं, एवं [7]उट्ठाए पाणेहिं [8]भूएहिं जीवेहिं सत्तेहिं संजमेणं संजमियव्वं, अस्सि च णं [9]अट्ठे णो किंचि [10]वि पमाइयव्वं ।

(४१) (स्कंदक परिव्राजक के द्वारा दीक्षित होने की प्रार्थना करने पर) श्रमण भगवान् महावीर स्वामी कात्यायन गोत्रीय स्कंदक परिव्राजक को स्वयं ही प्रव्रजित करते हैं यावत् स्वयं ही धर्म की शिक्षा प्रदान करते हैं! देवानुप्रिय स्कंदक अनगार ! इस तरह (विवेक के साथ) चलना चाहिये इस तरह खड़ा रहना चाहिए इस तरह बैठना चाहिए इस तरह सोना चाहिए इस तरह बोलना चाहिए इस तरह खाना चाहिए, इस प्रकार प्राण भूत जीव सत्व की संयम रक्षा करनी चाहिये । इसके लिये किंचित् भी प्रमाद नहीं करना चाहिये ।

॥ ४२ ॥ तए णं से [11]खंदए [12]कच्चायणस्सगोत्ते समणस्स भगवओ महावीरस्स [13]इमं एयारूवं धम्मियं उवएसं [14]सम्मं [15]संपडिवज्जति, तमाणाए [16]तह

(४२) उस कात्यायन गोत्रीय स्कंदक अनगार ने भगवान् महावीर के समीप से धार्मिक उपदेश को नम्रता के साथ श्रवणकर सम्यक् प्रकार से स्वीकार किया । भगवान् की आज्ञा अनुसार ही

१. महावीरं - पा० ॥ २. कच्चायणगोत्तं - अमो० म० बे० म० ॥ ३. जाव मण्ड-मण्डन-आज्ञा मागा मुण्डि धम्म... जं० ॥ ४. माइक्खइ - अमो० म० ला० ब० म० । माइक्खइ - पा० म० बे० म० ॥ ५. देवाणुप्पिया ! चिट्ठियव्वं गंतव्वं एवं निसीइयव्वं - अमो० ॥ ६. निसीइयव्वं - पा० म० ॥ ७. उट्ठाए उट्ठाए - अमो० । उट्ठाय - पा० । उट्ठाय उट्ठाय - म० बे० म० । उट्ठाए उट्ठाए पाणाणं ४ संजमेणं - जं० ॥ ८. भूएहिं - अमो० ॥ ९. अस्सि अट्ठंसि णो पमाइ" जं० ॥ १०. वि - नास्ति अ० ब० म० मो० ॥ ११. खंदए परि० मन" जं० ॥ १२. "यणस्स - अमो० म० बे० म० ॥ १३. इमेयारूवं - जं० । इमं एयारूवं - ला २ ॥ १४. सम्मं पडिवज्जति - अंप । सम्मं पडि० - पडि० - ला १-२-४ ॥ १५. वज्जइ - अमो० पा० म० ॥ १६. तमाणाए जाव संजमेणं संजमइ त्ति । ११ १२

गच्छइ, तह चिट्ठइ, तह [17]निसीयति, तह तुयट्टइ, तह भुंजइ, तह भासइ, तह [18]उट्ठाए उट्ठाय [20]पाणेहिं भूएहिं जीवेहिं [21]सत्तेहिं संजमेणं [22]संजमियव्वमिति, अंसि च णं अट्ठे णो पमायइ ।

वे चलते हैं बैठते हैं ठहरते हैं, उसी प्रकार सोते है खाते हैं एवं बोलते हैं, उसी प्रकार प्राण-भूत जीव-सत्व की संयम से रक्षा करते है भगवान् की आज्ञा के पालन मे वे जरा सा भी प्रमाद नहीं करते हैं ।

विवेचन—

संयम जीवन अंगीकार करने के लिये स्कंदक परिव्राजक द्वारा भगवान को प्रार्थना करने पर भगवान ने उसे दीक्षित कर दिया । साधु संघ में सम्मिलित कर दिया । स्कंदक परिव्राजक परिव्राजकीय अवस्था से हट कर अनगार अवस्था को प्राप्त हो गये । भगवान ने स्कंदक अनगार को संयम की सारी मर्यादाओं का ज्ञान करवाया ।

संयम अवस्था में रहनेवाले साधक का प्रत्येक कार्य यतना के साथ होना चाहिये ।

जयं चरे जयं चिट्ठे, जयं मासे जयं सए,
जयं भुजंतो, भासंतो, पावकम्मं न बंधई ।।

यतनापूर्वक चलो, यतनापूर्वक बैठो, यतनापूर्वक खड़े रहो, यतनापूर्वक शयन करो, यतनापूर्वक आहार करो और यतनापूर्वक बोलो । यतना एवं विवेक के साथ किये जाने वाले कार्यों से कर्मों का बंधन नही होता ।

प्राण, भूत, जीव और सत्व के साथ रक्षा का भाव होना चाहिये । कही उनका हनन न हो जाय इसके लिये संघ अप्रमत्तशील रहना चाहिये ।

पंच महाव्रतों का पालन तीनकरण तीनयोग से बड़ी तत्परता के साथ करना चाहिये ।

भगवान् के द्वारा प्रदत्त शिक्षाओं को स्कंदक अनगार ने ध्यान से श्रवण किया और स्वीकार किया।

स्कंदक अनगार भगवान् द्वारा प्रदत्त शिक्षाओं के अनुसार संयम जीवन में पराक्रम करने लगे तथा वे अपना प्रत्येक कार्य यतना और विवेक के साथ करने लगे ।

से खंदए अणगारे जाए रियासमिते ५ मणगुत्ते ३ - जं० ।। १७. निसीयइ - अमो० पा० म० ।। १८. उट्ठाए उट्ठाय - अमो० । उट्ठाय उट्ठाय - म० बे० म० ।। १९. उट्ठाए - पु० ।। २०. पाणेहिं भूएहिं जीवेहिं सत्तेहिं सं - [illegible] ।। २१. सत्तेहिं - अमो० ।। २२ संजमइ अंसिच - अमो० । संजमेइ - पा० म० । संजमइ अंसि - बे० म० ।।

भगवान का विहार तथा स्कन्दक का प्रतिमा ग्रहण—

॥ ४३ ॥ तए णं से खंदए [1]कच्चायण-स्सगोत्ते अणगारे [2]जाते इरियासमिए [3]भासासमिए एसणासमिए आयाण-भंडमत्तनिक्खेवणासमिए उच्चार-पास-वण-[4]खेल सिंघाण-जल्ल-परिट्ठावणिया-समिए मणसमिए [5]वयसमिए कायसमिए मणगुत्ते [6]वइगुत्ते, कायगुत्ते गुत्ते गुत्ति-दिए [7]गुत्तबंभयारी चाइ [8]लज्जू [9]धन्नो [10]खंतिखमे [11]जिइंदिए [12]सोहिए [13]अणियाणे [14]अप्पुस्सुए [15]अबहिल्लेस्से [16]सुसामण्णरए [17]दंते [18]इणमेव [19]णिग्गंथं पावयणं [20]पुरओ काउ विहरइ।

॥ ४४ ॥ तए णं समणे भगवं महावीरे कयंगलाओ [21]नयरीओ [22]छत्तपलासयाओ [23]चेइयाओ पडिनिक्खमइ पडिनिक्खमित्ता [24]बहिया जणवय [25]विहारं [26]विहरति।

(४३) अब वे कात्यायन गोत्रीय स्कंदक अनगार बन जाने पर वे स्कंदक अनगार ईर्या समिति, भाषा समिति एषणा समिति, आदान भंडमत्त निक्षेपणा समिति, उच्चारप्रश्रवण-खेल सिंघाण जल्ल परिष्ठापनिका समिति से संयमित होकर चलने लगे। मनः समिति, वचन समिति, काय समिति से संयमित तथा मन गुप्ति, वचन गुप्ति काय गुप्ति से गुप्त हुए सभी इन्द्रियाओं को अपने वश में किया और गुप्त ब्रह्मचारी हुए। चारित्री सच्चे त्यागी, लज्जावान, सरल, धन्य-धर्म (धर्मधनवान), प्राप्त क्षांतिक्षम, जितेन्द्रिय साधित-आत्म शुद्धि करने वाले, अनिदान निदान रहित उत्कंठाभाव चंचलता से रहित-असंयम संबंधी मनोवृत्ति से बहिर्भूत सुश्रामण्यरत, निर्ग्रन्थ प्रवचन को सन्मुख रखकर स्कंदक अनगार इन सभी संयमाय क्रियाओं में प्रवृत्त हुए।

(४४) इसके पश्चात् श्रमण भगवान महावीर कृतंगला नगरी के छत्र पलाश नामक चैत्य से निकलते हैं, निकल कर बाहर जनपद में विहार करते हैं।

---

१. ०च्चाय - अमो० न० वें० म० ॥ २. जाए - अमो० पा० । जाते रयाम॰ - ला १ ॥ ३. भसिए - ला १-४ ४. खेल अल्ल सिंघाण॰ - पा० । खेल जल्ल सिंघाण॰ - ला० ला ३ । खेल जल्ल सिंघाण॰ - ला २-४ ॥ ५. वइसमिए - म० ला० ला १-३ ॥ ६. वय० - अमो० पा० म० ला० ला १-२-३ । वतिगुत्ते - ला ४ ॥ ७. गुत्तबंभचेरे चा॰ - ला ४ ॥ ८. लज्जु धन्ने - अमो० पा० । लज्ज - अ० ब० । "लज्जू ति संयमवान् रज्जुः इव वा रज्जुः अवक्रव्यवहारः" - अवृ० । लज्जधन्ने - ला १ । लज्जधन्ने - ला ४ ॥ ९. धन्ने - म० । धन्ने तवस्सी खंति॰ - ज० ॥ १०. खंतिखमे - अमो० ॥ ११. जिइंदिए - बें० म० ॥ १२. "सोहिए ति सोभितः, ...शोधितो वा ... सोहृदम् मैत्री सर्वप्राणिषु तद्योगात् सौहृदो वा" - अवृ० ॥ १३. अणियाणे - म० ॥ १४. अप्पु० - पा० ॥ १५. अब॰ - पा० । °हिल्लेस्से - म० । १६. सुसामण्ण० - पा० । सुसमण० - अमो० । ०रते - ज० । ०रते ला० ३ ॥ १७. "दांत इन्द्रियो वा राग द्वेषयो अन्तार्थं दमनात्" - अवृ० ॥ १८. इणामेव - ज० ला० ला ४ ॥ १९. निग्गंथं - अमो० म० ॥ २०. पुरओ कट्टु, उवसंपज्जित्ताणं विहरइ । ३८ - तए णं से खंदए अणगारे समणस्स भ० महावीरस्स तहारूवाणं थेराणं अंतिए सामाइयमाइयाइं एक्कारस - ज० ॥ २१. नयराओ - अमो० । नगराओ - ला० ला ३ ॥ २२. छत्तपला॰ - म० वें० ॥ ०सायाओ - ला० ला १-४ ॥ २३. उज्जाणाओ - ज० ॥ २४. बहिया - पा० ॥ २५. °वइरे विह॰ - ला ४ ॥ २६ विहरइ - अमो० पा० म० ।

॥४५॥ तए णं से खंदए अणगारे समणस्स भगवओ महावीरस्स तहारूवाणं थेराणं अंतिए [1]समाइयमाइयाइं [2]एक्कारस अंगाइं [3]अहिज्जइ, [4]अहिज्जित्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता समणं भगवं महावीरं वंदइ [5]नमंसइ वंदित्ता नमंसित्ता एवं [6]वयासी—इच्छामि णं भंते! [7]तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए समाणे मासियं भिक्खुपडिमं [8]उवसंपज्जिताणं विहरित्तए। [9]अहासुहं देवाणुप्पिया। मा [10]पडिबंध।

(४६) तदनन्तर वे स्कंदक अनगार श्रमण भगवान महावीर स्वामी के तथा रूप स्थविरों के पास सामायिक आदि ग्यारह अंगों का अध्ययन करते हैं, अध्ययन करके जिधर श्रमण भगवान् महावीर विराजमान थे उधर आते हैं आकर के श्रमण भगवान् महावीर स्वामी को वंदन करते हैं, नमस्कार करते हैं, वन्दन-नमस्कार करके इस प्रकार बोले भगवान। मेरी यह इच्छा है कि यदि आपकी इच्छा हो तो मासिकी भिक्षुक प्रतिमा ग्रहण कर विचरण करना चाहता हूं। हे देवानुप्रिय! स्कंदक अनगार जैसा तुम्हें सुख हो वैसा करो, किन्तु शुभ कार्य में किंचित मात्र भी प्रमाद मत करो।

सूत्र ४६. तए णं से [1]खंदए अणगारे समणेणं भगवया महावीरेणं [2]अब्भणुण्णाए समाणे हट्ठे [A]जाव नमंसित्ता मासियं भिक्खुपडिमं उवसंपज्जित्ता णं विहरइ।

(४६) तदनन्तर वे स्कंदक अनगार श्रमण भगवान् महावीर स्वामी की आज्ञा प्राप्त होने पर हर्षित होते हैं यावत भगवान् को नमस्कार कर मासिकी भिक्षु प्रतिमा को ग्रहण कर विचरण करने लगते हैं।

सूत्र ४७. तए णं से खंदए अणगारे [4]मासियं भिक्खुपडियं [5]अहासुत्तं अहाकप्पं

(४७) वे स्कंदक अनगार मासिकी भिक्षु प्रतिमा को जैसा सूत्र में कहा है वैसा पालन करते हैं, कल्प के अनुसार, मार्ग के अनुसार सत्यता के साथ

सू. ४५—सामाइयमाइं - म० । सामाइगमादियाति - क० ब० । सामातिरमातियाइ - म० ॥ २ एक्कारस - स्स पा० ॥ ३. अहिज्जति २ बहूहिं चउत्थ छट्ठट्ठम-दुवालसेहिं मासद्धमासखमणेहिं विचित्तेहिं तवोकम्मेहिं अप्पाणं भावेमाणे विहरति - जं० ॥ ४. अहिज्जित्ता - णत्थि पु० ॥ अहिज्जइत्ता - अमो० ॥ ५. °मइ नमंसइत्ता - अमो० ॥ ६. वयासी - न० ॥ ७. तुब्भेहिं - अमो० ॥ ८. अत्र वैदिकसंस्कृते पालिभाषायां च प्रयुज्यमानस्य 'त्वान' प्रत्ययस्य "ताणं" इत्येवं ज्ञेयम् ॥ ९. अधासुहं - जं० ॥ १०. पडिबंध करेह - पा० बे० म० ॥

सू. ४६–४७—१. खंदते - ला १ ॥ २. ०णुन्नाए - पा० । ०णुण्णाए - न० ३. हट्ठ तुट्ठ - अमो० । हट्ठ जाव - बे० म० । हट्ठे नम० - ला० ला ३–४ ॥ ४. मासियं - अमो० पा० न० बे० म० ॥ ५. अहासुहं अहासुत्तं ला० ला ३ ॥

A. हट्ठतुट्ठचित्तमाणंदिए नंदिए पीइमणे परमसोमणस्सिए हरिसवसविसप्पमाणहियए उट्ठाए उट्ठेइ उट्ठेत्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ करेत्ता वंदइ नमंसइ वंदित्ता ॥

भगवान का विहार तथा स्कन्दक का प्रतिमा ग्रहण—

॥ ४३ ॥ तए णं से खंदए [1]कच्चायणस्सगोत्ते अणगारे [2]जाते इरियासमिए [3]भासासमिए एसणासमिए आयाण-भंडमत्तनिक्खेवणासमिए उच्चार-पासवण-[4]खेल सिंघाण-जल्ल-परिट्ठावणियासमिए मणसमिए [5]वयसमिए कायसमिए मणगुत्ते [6]वइगुत्ते, कायगुत्ते गुत्ते गुत्तिंदिए [7]गुत्तबंभयारी चाइ [8]लज्जू [9]धन्नो [10]खंतिखमे [11]जिइंदिए [12]सोहिए [13]अणियाणे [14]अप्पुस्सुए [15]अबहिल्लेस्से [16]सुसामण्णरए [17]दंते [18]इणमेव [19]णिग्गंथं पावयणं [20]पुरओ काउं विहरइ ।

(४३) अब वे कात्यायन गोत्रीय स्कंदक अनगार बन जाने पर वे स्कंदक अनगार इर्या समिति, भाषा समिति एषणा समिति, आदाण भंडमत्त निक्षेपणा समिति, उच्चारप्रश्रवण-खेल सिंघाण जल परिष्ठा पनिका समिति से संयमित होकर चलने लगे। मनः समिति, वचन समिति, काय समिति से संयमित तथा मन गुप्ति, वचन गुप्ति काय गुप्ति से गुप्त हुए सभी इन्द्रियाओं को अपने वश में किया और गुप्त ब्रह्मचारी हुए। चारित्री सच्चे त्यागी, लज्जावान, सरल, धन्य-धर्म (धर्मधनवान), प्राप्त शांतिक्षम, जितेन्द्रिय साधित-आत्म शुद्धि करने वाले, अनिदान निदान रहित उत्कंठाभाव चंचलता से रहित-असंयम संबंधी मनोवृत्ति से बहिर्भूत सुश्रामण्यरत, निर्ग्रन्थ प्रवचन को सन्मुख रखकर स्कंदक अनगार इन सभी संयमीय क्रियाओं में प्रवृत्त हुए।

॥ ४४ ॥ तए णं समणे भगवं महावीरे कयंगलाओ [21]नयरीओ [22]छत्तपलासयाओ [23]चेइयाओ पडिनिक्खमइ पडिनिक्खमित्ता [24]बहिया जणवय [25]विहारं [26]विहरति ।

(४४) इसके पश्चात् श्रमण भगवान महावीर कृतंगला नगरी के छत्र पलास नामक चैत्य से निकलते हैं, निकल कर बाहर जनपद में विहार करते हैं।

---

१. कच्चायण - अमो० न० प० म० ॥ २. जाए - अमो० पा० । जाते रयासे - ला १ ॥ ३. समिते - ला १ ॥ ४. खेल जल्ल सिंघाण-ति० - पा० । खेल जल्ल सिंघाणादि० - ला० ला ३ । खेल जल्ल सिंघाण - ला ३-४ ॥ ५. वइसमिए - न० ला० ला १-२ ॥ ६. वय० - अमो० पा० अ० ला० ला १-२-३ । वतिगुत्ते - ला ४ ॥ ७. गुत्तबंभचेरे या - ला ४ ॥ ८. लज्जु धन्ने - अमो० पा० । लज्ज - अ० व० । "लज्जु त्ति संयमवान् रज्जुः इव वा रज्जु, अवक्रव्यवहारः" - अवृ० । लज्जधन्ने - ला १ । लज्जधम्ने - ला ४ ॥ ९. धन्ने - न० । धन्ने धणाओ घेरे - जं० ॥ १०. खंतिखमे - अमो० ॥ ११. जिइंदिए - वे० प० ॥ १२. "सोहिए त्ति शोभितः......शोधितो वा ... सौहृदम् मैत्री सर्वप्राणिषु तद्योगात् सौहृदो वा" - अवृ० ॥ १३. अणियाणे - न० ॥ १४. अप्पु० - पा० ॥ १५. अब० - पा० । "हिल्लेसे - न० । १६. सुसामण्णरए - पा० । सुसामण्ण० - अमो० । दंते - जं० । दंते ला० ३ ॥ १७. "दंते इत्थो वा राग द्वेषो अन्तर्यं अनुसार" - अवृ० ॥ १८ इणमेव - जं० ला० ला ४ ॥ १९. निग्गंथं - अमो० न० ॥ २०. पुरओ कट्टु, उवसंपज्जित्ताणं विहरइ । ३८— तए णं से खंदए अणगारे समणस्स भ० महावीरस्स तेहारूवाणं थेराणं अंतिए सामाइयमाइयाइं एक्कारस - जं० ॥ २१. नयराओ - अमो० । नयराओ - ला० ला ३ ॥ २२. छत्तपलासाओ - न० वे० ॥ छत्तपला - ला० ला ३-४ ॥ २३ उज्जाणाओ - मु० ॥ २४ बहिया - पा० ॥ २५. विहारं विहर - ला ४ ॥ २६ विहरइ - अमो० पा० न० ।

॥४५॥ तए णं से खंदए अणगारे समणस्स भगवओ महावीरस्स तहारूवाणं थेराणं अंतिए [1]समाइयमाइयाइं [2]एक्कारस अंगाइं [3]अहिज्जइ, [4]अहिज्जित्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता समणं भगवं महावीरं वंदइ [5]नमंसइ वंदित्ता नमंसित्ता एवं [6]वयासी—इच्छामि णं भंते ! [7]तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए समाणे मासियं भिक्खुपडिमं [8]उवसंपज्जिताणं विहरित्तए। [9]अहासुहं देवाणुप्पिया। मा [10]पडिबंध।

(४६) तदनन्तर वे स्कंदक अनगार श्रमण भगवान महावीर स्वामी के तथा रूप स्थविरों के पास सामायिक आदि ग्यारह अंगों का अध्ययन करते हैं, अध्ययन करके जिधर श्रमण भगवान् महावीर विराजमान थे उधर आते हैं आकर के श्रमण भगवान् महावीर स्वामी को वंदन करते हैं, नमस्कार करते हैं, वन्दन-नमस्कार करके इस प्रकार बोले भगवान। मेरी यह इच्छा है कि यदि आपकी इच्छा हो तो मासिकी भिक्षुक प्रतिमा ग्रहण कर विचरण करना चाहता हूं। हे देवानुप्रिय ! स्कंदक अनगार जैसा तुम्हें सुख हो वैसा करो, किन्तु शुभ कार्य में किंचित मात्र भी प्रमाद मत करो।

सूत्र ४६. तए णं से [1]खंदए अणगारे समणेणं भगवया महावीरेणं [2]अब्भणुण्णाए समाणे हट्ठे [A]जाव नमंसित्ता मासियं भिक्खुपडिमं उवसंपज्जित्ता णं विहरइ।

(४६) तदनन्तर वे स्कंदक अनगार श्रमण भगवान् महावीर स्वामी की आज्ञा प्राप्त होने पर हर्षित होते हैं यावत भगवान् को नमस्कार कर मासिकी भिक्षु प्रतिमा को ग्रहण कर विचरण करने लगते हैं।

सूत्र ४७. तए णं से खंदए अणगारे [4]मासियं भिक्खुपडियं [5]अहासुत्तं अहाकप्पं

(४७) वे स्कंदक अनगार मासिकी भिक्षु प्रतिमा को जैसा सूत्र में कहा है वैसा पालन करते हैं, कल्प के अनुसार, मार्ग के अनुसार सरलता के साथ

सू. ४५—१—सामाइयमाइ° - म० । सामाइयमादियाति - क० व० । सामातियमातियाइ - म० ॥ २ एक्कारस - [illegible] पा० ॥ ३. अहिज्जति २ बहूहिं चउत्थ छट्ठऽट्ठम-दुवालसेहिं मासऽद्धमासखमणेहिं विचित्तेहिं तवोकम्मेहिं अप्पाणं भावेमाणे विहरति - जं० ॥ ४. अहिज्जित्ता - णत्थि पु० ॥ अहिज्जइत्ता - अमो० ॥ ५. °सइ नमंसइत्ता - [illegible] ॥ ६. वयासी - न० ॥ ७. तुब्भेहिं - अमो० ॥ ८. अत्र वैदिकसंस्कृते पाणिभाषायां च प्रयुज्यमानस्य 'त्वान' [illegible] प्रत्ययस्य "ताणं" इत्येवं ज्ञेयम् ॥ ९. अधासुहं - जं० ॥ १०. पडिबंध करेह - पा० बे० म० ॥

सू. ४६-४७—१. खंदते - ला १ ॥ २. ०णुन्नाए - पा० । ०णुण्णाए - न० ३. हट्ठ तुट्ठ - अमो० । हट्ठ जाव - बे० म० । हट्ठे नमं० - ला० ला ३—४ ॥ ४. मासियं - अमो० पा० न० बे० म० ॥ ५. अहासुत्तं अहामुत्तं मा० ला ३ ॥

A. [illegible] चित्तमाणंदिए णंदिए पीइमणे परमसोमणस्सिए हरिसवस विसप्पमाणहियए उट्ठाए उट्ठेइ उट्ठेत्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ करेत्ता वंदइ नमंसइ वंदित्ता ॥

अहामग्गं, [6]अहातच्च [7]अहासम्मं [8]काएणं [9]फासेतिपालेति [10]सोभेति [11]तीरेति पूरेति किट्टेति अणुपालेइ आणाए [12]आराहेइ सम्मं काएण [13]फासित्ता [B]जाव आराहेत्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव [14]उवागच्छइ, उवागच्छित्ता समणं भगवं [C]जाव नमंसित्ता एवं वयासी–इच्छामि णं भंते ! [15]तुब्भेहिं [16]अब्भणुण्णाए समाणे दो मासियं भिक्खुपडिमं [17]उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए। अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं।

सूत्र ४८. तं [1]चेव, एवं तेमासियं [2]चाउम्मासियं, [3]पंच-छ-[4]सत्तमासियं [5]पढम [6]सत्तराइंदियं [7]दोच्चं सत्तराइंदिय

सम्यक् रीति से काया से स्पर्श करते हैं प करते हैं शोधित करते हैं समाप्ति तक ले हैं कीर्तन करते हैं अनुपालना करते हैं अ नुसार उसे आराधित करते हैं। सम्यक् प्र से काया के द्वारा यावत् आराधित कर अनन्तर जिधर श्रमण भगवान् महावीर स को यावत् नमस्कार करके इस प्रकार बोले वान् ! यदि आपकी आज्ञा हो तो मैं दो मासि भिक्षु प्रतिमा अंगीकार कर विचरण क चाहता हूँ। हे देवानुप्रिय ! जैसा सुख हो करो किन्तु शुभ कार्य में विलम्ब मत करो

(४८) इसके अनन्तर स्कंदक अनगार ने दो मासि भिक्षु प्रतिमा अंगीकार की आदि सारा व प्रथम मासिकी भिक्षु प्रतिमा के अनुसार जा चाहिये। इसी प्रकार त्रिमासिक, चतुर्मासि पंचमासिक छह मासिक, सातमासिक प्रा प्रथम सात रात्रि दिवस की दूसरी द्वितीय सा दिन-रात का दसवीं तृतीय सात दिन रात

६. ०हाकप्पं अहामग्गं सम्मं काएण पालेति फासेति - जं० ॥ ७ अहामग्गं सम्मं - अमो० म० । ०सम्मं - मं० म० "अहासम्मं इति पदं नास्ति केवलं सम्मं वर्तते" इत्यागमो० ७१३ ॥ ८. काएणं - मे० म० ॥ ९. फासेइ पालेइ सोभेइ तीरेइ पूरेइ किट्टेइ - अमो० पा० म० ॥ १० सोहेति - मे० म० । सोभेति - जं० । शोभयति शोधयति वा अभ० ॥ ११. तीरेति किट्टेइ आराहेति आणाए अणुपालेति । मासियं [illegible] अहासुत्तं [illegible] [illegible] [illegible] म० ॥ १२. [illegible] सम्मं काएणं - मो० मा १-२-३-४ । ०इ का० - मे० म० ॥ १३ फासेत्ता - म० ॥ १४. उवा० [illegible] २ एवं म० इच्छामि - म० ॥ १५. तुब्भेहिं - अमो० ॥ १६. [illegible] - पा० । ०ए दो मा० - मं० । १७. उ[illegible] मं० [illegible] एवं तेमासियं ति चाउ० पंच० छ० सत्तमासियं ति । [illegible] - जं० ॥ १८. "मा [illegible]" - मा [illegible] १९. [illegible] पा० ॥

B. फासेत्ता सोभित्ता तीरेत्ता पूरेत्ता किट्टेत्ता अणुपालेत्ता आणाए ॥

C. महावीरं वंदइ नमंसइ वंदित्ता नमंसित्ता ॥

सूत्र. ४८ – १. ग०–चेव एव दोमासियं - म० क० मा० ब० मं० म० । एवं दोमासियं [illegible] - अमो० ॥ २. "[illegible]" पा० म० ॥ ३. पंचमासियं छम्मासियं सत्तमासियं - पा० म० मा १ ॥ ४. [illegible] - अमो० ॥ ५. पढममसत्त० - ज० मो० ॥ ६. सत्तराइंदिय - म० ॥ ७. दोच्चं सत्तराइंदियं - ज० मं० मो० मा ४ ॥

[8]तच्चं [9]सत्तराइन्दियं [10]अहोरातिदियं [11]एगराइयं।

सूत्र ४८. तए णं से खंदए अणगारे [11]एगराइंदियं भिक्खुपडियं अहासुत्तं [A]जाव आराहेत्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव [13]उवागच्छति, उवागच्छित्ता समणं भगवं महावीरं [B]जाव नमंसित्ता एवं [14]वदासी—इच्छामि णं भंते! [15]तुब्भेहिं [16]अब्भणुण्णाए समाणे [17]गुणरयणसंवच्छरं तवोकम्मं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए। अहासुहं देवाणुप्पिया! मा [19]पडिबंधं!

ग्यारहवीं एक अहोरात्रि की बारहवीं एक रात की। इस प्रकार स्कंदक अनगार ने बारह भिक्षु प्रतिमाओं का सम्यक् प्रकार से आराधन किया।

(४९) तदनन्तर स्कंदक अनगार एक रात्रि वाली बारहवीं भिक्षु प्रतिमा की यावत् आराधना करके जिधर श्रमण भगवान् महावीर स्वामी विराजमान थे, उधर आते हैं, आकर भगवान महावीर स्वामी को वन्दन नमस्कार करते हैं, वन्दना नमस्कार कर इस प्रकार बोले आपकी आज्ञा होने पर गुणरत्न संवत्सर नामक तप अंगीकार कर विचरण करना चाहता हूँ। हे देवानुप्रिय! तुम्हें जैसा सुख हो वैसा करो किन्तु शुभ कार्य में विलम्ब मत करो।

विवेचन :—

स्कन्दक परिव्राजक को दीक्षित करके श्रमण भगवान महावीरस्वामी ने कृतंगला नगरी के छत्रपलाशक नामक बगीचे से विहार कर दिया। स्कन्दक अनगार ने स्थविर मुनियों से ज्ञानाभ्यास करते हुए सामायिक आदि ग्यारह अंगों का ज्ञान प्राप्त कर लिया।

यहाँ पर सहज जिज्ञासा होती है कि सामायिक आदि ग्यारह अंगों में पांचवा अंग भगवती सूत्र का आता है। भगवतीसूत्र के अन्दर ही स्कन्दक अनगार का वर्णन आता है। जबकि स्कन्दक अनगार के पूर्व ही सामायिक आदि ग्यारह अंगों की रचना हो चुकी थी। तब भगवतीसूत्र में स्कंदक का वर्णन कैसे आता है?

---

८. तच्चसत्त° - जं० लों० ॥ ९ °दियं रातिदियं एगरातियं - न० । °दियराति° - बे० ॥ १०. अहोरादयं - अमो० । महोराइंदियं - पा० जं० । अहो - णत्थि म ॥ ११. एगरातिदियं - अ० क० मं० म० ला १ मु० । एगराइंदियं । इच्छामि णं भंते - जं० ॥ १२. एगराइभिक्खु° - अमो० । एगराइयं - पा० बे० म० । एगरातियं - म० ॥ १३. उवागच्छइ - अमो० पा० न० ॥ १४. वयासी - अमो० पा० न० ॥ १५. तुब्भेहिं - अमो० ॥ १६. ०णुन्नाए - पा० ॥ १७. ०रयणं° - अमो० पा० क० ता० मं० म० । °रतणं० म० - ला १ ॥ १८. संवच्छरं - ला ४ ॥ १९. पडिबंधं करेह - पा० ॥

A. अहासुत्तं अहाकप्पं अहामग्गं अहातच्चं अहासम्मं सम्मं काएणं फासेइ पालेइ सोभेइ तीरेइ पूरेइ किट्टेइ अणुपालेइ आणाए आराहेइ सम्मं काएणं फासेत्ता पालेत्ता सोभेत्ता तीरेत्ता पूरेत्ता किट्टेत्ता अणुपालेत्ता आणाए ॥

B. वंदइ नमंसइ वंदित्ता ॥

समाधान—टीकाकार के अभिप्रायानुसार इस प्रश्न का समाधान इस प्रकार है—भगवान महावीर के तीर्थ में नौ वाचनाएँ थी। स्कन्दक अनगार के पूर्व जो स्कन्दक चरित्र के अभिधेय का अर्थ था वह नामान्तर से बतलाया जाता था, किन्तु स्कन्दक चरित्र घटित होने के बाद सुधर्मास्वामी के द्वारा जम्बूस्वामी को दी गई वाचना में स्कन्दक अनगार का नाम जोड़ दिया गया था फिर ज्ञान योग होने से अनागत काल भावी चरित्र का गणधरों ने पूर्व में ही बतला दिया। चरित्र में भूतकाल की क्रिया का निर्देश किया है, यह अनागत में घटना घटित होने की अपेक्षा से किया है। अतः भूतकालिक क्रिया भी दोषयुक्त नहीं है।[1]

द्वादशाङ्गी तो भगवान् महावीर से भी पूर्व की है। भगवान् महावीर ही नहीं ऋषभदेव भगवान् से भी पूर्व की है। अर्थात् अतीत में ऐसा कोई भी समय नहीं था जिसमें द्वादशाङ्गी का अस्तित्व न रहा हो। वर्तमान में भी उसका अस्तित्व विद्यमान है। भविष्य में भी कोई भी समय ऐसा नहीं रहेगा जिसमें द्वादशाङ्गी का अस्तित्व न रहा हो।

अनादि अनन्तकाल से द्वादशांगी चली आ रही है। इसकी सत्ता कभी भी नष्ट नहीं होने वाली है। यह ध्रुव नियत, शाश्वत, अक्षय, अव्याबाध, अवस्थित और नित्य है।

*पंचास्तिकाय का अस्तित्व जिस प्रकार शाश्वत है, उसी प्रकार द्वादशांगी भी शाश्वत अनादि-*कालीन है।[2]

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि द्वादशांगी अनन्त चौबीसियों से चली आ रही है। यदि यह माना जाय कि स्कंदक का मूल चरित्र तो पूर्व से ही था, जो कि किसी अन्य के नाम से था तो वह अन्य के नाम से स्कंदक चरित्र किस तीर्थंकर के समय द्वादशांगी में वर्णित था। क्या चौबीस तीर्थंकरों के सानिध्य में स्कंदक परिव्राजक की तरह ही घटनाएँ घटित होती रही ? जिसमें नाम का परिव-

1. कथमेतत्-[illegible] स्कन्दकचरितात्सर्वमेतद्गौतमप्रश्ननिर्वचनमुक्तं [illegible] च स्कन्दकचरित्रमिदं [illegible] इति कथं न विरोधः ? उच्यते, श्रीमन्महावीरतीर्थे किल नववाचनाः तत्र च सर्वासु वाचनासु स्कन्दकचरितात्पूर्वं ये स्कन्दकचरिताभिधेयार्थास्ते अर्थान्तरद्वारेण प्रज्ञाप्यन्ते, स्कन्दकचरितोत्पत्तौ च सुधर्मस्वामिना जम्बूनामानं स्वशिष्यमङ्गीकृत्याधिकृत वाचनायामस्यां स्कन्दकचरितमेवाश्रित्य तदर्थः प्रज्ञप्त इति न विरोधः। अथवा अतिशायित्वादनागतकालभाविचरितनिबन्धनमदुष्टमिति, भाविनिर्देशस्त्वतीतकालनिर्देशोऽपि न दुष्ट इति ॥

2. इच्चेइयं दुवालसंगं गणिपिडगं न कयाइ नासी, न कयाइ, न भवइ, न कयाइ न भविस्सइ, भुविं च, भवइ य, भविस्सइ य, धुवे, नियए, सासए, अक्खए, अव्वए, अवट्ठिए निच्चे। से जहानामए पंचत्थिकाए न कयाइ नासी न कयाइ नत्थि, न कयाइ न भविस्सइ, भुविं च, भवइ य, भविस्सइ य धुवे नियए, सासए, अक्खए, अव्वए, अवट्ठिए, निच्चे, एवामेव दुवालसंगं गणिपिडगं न कयाइ नासी, न कयाइ नत्थि, न कयाइ न भविस्सइ, भुविं च, भवइ य, भविस्सइ य धुवे, नियए, सासए, अक्खए, अव्वए, अवट्ठिए, निच्चे। —नंदीसूत्र

र्तन होता रहा। यदि नहीं तो फिर अनन्त चोवीसियों में प्रत्येक तीर्थकर के सान्निध्य में भी ऐसी घटना घटित होना माना जाय, जिससे यह माना जा सके कि प्रत्येक तीर्थंकर के सान्निध्य में नाम परिवर्तन के साथ स्कन्दक का चरित्र चलता रहा किन्तु यह आवश्यक नहीं होता कि प्रत्येक तीर्थंकर के सान्निध्य में या पूर्व में ऐसी घटना घटी ही हो।

स्कन्दक परिव्राजक का ही प्रश्न नहीं, ऐसी अनेक घटनाएँ शास्त्रों में मिलती हैं कि जिस व्यक्ति का यह वर्णन शास्त्र में चल रहा है वह व्यक्ति ग्यारह अंगों का अध्ययन कर चुका होता है और यदि माना जाय कि अतिशयज्ञानवान होने से स्कन्दक चरित्र को घटित होने के पूर्व ही ग्यारह अंगों में संयोजित कर दिया हो तो यह उचित प्रतीत नहीं होता। यदि ऐसा होता तो फिर उस समय भी बहुत से साधु साध्वियों ने ग्यारह अङ्गों का अध्ययन कर लिया था, उन सबको स्कन्दक परिव्राजक की होने वाली घटना पूर्व से ही ज्ञात हो जाती। तब फिर गौतमस्वामी को संबोधित करके भगवान् को यह घटना बतलाने की आवश्यकता ही नहीं रहती क्योंकि वे तो पूर्व से ही द्वादशांगी के ज्ञान से जान चुके हैं। रहा प्रश्न नामान्तर से घटित होने वाली घटनाओं का तो तत्संबंधी स्पष्टीकरण यह है कि द्वादशांगी के मौलिक सिद्धान्त अनादिकाल से चले आ रहे हैं। वे ध्रुव, नियत, शाश्वत और नित्य हैं। किन्तु उन सिद्धांतों का जिज्ञासुओं को सरलता से बोध कराने के लिये समय समय पर तीर्थ-करों ने उस समय में घटित घटनाओं का वर्णन किया। अर्थात् चरितानुवाद का सहारा लिया। इसका तात्पर्य यह नहीं होता कि जो घटनाएँ शास्त्रों में विवेचित है, वे नामान्तर से उसी रूप में पूर्व में घटित हुई हों। हां! यह हो सकता है कि चरितानुवाद में जिस शाश्वत सत्य को समझाने के लिए तीर्थंकर भग-वंत उस समय का तत्कालीन घटनाओं और चरित्रों के द्वारा श्रोताओं को उद्बोधित करते हैं। व्यक्ति-गत चरित्र परिवर्तित हो सकते है, किन्तु शाश्वत सत्य परिवर्तित नहीं होते।

स्कंदक परिव्राजक की घटना जिसप्रकार भगवान महावीर के सान्निध्य में घटी, वैसी ही नामान्तर से पूर्व में भी घटित हुई हो, यह आवश्यक नहीं है। यह तो स्पष्ट है कि स्कंदक परिव्राजक ने जिन प्रश्नों को भगवान से पूछा, उनका जो भगवान् ने समाधान दिया, वह अनादिकालीन और शाश्वत है।

जिसप्रकार कर्मबद्ध आत्माएं भव-भवान्तरों में विविध परिवेश में आती हुई भी उनका मौलिक चैतन्य स्वरूप शाश्वत रहता है, उसीप्रकार चरित तो परिवर्तित होते रहते हैं किन्तु उसमें रहने वाला उपदेश शाश्वत होता है। अतः स्कंदक परिव्राजक के चरित्र में रहने वाला उपदेश शाश्वत सत्य, अनादिकालीन है।

घटनाक्रम देश, काल एवं अनेक तीर्थंकरों के समयानुसार परिवर्तित होते रहते हैं।

द्वादश भिक्षु प्रतिमा — स्कंदक अनगार ने भगवदाज्ञा को प्राप्तकर बारह भिक्षु प्रतिमाओं का सम्यक् प्रकार से आराधन किया था। उन बारह भिक्षु प्रतिमाओं की संक्षिप्त व्याख्या इसप्रकार है—

बारह भिक्षु प्रतिमाओं में प्रथम की सात प्रतिमाएं एक-एक मास की होती हैं। अवशेष पांच प्रतिमाओं में से तीन प्रतिमाएं सात-सात अहोरात्रि की तथा ग्यारहवीं भिक्षु प्रतिमा एक अहोरात्रि की तथा बारहवीं भिक्षु प्रतिमा एक रात्रि की होती है।

एकमास की भिक्षु प्रतिमा — पहली प्रतिमा के धारक साधक शरीर सम्बन्धी ममत्व का परित्याग कर, शरीर संस्कार को भी छोड़ देवें। सभी प्रकार के मनुष्य, तिर्यंच तथा देवता सम्बन्धी उपसर्गों को दीनतारहित होकर समभावपूर्वक सहन करें। अज्ञातकुल से गोचरी लेवें। एक दत्ति आहार और एक दत्ति पानी प्रासुक और एषणीय ग्रहण करें। दत्ति से तात्पर्य एक साथ एक धार से जितना पात्र में गिर जाय उतना ग्रहण करना एक दत्ति है।

प्रतिमाधारी साधक गोचरी के तीन विभाग प्रातः, मध्याह्न, सायंकालीन करें। उनमें से वे स्वेच्छानुसार किसी एक समय भिक्षा ग्रहण करें। वे गोचरी का ग्रहण भी निम्न प्रतिमाओं के साथ करें।

(i) पेटी का आकार — इसमें पेटी के समान चतुष्कोण में स्थित घरों में भिक्षा हेतु गमन करना होता है।

(ii) अर्द्धपेटी का आकार — इसमें द्विकोण में स्थित घरों से भिक्षा ग्रहण करनी होती है।

(iii) गोमूत्रिका — गाय के मूत्र के समान (वक्राकार) आड़ी-टेढ़ी दिशा में स्थित घरों में भिक्षा ग्रहण करना होता है।

(iv) पतंगवीथिका — पतंग के उड़ने के समान एक घर से भिक्षा ली, फिर कुछ घर छोड़कर भिक्षा ग्रहण करना।

(v) शंखावर्ता — शंख के चक्र के समान गोलाकार घूमकर भिक्षा ग्रहण करना। यह भिक्षा दो प्रकार से होती है। (i) आभ्यन्तर शंखावर्ता — अर्थात् बाहर गोलाकार गोचरी करते हुए भीतर की ओर आना। (ii) बाह्यशंखावर्ता — अर्थात् भीतर से गोचरी करते हुए बाहर की ओर आना।

(vi) गत प्रत्यागता — पंक्तिबद्ध घरों में से अंतिम घर से आहार ग्रहण कर पुनः लौटते हुए शेष घरों से गोचरी करना।

मासिकी भिक्षु प्रतिमाधारक साधक को जिस स्थान पर गृहस्थ जान लेते हैं, वहां वे एक रात्रि से अधिक नहीं रह सकते हैं और जहां नहीं जानते हैं वहां एक या दो रात्रि से अधिक नहीं रह

सकते हैं। दो रात्रि से अधिक दिनों तक रुकते हैं, तो जितने दिन रुके, उतने ही दिनों का छेद या तप प्रायश्चित्त आता है।

ये साधक चार प्रकार की ही भाषा बोलते हैं:—

१—याचनी—भिक्षा याचना करने के लिये।

२—पृच्छनी—प्रयोजनवशात् मार्गादि पूछने के लिये।

३—अनुज्ञापनी—स्थानादि में रहने हेतु आज्ञा लेने के लिये।

४—पृष्टव्याकरणी—पूछे गये प्रश्न का उत्तर देने के लिये।

प्रतिमाधारी साधक तीन स्थान पर रह सकते है—

१—अध•आरामगृह—आराम, उद्यान आदि नीरव स्थान में।

२—अधोविवृत गृह—जो चारों ओर से खुला हो, केवल उपर छन्न हो। ऐसे स्थान में।

३—अधावृक्षमूल गृह—वृक्ष के नीचे के स्थान में।

ऐसे स्थान में रहते हुए प्रतिमाधारी साधक तीन संस्तारक में से कोई भी संस्तारक ग्रहण कर सकते है। (१) पृथ्वीशिला (२) काष्ठशिला (३) उपाश्रय में पूर्व में विद्यमान संस्तारक। जिस उपाश्रय में प्रतिमाधारी साधक ठहरते हैं, उस उपाश्रय में यदि स्त्री-पुरुष प्रवेश कर जाय तो वे साधक जहां पर हों वहीं खड़े रहें अर्थात बाहर हो तो उनके कारण अन्दर न आया जाय, अन्दर हो तो बाहर न आए किन्तु जहां पर हो वही ध्यान में तल्लीन हो जाय। यदि उपाश्रय में कोई व्यक्ति अग्नि प्रज्वलित कर दे तो अग्नि के भय से अन्दर से बाहर न आए और बाहर से भीतर न जाए। किसी के द्वारा भुजा पकड़कर खींचे जाने पर नारियल और ताल प्रलम्ब की तरह अवलम्ब-प्रलम्ब न करे अर्थात् उसकी भुजा को पकड़कर लटक न जाय किन्तु ईर्या-समिति के अनुसार युग प्रमाण-साढ़े तीन हाथ भूमि को देखता हुआ चले। पैर में काटा आदि चुभ जाने पर न तो उसे निकाले न ही उसे शोधित करे।

चलते-२ जिस किसी स्थान पर सूर्यास्त हो जाय तो वही ठहर जायें। वहां से एक कदम भी आगे न चले। रात्रि में जिस दिशा की ओर मुह करके ध्यान करे उसी दिशा में प्रातः विहार करे। सचित्त पृथ्वी पर निद्रा या प्रचला नामक निद्रा का सेवन नहीं करे। क्योंकि साधक के स्पर्श मात्र से प्राणियों के हनन की संभावना रहती है। अतः यथाविधि शास्त्र के निर्देशानुसार निर्दोष स्थान पर रहे। उच्चार प्रश्रवणादि की बाधा होने पर उन्हें न रोककर पूर्व प्रतिलेखित स्थान पर विसर्जित कर दे, तथा स्वस्थान पर आकर के कार्योत्सर्ग करे। यदि सचित्त रजकण शरीर में स्पर्शित हो जाय तो जब तक प्रस्वेदादि (पसीने आदि) से अचित न हो जाय, तब तक अशनादि के लिये गृहस्थ के घर

नहीं जाए। अचित्त पानी से हस्तादि अंगों का प्रक्षालन नहीं करे। अंगों पर अशुचि वस्तु लग गई हो और जिससे स्वाध्यायादि में बाधा आती हो तो अचित्त जल से विवेक के साथ उन्हें साफ करलें।

चलते हुए रास्ते में सामने से हाथी, घोड़ा, वृषभ, महिष, वराह (सुअर) कुत्ता, व्याघ्र आदि आ जावे तो उनके भय से एक कदम भी पीछे नहीं हटे। किन्तु अहिंसक भद्रप्राणी सामने आ जाय और उन्हें साधक को देखकर भय उत्पन्न होता हो तो युगप्रमाण भूमि आगे या पीछे हट जाय, जिससे उन प्राणियों को भय उत्पन्न न हो। शीत या उष्ण निवारण करने के लिये स्थानान्तरण न करें।

उपर्युक्त मासिकी भिक्षु प्रतिमा यथासूत्र, यथाकल्प, यथामार्ग, यथातथ्य, काया से स्पर्श करके, पालन करके, अतिचारों की शुद्धि कर, पूर्ण कर, कीर्तन कर, आराधना कर भगवदाज्ञानुसार पालन की जाती है। यह प्रतिमा एक मास में पूर्ण होती है।

इस प्रतिमा में बतलाये गये विधि-विधान निर्दिष्टमान प्रतिमाओं में भी समझना चाहिये। विशेषता यह है कि दूसरी से लेकर सातवीं तक की छः प्रतिमाओं में एक-एक दत्ति बढ़ती जाती है। दूसरी प्रतिमा दो दत्ति, तीसरी में तीन दत्ति इसीप्रकार सातवीं में सात दत्ति अर्थात् सातवीं प्रतिमा का धारक साधक सात बार में जितना अन्न-जल पात्र में आए उतना ले सकता है। ये सभी प्रतिमाएं एक-एक मास की होती है। केवल दत्ति वृद्धि की अपेक्षा इन्हें एक मासिकी, द्विमासिकी आदि कहा जाता है।

आठवीं भिक्षु प्रतिमा सात अहोरात्रि की होती है। इसमें अपानक उपवास करना होता है। शरीर के ममत्व का त्यागकर सभी परीषह-उपसर्गों को सहन करना होता है। इसमें चार उपवास और तीन पारणे आते हैं। ग्राम या राजधानी के बाहर तीन आसन से शयन करे।—(१) उत्तान-चित्त सोना (२) पार्श्विक-पार्श्व करवट से सोना (३) नैषधिक-बैठक जमीन पर लगाकर सोना। किसी प्रकार के परीषह-उपसर्ग आने पर ध्यान से विचलित नहीं होना। उच्चार, प्रस्रवणादि की स्थिति में पूर्व प्रतिलेखित स्थान पर जाकर निवृत्त हो जाना तथा पुनः स्थान पर आकर कायोत्सर्ग करना।

नवमी साप्ताहिक भिक्षु प्रतिमा भी इसीप्रकार होती है। इसमें केवल आसन का परिवर्तन होता है।

१. दण्डायतिक—दण्ड के समान लम्बे होकर शयन करना।

२. लगण्डशायी—वक्रकाष्ठ की तरह कुब्ज हो कर सोना। जिसमें मस्तक और पैर की एड़ी धरती को स्पर्श करती है, पीठ ऊपर रहती है।

३. उत्कुटुकासनिक—भूमि पर पुत-बैठक न लगाकर पैरों पर बैठना।

दसवीं साप्ताहिक भिक्षु प्रतिमा में भी आसन का ही अन्तर होता है।

१. गोदोहिकासन—गाय दुहने के लिये जिसप्रकार पैरों के तले उठाकर बैठा जाता है, उस-प्रकार बैठकर ध्यान करना।

२. वीरासन—सिंहासन के आकार की तरह बैठना अर्थात् जैसे कोई व्यक्ति सिंहासन पर बैठा हो, दूसरा व्यक्ति आकर पीछे से सिंहासन हटा दे फिर भी सिंहासन पर बैठा व्यक्ति उसीप्रकार से बैठा रहे। ऐसी स्थिति को वीरासन कहते है। इसमें बहुत शक्ति की आवश्यकता होने से इसे वीरासन कहा है।

३ आम्रकुब्जासन—आम्र के आकार की तरह बैठना अर्थात् समस्त अंगो को संकुचित करके बैठना।

ग्यारहवीं भिक्षु प्रतिमा एक अहोरात्रि की होती है। किन्तु यह चौविहार षष्ठ तप से की जाती है। ग्राम या राजधानी से बाहर जाकर दोनों पैरो को संकोचकर भुजाओं को जानु पर्यन्त लम्बी कर ध्यान किया जाता है।

बारहवीं भिक्षु प्रतिमा भी एकारात्रि की होती हैं। यह चौविहार अष्टम भक्त से की जाती है। ग्राम या राजधानी से बाहर जाकर शरीर को कुछ झुकाकर एक पुद्गल पर दृष्टि स्थिरकर, सभी इन्द्रियों को वश में कर दोनों पैरों को संकुचित और भुजाओ को लम्बी करके कायोत्सर्ग किया जाता है। परीषह उपसर्ग आने पर ध्यान से विचलित न होकर, उन्हे समभाव से सहन करना होता है। मल-मूत्रादि की बाधा होने पर पूर्व प्रतिलेखित स्थान पर विसर्जित किया जाता है। तथा पुनः आकर कायो-त्सर्ग करना होता हैं।

इस प्रकार इन बारह भिक्षु प्रतिमाओं को शास्त्रोक्त विधि से पालन करने वाला भगवान की आज्ञा का आराधक होता है।

बारवी भिक्षु प्रतिमा का सम्यक् प्रकार से पालन नही करने पर तीन स्थान जीव के लिये अहित अशुभ अक्षमा तथा अकल्याणकर होते हैं। इसका सम्यक् प्रकार से पालन करने पर तीन स्थान, हित, शुभ, क्षमा तथा कल्याणप्रद होते हैं।

तीन अशुभ स्थान—

(१) उन्माद की प्राप्ति हो जाना।
(२) दीर्घकालिक रोग हो जाना।
(३) केवली प्ररूपित धर्म से भ्रष्ट हो जाना।

तीन शुभ स्थान—

(१) अवधि ज्ञान।

[20]वीसइमेणं, दसमं मासं [21]बावीसमं बावीसइमेणं, एक्कारसमं मासं [22]चउवीसतिमं चउवीसइमेणं, बारसमं मासं [23]छव्वीसइमं छव्वीसइमेणं, तेरसमं मासं [24]अट्ठावीसतिमं [25]अट्ठावीसइमेणं, [26]चउद्दसमं मासं [27]तीसइमं तीसइमेणं [28]पन्नरसमं मासं [29]बत्तीसतिमं बत्तीसइमेणं [30]सोलसमं मासं [31]चोत्तीसइमं [32]चोत्तीसइमेणं [33]अनिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं दिया [34]ठाणुक्कुडुए सूराभिमुहे आयावणभूमीए आयावेमाणे रत्तिं वीरासणेणं [35]अवाउडेणं ।

सूत्र ५१. [1]तए णं से खंदए अणगारे [2]गुणरयणसंवच्छरं तवोकम्मं अहासुत्तं अहाकप्पं [A]जाव [3]आराहेत्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता समणं भगवं महावीरं वंदइ [4]नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता बहूहिं चउत्थ-[5]छट्ठट्ठम-दसम-दुवालसेहिं [6]मासद्धमासखमणेहिं विचित्तेहिं तवोकम्मेहिं अप्पाणं भावमाणे [7]विहरति ।

करना, नवमें मास में नव-नव उपवास करना, दसवें महीने में दस-दस उपवास करना, ग्यारहवें महीने में ग्यारह-ग्यारह उपवास करना, बारहवें महीने में बारह-बारह उपवास करना, तेरहवें महीने में तेरह-तेरह उपवास करना, चौदहवें महीने में चौदह-चौदह उपवास करना, पन्द्रहवें मास में पन्द्रह पन्द्रह उपवास करना, सोलहवें मास में सोलह-सोलह उपवास करना। इस प्रकार निरन्तर तप करते हुए दिन में उत्कुटुक आसन से आतापना भूमि में आतापना लेना। रात्रि में अनावृत (वस्त्र रहित) होकर वीरासन से ध्यान करना।

(५१) इस प्रकार के गुण रत्न संवत्सर तप को स्कंदक अनगार यथासूत्र यथाकल्प यावत् आराधना करके जिधर श्रमण भगवान महावीर स्वामी विराजमान थे, उधर पधारते हैं पधारकर श्रमण भगवान महावीर स्वामी को वन्दन नमस्कार करते हैं वन्दन नमस्कार करके बहुत बार उपवास, बेला, तेला, चार, पांच मास विविध विविध प्रकार के तपश्चरण से आत्मा को भावित करते हुए विचरण करते हैं।

[illegible] ॥ २०. [illegible] ॥ २१. [illegible] ॥ २२. [illegible] ॥ २३. [illegible] ॥ २४. [illegible] ॥ २५. [illegible] ॥ २६. [illegible] ॥ २७. [illegible] ॥ २८. [illegible] ॥ २९. [illegible] ॥ ३०. [illegible] ॥ ३१. [illegible] ॥ ३२. [illegible] ॥ ३३. [illegible] ॥ ३४. [illegible] ॥ ३५. [illegible] ॥ १. [illegible] ॥ २. [illegible] ॥ ३. [illegible] ॥ ४. [illegible] ॥ ५. [illegible] ॥ ६. [illegible] ॥ ७. [illegible] ॥

A. [illegible] ॥

विवेचन—

स्कंदक अनगार ने भगवान महावीर की आज्ञा प्राप्त करके गुणरत्नसंवत्सर नामक तप का यथाविधि पालन किया।

'गुणरयणसंवच्छर' पद की संस्कृत छाया दो प्रकार से निष्पन्न होती है—

(१) गुणरचन संवत्सर (२) गुणरत्न संवत्सर

जिस तप के आचरण से सोलह मास तक गुणों की अर्थात् कर्मों की निर्जरा हो, उसे गुणरचन कहते हैं। गुणों का प्रकटीकरण कर्मों की निर्जरा से ही होता है।[1]

जिस तप के आचरण में सोलहमास पर्यन्त गुणरूप रत्नों की उपलब्धि के लिये प्रयत्न किया जाय, उसे गुणरत्न संवत्सरतप कहते हैं।[2]

इस गुणरत्नसंवत्सर तप विधि को पूर्ण करने में सोलह मास लगते हैं। जिसमें ४०७ दिन तपस्या के तथा ७३ दिन पारणे के आते हैं। इस तप विधि में किसी महीने में तपस्या तथा पारणे के दिन मिलाकर अधिक दिन हो जाते हैं तो किसी महीने में कम हो जाते है। किन्तु कुल जोड़ मिलने पर तप की विधि १६ महीने (४८० दिन) में पूर्ण हो जाती हैं।

गुणरत्नसंवत्सर तप विधि का सरलता से अवबोध कराने वाला ज्ञापक कोष्टक अगले पृष्ठ पर दिया जा रहा है —

1. गुणानां-निर्जराविशेषाणां रचनं-करणं संवत्सरेण सत्रिभागवर्षेण यस्मिन्तपसि तत् गुणरचनसंवत्सरं।
2. गुणा एव वा रत्नानि तत्र तथा गुणरत्नःसंवत्सरो यत्र तद्गुणरत्नसंवत्सरं-तपः।

गुणरत्नसंवत्सर तप विधि

तप दिन		पारणा
३२	१६ १६	२
३०	१५ १५	२
२८	१४ १४	२
२६	१३ १३	२
२४	१२ १२	२
३३	११ ११ ११	३
३०	१० १० १०	३
२७	९ ९ ९	३
२४	८ ८ ८	३
२१	७ ७ ७	३
२४	६ ६ ६ ६	४
२५	५ ५ ५ ५ ५	५
२४	४ ४ ४ ४ ४ ४	६
२४	३ ३ ३ ३ ३ ३ ३ ३	८
२०	२ २ २ २ २ २ २ २ २ २	१०
१५	१ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १	१५
कुल ४०७ दिन	कुल दिनों का योग ४८०	कुल ७३ दिन

उपर्युक्त विधि में ४०७ दिन तपस्या के ७३ दिन पारणे के होते हैं। कुल मिलाकर ४८० दिन होते हैं।

सूर्योदय से पूर्व [illegible] रात्रि की ३६ घंटे के पश्चात् किसी भी प्रकार का अशन ग्रहण नहीं करना तथा सूर्योदय से लेकर दूसरे दिन सूर्योदय तक भी किसी प्रकार का आहारादि ग्रहण नहीं करने पर ही उपवास होता है। उपवास का अपरनाम 'चतुर्थभक्त' संज्ञावाचक है। षष्ठ, अष्टम आदि क्रमशः बेले तेले आदि तपों के संज्ञावाचक नाम हैं।

महान् तपस्वी के रूप में स्कन्दक अनगार—

सूत्र ५२. [1]तए णं से खंदए अणगारे तेणं [2]ओरालेणं [3]विउलेणं [4]पयत्तेणं [5]पग्गहिएणं कल्लाणेणं सिवेणं [6]धन्नेणं [7]मंगल्लेणं [8]सस्सिरीएणं [9]उदग्गेणं उदत्तेणं [10]उत्तमेणं उदारेणं [11]महाणुभागेणं [12]तवोकम्मेणं [13]सुक्के [14]लुक्खे निम्मंसे अट्ठिचम्मावणद्धे [15]किडिकिडियाभूए किसे धमणिसंतए [16]जाते यावि होत्था, [17]जीवंजीवेण गच्छइ, [18]जीवंजीवेण चिट्ठइ, भासं भासित्ता वि [19]गिलाई भासमाणे [20]गिलाति, भासं भासिस्सामीति [21]गिलायति, से [22]जहा नाम [23]कट्ठसगडिया इ [24]वा पत्तसगडिया [25]वा पत्त [26]तिलभंडगसगडिया इ वा [?]कट्ठसगडिया इ वा [27]इंगालसगडिया

(५२) इस प्रकार कठोर तपश्चर्या करने पर वे स्कंदक अनगार उदार, विपुल, प्रदत्त, प्रगृहीत कल्याण रूप, शिवरूप, धन्यरूप, मंगलरूप, शोभास्पद उदग्र (उत्तरोत्तर वृद्धि युक्त) उदात्त (उज्ज्वल) सुन्दर, उत्तम, उदार, महान् प्रभाव वाले तप से शुष्क हुए रूक्ष हुए मांस विहीन हुए हड्डी व चमड़ी से ही जिनका शरीर आवृत हो गया उनका शरीर इतना कृश हो गया था कि चलते हुए उनकी हड्डियां कड़ कड़ की आवाज करने लगती। नाड़ियां सामने दिखाई देने लगी। अब वे केवल आत्मा के बल चलते थे। आत्मा के बल बैठते थे। उन्हें भाषा बोलने से ग्लानि थकावट होती। उनका शरीर इतना शुष्क हो चुका था कि बोलते समय भी ग्लानि का अनुभव करते। यही नहीं, बोलना पड़ेगा इस चिन्तन से भी उनको ग्लानि होती। जैसे कोई लकड़ी से भरी हुई गाड़ी हो, पत्तों से भरी हुई गाड़ी हो, पत्ते तिल और अन्य सूखे सामान

[?]-१. तते णं - जं ॥ २. उरालेणं - अमो० पा० । °णं कल्लाणेण - जं० । ओरालेन आशंसारहिततया प्रधानेन - [?]० । उरालेणं - ला ३-४ । ३. विपुलेणं - वे० म० ॥ ४. "प्रदत्तेन अनुज्ञातेन"... "प्रयतेन वा प्रयत्नवता [?]० ॥ ५. परिग्गहि° - ला २ । ६. धण्णेणं - वे० म० ॥ ७. मंगलेणं - वे० । ८. सस्सिरि° - पा० । सस्सिर-[?]न - ला ४ । °एणं विउलेणं पयतेणं पग्गहिएणं उदत्तेणं उदग्गेणं उदारेणं उत्तमेण महाणुभागेणं - जं० । [?] [?]णेण तवोकम्मेणं उत्त° - ला ३ ॥ ९. उदग्गेण तवोकम्मेणं उत्तमेणं - ला० । उदग्गेणं उत्तिमेणं - ला ४ ॥ [?]. "उत्तमेण त्ति ऊर्ध्वं तमसः अज्ञानात् तेन 'उत्तमपुरुष सेवितत्वाद् वा उत्तमेन" - अवृ० ॥ ११. °भागेणं - [?] । १२. तवोकम्मेणं - म० ॥ १३ सुक्के भुक्खे णिम्मंसे किडिकिडियाभूते अट्ठिचम्मावणद्धे - जं० ॥ [?] सुक्के - अ० मं० । लुक्खे भुक्खे णिम्मंसे - ला० ॥ १५. °किडिय° - अमो० अ० व० । "किडिकिडिका-निर्मा-[?]स्वकस्पर्शनादि-निरामपुरुषः शब्द विशेष ता भूत प्राप्तः" - अवृ० ॥ १६. जाए० अमो० पा० म० ॥ [?]१८. °जीवेणं - अमो० म० वे० म० ॥ १९. गिलाति - जं० ॥ २०. गिलाइ - अमो० पा० म० ॥ २१. गिलाइ [?] - अमो० पा० म० । गिलाति - वे० म० ॥ २२. जहा नाम ए इंगालसगडिया वा पत्तसगडि० [?]सगडिया इ [?]सगडिया इ वा उन्हे - जं० ॥ २३. 'ए' ति वाक्यालंकारे इति प्राचीनतम अवृ० आदर्श मुनिश्री [?] 'ए' [?] पाठो वर्तते । २४. वा तिलभंडासगडिया सिया - ला १ ॥ २५. इ वा [?]सगडिया इ वा [?] - पा० । वा तिलकट्ठसगडिया इ वा ए - अवृ पा० ॥ २६. तिलगडगसगडिया - मुपा० ॥ २७. इंगालक[?]

गुणरत्नसंवत्सर तप विधि

तप दिन																पारणा
३२	१६	१६														२
३०	१५	१५														२
२८	१४	१४														२
२६	१३	१३														२
२४	१२	१२														२
३३	११	११	११													३
३०	१०	१०	१०													३
२७	९	९	९													३
२४	८	८	८													३
२१	७	७	७													३
२४	६	६	६	६												४
२५	५	५	५	५	५											५
२४	४	४	४	४	४	४										६
२४	३	३	३	३	३	३	३	३								८
२०	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२						१०
१५	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१५
कुल ४०७दिन	कुल दिनों का योग ४८०															कुल ७३ दि

उपर्युक्त विधि से ४०७ दिन तपस्या के ७३ दिन पारणे के होते हैं। कुल मिलाकर ४८० दिन होते हैं।

सूर्योदय से पूर्व कम से कम विगत रात्रि की १२ बजे के पश्चात् किसी भी प्रकार का अन्न-जल ग्रहण नहीं करना तथा सूर्योदय से लेकर दूसरे दिन सूर्योदय तक भी किसी प्रकार का आहारादि ग्रहण नहीं करने पर ही उपवास होता है। उपवास का अपरनाम 'चतुर्थभक्त' संज्ञावाचक है। षष्ठ, अष्टम आदि क्रमशः बेले तेले आदि तपों के संज्ञावाचक नाम हैं।

महान् तपस्वी के रूप में स्कन्दक अनगार—

सूत्र ५२. [1]तए णं से खंदए अणगारे तेणं [2]ओरालेणं [3]विउलेणं [4]पयत्तेणं [5]पग्गहिएणं कल्लाणेणं सिवेणं [6]धन्नेणं [7]मंगल्लेणं [8]सस्सिरीएणं [9]उदग्गेणं उदत्तेणं [10]उत्तमेणं उदारेणं [11]महाणुभागेणं [12]तवोकम्मेणं [13]सुक्के [14]लुक्खे निम्मंसे अट्ठिचम्मावणद्धे [15]किडिकिडियाभूए किसे धमणिसंतए [16]जाते यावि होत्था, [17]जीवंजीवेण गच्छइ, [18]जीवंजीवेण चिट्ठइ, भासं भासित्तावि [19]गिलाई भासं भासमाणे [20]गिलाति, भासं भासिस्सामीति [21]गिलायति, से [22]जहा नाम [23]ए कट्ठसगडिया इ [24]वा पत्तसगडिया इ [25]वा पत्त [26]तिलभंडगसगडिया इ वा एरंडकट्ठसगडिया इ वा [27]इंगालसगडिया

(५२) इस प्रकार कठोर तपश्चर्या करने पर वे स्कंदक अनगार उदार, विपुल, प्रदत्त, प्रगृहीत कल्याण रूप, शिवरूप, धन्यरूप, मंगलरूप, शोभास्पद उदग्र (उत्तरोत्तर वृद्धि युक्त) उदात्त (उज्ज्वल) सुन्दर, उत्ताम, उदार, महान् प्रभाव वाले तप से शुष्क हुए रूक्ष हुए मांस विहीन हुए हड्डी व चमड़ी से ही जिनका शरीर आवृत हो गया उनका शरीर इतना कृश हो गया था कि चलते हुए उनकी हड्डियां कड़ कड़ की आवाज करने लगती। नाड़िया सामने दिखाई देने लगी। अब वे केवल आत्मा के बल चलते थे। आत्मा के बल बैठने थे। उन्हें भाषा बोलने में ग्लानि थकावट होती। उनका शरीर इतना शुष्क हो चुका था कि बोलने समय भी ग्लानि का अनुभव करते। यही नही, बोलना पड़ेगा इस चिन्तन से भी उनको ग्लानि होती। जैसे कोई लकड़ी से भरी हुई गाड़ी हो, पत्तों से भरी हुई गाड़ी हो, पत्ते तिल और अन्य सूखे सामान

१५२-१. तते णं - जं ॥ २. उरालेणं - अमो० पा० । "तेणं कल्लाणेण - जं० । आरालेन आशंसारहिततया प्रधानेन - अ०। उरालेणं - ला ३-४ ॥ ३. विपुलेणं - वे० म० ॥ ४. "प्रदत्तेन अनुज्ञातेन" "प्रयतेन वा प्रयत्नवता अ०॥ ५. परिग्गहि° - ला २ । ६. धण्णेणं - वे० म० ॥ ७. मंगल्लेणं - वे० । ८. ससिरि° - पा० । ससिरिए - ला ४ । °एणं विउलेणं पयत्तेणं पग्गहिएणं उदत्तेणं उदग्गेण उदारेणं उत्तमेणं महाणुभागेणं - जं० । °एणं उदग्गेणं तवोकम्मेणं उत्त° - ला ३ ॥ ९. उदग्गेण तवोकम्मेणं उत्तमेणं - ला० । उदग्गेणं उत्तिमेणं - ला ४ ॥ १०. "उत्तमेण त्ति उर्द्ध तमसः अज्ञानात् तेन 'उत्तमपुरुष मेविश्वाद् वा उत्तमेन" - अ०॥ ११. °भागेणं - ला ४ १२. तवोकम्मेणं - म० ॥ १३ सुक्के भुक्खे णिम्मंसे किडिकिडियाभूते अट्ठिचम्मावणद्धे - जं० ॥ १४. भुक्खे - भ० मं० । लुक्खे भुक्खे णिम्मंसे - लों० ॥ १५. °किडिय° - अमो० अ० व० । "किडिकिडिया-निर्मांसास्थ्नामुपवेशनादि-क्रियासमुत्थः शब्द विशेष तां भूत प्राप्तः" - अ० ॥ १६. जा° अमो० पा० म० । १७-१८. °जीवेणं - अमो० म० वे० म० ॥ १९. गिलाति - जं० ॥ २०. गिलाइ - अमो० पा० म० ॥ २१. गिलाइ - अमो० पा० म० । गिलाति - वे० म० ॥ २२. जहा नाम दे इंगालसगडिया वा पत्तसगडि० तिलसगडिया इ वा एरंडसगडिया इ वा उण्हे - जं० ॥ २३. 'ए' ति वाक्यालंकारे इति प्राचीनतम अ० आदर्श मुद्रितवृत्ती च्य 'ए' इसरगडिया पाठो वर्तते ॥ २४. वा तिलभंडगसगडिया तिया - ला १ ॥ २५. इ वा तिलसगडिया इ वा गडि° - पा० । वा तिलकट्ठसगडिया इ वा ए° - अवृ पा० ॥ २६. तिलभंडगसगडिया - पुरा० ॥ २७. इंगालकट्ठ-

इ वा [२८]उण्हे दिण्णा [२९]सुक्का समाणी ससद्दं गच्छइ, ससद्दं [३०]चिट्ठइ [३१]एवामेव [३२]खंदए वि अणगारे ससद्दं गच्छइ, ससद्दं चिट्ठइ, [३३]उवचिते तवेणं अवचिए [३४]मंससोणिएणं [३५]हुयासणेविव[३६] [३७]भासरासिपडिच्छिन्ने, तवेणं तेएणं तवतेयसिरीए [३८]अतीव अतीव उवसोभेमाणे २ चिट्ठइ ॥

से भरी हुई गाड़ी हो, एरण की लकड़ियों से भरी हुई गाड़ी हो, या कोयले से भरी हुई गाड़ी हो ऐसी गाड़ियां जब धूप में सूख जाती है, तब शब्द करती हुई चलती है। इसी प्रकार स्कंदक अनगार की हड्डियां चलते हुए भी आवाज करती, रुकते हुएभी आवाज करती। मांस और रक्तक्षीण हो गये थे। किन्तु राख के ढेर में दबी हुई अग्नि की तरह वे तप और तेज से तथा तप तेज की शोभा से अतीव अतीव सुशोभित हो रहे थे।

विवेचन :—

कर्ममल को भस्म करने के लिये स्कंदक अनगार ने अपनी आत्मा को तप रूपी अग्नि में डाल दिया। तपरूप अग्नि से आत्म गुणों में निखार आया, किन्तु शरीर रूक्ष, शुष्क और निर्मांस हो गया। जिस प्रकार घास, तिल अथवा कोयले से भरी हुई सूखी गाड़ियां चलती हुई कड़-कड़ की आवाज करती हैं, उसी प्रकार शरीर में शक्ति न होते हुए भी आत्मबल से उठने-बैठने और चलने पर उनकी हड्डियां कड़-कड़ की आवाज करती।

इस उदार प्रधान तप विशेष से, शरीर तो चमड़ी से वेष्टित हड्डियों का ढांचा मात्र रह गया किन्तु उनकी आत्मा तप-तेज से प्रकाशित हो गई।

उनका तप निष्काम और निस्वार्थ भावना से किया गया होने से उदार था। दीर्घ तपस्या के साथ स्कंदक अनगार में कषायों का भी उपशम होने से उनका तप विशाल था। भगवान की आज्ञा प्राप्त करके अप्रमत्त होकर तप का यथाविधि पालन करने से उनका तप उदात्त था। विशेष रूप से आज्ञा प्राप्ति होने के साथ ही तप की उपादेयता पर श्रद्धा रखते हुए आचरित होने से प्रगृहीत था।

स्कंदक अनगार का यह तप कल्याण रूप, शिव रूप, धन्य रूप, मंगल रूप, उत्तरोत्तर वृद्धि करने वाला, उत्तम तथा महाप्रभाव से संपन्न था।

गणडिया - अ० म० लों० ॥ २८. उन्हे - ला ३ ॥ २९. सुक्खा समाणा - ला १ ॥ ३०. चिट्ठ - अमो० ॥ ३१. एव-मेव - जं० ॥ ३२. खंदए अण॰ - अमो० म० ॥ ३३. उवचिए - न० ॥ ३४. णितेणं - वे० म० ॥ ३५. हुयासणेविव - ला १ ॥ ३६. °इव - जं० । ०वि भास० अमो० ॥ ३७. पडिच्छन्ने - पु० वे० म० । °च्छन्ने - अमो० म० । पडि-च्छन्ने - पा० ॥ ३८. अईव अईव - पा० ॥

स्कन्दक अनगार की धर्म जागरणा—

सूत्र-५३. तेणं कालेणं तेणं समएणं [1]रायगिहे [2]नगरे [A]जाव[3] समोसरणं [B]जाव परिसा पडिगया।

(५३) उस काल उस समय में राजगृह नाम का नगर था (वहां श्रमण भगवान महावीर स्वामी पधारे) समवसरण की रचना हुई यावत् जनता भगवान का धर्मोपदेश सुनकर वापिस लौट गई

सूत्र-५४. तए णं तस्स खंदयस्स अणगारस्स [1]अण्णया [2]कयाइ [3]पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि धम्म-जागरियं [4]जागरमाणस्स [5]इमेयारुवे [6]अब्भत्थिए चिंतिए [C]जाव [7]समुप्पज्जित्था—एवं [8]खलु अहं इमेणं इयारूवेणं [9]ओरालेणं [D]जाव किसे [10]धमणिसंतए [11]जाते [12]जीवंजीवेणं गच्छामि, [13]जीवंजीवेणं चिट्ठामि, [14]जाव[E] गिलामि,

(५४) तदनन्तर किसी दिन रात्रि के अन्तिम प्रहर में धर्म जागरण करते हुए स्कंदक अनगार के मन में इस प्रकार अध्यवसाय विचार उत्पन्न हुआ कि मैं इसप्रकार के पूर्व (प्रतिपादित) तप से यावत् कृश हो चुका हूँ। शरीर निर्मांस होने से नाड़िया स्पष्ट दिखलाई दे रही है; मैं केवल आत्मबल से चल पा रहा हूँ आत्मबल से ही ठहरता हूँ यावत् बोलने का विचार करते हुए ग्लानि का अनुभव करता हूँ। यावत् मैं चलता हूँ तो हड्डियाँ खड़-खड़ करती है

सू—५३. १. रायगृहे - घा० । ०हे नगरे समो० - ला २–३–४ ॥ २ नयरे - अमो० घा० ॥ ३. जाव - [illegible] गो० घा० न० ॥

सू—५४. १. अण्णया कयायि - ला १ ॥ २. कयाइ - घा० ला ३ । कदायी - जं० । कयाति ला ४ ॥ ३. पुव्वरत्तावरत्ता० 'इत्यत्र' अवरत्त शब्द अपराप्र' इति अथवा अपररात्र इतिरूपेण दर्शितो" वृत्तौ ॥ ४. °रम अयमेयारूवे - [illegible] २ ॥ ५. इमे एतारूवे - ला १ ॥ ६. अज्झत्थिए - घा० न० धे० म० ॥ ७. प्पज्जेत्था - अमो० ॥ ८ खलु [illegible] [illegible] - जं० ॥ ९. उरालेणं - अमो० क० ता० मं० स० ॥ १०. °मतए जाव जीवं० - अमो० । ०ए जाए जीवं° - [illegible] । धमणि° - क० ता० व० मं० ॥ ११. जाए - न० ॥ १२-१३ जीवेण - घा० ॥ १४. अनुसन्धानार्थं [illegible] [illegible] नवरं तत्र क्रियापदे 'गिलाइ' इति तृतीय पुरुषोऽस्ति अत्र तु गिलामि इति प्रथमपुरुष प्रयोगो ज्ञेय. ॥

A. औ० सू० १९-८० ?

B. औ० सू० १९-८० ?

C. दविए मणोगए संकप्पे ॥

D. [illegible] पयत्तेणं पग्गहिएणं कल्लाणेणं सिवेणं धन्नेणं मंगल्लेणं सस्सिरीएणं उदग्गेणं उदत्तेणं उत्तमेणं उदारेणं महाणुभागेणं तवोकम्मेणं सुक्के लुक्खे निम्मंसे अट्ठि-चम्मावणद्धे किडिकिडियाभूए ॥

E. भासं भासित्ता वि गिलामि भासं भासमाणे गिलामि भासं भासिस्सामीति ॥

[१५]जाव[A] एवामेव अहंपि ससद्दं गच्छामि, ससद्दं चिट्ठामि, तं अत्थि ता मे उट्ठाणे कम्मे बले वीरिए [१६]पुरिसक्कारपरक्कमे तं जाव-ता मे अत्थि [१७]उट्ठाणे कम्मे बले वीरिए पुरिसक्कारपरक्कमे [१८]जाव य मे धम्मायरिए [१९]धम्मोवदेसए समणे भगवं महावीरे जिणे [२०]सुहत्थी [२१]विहरइ तावता मे सेयं कल्लं पाउ-प्पभायाए [२२]रयणीए [२३]फुल्लुप्पल-[२४]कमलकोमलुम्मिलियंमि [२५]अहा-पांडुरे [२६]पभाए [२७]रत्तासोयप्पकास-किंसुय सुयमुह-[२८]गुंजद्धरागसरिसे [२९]कम-लागरसंडबोहए[३०] उट्ठियम्मि सूरे सहस्सरस्सिमि दिणयरे तेयसा जलंते समणं भगवं महावीरं [३१]वंदित्ता [B]जाव पज्जुवासित्ता समणेणं भगवया महा-वीरेणं [३२]अब्भणुण्णाए समाणे सयमेव पंच [३३]महव्वयाणि [३४]आरोवेत्ता समणा

बैठता हूँ तब भी करती है, फिर भी मुझ में उत्थान शक्ति है, कर्म है, बल है, वीर्य है, पुरुषाकार पराक्रम है। अतः जब तक मुझमें उत्थान कर्म बल वीर्य पुरुषाकार पराक्रम है, तथा जब तक मेरे धर्माचार्य श्रमण भगवान महावीर जिनेश्वर पुरुषों में सुहस्ती के समान विचरण कर रहे है, तब तक मेरे लिये यह श्रेय है कि कल रजनी के प्रकाशमान होने पर अर्थात् रात्रि के बीतने पर प्रातःकाल कमलों को विकसित करने वाले धवल प्रकाश के विस्तीर्ण होने पर रक्त अशोक के प्रकाश की तरह-किंशुक पलाश पुष्प शुकमुख-तोते का मुख तथा गुंजार्ध चिरमी के अर्द्ध भाग के समान लाल कमलाकर कमल समूह को विकसित करने वाले हजारों किरणों वाले दिनकर तेजो प्रदीप्त सूर्य के उदित होने पर श्रमण भगवान् महावीर स्वामी को नमस्कार कर यावत् पर्युपासना करके श्रमण भगवान् महावीर स्वामी की आज्ञा प्राप्त होने पर मैं स्वयं ही पंच महाव्रतों को पुनः स्वीकार करके श्रमण तथा श्रमणियों से क्षमा याचना करके तथारूप कृतयोगादि

१५. जाव - नत्थि अमो० । १६ ०क्कमे मडाधिणि मंवेगे नं जाव मे - जं० ॥ १७ °ट्ठाणे जाव य मे - जं० ॥ १८. जाव मम धम्मा० - अमो० ॥ १९ वएसए - अमो० । २०. सुहत्थि त्ति सुभार्थी-सुहस्ती वा पुरुषवरगंधहस्ती" - अवृ० ॥ २१. विहरति - जं० ॥ २२ रयणीए - ला० ॥ २३. ०प्पलविमल जाव तेयसा जलंते - जं० ॥ २४. सुमि-ल्लियंमि - अमो० । लुम्मिल्लियम्मि - पा० मु० । ०लियंमि - खं० मु० ॥ २५. अहापंडुरे - अमो० पा० मु० । अह-पंडुरे - अ० ला० पु० खं० म । अहापंडुरे - मु० ला० २-३-४ ॥ २६ पभाए - पा० ॥ २७. °सोयप्पगासे० - अमो० । °सोयप्पगासे० - पा० मु० - °कासे० - मु० । ०गंकासे - ला० ॥ २८. गुंजद्ध° - खं० मु० ॥ २९. कमागर° - अमो० । ३०. ०बोहए - पा० ३१. वंदित्ता नमंसित्ता जाव पज्जुवासेत्ता - अमो० । वंदित्ता नमंसित्ता - पा० मु० खं० मु० ॥ ३२. ०ण्णायस्स समाणस्स सयमेव - जं० । ३३. महव्वयाइं - पा० ॥ ३४. आरोवेत्ता - अमो० । आरु-

A. से जहानामए कुम्मकारियाइ वा पत्तकारियाइ वा पत्ताणिज वडवगारियाइ वा एरंड वडुमाणियाइ वा इवगा-मणीइया इ वा उड्ढे दिण्णा मुक्का समाणी गमइ गच्छइ समइं चिट्ठइ ॥

B नमंसित्ता णच्चासन्ने णाइदूरे सुस्सूसमाणे अभिमुहे विणएणं पंजलिउडे ॥

य समणीओ य खामेत्ता [35]तहारूवेहिं थेरेहिं कड़ाईहिं [36]सद्धिं [37]विपुलं पव्वयं [38]सणियं सणियं [39]दुरुहित्ता [40]मेघघणसन्निगासं[41] देवसन्निवातं[42] [43]पुढवीसिलावट्टयं [44]पडिलेहित्ता [45]दब्भसंथारयं संथरित्ता [46]दब्भसंथारोवगयस्स संलेहणा [47]जोसणा जुसियस्स [48]भत्तपाणपडियाइक्खियस्स पाओवगयस्स कालं अणवकंखमाणस्स [49]विहरित्तएत्ति [50]कट्टु एवं [51]संपेहेइ संपेहित्ता कल्लं पाउप्पभायाए रयणीए [52]जाव जलंते जेणेव समणे [53]भगवं महावीरे [54]तेणेव [1]जाव [55]पज्जुवासति ।

स्थविर साधुओं के साथ विपुलाचल पर्वत पर धीरे-धीरे चढ़कर मेघ के समूह जैसे वर्ण वाले देवों के पृथ्वी शिलापट्ट की प्रतिलेखना कर दर्भ का संथारा बिछा कर दर्भ संस्तारक पर बैठकर संलेखना संथारे को धारण करता हुआ आहार-पानी का सर्वथा त्याग करके पादोपगमन संथारे में रहता हुआ काल की आकांक्षा नहीं करता हुआ विचरण करूं इस प्रकार स्कंदक अनगार ने विचार किया विचार करके कल प्रातःकाल जाज्वल्यमान सूर्य का प्रकाश होने पर जिधर श्रमण भगवान महावीर स्वामी विराजमान थे उधर पधारते हैं आकर वन्दन नमस्कार कर यावत् पर्युपासन करते हैं।

विवेचन—

प्रतिमाओं का यथाविधि पालन करने से तथा गुणरत्नसंवत्सरतप का आचरण करने से स्कंदक अनगार का शरीर बहुत रूक्ष-शुष्क हो चुका था, फिर भी उनका आत्मबल बड़ा प्रबल था। रात्रि के चतुर्थ प्रहर में धर्म जागरणा करते हुए उनके मन में विचार उत्पन्न हुआ कि प्रातःकाल सूर्योदय होने

हेत्ता - जं० ॥ ३५ ०रूवेहं थेरेहं - ला ३ । तहारूवेहिं कडाईहिं थेरेहिं पतिणहिं सद्धिं सणियं विपुलं पव्वयं गहित्ता मेहघणसन्निकासं - जं० ॥ ३६. कडाऽऽईहिं - वे० म० । कडाऽऽयीहिं - लों० । 'कृतयोगि आदिभिरित्यर्थः ॥ ३७. विउलं - धा० ॥ ३८. गणितं सणितं - क० । सणियं दुरु - ३९. दुहित्ता - क० मं० ला १-२-३ । दुरुहित्ता - ला० लों० । रुहित्ता - ब० ॥ ४०. मेहघण - अमो० धा० न० ॥ ४१. ०सन्निगासं - लों० ॥ ४२. ०सन्निवातं - अमो० धा० ॥ ४३. पुढविसिलापट्टयं - अमो० । ०पट्टयं - धा२ न० ॥ ४४. ०लेहेत्ता - अमो० । पडिलेहित्ता - धा० । ०हित्ता संलेहणा - लों० ॥ ४५. ०रगं - धा० न० ॥ ४६. ०स्स संलेहणाझोसितस्स - जं० ॥ ४७. झूसणाझूसि० - अमो० न० वे० म० । झोसणा झूसि० धा० । झूसणा झूसि० - मु० । ०णाझूसियस्स - ला १-३-४ । ० - पु० ॥ ४८. भत्तपाणा० - जं० ॥ ४९. ०त्तर्दैति - जं० ॥ ५०. कट्टो - ला० ला ३ ॥ ५१. संपेहेति एवं - अमो० । संपेहेइ संपेहेत्ता - न० ॥ ५२. जाव उट्ठियंमि सूरे सहस्सरस्सिम्मि दिणयरे तेयसा जलंते - म० ॥ ५३. भग० जाव महा० - पु० ॥ ५४. तेणेव - नत्थि अमो० वे० म० ॥ ५५. पज्जुवासइ - अमो० धा० न० ॥

1 …उवागच्छित्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिण-पयाहिणं करेइ करेत्ता वंदइ नमंसइ वंदित्ता नमंसित्ता णच्चासण्णे णातिदूरे सुस्सूसमाणे णमंसमाणे अभिमुहे विणएणं पंजलियडे ॥

पर मेरे गुरु धर्माचार्य श्रमण भगवान् महावीर स्वामी से आज्ञा प्राप्त कर विपुलाचल पर्वत पर स्थित पृथ्वी शिलापट्ट-जहां कि देवगण क्रीड़ा करते हैं- वहा पर संस्थारक बिछाकर मृत्यु की आकांक्षा नहीं करते हुए पादोपगमन संथारा ग्रहण करूं।

इसी भावना से अनुप्रेरित होकर स्कंदक अनगार सूर्योदय होने पर श्रमण भगवान् महावीर के चरणों में पहुँचकर यथाविधि वन्दन नमस्कार कर पर्युपासना करते हैं।

सर्वज्ञ-सर्वदर्शी श्रमण भगवान् महावीरस्वामी, स्कंदक अनगार को पर्युपासना करते हुए देखकर बोले—हे स्कंदक ! क्या तुम्हे रात्रि में धर्म जागरण करते हुए विपुलाचल पर्वत पर पादोपगमन संथारा करने का विचार उत्पन्न हुआ था ?

श्रमण भगवान् महावीरस्वामी के मुख से इस प्रकार श्रवण कर महान् तपस्वी स्कंदक अनगार ने कहा-

हां भगवन् ! आप जैसा फरमाते हैं, वह यथार्थ सत्य है।

तब श्रमण भगवान् महावीरस्वामी ने फरमाया- हे देवानुप्रिय ! तुम्हें जैसा सुख हो, वैसा करो, किन्तु शुभकार्य में विलम्ब मत करो।

पादोपगमन संथारा ग्रहण—

सूत्र-५५. '[1]खंदया !' इ समणे भगवं महावीरे [2]खंदयं अणगारं एवं वयासी-से [3]नूणं तव खंदया ! [4]पुव्वरत्तावरत्त [5]कालसमयंसि [A]जाव जागरमाणस्स [6]इमेयारूवे [7]अब्भत्थिए [B]जाव समुप्पज्जित्था–एवं खलु अहं इमेणं [8]एयारूवेणं तवेणं [9]ओरालेणं [10]विपुलेणं तं चेव

(५५)स्कंदक ! इस प्रकार संबोधित करते हुए श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने कहा स्कंदक ! रात्रि के पिछले प्रहर में धर्म जागरण करते हुए तुम्हें इस प्रकार का अध्यवसाय यावत् संकल्प उत्पन्न हुआ कि मेरा शरीर इस प्रकार के उदार तपश्चरण से कृश हो गया है यावत् आत्मबल है अतः विपुलाचल पर जाकर काल की आशा रहित होकर यावत् पादोपगमन संथारा करना

१. खंदयादि - अमो० । खंदगा ! त्ति स० - जं । दि स० - मों० ॥ २. खंदगं अणगारं आमंतेत्ता एवं व० से णूणं ते खंदगा । पु० - जं० ॥ ३. णूणं - अमो० । णूणं स० - पा० ॥ ४. ०वरत्तं जाव - अमो० । ०वरत्ता० - जं० ॥ ५. ०यंसि धम्मजागरियं जागर - पा० ॥ ६ इमेयारूवे - सा० ॥ ७. अज्झत्थिए - पा० म० मे० ग० ॥ ८. ०णं - ओरा० - अमो० वे० मं० ॥ ९. उरालेणं - अमो० ॥ १०. विउलेणं अमो० पा० म० ॥ ११. अब्भत्थमा० - पु० :

A धम्मजागरियं ॥ B. चिंतिए पत्थिए मणोगए संकप्पे ॥

जाव कालं [11]अणकंखमाणस्स विहरित्ताए त्ति [12]कट्टु एवं [13]संपेहेति, संपेहित्ता कल्लं [14]पाउप्पभाए [D]जाव[15] जलंते जेणेव मम अंतिए [16]तेणेव हव्वमागए से नूणं खंदया ! अट्ठे समट्ठे ?

हंता अत्थि ।

अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं ।

सूत्र-५६. तए णं से खंदए अणगारे समणेणं भगवया महावीरेणं अब्भणुण्णाए [1]समाणे हट्ठतुट्ठ [A]जाव[2] हयहियए उट्ठाए उट्ठेइ [3]उट्ठित्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ २, [B]जाव नमंसित्ता सयमेव पंच महव्वयाइं [6]आरूहेइ [7]आरूहित्ता समणे य समणीओ य [8]खामेइ

चाहता है। इस प्रकार तुमने विचार किया, विचार कर कल प्रातः काल सूर्योदय होने पर तुम मेरे पास आए हो। हे स्कंदक ! क्या यह सत्य है ?

हां भगवन् ! यह सत्य है।

देवानुप्रिय ! जैसा तुम्हे सुख हो, वैसा करो, इस धर्म कार्य मे विलम्ब मत करो।

(५६) इस प्रकार श्रमण भगवन् महावीर स्वामी की आज्ञा प्राप्त होने पर स्कंदक अनगार हृष्ट-पुष्ट होते हुए यावत् प्रसन्न हृदय होकर उठते है। उठकर श्रमण भगवन् महावीर स्वामी को तीन वार आदक्षिणा-प्रदक्षिणा करते हैं, यावत् नमस्कार करके पाँच महाव्रतों को पुनः स्वयमेव स्वीकार करते हैं स्वीकार करके श्रमण-श्रमणियों से क्षमा याचना करते है करके तथा रूप सेवा करने वाले स्थविरों के साथ धीरे धीरे विपुलाचल पर्वत पर चढ़ चढ़ करके घने मेघ

---

११. अणकंखमाणस्स - अमो० घा० न० बे० म० ॥ १२. कट्टो - ला० ॥ १३. संपेहेइ - अमो० घा० । संपेहेमि - संपेहेत्ता - न० बे० म० । संपेहेसि जेणेव इयं हव्वमागते' से नूणं – जं० ॥ १४. ०भायाए - अमो० घा० न० बे० म० । ०पभाए रयणीए जाव - न० ॥ १५. प्र० - जाव उट्ठियम्मि सूरे सहस्सरस्सिम्मि दिणयरे जल० - न० ॥ १६. तणेव - अमो० ॥ १७. णूणं - अमो० घा० ॥ १८. बंधं - ला० विना । ०ध करेह - म० ॥

C. [1]दव्वयं भणियं भणियं दुरुहित्ता, मेघघणसन्निगासं देवसन्निवातं पुढवीसिलावट्टयं पडिलेहित्ता दब्भसंथारयं संथरित्ता दब्भसंथारोवगयस्स संलेहणा जोसणा झुसियस्स भत्तपाणपडियाइक्खियस्स पाओवगयस्स०

D. ०रयणीए, फुल्लुप्पलकमलकोमलुम्मिलियम्मि अहपंडुरे पभाए, रत्तासोयप्पकासे, किंसुय-सुयमुह-गुंजद्धरागसरिसे, कमलागरसंडबोहए, उट्ठियम्मि सूरे सहस्सरस्सिम्मि दिणयरे तेयसा०

सूत्र ५६. १. समाणे हट्ठतुट्ठे समण भ० तिक्खुत्तो आदा० वदति णमं० सयमेव पंच० - जं० ॥ २. जाव हियए - घा० न० ॥ ३. उट्ठेत्ता - न० ॥ ४. करेइ करित्ता वंदइ नमंसइ वंदित्ता नमं० घा० । करेइ जाव - बे० म० ॥ ५. ०महव्वए - न० ॥ ६. आरोवेइ - घा० । आरूभेइ - क०मं०लो०ला० ला१ । ७ आरूहेइत्ता - अमो० । आरोवित्ता - घा० । आरुहेत्ता - न० ॥ ८. समणा या - अमो० घा० न० ॥ ९. ०मेइ तयेव विउलाऽऽलावएणं पुढविसिलापट्टय ... सेहेति जं० ॥ A चित्तमाणंदिए णंदिए पीइमणे परमसोमणस्सिए हरिसवस विसप्पमाण ॥

B. करेत्ता वंदइ नमंसइ वंदित्ता ॥

पर मेरे गुरु धर्माचार्य श्रमण भगवान् महावीर स्वामी से आज्ञा प्राप्त कर विपुलाचल पर्वत पर स्थित पृथ्वी शिलापट्ट-जहां कि देवगण क्रीड़ा करते हैं- वहा पर संस्थारक बिछाकर मृत्यु की आकांक्षा नहीं करते हुए पादोपगमन संथारा ग्रहण करूं।

इसी भावना से अनुप्रेरित होकर स्कंदक अनगार सूर्योदय होने पर श्रमण भगवान् महावीर के चरणों में पहुँचकर यथाविधि वन्दन नमस्कार कर पर्युपासना करते हैं।

सर्वज्ञ-सर्वदर्शी श्रमण भगवान् महावीरस्वामी, स्कंदक अनगार को पर्युपासना करते हुए देखकर बोले—हे स्कंदक ! क्या तुम्हे रात्रि में धर्म जागरण करते हुए विपुलाचल पर्वत पर पादोपगमन संथारा करने का विचार उत्पन्न हुआ था ?

श्रमण भगवान् महावीरस्वामी के मुख से इस प्रकार श्रवण कर महान् तपस्वी स्कंदक ने कहा-

हां भगवन् ! आप जैसा फरमाते हैं, वह यथार्थ सत्य है।

तब श्रमण भगवान् महावीरस्वामी ने फरमाया- हे देवानुप्रिय ! तुम्हें जैसा सुख हो, वैसा किन्तु शुभकार्य मे विलम्ब मत करो।

पादोपगमन संथारा ग्रहण—

सूत्र-५५. '[1]खंदया !' इ समणे भगवं महावीरे [2]खंदयं अणगारं एवं वयासी-से [3]नूणं तव खंदया ! [4]पुव्वरत्तावरत्त [5]कालसमयंसि [A]जाव जागरमाणस्स [6]इमेयारूवे [7]अब्भत्थिए [B]जाव समुप्पज्जित्था–एवं खलु अहं इमेणं [8]एयारूवेणं तवेणं [9]ओरालेणं [10]विपुलेणं तं चेव

(५५)स्कंदक ! इस प्रकार संबोधित करते हु भगवान् महावीर स्वामी ने कहा स्कंदक के पिछले प्रहर में धर्म जागरण करते हु इस प्रकार का अध्यवसाय यावत् संकल्प हुआ कि मेरा शरीर इस प्रकार के उदा चरण से कृश हो गया है यावत् आ अतः विपुलाचल पर जाकर काल की अ रहित होकर यावत् पादोपगमन संथारा

१. खंदगादि - अमो० । खंदगा ! सि स० - जं । दि म० - लो० ॥ २. खंदगं अणगारं आमंतेत्ता एव व० मे खंदगा । पु० - जं० ॥ ३. नूनं - अमो० । णूणं स० - पा० ॥ ४. ०रत्तं आव - अमो० । ०वरत्तं० - ५. ०समि धम्मजागरियं जागर - पा० ॥ ६ इमेयारूवे - पा० ॥ ७. अज्झत्थिए - पा० म० वे० ग० ॥ ८. ० ओरा० - अमो० वे० म० ॥ ९. उरालेणं - अमो० ॥ १०. विउलेणं अमो० पा० ग० ॥ ११. अप्पडिसंमा०

A. धम्मजागरियं ॥ B. चिंतिए पत्थिए मणोगए संकप्पे ॥

[C]जाव कालं [11]अणकंखमाणस्स विहरित्तए त्ति [12]कट्टु एवं [13]संपेहेति, संपेहित्ता कल्लं [14]पाउप्पभाए [D]जाव[15] जलंते जेणेव मम अंतिए [16]तेणेव हव्वमागए से नूणं खंदया ! अट्ठे समट्ठे ?

हंता अत्थि ।

अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं ।

सूत्र-५६. तए णं से खंदए अणगारे समणेणं भगवया महावीरेणं अब्भणुण्णाए [1]समाणे हट्ठतुट्ठ [A]जाव[2] हयहियए उट्ठाए उट्ठेइ [3]उट्ठित्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं [4]करेइ २, [B]जाव नमंसित्ता सयमेव पंच [5]महव्वयाइं [6]आरूहेइ [7]आरूहित्ता [8]समणे य समणीओ य [9]खामेइ

चाहता हूँ। इस प्रकार तुमने विचार किया, विचार कर कल प्रातः काल सूर्योदय होने पर तुम मेरे पास आए हो। हे स्कंदक ! क्या यह सत्य है ?

हां भगवन् ! यह सत्य है।

देवानुप्रिय ! जैसा तुम्हें सुख हो, वैसा करो, इस धर्म कार्य में विलम्ब मत करो।

(५६) इस प्रकार श्रमण भगवन् महावीर स्वामी की आज्ञा प्राप्त होने पर स्कंदक अनगार हृष्ट-पुष्ट होते हुए यावत् प्रसन्न हृदय होकर उठते हैं। उठकर श्रमण भगवन् महावीर स्वामी को तीन बार आदक्षिणा-प्रदक्षिणा करते हैं, यावत् नमस्कार करके पाँच महाव्रतों को पुनः स्वयमेव स्वीकार करते हैं स्वीकार करके श्रमण-श्रमणियों से क्षमा याचना करते हैं करके तथा रूप सेवा करने वाले स्थविरों के साथ धीरे धीरे विपुलाचल पर्वत पर चढ़ चढ़ करके घने मेघ

---

[11]खव - अमो० घा० न० वे० म० ॥ १२ कट्टो - ला० ॥ १३. संपेहेइ - अमो० घा० । संपेहेसि - संपेहेता - न० वे० म० । संपेहेसि जेणेव इयं हव्वमागते' से नूण — जं० ॥ १४. ०भायाए - अमो० घा० न० वे० म० । ०भाए रयणीए जाव - न० ॥ १५. प्र० - जाव उट्ठियम्मि सूरे सहस्सरस्सिम्मि दिणयरे जल० - न० ॥ १६. तणेव - अमो० ॥ १७. णूणं - अमो० घा० ॥ १८. बंधं - ला० विना । ०य करेह - म० ॥

C. [1]समयं भणियं भणियं दुरुहित्ता, मेघघणसन्निगासं देवसन्निवातं पुढवीसिलावट्टयं पडिलेहित्ता दब्भसंथारयं संथरित्ता दब्भसंथारोवगयस्स संलेहणा झोसणा झुसियस्स भत्तपाणपडियाइक्खियस्स पाओवगयस्स०

D. रयणीए, फुल्लुप्पलकमलकोमलुम्मिलियम्मि अहापंडुरे पभाए, रत्तासोयप्पकासे, किंसुय-सुयमुह-गुंजद्धरागसरिसे, कमलागरसंडबोहए, उट्ठियम्मि सूरे सहस्सरस्सिम्मि दिणयरे तेयसा-

सू०५६. १. समाणे हट्ठतुट्ठे समणं भ० तिक्खुत्तो आदा० वंदति णमं० सयमेव पंच - जं० ॥ २. जाव हियए - न० ॥ ३. उट्ठेत्ता - न० ॥ ४. करेइ करित्ता वंदइ नमंसइ वंदित्ता नमं० घा० । करेइ जाव - वे० म ॥ ५. महव्वत० - न० ॥ ६. आरोवेइ - घा० । आरुभेइ - न०मं०लो०ला० ला१ । ७. आरुहेइत्ता - अमो० । आरोवित्ता - घा० । आरुहेत्ता - न० ॥ ८. समणा या - अमो० घा० न० ॥ ९. ०मेइ तहेव विउलाऽऽलावएणं पुढविसिलापट्टय जेइति जं० ॥ A. चित्तमाणंदिए णंदिए पीइमणे परमसोमणस्सिए हरिसवस विसप्पमाण ॥

B. करेत्ता वंदइ नमंसइ वंदित्ता ॥

[१०]खामित्ता तहारूवेहिं थेरेहिं [११]कडाईहिं सद्धिं [१२]विपुलं पव्वयं सणियं सणियं [१३]दुरूहेइ, २ [१४]मेहघणसन्निगासं [१५]देवसन्निवायं [१६]पुढविसिलावट्टयं पडिलेहेइ २ उच्चारपासवणभूमिं [१७]पडिलेहइ २ [१८]दब्भसंथारयं [१९]संथरइ २ त्ता पुरत्थाभिमुहे [२०]संपलियंकनिसन्ने करयलपरिग्गहियं दसनहं [२१]सिरसावत्तं [२२]मत्थए अंजलिं [२३]कट्टु एवं [२४]वयासी [२५]नमोत्थुणं [२६]अरहंताणं भगवंताणं [C]जाव [२७]संपत्ताणं, नमोत्थुणं समणस्स भगवओ महावीरस्स [A]जाव[२८] संपाविउ-कामस्स, वंदामि णं भगवंतं तत्थ [२९]गयं

के समान देव सन्निपात वाले पृथ्वी शिलापट्ट को प्रतिलेखन करते है, प्रतिलेखन करके उच्चार-प्रस्रवणादि परिष्ठापन भूमि की प्रतिलेखना करते है ऐसा करके पृथ्वीशिला पट्ट पर डाभ का संथारा बिछाते हैं बिछाकर पूर्व दिशा की ओर मुख करके पर्यंकासन लगाकर उस पर विराजमान हुए तथा दोनों हाथों को जोड़कर दसों नखों को मिलाकर इस प्रकार बोले—अरिहंत भगवन्तों को जो सर्वकर्म क्षय कर मोक्ष प्राप्त कर चुके हैं, नमस्कार हो। श्रमण भगवान महावीर स्वामी को नमस्कार हो। जो सम्पूर्ण कर्म क्षय करके मोक्ष प्राप्त करने वाले है। मैं यहां पर स्थित वहां पर विराजमान भगवान महावीर स्वामी को नमस्कार करता हूं, वहां विराजमान वे भगवान यहां रहे हुए मुझको देखें। इस प्रकार कहकर

जं० ॥ १०. खामित्ता - अमो० । खामेत्ता - न० ॥ ११. कडाइहिं - पा० ॥ कडाईहिं - अ० व० स० । कडाईहिं - ला० मं० । कडाऽऽईहिं - वे० म० । कडाऽऽईहिं लो० । कडाऽऽईहिं ला१ ॥ १२. विउलं - पा० ॥ १३. दुरूहेत्ता - अमो० । दुरूह दुरुहित्ता - न० लो० । दुरुहि - ला१ ॥ १४. मेघघण० - वे०म० । ०निगासं - ला० ॥ १५. ०वायं - न० ॥ १६. ०सिलापट्टयं - अमो० न० ॥ १७. पडिलेहेइ - अमो० वे० म० ॥ १८. ०संथारगं - पा० मं० १९. संथरेइ - २ दब्भसंथारयं दुरुहेइ - २ दब्भसंथारोवगते पुरत्था० - वे०म० । संथरइ - २ त्ता पुरत्था० मं० जि नयर नयरयति दब्भसंथारगं संथरित्ता पुरत्था० ला १ ॥ २०. संपलि० - अमो० । ०निसन्ने - न० वे० म० ॥ २१ "शिरसा अप्राप्तम् अस्पृष्टम् अथवा शिरसि आवर्तः आवर्तनम् यस्य असौ मस्तकजोराणु शिरसावर्तः. [illegible] अवृ० ॥ २२. मत्थयेणं अ० - मो० । २३. कट्टु - ला० सा० ३ ॥ २४. वयासी - पु० वे० म० ॥ २५. नमोत्थुणं - पु० वे० म० । २६. अरिहंताणं - पा० ॥ २७. प्र० सिद्धिगति नाम धेयं ठाणं संप० - म० ॥
२८. प्र० सिद्धिगतिनामधेयं ठाणं संपा । -न० ॥ २९. गत - अमो० । गयं - ला३ ॥ ३०. इहगओ - अमो० । इह[illegible]

C. आइगराणं तित्थयराणं सयंसंबुद्धाणं पुरिसुत्तमाणं पुरिससीहाणं पुरिसवरपुंडरीयाणं पुरिसवरगंधहत्थीणं लोगुत्तमाणं लोगनाहाणं लोगहियाणं लोगपईवाणं लोगपज्जोयगराणं अभयदयाणं चक्खुदयाणं मग्गदयाणं सरणदयाणं जीवदयाणं बोहिदयाणं धम्मदयाणं धम्मदेसयाणं धम्मनायगाणं धम्मसारहीणं, धम्म वर चाउरंत-चक्कवट्टीणं दीवोत्ताणं सरणगइ पइट्ठा अप्पडिहय वर नाण दंसण-धराणं वियट्टछउमाणं जिणाणं जावयाणं तिन्नाणं तारयाणं बुद्धाणं बोहयाणं मुत्ताणं मोयगाणं सव्वन्नूणं सव्वदरिसीणं सिव मयल मरुय-मणंत मक्खय मव्वाबाह मपुणरावित्ति सिद्धिगइनामधेयं ठाणं संपत्ताणं ॥

A. ओ० सु २१ ?

इहगते [३०]पासउ [३१]मे [३२]भयवं तत्थगए [३३]इहगयं त्ति कट्टु [३४]वंदइ, [३५]नमंसति नमंसित्ता एवं [३६]वदासी-पुव्विं पि मए समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए सव्वे [३७]पाणाइवाए पच्चक्खाए जावज्जीवाए [ß]जाव मिच्छादंसणसल्ले पच्चक्खाए जावज्जीवाए [३८]इयाणिं पि य णं समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए सव्वं पाणाइवायं पच्चक्खामि जावज्जीवाए जाव [३९]मिच्छादंसणसल्ल [४०]पच्चक्खामि। [४१]एवं सव्वं [४२]असणं-पाणं-खाइमं-[४३]साइमेणं [४४]चउव्विहंपि आहारं पच्चक्खामि जावज्जीवाए। जं पि [४५]य इमं सरीरं इट्ठं कंतं पियं [८]जाव[४६] फुसंतु त्ति [४७]कट्टु एयंपि णं [४८]चरिमेहिं [४९]उस्सासनीसासेहिं [५०]वोस-

वन्दन नमस्कार करते हैं वन्दन नमस्कार करके इस प्रकार बोले—मैं पहले भी (दीक्षित होते समय) श्रमण भगवान महावीर स्वामी से यावत् जीवन के लिये प्राणातिपात का प्रत्याख्यान कर चुका हूं यावत् मिथ्या दर्शन शल्य तक अठारह ही पापों का यावत् जीवन पर्यन्त प्रत्याख्यान कर चुका हूँ। अब पुनः श्रमण भगवान महावीर स्वामी के समीप यावत् जीवन पर्यन्त प्राणातिपात से लेकर यावत् मिथ्यादर्शन शल्य पर्यन्त अठारह पापों का त्याग करता हूँ। तथा समस्त आहार अशन-पान-खादिम-स्वादिम का भी यावत्-जीवन-पर्यन्त के लिये प्रत्याख्यान करता हूँ। यह जो मेरा शरीर है वह पहले मुझे इष्ट था, कान्त था, प्रिय था यावत् परीषह उपसर्ग पीड़ित न करे, इसके लिये सुरक्षित रखा था। किन्तु अब चरम-उच्छ्वास-निश्वास के साथ इस शरीर का भी परित्याग करता हूँ इस प्रकार स्कंदक अनगार संलेखना संथारा करके भक्तपान के

घा० न० ॥ ३१. मे से भय० - अमो० क० ब० मं० स० ला० ला १-२-३ ॥ ३२. भगवं - घा० ॥ ३३. ०गय वस्मा त्ति - ला २ ॥ ३४. वंदइ नमंसइ वंदित्ता नमं० - घा० न० ॥ ३५. णमंसइ वंदित्ता णमंसित्ता - अमो० ॥ ३६. वयासी - अमो० न० ॥ ३७. पाणातिवाए - वे० म० ॥ ३८. इदाणिं पि - अमो० ॥ ३९. ०सल्लं - पु० अमो० घा० वे० म० ॥ ४०. पच्चक्खामि जावज्जीवाए सव्वं - अमो० न० ॥ ४१. एवं - णत्थिअमो० लों० ला० ला १-२-३-४ ॥ ४२. असणपाणखाइम साइमं - अमो० न० ला० ला १-२-३ ४ ॥ ४३. साइमंचउ० - घा० वे० म० ॥ ४४. (विहं) - ला २ ॥ ४५. य णं, इमं - घा० । य णत्थि - लों० ला २ ॥ ४६. जाव मा फुस० - घा० । प्र० माणं मा पितिय सेंभिय सन्निवाइय विविहा रोगायंका परीसहोवसग्गा फुस० - न० ॥ ४७. कट्टो एव पि ला० ॥ ४८. चरमेहिं - घा० ला २ ॥ ४९- अमाव० - अमो० ॥ ५०. वोसिरा० - पु० अमो० घा० न० वे० म० । वोसिरिस्सामीति

ß. पाणाइवाएणं मुसावाएणं अदिन्नादाणेणं मेहुणेणं परिग्गहेणं कोह माण माया लोभ पेज्ज दोस कलह अब्भक्खाण पेसुन्न परपरिवाय अरतिरति माया मोस मिच्छादंसणसल्लेणं ॥

८. मणुण्णे मणामे थेज्जे वेसासिए सम्मए बहुमए अणुमए भंडकरंडगसमाणे माणं सीयं माणं उण्हं माणं खुहा माणं पिवासा माणं चोरा माणं वाला माणं दंसा माणं मसया माणं वाइय - पित्तिय सेंभिय सन्निवाइय विविहा रोगायंका परिसहोवसग्गा ॥ ॥

रामि त्ति [५१]कट्टु संलेहणा-[५२]जूसणा-जूसिए भत्त-पाणपडियाइक्खिए [५३]पाओवगए कालं अणकंखमाणे [५५]विहरति ।

त्याग के साथ काल की आकांक्षा नहीं करते हुए स्वरूप रमण में विचरण करते हैं ।

विवेचन :—

भगवान महावीर की आज्ञा प्राप्त करके स्कंदक अनगार बहुत प्रमुदित होते हैं । उनको वन्दन नमस्कार करते हैं । सभी साधु-साध्वियों से क्षमायाचना करते हैं, तदनन्तर स्थविर मुनियों को लेकर विपुलाचल पर्वत पर धीरे-धीरे चढते हैं, चढ़कर पृथ्वी शिलापट्ट को तथा उच्चार-प्रस्रवण भूमि का प्रतिलेखन करते हैं । दर्भादिक संथारा बिछाते हैं । उस पर विराजकर भ. महावीर को वन्दन-नमस्कार करते हैं । पुनः यावज्जीवन के लिए अठारह पाप का प्रत्याख्यान करते हैं । चरम उच्छ्वास निःश्वास के साथ वे शरीर को भी वोसिरा देते हैं, उस पर से ममत्व हटा लेते हैं । इस प्रकार कहते हुए पादोपगमन संथारा ग्रहण करते हैं । काल की आकांक्षा नहीं करते हुए स्व-स्वरूप में रमण करने लगते हैं ।

स्कन्दक अनगार का स्वर्गमन—

सूत्र ५७. तए णं से खंदए अणगारे समणस्स भगवओ महावीरस्स तहा-रूवाणं थेराणं अन्तिए [१]सामाइयमादियाइं [२]इक्कारस अंगाइं [३]अहिज्जित्ता [४]बहुपडिपुण्णाइं [५]दुवालसवासाइं [६]सामन्न-परियागं पाउणित्ता मासियाए संलेहणाए अत्ताणं [७]झुसित्ता सट्ठिं भत्ताइं [८]अणसणाए [९]छेदेत्ता आलोइय पडिक्कंते समाहिपत्ते आणुपुव्वीए [१०]कालगए ।

(५७) स्कंदक अनगार श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के स्थविर मुनियों से सामायिक आदि ग्यारह अंगों का अध्ययन करके मासिक संलेखना संथारा पूर्वक स्वयं आत्मा को संलिखित करके साठ भक्त का त्याग रूप अनशन करके आलोचना और प्रतिक्रमण करके क्रमशः कालधर्म (मरण) को प्राप्त हुए ।

- ना २-४ । ५१. कट्टु - ना० । ५२ झूसणा झूसिए - अमो० पा० न० वै० म० । ०झूसिते - ना० सा ३ ॥ ५३. पाओवगते पा० ॥ ५४ अणवकं० - पु० अमो० पा० न० वै० म० ॥ ५५. विहरइ - अमो० पा० म० ॥

सू ५७ १. ०याइयाइं - पु० अमो० न० सा २ । समाइयमाइ०-पा० ॥ २. एक्कारस - अमो० पा० म० वै० म० ॥ ३ अहिज्जित्ता - अमो० ॥ ४. बहुपडिपु० - पा० ॥ ५ ०वासाइं परि० - सौ ना० सा १-२-३ ॥ ६. सामन्न० - पा० न० वै० म० ॥ ७. झूसित्ता - पु० अमो० पा० न० वै० म० ॥ ८. अणसणाए - ना० ॥ ९. छेदित्ता - अमो० पा० ॥ १०. कालगए - अमो० ॥

सूत्र ५८. तए णं ते थेरा भगवंतो खंदयं अणगारं कालगयं जाणित्ता [1]परिनिव्वाणवत्तियं [2]काउस्सग्गं [3]करेंति करित्ता [4]पत्तचीवराणि [5]गिण्हंति, गेण्हित्ता [6]विपुलाओ पव्वयाओ सणियं सणियं [7]पच्चोरूहंति, पच्चोरूहित्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव [8]उवागच्छइ, समणं भगवं महावीरं [9]वंदति [10]नमंसइ, नमंसित्ता एवं [11]वयासी एवं खलु देवाणुप्पियाणं अंतेवासी खंदए [12]नामं अणगारे पगइ-[13]भद्दए, पगतिविणीए [14]पगतिउवसंते [15]पगतिपयणु कोह-माण माया-लोभे मिउ-[16]मद्दवसंपन्ने [17]अल्लीणे [18]भद्दए [19]विणिए, से णं [20]देवाणुप्पिएहिं [21]अब्भणुण्णाए समाणे सयमेव पंच-[22]महव्वयाणि [23]आरोवित्ता [24]समणे

(५८) तदनन्तर स्थविर भगवंतों ने स्कंदक अनगार को काल धर्म प्राप्त हुआ जानकर परिनिर्वाण (समाधि मरण) सम्बन्धी कायोत्सर्ग किया। करके उनके पात्र वस्त्र को ग्रहण किया। ग्रहण करके विपुलाचल पर्वत से धीरे-२ नीचे उतरते है। उतरकर जहां श्रमण-भगवान् महावीर स्वामी विराजमान थे, उधर आते हैं श्रमण भगवान् महावीर स्वामी को वन्दना करते हैं। नमस्कार करते हैं। नमस्कार करके इस प्रकार बोले। भगवन् आप देवानुप्रिय के अन्तेवासी स्कंदक नामक अनगार प्रकृति से भद्रिक विनीत, उपशान्त, अल्प क्रोध, मान, माया, लोभ वाले मृदु मार्दव सम्पन्न तपादि अनुष्ठान में लीन वे आप देवानुप्रिय से आज्ञा प्राप्त कर पुनः अपने आप पांच महाव्रतों को आरोपित करके श्रमण श्रमणियों से क्षमायाचना करके हम सभी के साथ विपुलाचल पर्वत पर गये, वहां पूर्व कथित सारा कार्य करके यावत् पादोपगमन संथारा

---

१. ०निव्वाणवत्ति० - अमो०। "परिनिर्वाणम् मरणम्" - अवृ० ॥ २. काउसग्गं - अमो० घा० ॥ ३. करेइ पत्त० - अमो०। करेंति करेता - न० ॥ ४. ०राइं - घा० ५ गिण्हति विपु० - अमो०। गिण्हंति गिण्हित्ता घा०। गेण्हंति न० ॥ ६- विउ० - घा ॥ ७. पच्चोरुवकंति - म०। ०रूभंति - ला० ला १-३ ॥ ८. ०गच्छइ उवागच्छित्ता - अमो०। गच्छंति उवागच्छित्ता - घा० न० ब्रे० म० । ९ वंदइ नमंसइ वंदित्ता नमं० - अमो० ॥ १०. नमंसति - पु० ब्रे० म० ॥ नमंसंति वंदित्ता नमं - घा० न० ॥ ११. वयासी - अमो० घा० न० ॥ १२. णामं - अमो० ॥ १३. ०भद्दए पगइ उव० - अमो० न० ब्रे० म०। ०भद्दए पगइ' - घा० ॥ १४. पगइ० - घा० ॥ १५. पगइपयणु - अमो० घा० न० ॥ १६. ०संपण्णे - अमो० ॥ १७. अल्लीणे - क० व०। अल्लीण भद्दए - लों० ला० ला ४। अलीण भद्दए - ला ३ ॥ १८. भद्दए - णत्थि न० ॥ १९. औपपातिके ९१-११९। एतावान एव पाठोस्ति। अत्र केषुचिदादर्शेषु 'पगइभउए पगइविणीए' इति पाठोप्यस्ति तथा मिउमद्दव संपन्ने भद्दए विणीए इत्यपि वर्तते । इति द्विरुक्तमस्ति तेन औपपातिक पाठ एव समीचीनोस्ति ॥ विणीणे - लों० २०. ०एणं - घा० ॥ २१. ०णुन्नाए - घा० ॥ २२. ०याइं - घा० ॥ २३. आराहेत्ता समणा य - अमो० मं०। आरुहेता - न० ला १-२। आरोवेत्ता - अ० क० ता० ब० स० ॥

य समणीओ य खामेत्ता अम्मेहिं सद्धिं २५विपुलं पव्वयं तं चेव निरवसेसं Aजाव २७आणुपुव्वीए २८कालगए। इमे य से आयार भंडए।

पूर्वक काल धर्म को प्राप्त हुए ये उनके धर्मोपकरण है।

विवेचन—

स्कंदक अनगार के पादोपगमन संथारा पूर्वक कालधर्म को प्राप्त होने पर कृतयोगादि स्थविर अनगार कायोत्सर्ग करते हैं। तदनन्तर उनके पात्र-वस्त्रादि लेकर विपुलाचल पर्वत से धीरे धीरे नीचे उतरते हैं जिधर श्रमण भगवान् महावीर स्वामी विराजमान थे, उधर आते है, आकर के भगवान् से निवेदन किया—भगवन् ! आपके अन्तेवासी अनेकानेक गुणों से युक्त स्कंदक अनगार पादोपगमन संथारा पूर्वक कालधर्म को प्राप्त हो चुके हैं। ये उनके वस्त्र-पात्रादि उपकरण लेकर हम आपश्री के चरणों में उपस्थित हुए हैं।

स्कन्दक की गति मुक्ति विषयक भगवत् समाधान

सूत्र ५९. 'भंते !' त्ति भगवं गोयमे समणं भगवं महावीरं १वंदति २नमंसति, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी-एवं खलु देवाणुप्पियाणं अंतेवासी खन्दए ३नामं अणगारे कालमासे कालं किच्चा कहिं गए, कहिं उववण्णे ?

५गोयमा !' इ समणे भगवं ६महावीरे भगवं गोयमं एवं ७वयासी-एवं खलु गोयमा ! ८मम अन्तेवासी खन्दए ९नामं

(५९) भगवन्। इस प्रकार कहते हुए भगवान् गौतम ने श्रमण भगवान् महावीर स्वामी को वंदन नमस्कार किया। वन्दन नमस्कार कर इस प्रकार बोले- भगवन् ! आपके अंतेवासी स्कंदक अनगार यहां से काल धर्म को प्राप्त करके कहां गए ? कहां उत्पन्न हुए ?

गौतम आदि को सम्बोधित करके श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने इस प्रकार फरमाया—

गौतम ! मेरा अंतेवासी स्कंदक नामक अनगार प्रकृतिभद्र यावत् विनीत मेरी आज्ञा

२४. समणा य - पा० म० ॥ २५. विउलं पा० ॥ २७. अणु० - पा० अहाणु० बे० म० ॥ २८. कालगए पा० ॥

A. सणियं सणियं दुरूहित्ता जाव मासियाए संलेहणाए अप्पाणं झूसित्ता सट्ठिं भत्ताइं अणसणाए छेदेत्ता आलोइय पडिक्कंते समाहिपत्ते ॥

सूत्र ५९— १. वंदइ - भगो० पा० म० ॥ २. नमंसइ - भगो० पा० म० ॥ ३. णामं - भगो० ॥ ४. [illegible] - पा० ॥ ५. गोयमादि - भगो० लो० ला २। गोयमा दि स० - पा० ला १-३-४ ॥ ६. महावीरे - भगो० म० बे० म० ॥ ७. वदासी - म० ॥ ८. ममं - बे० म० ॥ ९. णामं - भगो० पा० ॥ १०. पगइ० - भगो० पा० म० ॥

अणगारे [१०]पगतिभद्द [A]जाव से णं भए [११]अडभणुण्णाए समाणे सयमेव पञ्च-महव्वयाइं [१२]आरुहेत्ता तं चेव सव्वं [१३]अविसेसियं नेयव्वं [B]जाव [१४]आलोतिय पडिक्कन्ते समाहिपत्ते कालमासे कालं किच्चा अच्चुए कप्पे देवत्ताए [१५]उववण्णे। तत्थ णं [१६]अत्थेगइयाणं देवाणं बावीसं सागरोवमाइं [१७]ठिती पण्णत्ता।

प्राप्त करके स्वयमेव पंच महाव्रतों का आरोहण करके यावत् संलेखना संथारा करके काल धर्म को प्राप्त हो चुका है, आदि वर्णन पूर्व की तरह जानना चाहिये। यावत् वह स्कंदक अनगार काल के समय काल करके अच्युत कल्प (देवलोक) में-देवरूप में उत्पन्न हुआ है।

उस देवलोक के किन्ही देवताओं की बावीस सागरोपम की स्थिति होती है। उस स्कंदक देव अनगार की भी देवलोक में बावीस सागरोपम की स्थिति है।

सूत्र ६०. से णं भंते! खन्दए [१]देवे ताओ [२]देवलोगाओ आउक्खएणं भव-क्खएणं [३]ठितीक्खएणं अणंतरं [४]चयं चइत्ता कहिं [५]गच्छिहिति? कहिं [६]उववज्जिहिति?

गोयमा! महाविदेहे [७]वासे [८]सिज्झि-हिति [९]बुज्झिहिति [१०]मुच्चिहिति [११]परिनिव्वाहिति सव्वदुक्खाणमंतं [१२]करेहिति। खन्दओ समत्तो।

॥ बितीयसयस्स पढमो ॥

(६०) भगवन्! वह स्कंदकदेव देवलोक से चलकर आयुक्षय से भवक्षय से स्थिति क्षय से अनन्तर वहाँ से च्यवकर कहां जावेंगे? कहां उत्पन्न होंगे।

गौतम! स्कंदक देव आयु भव और स्थिति का क्षय होने पर महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर सिद्ध होंगे, बुद्ध होंगे मुक्त होंगे परि-निर्वाण को प्राप्त करेंगे और सभी दुःखों का अन्त करेंगे।

स्कन्दक अनगार का जीवन वृत्त पूर्ण हुआ।

---

११. ०णुगाए - अमो० । ०णुन्नाए - घा० ॥ १२ आराहेत्ता - अमो० । आरुहेत्ता - णत्थि घा० । आरोवित्ता - वे० म० । आरुभेत्ता - ला० ला ३ । आरोवेत्ता - ला २-४ ॥ १३. अवमेसयं - अमो० । अवसेसिअं - घा० ॥ १४. आलोइय - पु० अमो० घा० म० वे० म० ॥

A. पगइ उवसंते पगइ पयणु कोहमाणमाया लोभे मिउमद्दव संपन्ने अल्लीणे विणीए ॥

B. मासियाए संलेहणाए अत्ताणं झूसित्ता सट्ठि भत्ताइं अणसणाए छेदेत्ता ॥

सूत्र ६०— १. देवेत्ताओ - अमो० । देवत्ताओ - घा० । देवे ततो देव० - ला० ॥ २. °लोयाओ - घा० न० अमो० ॥ ३. ठिइक्ख° - पु० अमो० घा० न० । ठितीखएणं - वे० म० ॥ ४. च णं - घा० । च य ति शरीरं 'चइत्ता' त्यक्त्वा अथवा चयं च्यवम् च्यवनम् 'चइत्ता' ति कृत्वा कृत्वा - अवृ० ॥ ५. गमिहिति - अमो० अ० व० म० । ०हिइ - घा । गच्छिही - ता० । गमिहिति - लो० ला २-४ । कहिंगते? कहिं - ला० ला ३ ॥ ६-७-८ ९- ०हिइ - घा० ॥ १०. वासे - णत्थि अमो० ॥ ११. परिणिव्वाहिइ - घा० । परिणिव्वा० - न० ॥ १२ करिहिति - अमो० । करेहिइ - न० करेति - ला० ला ३ । करेहि - ला २ ॥

विवेचन :-

स्कंदक अनगार के कालधर्म को प्राप्त होने के समाचार जब गौतम स्वामी को ज्ञात हुए, तब गौतम स्वामी भगवान् की सेवा में उपस्थित हुए। प्रभु को वन्दन-नमस्कार कर इस प्रकार बोले— हे भगवन् ! स्कंदक अनगार कालधर्म को प्राप्त होकर कहां उत्पन्न हुए ?

भगवान् महावीर स्वामी ने सभी श्रमणों को सामान्य रूप में संबोधित करते हुए मुख्यतया गौतम स्वामी को कहा — हे गौतम ! स्कंदक अनगार यहां से कालधर्म को प्राप्त होकर बारहवें अच्युतकल्प नामक देवलोक में उत्पन्न हुए हैं। वहां पर देवताओं की उत्कृष्ट स्थिति बावीस सागरोपम की होती है। तदनुसार स्कंदक देव की भी वहां पर बावीस सागरोपम की स्थिति है। बावीस सागरोपम तक दैविक सुख-सुविधाओं का उपभोग करने पर जब आयु पूर्ण हो जायगी, तब वे स्कंदक देव वहां से च्यवकर, महाविदेह क्षेत्र में जन्म धारण करेंगे। यथासमय संयम जीवन अंगीकार कर तपसंयम की आराधना करते हुए सम्पूर्ण कर्मों का क्षय करेंगे। अन्त में सिद्ध, बुद्ध, मुक्त तथा परिनिर्वाण अवस्था को प्राप्त कर सभी दुःखों का अन्त कर अनन्त सिद्धिसुख का वरण करेंगे।

॥ द्वितीय शतक प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

द्वितीय उद्देशक : समुद्घात

प्राथमिक

प्रथमोद्देशक में मरण विषयक तथा स्कंदक अनगार का चरित्र वर्णित किया गया था ।

विश्व का प्रत्येक प्राणी मृत्यु को प्राप्त होता है । जिसने भी जन्म लिया है उसकी मृत्यु निश्चित है। संसार में ऐसा कोई भी बलशाली पुरुष नहीं हुआ जो कभी मृत्यु को प्राप्त नहीं हुआ हो । काल का अनवरत चक्र निरन्तर रूप से चलता रहता है, किसी भी शक्ति संपन्न पुरुष के अन्दर यह शक्ति नहीं है कि वह परिवर्तनशील काल को एक क्षण के लिये भी रोक ले ।

इस परिवर्तनशील युग में व्यक्ति के जीवन में भी निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। आवीचिमरण के अनुसार तो हर कर्मबद्ध प्राणी की हर क्षण हर पल मृत्यु हो रही है । इसका तात्पर्य यह है कि जिस किसी भी प्राणी ने जितने समय की आयु का बंधन किया है उसके जन्म होने के बाद बीतने वाला हर क्षण हर पल उसकी आयु को कम कर रहा होता है ।

आज के भद्रिक प्राणी तो एक वर्ष बीतने पर यह सोचने लगते हैं कि जन्म दिन मनाना है बहुत खुशियां मनाते हैं कि वे इतने वर्ष के हो गये किन्तु यह नहीं सोचपाते कि उनकी आयु एक वर्ष कम हो गई है। यदि ६० वर्ष तक जीवित रहने वाले थे तो अब ५९ वर्ष तक ही जीवित रहेंगे । इस विज्ञान के अभाव में ही आत्माएं चतुर्गति संसार में भटक रही हैं ।

शास्त्रकार उन सब भद्रिक प्राणियों को संबोधित करते हैं कि जन्म लिया है तो मरण भी निश्चित है, किन्तु तुम उस मरण को समझकर आत्मस्वरूप में रमण करने लग जाओ तो अमरत्व को प्राप्त कर लोगे ।

मरण भी दो प्रकार से होता है:- एक समुद्घात पूर्वक दूसरा समुद्घात के बिना ।

वह समुद्घात क्या है ? यह प्रस्तुत उद्देशक में बतलाया जा रहा है ।

बिइओ उद्देसो : समुग्घाया

समुद्घात नामक द्वितीय उद्देशक—

समुद्घात :

सूत्र ६१. [1]कति णं भंते ! [2]समुग्घाया पण्णत्ता ?

गोयमा ! सत्त समुग्घाया पण्णत्ता, तं जहा–[3]वेदणासमुग्घाए एवं [4]समुग्घायपदं [5]छाउमत्थियसमुग्घायवज्जं भाणियव्वं जाव वेमाणियाणं कसायसमुग्घाया अप्पाबहुयं ।

अणगारस्स णं भंते ! भावियप्पणो [7]केवलीसमुग्घाय जाव [8]सासयमणागयद्धं चिट्ठन्ति । [9]समुग्घायपदं [10]नेयव्वं ।

॥ बितीए सए बितीयो उद्देसो समत्तो ॥

समुद्घात—

(६१) भगवन् ! समुद्घात कितने प्रकार का कहा गया है ?

गौतम ! समुद्घात सात प्रकार के कहे गये हैं। वे इस प्रकार हैं:—वेदना समुद्घात आदि समुद्घात पद कहना चाहिए किन्तु उसमें प्रतिपादित छद्मस्थ समुद्घात का वर्णन यहां नहीं कहना चाहिये। इसी प्रकार यावत् वैमानिक तक जानना चाहिये तथा कषाय समुद्घात और अल्प बहुत्व कहना चाहिये।

हे भगवन् ! भावितात्मा अनगार के क्या केवली समुद्घात यावत् समग्र भविष्य का पर्यन्त शाश्वत रहता है ?

गौतम ! यहां पर भी उपर्युक्त कथनानुसार समुद्घात पद जान लेना चाहिये।

विवेचन—

आत्मा के साथ एकमेक हुए वेदनी आदि कर्म प्रदेशों को उदीरणा करण द्वारा उदय में लाकर प्रबलता के साथ निर्जरित कर देना समुद्घात है।

१– वेदना समुद्घात २– कषाय समुद्घात ३– मारणान्तिक समुद्घात ४– वैक्रिय समुद्घात ५– तैजस समुद्घात ६– आहारक समुद्घात ७–केवली समुद्घात।

सूत्र ६१ १. कइ ण – अंगा० पा० म० । २. समुग्घाया – वे० ३ एवं जहा – [illegible] समुग्घायपदं [illegible] – वे० म० ॥ ४. वेयण० – अंगा० पा० । [illegible] कसायसमुग्घाए मारणंतिय वेउव्वियसमुग्घाए [illegible] छाउमत्थियसमुग्घायवज्जं समुग्घायपदं [illegible] – म० ॥ ५. पदं – अंगा० ॥ ६. छउमत्थिय – अंगा० ॥ ७. [illegible] – पा० ॥ ८. सासय [illegible] – पा० ॥ ९. [illegible] – अंगा० । [illegible] ॥ १०. [illegible] ॥

१-वेदनासमुद्घात— इस समुद्घात में विद्यमान आत्मा असाता वेदनीय कर्मों का परिशाटन-निर्जरा करती है। अत्यन्तपीड़ा से संवेदित होती हुई आत्मा अपने शरीर से अनन्तानन्त कर्म स्कंधों से संबद्ध आत्म प्रदेशों को बाहर निकालती है। उन आत्म प्रदेशों से मुख-कान- उदर आदि छिद्रों को परिपूर्ण कर आयाम और विष्कम्भ (लम्बाई और चौड़ाई) में शरीर प्रमाण अन्तर्मुहूर्त ठहरती है। उस समय वेदनीयकर्म पुद्गलो का प्रभूत रूप से आत्मा से परिशाटन–निर्जरण होता है।

२-कषाय समुद्घात - यह समुद्घात चारित्रमोहनीय कर्म से संबन्धित कषाय से होता है। तीव्र कषाय के उदय होने पर आत्मा तत्संबन्धी कर्म-पुद्गलो से युक्त आत्म प्रदेशों को शरीर से बाहर निकालकर उदरादि छिद्रों को भरकर अन्तर्मुहूर्त तक ठहरती है, जिससे कषाय संबन्धी कर्म पुद्गलो का आत्मा से प्रभूतरूप से परिशाटन होता है।

३-मारणान्तिक समुद्घात— यह समुद्घात मृत्यु के अन्तर्मुहूर्त पूर्व होता है। इस समुद्घात के समय आत्मा, आत्म-प्रदेशों को बाहर निकालकर उदरादि छिद्रो तथा कर्मस्कधो को पूर्णकर मोटाई में अपने शरीर प्रमाण, लम्बाई में कम से कम अंगुल के असंख्यातवे भाग परिमाण तथा अधिक से अधिक एक दिशा में असंख्येययोजना क्षेत्र को व्याप्त कर अन्तर्मुहूर्त तक ठहरती है। उस समय में आयु कर्म के प्रभूतपुद्गलों का परिशाटन होता है

४-वैक्रियसमुद्घात – यह समुद्घात वैक्रिय करते समय वैक्रिय शरीरधारी जीव आत्म प्रदेशों को बाहर निकालता है। जिनका विष्कभ और बाहल्य शरीर प्रमाण होता है। लम्बाई में संख्येय योजन प्रमाण दण्ड बनाता है। उस समय वैक्रिय पुद्गलों का परिशाटन-निर्जरा करता है।

५-तैजस समुद्घात— यह समुद्घात तैजस शरीर को आश्रित करके होता है। तेजोलेश्या की लब्धि से मात्र कोई साधक क्रोधादि के वशीभूत होकर सात-आठ कदम पीछे हटकर विष्कंभ और मोटाई में शरीर प्रमाण किन्तु लम्बाई में संख्येययोजन प्रमाण आत्म प्रदेशो के दण्ड को बाहर निकालकर कोप भाजन को जला डालता है। उस समय तैजस नामकर्म के पुद्गलों का प्रभूत रूप से परिशाटन करता है।

६-आहारक समुद्घात— यह समुद्घात आहारक शरीर की अपेक्षा से होता है। आहारक शरीर की लब्धि से संपन्न जीव आहारक शरीर बनाते समय विष्कभ और मोटाई में शरीर प्रमाण किन्तु लम्बाई संख्येय योजन प्रमाण आत्मप्रदेशों का दण्ड के रूप में बाहर निकालता है उस समय पूर्वबद्ध आहारक नामकर्म के पुद्गलों का प्रभूत रूप से परिशाटन होता है।

७-केवली समुद्घात— अन्तमुहूर्त में मोक्ष प्राप्त करने वाले सर्वज्ञ भगवान् के द्वारा किये जाने वाले समुद्घात को केवली समुद्घात कहते है। जब सर्वज्ञ भगवान् के अघातिक कर्म की स्थिति अधिक होती और आयुकर्म अल्प होता है तब उनका समीकरण करने के लिये यह समुद्घात किया जाता है।

इस समुद्घात करने में आठ समय लगते है। प्रथम समय में सर्वज्ञ भगवान् अपने आत्म प्रदेशों को दण्डाकार रूप में रचना करते है वे आत्म प्रदेश चौड़ाई और मोटाई मे स्वशरीर प्रमाण होते है किन्तु लम्बाई में चौदह राजूप्रमाण होते है।

द्वितीय समय में उन्हीं आत्म-प्रदेशों को कपाटाकार के रूप में स्थापित किया जाता है। तीसरे समय में उन कपाटाकार आत्म-प्रदेशों को चारों दिशाओं में मन्थाकार में विस्तृत किया जाता है। फिर भी मथानी के अन्तराल के स्थान खाली रह जाते है और चतुर्थ समय में उन मन्थाकार आत्म-प्रदेशों को अधिक फैलाकर केवली भगवान् सारे लोक को परिपूरित कर देते है: अर्थात् चौथे समय में केवली भगवान् की असंख्यात प्रदेशी आत्मा संपूर्ण लोक में व्याप्त हो जाती है कोई भी स्थल रिक्त नही रहता।

लोकाकाश और जीव के प्रदेश बराबर हैं। दोनों असंख्यात प्रदेशी हैं।

पांचवे छट्ठे सातवें और आठवें समय में विपरीत क्रम से उन आत्म प्रदेशों को क्रमशः मन्थाकार कपाटाकार दण्डकार को समेटकर आठवें समय में शरीरस्थ कर लिया जाता है।

उपर्युक्त सात समुद्घातों में आदि के छः समुद्घात का समय अन्तमुहूर्त और केवली समुद्घात का समय अष्ट समय प्रमाण है।

चौबीस दण्डकों में समुद्घात —

चारस्थावर, विकलेन्द्रियत्रिक में वेदना, कषाय और मारणान्तिक तीन समुद्घात होते हैं। वायुकाय और नारकी जीवों में वैक्रिय सहित चार समुद्घात होते है। देव और पंचेन्द्रिय तिर्यंच में तैजस सहित पांच समुद्घात होते है। मनुष्य-स्त्री मे केवली समुद्घात सहित छः और मनुष्य पुरुषों में आहारक समुद्घात सहित सातों समुद्घात होते है। मनुष्यों में भेद करने पर छद्मस्थ मनुष्यों में आदि के छः समुद्घात और वीतराग मे एक केवली समुद्घात होता है।

॥ द्वितीय शतक का द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥

द्वितीय शतक तृतीयोद्देशक

प्राथमिक

आगम की भाषा में लोक को तीन विभागों मे विभक्त किया गया है— ऊर्ध्वलोक १, अधोलोक २, मध्यलोक ३। मेरुपर्वत के समतल भूमिभाग से नौ सो योजन ऊपर अर्थात् ज्योतिष चक्र से ऊपर का सारा भाग उर्ध्वलोक कहलाता है। इसका आकार मृदंग के तुल्य है, यह कुछ कम सात राजु परिमाण है।

१—उर्ध्वलोक में मुख्यतया वैमानिक देवों और सिद्ध भगवन्तो का निवास है। वैमानिक देव तो अपने-अपने विमानों में निवास करते हैं। किन्तु सर्वकर्म विनिर्मुक्त सिद्ध लोकान्त पर स्थित ईषत् प्राग्भारा पृथ्वी (सिद्धशिला) के ऊपरी आकाशप्रदेशों पर अवस्थित हैं।

२—मेरुपर्वत के समतल भूभाग के नौ सौ योजन नीचे से अधोलोक प्रारम्भ होता है। इसका आकार उल्टे किये सिकोरे के समान है। इसका परिणाम भी कुछ अधिक सात राजु परिमाण है। इस लोक में मुख्यतया नैरयिकों का तथा भवनपति आदि देवों का निवास है।

३—उर्ध्वलोक और अधोलोक के मध्य में अट्ठारह सौ योजन प्रमाण तिर्यक्लाक है। इसका आकार चन्द्रमा के तुल्य है। इस लोक में मुख्यतया तिर्यंच, मनुष्य और व्यन्तर ज्योतिष्क जाति के देवों का निवास है।

उपर्युक्त तीनों लोकों में पृथ्वियां है। ऊर्ध्व लोक में सिद्धों के समीपवर्ती ईषत् प्राग्भार पृथ्वी है। इसी प्रकार तिर्यक्लोक में भी तिर्यंच और मनुष्य के लिये आधारभूत पृथ्वी है, जो कि अधोलोक तक जाती है। अधोलोक में नैरयिकों के लिये आधारभूत पृथ्वी को सात प्रकार के नैरयिक के होने मे सात पृथ्वियों के रूप में विभक्त किया है।

पूर्व उद्देशक में समुद्घात विषयक वर्णन किया गया था। समुद्घात कर्मबद्ध समस्त संसारी आत्माओं के होते हैं। उन समुद्घातों में तृतीय मरिणान्तिक समुद्घात के द्वारा जीव अपने आयु-कर्म के पुद्गलों को परिशटित करता हुआ मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। मृत्यु अवस्था को प्राप्त आत्मा यदि पुण्य कर्म वालीहै तो देवलोक में चली जाती है। यदि महापाप कर्म वाली है तो अधोलोक में स्थित नरक में चलीजाती है। वह नरक कितने प्रकार की है, जहां जाकर आत्मा अपने पूर्व के कुकृत्यों से उपार्जित पाप-कर्मों का वेदन करती है, इस बात को बतलाने के लिये ही प्रस्तुत उद्देशक में नरकगत सात पृथ्वियोंका वर्णन किया जा रहा है।

तइओ उद्देशो : पुढवी

पृथ्वी नामक तृतीयोद्देशक—

सप्त नरक पृथ्वीवास—

सूत्र ६२. [1]कति णं भंते ! पुढवीओ [2]पण्णत्ताओ ?

[A]जीवाभिगमे[3] नेरइयाणं जो [4]बितीओ उद्देसो सो [5]नेयव्वो।

[6]पुढविं [7]ओगाहित्ता निरया संठाणमेव [8]बाहल्लं। जाव किं [9]सव्वे पाणा उववन्नपुव्वा ?

हंता, गोयमा ! [10]असतिं अदुवा [11]अणंतखुत्तो।

॥ बितीय सए तइओ उद्देसो समत्तो ॥

सप्त नरक पृथ्वीवास:—

(६२) भगवन् ! पृथ्वियाँ कितनी प्रकार की कही गई हैं।

(गौतम !) जीवाभिगमसूत्र में नैरयिकों का दूसरा उद्देशक कहा है, पृथ्वी सम्बन्धी वह वर्णन है, वह सब यहाँ जान लेना चाहिए। वहाँ उनके संस्थान, मोटाई, आदि का यावत् अन्य जो भी वर्णन है, वह सब यहाँ कहना चाहिए।

यावत्— (भगवन् !) क्या सब जीव पूर्व में उत्पन्न हो चुके हैं ! हाँ गौतम ! सभी जीव नरक पृथ्वियों में अनेक बार अथवा अनन्तबार पहले उत्पन्न हो चुके हैं।

(यावत्—यहाँ जीवाभिगम सूत्र का पूरा उद्देशक कहना चाहिए।)

॥ द्वितीय शतक : तृतीय उद्देशक समाप्त ॥

विवेचन—

प्रस्तुत उद्देशक में नरकगत सात पृथ्वियों का वर्णन किया गया है, जिन पृथ्वियों में जाकर आत्माएं पापकर्मोदय से भयंकर दुःख का वेदन करती हैं।

सूत्र ६२— १. कइ णं भंते - अ॰ पा॰ म॰ ॥ २. [illegible] गोयमा - अ॰ । [illegible] गोयमा सत्त पुढवीओ पण्णत्ताओ तं जहा रयणप्पभा, सक्करप्पभा, वालुयप्पभा, पंकप्पभा, धूमप्पभा, तमप्पभा [illegible] - म॰ ॥ ३. [illegible] - अ॰ ॥ ४. बितीओ - अ॰ ॥ ५. नेयव्वो जाव कि - म॰ । [illegible] ॥ ६. पुढवी - अ॰ पा॰ [illegible] ॥ ७. ओगाहित्ता - अ॰ ॥ ८. [illegible] ॥ ९. [illegible] ॥ १०. असई - पा॰ म॰ [illegible] ॥ ११. [illegible] - अ॰ पा॰ ॥

A. जीवाभिगमसूत्र—[illegible] द्वितीय भाग—तीसरी प्रतिपत्ति उद्देशक—२—पृष्ठ १५२ से १५८ तक।

सात पृथ्वियों के नाम—

१– घम्मा २– वंशा ३– शीला ४– अंजना ५– रिट्ठा ६– मघा ७– माघवती ।

सात पृथ्वियों के गोत्र—

१– रत्नप्रभा २– शर्कराप्रभा ३– वालुकाप्रभा ४– पंकप्रभा ५– धूमप्रभा ६– तमप्रभा ७– तमस्तमप्रभा ।

शब्दार्थ से संबन्ध नहीं रखने वाली अनादि काल से प्रचलित संज्ञा को नाम कहते हैं ।

शब्दों के अर्थ को लक्ष्य में रखकर जिसका नाम दिया जाय उसे गोत्र कहते है । उपर्युक्त सातों पृथ्वियों के विभिन्न गोत्र बतलाने के अलग अलग कारण निम्न प्रकार से हैं ।

१– रत्नकाण्ड की अपेक्षा पहली पृथ्वी में रत्नों की बहुलता होने से उसे रत्नप्रभा कहा जाता है ।

२– दूसरी पृथ्वी में तीक्ष्ण पत्थरों की अधिकता होने से उसे शर्कराप्रभा कहा जाता है ।

३– वालु-मिट्टी की प्रचुरता होने से तीसरी पृथ्वी को वालुकाप्रभा कहा जाता है ।

४– कीचड़ की बहुलता होने से चौथी पृथ्वी को पंकप्रभा कहा जाता है ।

५– धूम के रंग की तरह काले द्रव्यों की अधिकता होने से पांचवी पृथ्वी को धूमप्रभा कहा जाता है ।

६– काले काले अन्धकार की अधिकता के कारण छट्ठी पृथ्वी को तमप्रभा कहा जाता है ।

७– महातम-प्रगाढतम अन्धकार से परिपूर्ण होने के कारण सातवीं पृथ्वी को महातम प्रभा (तमस्तमप्रभा) कहा जाता है ।

सातों पृथ्वियों का बाहल्य—

रत्नप्रभा पृथ्वी की मोटाई एक लाख अस्सी हजार योजन है । उनमें से एक हजार उपर का और एक हजार योजन नीचे को छोड़कर अवशेष एक लाख अठहत्तर हजार योजन में तीस लाख नरकावास हैं । इस प्रकार अवशेष छः पृथिवियों की मोटाई में भी एक हजार उपर का और एक हजार नीचे का योजन छोड़कर अवशेष में नरकावास है ।

शर्कराप्रभा की मोटाई एक लाख बत्तीस हजार योजन की है । वालुकाप्रभा की एक लाख अट्ठाईस हजार योजन की है । पंकप्रभा की एक लाख बीस हजार योजन की है । धूमप्रभा की एक लाख अट्ठारह हजार योजन की है । तमप्रभा की एक लाख सोलह हजार योजन की मोटाई है । तमस्तमप्रभा की मोटाई एक लाख आठ हजार योजन की है :

तइओ उद्देशो : पुढवी

पृथ्वी नामक तृतीयोद्देशक—

सप्त नरक पृथ्वीवास—

सूत्र ६२. [1]कति णं भंते ! पुढवीओ [2]पण्णत्ताओ ?

[A]जीवाभिगमे[3] नेरइयाणं जो [4]बितीओ उद्देसो सो [5]नेयव्वो ।

[6]पुढवि [7]ओगाहित्ता निरया संठाणमेव [8]बाहल्लं । जाव किं [9]सव्वे पाणा उववन्नपुव्वा ?

हंता, गोयमा ! [10]असतिं अदुवा [11]अणंतखुत्तो ।

॥ बितीय सए तइओ उद्देसो समत्तो ॥

सप्त नरक पृथ्वीवास:—

(६२) भगवन् ! पृथ्वियां कितनी प्रकार की कही गई हैं ।

(गौतम !) जीवाभिगमसूत्र में नैरयिकों का दूसरा उद्देशक कहा है, पृथ्वी सम्बन्धी जो वर्णन है, वह सब यहां जान लेना चाहिए। वहां उनके संस्थान, मोटाई, आदि का यावत् अन्य जो भी वर्णन है, वह सब यहां कहना चाहिए।

यावत्— (भगवन् !) क्या सब जीव पूर्व में उत्पन्न हो चुके हैं ! हां गौतम ! सभी जीव नरक पृथ्वियों में अनेक बार अथवा अनन्तबार पहले उत्पन्न हो चुके हैं ।

(यावत्—यहां जीवाभिगम सूत्र का पूर्ण उद्देशक कहना चाहिए ।)

॥ द्वितीय शतक : तृतीय उद्देशक समाप्त

विवेचन—

प्रस्तुत उद्देशक में नरकगत सात पृथ्वियों का वर्णन किया गया है, जिन पृथ्वियों में जाकर आत्माएं पापकर्मोदय से भयंकर दुःख का वेदन करती हैं ।

सूत्र ६२— १. कइ णं भंते - अमो० पा० न० ॥ २. ०ओ गोयमा - अमो० । ०ओ गोयमा सत्त पुढवीओ पण्णत्ताओ तंजहा रयणप्पभा, सक्करप्पभा वालुयप्पभा, पंकप्पभा, धूमप्पभा, तमप्पभा जीवा० - न० ॥ ३. ०भिगमो - अमो० ॥ ४. बित्तीओ - अमो० ॥ ५. नेयव्वो जाव किं - न० । सूत्रपुस्तकेषु च पूर्वमेव लिखितं, शेषाणां विवक्षितार्थानां यावच्छब्देन सूचितत्वात् । असौ गाथा जीवाभिगमस्य नारकद्वितीयोद्देशककार्थसंग्रहपरा वर्तते ॥ ६. पुढवी - अमो० पा० ला २-४ । "सूत्रपुस्तकेषु च पूर्वमेव लिखितम् शेषाणां विवक्षितार्थानां 'यावत' शब्देन सूचितत्वात्" इति सूचयित्वा अस्या मध्ययोगीया गाथायाः विवरणं वृत्तौ लिखितम् ॥ ७. ओगाहित्ता - अमो० ॥ ८. ०ल्लं सिठिय परिखेवो वण्णो गंधो य फासो य किं - अमो० । सिठंय परिखेवो वण्णो गंधो य फासो य जाव किं पा० । बाहल्लं - ला १ । बाहेल्लं - ला० ला ३-४ । बाहल्लं । सिठंयपरिखेवो वण्णो गंधो य फासो य ॥ किं सव्व पा० - लो० ला २ ॥ ९. सव्व पाणा - पु० अमो० जेजिना ॥ १०. असइं - पा० न० वे० म० ॥ ११. ०त्तो पुढवी उद्देसो - अमो० पा० ॥

A. जीवाभिगमसूत्र—सामोदय समि० द्वितीय भाग—तीसरी प्रतिपत्ति उद्देशक—२—पृष्ठ १५२ से ३५८ तक ।

सात पृथ्वियों के नाम—

१– घम्मा २– वंशा ३– शैला ४– अंजना ५– रिट्ठा ६– मघा ७– माघवती।

सात पृथ्वियों के गोत्र—

१– रत्नप्रभा २– शर्कराप्रभा ३– वालुकाप्रभा ४– पंकप्रभा ५– धूमप्रभा ६– तमप्रभा ७– तमस्तमप्रभा।

शब्दार्थ से संबन्ध नहीं रखने वाली अनादि काल से प्रचलित संज्ञा को नाम कहते हैं।

शब्दों के अर्थ को लक्ष्य में रखकर जिसका नाम दिया जाय उसे गौत्र कहते है। उपर्युक्त सातों पृथ्वियों के विभिन्न गौत्र बतलाने के अलग अलग कारण निम्न प्रकार से हैं।

१– रत्नकाण्ड की अपेक्षा पहली पृथ्वी में रत्नों की बहुलता होने से उसे रत्नप्रभा कहा जाता है।

२– दूसरी पृथ्वी में तीक्ष्ण पत्थरों की अधिकता होने से उसे शर्कराप्रभा कहा जाता है।

३– वालु-मिट्टी की प्रचुरता होने से तीसरी पृथ्वी को वालुकाप्रभा कहा जाता है।

४– कीचड़ की बहुलता होने से चौथी पृथ्वी को पकप्रभा कहा जाता है।

५– धूम के रंग की तरह काले द्रव्यों की अधिकता होने से पाचवीं पृथ्वी को धूमप्रभा कहा जाता है।

६– काले काले अन्धकार की अधिकता के कारण छट्ठी पृथ्वी को तमप्रभा कहा जाता है।

७– महातम-प्रगाढतम अन्धकार से परिपूर्ण होने के कारण सातवी पृथ्वी को महातम प्रभा (तमस्तमप्रभा) कहा जाता है।

सातों पृथ्वियों का बाहल्य—

रत्नप्रभा पृथ्वी की मोटाई एक लाख अस्सी हजार योजन है। उनमें से एक हजार उपर का और एक हजार योजन नीचे को छोड़कर अवशेष एक लाख अठहत्तर हजार योजन में तीस लाख नरकावास हैं। इस प्रकार अवशेष छः पृथ्वियों की मोटाई में भी एक हजार उपर का और एक हजार नीचे का योजन छोड़कर अवशेष में नरकावास हैं।

शर्कराप्रभा की मोटाई एक लाख बतीस हजार योजन की है। बालुकाप्रभा की एक लाख अट्ठाईस हजार योजन की है। पंकप्रभा की एक लाख बीस हजार योजन की है। धूमप्रभा की एक लाख अट्ठारह हजार योजन की है। तमप्रभा की एक लाख सोलह हजार योजन की मोटाई है। तमस्तमप्रभा की मोटाई एक लाख आठ हजार योजन की है:

तइओ उद्देशो : पुढवी

पृथ्वी नामक तृतीयोद्देशक—

सप्त नरक पृथ्वीवास-

सूत्र ६२. [1]कति णं भंते ! पुढवीओ [2]पण्णत्ताओ ?

[A]जीवाभिगमे[3] नेरइयाणं जो [4]बितीओ उद्देसो सो [5]नेयव्वो ।

[6]पुढविं [7]ओगाहित्ता निरया संठाणमेव [8]बाहल्लं । जाव किं [9]सव्वे पाणा उववन्नपुव्वा ?

हंता, गोयमा ! [10]असतिं अदुवा [11]अणंतखुत्तो ।

॥ वितीय सए तइओ उद्देसो समत्तो ॥

सप्त नरक पृथ्वीवास:—

(६२) भगवन् ! पृथ्वियाँ कितनी प्रकार की कही गई हैं ।

(गौतम !) जीवाभिगमसूत्र में नैरयिकों का दूसरा उद्देशक कहा है, पृथ्वी सम्बन्धी जो वर्णन है, वह सब यहाँ जान लेना चाहिए। वहाँ उनके संस्थान, मोटाई, आदि का यावत् अन्य जो भी वर्णन है, वह सब यहाँ कहना चाहिए।

यावत्— (भगवन् !) क्या सब जीव पूर्व में उत्पन्न हो चुके हैं ! हाँ गौतम ! सभी जीव नरक पृथ्वियों में अनेक बार अथवा अनन्तबार पहले उत्पन्न हो चुके हैं।

(यावत्—यहाँ जीवाभिगम सूत्र का पृथ्वी उद्देशक कहना चाहिए।)

॥ द्वितीय शतक : तृतीय उद्देशक समाप्त

विवेचन—

प्रस्तुत उद्देशक में नरकगत सात पृथ्वियों का वर्णन किया गया है, जिन पृथ्वियों में जाकर आत्माएं पापकर्मोदय से भयंकर दुःख का वेदन करती हैं।

सूत्र ६२— १. कइ णं भंते - अमो० पा० न० ॥ २. ०ओ गोयमा - अमो० । ०ओ गोयमा सत्त पुढवीओ पण्णत्ताओ तंजहा रयणप्पभा, सक्करप्पभा वालुयप्पभा, पंकप्पभा, धूमप्पभा, तमप्पभा जीवा० - न० ॥ ३. ०भिगमो - अमो० ॥ ४. बितीओ - अमो० ॥ ५. नेयव्वो जाव किं - न० । सूत्रपुस्तकेषु च पूर्वार्धमेव लिखितं, शेषाणां विवक्षितार्थानां यावच्छब्देन सूचितत्वात् । असौ गाथा जीवाभिगमस्य नारकद्वितीयोद्देशकार्थसंग्रहपरा वर्तते ॥ ६. पुढवी - अमो० पा० ला २-४ । "सूत्रपुस्तकेषु च पूर्वार्धमेव लिखितम् शेषाणां विवक्षितार्थानां 'यावत्' शब्देन सूचितत्वात्" इति सूचयित्वा अस्याः सम्पूर्णाया गाथायाः विवरणं वृत्तौ निरूपितम् ॥ ७. ओगाहित्ता - अमो० ॥ ८. ०णं निरयंत परिसेवो वण्णो गंधो य फासो य किं - अमो० । निरयंत परिसेवो वण्णो गंधो य फासो य जाव किं पा० । बाहुल्लं - ला १ । बाहेल्लं - ला० ला ३-४ । बाहल्लं । निरयंतपरिसेवो वण्णो गंधो य फासो य ॥ किं सव्वे पा° - ला० ला २ ॥ ९. सव्व पाणा - पु० अमो० जेसिमा ॥ १०. असइं - पा० न० वे० म० ॥ ११. "सो पुढवी उद्देसो - अमो० पा० ॥

A. जीवाभिगमसूत्र—पागमोदयमी० द्वितीय भाग—तीसरी प्रतिपत्ति उद्देशक—२—पृष्ठ १५२ से १५८ तक।

विवेचन :-

तो किसी में एक दिन, किसी में दो दिन तो किसी में छः महीने लगेंगे। रत्नप्रभादि नरकावास तो इतने विस्तार वाले हैं कि उन्हें तो वह देव पार ही नहीं कर सकता। अन्तिम नारकी के अप्रतिष्ठान नामक नारकावास को वह देव छः महीने तक निरन्तर दौड़ लगाए तो पार कर सकता है।

इन नरकावासों की कठोरता वज्र के समान होता है।। पुद्गलों का आवागमन होने पर भी इनके मूल रूप में कोई परिवर्तन नही होता।

नारकियों की संख्या की बहुलता बतलाने के लिये कहा गया है कि प्रत्येक समय में एक २ नैरयिक निकाला जाय तो असंख्यात उत्सर्पिणी अवसर्पिणी काल लगेगा। यह कथन संख्या विशेष को बतलाने के लिये लिखा गया है। वस्तुतः त्रिकाल में भी ऐसा कभी नही होता।

नारकियों में अवधिज्ञान— रत्नप्रभा में चार गव्यूति अर्थात् आठ मील तक उत्कृष्ट अवधिज्ञान होता है। शर्कराप्रभा में ३½ गव्यूति (सात मील) बालुकाप्रभा मे ३ गव्यूति (६ मील) पंक प्रभा में २½ गव्यूति (पाँच मील) धूमप्रभा में दो गव्यूति (४ मील) तमःप्रभा में डेढ गव्यूति (३ मील) सातवी महातमःप्रभा मे एक गव्यूति (२ मील) तक उत्कृष्ट अवधिज्ञान होता है।

उपर्युक्त प्रमाण जो उत्कृष्ट अवधिज्ञान का विषय नारकियों में बतलाया है उसमें प्रत्येक में आधी गव्यूति (एक मील) कम कर देने पर जघन्य अवधिज्ञान का विषय बन जाता है।

नारकियों में क्षेत्र जन्यवेदना – अत्यन्त शीत या अत्यन्त उष्ण होने से सातों ही नारको में क्षेत्र जन्य-वेदना अत्यधिक होती है। प्रथम की तीन नरकों में परमाधार्मिक देवों द्वारा नैरयिकों को वेदना दी जाती है। उनकी वेदना देने का तरीका इस प्रकार होता है।

परमाधार्मिक देव उन्हें पूर्वभव के कुकृत्यों की याद दिलाकर उन्हें कष्ट देते है।

परमाधार्मिक देव उन नारकियों को अत्यधिक तप्त शीशा पिलाते हैं। तपी हुई लोहमयी स्त्री से आलिंगन करवाते हैं। कूट-शाल्मली वृक्ष के नीचे उन्हें बिठाया जाता है। उस वृक्ष के पत्ते तलवार की धार से भी अधिक तीक्ष्ण होते है। जिन पत्तों के शरीर पर गिरते ही अंग-प्रत्यंग छेदित भेदित हो जाते हैं। लोहे के हथोड़ों से कूटते हैं, बसौलो से लकड़ी की तरह छिल डालते हैं। घाव होने पर उस पर नमक या तपा हुआ तेल डाल देते हैं। भाड़ में भून देते हैं। कोल्हू में पीस देते है। करौतो से चीर डालते हैं। विक्रिया द्वारा कौए, सिंह आदि से अंगों को छेद डालते है, तप्त बालू में उन्हें (नारकियों) फेंक देते है। असिपत्र वन में उन्हें बिठा दिया जाता है, जहा पर तलवार की धार से भी तेज धार वाले पत्ते गिरा कर उनके अंगों को छेदित-भेदित कर देते हैं।

संठाणं- संस्थान–जो नारकजीवों के आवास पंक्ति में प्रविष्ट है, उनका आकार गोल-त्रिकोण चतुष्कोण होता है। इसके अतिरिक्त नरकवासों का आकार विविध प्रकार का होता है। यह सभी आकार हुंडक संस्थान में परिगणित होते हैं।

बाहल्लं— सातों पृथ्वियों के प्रत्येक नरकावास का बाहल्य-मोटाई तीन हजार योजन प्रमाण है। उनमें से नीचे का एक हजार योजन निबिड अर्थात् ठोस है मध्य का एक हजार योजन रिक्त (खाली) है। अन्तिम का एक हजार योजन संकुचित है।

विक्खंभपरिक्खेवो–विष्कंभ और परिक्षेप—

इन नरकवासों में कुछ संख्येय विस्तृत नरकावास है तो कुछ असंख्येय विस्तृत है। संख्येय विस्तृत नरकावास संख्यात योजन प्रमाण है। असंख्येय विस्तृत नरकावास असंख्यात योजन प्रमाण है। असंख्येय विस्तृतों की लम्बाई चौड़ाई और परिधि असंख्यात योजन परिमाण है। संख्येय विस्तृतों की संख्यात हजार योजन परिमाण है। सातवी नरक का अप्रतिष्ठान नामक नरकावास एक लाख योजन विस्तृत आयाम वाला है, इसकी परिधि-तीन लाख सोल्रह हजार, दोसौ सत्ताइस योजन, तथा तीन कोस एक सौ अठ्ठाइस धनुष तथा कुछ अधिक साढ़े तेरह अंगुल है।

परिधि का यह परिमाण जम्बूद्वीप की परिधि की तरह गणित-गणना से बनता है। अवशेष नारों नरकावासों का आयाम और विष्कंभ असंख्यात योजन है। इनकी परिधि त्रिगुणी से कुछ अधिक है।

वर्ण— नारकी जीवों का वर्ण अति-वीभत्स और भयंकर होता है। वे अत्यन्त काले और काली प्रभा वाले होते हैं। भय की अधिकता से उत्कृष्ट रोमांच वाले होते हैं। नारकियों का रूप भी परस्पर एक दूसरे को भयोत्पादक होता है।

गंध — मृत सर्प, भैंस, गाय आदि के शरीर के सड़जाने पर जो दुर्गन्ध फूटती है, उससे भी कई गुणी अधिक दुर्गन्ध नारकियो के शरीर से आती है। उनमे रमणीय और प्रियकारी कोई भी वस्तु नही होती है।

स्पर्श — नरकों का स्पर्श- खड्ग की धार, क्षुरधार, कदम्बचीरिका (एक तरह का तीक्ष्ण घास विशेष) जो सूइयों के समूह, अंगार ज्वाला आदि से भी अधिक कष्ट देने वाला होता है।

नरकावासों का विस्तार— नरकावासों के विस्तार को जानने के लिये एक रूपक दिया जाता है। एक महाशक्ति संपन्न महेशान देव में इतनी शक्ति होती है, कि तीन चुटकी लगाने मात्र में जितना समय व्यतीत होता है उतने समय में वह देव एक लाख योजन लम्बे और एक लाख योजन चौड़े जम्बूद्वीप का इक्कीस बार चक्कर लगा सकता है। वह देव नरकावासों के विस्तार के लिये दौड़ लगाए

तात्पर्य यह है कि मानव जिस उष्णता से बहुत अधिक उष्ण वेदना का अनुभव करता है, वैसी वेदना में नारकियों को रख दिया जाय तो सुख का अनुभव करते हैं, क्योंकि उनको वेदना उस वेदना से अनन्तगुणी अधिक होती है ।

शीत वेदना वालों के लिये रूपक इस प्रकार है— पौष या माघ मास में भयंकर शीत ऋतु चलती है। ऐसी ऋतु में अर्द्ध रात्रि का समय हो, नील गगन स्वच्छ हो, बादलों से अनावृत हो, शीतल समीर बहुत तेजी से चल रहा हो, उस समय कोई व्यक्ति हिमालय पर्वत के बर्फीले शिखर पर वस्त्र रहित होकर-अर्थात् किसी भी प्रकार की शीत निवारण वस्तु से रहित होकर बैठा हो, उस व्यक्ति को उस समय जितनी अधिक शीत वेदना होती है, उससे भी अनन्तगुणी अधिक शीत वेदना नारकी जीवों को होती है। ऐसे नारकी जीवों को उक्त बर्फीले शिखर पर स्थित पुरुष के स्थान पर बिठाया जाय तो वह परम शान्ति का अनुभव करता है। उसे यहां तक सुख की अनुभूति होती है कि जिसमें तन्मय होकर नींद आ जाय।

नारकियों की उष्ण व शीत वेदना को समझाने के लिए उपर्युक्त रूपक दिये गए है, वास्तव में ऐसा कभी नही हुआ है कि किसी नारकी जीव को वहां से लाकर यहां अंगारे में रखा हो या बर्फीले पर्वत पर। न ऐसा होता है और नही होगा।

भूख, प्यास, खुजली, परवशता, ज्वर, दाह, भय शोक आदि अनेक वेदनाएं भी मानव की अपेक्षा नारकियों में अनन्त गुणी अधिक होती है। उन्हें इतनी अधिक भूख लगती है कि वे सारे संसार के पदार्थों को खा भी लें तो भी तृप्ति न हो। उन्हें इतनी अधिक प्यास लगती है कि सारे समुद्रों का पानी भी पी लें तो भी प्यास शांत न हो : खुजली इतनी तेज चलती है कि छुरी से खुजली करे तो भी दूर न हो। उनके अंगों का छेदन-भेदन होने पर भी वे अपनी आयु पूर्ण होने के पहले नही मरते हैं। वैक्रिय शरीर होने से शरीर के पुद्गल बिखरने जुड़ते रहते हैं। नारकियों का अवधिज्ञान भी उनके दुःख का ही कारण होता है क्योंकि वे उस ज्ञान के द्वारा तत्सम्बन्धी सीमा तक यह देख लेते हैं कि मेरे ऊपर इतने कष्ट आ रहे हैं जिन्हें देखते-देखते उनका रोम-रोम कांप उठता है।

यहां पर एक सहज जिज्ञासा उठ सकती है कि प्रथम नरक के नारकी के अवधिज्ञान का विषय सप्तम नरक के नारकी की अपेक्षा अधिक है। तो वह तो अपने ज्ञान में आने वाले दु.खों को देखकर अधिक दुःखी होगा और सातवीं नरक के नारकी के अवधिज्ञान का विषय कम होने से उन्हें दुःख कम होना चाहिये। किन्तु यह उपयुक्त नही हैं। क्योंकि प्रथम नरक के नारकी से सातवीं नरक के नारकी में दुःखों की बहुलता है।

इसका समाधान यह है कि जो अत्यधिक वेदना सातवीं नरक मे मानी गई है वहां रहने वाले नैरयिक स्वयं के अवधिज्ञान से चाहे क्षेत्रीय दृष्टि से स्वल्पक्षेत्र को देखते हों परन्तु उस स्वल्पक्षेत्र में

खून, मांस, पीव आदि से भरी हुई वैतरणी नदी के प्रवाह में उन्हें फेंक दिया जाता है। कुम्भीपाक में नारकियों को पकाये जाने पर उनको इतनी अधिक वेदना होती है कि वे उछल कर आकाश में पांचसौ योजन उपर चले जाते है फिर पुनः उसी में आकर गिरते हैं। इस प्रकार परमाधार्मिक देवताओं के द्वारा आदि की तीन नरकों में भयंकर कष्ट दिये जाते हैं।

इसके अतिरिक्त पहली से पांचवी नरक तक के जीव आपस में एक दूसरे से संघर्ष करते रहते है। उनमें जन्म–जात सर्प और नेवले की तरह वैरभाव होता है। वैक्रिय शरीर धारी होने से वे भयंकर से भयंकर रूप बना कर एक दूसरे को त्रास पहुँचाते हैं। गदा–मुद्गर आदि विभिन्न तरह के शस्त्रों की विक्रिया करके एक दूसरे पर आक्रमण करते है। बिच्छू या सर्प बन कर परस्पर एक दूसरे को काट डालते हैं। कीड़े बनकर किसी के शरीर में घुस जाते हैं।

नारकी जीव विभिन्न रूप, वैक्रिय शरीर से संख्यात ही बना सकते हैं। एक समान, एक शरीर से सम्बद्ध ही रूप बना सकते है। असम्बद्ध या भिन्न प्रकार के नहीं।

छट्ठी तथा सातवी नरकों के जीव भी वैक्रिय शरीर के द्वारा अनेक तरह के विभिन्न रूप कीड़े-मकोड़े आदि बनाकर एक दूसरे को काट देते हैं, खा जाते है।

क्षेत्रस्वभाव से आदि की तीन नारकियों में उष्ण वेदना होती है। इन तीन नरकों का उत्पत्ति स्थान बर्फ की तरह अत्यधिक शीतल रहता है। अतः वहां उत्पन्न हुए जीवों की स्वभाविक प्रकृति भी शीतप्रधान होती है। थोड़ी सी गर्मी उन्हें अत्यन्त उष्ण लगती है। वहां का उत्पत्तिस्थान अत्यधिक शीत और क्षेत्र अंगारों से भी भयंकर संतप्त होने के कारण उन नारकियों को अत्यधिक उष्ण वेदना अनुभूत होती है। इसी प्रकार दूसरे नरकों में अपने २ स्वभाव से विपरीत वेदना नारकियों को होती है। पंकप्रभा के उपर वाले नरकवासों में उष्ण वेदना होती है। नीचे वाले नरकावासों में शीत वेदना होती है। धूमप्रभा के अधिक नरकावासों में शीत और कुछ में उष्ण वेदना होती है। छट्ठी तथा सातवीं नारकी में शीत वेदना होती है यह वेदना नीचे के नरकों में पूर्वपेक्षा तीव्रतर और तीव्रतम होती है।

नैरयिकों की उष्ण और शीत वेदना को समझाने के लिये दो रूपक दिये जाते हैं।

जिस समय ग्रीष्म ऋतु में गगनमण्डल में भास्कर मध्यान्ह के समय प्रचण्ड तपता है, हवा बिलकुल बंद सी हो जाती है। यानी वृक्ष के पत्ते भी कायोत्सर्ग की मुद्रा के समान निष्क्रिय बन जाते हैं, हलन चलन करना भी बंद सा कर देते हैं। धरती संतप्त हो उठती है। उस समय में पित्तप्रकृति वाले व्यक्ति जिस उष्ण वेदना का अनुभव करते हैं, उससे भी अनन्तगुणी अधिक उष्ण वेदना नारकियों को होती है। आधुनिक दृष्टिकोण से सोचा जाय तो ऐसी वेदना का अनुभव करने वाले नारकियों को विश्व प्रसिद्ध भिलाई की भट्टी में भी लाकर रख दिया जाय तो वे अत्यन्त शीतलता का अनुभव करेंगे।

वाले नरकों में यह जीव (जो व्यवहार राशि में आ चुके हैं) एक दो बार नहीं अपितु अनन्त बार जा चुके है। इसी भयंकर वेदना का अनुभव कर चुके हैं। नरक में तिर्यंच मनुष्य गति से ही जीव जा सकते हैं। मन–वचन एवं काया की शक्ति को असंयम में परिणत करने से आत्मा नरक में जाकर दुःखों का वेदन करती है।

आज के चिन्तनशील मानव के मस्तिष्क में नरक एवं नरक की इतनी दीर्घ स्थिति को लेकर यह सहज जिज्ञासा उठती है कि क्या ऐसा स्थान है, और इतनी दीर्घ स्थिति का प्रसंग बन सकता है?

(मनुष्य या तिर्यंच में जीव कौन से भारी कर्मों का बंधन कर लेता है, जिससे उसे ऐसी दीर्घ स्थिति वाले नरकों में जाना पड़ता है।

शास्त्रकारों ने नरक एवं उनकी स्थिति का प्रतिपादन किया है, वह है अवश्य। तभी उनका प्रतिपादन हुआ है। इस विषय का कुछ अनुमान मनुष्य के मस्तिष्क में आ जाय, एतदर्थ एक रूपक देकर समझाना उपयुक्त है। कल्पना करिये कि एक पुरुष पूर्व जन्म से ७५ वर्ष की उम्र लेकर आया और उसने १५ वर्ष की अवस्था में ताकत के साथ एक ही झटके में एक व्यक्ति का खून कर दिया। ऐसा झटका लगाने में एक सेकिण्ड लग सकता है। ऐसा व्यक्ति सरकार के द्वारा पकड़ा जाय तो उसे उस एक सेकिण्ड में किये गए पाप की सजा फांसी या आजीवन कारावास दी जाती है। यानी उसकी ६० वर्ष की अवशेष जिन्दगी बेकार कर दी जाती है। एक सैकिंड का पाप ६० वर्ष के जितने सैकिण्ड होते है उसे उतनी सजा भोगनी पड़ती है। वह पुरुष कदाचित् सरकार की दृष्टि से बच जाय और पन्द्रह वर्ष से लेकर अवशेष आयु ६० वर्ष तक निरन्तर एक एक सैकिन्ड मे एक २ व्यक्ति को मारता रहे तो उसकी सजा कितनी होगी? क्योंकि एक सैकिन्ड की सजा ६० वर्ष में जितने सैकिण्ड होते हैं उतनी सजा को भोगने के लिये मनुष्य लोक में न तो ऐसा कोई स्थान है और नहीं सरकार के पास ऐसा कोई कारावास है। कुदरत में देर होती है अन्धेर नहीं। अतः इतने पाप को भोगने के लिये जो स्थान है वह नरक है। उस दीर्घ स्थिति को भोगने के लिये नरक की दीर्घस्थिति प्रतिपादित की जाती है।

इतना पाप बंधन भी कायिक हिंसा का बतलाया गया। किन्तु मानसिक और वास्तविक हिंसा का विश्लेषण किया जाय तो उससे होने वाला नरकस्थिति का बधन संख्यातीत अवस्था तक पहुँच जाता है। आज का न्याय तो काय के द्वारा होने वाली हिंसा का ही दण्ड देता है। किन्तु सिद्धांत मन और वचन द्वारा की जाने वाली हिंसा को भी दण्डनीय मानता है।

मन के द्वारा भी किसी व्यक्ति को मारने का विचार किया गया तो वह भी हिंसा है, दण्डनीय है उससे भी कर्मों का बंधन होता है। व्यक्ति के विचारों का प्रभाव संबंधित व्यक्तियों पर परोक्षरूप

स्थित दृश्यमान तत्वों से प्रथम नरक के नारकों की अपेक्षा अत्यधिक वेदना की अनुभूति करते हैं। प्रथम नरक के नारकी के अवधिज्ञान के परिमाणक्षेत्र में दृश्यमान तत्वों का इतनी भयानकता नहीं होती जितनी कई गुनी अधिक भयानकता सातवी नारकीगत अवधिज्ञान के अल्प क्षेत्र में होती है। जैसे कल्पना करिये कि प्रखर किरणों से जाज्वल्यमान सूर्य का समग्र प्रकाश प्रथम नरक के अवधिज्ञान के क्षेत्र में व्याप्त हो जाय तथा अनन्तसूर्यों का तेज सातवीं नारकों के अवधिज्ञान की सीमा में समाविष्ट हो तो कौन अधिक सूर्य की किरणों से संतप्त होगा ? स्पष्ट है कि छोटे क्षेत्र में अनन्त सूर्यों का प्रसरित तेज अधिक कष्ट प्रद होता है। यह समझाने के लिये असत्य कल्पना की गई है।

नारकियों की स्थिति— रत्न प्रभा नरक की जघन्य १० हजार वर्ष और उत्कृष्ट स्थिति एक सागरोपम की है। शर्कराप्रभा की जघन्य १ सागरोपम उत्कृष्ट ३ सागरोपम, बालुका प्रभा की जघन्य ३ सागरोपम उत्कृष्ट ७ सागरोपम, पंकप्रभा की जघन्य ७ सागरोपम उत्कृष्ट दस सागरोपम, धूमप्रभा की जघन्य १० सागरोपम उत्कृष्ट सत्रह सागरोपम तमप्रभा की जघन्य १७ सागरोपम उत्कृष्ट २२ सागरोपम। तमस्तमाप्रभा की जघन्य २२ सागरोपम उत्कृष्ट ३३ सागरोपम की है।

इस प्रकार नारकी जीवों की संक्षिप्त व्याख्या प्रस्तुत की गई है[1] इस प्रकार की महावेदना-

---

१. टिप्पणी— मूल पाठ में नारकी जीवों की व्याख्या के लिये जीवाभिगम सूत्र की संग्रह गाथाएं उद्धृत की जा रही है। नरक सम्बन्धी विशेष ज्ञान के इच्छुक जीवाभिगम सूत्र का अवलोकन करें।

पुढवी ओगाहित्ता नरगा संठाणमेवबाहल्लं
विक्खंभ परिक्खेवे वण्णो गंधो य फासो य ॥ १ ॥
तेसिं महालयाए उवमा देवेण होइ कायव्वा
जीवाय पोग्गला वक्कमंति तह सासया निरया ॥ २ ॥
उववायपरिमाणं अवहारुच्चत्तमेव संघयणं
संठाण वण्णगंधा फासा ऊसासमाहारे, ॥ ३ ॥
लेसादिट्ठी नाणे जोगुवओगे तहा समुग्घाया
तत्तो छुहा पिवासा विउव्वणा वेदणा य भए ॥ ४ ॥
उववाओ पुरिसाणं ओवम्मं वेयणाए दुविहाए
उव्वट्टण पुढवीउ उववाओ सव्वजीवाणं ॥ ५ ॥ [जीवाभिगमसूत्र]

भावार्थ— उपर्युक्त गाथाओं में निम्न विषय निर्देशित है।

१. पृथ्वियों के नाम तथा गोत्र २. नरकावासों की अवगाहना तथा स्वरूप ३. नरकावासों का संस्थान ४. बाहल्य अर्थात मोटाई ५. विष्कंभ (लम्बाई–चौड़ाई) तथा परिक्षेप-परिधि ६. वर्ण गंध स्पर्श ७. असंख्यात योजन वाले नरकावासों के विस्तार के लिये उपमा ८. जीव और पुद्गलों की व्युत्क्रान्ति ९. शाश्वत-अशाश्वत १०. उत्पत्ति किन नारकों में कौनसे जीव उत्पन्न होते है। ११. एक समय में कितने जीव उत्पन्न होते हैं १२. अवगाहना १३. संहनन १४. संस्थान १५. नारकी जीवों का वर्णगंध स्पर्श तथा उच्छ्वास १६ आहार १७. लेश्या १८. दृष्टि १९. ज्ञान २०. योग २१. उपयोग २२. समुद्घात २३. क्षुधा–प्यास २४. विक्रिया २५. वेदना तथा भय २६. उष्ण वेदना और शीतवेदना २७. स्थिति २८. उद्वर्तना २९. पृथ्वियों का स्पर्श ३०. उपपात।

चतुर्थ उद्देशक : इन्द्रिय

प्राथमिक

इन्द्रियां और उनके संस्थान सम्बन्धी चर्चा—

अखिल विश्व में स्थित अनन्तानन्त आत्माओं का इन्द्रियों को लेकर वर्गीकरण किया जाता है। नरकगति, मनुष्यगति, देवगति में रहने वाले क्रमशः नैरयिक मनुष्य और देवता में पांचों ही इन्द्रियाएं होती है। तिर्यंच में एक इन्द्रिय से लेकर पांचों इन्द्रियों तक के जीव होते हैं।

तृतीय उद्देशक में नारकी जीवों का वर्णन किया गया था। उन नारकी जीवों के कितनी इन्द्रियां होती है? उनके ही नहीं अखिल विश्व के समस्त जीवों के कितनी इन्द्रियां होती है? एतद् विषयक विवेचन प्रस्तुत उद्देशक में किया जा रहा है—

में अवश्य पड़ता है। अच्छे या बुरे विचारों का सामने वाले व्यक्ति पर अच्छे या बुरे रूप में प्रभाव पड़ता है।[1]

सम्भव है मानव शरीर के द्वारा किसी व्यक्ति की हिंसा न कर सकें किन्तु मन के द्वारा वह क्या नहीं कर सकता है? क्या आज के मानव के मन में विचार नहीं आते कि मेरे में शक्ति हो तो मैं सारे विश्व का सम्राट् बन जाऊं, विश्व की सारी सम्पत्ति का मालिक बनजाऊं? ऐसे विचारों के पीछे कितनी हिंसा की भावना रही हुई है, कितनी आसक्ति रही हुई है, न मालूम कितने जीवों की हिंसा होगी, तब जाकर वह स्थिति बन पाएगी। हालांकि ऐसी स्थिति बनना असम्भव सा है। किन्तु यदि मानव के मन में इस प्रकार के अतितृष्णा के विचार आते हैं तो आगम-सिद्धांत के अनुसार वह बहुत कर्मों का बंधन करता है: इस बात को प्रचलित कथा भरत चक्रवर्ती एवं स्वर्णकार के द्वारा स्पष्ट तरीके से समझी जा सकती है। भगवान् ऋषभदेव के समवसरण में भरत चक्रवर्ती द्वारा मेरा मोक्ष कब होगा ऐसी जिज्ञासा व्यक्त करने पर प्रभु ने बतलाया इसी जन्म में मोक्ष में जाओगे। उसी समवसरण में अकिंचन स्वर्णकार भी उपस्थित था। उसने भी प्रभु के समक्ष प्रश्न रखा कि प्रभो! मैं मोक्ष में कब जाऊंगा? तो प्रभु ने कहा- अभी तुम्हारे बहुत जन्म मरण अवशेष है। स्वर्णकार प्रच्छन्न रोष द्वारा भगवान् को पक्षपाती समझने लगा। भरत ने उसे तेल के कटोरे के माध्यम से समझाया था। कहा कि मेरे पास छः खण्ड का राज्य है पर मेरा इस पर ममत्व नहीं है। तुम्हारे पास कुछ भी नहीं होते हुए भी तुम क्या सोचते हो? तब स्वर्णकार ने कहा मेरा वश चले तो मैं आपको भी समाप्त कर चक्रवर्ती बन जाऊं! तब भरत ने कहा ये विचार ही तुम्हारे संसार भ्रमण के कारण बने हुए हैं। कथाभाग चाहे किसी भी रूप में हो, तात्पर्य यह है कि मानसिक हिंसा किस प्रकार संसार परिभ्रमण का कारण बन जाती है। यह इस रूपक से स्पष्ट हो जाता है।

यह तो एक हिंसा से होने वाले कर्मों के बन्धन की बात सामान्य रूप से बतलाई गई। इसके अतिरिक्त वह कितना असत्य व्यवहार करता है, चोरी करता है अब्रह्मचर्य का सेवन एवं परिग्रह रखता है, छः काय के जीवों का आरम्भ-समारम्भ करता है। उन सब से भी कर्मों का बन्धन होता है। वह कितनी स्थिति तक होता है—इसका गणित फल लगाना असम्भव है। इसलिये ऐसी संख्या को आगम में पल्योपम और सागरोपम की व्याख्या से अभिव्यंजित किया जाता है। उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि नरक व नरकगत स्थिति या कोई कल्पित नहीं है। भगवान् ने केवलालोक में देखकर कथन की है। सर्वज्ञ के वचन अविसंवादी होते हैं।

॥ द्वितीय शतक तृतीय उद्देशक समाप्त ॥

---

१. भौतिक विज्ञान के इस युग में मनो वैज्ञानिक लोगों ने मन के प्रभाव को भी स्पष्ट कर दिया है जहाँ वनस्पति पर इस प्रकार के प्रयोग किये गए कि वनस्पति के समक्ष कोई व्यक्ति हिंसात्मक भाव को लेकर जाता है तो वनस्पतियों में प्रकम्पन प्रारम्भ हो जाता है। यही नहीं मानसिक मनोतरंगाओं के द्वारा एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को प्रभावित कर देता है। मास्को के लिनिनग्राद नगर में वैज्ञानिक कमाडोव ने लगभग डेढ़ हजार मील दूरी पर स्थित व्यक्ति के साथ बिना किसी यंत्र के माध्यम से मानसिक सम्बन्ध स्थापित किया था। डेढ़ हजार मील की दूरी पर स्थित जगते हुए व्यक्ति को वैज्ञानिक कमाडोव ने टेलीपैथी संप्रेषण के द्वारा सुला दिया। कुछ ही समयान्तर में टेलीपैथी संप्रेषण से ही पुनः उसे जगा दिया। इस बात की प्रामाणिकता के लिये लोगों ने टेलीफोन आदि के द्वारा डेढ़ हजार मील दूर स्थित व्यक्ति की जानकारी अन्य व्यक्ति से की गई तो बात सत्य निकली।

द्रव्येन्द्रिय के दो भेद होते है—

१– निर्वृ तिद्रव्येन्द्रिय २– उपकरणद्रव्येन्द्रिय

निर्वृ ति द्रव्येन्द्रिय – इन्द्रियों के आकार विशेप को निर्वृ ति द्रव्येन्द्रिय कहते है।

उपकरण द्रव्येन्द्रिय— दर्पण के समान अत्यन्त स्वच्छ पुद्गलो की रचना विशेप को उपकरण द्रव्येन्द्रिय कहते हैं। इस इन्द्रिय के नष्ट हो जाने पर आत्मा को तत्संबन्धी इन्द्रियों से होने वाला बोध नहीं होता।

भावेन्द्रिय के भी दो भेद होते हैं।

लब्धि और उपयोग।

लब्धि— ज्ञानवरणीय आदि कर्मों के क्षयोपशम होने पर इन्द्रिय संबन्धी विषयों के जानने की शक्ति को लब्धि रूप भावेन्द्रिय कहते हैं।

उपयोग— ज्ञानवरणीय आदि कर्मों के क्षयोपशम होने पर पदार्थो को जानने रूप आत्मा के व्यापार का उपयोग रूप भावेन्द्रिय कहते हैं। जैसे– कोई मुनिराज द्रव्यानुयोग, चरितानुयोग, गणितानुयोग, धर्मकथानुयोग के ज्ञाता हैं। जिस समय वे द्रव्यानुयोग का कथन कर रहे है, उस समय द्रव्यानुयोग उपयोग रूप से तथा अन्य अनुयोग लब्धि रूप मे विद्यमान होते हैं।

दूसरी अपेक्षा से इन्द्रियों के पांच भेद होते हैं।

१–श्रोत्रेन्द्रिय २– चक्षुरिन्द्रिय ३ घ्राणेन्द्रिय ४– रसनेन्द्रिय ५– स्पर्शनेन्द्रिय।

श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा आत्मा को जीव-अजीव एवं मिश्र (जीव-अजीव का सम्मिलित) शब्दों का ज्ञान होता है।

चक्षुरिन्द्रिय के द्वारा आत्मा को काला, नीला आदि पाचों वर्णों का अवबोध होता है। घ्राणेन्द्रिय के द्वारा आत्मा को सुगन्ध या दुर्गन्ध पूर्ण द्रव्यों का बोध होता है।

रसनेन्द्रिय के द्वारा तिक्तादि रसों का और स्पर्शनेन्द्रिय के द्वारा कर्कशादि स्पर्शों का बोध होता है।

मूल पाठ में इन्द्रियों का स्वरूप जानने के लिये प्रज्ञापना सूत्र के पन्द्रहवें इन्द्रिय पद के प्रथम उद्देशक को ज्ञातव्य बताया है। उस प्रथमोद्देशक में इन्द्रियों के विषयों का संकेत करने वाली निम्न गाथा है।

संठाणं बाहल्लं पोहत्तं, कइ पएस ओगाढे।
अप्पाबहु पुट्ठ पविट्ठ, विसय अणगार आहारे॥

चउत्थो उद्देसो : इंदिय

सूत्र ६३. [1]कति णं भंते ! इंदिया पण्णत्ता ?

गोयमा ! पंच इंदिया [2]पण्णत्ता तं [3]जहा–पढमिल्लो [4]इंदियउद्देसओ [5]नेयव्वो [6]संठाणं [7]बाहल्लं पोहत्तं [A]जाव [8]अलोगो ।

॥ वितीय सए चउत्थो उद्देसो समत्तो ॥

(६३) भगवन् ! इन्द्रियां कितने प्रकार की है ?

गौतम ! इन्द्रियां पांच प्रकार की कही गई है, ये इस प्रकार है । (यहां) प्रज्ञापनासूत्र पन्द्रहवे इन्द्रियपद का प्रथम-उद्देशक जानना चाहिये । उसमे कहे अनुसार इन्द्रियों के संस्थान, मोटाई चौडाई यावत् अलोक (इस) तक के विवेचनपर्यन्त समग्र इन्द्रिय उद्देशक जानना चाहिये ।

॥ द्वितीय शतक का चतुर्थ उद्देशक समाप्त ॥

विवेचन—

इन्द्र का अर्थ होता है आत्मा । सर्व वस्तु का ज्ञान तथा भोग करने में समर्थ होने से आत्मा को इन्द्र कहते हैं । उस आत्मा का अवबोध जिसके द्वारा हो उसे इन्द्रिय कहते है । जैसे स्पर्शेन्द्रिय द्वारा एकेन्द्रियजीव पहचाने जाते हैं । बेइन्द्रिय जीव स्पर्श और रसना इन्द्रिय के द्वारा जाने जाते हैं । इसी प्रकार क्रमिक इन्द्रियों के विकास के साथ तेइन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय जीव के विषय में भी जानना चाहिये ।

इन्द्रियों के मुख्य दो भेद होते हैं—द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय ।

द्रव्येन्द्रिय—चक्षु आदि इन्द्रियों के बाह्य या अभ्यन्तर पौद्‌गलिक आकार विशेष को द्रव्येन्द्रिय कहते है ।

भावेन्द्रिय— लब्धि और उपयोग रूप अवस्था को भावेन्द्रिय कहते है ।

---

१. कइ णं - अंगसु० पा० ॥ २. °त्ताओ - जी० ३ ॥ ३. °हा सोइंदिए, चक्खिंदिए, घाणिंदिए, रसिंदिए, फासिंदिए पढ.- म० ॥ ४. उद्देसो - पु० अंगसु० ॥ ५. नेयव्वो जाव - म० ॥ ६. इदं च सूत्रं पुस्तकेषु आदर्शेषु लिखितम्, केषाञ्चित् तदर्थाः 'यावत्' शब्देन सूचिताः' इति सूचयित्वा अस्याः सम्पूर्णाया गाथाया लिखनं कृतं विहितम् ॥ ७. बाहल्लं - पा० ॥ ८. °लो इति उद्देसो - अंगसु० पा० । अलोगे णं भंते ! किणा फुडे कतिहिं वा काएहिं फुडे ? गोयमा ! नो धम्मत्थिकाएणं फुडे जाव नो आगासत्थिकाएणं फुडे, आगासत्थिकायस्स देसेणं फुडे, आगासत्थिकायस्स पदेसेहिं फुडे नो पुढविकाएणं फुडे जाव नो अद्धासमएणं फुडे एगे अजीवदव्वदेसे अगुरुलहुए अणंतेहिं अगुरुलहुयगुणेहिं संजुत्ते सव्वागासे अणंतभागूणे ॥

A. पण्णवणा सुत्त – मुनि पुण्यविजयजी—इन्द्रिय पद—उद्देशक प्रथम सूत्र ९७२ से १००५ तक ।

९– विषय द्वार – इन्द्रियों का विषय सामान्य रूप से जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण है।

उत्कृष्टतः श्रोतेन्द्रिय का विषय बारह योजन का है। यदि श्रोतेन्द्रिय का शब्द रूप विषय शब्दान्तर या प्रतिकूल वायु के द्वारा प्रतिहत नहीं किया गया हो तो बारह योजन से आने वाले शब्दों को भी श्रोतेन्द्रिय ग्रहण कर लेती है।

चक्षुरिन्द्रिय का विषय एक लाख योजन से भी कुछ अधिक है। अर्थात् इतनी दूर पर भी अव्यवहित रूप में स्थित तत्व को वह जानने मे समर्थ हो सकती है। घ्राणेन्द्रिय–रसनेन्द्रिय, स्पर्शनेन्द्रिय यह तीनों इन्द्रियां जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग उत्कृष्ट नव नव योजन तक अव्यवहित पदार्थ का तत् तत् इन्द्रिय संबन्धी ज्ञान प्राप्त कर सकती है[1]

अनगार— गाथा में प्रयुक्त अनगार शब्द का यह तात्पर्य है कि समुद्घातगत अनगार के निर्जरा संबन्धी पुद्गलों को छद्मस्थ मनुष्य नहीं देख सकता।

आहार— इस शब्द का यह भाव है कि उन निर्जरा संबन्धी पुद्गलों को वे जान और देख तो नहीं सकते किन्तु आहार कर सकते हैं।

उपर्युक्त ११ द्वारों का विवेचन प्रज्ञापना सूत्र के पन्द्रहवें इन्द्रिय पद गत संग्रहणी प्रथम गाथा के आधार पर किया गया है।[2]

॥ द्वितीय शतक चतुर्थ उद्देशक समाप्त ॥

---

१ इन्द्रियों का विषय परिमाण आत्मांगुल से जानना चाहिये।

२. ग्यारह द्वारों के अतिरिक्त भी बारहवे आदर्श द्वार से लेकर चौबीसवे लोक द्वार तक विस्तृत विवेचन है। ग्रन्थ विस्तार के भय से वह यहां नहीं दिया जा रहा है। जिज्ञासु पाठक प्रज्ञापना सूत्र के पन्द्रहवे पद में देखें। द्वारों की संग्रहणी गाथा यह है।

अदाए असीयमणी दुद्ध पाणे तेलफाणियवसाय।
कंबल थूणा थिग्गल, दीवोदहिलोगाऽलोय॥

संस्थान, बाहल्य, पृथक्त्व, कितने प्रदेशों में अवगाढ, अल्प बहुत्व, स्पृष्ट, प्रविष्ट, विषय, अनगार, आहारादि द्वारों से इन्द्रिय विवेचन जानना चाहिये ।

१– *संस्थान द्वार इन्द्रियों को विशेष बनावट को संस्थान कहते हैं ।* इन्द्रियो का संस्थान दो प्रकार का होता है—

१– *बाह्य संस्थान और आभ्यन्तर संस्थान । बाह्य संस्थान एकेन्द्रिय का भी भिन्न जीवों के* भिन्न प्रकार का होता है । आभ्यन्तर संस्थान सभी जीवों के समान होते है । श्रोत्रेन्द्रिय का आभ्यंतर संस्थान जैसा पशु के है वैसा ही मनुष्य के होगा । यहां जीवों का आभ्यन्तर संस्थान बतलाया जाता है ।

१– श्रोत्रेन्द्रिय का आभ्यन्तर संस्थान कदम्ब के फूल जैसा है

२– चक्षुरिन्द्रिय का मसूर की दाल जैसा होता है, चन्द्र जैसा होता है ।

३ - घ्राणेन्द्रिय का अतिमुक्त फूल, जैसा होता है ।

४– रसनेन्द्रिय का आकार क्षुप्र (खुरपे) जैसा और ५– स्पर्शनेन्द्रिय का आकार नाना प्रकार का होता है ।

२– *बाहल्यद्वार*—पांचों इन्द्रियाओं का बाहल्य (मोटाई) अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण है ।

३– *पृथक्त्व*— विस्तार । श्रोत, चक्षु और घ्राण इन्द्रिय की लम्बाई अंगुलके असंख्यातवें भाग प्रमाण है । रसनेन्द्रिय की लम्बाई अंगुल पृथक्त्व (दो अंगुल से नव अंगुल) प्रमाण है । स्पर्शनेन्द्रिय की लम्बाई अपने अपने शरीर प्रमाण है ।

४–५ *प्रदेश और अवगाढ द्वार*— पांचों इन्द्रियां अनन्त प्रदेशों से बनी हुई है किन्तु असंख्यात प्रदेशावगाढ हैं ।

६– *अल्पबहुत्वद्वार— अवगाहना की अपेक्षा से इन्द्रियों का अल्प-बहुत्व बतलाया गया है ।* सबसे अल्प अवगाहना चक्षुरिन्द्रिय की है । उससे श्रोत्रेन्द्रिय संख्यात गुणी है । उससे घ्राणेन्द्रिय की संख्यात गुणा है । उससे रसनेन्द्रिय की संख्यात गुणी है । रसना से स्पर्शनेन्द्रिय की अवगाहना संख्यात गुनी है ।

७–८ *इन्द्रिय-स्पृष्ट प्रविष्ट द्वार*— चक्षुरिन्द्रिय को छोड़कर अवशेष चारों इन्द्रियां विषय को स्पृष्ट करके प्राप्त करके ज्ञान करती हैं । इसलिये ये चारों इन्द्रियां प्राप्यकारी कहलाती हैं । चक्षुरिन्द्रिय विषय को बिना प्राप्त किये ही योग्य देश में सन्निधान होने पर वस्तु का बोध प्राप्त कर लेती है । अतः चक्षुरिन्द्रिय अप्राप्यकारी है । चारों इन्द्रियां अपने विषय को स्पर्श करके बोध प्राप्त करती हैं । चक्षुरिन्द्रिय अपने विषय को बिना स्पर्श किये ही बोध को प्राप्त करती है ।

पंचमो उद्देसो ; नियंठ

निर्ग्रन्थदेव-परिचारणा सम्बन्धी चर्चा—

सूत्र ६४. अण्णउत्थिया णं भंते ! [1]एवमाइक्खंति भासंति [2]पण्णवेंति [3]परूवेंति-एवं खलु नियंठे [4]कालगए समाणे [5]देवब्भूएणं अप्पाणेणं से णं तत्थ णो [6]अन्ने देवे, नो अन्नेसिं देवाणं देवीओ [7]अहिजुंजिय २, परियारेइ १, णो [8]अप्पणाच्चियाओ देवीओ [9]अभिजुंजिय २ परियारेइ २, अप्पणामेव अप्पाणं [10]विउव्विय २ [11]परियारेइ ३, एगे वि [12]य णं जीवे एगेणं समएणं दो [13]वेदे वेदेइ, तं जहा—[14]इत्थिवेदं च [15]पुरिसवेदं च । [16]एवं परउत्थियवत्तव्वया नेयव्वा [A]जाव [17]इत्थिवेदं च पुरिसवेदं च । से कहमेयं भंते ! एवं ?

(६४) भगवन् ! अन्यतीर्थिक इस प्रकार कहते हैं भाषण करते है बतलाते हैं और प्ररूपणा करते है कि कोई भी निर्ग्रन्थ काल करने पर देव होता है और वह देव, वहा (देवलोक में) दूसरे देवों के साथ या दूसरे देवो की देवियों के साथ उनको वश मे करके या आलिंगन करके उनके साथ भी परिचारणा नहीं करते न अपनी देवियों को वश में करके विषय सेवन करते हैं, किन्तु वे देव अपने आप ही वैक्रिय देवी बनाकर परिचारणा करते है। एक जीव एक समय में एक साथ दो वेद का वेदन करता हैं यथा स्त्री वेद का और पुरुष वेद का। इस प्रकार परतीर्थिक की वक्तव्यता कहनी चाहिए और वह एक जीव एक ही समय मे स्त्रीवेद और पुरुष वेद का अनुभव करता है यहाँ तक कहना चाहिए। भगवन् ! यह इस प्रकार कैसे हो सकता है ? अर्थात क्या यह अन्यतीर्थिकों का कथन सत्य है ?

---

१. ०ति पन्नवेंति - अमो० । ०माइक्खति - जं० ॥ २. पण्णवेंति - न० ॥ ३. ०ति तंजहा एव - पु० घा० मु० ॥ ४. कालगते - वे० म० ॥ ५. प्राकृतत्वात् भकारस्य द्वित्वम् । देव भूतेणं - ला० ला ३ । देवब्भूतेणं - ला १ ॥ ६. अन्न देवे - अमो० ॥ ७. अभिजुं० - अमो० । आभिजुंजिय अभिजुंजिय - न० । अहियजिय - व० । अभिजुंजिउ ला० ला ३ । अभिजुंजित - ला १–४ । अहियुजिय - लो० । अभिउजिय - ला २ ॥ ८ अप्पणिच्चि० - अमो० घा० न० । अप्पणोच्चि० - अ० क० ता० व० । अप्पिणिच्चियाओ - वृ० । अप्पजिआओ - ठा० ३।९ । अप्पणच्चियाओ - वे० म० । अप्पणोच्चि - जे० ला २ लो० । अप्पणिच्चियातो - ला १ । अप्पणोचिया० - ला० ३–४ ॥ ९. अहिजुंजिय - घा० । अभिउंजिय २ - लो० ला २ ॥ १०. वेउव्विय - ला ३ ॥ ११ पवियार० - लो० । पडियार० - ला४ ॥ १२. य जं णं - लों० ॥ १३. वेयं वेएइ - घा० ॥ १४. इत्थिवेयं च - अमो० । इत्थिवेय पुरि० - घा० ॥ १५. पुरिसवेयं च - अमो० घा० ॥ १६. वि० पा०—जं समयं इत्थिवेयं वेएइ तं समयं पुरिस वेय वेएइ । जं समयं पुरिसवेयं वेएइ तं समयं इत्थिवेयं वेएइ । इत्थिवेयस्स वेयणाए पुरिसवेयं वेएइ पुरिसवेयस्स वेयणाए इत्थिवेयं वेएइ । एवं खलु एगे वि य णं जीवे एगे णं समएणं दो वेदे वेदेइ तंजहा-इत्थि० - न० ॥ १७. इत्थिवेय च पुरिसवेयं - अमो०घा० ॥ A. जं समयं इत्थिवेयं वेएइ तं समयं पुरिसवेयं वेएइ जं समयं पुरिसवेयं वेएइ, तं समयं इत्थिवेयं वेएइ इत्थिवेयस्स वेयणाए पुरिसवेयं वेएइ, पुरिसवेयस्स वेयणाए इत्थीवेयं ।

पंचमोद्देशक : निर्ग्रन्थ

प्राथमिक

संसार में स्थित अनंतानंत प्राणी अपने अपने कर्मानुसार चारों गतियों में परिभ्रमण करते रहते हैं। कभी तिर्यंच में तो कभी देव में, कभी मनुष्य में तो कभी नरक में।

जब तक संबन्धित कर्मों का विनाश नहीं हो जाय, तब तक आत्मा अतीन्द्रिय नहीं बनती, तब तक इन्द्रियों के साथ आनवित संबन्ध बना रहता है। जिस प्राणी के पास जितनी इन्द्रियां होती हैं वह उतनी इन्द्रियों से तत् तत् संबन्धित भौतिक विषय ग्रहण करने में लगा रहता है।

एकेन्द्रिय-स्पर्शनेन्द्रिय वाले जीव स्पर्शनेन्द्रिय के द्वारा अपने विषय को ग्रहण करने में लगे रहते हैं। तो पंचेन्द्रिय जीव पांचों ही इन्द्रियों द्वारा अपने अपने विषय को ग्रहण करते रहते हैं। उन इन्द्रियों से विविध विषय ग्रहण किये जाते हैं।

श्रोत्र से सुनने का, चक्षु से देखने का, घ्राण से सूंघने का, रसना से आस्वादन लेने का, तो त्वचा से स्पर्श सुखानुभव ग्रहण किया जाता है।

तिर्यंच और पंचेन्द्रिय द्वारा इन्द्रियों से ग्रहण किया गया विषय तो स्पष्ट परिलक्षित होता है किन्तु देव इन पांचों इन्द्रियों से विषय कैसे ग्रहण करते हैं? उनमें भी स्पर्शनेन्द्रिय के परिचारणा संबंधी विषय ग्रहण कैसे किया जाता है। इस विषय पर भगवान् महावीर के समय में अन्यतीर्थिक मतों में विभिन्न मान्यताएं प्रचलित थी।

उनमें कितनी सच्चाई है, इस बात का अवबोध कराने के लिये भगवान् गौतम इन्द्रियों के विषय के प्रश्न करने के पश्चात् प्रस्तुत उद्देशक में देव संबन्धी परिचारणा विषयक प्रश्न करते हैं।

[36]अभिभुंजिय २ [37]परियारेइ २, नो अप्पणामेव अप्पाणं [38]विउव्विय २ परियारेइ ३; [39]एगे वि य [40]णं जीवे एगेणं [41]समएणं एगं [42]वेदं वेदेइ, तं जहा-[43]इत्थिवेदं वा पुरिसवेदं वा, जं समयं [44]इत्थिवेदं वेदेइ [45]णो तं समयं [46]पुरिसवेयं वेएइ, जं समयं [47]पुरिसवेयं वेएइ, णो [48]तं समयं [49]इत्थिवेयं वेदेइ, [50]इत्थिवेयस्स [51]उदएणं नो [52]पुरिसवेद [53]वेएइ, [54]पुरिसवेयस्स [55]उदएणं नो [56]इत्थिवेयं [57]वेएइ। एवं खलु एगे जीवे एगेणं समएणं एगं [58]वेदं वेदेइ, तं जहा--[59]इत्थिवेयं वा [60]पुरिसवेयं वा। इत्थी [61]इत्थिवेएणं उदिण्णेणं पुरिसं पत्थेइ पुरिसो [62]पुरिसवेएणं उदिण्णेणं [63]इत्थिं [64]पत्थेइ। [65]दो वि [66]ते अन्नमन्नं [67]पत्थेति, तं जहा--इत्थी वा पुरिसं, [68]पुरिसे वा इत्थि।

नहीं करता है। इस प्रकार एक जीव एक शरीर में एक ही वेद का अनुभव करता है। यथा स्त्रीवेद या पुरुषवेद। जिस समय स्त्रीवेद का वेदन करता है उस समय में पुरुषवेद का वेदन नहीं होता है। जिस समय पुरुषवेद का वेदन करता है उस समय स्त्रीवेद का वेदन नहीं होता। इस प्रकार एक जीव एक ही समय में एक ही वेद का अनुभव करता है। यथा स्त्री-वेद का या पुरुषवेद का। जब स्त्रीवेद का उदय होता है तब स्त्री पुरुष की अभिलाषा करती है और जब पुरुषवेद का उदय होता है तब पुरुष स्त्री की अभिलाषा करता है। अर्थात् अपने अपने वेद के उदय से पुरुष और स्त्री परस्पर एक दूसरे की इच्छा करते है, वह इस प्रकार कि स्त्री पुरुष की और पुरुष स्त्री की अभिलाषा करता है।

...गियाओ - जं० ला० २। अभिभुंजिय - ला १ ॥ ३७. परितारेति - जं० ॥ ३८. वेउव्विय - अमो०। वेउव्विया - ला० ३। विउव्विया - ला० ॥ ३९. एगे वि य णं समएणं एगं - लो० ॥ ४०. णं जाव एगे - घा० ॥ ४१. समदेणं - जं० ॥ ४२. वेयं वेएइ - घा० ॥ ४३. ० वेयं वा पुरिसवेयं वा - घा० ॥ ४४. इत्थियवेयं वेएइ - घा०। ४५-४६. णो य समय - जं० ॥ ४६. पुरुसवेद - पुरिसवेय - पु०। पुरिसवेदं वेदेइ - अमो० न० ॥ ४७. पुरिसवेदं वेदेइ - अमो० न० ॥ ४९. इत्थिवेदं वेएइ - अमो०। इत्थियवेयं वेएइ - घा०। इत्थिवेदं - न० इत्थिवेदं० एवं खलु - ला० ला ३-४। इत्थिवेदं वेदेइ एव खलु - लो० जे० ॥ ५०. इत्थियवेयस्स - घा०। इत्थिवेदस्स - न० ॥ ५१. ...देणं जं० ॥ ५२. पुरिसवेयं वेएइ - घा० ॥ ५३. वेदेइ - अमो० न० ॥ ५४. पुरिसवेदस्स - अमो० न० ॥ ५५. ...देणं - घा० ॥ ५६. ०वेदं - अमो० न०। इत्थियवेयं - घा० ॥ ५७ वेदेइ - अमो० न० ॥ ५८. वय वेएइ - घा० ॥ ५९. इत्थीवेय - पु०। इत्थिवेदं वा अमो०। इत्थीवेदं न० ॥ ६०. पुरिसवेदं वा - अमो० न० ॥ ६१. ...देणं न०। ०वेतेणं - ज० ॥ ६२. ०वेदेणं - अमो० न० ॥ ६३. इत्थियं - ला २ ॥ ६४. वेत्थइ - घा० ०इ एवं ...३० - जं० ॥ ६५. दो वेते - अमो० ॥ ६६. तं - घा० ६७. पत्थेइ - अमो० ॥ ६८. पुरिसो - अमो० ज० ला० ...ना ३ ॥

गोयमा ! [१८]जं णं ते अन्नउत्थिया [१९]एवमाइक्खंति [A]जाव [२०]इत्थिवेदं च पुरिसवेदं च । जे ते एवमाहंसु [२१]मिच्छं ते एवमाहंसु, [२२]अहं पुण गोयमा ! [२३]एवमाइक्खामि भासामि, पन्नवेमि, परूवेमि--एवं खलु [२४]नियंठे कालगए समाणे अन्नयरेसु [२५]देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो [२६]भवंति [२७]महिड्ढीएसु [B]जाव [२८]महाणुभागेसु [२९]दूरगतीसु [३०]चिरट्ठितीएसु । से णं तत्थ देवे [३१]भवति [३२]महिड्ढीए [C]जाव दस दिसाओ [३३]उज्जोवेमाणे पभासेमाणे [D]जाव पडिरूवे । से णं तत्थ अन्ने देवे, अन्नेसिं देवाणं देवीओ [३४]अभिजुंजिय २ परियारेइ १, [३५]अप्पणच्चियाओ देवीओ

गौतम ! वे अन्यतीर्थिक जो यह कहते है यावत् प्ररूपणा करते हैं कि–यावत् स्त्रीवेद और पुरुषवेद (अर्थात् एक ही जीव एक समय में दो वेदों का अनुभव करता है) उनका यह कथन मिथ्या है। गौतम ! मैं इस प्रकार कहता हूँ और प्ररूपणा करता हूँ कि कोई एक निर्ग्रन्थ जो मरकर किसी महर्द्धिक यावत् महा प्रभावयुक्त दूरगमन करने की शक्ति से सम्पन्न दीर्घकाल की स्थिति (आयु) वाले देव लोकों में से किसी एक में देव रूप में उत्पन्न होता है। ऐसे देव लोक में वह महती ऋद्धि से युक्त यावत् महानुभाग वाला जो दशों दिशाओं को प्रकाशित करता है। देदिप्यमान करता है देखने वाले को नवीन रूप में दिखलाई पड़ता है वह देव वहां अन्य देवों को तथा देवियों को अपने वश में करके वैषयिक सुख भोगता है किन्तु अपने आप से विक्रिया करके दो रूप बनाकर परिचारणा

अमो० पा० ॥ १८. जण्णं ते - पु० अमो० ॥ १९. ०ति तं चेव जाव - जं० ॥ २०. इत्थिवेयं च पुरिसवेयं च अमो० पा० ॥ २१. मिच्छा - अमो० जं० ॥ २२. अहं - जं० ॥ २३. एवमाइक्खामि भा० प० परू० एवं - पु० ०क्खामि जाव परूवेमि - अमो० ॥ २४. निग्गंठे - वे० म० ॥ २५. ०सु उववा० - लों० ॥ २६. भवइ - पा० प्राकृतशैल्या उत्पत्ता भवतीति इत्यम् - वृ० ॥ २७. महिड्ढिएसु जाव - पु० वे० म० । महड्ढिसु - पा० ॥ २८ महाणुभावेसु - पा० ॥ २९. दूरंगतीसु - अमो० । दूरगइएसु - पा० । दूरंगतीतेसु - जं. ॥ ३०. चिरट्ठिइएसु - पा० चिरठिती - ला० ला ३ ॥ ३१. भवइ - अमो० पा० न० ॥ ३२. महिड्ढिए - पु० अमो० । महड्ढिए - पा० मधिड्ढीते जाव महाणुभागे दूरंगतीते चिरट्ठितीते हारविराइयवच्छे जाव पभासेमाणे । से णं - जं. ॥ ३३. उज्जोएमाणे - न० ३४ अभिउंजिय - जं० लों० ला २ । अभिजुंजिय - ला १ ॥ ३५. अप्पणिच्चि० - अमो० पा० न० ला १

A. सूत्र ६५ अण्णउत्थिया णं भंते "......पुरिसवेदं च तक ॥

B. महज्जुतीएसु महाबलेसु महायसेसु महासोक्खेसु ॥

C. महज्जुइए महाबले महायसे महासोक्खे महाणुभागे हारविराइयवच्छे कडगतुडियथंभियभुए अंगयकुंडलमट्ठगंडतलकण्णपीढधारी विचित्तहत्थाभरणे विचित्तमाला मउलिमउडे इत्यादि यावत् दिव्वाए, जुइए, पभाए, छायाए अच्चीए तेएणं लेसाए दस दिसाओ उज्जोवेमाणे पभासेमाणे इत्यादिकः आलापकः वृत्तिकारेण निर्दिष्टः व्याख्यातश्च ॥

D. पासादीए दरिसणिज्जे अभिरूवे ॥

[36]अभिभुंजिय २ [37]परियारेइ २, नो अप्पणामेव अप्पाणं [38]विउव्विय २ परियारेइ ३; [41]एगे वि य [40]णं जीवे एगेणं [41]समएणं एगं [42]वेदं वेदेइ, तं जहा-[43]इत्थिवेदं वा पुरिसवेदं वा, जं समयं [44]इत्थिवेदं वेदेइ [45]णो तं समयं [46]पुरिसवेयं वेएइ, जं समयं [47]पुरिसवेयं वेएइ, णो [48]तं समयं [49]इत्थिवेयं वेदेइ, [50]इत्थिवेयस्स [51]उदएणं नो [52]पुरिसवेद [53]वेएइ, [54]पुरिसवेयस्स [55]उदएणं नो [56]इत्थिवेयं [57]वेएइ । एवं खलु एगे जीवे एगेणं समएणं एगं [58]वेदं वेदेइ, तं जहा--[59]इत्थिवेयं वा [60]पुरिसवेयं वा । इत्थी [61]इत्थिवेएणं उदिण्णेणं पुरिसं पत्थेइ पुरिसो [62]पुरिसवेएणं उदिण्णेणं [63]इत्थियं [64]पत्थेइ । [65]दो वि [66]ते अन्नमन्नं [67]पत्थेति, तं जहा--इत्थी वा पुरिसं, [68]पुरिसे वा इत्थियं ।

नहीं करता है । इस प्रकार एक जीव एक शरीर में एक ही वेद का अनुभव करता है । यथा स्त्रीवेद या पुरुषवेद । जिस समय स्त्रीवेद का वेदन करता है उस समय में पुरुषवेद का वेदन नहीं होता है । जिस समय पुरुषवेद का वेदन करता है उस समय स्त्रीवेद का वेदन नहीं होता । इस प्रकार एक जीव एक ही समय में एक ही वेद का अनुभव करता है । यथा स्त्रीवेद का या पुरुषवेद का । जब स्त्रीवेद का उदय होता है तब स्त्री पुरुष की अभिलाषा करती है और जब पुरुषवेद का उदय होता है तब पुरुष स्त्री की अभिलाषा करता है । अर्थात् अपने अपने वेद के उदय से पुरुष और स्त्री परस्पर एक दूसरे की इच्छा करते है, वह इस प्रकार कि स्त्री पुरुष की और पुरुष स्त्री की अभिलाषा करता है ।

अभिजिराओ - जं० ला० २ । अभिपुंजिय - ला १ ॥ ३७. परित्तारेति - जं० ॥ ३८. वेउव्वियं - अमो० । वेउव्विया - ला० ३ । विउव्विया - ला० ॥ ३९. एगे वि य णं समएण एगं - लों० ॥ ४०. णं जाव एगे - घा० ॥ ४१ समदेणं - जं० ॥ ४२. वेयं वेएइ - घा० ॥ ४३. ० वेयं वा पुरिसवेयं वा - घा० ॥ ४४. इत्थियवेयं वेएइ - घा० ॥ ४५—४६. णो यं समय - ज० ॥ ४६. पुरुसवेय - पुरिसवेयं - पु० । पुरिसवेदं वेदेइ - अमो० न० ॥ ४७. पुरिसवेदं वेदेइ - अमो० न० ॥ ४९. इत्थिवेदं वेएइ - अमो० । इत्थियवेयं वेएइ - घा० । इत्थिवेदं - न० इत्थिवेदं० । एवं खलु - ला० ला ३-४ । इत्थिवेदं वेदेइ एवं खलु - लों० जं० ॥ ५०. इत्थियवेयस्स - घा० । इत्थिवेदस्स - न० ॥ ५१. उदेणं जं० ॥ ५२. पुरिसवेयं वेएइ - घा० ॥ ५३. वेदेइ - अमो० न० ॥ ५४. पुरिसवेदस्स - अमो० न० ॥ ५५. उदयेणं - घा० ॥ ५६. ०वेदं - अमो० न० । इत्थियवेयं - घा० ॥ ५७ वेदेइ - अमो० न० ॥ ५८. वय वेएइ - घा० ॥ ५९. इत्थीवेय - पु० । इत्थिवेदं वा अमो० । इत्थीवेदं न० ॥ ६०. पुरिसवेदं वा - अमो० न० ॥ ६१. ०वेदेणं न० । ०वेतेणं - ज० ॥ ६२. ०वेदेणं - अमो० न० ॥ ६३. इत्थियं - ला २ ॥ ६४. वेत्थइ - घा० ०इ ! एवं वे ऽ० - जं० ॥ ६५. दो वेते - अमो० ॥ ६६. तं - घा० ६७. पत्थेइ - अमो० ॥ ६८. पुरिसो - अमो० ज० ला० ला ३ ॥

गोयमा ! [१८]जं णं ते अन्नउत्थिया [१९]एवमाइक्खंति [A]जाव [२०]इत्थिवेदं च पुरिसवेदं च । जे ते एवमाहंसु [२१]मिच्छं ते एवमाहंसु, [२२]अहं पुण गोयमा ! [२३]एवमाइक्खामि भासामि, पन्नवेमि, परूवेमि--एवं खलु [२४]नियंठे कालगए समाणे अन्नयरेसु [२५]देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो [२६]भवंति [२७]महिड्ढीएसु [B]जाव [२८]महाणुभागेसु [२९]दूरगतीसु [३०]चिरट्ठितीएसु । से णं तत्थ देवे [३१]भवति [३२]महिड्ढीए [C]जाव दस दिसाओ [३३]उज्जोवेमाणे पभासेमाणे [D]जाव पडिरूवे । से णं तत्थ अन्ने देवे, अन्नेसि देवाणं देवीओ [३४]अभिजुंजिय २ परियारेइ १, [३५]अप्पणच्चियाओ देवीओ

गौतम ! वे अन्यतीर्थिक जो यह कहते है यावत् प्ररूपणा करते हैं कि--यावत् स्त्रीवेद और पुरुषवेद (अर्थात् एक ही जीव एक समय में दो वेदों का अनुभव करता है) उनका यह कथन मिथ्या है। गौतम ! मैं इस प्रकार कहता हूँ और प्ररूपणा करता हूँ कि कोई एक निर्ग्रन्थ जो मरकर किसी महर्द्धिक यावत् महा प्रभावयुक्त दूरगमन करने की शक्ति से सम्पन्न, दीर्घकाल की स्थिति (आयु) वाले देव लोकों में से किसी एक में देव रूप में उत्पन्न होता है। ऐसे देव लोक में वह महती ऋद्धि से युक्त यावत् महानुभाग वाला जो दशों दिशाओं को प्रकाशित करता है। देदिप्यमान करता है देखने वाले को नवीन रूप में दिखलाई पड़ता है वह देव वहां अन्य देवों को तथा देवियों को अपने वश में करके वैषयिक सुख भोगता है किन्तु अपने आप से विक्रिया करके दो रूप बनाकर परिचारणा

अमो० पा० ॥ १८. जण्णं ते - पु० अमो० ॥ १९. ०ति तं चेव जाव - जं० ॥ २०. इत्थिवेयं च पुरिसवेयं च - अमो० पा० ॥ २१. मिच्छा - अमो० जं० ॥ २२. अयं - जं० ॥ २३. एवमातिक्खामि भा० प० परू० एवं - पु० । ०क्खामि जाव परूवेमि - अमो० ॥ २४. नियंठे - वे० म० ॥ २५. ०सु उवव० - लों० ॥ २६. पकइ - पा० । प्राकृतशैल्या उपपत्ता भवन्तीति इदम् - वृ० ॥ २७. महिड्ढिएसु जाव - पु० वे० म० । महिड्ढिएसु - पा० ॥ २८. महाणुभावेसु - पा० ॥ २९. दूरंगतीसु - अमो० । दूरगइएसु - पा० । दूरंगतीतेसु - जं. ॥ ३०. चिरट्ठिइएसु - पा० । चिरठिती - ला० ला ३ ॥ ३१. भवइ - अमो० पा० न० ॥ ३२. महिड्ढिए - पु० अमो० । महिड्ढिए - पा० । महिड्ढीते जाव महाणुभागे दूरंगतीते चिरट्ठितीते हारविराइयवच्छे जाव पभासेमाणे । से णं - जं. ॥ ३३. उज्जोएमाणे - न० ३४ अभिजुंजिय - जं० लों० ला २ । अभिजुंजिय - ला १ ॥ ३५. अप्पणिच्चि० - अमो० पा० न० ला १ ।

A. सूत्र ६५ अण्णउत्थिया णं भंते ....पुरिसवेयं च तक ॥

B. महज्जुतीएसु महाबलेसु महायसेसु महासोक्खेसु ॥

C. महज्जुइए महाबले महायसे महासोक्खे महाणुभागे हारविराइयवच्छे कडयतुडियथंभियभुए अंगयकुंडलमट्ठगंडतलकण्णपीढधारी विचित्तहत्थाभरणे विचित्तमालामउलिमउडे इत्यादि यावत् दिव्वाए, जुईए, पभाए, छायाए अच्चीए तेएण लेसाए दस दिसाओ उज्जोवेमाणे पभासेमाणे इत्यादि. अत्रायं सूत्रपाठोऽस्ति [illegible] ॥

D. पासाईए दरिसणिज्जे अभिरूवे ॥

सूत्र ६६. तिरिक्खजोणियगब्भे णं भंते ! "तिरिक्खजोणियगब्भे" त्ति कालओ [७]केवच्चिरं [८]होति ?

(६६) भगवन् ! तिर्यग्योनिकगर्भ कितने समय तक तिर्यग्योनिकगर्भ रूप में रहता है।

गोयमा ! [९]जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, [११]उक्कोसेणं अट्ठ संवच्छराइं।

गौतम ! जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट आठ वर्ष तक।

सूत्र ६७. [१२]मणुस्सीगब्भे णं भंते ! "मणुस्सीगब्भे" त्ति कालओ [१३]केवच्चिरं होइ ?

(६७) भगवन् ! मानुषीगर्भ, कितने समय तक मानुषीगर्भ रूप में रहता है।

गोयमा [१४]जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं [१५]उक्कोसेणं बारस संवच्छराइं।

गौतम ! जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट बारह वर्ष तक रहता है।

सूत्र ६८. काय-भवत्थे णं भंते ! [१६]"काय-भवत्थे" त्ति कालओ [१७]केवच्चिरं होइ ?

(६८) भगवन् ! काय भवस्थ जीव कितने समय तक काय भवस्थ रूप में रहता है।

गोयमा ! [१८]जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं [१९]चउव्वीसं [२०]संवच्छराइं।

गौतम ! जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट चौबीस वर्ष तक रहता है।

सूत्र ६९. मणुस्स-[२१]पंचेंदियतिरिक्खजोणियबीए णं भंते ! [२२]जोणिब्भूए [२३]केवतियं कालं संचिट्ठइ ?

(६९) भगवन् ! मानुषी और पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च संबंधीयोनिगत बीज (वीर्य) योनिभूत रूप में कितने समय तक रहता है ?

गोयमा ! जहन्नेणं अन्तोमुहुत्तं उक्कोसेणं बारस मुहुत्ता।

गौतम ! जघन्य अन्तमुहूर्त और उत्कृष्ट बारह मुहूर्त तक "योनिभूत" रूप में रहता है।

---

८. होइ - धा० म० ॥ ९ जहन्नं - अमो० ॥ १०. उक्कोसं - अमो० ॥ ११. संवत्सराइं - ला ३-४ ॥ १२. मणुगब्भे - ब० । मणुस्सेगब्भे - ला० १३. केवचिरं - अमो० ला २ । केचिरं - जं० । किच्चिरं - ला १ ॥ १४. जहन्नं - अमो० ॥ १५. उक्कोसं - अमो० ॥ १६. ०वत्थे इ काल० : लो ॥ १७. केवचिरं - अमो० ला २ ॥ १८. जहण्णमंतोमुहुत्त- अमो० ॥ १९. चउवीसं - अमो० धा० म० ॥ २०. ०राणि - जं० ॥ 'चउव्वीसं संवच्छराइ ति स्त्रीकाये द्वादश वर्षाणि स्थित्वा पुनर्मृत्वा तस्मिन्नेव आत्मशरीरे उत्पद्यते द्वादशवर्षस्थितिकतया इत्येवं चतुर्विंशतिवर्षाणि भवन्ति । केचिद् आहु द्वादश वर्षाणि स्थित्वा पुनस्तत्रैव अन्यबीजेनतच्छरीरे उत्पद्यते द्वादशवर्षस्थिति." अवृ० ॥ २१ .०दीने - जं० ॥ २२. जोणियब्भूए - अमो० धा० ॥ २३. केवईयं - अमो० ॥

विवेचन—

गौतम स्वामी ने अन्य तीर्थिकों के मत को बतलाते हुए परिचारणा विषयक प्रश्न किया। अन्य तीर्थियों का कहना है कि एक जीव एक ही समय में दो वेदों का अनुभव कर सकता है। जैसे देव देवलोक मे जाकर विक्रियाद्वारा अपने ही शरीर को देव और देवी रूप दो रूप में बनाता है। फिर परस्पर परिचारणा करता है ऐसे समय में एक साथ दो वेदों का अनुभव करता है।

भगवान् ने इसका खण्डन करते हुए फरमाया गौतम ! एक समय में एक जीव एक ही वेद का अनुभव कर सकता है। जिस समय में स्त्री वेद का अनुभव करता है उस समय पुरुष वेद का नहीं और जिस समय पुरुष वेद का अनुभव करता है उस समय स्त्री वेद का अनुभव नहीं कर सकता।

स्त्री वेद और पुरुष वेद दोनों एक दूसरे से परस्पर विरूद्ध है, जो परस्पर सर्वथा विरूद्ध है वे एक समय में अनुभव में नहीं आ सकते। जिस प्रकार शीतलता-उष्णता परस्पर विरोधी धर्म है। इनका एकावस्थान नहो हो सकता उसी प्रकार पुरुषवेद स्त्री वेद को एक जीव एक समय में नहीं वेद सकते।

उदक गर्भादि की कालस्थिति

उत्थानिका—

गर्भ संबन्धी— पूर्व सूत्र में परिचारणा संबन्धी विचार किया गया था। परिचारणा स्त्री पुरुष के संयोग को कहते है। यद्यपि देव और देवी का परस्पर संयोग होने पर भी उनके कोई गर्भाधान की स्थिति नही बनती। किन्तु तिर्यंच और मनुष्य के स्त्री-पुरुष का संयोग होने पर गर्भाधान हो सकता है। अत: परिचारणा विषयक प्रतिपादन के अनन्तर प्रस्तुत सूत्र में गर्भाधान के विषय में बतलाया जा रहा है।

सूत्र ६५. [1]उदगगब्भे णं भंते ! "[2]उदगगब्भे" त्ति [3]कालतो [4]केवच्चिरं होइ ?

गोयमा जहन्नेणं [5]एक्कं समयं, [6]उक्कोसेणं छम्मासा।

(६५) भगवान् ! उदकगर्भ (पानी का गर्भ) उदकगर्भ के रूप में कितने समय तक रहता है।

गौतम ! जघन्य एक समय और उत्कृष्ट छह मास तक उदकगर्भ, उदकगर्भ रूप में रहता है।

१. उदगब्भे - न० । दगगब्भे - वृपा० । दगग० - ज० म० ला ३ अवृ पा० ॥ २. दगगब्भे - न० । दगग० - ज० ला० ला ३ अवृ पा० ॥ ३. कालओ - पा० न० ॥ ४. केवचिरं - अमो० सं० ला० ३ । केच्चिरं - ला २ ॥ ५. एक्कं - न० ॥ ६. उक्कोसं - अमो० ॥ ७. केवचिरं होइ - अमो० । केच्चिरं - ला १ । केवचिरं होइ - ला० ला २-३ ॥

प्रश्न—गर्भ के अंगों की रचना तो करीब छः सात मास में हो जाती है। सामान्यतः लगभग सवा नौ मास बाद वह बाहर भी आ जाता है। किन्तु जब वह बारह वर्ष तक गर्भ में रहता है तो अंग रचना पूर्ण होने के बाद उसका विकास होता है या नहीं, यदि नहीं तो फिर ग्रहण किया गया आहार का क्या होता है। बारह वर्ष बाद वह जीव मरकर संयोग से उसी में उत्पन्न होकर बारह वर्ष तक रहता है तो अंग तो पहले से तैयार है, तब वह अंग बनाता है या नहीं, यदि नहीं तो फिर नये जन्म से संबंधित क्या माता-पिता का सत्व व्यर्थ है ?

समा०—जब तक जीव माता की कुक्षि से बाहर नहीं आता है तब तक वह गर्भ में ही रहता है। उसमें रहता हुआ जीव गर्भस्थ जीव कहलाता है। उस जीव के अंगों की रचना हो जाने पर भी कुछ समय पश्चात गर्भ में रहते हुए भी अमुक तत्व की कमी हो जाने से वह जीव बाहर आने योग्य विकास नहीं कर पाता है और वह जितना आहार ग्रहण करता है उतना ही वह अपने शरीर मे परिणत कर लेता है, उससे शरीर विकास नहीं होता हैं। उसी अवस्था मे उत्कृष्ट बारह वर्ष तक रह सकता है। इसलिए गर्भस्थ जीव की भवस्थ उत्कृष्ट स्थिति बारह वर्ष की जो बतलायी गई है यह उपर्युक्त दृष्टिकोण के अनुसार समझना चाहिए। उस जीव का जो शरीर है उसे काय की संज्ञा भी दी जाती है वही जीव मरकर जब उसी शरीर में पुनः उत्पन्न हो जाता है तो वह उसकी काय भवस्थ स्थिति बन जाती है। मनुष्य के गर्भ की काय भवस्थ स्थिति चौबीस वर्ष की बतलायी गई है। बारह वर्ष की स्थिति तो पूर्वावस्था की अपेक्षा से और बारह वर्ष के बाद मरकर वह जीव पुनः वही जन्म लेकर बारह वर्ष तक उसी शरीर में रह सकता है, इस प्रकार चौबीस वर्ष तक रह सकता है। जो जीव काय भवस्थ स्थिति का आयुष्य लेकर आता है वह जीव गर्भस्थ भव स्थिति के समाप्त होते ही उसके कायस्थ स्थिति लागू हो जाती है। अतएव भव स्थिति की समाप्ति को ही मरण कहा जाता है उसी के साथ उसकी काय स्थिति लागू हो जाती है। ऐसी अवस्था में वह जीव भव स्थिति की समाप्ति के बाद कहीं बाहर जाकर जन्म लेता है, ऐसी स्थिति नहीं लगती क्योंकि कोई भी जीव अपनी भव स्थिति को समाप्त कर अन्य योनि में जाने के लिए (गमन) गति करता है। पर काय भवस्थ स्थित वाले जीव को अन्य योनि में जाने का कोई प्रसंग नहीं रहता। अतः वहीं उसके अवस्थान को काय स्थिति में ग्रहण कर लिया गया। यदि उस जीव के अतिरिक्त कोई बाहर का जीव उस गर्भ में आए तो उसके लिए प्रारम्भिक रज वीर्य की आवश्यकता होती है क्योंकि उसके बिना उसके शरीर का निर्माण नहीं होता। और वह जीव भवस्थ स्थिति वाला कहलाता है, काय स्थिति वाला नहीं।

कई विवेचनकारों ने काय भव वाले जीव के कायस्थ भव अवस्था में जो जन्म मरण की बात कही है वह कम संगत लगती है। क्योंकि मूलपाठ में ऐसी कोई बात नहीं आती है। मूलानुसारी विवेचन किया जाय तो वह इस प्रकार काय भावस्थ जीव में होगा। जो विद्वानों के चिन्तनार्थ प्रस्तुत है—

विवेचन—

गौतम स्वामी ने भगवान् से उदक गर्भ के विषय में प्रश्न किया। (कालान्तर में पानी बरसने के कारण रूप पुद्गल परिणाम को उदक गर्भ कहते हैं।) वह 'उदक गर्भ' कम से कम कितने समय तक नहीं बरसता ? और अधिक से अधिक कितने समय तक नहीं बरसता ?

भगवान् ने फरमाया—गौतम ! कम से कम एक समय और ज्यादा से ज्यादा छः मास तक उदक गर्भ विना बरसे ही रह सकता है।

"उदक गर्भ" का अनुमान कैसे लगाया जाय कि यह उदक गर्भ है। इसी का संकेत निम्न गाथा में किया है—

पौषे समार्गशीर्षे सन्ध्यारागोम्बुदाः सपरिवेषाः ।
नात्यर्थं मार्गशिरे शीतं पौषेऽतिहिमपातः ॥

मार्गशीर्ष और पौष मास में सन्ध्या के समय जो आकाश में ललाई परिलक्षित होती है सूर्य और चन्द्रमा के चारों ओर जो मेघों से कुण्डलाकार रेखा रूप परिवेश मालूम होता है, मार्गशीर्ष में अधिक ठण्ड न पड़ना और पौष मास में बहुत बर्फ पड़ना उदक गर्भ के चिन्ह है। मानुषी का गर्भ जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः बारह वर्ष तक होता है। बारह वर्ष तक मानुषी के गर्भ में जीव रह सकता है।

माता के उदर में रहे हुए गर्भगत शरीर को यहाँ काय संज्ञा से अभिव्यंजित किया गया है। उस शरीर में उत्पन्न होना कायभव कहलाता है।

मानुषी के गर्भ में रहने वाली आत्मा उत्कृष्टतः बारह वर्ष तक रह सकती है। बारह वर्ष रहने के पश्चात् मृत्यु को प्राप्त कर पुनः अपने ही गर्भगत शरीर में आकर उत्पन्न हो सकती है। तथा फिर उत्कृष्टतः १२ वर्ष तक रह सकती है। इस प्रकार चौबीस वर्ष तक एक जीव गर्भगत अपने शरीर में रह सकता है। इसी को "कायभवस्थ" कहते हैं।

किसी किसी का यह भी मत रहा है कि तिर्यंचनी अथवा मनुष्यनी की योनि में गर्भगत जीव बारह वर्ष तक रहा, तदनन्तर मृत्यु को प्राप्त कर अन्य वीर्य से पुनः वहीं उत्पन्न हुआ और पुनः बारह वर्ष तक रहा। इस प्रकार एक ही गर्भ में जीव चौबीस वर्ष तक उत्कृष्ट काल तक रह सकता है।

मनुष्यनी और तिर्यंचनी में गया योनिभूत वीर्य कितने समय तक सचित्त रह सकता है ? इसके उत्तर में भगवान् ने फरमाया—जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः बारह मुहूर्त पर्यन्त वीर्य सचित्त रह सकता है अर्थात् बारह मुहूर्त तक उसमें संतनोत्पादक शक्ति रहती है।

[11]सयपुहत्तस्स जीवाणं पुत्तत्ताए [12]हव्वमागच्छति ।

और उत्कृष्ट शतपृथक्त्व (दो सौ से लेकर नौ-सौ तक) जीवों का पुत्र हो सकता है।

सूत्र ७१. (I) एगजीवस्स णं भंते ! [13]एगभवग्गहणेणं [14]केवइया जीवा [15]पुत्तत्ताए हव्वमागच्छंति ?

(७१) भगवन् ! एक जीव के एक भव में कितने जीव पुत्र रूप मे (उत्पन्न) हो सकते हैं ?

गोयमा ! [16]जहन्नेणं [17]इक्को वा दो वा तिण्णि वा [18]उक्कोसेणं सयसहस्सपुहत्तं [19]जीवाणं [20]पुत्तत्ताए [21]हव्वमागच्छंति ।

गौतम ! जघन्य एक दो अथवा तीन और उत्कृष्ट लक्ष पृथक्त्व (दो लाख से लेकर नौ-लाख तक) जीव पुत्र रूप में उत्पन्न हो सकते है

(II) से केणट्ठेणं [22]भंते ! एवं वुच्चइ [A]जाव [23]हव्वमागच्छइ ?

(II) भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहा जाता है है कि जघन्य एक यावत् दो लाख से नौ लाख तक जीव पुत्र रूप में उत्पन्न हो सकते है ?

गोयमा [24]इत्थीए [25]य पुरिसस्स य [26]कम्मकडाए [27]जोणीए मेहुणवत्तिए नामं संजोए [28]समुप्पज्जइ । ते दुहओ [29]सिणेहं [30]संचिणंति, संचिणित्ता तत्थ णं जहन्नेणं एक्को वा दो वा [31]तिण्णि वा, [32]उक्कोसेणं सयसहस्सपुहत्तं

गौतम ! कर्मकृत (नामकर्म से निष्पन्न अथवा कामोत्तेजित) योनि मे स्त्री और पुरुष का जब मैथुन वृत्तिक संयोग निष्पन्न होता है तब उन दोनों के स्नेह (पुरुष के वीर्य और स्त्री के रज) का संयोग (सम्बन्ध) होता है। फिर उसमें से जघन्य एक दो अथवा तीन और उत्कृष्ट लक्ष-

---

अमो० न० वे० म० ॥ १२. ०गच्छइ - अमो० घा० ॥ १३. एकजीवभवग्गहणेणं - घा० । एग जीव० - स० ॥ १४. ०या पुत्त० - घा० । ०वतिया पुत्त० - ला० ला ३ ॥ १५. ०तादे - जं० ॥ १६ जघन्नेणं - घा० । जघन्ने० - जं० ॥ १७. एक्को वा - घा० न० ॥ १८. उक्को० सदसहस्सपुघत्तं - जं० ॥ १९. जीवा पुत्त० - ला० ॥ २०. ०तादे हव्वमागच्छंति - जं० ॥ २१. हव्वं आगच्छइ - घा० ॥ भ० 'जाव हव्व' - जं० ॥ २३. ०गच्छंति - न० वे० म० ॥ २४. इत्थीते य - जं० । इत्थी वा पुरि० - ला ३ । इत्थीए पुरि० - ला २ ॥ २५. य - णत्थि घा० न० ॥ २६. "कम्मकडाए जोणीए ति नामकर्मनिर्वर्तितायां योनौ अथवा: 'कम्म' कर्म—मदनोद्दीपको व्यापारः तत्कृतं यस्यां सा कर्मकृता" - अवृ० । अथवा 'कम्म' काम्यमकायसंबद्धम् प्रवर्तनम् तत् कृतं यस्यां सा काम्यकृता - वे० सम्पा० ॥ २७. ०णीते एत्थ णं मेघुणव० - जं० । ०णीए मेथुणव० - ला १ ॥ २८. समुपज्जइ - घा० ॥ २९ °हं रिणंतितत्थ - जं० । ०हंचिणंति - ला १-२-४ । ०ह चिणाति तत्थ - ला ३ ३०. चिणंति तत्थ - अमो० । °णंति तत्थ - घा० । चिणंतिचिणित्ता - न० ॥ ३१. दिण्णि - जं० । तोण्णि - ला १ ॥ ३२. उक्को० सयसघस्सपुघत्तं जीवा णं - जं० ॥

A. जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं सयसहस्सपुहत्तं जीवा णं पुत्तत्ताए ॥

पूर्व निर्मित शरीर तो है ही अतः उसके लिए नये प्रकार से रज वीर्य की आवश्यकता नहीं होती। और न ही उसके लिए उस प्रकार की योनि की ही। अतः नये सिरे से रज वीर्य का आहार एवं अंगरचना का तो प्रश्न ही नहीं रहता। वह जीव उतनी मात्रा में रस वाहिनी नाड़ी से रस ग्रहण करता है जिससे उसका जीवन रह सके। ऐसी स्थिति में अंगों के अतिरिक्त विकास की स्थिति भी नहीं रहती।

प्रभु से गौतम स्वामी का प्रश्न सिर्फ इतना ही है कि मनुष्य गर्भ में स्वाभाविक रूप से कितने वर्ष तक रहता है? उत्तर में प्रभु ने फरमाया कि भवस्थ स्थिति वाला जीव जघन्य अन्तर्मुहूर्त उत्कृष्ट बारह वर्ष तक रहता है। कायभवस्थ स्थिति के प्रश्न के उत्तर में प्रभु ने फरमाया कि जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट चौबीस वर्ष तक रह सकता है। दोनों प्रश्न अलग-अलग है, दोनों के उत्तर भी अलग-अलग दिये गये है। अतएव इन दोनों को एक नहीं कर सकते।

यदि यहां गौतम स्वामी का अभिप्राय उस एक ही चीज के लिए होता तो वे जन्म मरण सम्बन्धी प्रश्न भी कर सकते थे लेकिन ऐसा कुछ नहीं किया गया है। अतः स्पष्ट है कि जिस जीव का गर्भस्थ भव की दृष्टि से गर्भ में रहने का प्रसंग आता है तो वह उत्कृष्ट बारह वर्ष तक रहता है। जिस जीव का गर्भ में काय भवस्थ के रूप में आना होता है तो उत्कृष्ट चौबीस वर्ष तक रहता है।

अतः किन्हीं व्याख्याकारों का यह मानना है कि "माता के उदर में उस शरीर में बारह वर्ष तक रहकर फिर दूसरे वीर्य द्वारा वही उसी शरीर में बारह वर्ष की स्थिति वाला होकर जन्मता है इस तरह चौबीस वर्ष तक रहता है।" इस व्याख्या की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। फिर भी जो व्याख्या कर दी गयी उससे भ्रांति न हो उसके लिए उपर्युक्त स्पष्टीकरण किया गया है।

मैथुन से सन्तानोत्पत्ति संख्या एवं तत्संबंधी प्रसंग—

सूत्र ७०. [1]एगजीवे णं [2]भंते! [3]एगभवग्गहणेणं [4]केवतियाणं पुत्तत्ताए [5]हव्वमागच्छइ?	(७०) भगवन्! एक जीव, एक भव की अपेक्षा कितने जीवों का पुत्र हो सकता है?
गोयमा! [6]जहन्नेणं [7]इक्कस्स [8]वा दोण्हं वा [9]तिण्हं वा, [10]उक्कोसेणं	गौतम! एक जीव एक भव में जघन्य एक जीव का दो जीवों का अथवा तीन जीवों का

सूत्र ७०-७१-७२. १ एगे जीवे ण - पा० । २. भंते जोणि (बीजब्भूए केवति° - पु० मु० ॥ ३. °भवग्गहणेणं केवतियाणं - जं० ॥ ४. केवइयाणं - अमो० पा० न० । °याणं जीवाणं पुत्त° - जं० ॥ ५. °गच्छति - वे० म० । सयसहस्स° - जं० ॥ ६. जघन्नेण - पा ॥ ७. एगस्स वा २।३। उक्को० सयपुहत्तस्स जीवाणं पुत्तत्ताए हव्वमा० - जं० ॥ ८. वा दोण्हस्स वा - ला० ला १-४ । वा दोण्ह वा तिण्ह वा - ला १ । वा दोण्हस्स वा - अमो० । वा दोण्हं वा उक्को° - पा० । वा दोण्ह - न० ॥ ९. तिण्हस्स वा - अमो० । तिण्ह - न० ॥ १०. उक्कोसं - अमो० ॥ ११. °पुहत्तस्स -

[11]सयपुहुत्तस्स जीवाणं पुत्तत्ताए [12]हव्व-मागच्छति ।

और उत्कृष्ट शतपृथक्त्व (दो सौ से लेकर नौ-सौ तक) जीवों का पुत्र हो सकता है ।

सूत्र ७१. (I) एगजीवस्स णं भंते ! [13]एगभवग्गहणेणं [14]केवइया जीवा [15]पुत्तत्ताए हव्वमागच्छंति ?

(७१) भगवन् ! एक जीव के एक भव में कितने जीव पुत्र रूप में (उत्पन्न) हो सकते हैं ?

गोयमा ! [16]जहन्नेणं [17]इक्को वा दो वा तिण्णि वा [18]उक्कोसेणं सयसहस्स-पुहत्तं [19]जीवाणं [20]पुत्तत्ताए [21]हव्वमा-गच्छंति ।

गौतम ! जघन्य एक दो अथवा तीन और उत्कृष्ट लक्ष पृथक्त्व (दो लाख से लेकर नौ-लाख तक) जीव पुत्र रूप में उत्पन्न हो सकते है

(II) से केणट्ठेणं [22]भंते ! एवं वुच्चइ [A]जाव [23]हव्वमागच्छइ ?

(II) भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहा जाता है है कि जघन्य एक यावत् दो लाख से नौ लाख तक जीव पुत्र रूप में उत्पन्न हो सकते है ?

गोयमा [24]इत्थीए [25]य पुरिसस्स य [26]कम्मकडाए [27]जोणीए मेहुणवत्तिए नामं संजोए [28]समुप्पज्जइ । ते दुहओ [29]सिणेहं [30]संचिणंति, संचिणित्ता तत्थ णं जहन्नेणं एक्को वा दो वा [31]तिण्णि वा, [32]उक्कोसेणं सयसहस्सपुहत्तं

गौतम ! कर्मकृत (नामकर्म से निष्पन्न अथवा कामोत्तेजित) योनि में स्त्री और पुरुष का जब मैथन वृत्तिक संयोग निष्पन्न होता है तब उन दोनों के स्नेह (पुरुष के वीर्य और स्त्री के रज) का संयोग (सम्बन्ध) होता है । फिर उसमें से जघन्य एक दो अथवा तीन और उत्कृष्ट लक्ष-

---

अमो० म० वे० म० ॥ १२. ०गच्छइ – अमो० घा० ॥ १३. एकजीवभवग्गहणेणं – घा० । एग जीव० – स० ॥ १४. ०या पुत्त० – घा० । ०वतिया पुत्त० – ला० ला ३ ॥ १५. ०तादे – जं० ॥ १६ जघन्नेणं – घा० । जघन्ने० – जं० ॥ १७. एगो वा – घा० म० ॥ १८. उक्को० सदसहस्सपुधत्त – जं० ॥ १९. जीवा पुत्त० – ला० ॥ २०. ०तादे हव्वमागच्छंति – जं० ॥ २१. हव्व आगच्छइ – घा० ॥ भ० ! जाव हव्व० – जं० ॥ २३. ०गच्छंति – म० वे० म० ॥ २४. इत्थीते य – जं० । इत्थी वा पुरि० – ला ३ । इत्थीए पुरि० – ला २ ॥ २५. य – णत्थि घा० म० ॥ २६. "कम्मकडाए जोणीए ति नामकर्मनिर्वर्तितायां योनौ अथवा: 'कम्म' कर्म–मदनोद्दीपको व्यापार: तत्कृतं यस्यां सा कर्मकृता" – अवृ० । अथवा 'कम्म' काम्यमकायसंबद्धम् प्रवर्तनम् तत् कृतं यस्यां सा काम्यकृता – वे० सम्पा० ॥ २७. ०णीते एत्थ णं मेघुणव० – जे० । ०णीए मेयुणव० – ला १ ॥ २८. समुपज्जइ – घा० ॥ २९ °हं रिणंतितत्थ – अमो० । °हं चिणंति – ला १-२-४ । °ह चिणाति तत्थ – ला ३ ३०. चिणंति तत्थ – अमो० । °णंति तत्थ – घा० । चिणंतिचिणित्ता – म० ॥ ३१. दिण्णि – जं० । तोण्णि – ला १ ॥ ३२. उक्को० सयसघस्सपुधत्तं जीवा णं – जं० ॥

A. जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं सयसहस्सपुहत्तं जीवा णं पुत्तत्ताए ॥

पूर्व निर्मित शरीर तो है ही अतः उसके लिए नये प्रकार से रज वीर्य की आवश्यकता नहीं होती। और न ही उसके लिए उस प्रकार की योनि की ही। अतः नये सिरे से रज वीर्य का आहार एवं अंगरचना का तो प्रश्न ही नहीं रहता। वह जीव उतनी मात्रा में रस वाहिनी नाड़ी से रस ग्रहण करता है जिससे उसका जीवन रह सके। ऐसी स्थिति में अंगों के अतिरिक्त विकास की स्थिति भी नहीं रहती।

प्रभु से गौतम स्वामी का प्रश्न सिर्फ इतना ही है कि मनुष्य गर्भ में स्वाभाविक रूप से कितने वर्ष तक रहता है? उत्तर में प्रभु ने फरमाया कि भवस्थ स्थिति वाला जीव जघन्य अन्तर्मुहूर्त उत्कृष्ट बारह वर्ष तक रहता है। *कायभवस्थ स्थिति के प्रश्न के उत्तर में प्रभु ने फरमाया कि जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट चौबीस वर्ष तक रह सकता है। दोनों प्रश्न अलग-अलग है, दोनों के उत्तर भी अलग-अलग दिये गये है।* अतएव इन दोनों को एक नहीं कर सकते।

यदि यहां गौतम स्वामी का अभिप्राय उस एक ही चीज के लिए होता तो वे जन्म मरण सम्बन्धी प्रश्न भी कर सकते थे लेकिन ऐसा कुछ नहीं किया गया है। अतः स्पष्ट है कि जिस जीव का गर्भस्थ भव की दृष्टि से गर्भ में रहने का प्रश्न आता है तो वह उत्कृष्ट बारह वर्ष तक रहता है। जिस जीव का गर्भ में काय भवस्थ के रूप में आना होता है तो उत्कृष्ट चौबीस वर्ष तक रहता है।

अतः किन्हीं व्याख्याकारों का यह मानना है कि "माता के उदर में उस शरीर में बारह वर्ष तक रहकर फिर दूसरे वीर्य द्वारा वही उसी शरीर में बारह वर्ष की स्थिति वाला होकर जन्मता *इस तरह चौबीस वर्ष तक रहता है।" इस व्याख्या की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। फिर भी* जो व्याख्या कर दी गयी उसमें भ्रान्ति न हो उसके लिए उपर्युक्त स्पष्टीकरण किया गया है।

मैथुन से सन्तानोत्पत्ति संख्या एवं तत्संबंधी असंयम—

सूत्र ७०. [1]एगजीवे णं [2]भंते! [3]एग-भवग्गहणेणं [4]केवतियाणं पुत्तत्ताए [5]हव्वमागच्छइ?

गोयमा! [6]जहन्नेणं [7]इक्कस्स [8]वा दोण्हं वा [9]तिण्हं वा, [10]उक्कोसेणं

(७०) भगवन्! एक जीव, एक भव की अपेक्षा कि[तने] जीवों का पुत्र हो सकता है?

गौतम! एक जीव एक भव में जघन्य एक जीव का दो जीवों का अथवा तीन जीवों[का]

सूत्र ७०-७१-७२. १ एगे जीवेणं - पा० । २. भंते जीविए वीसम्मूए केवति - पु० मु० ॥ ३. भवग्गहणेणं केवतियाणं - जं० ॥ ४. केवइयाणं - अभो० पा० न० । एगाणं जीवाणं पुत्त । - जं० ॥ ५. °गच्छति - मे० म० । एगाए । - जं० ॥ ६. जघन्नेण - पा० । ७. एगस्स वा २।३। उक्को० सयपुहत्तस्स जीवाणं पुत्तत्ताए हव्वमाग० - जं० ॥ ८. वा दोण्हम वा - ला० ला ३-४ । वा दोण्हं वा तिण्हं वा - ला १ । वा दोण्हम वा - अभो० । वा दोण्हं वा उक्को - पा० । वा दोण्हं - न० ॥ ९. तिण्हं वा - अभो० । तिण्हं - न० ॥ १०. उक्कोसं - अभो० ॥ ११. 'सयस्स -

जब कर्मकृत-नाम कर्म उदय से बनी हुई योनि में मैथुन प्रत्ययिक क्रिया होती है, अर्थात् जब स्त्री की योनि में पुरुष का वीर्य और स्त्री का शोणित सम्बन्धित होता है तब उसमें जीवोत्पत्ति होती है।

मैथुन में होने वाले असंयम को बतलाने के लिये भगवान ने एक रूपक प्रस्तुत किया है। जिस प्रकार किसी बांस की नली में रूई या बूर (रूई से भी अधिक कोमल वनस्पति विशेष) भरा हुआ है उसमें अग्नि तप्त लोह की शलाका को डाल दी जाय तो सारी रूई या बूर जलकर भस्म हो जाता है। इसी प्रकार स्त्री योनि में रहे हुए जीवों का पुरुष लिंग (चिन्ह) के प्रवेश करने पर विनाश हो जाता है।

एक बार के मैथुन सेवन में दो लाख से लेकर नव लाख तक के सज्ञी पचेन्द्रिय मनुष्यों की उत्पत्ति होती है उनमें से जिसकी दीर्घ आयु होती है, वे प्रायः एक या दो आदि जीव ही शेष रहते हैं, अवशेष जीव मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं।

तुंगिका नगरी के आदर्श श्रावकों का जीवन—

उत्थानिका—

पूर्व सूत्र में तिर्यंच एवं मनुष्य विषयक विवेचन दिया गया था। चारों गति में श्रेष्ठ गति मनुष्य गति कही गई है। मनुष्य शरीर में रहकर आत्मा हिताहित के विवेक के साथ अपना सर्वात्मना उत्थान कर सकती है। गुणस्थान की दृष्टि से देखा जाय तो नारकी और देवता चतुर्थ गुणस्थान से आगे नहीं बढ़ सकते। किन्तु मनुष्य चवदहवें गुणस्थान तक जा सकता है। चवदहवें गुणस्थान में ही नहीं अपितु सम्पूर्ण कर्मों का विनाश कर सिद्ध बुद्ध मुक्त अवस्था को प्राप्त कर सकता है। ऐसे देवदुर्लभ मनुष्य तन में आकर आत्मा को किस प्रकार से जीवन क्रम बनाना चाहिये उसको प्रस्तुत सूत्र में तुंगिका नगरी के श्रावकों का वर्णन करते हुए बतलाया जा रहा है।

सूत्र ७३. तए णं समणे भगवं महावीरे रायगिहाओ [1]नगराओ [2]गुणसिलाओ [3]चेइयाओ पडिनिक्खमइत्ता बहिया [4]जणवय विहारं [5]विहरति।

(७३) किसी समय श्रमण भगवान् महावीर स्वामी राजगृह नगर के गुणशील नामक बगीचे से निकलते है निकलकर बाहर जनपद में विचरण करने लगते हैं।

सूत्र ७४. तेणं कालेणं तेणं समएणं तुंगिया नामं [6]नगरी होत्था। [A]वण्णओ

(७४) उस काल उस समय में तुंगिका नामक नगरी थी उसका वर्णन जान लेना चाहिये। उस

सूत्र ७३-७४ — १. नयराओ - अमो० ॥ २. ०लातो चितियाओ - ला १ ॥ ३. उज्जाणाओ - पु० ॥ ४. जणविहारं - श्रो। जणवइविहारं - ला ३ ॥ ५. विहरइ - अमो० घा० न० ॥ ६. नयरी - अमो० घा० न० ॥ ७. तुंगितातो

A. प्रथम शतक उद्दे० १ सूत्र न० ४ (i) जावपूर्ति A ॥

तीसे णं [७]तुंगियाए [८]नगरीए बहिया [९]उत्तरपुरत्थिमे [१०]दिसीभाए [११]पुप्फवतीए नामं [१२]चेतिए होत्था। [१३]वण्णओ[B]। [१४]तत्थ णं तुंगियाए [१५]नगरीए [१६]बहवे समणोवासया परिवसंति अड्ढा दित्ता [१७]वित्थिण्ण-[१८]विपुलभवण-[१९]सयणासण-[२०]जाण-वाहणाइण्णा बहुधण-बहु-[२१]जायरूव-रयया [२२]आयोग-[२३]पयोगसंपउत्ता [२४]विच्छड्डियविपुलभत्तपाणा[२५] बहु-दासी-दास-गो-महिस-[२६]गवेलयप्पभूया बहुजणस्स [२७]अपरिभूया [२८]अभिगयजीवाजीवा [२९]उवलद्धपुण्ण-पावा [३०]आसव-संवर-[३१]निज्जरकिरियाहिकरण[३२]-[३३]बंधमोक्खकुसला [३४]असहेज्जदेवासुर-[३५]नाग-सुवण्ण-जक्ख-[३६]रक्खस-

तुंगिका नगरी के बाहर उत्तर पूर्व दिशा भा[ग] में पुष्पवती नामक बगीचा था। उसका वर्ण[न] जान लेना चाहिये। उस तुंगिका नगरी में बहु[त] से श्रमणोपासक निवास करते थे। वे धाम[स] आढ्य देदीप्यमान थे, उनके भवन विशाल ए[वं] उन्नत थे। शयन करने योग्य गादी, आसन, यान वाहन आदि बहुत थे। उनके पास धन, सोना, चांदी, आदि बहुत था। वे आयोग-प्रयोग द्वारा धनार्जन करते थे। उनकी पाकशाला में बहु[त] सा भोजन बचा रहता था। उनके घरों में दास दासी गाय भैंस पाड़े और मेंढे बहुत थे। अनेक मनुष्यों के द्वारा भी वे अपरिभूत थे: यहां के श्रावक जीव अजीव के विज्ञाता थे। पुण्य-पाप आश्रव संवर-निर्जरा क्रिया, अधिकरण, बंध-मोक्ष का ज्ञान उन्हें कुशलता पूर्वक था। उन श्रावकों को देव असुर नाग, सुवर्ण यक्ष राक्षस, किन्नर, किंपुरुष गरुड़ गंधर्व महोरग आदि देवगण भी निर्ग्रन्थ प्रवचन से डिगाने में समर्थ नहीं थे। वे श्रावक निर्ग्रन्थ प्रवचन का यथार्थ

णगरीए - जं० ॥ ८. नयरीए - अमो० धा० ॥ ९. ०उरच्छिमे - पु० अमो० ॥ १०. दिसीभागे - न० । दिसाभागे - म० ॥ ११. ०वतिए - पु० । ०वइए - अमो० । ०वतिए - न० । पतिते नामं चेतिते होत्था अत्थ णं - धं० ॥ १२. उज्जाणे - पु० । चेइए - अमो० धा० न० ॥ १३. वण्णओ - नत्थि पा० ॥ १४. तत्थ तुंगि० - पा० ॥ १५. नयरीए - पु० अमो० पा० म० । १६. बहवो - ला० ॥ १७. विच्छिन्न - पु० अमो० । विच्छिण्ण - पा० ॥ १८. [illegible] - जं० ॥ १९. [illegible] - बे० म० ॥ २०. यानम् गन्त्र्यादि । वाहनं तु अश्वादि - अ० ॥ २१. [illegible]-रयया आओगपओग - जं० । २२. आओग० - पु० अमो० ॥ २३. पओग० - पु० अमो० ॥ २४. विच्छड्डिय० - पु० अमो० पा० म० ॥ २५. °विउलभत्तपाणा - अमो० ॥ २६. गवेलगप्पभूया - अमो० । [illegible] - बे० म० - [illegible] - ज० ॥ २७. अपरिभूया - बे० म० । भूया समणोवासया अभि० - धं० ॥ २८. अभिगयजी० - बे० म० ॥ २९. उवलद्ध० - पा० ॥ ३०. [illegible] - ला० ॥ ३१. निज्जरा - म० ॥ ३२. [illegible] - अमो० । [illegible] - पा० । [illegible] - म० । ०[illegible] - जं० ॥ ३३. बंधमोक्ख - अमो० [illegible] - पा० म० म० । बंधमोक्ख० - न० ॥ ३४. असहेज्जदेव० - पा० । [illegible] कर्मक्षयः अथवा [illegible] - पु० अ० ॥ ३५. नाग रक्खस० - पा० ॥ ३६. रक्खस - म० ॥

B. शतक १ उद्देश २ सूत्र नं० ४ (i) आवृत्ति 3 ॥

किन्नर-[३७]किंपुरिस-गरुलगंधव्व-[३८]महोरगादिएहिं देवगणेहिं [३९]निग्गंथाओ [४०]पावयणाओ [४१]अणतिक्कमणिज्जा णिग्गंथे पावयणे निस्संकिया [४२]निक्कंखिया [४३]निव्वितिगिच्छा [४४]लद्धट्ठा [४५]गहियट्ठा [४६]पुच्छियट्ठा [४७]अभिगयट्ठा विणिच्छियट्ठा, अट्ठि- [४८]मिंजपेम्माणुरागरत्ता-अयमाउसो ! निग्गंथे पावयणे अट्ठे, अयं परमट्ठे, सेसे अणट्ठे,' [४९]ऊसियफलिहा [५०]अवंगुयदुवारा [५१]चियत्तंतेउर- [५२]घरप्पवेसा, बहूहिं [५३]सीलव्वय-गुण-वेरमण-पच्चक्खाण-पोसहोववासेहिं [५४]चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठ-

में निशंकित थे निकांक्षित थे निर्विचिकित्सित थे। उन्होंने निर्ग्रन्थ प्रवचन का यथार्थ अर्थ प्राप्त कर लिया था। ग्रहण कर लिया था। संदेहशील विषय को पूछकर निर्णय कर चुके थे। संदेह रहित होने से शास्त्र के अर्थ को अच्छी तरह से अधिगत कर लिया था। विनिश्चितार्थ-शास्त्र प्रतिपादित रहस्यों को समझकर अच्छी तरह से निर्णय कर चुके थे। निर्ग्रन्थ प्रवचन पर श्रद्धा के भाव उन श्रावकों की हड्डी-हड्डी और मिंजा मिंजा में व्याप्त हो चुके थे। इसीलिए वे कहा करते थे 'हे आयुष्मन् ! निर्ग्रंथ प्रवचन ही अर्थ है यही परम अर्थ है इसके अतिरिक्त सब निस्सार है। जिनके घर के द्वार की अर्गलाएं खुली रहती थी। जिनके घर के द्वार दान पुण्य के लिये सदा खुले रहते थे। वे श्रावक इतने विश्वसनीय थे कि उनके लिये अन्तःपुर और

३७. म० महोरगादितेहिं देवं० - जं० । °स महोरगादिएहिं - ला० ला ३ ॥ ३८. ०गाइएहिं - पु० घा । ०गादीएहिं - अमो० महोरगादी० - अ० मं० म० ॥ ३९. निग्गंथातो - म० वे० ॥ ४०. पवयणाओ - व० । ०णातो - वे० म० ॥ ४१. ०ज्जा निस्सं० - जं० ॥ ४२ ०क्खिता- वे० म० ॥ ४३. ०गिच्छिया - घा० ला २ । निव्वितिगिछिया - ता० । ०गिच्छा - ला० ला ३-४ । ४४. लद्धिठा - व० ॥ ४५ गहितट्ठा - वे० म० ॥ ४६ पुच्छितट्ठा - वे० म० ॥ ४७. अभिगतट्ठा - वे० म० ॥ वे० म० ॥ ४८ ०रायरत्ता - अमो० । ०पेमाणु- - घा । ०प्पेमाणुराव० - ता० । ०मिंजपेमा० - जं० । °मिजापे० - लों० ला० ला ३ ॥ ४९. "उच्छ्रितम् उन्नतम् स्फटिकमिव स्फटिकम् चित्तं येषां ते" इतिवृद्धव्याख्या । अन्ये तु आहु — उच्छ्रितः अर्गलास्थानाद् आनीय ऊर्ध्वीकृत.— न तिरश्चीन; कपाटपश्चादभागाद् अपनीतः परिघः अर्गला येषा ते; अथवा उच्छ्रित. गृहद्वारात् आगत. परिघो येषा ते उच्छ्रित परिघा :— भिक्षुकाणा गृहे प्रवेशनार्थम् अनर्गलित द्वारा इत्यर्थ." - अवृ० ॥ ५०. °दुपारा - घा० । अपंगुय° - क० । अवंगुन० - म० । अवंगुतदु० - वे० म० । "अप्रावृतद्वारा :—तद्दर्शनलाभेन न कुतोऽपि पाखण्डिकाद् बिभ्यति शोभन मार्ग परिग्रहेण उद्घाटितशिरस: तिष्ठन्ति इति भाव: इति - वृद्धव्याख्या । अन्ये त्वाहु :— भिक्षुकप्रवेशार्थम् अस्थगित गृहद्वारा इत्यर्थ." - अवृ० ॥ ५१. ०उर पर घरप्पवेसा बहूहिं - अमो० । °तेपुर° - लो० ला० । "चियत्तो त्ति लोकाना प्रीतिकर एव अन्तःपुरे गृहे वा प्रवेशो येषां ते तथा अतिधार्मिकतया सर्वत्र अनाशङ्कनीयास्ते अन्ये त्वाहु चियत्तो न अप्रीतिकरो अन्तःपुर-गृहयोः प्रवेशः शिष्टजन प्रवेशनं येषां ते—अनीर्ष्यालुता प्रतिपादन परं चैतत् विशेषणम् अथवा चियत्तो त्यक्तः अन्तःपुर-गृहयोः परकीययोः यथाकथंचित् प्रवेशो यैः ते" - अवृ० । ५२. चियत्ततेउर पर घर० - ता० । ०वेसा चाउद्दस० - न० ॥ ५३. सीलव्वत - वे० म० ॥ ५४. ट्ठमुद्दिट्ठ° - न० । चाउद्दसि° - ता० । चाउदस-

पुण्णमासिणीसु [55]पडिपुण्णं पोसहं सम्मं अणुपालेमाणा, [56]समणे निग्गंथे [57]फासुएसणिज्जेणं असण-पाण-[58]खाइम-साइमेणं वत्थ- पडिग्गह-कंबल- [59]पाद-पुंछणेणं [60]पीढ-फलग-सेज्जा-[61]संथार-गेणं ओसह [62]भेसज्जेण [63]य [64]पडिला-भेमाणा, [65]अहापरिग्गहिएहिं तवो-कम्मेहिं अप्पाणं भावेमाणा विहरंति ।

अन्य घरों में प्रवेश निषिद्ध नहीं था । वे शीलव्रत गुणव्रत और प्रत्याख्यान पोषधोपवास आदि तथा चौदस, अष्ठमी, अमावस्या और पूर्णिमा को परिपूर्ण पोषध का विधि वत अनुपालन करते थे । श्रमण निर्ग्रन्थों को प्रासुक एषणीय अशन पान खादिम स्वादिम से आहार वस्त्र पात्र कम्बल पाद प्रोच्छान पीठ-फलक-शय्या संस्तारक आदि से तथा औषध आदि से प्रतिलाभित करते हुए, यथापरिग्रहित तप कर्म द्वारा अपनी आत्मा को भावित करते हुए विचरण करते थे।

विवेचन—.

उपर्युक्त मूल पाठ में श्रावकों के आदर्श रूप को प्रस्तुत किया गया है । भगवान् महावीर का जिस समय विचरण काल चल रहा था, उस समय के तुंगिका नगरी के श्रावकों का वर्णन दिया गया है । अनेकानेक विशेषणों के द्वारा उनके यथार्थ जीवन का चित्रण प्रभु ने किया है । इस विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि उस समय में श्रावकों में कितना ज्ञान था, विवेक था एवं विशुद्ध आचरण था ।

यहा पर मूल पाठ में प्रदत्त तुंगिका नगरी के श्रावकों के लिये दिये गए कुछ विशेषणों का अर्थ स्पष्ट करते है ।

तुंगिका नगरी के श्रावकों के पास में भौतिक ऋद्धि और संपदा कितनी थी, वे कितने वैभव शाली एवं शक्ति संपन्न थे, इस बात को स्पष्ट करने के लिये पहले भौतिक ऋद्धि–समृद्धि की सम्पन्नता के परिचायक विशेषण दिये गए हैं ।

अड्ढे— आढ्य; तुंगिका नगरी के श्रावक धन एवं धान्य भंडार से परिपूर्ण थे ।

द्दु० - बे० म० ।। ५५. "पडिपुण्णं पोसहं ति आहारादिभेदात् चतुर्विधमपि सर्वत." - अभ० ।। ५६. समणे य निग्गंथे फासु देस० - जं० ।। ५७. फासुएसणिज्जेणं - म० ।। ५८. खाइम-साइमेणं - ब० म० ।। ५९. पायपुंछणेणं - पु० अमो० पा० म० ।। ६०. पीढफलग - पा० । पीढफलग-सें० - जं० ।। ६१. संथारएणं - पु० अमो० पा० म० । तुलना पडिला० - सो० मा० ना २-३-४ ।। ६२. भेसज्जेणं पडि० - अमो० । ओसह भेसज्जेणं पडि० - म० ।। ६३. य - नास्ति पा० ।। ६४. तुलना बहूहिं सीलव्वय गुण वेरमण पच्चक्खाण पोसहोववासेहिं अप्पा० - म० । तुलना बहूहिं सीलव्वय-गुणव्वय वेरमण पच्चक्खाण पोसहोववासेहिं अप्पाणं भावेमाणा चउद्दसमुद्दिट्ठ पुण्णिमासिणीसु अहापरिग्ग-हिएहिं पोसहोववासेहिं अप्पाणं भावेमाणा विहरंति - जं० ।। ६५. अहापरिग्ग० - पु० पा० म० मु० ।।

दित्ते— दीप्त अर्थात् प्रसिद्ध । उनका यश धनधान्य की संपन्नता की दृष्टि से दानपुण्य की दृष्टि से, शील आदि गुणों की दृष्टि से किंवा भगवान् महावीर के परम उपासकों की दृष्टि से सर्वत्र विस्तृत था । दीप्त का दूसरा अर्थ गर्व भी होता है–उन्हे इस बात का अवश्य सात्विक गर्व था कि हम दुर्लभ मनुष्य जन्म पाकर उसमें भी परम दुर्लभ जिन भावित धर्म को श्रवणकर उस पर यथाशक्ति अग्रसर हो रहे हैं ।

विच्छिण्ण विपुलभवण–सयणासण–जाण– वाहणाइण्णा-विस्तीर्ण विपुल-भवन शयनासन वाहना-कीर्ण–जिनके घर बहुत विशाल और उन्नत थे ऐसे विशाल भवन शयन, आसन वाहन–हाथी घोड़े रथ आदि से परिपूर्ण थे । उन रमणीय और विशाल घरों मे आसन, वाहनादि की शोभा सुन्दर थी ।

विच्छड्डियविपुलभत्तपाणा–विच्छर्दित विपुलभक्त पाना–वे श्रावक इतने अधिक दयालु भाव के थे कि उनके भोजनालयों में विपुल भोज्य सामग्री निष्पन्न होती थी । परिजनों के भोजन करने के पश्चात् अवशेष सारी सामग्री को दीन–हीन असहायों को वितरित कर दी जाती थी ।

बहुदासी – दासगोमहिसगवेलयप्पभूया–बहुदासीदासगोमहिषगवेलकप्रभूताः–उनका घर बहुत से दास-दासियों के लिये आश्रयस्थान था । बहुत से पशु–पक्षियों के लिये आश्रयस्थान था । अर्थात् दास–दासियों तथा पशु आदि से वे संपन्न थे । उनके साथ प्रेम पूर्ण व्यवहार रखा जाता था ।

बहुजणस्स अपरिभूया–बहुजनैरपि अपरिभूताः– वे श्रावक बहुत जनों से अपरिभूत थे और स्वाध्याय करना, शील का पालन करना, मर्यादा मे रहना, व्रतो का बहुत अच्छी तरह से पालन करना इन सब गुणों से वे सभी के आदरास्पद थे । कोई भी व्यक्ति उनका तिरस्कार नहीं कर सकता था ।

इन उपर्युक्त गुणों से उनका बाह्य व्यवहार एक उत्तम मानव से भी बढ़कर था इसी व्यवहारिकता के साथ ही उन श्रावकों का आध्यात्मिक ज्ञान भी बढ़ा चढ़ा था । इस बात का स्पष्टी-करण अगले विशेषणों मे किया गया है ।

अभिगयजीवाऽजीवा–अभिगत जीवाजीवाः । वे श्रावक जीव और अजीव के स्वरूप को जानने वाले थे । जड और चेतन्य क्या है ? इस बात का जब तक स्पष्ट विज्ञान नहीं होता तब तक धर्म का आचरण यथार्थ रूप में नहीं हो सकता है अतः वे श्रावक जड़ और चैतन्य के मौलिक स्वरूप को अच्छी तरह से जानते थे ।

उवलद्धपुण्णपावा–उपलब्ध पुण्यपापाः— पुण्य और पाप का क्या स्वरूप है ? इनका बंधन किस प्रकार से होता है ? इसकी ज्ञेयता-हेयता और उपादेयता कैसे है ? यह ज्ञान भी उन्हे उपलब्ध था ।

इसी प्रकार आश्रव संवर, निर्जरा, क्रिया, अधिकरण, बंध, मोक्ष आदि तत्वों के भी वे उपर्युक्त त्रिपुटी के अनुसार ज्ञाता थे। आश्रवादि की परिभाषाएं निम्न हैं—

१— कायवाङ्मनः कर्मयोगः स आश्रवः—

मन-वचन-काया के व्यापार से होने वाला कर्म बंध आश्रव है।

बहुधण बहुजायरूवरयया—बहुधन बहुजातरूपरजतः

जिनके पास धन-सोना-चांदी आदि की बहुलता थी।

आओग पओगसंपउत्ता आयोग-प्रयोग से प्रयुक्तः—

नीतिपूर्वक लेन-देन आदि व्यापार करने में वे चतुर थे।[1]

---

१ आज के आधुनिक युग में कई व्यक्ति मूलपाठगत आयोग-प्रयोग का अर्थ प्रचलित दुगुने-तिगुने ब्याज के व्यापार से लगाते हैं। साथ ही यह भी कहते हुए मिलते हैं कि जब भगवान् के परम् श्रावक भी यह व्यापार करते थे तो हम ब्याज का व्यापार करें तो कौन सा पाप है? लेकिन इस प्रकार के लोगों ने शास्त्र के मूल पाठ का यथार्थ अर्थ नहीं समझा है। मूल पाठ में केवल आयोग-प्रयोग से संपन्न इतना सा अर्थ निकलता है।

आयोग-प्रयोग का अर्थ टीकाकार के अनुसार इस प्रकार से है:—

"आ-समन्तात् योजनं-योगः — आयोगः-
लाभार्थं धमाणकादीनां नीतिपूर्वकं क्रयणम्
प्रकर्षेण योगः प्रयोगः— लाभलक्ष्यनीतिपूर्वकं तेषां विक्रयणं, तयोः
संप्रयुक्ताः — संलग्नाः यद्वा आयोगेन लाभादि लिप्सया प्रयोगः वस्तु
संग्रहार्थं पूर्वमेव द्रव्यस्य वितरणम् आयोग—
प्रयोगः संप्रयुक्तः — प्रवर्तितो यैस्ते तदाः
नाश्या द्रव्योपार्जनप्रवृत्ता इत्यर्थः।"

इसका तात्पर्य यह है कि किराने आदि वस्तुओं को खरीदना और बेचना इस प्रकार नीतिपूर्वक धनोपार्जन करना। इसमें यहां पर भी दुगुना या तिगुना करने का नहीं लिखा है। एक टीकाकार ने इसका अर्थ ऐसा भी किया है:

आयोगो — द्विगुणादि वृद्धयर्थं प्रदानं प्रयोगश्चकलान्तरं तौ संप्रयुक्तो

तो वे पूरे गाव या नगर में यह घोषणा करवाते थे कि कोई भी व्यक्ति यदि व्यापार करना चाहता हो तो मेरे साथ चलने के लिये तैयार हो जाय। यदि उनके पास खाद्य पदार्थ वाहनादि की स्थिति नहीं हो तो मैं अपने खर्च से व्यवस्था करूँगा। व्यापार करने के लिये धन नहीं हो तो धन भी मैं दूंगा। विदेश मे चलकर व्यापार करें। जिस व्यक्ति से धनोपार्जन हो जाय, वह व्यक्ति बारह वर्ष के बाद मेरे द्वारा दिये गए धन से दुगुना धन मुझे लौटा दे और यदि जिस व्यक्ति के व्यापार में नुकसान हो जाय तो उससे मूल धन लेने का भी आग्रह नहीं किया जाएगा। वल्कि उसे अपने घर सुरक्षित पहुँचा दिया जाएगा।

उपर्युक्त प्रकार का वर्णन पढ़ने को मिलता है। इसमे स्पष्ट रूप से बतलाया है कि बारह वर्ष के अन्दर जिस व्यक्ति को व्यापार के लिये धन दिया है उसके पास खूब कमाई हो जाय तो उससे दुगुने पैसे लेने के लिये कहा है।

उस समय के श्रावकों का व्यापार और आज के लोगो के व्यापार का तुलनात्मक अध्ययन किया जाय तो वस्तु स्थिति स्पष्ट हो जायगी। कहाँ आज ब्याज का व्यापार करने वाला व्यापारी, जो कि रुपये सैकड़ा दो रुपये सैकडा तीन सैकडा……… … न मालूम कितना ब्याज लेता है लोगों से। यही नहीं ब्याज में रुपये देने के साथ ही, दिये जाने वाले रुपयों से अधिक कीमत वाली वस्तु व्यापारी को अपने पास रखता है। यदि निश्चित समय पर ब्याज सहित उनका पैसा नही आता है तो वह वस्तु उसे वापस नही दी जाती है। चाहे सामने वाले व्यक्ति के व्यापार मे नुकसान भी हो गया हो। कभी कभी तो उसका घर आदि भी निलाम कर दिये जाते हैं।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उस समय के श्रावक कितने दयालु उदार तथा जिन धर्म की प्रभावना करने वाले थे और किस प्रकार से व्यापार करते थे। उन श्रावकों की तुलना मे आज का व्यापारी वर्ग कैसे आ सकता है?

कई शास्त्रों के मर्म को नहीं समझने वाले व्याख्याकारो ने आगम में प्रयुक्त आओग-पओग संपउत्ता का अर्थ ही शास्त्र से विपरीत कर दिया है। जैसे कि एक व्याख्याकार ने इसका अर्थ इस प्रकार से किया है- "आयोग-प्रयोग-संप्रयुक्त दुगुना-तिगुना करने के उद्देश्य से रुपये देना 'आयोग' कहलाता है" और भी आयाग–प्रयोग द्वारा अर्थात् ब्याज आदि के व्यवसाय द्वारा दुगुना–तिगुना धनोपार्जन करने की कला में तथा अन्य कलाओं मे कुशल थे।

कैसा विचित्र अर्थ किया है आयोग-प्रयोग का। यह अर्थ स्पष्ट रूप से आज के प्रचलित ब्याज के धन्धे की ओर संकेत कर रहा है। ऐसी चीजों को पढ़कर उन व्यापारियों का मस्तिष्क भी भ्रमित होता है कि जब शास्त्रो में भी दुगुना-तिगुना करने के लिये श्रावकों को लिखा है तो हम वर्ष में दो वर्ष में दिये हुए धन को दुगुना कर लेते हैं तो उसमे क्या गलत कार्य है?

इस प्रकार की भ्रान्त धारणाए इन उत्सूत्र प्ररूपणा–आगम से प्रतिकूल विवेचन से सामान्य जनता की हो जाती है।

भगवान् के शब्दों से विपरीत अर्थ का कथन करने पर मिथ्यात्व का दोष लगता है। कवि आनन्दघन जी ने तो स्पष्ट रूप से कहा है—

"पाप नही कोई उत्सूत्र भाषणजस्यो"

अर्थात्–उत्सूत्र प्ररूपण से बढ़कर कोई पाप नही है। अतः विवेकशील पाठकों को क्षीरनीर की विवेकिनी बुद्धि के साथ शास्त्र का अध्ययन करना चाहिये।

उच्छ्रितोर्गला स्थानादपनीयोर्ध्वीकृत तिरश्चीनः कपाटपश्चाद् भागादपनीत इत्यर्थः । परिघोऽर्गला येषां ते उच्छ्रितपरिघाः अथवा उच्छ्रितः गृहद्वारादपगतः परिघो येषां ते उच्छ्रितपरिघाः औदार्यातिशयत्वेन भिक्षुकाणां प्रवेशार्थमनर्गलित गृहद्वारा इत्यर्थः । अवंगुयदुवारे त्ति भिक्षुकाणां प्रवेशार्थमौदार्यादस्थगित गृहद्वारा इत्यर्थः" तुंगिका नगरी के श्रावकों के द्वारों की अर्गलाएं कपाटों में नहीं लगाई जाकर बगल में खड़ी रहती थी। तुंगिया नगरी के श्रावकों के मकानों के द्वार बंद करने की अर्गलाएं नहीं होती थी उनके घर के द्वार बंद नहीं किए जाते थे। क्योंकि वे श्रावक उदार और दानशील थे। भिक्षुओं का निर्बाध प्रवेश हो इस भावना से वे अपने घरों के द्वार खुले रखते थे।

टीकाकार ने स्पष्ट रूप से भिक्षुओं के प्रवेश के लिये तुंगिका नगरी के श्रावकों के द्वार खुले रखने का विधान किया है। यद्यपि टीकाकार ने वृद्ध व्याख्या के अनुसार तुंगिका नगरी के श्रावकों के द्वार खुले रहने का कारण सम्यक्त्व में दृढ़ता एवं निर्भीकता भी बतलाया है, तथापि इस वृद्ध व्याख्या से भिक्षुओं के प्रवेशार्थ द्वार खुले रहने का खण्डन नहीं होता है। क्योंकि व्याख्या में भिक्षुओं के प्रवेशार्थ द्वार खुले रहने का विरोध नहीं किया है, किन्तु द्वार खुले रहने का इसके अतिरिक्त दूसरा कारण भी बताया है।

इसी तरह सूत्र-कृताग सूत्र श्रुतस्कंध २ अध्ययन २ की दीपिका में कपाट खुले रहने का कारण सम्यक्त्व में दृढ़ता एवं परपाषण्डी से नहीं डरना बतलाया है। इस कथन से भी भिक्षुओं के प्रवेश का खण्डन नहीं होता। इस प्रकार टीकाकारों ने तुंगिया नगरी के श्रावकों के द्वार खुले रहने के तीन कारण बतलाए हैं—१. भिक्षुओं के निर्बाध प्रवेश के लिये। २ सम्यक्त्व में दृढ़ होने के कारण। ३. परपाषण्डियों से निडर रहने के कारण।

जो मनुष्य कृपण होता है वह अपने घर के द्वार नहीं खोलता है। दूसरों से भयभीत रहने वाला व्यक्ति भी अपने घर के द्वार बंद रखता है। परन्तु जो उदार है, निर्भय है अपनी श्रद्धा में दृढ़ है वह घर के द्वार बंद नहीं करता। तुंगिया नगरी के श्रावक सम्यक्त्व में दृढ़ निर्भय उदार एवं दानशील थे। इसीलिए वे अपने घरों के द्वार सदा खुले रखते थे। किसी भी टीकाकार ने साधुओं के गमनागमन से द्वार खुले रखने का कहीं पर भी उल्लेख नहीं किया है। अतः तुंगिका नगरी के श्रावकों के द्वार खुले रखने का कारण साधुओं को ही मानकर अनुकम्पा दान का उन्मूलन करना शास्त्र विरुद्ध है।

प्रस्तुत सूत्र की टीका में गृह द्वार खुले रखने का जो कारण बतलाया है, वह इस मूल पाठ में भी स्पष्टतया प्रमाणित है। जिस प्रकार भगवती सूत्र में तुंगिका नगरी के श्रावकों का वर्णन आया उसी प्रकार उववाई सूत्र में अम्बड़ संन्यासी के विषय में वर्णन आया है यथा— नवरं ऊसियफलिहे अवंगुयदुवारे- चियत्तअन्तेउरपवेसी न वुच्चइ।

तुंगिया नगरी के श्रावकों के सम्बन्ध में जो पाठ आया है, वह अम्बड़ संन्यासी के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए। परन्तु 'ऊसिय फलिहे अवंगुय दुवारे- चियत्तअन्ते उर पवेसी न उच्चइ' ये तीन पाठ नहीं

कहने चाहिये।

अम्बड़संन्यासी के विषय में तीन पाठ वर्जित करने का कारण टीकाकार ने निम्न बतलाया है— "औदार्यातिशयादतिशयदानदायित्वेन भिक्षु प्रवेशार्थमनर्गलितगृहद्वार इत्यर्थः। इदं च किल अम्बडस्य न संभवति स्वयमेव तस्य भिक्षुकत्वात्। अतएव लिखितं पुस्तके यथा 'उस्सिहे फलिहेत्यादि विशेषण-त्रयं नोच्यते"

"तुंगिया नगरी के श्रावक अति उदार होने के कारण अपने घर के द्वार खुले रखते थे। परन्तु यह बात अम्बड़ संन्यासी में सम्भव नहीं है। क्योंकि वह स्वयं भिक्षुक था। अतः अम्बड संन्यासी के विषय में उस्सिहफलिहा आदि तीन विशेषणों को नहीं लगाना मूल पाठ में कहा है।"

इससे भी यह सुस्पष्ट है कि तुंगिका नगरी के द्वार भिक्षुओं के लिये खुले रहते थे। क्योंकि सम्यक्त्व में दृढ़ता और निर्भयता तो उनमें थी ही। अतः भिक्षुओं के निमित तुंगिका नगरी के द्वार खुले रखने का कारण मूल पाठ एवं टीकाओं से भी स्पष्ट सिद्ध हो जाता है।

तुंगिका में पार्श्वापत्य स्थविरों का पदार्पण—

सूत्र ७५. तेणं कालेणं तेणं समएणं [1]पासावच्चिज्जा थेरा भगवंतो [2]जातिसंपन्ना कुलसंपन्ना बलसंपन्ना [3]रूवसंपन्ना विणयसंपन्ना णाणसंपन्ना दंसणसंपन्ना [4]चरित्तसंपन्ना [5]लज्जासंपन्ना [6]लाघव-संपन्ना ओयंसी तेयंसी [7]वच्चंसी [8]जसंसी [9]जियकोहा [10]जियमाणा[11] जियमाया [12]जियलोभा जियनिद्दा [13]जितिंदिया [14]जियपरीसहा [15]जीवि-

(७५) उस काल उस समय में पार्श्वापत्य स्थविर भगवंत जाति सम्पन्न, कुल सम्पन्न, बल सम्पन्न, रूप सम्पन्न, विनय सम्पन्न ज्ञान सम्पन्न दर्शन-सम्पन्न चारित्र सम्पन्न लज्जा सम्पन्न लाघव-सम्पन्न ओजस्वी तेजस्वी, वर्चस्वी, यशस्वी, क्रोध विजेता, मान विजेता माया विजेता लोभ विजेता निद्रा विजेता इन्द्रिय विजेता परीषह विजेता जीवन की आशा और मरण के भय से रहित यावत कुत्रिकापणभूत बहुश्रुत बहुत परिवार युक्त पांच सौ अणगारों से घिरे हुए

सूत्र ७५ - १. ०वच्चेज्जा - लो० ॥ २. जाइसंपण्णा - अमो० घा० ॥ ३. ०न्ना वीरिय संपन्ना णाण० - जं० ॥ ४. चारित्तसंपन्ना - घा० । चारित्त० लज्जा० लाघवसंपन्ना - ला० ला २-४ ॥ ५. लज्जा लाघव० - अमो० । लज्जा लाघव संपन्ना - ला० ला १-३ ॥ ६. ०न्ना तेयंसी ओयंसी जसंसी वच्चंसी जियकोहा - जं० ॥ ७. "वर्च्चसि त्ति वर्चस्विनः ...वचस्विनो वा" इति - अवृ० । "वृतमेव स्वं येषां ते वृतस्वा वृतस्विनः — चारित्रधनाः इत्यर्थोऽपि नाम्नुक्तोऽत्र इति - वे० ॥ ८. जयंसी - घा० ॥ ९. जितकोहा - वे० म० ॥ १०. जिहमाणा - घा० ॥ ११. ०ना जिय लोभा - पु० ॥ १२. जियकोहा - घा० । °हा जिइंदिया - क० ॥ १३ जियइंदिया - अमो० घा० । जिइंदिया - म० । जितेंदिया - अ० क० व० ॥ १४. जित्त० - वे० म० । १५. जीवियासमरण० - पु० न० । जीविआसा -

यासा–[16]मरणभयविप्पमुक्का [A]जाव [17]कुत्तियावणभूत्ता [18]बहुस्सुया बहुपरिवारा, पंचहिं [19]अणगारसएहिं सद्धिं संपरिवुडा, [20]अहाणुपुव्विं चरमाणा, [21]गामाणुगामं दूइज्जमाणा सुहं सुहेणं विहरमाणा जेणेव तुंगिया [22]नगरी, जेणेव [23]पुप्फवतीए [24]चेइए [25]तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता अहापडिरूवं [26]उग्गहं [27]उगिण्हित्ताणं [28]संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणा विहरंति।

यथानुक्रम चलते हुए एक ग्राम से दूसरे ग्राम को पार करते हुए सुख पूर्वक विचरण करते हुए जहां तुंगिया नगरी और पुष्पवती उद्यान था वहां आते हैं और आकर वे यथाप्रतिरूप अवग्रह ग्रहण कर संयम और तप से अपनी आत्मा को भावित करते हुए विचरण करने लगते हैं।

विवेचन :–

उस समय में तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ की परंपरा के शिष्य स्थविर भगवंत भी विचरण कर रहे थे। वे स्थविर भगवंत अनेकानेक गुणों से संपन्न थे।

स्थविर तीन प्रकार के होते हैं १– वयः स्थविर २– श्रुतस्थविर ३– प्रव्रज्यास्थविर।

साठ वर्ष की अवस्था वाले साधु को वयः स्थविर कहते हैं।

स्थानांग समवायांग आदि सूत्रों के ज्ञाता को श्रुतस्थविर कहते हैं।

बीस वर्ष की दीक्षा पर्याय वाले साधु को पर्यायस्थविर कहते हैं।

प्रस्तुत मूल पाठ में प्रयुक्त स्थविर शब्द से श्रुतस्थविर ग्राह्य है।

पा० । °मरण० - सी० सा २ ॥ १६. °मरणोविप्पमुक्का बहुस्सुया - अमो० । °विप्पमुक्का - पा० । [illegible] बहुस्सुया जाव कुत्तियावणभूया पंचहिं - जं० ॥ १७. °भूया - पा० म० । °भूया पंचहिं - सी० ला० जै० सा २ ॥ १८. °या पंचहिं - अ० ब० ॥ १९. °सतेहिं - जै० म० ॥ २० अहाणु° - जं० ॥ २१. गामाणु० जाव अहापडिरूवं - जं० ॥ २२. °नयरी - पा० ॥ २३. पुप्फवईए - अमो० पा० । पुप्फवईए - म० ॥ २४. उज्जाणे - पु० । चेइए - जै० म० ॥ २५. तेणेवागच्छ० - अ० क० ब० । तेणेवागच्छंति - सी० ॥ २६. ओग्गहं - पा० म० ॥ २७. ओगिण्हित्ता - अमो० पा० म० जै० म० ॥ २८ °णं तवसा जाव विहरंति - जं० ॥

A. [illegible]संपन्ना कुलसंपन्ना बलसंपन्ना [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] बहुस्सुया [illegible] [illegible] [illegible] ॥

स्थविर भगवंतों में क्या क्या गुण थे, इसका भी दिग्दर्शन करवाया है।

जाति संपन्न— वे स्थविर भगवंत मातृवंश की अपेक्षा उत्तम वंश के थे।

कुल संपन्न— पिता के वंश की अपेक्षा से विशुद्ध वंश के थे।

बल सम्पन्न - शारिरिक बल के साथ ही उनका मानसिक मनोबल मजबूत था।

रूप सम्पन्न सौम्य मुखमण्डल से शोभित थे।

विनय सम्पन्न — विनम्रता युक्त थे।

सम्यक्ज्ञान, सम्यग्दर्शन-सम्यक्चरित्र तथा सम्यक्तप से युक्त थे।

लज्जा सम्पन्न— असयम से हटकर संयमरूप लज्जा से संपन्न थे।

लाघव सम्पन्न — अल्प उपधि होने से द्रव्यलाघव और ऋद्धि आदि गौरव का त्याग होने से भावलाघव से युक्त थे।

ओजस्वी —मनकी स्थिरता रूप ओजसे संपन्न थे।

तेजस्वी— शारीरिक प्रभारूप तेज से संपन्न थे।

वर्चस्वी - प्रभावक वचन से संपन्न थे।

यशस्वी—तपसंयम को विशुद्धता से पालन करने के कारण प्रसिद्ध यश वाले थे।

क्रोध, मान, माया, लोभ रूप कषाय के विजेता थे।[1]

जितेन्द्रिय— कछुएं की भांति अपनी इन्द्रियों को वश में रखने के कारण जितेन्द्रिय थे। जीविताशामरणभय विप्रमुक्त-जीवन की आशा और मरण के भय से विप्रमुक्त थे।

कुत्रिकापणभूत-कुत्रिकापण पद में तीन शब्द है —

कु० त्रिक० आ.पण। कु—पृथ्वी त्रिक तीनो लोक आपण—दुकान। जिस दुकान में तीनो लोक में स्थित प्रत्येक वस्तु उपलब्ध होती हो, उसे कुत्रिकापण कहते है। स्थविर भगवंत भी कुत्रिकापण के समान थे। उनके सान्निध्य में त्रिलोकावभासक केवल ज्ञान को कैसे प्रकट किया जाय सर्वकर्म विनाशक कैसे हो एतद् विषयक बोध प्राप्त होता था।

मूल पाठ गत — जाव पद से संग्रहीत पद निम्न है—

---

१ प्रस्तुत प्रकरण मे जितक्रोधा आदि का उल्लेख है। यह उल्लेख अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानी, प्रत्याख्यानी कषाय विजेता के रूप में समझना चाहिये।

वे स्थविर भगवंत तपप्रधान, गुणप्रधान चरण प्रधान एवं करण प्रधान थे।[1]

अर्थात् मूल एवं उत्तर गुणों से विशुद्ध थे।

निग्रहप्रधान— इन्द्रियों का नियमन करने वाले होने से निग्रह प्रधान थे।

निश्चयप्रधान— अवश्यकरणीय क्रियाओं को करने वाले तथा तत्वों का निर्णय लेने वाले होने से निश्चय-प्रधान थे।

मृदुताप्रधान— विनम्रता से युक्त थे।

आर्जवप्रधान— कुटिलता युक्त परिणति से रहित थे।

लाघवप्रधान— कर्तव्य क्रियाओं में दक्ष थे।

क्षमाप्रधान— क्षमाधर्म में प्रधान थे।

मुक्तिप्रधान— निर्लोभित्वयुक्त मुक्ति प्रधान थे।

भावप्रधान— प्रशस्त भावों से युक्त थे।

शोधिप्रधान— संयम विशुद्धि से युक्त थे:

अनिदान— निदान-रहित थे।

अल्पौत्सुक्य— विकारों की उत्सुकता से रहित थे।

शुभलेश्या— विशुद्धलेश्याओं से युक्त थे।

सुश्रामण्यरत— निरतिचार शुद्ध संयम में रत थे।

अच्छिद्रप्रश्नव्याकरण— निरवद्य प्रश्नोत्तर करने वाले थे।

आदि 'जाव'— पद से लिया जाता है।

बहुश्रुत—समस्त श्रुत के पारगामी थे।

बहुपरिवारा— बहुत से शिष्य रूप परिवार से युक्त थे।

---

१. चरण जिसके द्वारा संसार रूप समुद्र को पार किया जाय, उसे चरण कहते हैं। यह चरण मूल गुण रूप है इसके सत्तर भेद हैं। वय ५ समणधम्म १० संजम १७ वेयावच्चं च बंभगुत्तीओ। नाणाइतियं ३ तव १२ कोहनिग्गहाइ ४ चरणमेयं॥

२. करण— चरित्र की पुष्टि जिससे होती है उसे करण कहते हैं। यह उत्तरगुण रूप है। इसके भी सत्तर भेद हैं। पिंडविसोही ४ समिई ५ भावना १२ पडिमा १२ इंदियनिरोहो ५ पडिलेहण २५ गुत्तीओ ३ अभिग्गहा ४ चेव करणं तु॥

ऐसे अनेकानेक गुणों से शोभित स्थविर भगवंत पांच सौ अनगारों के साथ ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए तुंगिका नगरी में जिधर पुष्पवती नामक बगीचा था उधर पधारते है। वहाँ रहने की आज्ञा लेकर के तप-संयम से अपनी आत्मा को भावित करते हुए विचरण करने लगते हैं।

शंका— स्थविर भगवंत ५०० मुनियों के साथ तुंगिका नगरी पधारे। कहीं २ पर ऐसा भी वर्णन आता है कि हजार हजार मुनियों का साथ में विचरण होता है। इससे यह सहज शंका हो जाती है कि इतने मुनियों का आहार विहार आवास आदि साधु मर्यादाओं के अनुकूल कैसे होता होगा ?

समाधान—आज के युग को देखते हुए तो इतने संतों के आहार-पानी आदि में असुविधा हो सकती है। किन्तु उस समय में जनता में धर्म-भावना अच्छी थी। सर्वज्ञ-सर्वदर्शी तीर्थंकर एवं विशिष्ट ज्ञानी महापुरुषों के विचरण एवं देशना से जनता पर गहरा असर पड़ता था। जिससे जनता साधु जीवन की मर्यादा तथा श्रावकोचित कर्तव्य को जानने लगी थी। मुनिवरों में भी सभी सदा भोजी नहीं होते थे। कोई बेले २ तप करने वाला होता तो कोई तेले तेले का तो कोई एकान्तर का। आहार भी प्रायः एक समय ही होता था।

अतः इतने साधुओं का विचरण होने पर भी मुनिवरों के साधु जीवन का निर्वहन साधु मर्यादानुकूल हो जाता था। मुनियों में भी समभाव एव सहनशीलता अधिक थी। यदि कभी आहार-पानी कम या नहीं भी मिलता तब भी वह अपना निर्वहन कर लेते थे। उस समय के स्थविर भगवंत आदि मुनिवर कितने ज्ञानवंत क्षमावंत आदि गुणों से संपन्न थे, इसका वर्णन मूल पाठ में बतलाया ही गया है। अतः उस समय बहुत से साधुओं के एक साथ विचरण में किसी प्रकार की बाधा नहीं आती थी।

तुंगिका में शुभ संदेश का प्रसार—

सूत्र ७६. तए णं [1]तुंगियाए [2]नगरीए सिंघाडग-तिग-[3]चउक्क-[4]चच्चर- महापह[5]हेसु [A]जाव एगदिसाभिमुहा णिज्जायंति।	(७६) तदनन्तर तुंगिका नगरी के शृंगाटक मार्ग में, त्रिक रास्तो में चतुष्क पथों में तथा अनेक मार्ग मिलते हैं ऐसे मार्गों में बात फैल गयी, जनता एक ही दिशा में उन्हें वन्दन करने के लिये जाने लगी।

सूत्र ७६-७७— १. तुंगिताले णगरिते - जं. ॥ २. नयरीए - अमो० घा० न० ॥ ३. ०चउ जाव परिसा निग्गच्छति। [तेणं णं ते समणो० - जं० ॥ ४. चच्चरचउम्मुह महा० - अमो० न० ॥ ५ ०या बहुजणस्स अंतिते एयमट्ठं सोच्चा

A. बहुजनसद्दे इ वा जणवोले इ वा जणकलकले इ वा जणुम्मी इ वा जणसन्निवाए इ वा बहुजणो अन्नमन्नस्स एवमाइक्खइ ४ एवं खलु देवाणुप्पिया ! पासावच्चिज्जा थेरा भगवंतो जातिसंपन्ना कुलसंपन्ना बलसंपन्ना रूवसंपन्ना विणयसंपन्ना णाणसंपन्ना दंसणसंपण्णा चरित्तसंपण्णा लज्जासंपण्णा, लाघवसंपन्ना ओयंसी तेयंसी वच्चंसी जयंसी जियकोहा, जियमाणा जियमाया जियलोभा जियनिद्दा जितिंदिया जियपरिसहा जीवियासा मरणभय विप्पमुक्का जाव कुत्तियावणभूया, बहुस्सुया बहुपरिवारा, पंचहि अणगार सएहि सद्धि संपरिवुडा अहाणुपुव्वि चरमाणा गामाणुगामं दूइज्जमाणा सुहंसुहेणं विहरमाणा जेणेव तुंगिया णयरी जेणेव पुप्फवइए चेइए तेणेव उवागच्छंति २ अहापडिरूवं उग्गहं ओगिण्हित्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणा विहरंति ॥

वे स्थविर भगवंत तपप्रधान, गुणप्रधान चरण प्रधान एवं करण प्रधान थे।[१]

अर्थात मूल एव उत्तर गुणों से विशुद्ध थे।

निग्रहप्रधान— इन्द्रियों का नियमन करने वाले होने से निग्रह प्रधान थे।

निश्चयप्रधान— अवश्यकरणीय क्रियाओं को करने वाले तथा तत्वों का निर्णय लेने वाले होने से निश्चय-प्रधान थे।

मृदुताप्रधान— विनम्रता से युक्त थे।

आर्जवप्रधान— कुटिलता युक्त परिणति से रहित थे।

लाघवप्रधान— कर्तव्य क्रियाओं में दक्ष थे।

क्षमाप्रधान— क्षमाधर्म में प्रधान थे।

मुक्तिप्रधान— निर्लोभित्वयुक्त मुक्ति प्रधान थे।

चारुप्रधान — प्रशस्त भावों से युक्त थे।

शोधिप्रधान — संयम विशुद्धि से युक्त थे;

अनिदान— निदान-रहित थे।

अल्पौत्सुक्य— विकारों की उत्सुकता से रहित थे।

शुभलेश्या— विशुद्धलेश्याओं से युक्त थे।

सुश्रामण्यरत — निरतिचार शुद्ध संयम में रत थे।

अच्छिद्रप्रश्नव्याकरण— निरवद्य प्रश्नोत्तर करने वाले थे।

आदि 'जाव'— पद से लिया जाता है।

बहुश्रुत—सकल श्रुत के पारगामी थे।

बहुपरिवारा— बहुत से शिष्य रूप परिवार से युक्त थे।

---

१. चरण जिसके द्वारा संसार रूप समुद्र को पार किया जाय, उसे चरण कहते है। यह चरण मूल रूप होता है। इसके सत्तर भेद है। वय ५ समणधम्म १० संजम १७ वेयावच्चं च बंभगुत्तीओ। णाणाइतियं ३ तव १२ कोहनिग्गहाइ ४ चरणमेयं ॥

२ करण— चरित्र की पुष्टि जिससे होती है उसे करण कहते है। यह उत्तरगुण रूप है। इसके भी सत्तर भेद है। पिंड विसोही ४ समिइ ५ भावणा १२ पडिमा १२ इंदियनिग्गहो ५ पडिलेहणा २५ गुत्तिओ ३ अभिग्गह ४ चेव करणं तु ११ ॥

ऐसे अनेकानेक गुणों से शोभित स्थविर भगवंत पांच सौ अनगारों के साथ ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए तुंगिका नगरी में जिधर पुष्पवती नामक बगीचा था उधर पधारते है। वहाँ रहने की आज्ञा लेकर के तप-संयम से अपनी आत्मा को भावित करते हुए विचरण करने लगते हैं।

शंका— स्थविर भगवंत ५०० मुनियों के साथ तुंगिका नगरी पधारे। कही २ पर ऐसा भी वर्णन आता है कि हजार हजार मुनियों का साथ में विचरण होता है। इससे यह सहज शंका हो जाती है कि इतने मुनियों का आहार विहार आवास आदि साधु मर्यादाओं के अनुकूल कैसे होता होगा ?

समाधान—आज के युग को देखते हुए तो इतने संतों के आहार-पानी आदि में असुविधा हो सकती है। किन्तु उस समय में जनता में धर्म-भावना अच्छी थी। सर्वज्ञ-सर्वदर्शी तीर्थंकर एवं विशिष्ट ज्ञानी महापुरुषों के विचरण एवं देशना से जनता पर गहरा असर पड़ता था। जिससे जनता साधु जीवन की मर्यादा तथा श्रावकोचित कर्तव्य को जानने लगी थी। मुनिवरों मे भी सभी सदा भोजी नही होते थे। कोई बेले २ तप करने वाला होता तो कोई तेले तेले का तो कोई एकान्तर का। आहार भी प्राय: एक समय ही होता था।

अत: इतने साधुओं का विचरण होने पर भी मुनिवरों के साधु जीवन का निर्वहन साधु मर्यादानुकूल हो जाता था। मुनियों में भी समभाव एव सहनशीलता अधिक थी। यदि कभी आहार-पानी कम या नहीं भी मिलता तब भी वह अपना निर्वहन कर लेते थे। उस समय के स्थविर भगवंत आदि मुनिवर कितने ज्ञानवंत क्षमावंत आदि गुणों से संपन्न थे, इसका वर्णन मूल पाठ में बतलाया ही गया है। अत: उस समय बहुत से साधुओं के एक साथ विचरण में किसी प्रकार की बाधा नहीं आती थी।

तुंगिका में शुभ संदेश का प्रसार—

सूत्र ७६. तए णं [1]तुंगियाए [2]नगरीए सिंघाडग-तिग-[3]चउक्क-[4]चच्चर- महापहपहेसु [A]जाव एगदिसाभिमुहा णिज्जायंति।

(७६) तदनन्तर तुंगिका नगरी के शृंगाटक मार्ग में, त्रिक रास्तों में चतुष्क पथों में तथा अनेक मार्ग मिलते है ऐसे मार्गो मे बात फैल गयी, जनता एक ही दिशा में उन्हें वन्दन करने के लिये जाने लगी।

सूत्र ७६-७७— १. तुंगिनाते णगरिते - जं. ॥ २. नयरीए - अमो० घा० न० ॥ ३. ०चउ जाव परिसा निग्गच्छति। [तते णं ते समणो० - जं० ॥ ४. चच्चरचउम्मुह महा० - अमो० न० ॥ ५ ०या बहुजणस्स अंतिते एयमट्ठं सोच्चा

A. बहुजणसद्दे इ वा जणवोले इ वा जणकलकले इ वा जणुम्मी इ वा जणसन्निवाए इ वा बहुजणो अन्नमन्नस्स एवमाइक्खइ ४ एवं खलु देवाणुप्पिया ! पासावच्चिज्जा थेरा भगवतो जातिसंपन्ना कुलसंपन्ना बलसंपन्ना रूवसंपन्ना विणयसंपन्ना णाणसंपन्ना दंसणसंपण्णा चरित्तसंपण्णा लज्जासंपण्णा, लाघवसंपन्ना ओयंसी तेयंसी वच्चंसी जयंसी जियकोहा, जियमाणा जियमाया जियलोभा जियनिद्दा जितिंदिया जियपरिसहा जीवियासा मरणभय विप्पमुक्का जाव कुत्तियावण भूया, बहुस्सुया बहुपरिवारा, पंचहिं अणगार सएहिं सद्धिं सपरिवुडा अहाणुपुव्विं चरमाणा गामाणुगामं दूइज्जमाणा सुहंसुहेणं विहरमाणा जेणेव तुंगिया णयरी जेणेव पुप्फवइए चेइए तेणेव उवागच्छंति २ अहापडिरूवं उग्गहं ओगिण्हित्ताणं संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणा विहरंति ॥

सूत्र ७७. तए णं ते [5]समणोवासया इमीसे कहाए लद्धट्ठा समाणा [6]हट्ठतुट्ठा [B]जाव [7]सद्दावेंति [8]सद्दावित्ता एवं [9]वयासी–एवं खलु देवाणुप्पिया ! [10]पासावच्चेज्जा थेरा भगवंतो [11]जाइ-संपन्ना [C]जाव[12] अहापडिरूवं [13]उग्गहं [14]उग्गिण्हित्ताणं संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणा विहरंति । तं [15]महाफलं खलु देवाणुप्पिया ! तहा-रूवाणं थेराणं [16]भगवंताणं [17]णाम-गोयस्स वि सवणयाए किमंग पुण अभिगमण- वंदण- नमंसण पडिपुच्छण [18]पज्जुवासणाए ? [D]जाव गहणयाए ? तं गच्छामो णं देवाणुप्पिया ! थेरे भगवंते [19]वंदामो नमंसामो [A]जाव [20]पज्जुवासामो, [21]एयं [22]णं [23]इहभवे

(७७) जब यह बात तुंगिकानगरी के श्रमणोपासकों को ज्ञात हुई तो वे अत्यन्त हर्षित और सन्तुष्ट हुए यावत् परस्पर एक दूसरे को बुलाकर इस प्रकार कहने लगे देवानुप्रियों (सुना है कि) भगवान् पार्श्वनाथ के शिष्यानुशिष्य स्थविर भगवन्त जो कि जाति सम्पन्न आदि विशेषण विशिष्ट है, यावत् (यहां पधारे हैं) और तथाप्रतिरूप अवग्रह ग्रहण करके संयम और तप से अपनी आत्मा को भावित करते हुए विचरण करते हैं हे देवानुप्रियों ! तथारूप स्थविर भगवन्तों के नामगोत्र के श्रवण से भी महाफल होता है। तब फिर उनके सामने जाना वन्दन नमस्कार करना उनका कुशल मंगल पूछना और उनकी पर्युपासना करना यावत् ....उनसे प्रश्न पूछकर अर्थ ग्रहण करना इत्यादि बातों के फल का तो कहना ही क्या ? अतः हे देवानुप्रियों ! हम सब उन स्थविर भगवन्तों के पास चलें। और उन्हे वन्दन नमस्कार करें यावत् उनकी पर्युपासना करें। ऐसा करना

२ हट्ठतुट्ठा अण्णमण्णं सद्दावेंति - जं० ॥ ६. हट्ठतुट्ठ - न० ॥ ७. सद्दावति - अमो० ॥ ८. सद्दावेत्ता - न० ॥ ९. वदासी - पु० वे० म० ॥ १०. पासावच्चिज्जा - पा० न० ॥ ११. जातिसंपन्ना - पु० अमो० पा० वे० म० ॥ १२. जाव विहरंति ! तं महाफलं खलु भो देवा० - जं० ॥ १३. ओग्गहं - पा० न० ॥ १४. ओगिण्हित्ता - अमो० पा० न० ॥ १५. ०फलं खु तहारूवाणं - लो० ॥ १६. भग० जा० किमंग पु० विपुलस्स अट्ठस्स गहणयाते त गच्छामो - जं० ॥ १७. ०गोत्तस्स - वे० म० १८. सणयाए - पु० अमो० पा० न० वे० म० ॥ १९. वंदामो जाव पज्जुवासि० - जं० ॥ २०. ०वासामो जाव भविस्सतीति कट्टु - लो० जे०, ला २-३-४ ॥ २१. एयण्णे - अमो । एयं णे - पा० । एयं णे पेच्चभवे इह० - न० । "एयं णं इति पाठ ओपपा० वृ० पृ० ५८ तदर्थश्च 'एतत् भगवद्वन्दनादि अस्माकम्" ॥ २२ 'णं' इति तद् अर्थेऽपि अथवा अलंकारार्थो वा - वे० ॥ २३. ०वे परभवे जाव - अमो० । ०भवे य हियाए सुहाए

B. चित्तमाणंदिया णंदिया पीइमणा परमसोमणस्सिया हरिसवस विसप्पमाणहियया अण्णमण्ण ॥

C. राजप्रश्नीय—सू. ६८६ ॥

D. एगस्स वि आरियस्स धम्मियस्स सुवयणस्स सवणयाए किमंग पुणविउलस्स अट्ठस्स ॥

A. सक्कारेमो सम्माणेमो कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं ॥

वा परभवे [२४]वा [8]जाव [२५]अणुगामियत्ताए [२६]भविस्सती त्ति कट्टु अन्नमन्नस्स अंतिए एयमट्ठं [२८]पडिसुणेंति, [२९]पडिसुणेत्ता जेणेव [३०]सयाइं गिहाइं तेणेव उवागच्छंति उवागच्छित्ता [३१]ण्हाया [३२]कयबलिकम्मा [३३]कयकोउयमंगलपायाच्छित्ता,[३४] [३५]सुद्धप्पावेसाइं मंगल्लाइं वत्थाइं [३६]पवराइं [३७]परिहिया अप्पमहग्घाभरणालंकियसरीरा [३८]सएहिं सएहिं [३९]गेहेहिंतो पडिनिक्खमंति पडिनिक्खमित्ता [४०]एगयओ [४१]मेलायंति।

अपने लिए इस भव में तथा परभव में हित रूप होगा; यावत् परम्परा से (परलोक में कल्याण का) अनुगामी होगा। इस प्रकार बातचीत करके उन्होंने उस बात को एक दूसरे के सामने (परस्पर स्वीकार किया) स्वीकार करके वे सब श्रमणोपासक अपने-अपने घर गये। घर जाकर स्नान किया फिर बलिकर्म किया। मंगलरुप प्रायश्चित् किया। फिर शुद्ध तथा धर्मसभा आदि मे प्रवेश करने योग्य एवं श्रेष्ठ वस्त्र पहने, थोड़े से किन्तु बहुमूल्य आभूषणों से शरीर को विभूषित किया। फिर वे अपने २ घरों से निकले।

विवेचन—

जिस नगरी में श्रद्धावान, गुणवान, निष्ठावान श्रावकों का निवास था, उस तुंगिका नगरी में ज्ञानादि गुण संपन्न स्थविर भगवंत पधारे है। यह समाचार नगरी मे सर्वत्र फैल गया। मुख्य तिराहों चौराहों आदि पर यही चर्चा होने लगी। इस वृत्तान्त को सुनकर श्रावकगण अत्यधिक प्रसन्न हुए तथा परस्पर मिलकर हर्ष की अभिव्यक्ति के साथ स्थविर भगवंतों का गुणगान करने लगे।

खमाए निस्सेयसाए आणु० - न० ॥ २४. वा हियाए सुहाए खेमाए निस्सेयसाए आणु० - घा० ॥ २५. आणु० - अमो० ॥ २६. भविस्सइ - अमो० घा०। भविस्सति इति - न० ॥ २७. एय पडि० - ला० ला ३ ॥ २८. सुणंति - अमो० ॥ २९. पडिसुणित्ता - अमो० घा० ॥ ३०. याइं गेहाइं - अमो०। ०याइं गिहा० - घा०। सगाइं - जं० ॥ ३१. ण्हाया सुद्धप्पा० - पु० ॥ ३२. कयबलि० - घा० ॥ ३३. कतकोउय० - वे० म० ॥ ३४. "प्रायश्चितानि दुःस्वप्नादिविघातार्थम् अवश्यकरणीयत्वात् ......अन्ये त्वाहुः- पदेन पादे वा छुता चक्षुर्दोषपरिहारार्थं पादछुप्ता." - वृ० ॥ ३५. सुद्धप्पवे० - ला०। सुद्धप्पावेसाइं मंगल्लाइ - जं० ॥ ३६ पवर परिहिय त्ति क्वचिद्दृश्यते, क्वचिच्च वत्थाइं पवर परिहिय त्ति - वृ० ॥ ३७. परहियाइं अ० - जं० लों० ला १ ३८. सएहिंतो सएहिंतो पडि० - घा० ॥ ३९. गिहेहिंतो - न० ॥ ४०. एगओ - एगतओ - वे० म०। एगओ - ला २ - एगदओ मेलंति २ तुंगिया तेण गज्झेण निग्गच्छंति - जं० ॥ ४१. ०यंति पायविहार - अमो०। मिलंति - घा०। मिलायंति २ अ० म० ॥

8. हियाए सुहाए खमाए निस्सेयसाए ॥

अहो ! हमारे महान् पुण्य का उदय हुआ है कि उत्तम नाम गौत्र वाले अनेकानेक गुणों से युक्त स्थविर भगवंत पधारे हैं। जिनके नामगौत्र श्रवण से महान् फल होता है तब फिर उनके सामने जाना वन्दन नमस्कार करना, उनका कुशल मंगल पूछना और उनकी पर्युपासना करना, उनसे प्रश्न पूछकर अर्थ ग्रहण करना इत्यादि बातों के फल का तो, कहना ही क्या ? अतः हे देवानुप्रियो ! अब शीघ्र ही अपन इस भव और पर भव के लिये कल्याणकारी स्थविर भगवंतो के दर्शन वन्दन नमस्कार, प्रश्न-पूछने, आगम सिद्धान्तों का बोध प्राप्त करने के लिए चले। इस प्रकार श्रावकगण परस्पर निर्णय करके अपने-२ घरों में जाते हैं। स्नानादि कार्यों से निवृत होते हैं तथा शुद्ध वस्त्रों को धारण करके सभी पुनः एक स्थान पर एकत्रित हो जाते हैं।

मूल पाठ में, कय बलिकम्मा; 'पद का प्रयोग किया गया है। इससे कई भद्रिक लोग गृहदेवता का पूजन करना अर्थ लेते है जो कि सर्वथा असंगत है। इस पद का प्रयोग स्नान के वर्णन के साथ किया है। इससे यह फलित होता हैं कि स्नान के साथ होने वाली क्रियाओं की ओर यह संकेत कर रहा है। जहां पर स्नान की क्रियाओं का वर्णन संक्षिप्त करना होता है वहाँ पर उपर्युक्त पद का प्रयोग किया जाता है।

ज्ञातासूत्र के दूसरे अध्ययन में भद्रासर्थवाही के स्नान की क्रियाओं के प्रसंग पर ज्ञातासूत्र के आठवें अध्ययन में मल्लिकुमारी के स्नान प्रसंग पर तथा सोलहवें अध्यायन में द्रौपदी के स्नान प्रसंग से ' कय बलिकम्मा ' पद आया है। जो कि स्नान के विस्तृत वर्णन का अध्याहार करने के लिए हैं। ' कय बलिकम्मा ' शब्द का यह अर्थ भी हो सकता है कि पहले तो श्रावकों ने स्नान किया पश्चात् पक्षियों को अन्नादि का दान दिया। क्योंकि श्रावकों का दिल बहुत ही उदार था। "कयमंगल कोउयपाय च्छित्ता" इस पद का तात्पर्य यह है कि मषीतिलक आदि कौतुक को किया मंगल कारक कार्यों को किया तथा दुःस्वप्न को नष्ट करने वाले अवश्यकरणीय प्रायश्चित किया।

एक व्याख्याकार ने पादच्छुप्ते का यह भी अर्थ किया है—नेत्रों के रोग का निवारण करने के लिये या शक्ति क्षीण न हो जाय इसके लिये पैरों पर विशेष प्रकार के तेल का विलेपन किया गया था।

श्रावकों के विचार किमंगपुण-अभिगमण वंदण-पूयण..........उन स्थविर भगवंतो के सामने जाने आदि से न मालूम कितना लाभ होता है ? इससे यह बात स्पष्ट हो जाता है कि सन्त मुनिराजों के सामने जाने की परम्परा आज का नहीं अपितु आगमकालीन युग से ही चली आ रही है।

धर्मोपदेश—

[1]मेलायित्ता पायविहारं चारेणं तुंगियाए [2]नगरीए मज्झंमज्झेणं णिग्गच्छंति, णिग्गच्छित्ता जेणेव [3]पुप्फवतीए [4]चेइए तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता थेरे भगवंते पंचविहेणं अभिगमेणं [5]अभिगच्छंति, तं जहा—[6]सचित्ताणं दव्वाणं [7]विउसरणयाए १ [8]अचित्ताणं दव्वाणं [9]अविउसरणयाए २ एगसाडिएणं [10]उत्तरासंगकरणेणं ३ चक्खुप्फासे [11]अंजलिप्पग्गहेणं ४ [12]मणसो एगत्तीकरणेणं ५ जेणेव [13]थेरा भगवंतो तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता तिक्खुत्तो [14]आयाहिणं [15]पयाहिणं [16]करेइ, करित्ता [A]जाव तिविहाए [17]पज्जुवासणाए [18]पज्जुवासेंति[19]। तए णं ते थेरा भगवंतो तेसिं

निकलकर एक जगह मिले (तत्पश्चात् वे सम्मिलित होकर पैदल चलते हुए तुंगिका नगरी के बीचों बीच होकर निकले (वहां) स्थविर भगवन्तों (को दूर से देखते हो उनके पास पांच प्रकार के अभिगम करके गये। वे (अभिगम) इस प्रकार है १ (अपने पास रहे हुए) सचित्त द्रव्यों का त्याग करना २ अचित्त द्रव्यों का त्याग न करना—साथ मे रखना ३ एक शाटिक उत्तरासंग करना ४ स्थविर—भगवन्तों को देखते ही दोनों हाथ जोड़ना ५ मन को एकाग्र करना यों पांच प्रकार का अभिगम करके वे—स्थविर भगवन्तो के निकट पहुँचे। निकट आकर उन्होंने दाहिणी ओर से तीन बार उनकी प्रदक्षिणा की वन्दन नमस्कार किया यावत् कायिका, वाचिका और मानसिक इन तीनो प्रकार से उनकी पर्युपासना करने लगे। तब वे स्थविर भगवंत उन श्रमणोपासकों को तथा बहुत बड़ी परिषद् को चातुर्याम धर्म का उपदेश देते है। जिस प्रकार

---

१. मिलित्ता - धा० ॥ २. नयरीए - अमो० न० ॥ ३. पुप्फवईए नामं चे° - अमो० । पुप्फवइए - धा० । पुप्फवतिए - न० । °वतिते चेतिते जेणेव थेरा भगवंतो तेणेव उवागच्छति थेरे भगवंते - जं० ॥ ४. उज्जाणे - पु० । चेइए होत्था तेणेव - अमो० । चेतिए - वे० म० ॥ ५. °ति सच्चित्ताणं - ज० ॥ ६. सच्चित्ताणं - धा० ॥ ७. °विउसरण० - पु० । विओसरणयाए - न० । विओसरणताए - वे० म० ॥ ८. अच्चित्ताणं - धा० ॥ ९. अविओस० - न० । अविओसरणताए - वे० म० ॥ १०. °रासंगेणं इ च० - जं० ॥ ११. अंजलिपग्गहेणं - अमो० ॥ १२. मणसा - अमो० जं० ॥ १३. थेरे भगवंतो - अमो० ॥ १४. आयाहिण - धा० ज० ला १—२ म० ॥ १५. °हिणं वा करेति गत - अमो० ॥ १६. करेंति - पु० धा० वे० म० । करेति करेता - न० ॥ १७. °वासणादे - जं० ॥ १८. °वासंति - पु० अमो० धा० न० ॥ १९ प्र °ति तं जहा—काइ० वाइ० माण० । तत्थ काइयाए—संकुचियपाणि—पाए—सुस्सूसमाणे णमंसमाणे अभिमुहे विणएणं पंजलिउडे पज्जुवासंति । वाइयाए—जं जं भगवं वागरेति एवमेयं भंते ! तहमेयं भं. अवितहमेयं भंते ! असंदिद्धमेयं भंते । इच्छियमेय भं० । पडिच्छियमेयं भं० । इच्छियपडिच्छियमेयं भंते !, मायाए

A. वंदति णमंसति णच्चासण्णे णातिदूरे सुस्सूसमाणा णमंसमाणा अभिमुहा विणएणं पंजलिउडा ॥

समणोवासयाणं [२०]तीसे य [२१]महति-महालियाए[२२] परिसाए चाउज्जामं धम्मं [२३]परिकहेंति, [२४]जहा केसिसामिस्स [B]जाव [२५]समणोवासियत्ताए आणाए [२६]आराहगे [२७]भवंति [C]जाव धम्मो कहिओ ।

केशी श्रमण ने दिया था, यावत् वे श्रमणोपासक स्थविर भगवंतों की आज्ञा की आराधना करते हैं यावत् धर्मोपदेश हुआ ।

विवेचन :-

तुंगिका नगर के श्रावकों में परस्पर मेल-मिलाप अच्छा था । वे परस्पर एक दूसरे को चाहते थे । प्रत्येक श्रावक अन्य श्रावकों को प्रेरणा करके धर्मोपदेश में ले जाते, स्थविर भगवंतो का दर्शन करने के लिये भी सभी श्रावकों ने एक दूसरे को प्रेरणा का तथा सभी मिलकर पाद विहार करते हुए, जिधर स्थविर भगवंत विराजते थे, उधर आए, ज्यों ही वे स्थविर भगवंतो के समीप पहुँचे और उन्होंने पांच अभिगमन धारण किये, वे पांच अभिगम निम्न है— सचित्त का त्याग— धर्मस्थान में प्रवेश करने से पूर्व *किसी भी प्रकार की सचित-जीव-युक्त इलायचा, धान्य फूलमाला आदि वस्तु अपने पास में नहीं रखनी* चाहिये । सचित वस्तु का सर्वथा त्याग कर देना चाहिये ।

अपडिकूलेमाणा विणएणं पज्जुवासंति । माणसियाए-संवेगं जणयंता तिव्व धम्माणुरागरत्ता विगह-विमोत्तियपरिक्खित्तमई अन्नत्थ कत्थइ मणं अकुव्वमाणा विणएणं पज्जुवासंति - ब्रे० म० । उपरोक्त पाठो जं० प्रतावेव, वृत्तौ त्वत्र "इह पर्युपासना त्रैविध्यं मनो, वाक्, कायभेदात्" इति संक्षिप्त व्याख्याऽस्ति । औपपातिक सूत्रे मूलपाठे तंजहा-काइयाए वाइयाए माणसियाए काइयाए ताव संकुइअग्गहत्थ-पाए सुस्सूसमाणे णमंसमाणे अभिमुहे विणएणं पंजलिउडे पज्जुवासइ । वाइयाए जं जं भगवं वागरेइ एवमेयं भंते ! तहमेयं भंते ! अवितहमेयं भंते ! असंदिद्धमेयं भंते ! इच्छियमेयं भंते पडिच्छियमेयं भंते ! इच्छिय पडिच्छिय मेयं भंते ! से जहेयं तुब्भे वदह अपडिकूलमाणे पज्जुवासति माणसियाए महया संवेग जणइत्ता तिव्वधम्माणु राग रत्तो पज्जुवासइ" ।। २०. तीसे महइ० - म० ।। २१. महइ० - अमो० । महइमहालयाए - धा० । महइमहालियाए - म० ।। २२. °याए चाउज्जाम - पु० । ०याए महच्चपरिसाए - म० । महइ महालियाए जाव धम्मो कहिओ - क० ता० ब० । °याए महल्लपरिसाते - जं० । ०याए जाव धम्मो कहिओ - जं० लो० ।। २३. प - ०ति तंजहा 'सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं सव्वाओ मुसावायाओ वेरमणं, सव्वाओ आदिण्णादाणाओ वेरमणं, सव्वाओ बहिद्धादाणाओ वेरमणं - म० । ०कहेंति । परिसा पडिगया । तते णं समणोवासया - जं० ।। २४ जहा केसिसामिस्स जाव० तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेंति, २ एवं जहा रायप्पसेणइज्जे - ला १ ।। २५. ०वासयत्ताए - अमो० । ०त्ताए निग्गंथाणं आ० - धा० ।। २६. आराहए - अमो० । ध० ।। २७. भवति- पु० ब्रे० । भवइ - अमो० धा० ।।

BC-. तीसे महतिमहालियाए महच्चपरिसाए चाउज्जामं धम्मं परिकहेइ तंजहा सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं, सव्वाओ मुसावायाओ वेरमणं, सव्वाओ अदिण्णादाणाओ वेरमणं, सव्वाओ बहिद्धादाणाओ वेरमणं ।।

रायप्पसेणी सुत्त : पृ० १२० ।।

२. अचित्त का विवेक— जो निर्जीव-जीव रहित पदार्थ हैं उनको भी मर्यादित रखना चाहिये । अर्थात्-धर्म स्थान में प्रवेश करते समय छत्र, चंवर, वाहन, पदत्राण, टोप आदि अभिमान सूचक पदार्थ नहीं होने चाहिये ।

३. एकशाटिक उत्तरासंग— ज्यों ही धर्म स्थान में प्रवेश करते है उसी समय मुंह पर एक शाटिक-बिना मध्यमें सिये हुए वस्त्र को मुंह पर लगा लेना चाहिये अन्यथा बोलने से वायु मण्डल में स्थित जीव मर जाते हैं साथ ही थूक उछलने से मुनिराजों की अशातना हो जाती है।

४. दृष्टि वन्दन— ज्यों ही मुनिराज दृष्टि पथ पर आ जाय, चाहे कोई भी स्थल क्यों न हो उन्हे उसी समय दृष्टि झुककार, हाथ जोड़कर मस्तक को नमाकर वन्दन करना चाहिये ।

५. एकावधानता— ज्यों ज्यों मुनिराज के सन्निकट पहुँचते जाते हैं त्यों २ मन को एकावधान एकाग्र किया जाय । आगम में प्रतिपादित पांच अभिगमों के साथ ही निम्न पांच बातें भी मुनिवरों के पास में जाकर वन्दन करते समय ध्यान मे रखनी चाहिये ।

१— मुनिराज प्रशांतचित हो, शांत हो उस समय में पास में जाकर वन्दन करना चाहिये । व्याख्यान, चिन्तन-मनन एवं अध्ययन-अध्यापन मे व्यस्त हो तो उस समय दूर से ही वन्दन कर लेना चाहिये ।

२— मुनिराज अपने आसन पर व्यवस्थित रूप से विराजमान हों ।

३— मुनिवर क्रोधादि किसी प्रमाद के वशीभूत न हों ।

४— शिष्य द्वारा मैं वन्दना करना चाहता हूँ इस प्रकार कहने पर मुनिराज जैसी इच्छा ऐसा कहने में सावधान हो ।

५— मुनिवर से वन्दन करने की आज्ञा प्राप्त करली हो ।

इन पांच कारणो के सही मिल जाने पर मूल पाठ गत प्रतिपादित पाच अभिगम के साथ वन्दन करना चाहिये ।

(१— हरिभद्रीयावश्यक अ० ६ गा० ॥ ९९ २— प्रवचनसारोद्धार वन्दनाद्वार २ गा० । १२५)

इन पांचों अभिगमों का पालन करते हुए मन की एकावधानता के साथ ही स्थविर भगवंतों को विधियुक्त वंदन-नमस्कार किया, पर्युपासना की ।

स्थविर भगवंतो ने तुंगिका नगर के उन श्रावकों के साथ आगत विशाल सभा के समक्ष चातुर्याम धर्म देशना देना प्रारम्भ किया ।

चातुर्याम धर्म—

१– सर्व प्राणातिपात से निवृत्ति।

२– सर्व मृषावाद से निवृत्ति।

३– सर्व अदत्तादान से निवृत्ति।

४– सर्व परिग्रह से निवृत्ति[1]

तुंगिका के श्रमणोपासकों के प्रश्न और स्थविरों के उत्तर—

सूत्र ७८. [1]तए णं ते समणोवासया थेराणं भगवंताणं अंतिए धम्मं सोच्चा निसम्म [2]हट्ठतुट्ठ [A]जाव[3] [4]हयहियया तिक्खुत्तो [5]आयाहिण-पयाहिणं [6]करेंति, २ [B]जाव तिविहाए [7]पज्जुवासणाए पज्जुवासन्ति, २ एवं [8]वयासी–

(७८) तदनन्तर वे श्रमणोपासक स्थविर भगवन्तों से धर्मोपदेश सुनकर एवं हृदयंगम करके बड़े हर्षित और सन्तुष्ट हुए, यावत् उनका हृदय खिल उठा उन्होंने स्थविर भगवन्तों की दाहिनी ओर से तीन बार प्रदक्षिणा की यावत् तीन प्रकार की उपासना द्वारा उनकी पर्युपासना की और फिर इस प्रकार पूछा—

टिप्पण[1] — भरत-एरावत क्षेत्र के प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरों के सिवाय शेष २२ तीर्थंकर चातुर्याम (चार महाव्रत) रूपधर्म की देशना देते है। महाविदेह क्षेत्र मे भी अरिहन्त देव चारमहाव्रत रूपधर्म फरमाते है। किन्तु इन चार महाव्रतोंमें प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरों द्वारा प्रवर्तित पाच महाव्रत आ जाते है। अर्थात सर्वथा मैथुन निवृतिरूप महाव्रत को सर्वथा परिग्रह निवृत्ति रूप महाव्रत में समाविष्ट कर लिया जाता है। क्योंकि स्त्रियां भी परिग्रह रूप ही है। प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरों ने साधु-साध्वियो में मन्द और वक्र बुद्धि होने से स्पष्ट अवबोध कराने के लिये चार महाव्रत के स्थान पर पाच महाव्रतों की प्ररूपणा की। किन्तु दोनों में मूलतः कोई भेद नहीं है।

सूत्र ७८—

१. तते - ला २ ॥ २. हट्ठतुट्ठा जाव - म० । ०तुट्ठा उट्ठाए उट्ठेंति २, थेरे भगवंते वंदंति णम० एवं व०—सं जमे णं - ज० ॥ ३. जाव हियया - अमी० पा० । जाव हरिसवस विसप्पमाण हियया - म० ॥ ४. ०हियया - खे० म० ॥ ५. ०हिणपयाहिणं - पु० । आदाहिणपदाहिणं - लों० ॥ ६. ०ति करेइत्ता एवं वयासी - अमी० । ंति करेत्ता एवं वयासी - म० । ति करेत्ता जाव एवं - क० । ०ति जाव एवं वदासी - लों० ॥ ७. ०पज्जुवासणाए - पा० ॥ ८. वदासी -

A. सू० २।२८ भग० ॥

B. करित्ता वंदंति नमंसंति नच्चासण्णे णाइदूरे सुस्सूसमाणा णमंसमाणा अभिमुहा विणएण पंजलिउडा ॥

संजमे णं भंते ! [9]किंफले ? [10]तवे णं भंते ! किंफले ? [11]तए णं थेरा भगवंतो ते समणोवासए एवं [12]वयासी संजमे णं अज्जो ! अणण्हयफले, तवे वोदाणफले ।

भगवन् । संयम का क्या फल है ? भगवन् ! तप का क्या फल है ? इस पर उन स्थविर भगवन्तो ने उन श्रमणोपासकों से इस प्रकार कहा । आर्यो ! संयम का फल अनाश्रवता (आश्रव रहितता संवर सम्पन्नता है) तप का फल व्यवदान (कर्मो को विशेष रूप से काटना या कर्म पक से मलिन आत्मा को शुद्ध करना है

सूत्र ७९. (१) तए णं ते समणोवासया थेरे भगवंते एवं वदासी—जइ[2] णं भंते ! संजमे अणण्हयफले, तवे वोदाणफले [3]किंपत्तियं णं भंते ! देवा देवलोएसु उववज्जन्ति ?

(७९) (१) श्रमणोपासकों ने उन स्थविर भगवन्तों से इस प्रकार पूछा हे भगवन् । यदि संयम का फल अनाश्रवता है और तप का फल व्यवदान है तो देव देवलोकों में किस कारण से उत्पन्न होते हैं ?

(२) तत्थ णं कालियपुत्ते [4]नामं थेरे ते समणोवासए एवं [5]वदासी-पुव्वतवेणं [अ]ज्जो ! देवा देवलोएसु उववज्जन्ति ।

(२) उन स्थविरों में से कालिक पुत्र नामक स्थविर ने उन श्रमणोपासको से यों कहा—आर्यो पूर्वतप के कारण देव देवलोको में उत्पन्न होते हैं ।

[(३)] तत्थ णं [6]मेहिले नामं थेरे ते [सम]णोवासए एवं [7]वदासी-[8]पुव्वसंज[मेण]ं अज्जो ! देवा देवलोएसु उवव[ज्ज]न्ति ।

(३) उनमें से मेहिल नामक स्थविर ने उन श्रमणोपासकों से इस प्रकार कहा हे आर्यो ! पूर्व सयम के कारण देव देवलोकों में उत्पन्न होते है ।

[(४)] तत्थ णं आणंदरक्खिए णामं थेरे [ते] समणोवासए एवं [9]वदासी-[10]कम्मि[या]ए अज्जो ! देवा देवलोएसु उवव[ज्ज]न्ति ।

(४) उनमें मे आनन्दरक्षित नामक स्थविर ने उन श्रमणोपासकों मे इस प्रकार कहा— हे आर्यो ! पूर्व कर्म के कारण देव देवलोकों में उत्पन्न होते हैं ।

...वे० म० ॥ ९. फले तए णं थेरा - घा० ॥ १०. तवे कि फले - न० । तवे णं कि० - जं० । तवे कि - ला २ ॥ ...१. णं थेरा - अमो० ॥ १२. वदासी - पु० वे० म० । वदिमु - क० ॥

...७९-

...वयासी - अमो० घा० न० वे० ॥ २. जति णं भंते - पु० ॥ ३. कि पत्तिए णं - ला० ला ३ ॥ ४. नामं अणगारे ...रे समणो० - अमो० । णाम थेरे भगवंते ते समणो० - जं० ॥ ५-७-९. वयासी - अमो० घा० न० ॥ ६ मेधिल ...ने नामं - जं० ॥ ८. पुव्वं संजमेणं - घा० ॥ १०. "कम्मियाए त्ति कर्म विद्यते यस्य असौ कर्मी तद्भाव तत्ता तया

(५) तत्थ णं कासवे णामं [११]थेरे ते समणोवासए एवं [१२]वदासी-संगियाए अज्जो ! देवा देवलोएसु उववज्जन्ति, [१३]पुव्वतवेणं पुव्वसंजमेणं कम्मियाए संगियाए अज्जो ! देवा देवलोएसु उववज्जन्ति । सच्चे णं [१४]एस [१५]अट्ठे, नो चेव णं [१६]आयभाववत्तव्वयाए ।

(५) उनमें से काश्यपनामक स्थविर ने उन श्रमणोपासकों से यों कहा–आर्यों आसक्ति संगित के कारण देव देवलोकों में उत्पन्न होते हैं । इस प्रकार हे आर्यों पूर्व तप से, पूर्व संयम से कर्मिता से तथा संगिता से देवता देवलोकों में उत्पन्न होते हैं । यह बात सत्य है । इसलिए कही है हमने अपना आत्मभाव बताने की दृष्टि से नहीं कही है ।

विवेचन—

स्थविर भगवंतों के द्वारा धर्म–देशना श्रवण करने के पश्चात् तुंगिका नगरी के श्रावकों ने समाधान पाने की जिज्ञासा से सर्व प्रथम दो प्रश्न स्थविर भगवंतों के समक्ष रखें वे यह है—

१– हे भगवन् संयम का क्या फल है ?

२– हे भगवन् तप का क्या फल है ?

श्रमणोपासकों के द्वारा पूछे गए प्रश्नों का स्थविर भगवंतों ने निम्न प्रकार से उत्तर दिया – हे आर्यो ! संयम का फल अनाश्रव हैं । न आश्रव इति अनाश्रवः जो आश्रव नही है, संवर है, वह अनाश्रव है । जिसके द्वारा कर्मों का आगमन रुक जाय कर्म आत्मा में प्रवेश न कर सके, एकाकार नही हो सके उसे अनाश्रव कहते है । यह स्थिति संयम के द्वारा ही हो सकती है । इसलिये संयम का फल अनाश्रव बतलाया गया है । तप का फल व्यवदान है ।

व्यवदान शब्द में वि और अव उपसर्ग संयुक्त है तथा दान शब्द 'दप् लवने' या दैप शोधने धातु से बना है । इसका तात्पर्य यह है कि पूर्व कृत कर्मों को काटना या पूर्वकृत कर्म कीचड़ से आत्मा का शोधन कर देना तप का फल है । इससे आत्मा विकृत दशा से शुद्ध बनता है ।

संयम और तप के फल को श्रवणकर श्रमणोपासकों के मन में पुनः एक जिज्ञासा उत्पन्न हुई । उसका समाधान पाने के लिये वह जिज्ञासा स्थविर भगवंतों के समक्ष रखी–

कर्मितया । अन्ये त्वाहुः— कर्मणां विकारः कार्मिका तया अक्षीणेन कर्मशेषेण - अवृ० ॥ ११. थेरे एवं वयासी - अमो० ॥ १२. वयासी -अमो० पा० म० ॥ १३. ०तवेण अज्जो ! देवा देवलोएसु उववज्जंति, पुव्वसंजमेणं अ० ! देवा० कम्मियाते अ० ! देवा० संगियाते अ० ! देवा जाव उववज्जंति - जं० ॥ १४. एसे - ज० ख० म० । एसेट्ठे - लो० ॥ १५. मट्ठे - जे० ॥ १६. आतभाव० जे० म० ॥

हे स्थविर भगवंतो ! आपने फरमाया कि संयम का फल अनाश्रव और तप का फल व्यवदान है सो यह दोनों ही फल तो आत्मा को शोधित करते है अनाश्रव कर्मो के आगमन को रोकता है तो व्यवदान बद्ध कर्मों की निर्जरा करता है। इन दोनों फल से तो मुक्ति होती है, देवलोक की प्राप्ति नहीं क्योंकि देवलोक प्राप्त होने के कारण तो उनमें नहीं है तो किस कारण देवता देवलोक में जाते हैं।

श्रमणोपासकों के द्वारा इस प्रकार का प्रति प्रश्न करने पर चार स्थविर भगवंतों ने चार प्रकार से इस प्रश्न का समाधान दिया था —

१– कालिकपुत्र स्थविर ने पूर्व तप को कारण बताया।

२– मेहिल (मेधिल) स्थविर ने पूव संयम को कारण बताया।

३– आनन्दरक्षित स्थविर ने पूर्व कर्मो को कारण बताया।

४- काश्यपस्थविर ने रागादि भाव को कारण बतलाया।

पूर्व तप और पूर्व संयम - से तात्पर्य वीतरागदशा से पूर्व सराग तप और सराग संयम से है। राग अवस्था में किया गया तप और संयम देव होने में कारण होते है। क्योंकि सराग अवस्था भी कर्म-ध का कारण है।

पूर्व कर्म से यह तात्पर्य है कि तप–संयम आराधन करते हुए भी पूर्व बद्ध कर्मों का सर्वथा नाश ही हुआ है। जहां तक वीतराग अवस्था नही आ जाती तब तक संपूर्ण कर्मो का विनाश नहीं हो सकता। त. सराग अवस्था के ही पूर्वकर्मों के अवशेष रह जाने से आत्मा देवलोक में उत्पन्न होती है।

संग-आसक्ति– रागभाव से तात्पर्य यह है कि जब तक आत्मा की समस्त वस्तुओं से आसक्ति र नही हो जाती तब तक मुक्ति नही हो सकती। उस आसक्ति के रह जाने से आत्मा देवलोक से उत्पन्न होती है।

स्थविरों के उपर्युक्त चारों समाधानों में मूलतः अर्थ एक ही है। पूर्व संयम और पूर्व तप में वीतराग अवस्था नही आने से सराग अवस्था में पूर्व बद्ध कर्मो का सर्वथा नाश नहीं हो सकता और पूर्वबद्ध कर्मों का नाश नहीं होने पर आत्मा की पदार्थो से आसक्ति सर्वथा हट नहीं सकती। जब तक पदार्थों से आसक्ति पूर्णतया नहीं हटेगी तब तक मुक्ति नहीं हो सकती। ऐसी दशा में उस आत्मा को देवलोक की प्राप्ति होती है। इसी बात का स्पष्टीकरण निम्नांकित गाथा में किया गया है—

पुव्वतव संजमा होंति, रागिणो पच्छिमा अरागस्स।
रागो संगो वुत्तो, संगा कम्मं भवो तेणं॥

सराग अवस्था मे रहने वाली आत्मा के तप और संयम पूर्व तप और पूर्व संयम कहलाते हैं। वीतराग अवस्था में रहने वाला आत्मा के तप और संयम पश्चिम तप और पश्चिम संयम कहलाते हैं।

राग से संग–आसक्ति होती है। और आसक्ति से कर्म बंध होता है। कर्मबंध ही आत्मा का भ्रमण बढ़ाता है। स्थविर भगवंतों में सरलता कितनी थी, इसका परिज्ञान उनके अन्तिम शब्दों से होता है। उन्होंने एक प्रश्न का चार प्रकार से समाधान करने के पश्चात् श्रमणोपासकों से कहा–हे आर्यो! हमने जो समाधान आपको दिया – वह यथार्थ और सत्य समझकर प्रतिपादित किया गया है। किन्तु इसका प्रतिपादन कर हमने अपने ज्ञान का अभिमान प्रकट नहीं किया है।

तुंगिका से विहार—

सूत्र ८०. तए णं ते [1]समणोवासगा थेरेहिं भगवंतेहिं इमाइं एयारूवाइं वागरणाइं वागरिया समाणा [2]हट्ठतुट्ठा थेरे भगवंते वंदंति [3]नमंसंति, नमंसित्ता पसिणाइं [4]पुच्छंति, पुच्छित्ता अट्ठाइं [5]उवादियंति. [6]उवादिएत्ता [7]उट्ठाए [8]उट्ठेंति, उट्ठित्ता थेरे भगवंते [9]तिक्खुत्तो वंदंति [10]णमंसंति, [11]णमंसित्ता थेराणं भगवंताणं अतियाओ [11]पुप्फवतियाओ [12]चेइयाओ पडिनिक्खमंति, पडिनिक्खमित्ता जामेव [13]दिसिं पाउब्भूया तामेव [14]दिसिं [15]पडिगया।

(८०) तत्पश्चात् वे श्रमणोपासक, स्थविर भगवन्तों द्वारा कहे हुए इन और ऐसे उत्तरों को सुनकर बड़े हर्षित एवं सन्तुष्ट हुए और स्थविर भगवन्तों को वन्दना नमस्कार करते हैं। नमस्कार करके प्रश्न भी पूछते हैं पूछकर अर्थों को ग्रहण करते हैं ग्रहण करके वे वहां से उठते हैं। उठकर तीन बार वन्दना नमस्कार करते हैं फिर वे उन स्थविर भगवन्तों के पास से और उस पुष्पवतिक बगीचे से निकलते हैं निकलकर जिस दिशा से आये थे, उसी दिशा में वापस लौट गये।

सूत्र ८१. तए णं ते [16]थेरा अन्नया कयाइ [17]तुंगियाओ [18]पुप्फवतिचेइयाओ [19]पडिनिग्गच्छंति, २ बहिया जणवयविहारं [20]विहरंति।

(८१) इधर वे स्थविर भगवंत भी किसी एक दिन तुंगिका नगरी के उस पुष्पवतिक चैत्य से निकलकर बाहर जनपदों में विचरण करने लगे।

सूत्र ८०–८१— १. समणोवासगा - पा० । ०गा थेरे भगवंते वंदंति नमंसंति २ पसिणाइं पुच्छंति २ अट्ठाइं उवादियंति जामेव दिसं पाउब्भूया तामेव दिसं पडिगया - जे० लीं० ला० ॥ २. हट्ठतुट्ठा - जाव क० ता० ध० ॥ ३. ०णंति वंदित्ता नम० पा। ०संति पसिणाइं - न० ॥ ४. ०ति अट्ठाइं - अमो० न० ॥ ५. उवादियंति उट्ठाए - अमो० ॥ ६. ०एत्ता जामेव दिसिं - न० ॥ ७. उट्ठाइ उट्ठेति उट्ठित्ता - पु० ॥ ८. ०ति थेरे - अमो० - ०ति उट्ठेत्ता - अ० सं० ॥ ९. ०त्तो जाव वंदंति - अमो० ॥ १०. ०ति वंदित्ता नम० - अमो० पा० ॥ ११. पुप्फवईयाओ - अमो० । पुप्फवइयाओ - पा० ॥ १२. उज्जाणाओ - पु० । ०ओ पडिनिक्खमित्ता जामेव - पा० ॥ १३–१४. दिसं - अमो० । १५. ०या तेणं कालेणं - जे० लीं० ला ३-४ ॥ १६. थेरा भगवंतो - अमो० । थेरा भगवंतो अन्नया - पा० ॥ १७. ०ओ नयरीओ पुप्फ० - अमो० पा० न० ॥ १८. उज्जाणाओ - पु० । पुप्फवइयाओ चेइयाओ पडि० - पा० । पुप्फवईयाओ० - अमो० । पुप्फवतियाओ चेइ० - न० ॥ १९. पडिनिक्खमंति - अ० ला २ ॥ २०. विहरंति - पडि० ता० ध० ॥

विवेचन—

उपर्युक्त विवेचन मे तुंगिया नगरी के श्रावकों की धर्म भावना, जिन प्ररूपित तत्वों के प्रति श्रद्धा प्रतिपादित की गई है। वे श्रावक भौतिक धन सम्पत्ति से भी भरपूर थे तो उनके पास आध्यात्मिक धन सम्पत्ति की भी कमी नहीं थी। भौतिकता को वे विनाशी समझते थे। आध्यात्मिक जीवन के वे खोजी थे।

पार्श्वापत्य स्थविर भगवन्तों से अनेक प्रकार के प्रश्न करके उन्होंने आध्यात्मिक जीवन विकसित करने के लिये एक नई दिशा प्राप्त की थी। गृहस्थ वर्ग को गृहस्थ अवस्था में किस प्रकार से रहना चाहिये, इसके लिये उपर्युक्त विवेचन स्पष्ट बोध कराता है।

राजगृह में गौतमस्वामी का भिक्षाचर्यार्थ पर्यटन—

उत्थानिका—

तुंगिका नगरी मे स्थविर भगवंतों का पदार्पण तथा श्रावकों द्वारा प्रश्नों का पूछना आदि चर्चा फैलती हुई जब राजगृह में पहुँची तथा जब गौतम स्वामी ने भिक्षाचर्या करते हुए लोगों के मुंह से सुनी तो उनको शंका उत्पन्न हुई। एतद् विषयक विवेचन प्रस्तुत मूल पाठ मे दिया जा रहा है।

सूत्र ८२. तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे नामं [1]नगरे [A]जाव परिसा पडिगया।

सूत्र ८३. तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे अंतेवासी [2]इंदभूती नामं अणगारे [B]जाव संखित्त - [3]विउलतेयलेस्से [4]छट्ठं छट्ठेणं अनिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं संजमेणं [5]तवसा अप्पाणं [6]भावेमाणे जाव विहरति।

(८२) उस काल उस समय मे राजगृह नामक नगर था। वहां श्रमण भगवान् महावीर स्वामी पधारे (परिषद् वन्दना करने गई) यावत् (धर्मोपदेश सुनकर) परिषद वापस लौट गई।

(८३) उस काल उस समय मे श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के ज्येष्ठ अन्तेवासी इन्द्रभूति नामक अनगार थे। वे यावत .... विपुल तेजोलेश्या को अपने शरीर में समेट करके रखते थे। वे निरन्तर बेले बेले के तपश्चरण से तथा संयम और तप से अपनी आत्मा को भावित करते हुए यावत् विचरते थे।

सूत्र ८२-८३-८४ १. नयरे - अमो० घा० । ०रे होत्था-सामी समोसढे जाव - न० ॥ २. इंदभूइ णामं - अमो० । इंदभूइ नामं - घा० न० ॥ ३. विपुल० - न० । विउललेसे - ला० ॥ ४. छट्ठे - घा० ॥ ५. तवसा जाव विहरति - लो० ला २-४ । ६ ०णे विहरइ - अमो० घा० न० । ०णे विहरति । तए णं समणे भगवं - लो० ॥ ७. तए णं
A. श० १ उद्दे० १ सूत्र ४ (ii) B. श० १ उद्दे० १ सूत्र ४ (iii)

सूत्र ८४. [7]तए णं से भगवं [8]गोतमे [9]छट्ठक्खमणपारणगंसि [10]पढमाए [11]पोरिसीए सज्झायं [12]करेइ, बीयाए पोरिसीए झाणं [13]झियायइ, [14]ततियाए [15]पोरिसीए अतुरियमचवलमसंभंते मुहपोत्तियं [16]पडिलेहेइ [17]पडिलेहित्ता [18]भायणाइं वत्थाइं पडिलेहेइ, [19]पडिलेहित्ता [20]भायणाइं [21]पमज्जति, पमज्जिता भायणाइं [22]उग्गाहेइ, [23]उग्गाहित्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव [24]उवागच्छई उवागच्छित्ता समणं भगव महावीरं [25]वंदइ [26]नमंसइ, नमंसित्ता एवं [27]वदासी- इच्छामि णं भंते ! [28]तुब्भेहिं [29]अब्भणुण्णाए [30]छट्ठक्खमणपारणगंसि रायगिहे [31]नगरे उच्चनीय-मज्झिमाइं कुलाइं घरसमुदाणस्स [32]भिक्खायरियाए अडित्तए। अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा [33]पडिबंधं करेह।

(८४) इसके पश्चात् बेले के पारणे के दिन भगवान् गौतम स्वामी ने प्रथम प्रहर में स्वाध्याय किया द्वितीय प्रहर में ध्यान ध्याया और तृतीय प्रहर में शारीरिक शीघ्रता-रहित, मानसिक चपलता रहित, आकुलता से रहित होकर मुख वस्त्रिका की प्रतिलेखना की। फिर पात्रों और वस्त्रों की प्रतिलेखना की उसके बाद पात्रों का प्रमार्जन किया। प्रमार्जन करके उन पात्रों को लिया, लेकर जहां श्रमण भगवान् महावीर स्वामी विराजमान थे वहां आये वहां आकर श्रमण भगवान महावीर स्वामी को वन्दन नमस्कार किया। और फिर इस प्रकार निवेदन किया हे भगवन् ! आज मेरे बेले के पारणे का दिन है अतः आपसे आज्ञा प्राप्त होने पर मैं राजगृह नगर में उच्च, नीच और मध्यम कुलों के गृह समुदाय में भिक्षाचर्या की विधि के अनुसार भिक्षाटन करना चाहता हूं। हे देवानुप्रिय ! जिस प्रकार तुम्हें सुख हो वैसे करो किन्तु विलम्ब मत करो।

भगवं - न० । तएणं समणे भगवा - म० ॥ ८. गोयमे - पु० अमो० पा० न० ॥ ९. ०पारणयंसि - अमो० । ०गंसि - मा० ॥ १०. पढमपोरि० - लों० ॥ ११. पोरसीए - क० ला० मं० ॥ १२. करेति बितियाए पोरसीए - ला० १-२ ॥ १३. झियाए - अमो० । झियाइ - पा० न० लो० । झियाति - ला० ॥ १४. तइयाए - पु० अमो० पा० न० ॥ १५. पोरसीए - ला २-३ ४ ॥ १६. पडिलेहेति - बे० म० ॥ १७-१९. पडिलेहेइत्ता - अमो० । पडिलेहेत्ता - न० ॥ १८. भायण वत्थाइं - न० लो० ला० ला २-३ ॥ २०. भायणवत्थाइं पमज० - ला० ला ३ ॥ २१. पमज्जइ - पु० अमो० न० । पमज्जइ - पा० ॥ २२. उग्गाहेति - बे० म० ॥ २३. उग्गाहेइत्ता - अमो० । उग्गाहेत्ता - म० ॥ २४. उवागच्छति - बे० म० ॥ २५. वंदति - बे० म० ॥ २६. ०मइ वंदइत्ता नमंसइत्ता - अमो० । ०मइ वंदित्ता नम० - पा० न० । नमंसति - बे० म० ॥ २७. वयासी - अमो० पा० न० ॥ २८. तुब्भेहिं - अमो० ॥ २९. ०ए समाणे - अमो० पा० न० । अणुनाते ए० - ला ४ ॥ ३०. ०पारणयंसि - अमो० ॥ ३१. नयरे - अमो० पा० ॥ ३२. ३३. ०बंधं करेह - पु० अमो० न० । ०बंध करे णं - ला ४ ॥

सूत्र ८५ तए णं भगवं [1]गोतमे समणेणं भगवया महावीरेणं अब्भणुणाए समाणे समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियाओ गुणसिलाओ [2]चेइयाओ पडिनिक्खमइ, पडिनिक्खमित्ता [3]अतुरियमचवलमसंभंते [4]जुगंतरपलोयणाए दिट्ठीए [5]पुरओरियं [6]सोहेमाणे सोहेमाणे जेणेव रायगिहे [7]नगरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता रायगिहे [8]नगरे उच्च-नीय-मज्झिमाइं कुलाइं घरसमुदाणस्स [9]भिक्खायरियं [10]अडइ ।

(८५) भगवान् की आज्ञा प्राप्त हो जाने के बाद भगवान गौतम स्वामी श्रमण भगवान् महावीर के पास से तथा गुणशील चैत्य से निकले । फिर वे शीघ्र चंचलता और आकुलता से रहित होकर युग (गाडी के जुए) प्रमाण दूर तक की भूमि का अवलोकन करते हुए अपनी दृष्टि से आगे आगे के गमन मार्ग का शोधन करते हुए जहां राजगृह नगर था । वहाँ आये । वहां ऊंच नीच और मध्यम कुलों के गृह समुदाय मे विधि पूर्वक भिक्षाचरी करने के लिए पर्यटन करने लगे ।

स्थविरों के सन्दर्भ में गौतम स्वामी की जिज्ञासा—

सूत्र ८६ [1]तए णं से भगवं [2]गोयमे रायगिहे [3]नगरे [A]जाव अडमाणे बहुजण-सद्दं [4]निसामेइ- "एवं खलु देवाणुप्पिया ! तुंगियाए [5]नगरीए बहिया [6]पुप्फवतीए [7]चेइए पासावच्चिज्जा थेरा भगवंतो समणोवासएहिं इमाइं [8]एयारूवाइं वागरणाइं पुच्छिया—संजमे णं भंते !

(८६) उस समय राजगृह नगर में भिक्षाटन करते हुए भगवान गौतम ने बहुत से लोगों से इस प्रकार के शब्द सुने । देवानुप्रिय ! तुंगिका नगरी के बाहर पुष्पवतिक नामक चैत्य में भगवान पार्श्वनाथ के शिष्यानुशिष्य स्थविर भगवन्त पधारे थे । उनसे वहां के श्रमणोपासकों ने इस प्रकार के प्रश्न पूछे थे कि भगवन् संयम का क्या फल है ? भगवन् ! तप का क्या फल है ? तब उन

सूत्र ८५— गोयमे - पु० अमो० घा० न० ॥ २. उज्जाणाओ - पु० । चेतियाओ - बे० म० ॥ ३. अतुरितम° - बे० ... ॥ ४. जुगमंतर° - अमो० । ०पलोपणाए - घा० ॥ ५. पुरतो० - बे० म० । पुरतोइरियं - ला० ला ३ । पुरतो...रिया - ला ४ ॥ ६. ०ण जेणेव - घा० क० ता० व० ॥ ७-८. नयरे - अमो० घा० ॥ ९. भिक्खाइरियं - लो० । ...क्खायरियाए अड० - ला ४ ॥ १०. अडति - बे० म० ॥

सूत्र ८६— १. तए णं भगवं - न० ॥ २. गोतमे - बे० म० ॥ ३. नयरे - अमो० ॥ ४. निसामेति - बे० म० ॥ ...नयरीए - अमो० घा० न० ॥ ६. ०वतिचेइए - ला० ला ३ । ०वतिए चे० - ला १-२ । पुप्फवईयाए - अमो० । ...फवइए - घा० न० । ७. उज्जाणे - पु० । चेइयाए - अमो० घा० । चेतिय - बे० म० ॥ ८ एतारूवाइं - बे० म० ॥ ...उच्च-नीय-मज्झिमाइं कुलाइं घरसमुदाणस्स भिक्खायरियाए ॥—

किं फले, [९]तवे णं भंते ! किंफले ?! तए णं ते थेरा [१०]भगवन्तो ते समणोवासए एवं [११]वदासी-संजमे णं अज्जो ! [१२]अणण्हयफले, तवे वोदाणफले तं चेव [B]जाव पुव्वतवेणं पुव्वसंजमेणं कम्मियाए संगियाए अज्जो ! देवा देवलोएसु उववज्जंति, सच्चे णं [१३]एसमट्ठे, णो चेव णं [१४]आयभाववत्तव्वयाए" से [१५]कहमेयं [१६]मण्णे एवं ? ।

स्थविर भगवन्तों ने उन श्रमणोपासकों से इस प्रकार कहा था। हे आर्यो ! संयम का फल संवर है, और तप का फल कर्मों का क्षय है। यह सारा वर्णन पहले की तरह कहना चाहिये यावत् हे आर्यो ! पूर्व तप से कर्मिता (कर्म शेष रहने से) और संगिता (आसक्ति) से देवता देवलोकों में उत्पन्न होते है। यह बात सत्य है इसलिए हमने कही है, हमने अपने अहंभाव वश यह बात नहीं कही है। तो मैं यह बात कैसे मान लूं ?

विवेचन—

तुंगिका नगरी में स्थविर भगवंतों के द्वारा इस प्रकार की चर्चा हुई। ये समाचार जगह-जगह फैल गए। राजगृह नगर के बाजारों में भी इसी प्रकार की चर्चाएं होने लगी। जब गौतम स्वामी बेले का पारणा करने के लिये भगवान् महावीर स्वामी की आज्ञा लेकर भिक्षा के लिए उच्च-नीच और मध्यम कुलों में घूम रहे थे। उस समय यह चर्चा गौतम स्वामी के कानों में भी पड़ी। तब गौतम स्वामी के मन में जिज्ञासा उत्पन्न हुई, साथ ही कुतूहल उत्पन्न हुआ कि क्या वे स्थविर मुनि भगवंत इस प्रकार से संयम और तप का फल बतलाने में समर्थ है ? इसका समाधान पाने के लिये वे भगवान महावीर के पास पहुँचते है, एतद् विषयक वर्णन अगले पाठ मे दिया गया है।

जो ग्रंथकार एवं टीकाकार स्थविर साधु के लिये एक पात्र रखने का ही विधान करते हैं, उनका कथन उक्त आगम-पाठ से विपरीत चला जाता है।

मूल पाठ में भायणाइं, शब्द आया है जो कि अनेक पात्रों का द्योतक है। इसी प्रकरण में आगे बतलाया है 'भत्त पाणं पडिदंसेइ' भक्त पान अर्थात् गौतम स्वामी ने भगवान को आहार - पानी दिखलाया। यदि एक ही पात्र में आहार-पानी होता तो फिर आहार से भरे हाथ एवं पात्रों का

९. तवे किं - ला० ला १-३-४ । तवे णं किं' ला २ । तवे किं फले - अमो० न० ॥ १०. °तो समणो० - अमा० ॥ ११. वयासी - अमो० पा० न० । वयासि - ला ४ ॥ १२. ०फले य चेव जाव पुव्व० - मो० ॥ १३. ०मट्ठे समट्ठे - न० । अट्ठे - ला० ॥ १४. आयवत्त० - ला ४ ॥ १५. कहमेतं - बे० म० । कहमेत भंते ! एवं - ला १ ॥ १६. मन्ने ? तए - मो० । ०एवं मन्ने 'अर्थात्' एतत् जनसमुदाय कथनम् एवं प्रकारकम् यथा मन्ये इति भावः । भंते - पा० अ० ब० ॥ B. सूत्र १८ में तएणं ते थेरा भगवन्तो से वोदाणफले + सूत्र ७९ पूरा ।

प्रक्षालन कैसे किया जाता ? अतः स्पष्ट है कि उनके पास में एक ही पात्र नहीं था, एक से अधिक पात्र थे।

त्रसकाय के जीवों की रक्षा के लिये जो विधान दशवैकालिक सूत्र के मूल पाठ में आए है। उसमें 'उडगंसि' शब्द का प्रयोग किया गया है जिसका अर्थ होता है– मात्रकरूप पात्र। इस प्रकार मात्रा के लिये पात्र रखने का भी विधान स्पष्ट रूप से शास्त्रों में आता है। अतः ग्रंथकारों का यह कथन भी शास्त्र विरुद्ध हो जाता है कि मात्र रूप पात्र रखने का विधान भी ग्रंथकारों ने बाद में किया है।

सूत्र ८७. (I) [1]तए णं [2]से [3]समणे भगवं गोयमे इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे [4]जायसड्ढे [A]जाव [5]समुप्पन्न-कोउहल्ले अहापज्जत्तं समुदाणं [6]गेण्हति, [7]गेण्हित्ता [8]रायगिहाओ [9]नगराओ [10]पडिनिक्खमइ, पडिनिक्खमित्ता अतुरियं [B]जाव सोहेमाणे [11]जेणेव [12]गुणसिलाए [13]चेइए जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स दूरसामंते [14]गमणागमणाए [15]पडिक्कमइ, [16]एसणमणेसणं [17]आलोएइ, [18]आलोएत्ता भत्तापाणं [19]पडिदंसेइ,

(८७) इसके बाद श्रमण भगवान् गौतम ने इस प्रकार की बात लोगों के मुख से सुनी तो उन्हें श्रद्धा उत्पन्न हुई और यावत् मन में कौतुहल भी जागा, अतः भिक्षा विधि पूर्वक आवश्यकता-नुसार भिक्षा ली, भिक्षा लेकर वे राजगृह नगर से बाहर निकले। बाहर निकलकर अत्वरित गति से यावत् ईर्याशोधन करते हुए जहां गुणशीलक चैत्य था, और जहां श्रमण भगवान् महावीर विराजमान थे। वहां उनके पास आए आकर के फिर उनके, निकट उपस्थित होकर गमनागमन संबंधी प्रतिक्रमण किया एषणादोषों की आलोचना की आलोचना करके फिर आहार पानी भगवान् को दिखाया तत्पश्चात् श्री गौतम स्वामी से श्रमण भगवान् महावीर स्वामी से यावत् इस प्रकार निवेदन किया–हे भगवन्। मैं आपसे आज्ञा प्राप्त करके

सूत्र ८७ – १. तए णं समणे० गोयमे - मु० पु०। तएणं भगव - अमो० न०। तएणं समणे - घा० ॥ २. से भगवं गोयमे - बे० अ० क० ता० ब० म० स० ॥ ३. समणे० गोयमे - पु० ॥ ४. जाव सड्ढे - घा० ॥ ५. ०कोतुहल्ले - बे० म० ॥ ६ गेण्हइ - पु० घा० न०। गिण्हइ - अमो० ॥ ७ गिण्हइत्ता - अमो० ॥ ८. ०हातो - बे० म० ॥ ९. ०रातो - बे० म०। नयराओ - अमो० घा० न० ॥ १०. ०मति - बे० म०। ०मइ अतुरिय जाव - अमो० न० ॥ ११. जेणेव समणे भगवं महा० - घा० ॥ १२. गुणसिलए - पु० अमो० न० ॥ १३. उज्जाणे - पु०। चेतिए - बे० म० ॥ १४. ०गमणए - पु० मु० ॥ १५. ०मइ पडिक्कमित्ता - न०। ०मति - बे० म० ॥ १६. ०मणेसणेणं - ला० ला ३ ॥ १७. ०एइ भत्तपाणं - अमो०। ०एति - बे० म० ॥ १८. आलोइत्ता - घा० ॥ १९. ०दंसेति - बे० म० ॥

A. भग. शतक १ उद्दे० १ सूत्र ४ (iV)

B. मचवलमसंभंते जुगंतर पलोयणाए दिट्ठीए पुरओरियं सोहेमाणे ॥

[२०]पडिदंसित्ता समणं भगवं महावीरं [C]जाव एवं [२१]वदासि-"एवं खलु भंते ! अहं तुब्भेहिं [२२]अब्भणुणाए समाणे रायगिहे [२३]नगरे उच्चं-नीय- [२५]मज्झि-माणि कुलाणि घरसमुदाणस्स [२६]भिक्खायरियाए अडमाणे वहुजणसद्दं [२७]निसामेति "एवं खलु देवाणुप्पिया ! [२८]तुंगियाए नगरीए वहिया [२९]पुप्फवईए [३०]चेइए [३१]पासावच्चिज्जा येरा भगवंतो समणोवासएहिं इमाइं [३२]एयारूवाइं वागरणाइं [३३]पुच्छिया-संजमे णं भंते ! [३४]किंफले ? तवे किंफले ? तं चेव [A]जाव सच्चे णं [३५]एसमट्ठे, णो चेव णं [३६]आय-भाववत्तव्वयाए'।

(II) [३७]तं [३८]पभू णं भंते। ते येरा भगवंतो तेसिं समणोवासयाणं इमाइं [३९]एयारूवाइं वागरणाइं [४०]वागरत्तिए? [४१]उदाहु अप्पभू ? [४२]समिया णं भंते ! [४३]ते येरा भगवंतो तेसिं [४४]समणोवासगाणं

राजगृह नगर में उच्च नीच और मध्यम कुलों में भिक्षाचर्या की विधि पूर्वक भिक्षाटन कर रहा था। उस समय बहुत से लोगों के मुख से इस प्रकार के उद्‌गार सुने-तुंगिका नगरी के बाहर पुष्पवतिक नामक उद्यान में पार्श्वा-पत्य स्थविर भगवन्त पधारे थे। उनसे वहां के श्रमणोपासकों ने इस प्रकार के प्रश्न पूछे थे कि संयम का क्या फल है ? और तप का क्या फल है ? यह सारा वर्णन पहले की तरह करना चाहिए यावत् यह बात सत्य है इसलिए कही है, किन्तु हमने अहं (आत्म) भाव के वश होकर नही कही। हे भगवन् ! क्या वे स्थविर भगवंत उन श्रमणोपासकों को ये और इस प्रकार के उत्तर देने में समर्थ है अथवा असमर्थ हैं ? हे भगवन् ! क्या वे स्थविर भगवन् उन श्रमणो

२०. पडिदंसत्ता - न० ।। २१ वयासी - पु० अमो० पा० । वदासी न० ।। २२. ०णुण्णाए - अमो० पा० म० । ०णाते - वे० म० ।। २३. नयरे - अमो० पा० म० ।। २५. ०माई कुलाई घ। - पा० ला ३ ।। २६. भिक्खा। - ला ४ । भिक्खायरियाए - मो० ।। २७. ०मेइ - अमो० । ०मेमि - पा० न० वे० म० ।। २८ नयरीए - अमो० पा० म० ।। २९ पुप्फवइए - न० ला १-२ । पुप्फवतिंसि। - ला० ला ३ ।। ३०. उज्जाणे - पु० ।। ३१. ०वच्चेज्जा - मो० ।। ३२-३९. एया०ओ - वे० म० ।। ३३. पुच्छिता - वे० म० ।। ३४. ०फले चेव - पा० ।। ३५. एस अट्ठे - ला० ला० २ ।। ३६. आयभाव० - पा० ।। ३७. एवं - व० । ३८ पहू - ला० ला ३ ।। ४०. वागरित्तए - पु० वे० म० । वागरेत्तए - अमो० पा० म० ।। ४१. उदाहो - पा० ।। ४२. 'समिय' इति अथवा सम्यक् अथवा समिताः (सम + इताः) अथवा श्रमिताः कृतश्रमाः अभ्यासवन्तः इति वृत्तिकाराभिप्रायः अर्थाः ।। ४३-४४. ०णे । थेरा - पा० ।।

C. पंदड समंतर संदिता नाभिमा ।।

A. भग० शतक २ उद्दे० ५ सुत्र ७८ से ७९ ।।

इमाइं [45]एयारूवाइं वागरणाइं [46]वागरित्तए ? उदाहु [47]असमिया ? [48]आउज्जिया णं [49]भंते ! ते थेरा भगवंतो तेसिं समणोवासयाणं इमाइं एयारूवाइं वागरणाइं [50]वागरित्तए ! उदाहु अणाउज्जिया ?, [51]पलिउज्जिया णं भंते ! ते थेरा भगवंतो तेसिं समणोवासयाणं इमाइं एयारूवाइं वागरणाइं [52]वागरित्तए ? उदाहु अपलिउज्जिया ?,

व्वतवेणं अज्जो ! देवा देवलोएसु ववज्जंति, पुव्वसंजमेणं०, कम्मिएं०, [53]संगियाए०, पुव्वतवेणं पुव्वंजमेणं कम्मियाए संगियाए अज्जो ! वा देवलोएसु उववज्जंति ! सच्चे णं स मट्ठे णो चेव णं आय [54]भाववत्तयाए ?"

(III) [55]पभू णं [56]गोयमा ! ते थेरा ंगवंतो तेसिं समणोवासयाणं इमाइं याारूवाइं वागरणाइं वागरेत्तए [57]णो वे [58]णं अप्पभू तह [59]चेव नेयव्वं

पासकों को ऐसा उत्तर देने में विशेष ज्ञानी है है या सामान्य ज्ञानी ? पूर्व तप से देवलोक में उत्पन्न होते है, पूर्व संयम से पूर्व तप से कर्मो के अवशेष रहने से या पदार्थो को आसक्ति से देवता देवलोक में उत्पन्न होते हैं । यह बात सत्य है इसलिए हम कहते है किन्तु अपने अहंभाववश नहो कहते हैं ।

गौतम ! वे स्थविर भगवन्त उन श्रमणोपासकों को इस प्रकार के उत्तर देने में समर्थ है । असमर्थ नहीं यावत् वे सम्यक् रूप से सम्पन्न (समित) है अथवा अभ्यस्त है असम्पन्न या अनभ्यस्त नहीं, वे उपयोग वाले हैं, अनुपयोग वाले नहीं । वे विशिष्ट ज्ञानो है सामान्य ज्ञानी नही । यह बात सत्य है इसलिए उन स्थविरों ने कही है किन्तु अपने अहंभाव के वश होकर नहीं कही ।

हे गौतम ! मैं भी इसी प्रकार कहता हूँ भाषण करता हूँ और प्ररूपणा करता हूँ कि पूर्वतप के कारण से देव देवलोकमें उत्पन्न होते है। पूर्व

४४. °वासयाण० - पु० अमो० घा० न० । ४५. एतारू० - वे० म० ॥ ४६. वागरेत्तए - अमो० न० ॥ ४७. असमिआ - ला २ । अस्समिया - लो० क० ता० मं० ॥ ४८. "आउज्जिय त्ति आयोगिकाः उपयोगवन्तो ज्ञानिन इत्यर्थः." - अवृ० ॥ ५०. वागरेत्तए - घा० न० ॥ ५१. "पलिउज्जिय त्ति परि समन्ताद् योगिका— परिज्ञानिन इत्यर्थः." - अवृ० ॥ ५२. वागरेत्तए - अमो० घा० न० ॥ ५३. ०ए अज्जो देवा देवलोएसु - पु० अमो० घा० न० ॥ ५४. ०वत्तयाए - घा० ॥ ५५. पहु - ला ४ ॥ ५६. गोतमा - वे० म० ॥ ५७. णो अप्पभू - अमो० ला २–४ ॥ ५८. चेव णं - णत्थि अ० क० व० ५९ वि० पा०— समिया णं गोयमा ! ते थेरा भगवंतो तेसिं समणोवासयाणं इमाइं एयारूवाइं वागरणाइं वागरेत्तए आउज्जिया णं गोयमा ! ते थेरा भगवंतो तेसिं समणोवासयाणं इमाइं एयारूवाइं वागरणाइं वागरित्तए पलिउज्जिया णं गोयमा ते थेरा भगवंतो तेसिं समणोवासयाणं इमाइं एयारूवाइं वागरणाइं

[२०]पडिदंसित्ता समणं भगवं महावीरं [C]जाव एवं [२१]वदासि–"एवं खलु भंते ! अहं तुब्भेहिं [२२]अब्भणुणाए समाणे रायगिहे [२३]नगरे उच्चं-नीय- [२५]मज्झि-माणि कुलाणि घरसमुदाणस्स [२६]भिक्खायरियाए अडमाणे बहुजणसद्दं [२७]निसामेति "एवं खलु देवाणुप्पिया ! [२८]तुंगियाए नगरीए बहिया [२९]पुप्फवईए [३०]चेइए [३१]पासावच्चिज्जा थेरा भगवंतो समणोवासएहिं इमाइं [३२]एयारूवाइ वागरणाइं [३३]पुच्छिया-संजमे णं भंते ! [३४]किंफले ? तवे किंफले ? तं चेव [A]जाव सच्चे णं [३५]एसमट्ठे, णो चेव णं [३६]आय-भाववत्तव्वयाए'।

(II) [३७]तं [३८]पभू णं भंते। ते थेरा भगवंतो तेसिं समणोवासयाणं इमाइं [३९]एयारूवाइं वागरणाइं [४०]वागरत्तिए? [४१]उदाहु अप्पभू ? [४२]समिया णं भंते ! [४३]ते थेरा भगवंतो तेसिं [४४]समणोवासगाणं

राजगृह नगर में उच्च नीच और मध्यम कुलों में भिक्षाचर्या की विधि पूर्वक भिक्षाटन कर रहा था। उस समय बहुत से लोगों के मुख से इस प्रकार के उद्गार सुने-तुंगिका नगरी के बाहर पुष्पवतिक नामक उद्यान में पार्श्वापत्य स्थविर भगवन्त पधारे थे। उनसे वहां के श्रमणोपासकों ने इस प्रकार के प्रश्न पूछे थे कि संयम का क्या फल है ? और तप का क्या फल है ? यह सारा वर्णन पहले की तरह करना चाहिए यावत् यह बात सत्य है इसलिए कही है, किन्तु हमने अहं (आत्म) भाव के वश होकर नही कही। हे भगवन् ! क्या वे स्थविर भगवंत उन श्रमणोपासकों को ये और इस प्रकार के उत्तर देने में समर्थ हैं अथवा असमर्थ हैं ? हे भगवन् ! क्या वे स्थविर भगवन् उन श्रमणो-

---

२०. पडिदंसत्ता - न० ॥ २१. वयासी - पु० अमो० घा० । वदासी न० ॥ २२. ०णुण्णाए - अमो० घा० न० । ०णाते - वे० म० ॥ २३. नयरे - अमो० घा० न० ॥ २५. ०माइं कुलाइं घ। - घा० ला ३ ॥ २६. भिक्खय। - ला ४। भिक्खादरियाए - लो० ॥ २७. ०मेइ - अमो० । ०मेमि - घा० न० वे० म० ॥ २८. नयरीए - अमो० घा० न० ॥ २९. पुप्फवइए - न० ला १-२ । पुप्फवतीचे। - ला० ला ३ ॥ ३०. उज्जाणे - पु० ॥ ३१. ०वच्चेज्जा - लो० ॥ ३२-३९. एयारू० - वे० म० ॥ ३३. पुच्छिता - वे० म० ॥ ३४. ०लेतं चेव - घा० ॥ ३५. एस अट्ठे - ला० ला० ३ ॥ ३६. आयभव० - घा० ॥ ३७. एयं - व० ॥ ३८ पहु - ला० ला ३ ॥ ४०. वागरित्तए - पु० वे० म० । वागरेत्तए - अमो० घा० न० ॥ ४१. उदाहो - घा० ॥ ४२. 'सम्यक्' इति अथवा सम्यंचः अथवा समिताः (सम+इताः) अथवा श्रमिताः कृतशास्त्रश्रमाः अभ्यासवन्तः इति वृत्तिकारव्याख्यागता अर्थाः ॥ ४३.-४९. ०ते । थेरा - घा० ॥

C. वंदइ नमंसइ वंदित्ता नमंसित्ता ॥

A. भग० शतक २ उद्दे० ५ सूत्र ७८ से ७९ ॥

इमाइं [४५]एयारूवाइं वागरणाइं [४६]वागरित्तए ? उदाहु [४७]असमिया ? [४८]आउज्जिया णं [४९]भंते ! ते थेरा भगवंतो तेसिं समणोवासयाणं इमाइं एयारूवाइं वागरणाइं [५०]वागरित्तए ! उदाहु अणाउंज्जिया ?, [५१]पलिउज्जिया णं भंते ! ते थेरा भगवंतो तेसिं समणोवासयाणं इमाइं एयारूवाइं वागरणाइं [५२]वागरित्तए ? उदाहु अपलिउज्जिया ?, पुव्वततेणं अज्जो ! देवा देवलोएसु उववज्जंति, पुव्वसंजमेणं०, कम्मियाए०, [५३]संगियाए०, पुव्वतवेणं पुव्वसंजमेणं कम्मियाए संगियाए अज्जो ! देवा देवलोएसु उववज्जंति ! सच्चे णं एस मट्ठे णो चेव णं आय [५४]भाववत्तव्वयाए ?"

III) [५५]पभू णं [५६]गोयमा ! ते थेरा भगवतो तेसिं समणोवासयाणं इमाइं एयारूवाइं वागरणाइं वागरेत्तए [५७]णो चेव [५८]णं अप्पभू तह [५९]चेव नेयव्वं

पासकों को ऐसा उत्तर देने में विशेष ज्ञानी है है या सामान्य ज्ञानी ? पूर्व तप से देवलोक में उत्पन्न होते है, पूर्व संयम से पूर्व तप से कर्मो के अवशेष रहने से या पदार्थो को आसक्ति से देवता देवलोक में उत्पन्न होते हैं। यह बात सत्य है इसलिए हम कहते है किन्तु अपने अहंभाववश नहीं कहते हैं।

गौतम ! वे स्थविर भगवन्त उन श्रमणोपासकों को इस प्रकार के उत्तर देने में समर्थ है। असमर्थ नहीं यावत् वे सम्यक् रूप से सम्पन्न (समित) है अथवा अभ्यस्त है असम्पन्न या अनभ्यस्त नहीं, वे उपयोग वाले हैं, अनुपयोग वाले नहीं। वे विशिष्ट ज्ञानी है सामान्य ज्ञानी नहीं। यह बात सत्य है इसलिए उन स्थविरों ने कही है किन्तु अपने अहंभाव के वश होकर नही कही।

हे गौतम ! मैं भी इसी प्रकार कहता हूँ भाषण करता हूँ और प्ररूपणा करता हूँ कि पूर्वतप के कारण से देव देवलोकमें उत्पन्न होते है। पूर्व

४४. °वासयाण० - पु० अमो० घा० न०। ४५. एतारू० - वे० म० ॥ ४६. वागरेत्तए - अमो० न० ॥ ४७. अस्समिआ - ला २। अस्समिया - लों० क० ता० मं० ॥ ४८. "आउज्जिय त्ति आयोगिकाः उपयोगवन्तो ज्ञानिन इत्यर्थः" - अवृ० ॥ ५०. वागरेत्तए - घा० न० ॥ ५१. "पलिउज्जिय त्ति परि समन्ताद् योगिका - परिज्ञानिन इत्यर्थः" - अवृ० ॥ ५२. वागरेत्तए - अमो० घा० न० ॥ ५३. ०ए अज्जो देवा देवलोएसु - पु० अमो० घा० न० ॥ ५४. ०वत्तयाए - घा० ॥ ५५. पहु - ला ४ ॥ ५६. गोतमा - वे० म० ॥ ५७. णो अप्पभू - अमो० ला २-४ ॥ ५८. चेव णं - णत्थि अ० क० व० ५९. वि० पा० - समिया णं गोयमा ! ते थेरा भगवंतो तेसिं समणोवासयाणं इमाइं एयारूवाइं वागरणाइं वागरेत्तए आउज्जिया णं गोयमा ! ते थेरा भगवंतो तेसिं समणोवासयाणं इमाइं एयारूवाइं वागरणाइं वागरित्तए पलिउज्जिया णं गोयमा ते थेरा भगवंतो तेसिं समणोवासयाणं इमाइं एयारूवाइं च. ९

[६०]अविसेसियं जाव पभू [६१]समिया [६२]आउज्जिया पलिउज्जिया जाव सच्चो णं एस मट्ठे णो चेव णं आभायववत्तव्वयाए।

(IV) अहं [६३]पि णं गोयमा! एवमाइक्खामि [६४]भासेमि पण्णवेमि परूवेमि पुव्वतवेणं देवा देवलोएसु [६५]उववज्जंति पुव्वसंजमेणं देवा देवलोएसु उववज्जंति कम्मियाए देवा देवलोएसु उववज्जति संगियाए देवा देवलोएसु उववज्जंति पुव्वतवेणं पुव्वसंजमेणं कम्मियाए संगियाए अज्जो! देवा देवलोएसु उववज्जंति। सच्चो णं एस मट्ठे णो चेव णं आयभाववत्तव्वयाए।

संयम के कारण देव देवलोकों में उत्पन्न होते है, कर्मिता से देव देवलोकों में उत्पन्न होते हैं। संगति के कारण देवता देवलोकों में उत्पन्न होते हैं। हे आर्यो पूर्व तप से पूर्व संयम से कर्मिता और संगिता से देवता देवलोकों में उत्पन्न होते हैं। यही बात सत्य है इसलिए उन्होंने कही है किन्तु अपनी अहंता प्रदर्शित करने के लिए नही कही।

विवेचन—

जब गौतम स्वामी के मन में तुंगिका नगरी का वृतान्त सुनकर जिज्ञासा उत्पन्न हुई तब वे उसका समाधान पाने के लिये राजगृह नगर में भिक्षाचर्या द्वारा भिक्षा ग्रहण करके जिधर भगवान् महावीर स्वामी गुणशील बगीचे में विराजमान थे, उधर आते है, आकार के गमनागमन संबन्धी प्रतिक्रमण किया, आहार भगवान् को दिखलाया। एषणा-अनेषणा संबन्धी स्पष्टीकरण किया। तदनन्तर भगवान के राजगृह में हो रही चर्चा का कथन किया। साथ ही प्रश्न किया वे स्थविर भगवंत ऐसा उत्तर देने में समर्थ है, तो भगवान् ने फरमाया हां वे समर्थ हैं। मैं भी ऐसा ही कथन करता हूँ।

इस प्रकार गौतम-स्वामी द्वारा रखी गई जिज्ञासा का भगवान महावीर ने समाधान किया। भगवान् पार्श्वनाथ के सिद्धान्त और भगवान् महावीर के या अन्य किसी भी तीर्थंकर के मूल सिद्धान्तों में कोई अन्तर नहीं होता। पार्श्वापत्य स्थविर भगवंतों ने जिन सिद्धान्तों का कथन किया, उन्होंने तत्संबन्धी ज्ञान पार्श्वनाथ भगवान से ग्रहण किया था।

अतः उनका विवेचन असत्य एवं अभिमान की परिधि से रहित था।

[आगरित्तए-पुव्वतवेणं अज्जो देवा देवलोएसु उववज्जंति पुव्वसंजमेणं कम्मियाए संगियाए अज्जो। देवा देवलोएसु उववज्जंति - न० ।। ६०. अविसेसियं - पु० पा० ।। ६१. समियं - पु० अमो० ।। ६२. °या पलिउज्जिय जाव - अमो०। आउज्जिय - पा० ।। ६३ पि य णं - वे० ।। ६४. भासामि - पा० न० ।। ६५. °ति कम्मियाए देवा - पा०। °ति संजमेण, कम्मियाए - लों० ला० ला ३ ।।

पर्युपासना का फल—

उत्थानिका—

तु'गिका नगरी के वर्णन में साधु-सेवा का वर्णन किया गया था। तु'गिका के श्रावक किस प्रकार साधु और श्रावक की सेवा में तन्मय रहते थे, एतद् विषयक बतलाया गया। किन्तु साधु और श्रावक को सेवा करने से क्या लाभ होता है इस विषय में नही बतलाया गया।

सेवा करने से क्या लाभ होता है ? यह बतलाया जा रहा है।

(I) [1]तहारूवं णं भंते ! समणं [2]वा माहणं वा पज्जुवासमाणस्स किं फला पज्जुवासणा ?
गोयमा ! सवणफला।
(II) [3]से णं भंते ! सवणे किंफले ?
णाणफले।
(III) [4]से णं भंते ! नाणे किंफले ?
विण्णाणफले।
(IV) से णं भंते ! [5]विण्णाण [6]किंफले ?
पच्चक्खाणफले।
(V) से णं भंते ! [7]पच्चक्खाण किंफले ?
संजमफले।
(VI) से णं भंते ! संजमे किंफले ?
[8]अणण्हयफले।
(VII) एवं अणण्हए तवफले। तवे [9]वोदाणफले। वोदाणे अकिरियाफले।
(VIII) [10]से णं भंते ! अकिरिया किंफला ?

(८८) (१) भगवन् ! तथारूप श्रमण या माहन की पर्युपासना करने वाले मनुष्य को उसकी पर्युपासना का क्या फल मिलता है ?
गौतम ! श्रवण (सत्-शास्त्र श्रवण रूप) फल मिलता है।
(ii) भगवन् ! उस श्रवण का क्या फल होता है ?
गौतम ! श्रवण का फल ज्ञान है।
(iii) भगवन् ! उस ज्ञान का क्या फल है ?
गौतम ! ज्ञान का फल विज्ञान है।
(iv) भगवन् ! उस विज्ञान का क्या फल है ?
गौतम ! विज्ञान का फल प्रत्याख्यान है।
(v) भगवन् ! उस प्रत्याख्यान का क्या फल है ?
गौतम ? प्रत्याख्यान का फल संयम है।
(vi) भगवन् ! संयम का क्या फल है ?
गौतम ! संयम का फल अनाश्रवत्व है। (संवर है)
(vii) इसी तरह अनाश्रवत्व (संवर) का फल तप है तप का फल व्यवदान है (कर्मनाश) है और व्यवदान का फल अक्रिया है।
(viii) भगवन् ! उस अक्रिया का क्या फल है ?

सू ८८— १. तहारूवेणं - अमो० ॥ २. ०वा पज्जुवासमाणस्स - अमो० ॥ ३. °ले ? गोयमा णाण० - अमो० ॥ ४. ४. ०ले ? गोयमा विण्णाण० - अमो० ॥ ५. विण्णाणे - अमो० न० बे० म० ॥ ६. ०ले ? गोयमा पच्च० - अमो० ॥ ७. पच्चक्खाणे - पु० अमो० घा० न० बे० म० ॥ ८. ०ले। से णं भंते अणण्हए किं फले तवफले। से णं भंते तवे

सिद्धिपज्जवसाणफला पण्णत्ता गोयमा! गाहा । सवणे णाणे य विण्णाणे पच्चक्खाणे य संजमे । अणण्हये तवे चेव वोदाणे अकिरिया सिद्धी ॥

गौतम ! अक्रिया का अन्तिम फल सिद्धि है। (पर्युपासना का फल) श्रवण, (इसका फल) ज्ञान, (ज्ञान का फल) विज्ञान, (विज्ञान का फल) प्रत्याख्यान (प्रत्याख्यान का फल) संयम (संयम का फल) अनाश्रवत्व, (अनाश्रवत्व का फल) तप (तप का फल) व्यवदान, (व्यवदान का फल) अक्रिया और (अक्रिया का फल) सिद्धि है।

विवेचन—

मूल पाठ में तथारूप श्रमण माहण की सेवा करने का लाभ पूछा गया है।

तथारूप का अर्थ यह है कि जिस प्रकार का बाह्य परिधान है, वैसे ही जीवन वाला हो। साधु वेश में रहने वाले साधक में वेप के अनुसार गुण होने पर ही वह तथारूप श्रमण कहलाता है। जो जगत के समस्त खेद–दुःख को समझता है अर्थात् यह जानता है कि जैसा कष्ट मुझे होता है, वैसा ही संसार के समस्त प्राणियों को भी होता है। अतः वह ऐसा कोई भी कार्य नहीं करता, जिससे अन्य प्राणियों को कष्ट हो इस प्रकार सभी के साथ आत्मीय व्यवहार रखने वाला श्रमण होता है।

'माहन' शब्द से तात्पर्य श्रावक से है। इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार की जाती है–स्वयं हनन–निवृत्तत्वाद् परं प्रति माहन माहन वदति इत्येवं शीलः–जो स्वयं हिंसा से निवृत्त होकर दूसरों को भी जीव हनन करने का निषेध करता है, वह माहन होता है।

शुद्ध चारित्र वाले श्रमण अथवा माहन की पर्युपासना करने वाले को उत्तरोत्तर दस बातों की प्राप्ति होती है।

जिनका निर्देश मूलपाठ के साथ संक्षिप्त रूप से गाथा में भी किया गया है। विवेचन इस प्रकार है।

(१)-सवणे– शुद्ध चारित्र की आराधना करने वाला श्रमण हो या माहन (श्रावक) उसकी पर्युपासना करने वाले को शास्त्र श्रवण की प्राप्ति होती है। क्योंकि वे श्रमण या माहन धर्म का उपदेश करते है जो कि सुनने को मिलता है।

कि फले ? वोदाणफले। से ण भंते वोदाणे कि फले अकिरियाफले - म० ॥ ९. ०ले से णं भंते वोदाणे किं फले वोदाणे अकिरिया० - धा० ॥ १०. मा णं - धा० म० ॥ ११. किफले - अमो० ॥ १२. अणण्हए - न० ॥

(२) णाणे– ज्ञान– उस श्रवण से बोध रूप ज्ञान मिलता है ।

(३) विण्णाणे– विज्ञान– श्रुत बोध होने पर विशेष ज्ञान रूप हेय त्यागने योग्य और उपादेय ग्रहण करने योग्य पदार्थों का बोध होता है ।

(४) पच्चक्खाणे– प्रत्याख्यान- हेय– उपादेय का ज्ञान होने पर वह हेय पदार्थो का प्रत्याख्यान त्याग कर देता है ।

(५) संजम–संयम– प्रत्याख्यान करने पर संयम की उपलब्धि होती है ।

(६) अणण्हय–अनाश्रव– संयम से अनाश्रव कर्मों का आगमन रुकता है ।

(७) तवे-तप– कर्म बंधन रुकने पर जीव को १२ प्रकार के तपों में प्रवृति होती है ।

(८) वोदाणे– व्यवदान तपकरने से पूर्वकृत कर्मों का नाश होता है । आत्मा शुद्ध रूप में प्रकट होती है ।

(९) अक्रिय-अक्रिया- जब कर्मो का आगमन रुक जाता है और पूर्वकर्मो का नाश हो जाता है तब आत्मा अक्रिय–मन वचन, काया के व्यापार से रहित हो जाती है ।

(१०) सिद्धि– जब योगों का निरोध प्रारम्भ हो जाता है तो आत्मा अ० इ उ० ऋ, लृ इन पांच ह्रस्व अक्षरो के उच्चारण करने में जितना समय लगता है, उतने समय में सिद्ध अवस्था प्राप्त हो जाती है ।

प्रस्तुत मूल पाठ मे श्रमण और माहन (श्रावक) की सेवा करने से श्रवण फल से लेकर पर्यवसान- मोक्ष तक की प्राप्ति होना बतलाया है । 'साधु से अतिरिक्त सभो कुपात्र है । कुपात्र को दिया गया दान पाप बंधन का कारण है ।' इस सिद्धात को मानने वालो का कहना है कि श्रावक भो अव्रत में है । अतः उसको दान देने से मोक्ष को प्राप्ति तो बहुत दूर पुण्यबंधन भी नहीं होता है ।

उनका यह कथन प्रस्तुत शास्त्र से बिलकुल विपरीत जाता है । उपर्युक्त मूल पाठ में जिस प्रकार तथारूप श्रमण को सेवा का फल श्रवण से लेकर मोक्ष तक बतलाया है । उसी प्रकार माहन श्रावक की सेवा करने का फल भो यही बतलाया है ।

इस पर यदि कोई यह कहे कि यहां तो श्रमण–साधु को सेवा करने का फल मोक्ष प्राप्ति तक बतलाया है । श्रावक को सेवा का नही । उनका यह कथन उक्त पाठ एवं टोका से विपरीत जाएगा ।

टीकाकार ने स्पष्ट लिखा है—"श्रमण: साधु माहन: श्रावक: ।"
श्रमण नाम साधु का है और माहन नाम श्रावक का ।

शतक एक उद्देशक सात मे आए हुए माहन शब्द का अर्थ भी श्रावक ही लिया है। यथा— "तहारूवस्स समणस्स वा माहणस्स वा अन्तिए एगमवि आरियं धम्मं सुवयणं सोच्चा।"

टीका—माहणस्स त्ति माहनइत्येवमादिशति स्वयं स्थूल प्राणतिपातादि निवृत्तत्वाद्यः स माहनः।

जो स्वयं स्थूल प्राणातिपात आदि से निवृत होकर अन्य को नही मारने का उपदेश देता है वह "माहन" कहलाता है।

श्रावक ही स्थूल प्राणातिपातादि से निवृत होता है, साधु तो सर्वथा प्राणातिपातादि से निवृत हो जाता है। अतः उपर्युक्त मूल पाठ के अनुसार माहन से श्रावक अर्थ ही सिद्ध होता है।

श्रावक की सेवा करने से मोक्ष तक की प्राप्ति शास्त्रकारों ने बतलाई है।

श्रावक के धर्मोपदेश से अनेक प्राणियों ने अपना कल्याण किया है। जितशत्रु राजा ने सुबुद्धि श्रावक के धर्मोपदेश से सम्यक्त्व और बारह व्रत का लाभ प्राप्त किया था। ऐसे श्रावक को कुपात्र कहना और अन्य आदि के द्वारा उनकी सेवा करने में एकान्त पाप बताना असत्य है।

इसी बात का स्पष्टीकरण स्थानांग सूत्र के दशवें स्थान से हो जाता है। दसवें ठाणे में प्रवचन वत्सलता से भविष्य में कल्याण होना बतलाया है। टीकाकार ने प्रवचन वत्सलता का अर्थ करते हुए लिखा है—"प्रकृष्टं प्रशस्तं प्रगतं वा वचनं आगमः प्रवचनं द्वादशागमं।

तदाधारो वा संघस्तस्य वत्सलता हितकारिता प्रत्यनीकत्वादिनिरासनेति प्रवचन वत्सलतया।"

सबसे उत्तम आगम को प्रवचन कहते हैं वह प्रवचन द्वादशांग है। उस द्वादशांग के आधार भूत साधु साध्वी श्रावक श्राविकाओं को प्रवचन कहते हैं। उनके विघ्न आदि हटाकर उनका हित संपादन करना प्रवचन वत्सलता है। इससे जीव का भविष्य में कल्याण होता है।

यहां पर साधु साध्वी की तरह ही श्रावक श्राविका का हित करना भी भावी कल्याण के लिये कहा है। यदि श्रावक-श्राविकाएं आदि कुपात्र होते तो उनको रक्षा करने से शास्त्रकार भावी कल्याण नहीं बतलाते।

उत्तराध्ययन सूत्र के अट्ठाइसवें अध्ययन में भी यही बात पुष्ट की गई है। वहां पर सहधर्मी भाई के द्वारा उचित सत्कार-सम्मान करना सम्यक्त्व के आठ आचारों मे से एक आचार बतलाया है।

वह गाथा निम्न है—

निस्संकिय निक्कंखिय निव्वितिगिच्छं अमूढदिट्ठी य।
उववूह थिरीकरण वच्छल्लपभावणेऽट्ठे ते॥

ये सम्यक्त्व के आठ आचार हैं— १— सर्वज्ञ भाषित आगम में देश से या सर्व से शंका नहीं

करना।

२– सर्वज्ञ भाषित आगम से भिन्न शास्त्र की इच्छा नहीं करना।

३– धर्मकरणी के फल में संदेह नही करना।

४– कुतीर्थी को धनवान देखकर उसके धर्म को श्रेष्ठ और स्वधर्म को निकृष्ट नहीं मानना।

५– ज्ञान–दर्शन संपन्न पुरुष की प्रशंसा करना।

६– धर्माचरण में कष्ट पाते हुए पुरुष को धर्म में स्थिर करना।

७– अपने सहधर्मी भाई का आहार-पानी से यथोचित सत्कार करना।

८– अपने धर्म की उन्नति का सदा प्रयत्न करना।

प्रस्तुत गाथा में सहधर्मी भाई का आहार पानी से उचित सत्कार करना सम्यकत्व के आचार का पालन करना–बतलाया है। अतः श्रावक की सेवा एकान्त पाप में नही है। अपितु सम्यक्त्व के आचार का पालन करना है।

कई व्यक्ति सहधर्मी शब्द का अर्थ साधु लगाते हैं, श्रावक नही। और कहते है–साधु का उचित सत्कार-सम्मान करना सहधर्मवत्सलता है।[1]

सहधर्मी शब्द से साधु अर्थ ही लेना-शास्त्र से बिलकुल असंगत है। सहधर्मी का अर्थ होता है समान धर्म वाले। साधु के समान धर्मी साधु सहधर्मी होते है। श्रावक के समानधर्मी श्रावक सहधर्मी होते हैं।

शतक बारह उद्देशक प्रथम में भी स्पष्ट बतलाया है कि सहधर्मी श्रावक सहधर्मी श्रावक को अशनादि का भोजन कराता हुआ पौषधधर्म की पुष्टि करता है। जैसा कि मूल पाठ है–

"तएणं अम्हे तं विपुलं असण पाणं खाइमं मं साइमं
आसएमाणा विस्साएमाणा परिभाएमाणा परिभुंजेमाणा
पक्खियं पोसहं पडिजागरमाणा विहरिस्सामो।"

शंख श्रावक ने कहा– हे देवानुप्रिय आप विपुल अशन पान, खादिम, स्वादिम तैयार करवाएं। हम लोग चतुर्विध आहार कर पौषध करेंगे।

टिप्पणी— १– अने साधर्मी पिण साधु साध्वियो ने इज कह्याछे।
किणहिक देशलोकरूढ भाषाई श्रावकों ने साधर्मी
कहि बोलाविये छैं. ते रूढ भाषाई नाम छै।" (भ्रम विध्वंसन पृष्ठ २६१)

इस पाठ से सहधर्मी भाई को भोजन कराना पौषध धर्म का पोषक माना गया है। अतः सहधर्मी को अशनादिक भोजन कराकर उनकी धर्मरुचि बढ़ाना एकान्त पाप नहीं है।

उपर्युक्त अनेक प्रमाणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि साधु से अतिरिक्त सभी कुपात्र नहीं है। श्रावक भी श्रावक का सहधर्मी है। वह अपने सहधर्मी को भोजनादि कराकर धर्म की ओर सन्मुख होने की प्रेरणा कर सकता है। साधु से अतिरिक्त को कुपात्र मानने वाले व्याख्याकार ने भी कहा है कि भोजन कर के पाच आश्रव का त्याग करने से धर्म की पुष्टि होती है।[1]

अतः अपने सहधर्मी भाई को आहारादि कराने में एकान्त पाप नहीं है। उपर्युक्त मूल पाठ में तो माहन श्रावक की सेवा करने वालों को भी मुक्ति तक की प्राप्ति होना बतलाया है।

श्रावक की पर्युपासना मे धर्म नहीं मानने वालों ने अम्बड़जी को शिष्यो द्वारा की गई वन्दना को धर्म रहित माना है। और उस कार्य को भरत राजा के द्वारा की गई चक्र रत्न की पूजा की तरह कहा है।[2]

इस प्रकार शिष्यों के द्वारा अम्बडजी को की गई वन्दना का भरत राजा के द्वारा की गई चक्र पूजा के साथ तुलनात्मक कथन करना, शास्त्र से बिलकुल असंगत है।

चक्ररत्न तो प्रत्यक्षतः स्थावर, एकेन्द्रिय और मिथ्यात्वी है। उसकी पूजा करना मिथ्यात्व की पूजा करना है जो कि सम्यक्दृष्टि के लिये धर्म का कारण नहीं है। परन्तु अम्बडजी सम्यक्दृष्टि और बारह व्रतधारी श्रावक थे। उनको किया गया वन्दन सम्यग्दृष्टि और श्रावकत्व को था। चक्र पूजा की तरह लौकिक रीति के परिपालनार्थ नहीं था।

अतः चक्रपूजा का दृष्टान्त देकर अम्बडजी के वन्दन को लौकिक पूजा की तरह बताना, शास्त्र से सर्वथा विपरीत है।

उपर्युक्त पाठ से यह स्पष्ट हो जाता है कि साधु के अतिरिक्त सभी कुपात्र नहीं है। श्रावक की पर्युपासना करने में भी मुक्ति तक प्राप्त हो सकती है।

प्रश्न— भगवती शतक १२ उद्देशो पहलो संख पोखलीजी कह्यो जीमी ने पोसह करस्यां ते किम् इतिप्रश्न ?

उत्तर— भगवती शतक ७ उद्देशा २ बारह व्रतो में इग्यारह्वां व्रत नाम पोसहोववासे कह्यो, ते माटे जीमिनी— पांचआश्रवत्याग ते धर्म नी पुष्टिमाटे पोसह कह्यो ते व्रत दशमो छैपिण ग्यारहमोनही। (प्रश्नोत्तर सार्ध शतक का ५८ वां प्रश्नोत्तर)

२— इहां चक्ररत्न उपनो तिहां भरतजी इमो विनयकीधो।
पछे चक्र रने यावी पूजा कीधी, ते संसार रीते पण धर्म हेते नहीं।
तिम अम्बड ने चेलां पिण आपरो निज गुरु जाणी, गुरुनी नोति साचवी, पिण धर्म न जाण्यो।
(भ्रम विध्वंसन पृष्ठ २८१)

उत्थानिका—

राजगृह के गर्म जल के स्रोत का निर्णय—

पूर्व प्रकरण में तथारूप श्रमण-माहन की सेवा का फल बतलाया । सच्चे श्रमण यथातथ्य का निर्णय करते हैं । किन्तु जो बाह्य वेश को लेकर चलने वाले साधक आन्तरिक साधुता से रहित होते हैं, उनके वचन में सत्यता नहीं होती । ऐसे ही अन्यतीर्थिक का वर्णन गर्म पानी के कुण्ड विषयक निर्णय के साथ यहां बतलाया जा रहा है ।

सू. ८९ अण्णउत्थिया णं भंते ! [१]एवमाइक्खंति [२]भासेंति [३]पण्णवेंति [४]परूवेंति-एवं खलु रायगिहस्स [५]नगरस्स बहिया [६]वेभारस्स पव्वयस्स अहे एत्थ णं महं एगे [७]हरए [८]अप्पे [९](अधे) पण्णत्ते, अणेगाइं जोयणाइं आयाम-विक्खंभेणं [१०]नाणादुम-संडमंडिउद्देसे [११]सस्सिरीए [A]जाव [१२]पडिरूवे । तत्थ णं बहवे [१३]ओराला बलाहया संसेयंति [१४]सम्मुच्छंति वासंति [१५]तव्वतिरित्ते य णं सया [१६]समियं [१७]उसिणे उसिणे [१८]आउकाए अभिनिस्सवइ । से [१९]कहमेयं भंते ! एवं ?

(८९) भगवन् ! अन्यतीर्थिक इस प्रकार कहते हैं, भाषण करते है बतलाते है और प्ररूपणा करते है कि राजगृह नगर के बाहर वैभारगिरि के नीचे एक महान् पानी का कुण्ड है । उसकी लम्बाई-चौडाई अनेक योजन है । उसका अगला भाग अनेक प्रकार के वृक्षसमूह से सुशोभित है वह —सुन्दर है यावत् प्रतिरूप है । उस द्रह में अनेक उदार मेघ उत्पन्न होते हैं, बरसते हैं इसके अतिरिक्त उसमे से सदा परिमित गम गर्म जल झरता रहता है । इस प्रकार का कथन कैसा है ? क्या यह कथन सत्य है ?

हे गौतम ! अन्य तीर्थिक जो इस प्रकार कहते हैं यावत् प्ररूपणा करते हैं कि राजगृह नगर के बाहर यावत् गर्म गर्म जल झरता रहता है, यह सब वे मिथ्या कहते हैं ।

सूत्र ८९ — एवमातिक्ख० - पु० ॥ २. भासंति - पु० अमो० घा० न० ॥ ३. पण्णवंति - अमो० ॥ ४. परूवंति-
५. नयरस्स - अमो० घा० न० ॥ ६. ०स्स अहे एत्थ - घा० ॥ ७. हरगे - ता० । 'क्वचित तु हरए त्ति न दृश्यते - अवृ० ॥ ८. अघे पण्ण० - वे० न० । "अघे त्ति अघाभिधानः । 'अघे ह्रदस्य च स्थाने अप्पे त्ति दृश्यते । तत्र च आप्यः - अपां प्रभवः हृद एवं - अवृ ॥ ९. अहे - घा ॥ १०. ०मंडितउद्देसे - पु० । ०मखंडमंडित° - अमो० घा० ॥ ११. सस्सिरिए - घा० ॥ १२. पडिरूपे - म० ॥ १३. उदारा - अमो० । उराल्लावला० - घा० ॥ १४. सम्मुच्छिति - पु० । संमुच्छियंति - अमो० । समुच्छंति - घा ॥ १५. °रित्ते वि य णं - अगो० । तव्वइरित्ते य - घा० । तव्वइरित्ते - न० ॥ १६. समिओ - पु० घा० । समिडं - अमो० ॥ १७. ०णे आउ० - अमो० ॥ १८. आउए - ला० ला २-३ । आउयाए-
A. पासादीए दरिसणिज्जे अभिरूवे ॥

गोयमा ! [२०] ते अण्णउत्थिया [२१]एवमाइक्खंति जाव जे ते [२२]एवं परूवेंति मिच्छं ते [२३]एवमाइक्खंति जाव सव्व [२४]नेयव्वं । अहं पुण [२५]गोयमा ! [२६]एवमाइक्खामि [२७]भासेमि, पण्णवेमि परूवेमि-एवं खलु रायगिहस्स [२८]नगरस्स बहिया [२९]वेभारस्स [३०]पव्वयस्स अदूरसामंते एत्थ [३१]णं [३२]महातवोवतीरप्पभवे नामं पासवणे पण्णत्ते, [३३]पंचधणुसयाणि आयाम-विक्खंभेणं [३४]नाणादुमसंडमंडिउद्देसे [३५]सस्सिरीए [३६]पासादीए दरिसणिज्जे अभिरूवे पडिरूवे । तत्थ णं बहवे [३७]उसिणजोणिया जीवा य पोग्गला य [३८]उदगत्ताए वक्कमंति विउक्कमंति चयंति [३९]उववज्जति [४०]तव्वतिरित्ते वि [४१]य णं सया [४२]समितं उसिणे उसिणे आउयाए [४३]अभिनिस्सवइ-एस णं [४४]गोयमा ! [४५]महातवोव-

किन्तु हे गौतम ! मैं इस प्रकार कहता हूं बतलाता हूं और प्ररूपणा करता हूं । राजगृह नगर के बाहर वैभारगिरी के निकटवर्ती एक महातपोपतीर प्रभव नामक झरना बताया गया है। वह लम्बाई चौड़ाई में पांच सौ धनुष है । उसके आगे का भाग अनेक प्रकार के वृक्ष समूह से सुशोभित है सुन्दर है प्रसन्नताजनक है दर्शनीय है रमणीय है और प्रतिरूप है । उस झरने में बहुत से उष्णयोनिक जीव और पुद्गल जल के रूप में उत्पन्न होते हैं, नष्ट होते है, च्यवते है और उपचय (वृद्धि) को प्राप्त होते है, इसके अतिरिक्त उस झरने में से सदा परिमित गर्म गर्म जल (अप्काय) झरता रहता है । हे गौतम ! यह महातपोपतीर-प्रभव नामक झरना है । और हे गौतम ! यही महातपोपतीर प्रभव नामक झरने का अर्थ है : हे भगवान् ! यह इसी प्रकार है । यों

ला १-४ ॥ १९. ०मेतं - वे० म० । कयमेयं - लो० ॥ २० जगं ते - अमो० । जे णं - लो० ॥ २१. एवमातिक्ख० - पु० ॥ २२. एव माइक्खंति मिच्छंते एवं माइक्खंति ॥ अहं - अमो० न० । एवं आइक्खति मिच्छंते एव माइक्खति जाव - धा० ॥ २३. ०क्खति अहं पुण - ला २ । मातिक्खति - पु० ॥ २४. नेयव्वं जाव - क० ता० गं० ॥ २५. गोतमा - वे० म० ॥ २६. ०मातिक्खामि - पु० ॥ २७. भासामि - अमो० धा० ॥ २८. णयरस्स - अमो० धा० न० ॥ २९. वेभारगव्वयस्स - पु० अमो० धा० ॥ ३० पव्वतस्स - वे० म० ॥ ३१. णं महं महा० - लो० ला० ला ३ ॥ ३२. महंमहा० - ला ४ । महातवोतीरप्पभ० - लो० जे० ला० २ ॥ ३३. ०सयाई - अमो० धा० म० । ०सताणि - वे० म० ॥ ३४ दुमसंडमंडि० - अमो० । ०दुमसंडमंडितउद्देसे - धा० ॥ ३५. सस्सिरिए - अमो० ॥ ३६. पासाइए - पु० ॥ ३७. ०जोणीया - ला ३ अ० ता० मं० म० । उसुण जोणीया - वृ० ॥ ३८. उदत्ताए - ता० ॥ ३९. उववयंति - अमो० धा० अ० द० ॥ ४०. तव्वइरित्ते - धा० न० ॥ ४१ वि यत्थ णं - लो० ला १ ॥ ४२. समियं - पु० अमो० न० । समिअं - धा० ॥ ४३. ०वई - धा० । ०वति - वे० म० ॥ ४५. ०तवोतीरप्पभ० - लो०

[46]तीरप्पभवे [47]पासवणे, एस णं गोयमा ! [48]महातवोवतीरप्पभवस्स पासवणस्स अट्ठे पण्णत्ते ।

सेवं भंते ! २ त्ति [49]भगवं गोयमे समणं भगवं महावीरं [50]वंदति नमंसति ।

॥ बितीय सए पंचमो उद्देसो समत्तो ॥

कहकर भगवान् गौतम स्वामी श्रमण भगवान् महावीर स्वामी को वन्दन नमस्कार करके यावत् विचरण करने लगते हैं ।

॥ द्वितीय शतक का पांचवां उद्देशक समाप्त ॥

विवेचन—

राजगृह नगर बाहर वैभारगिरि नामक पर्वत के नीचे अनेक योजन आयाम विष्कंभ वाला एक कुण्ड है । जिसका ऊपरी भाग विविध वृक्षों से सुशोभित रहता है । उसमें बहुत से मेघ (बादल) गिरते है बरसते हैं । जब कुण्ड पानी से परिपूर्ण हो जाता है, तब उसमें से गरम-गरम पानी बाहर निकलता है । इस कथन की सत्यता को जानने के लिये जब गौतम स्वामो ने भगवान् महावीर से प्रश्न किया तो महावीर स्वामो ने फरमाया—गौतम ! उन अन्यतीर्थिको का कथन मिथ्या है । मै अपने केवलालोक में जो स्पष्ट रूप से देखता हूँ वही प्ररूपित विवेचित करता हूँ ।

उस गर्म पानी के कुण्ड का नाम महातपोपतीर प्रभव नामक झरना है । इसका तात्पर्य यह है कि बहुत उष्ण प्रदेश के पास जिसकी उत्पत्ति हो उसे महातपोपतीर प्रभव कहते हैं । वह झरना वैभार पर्वत के नीचे में नही अपितु उसके सन्निकट है । उष्ण योनिक जीवों की उत्पत्ति होने से तथा नष्ट होने से उसका पानी उष्ण रहता है ।

झरने की लम्बाई—चौड़ाई ५०० धनुष प्रमाण है ।

उस झरने से अपरिमित रूप से पानी का प्रवाह नहीं झरता, किन्तु जब वह पूर्ण हो जाता है, तब परमित रूप से पानी का प्रवाह झरता है ।

भगवान महावोर के वचनों को गौतम सेवं भंते २ कहकर स्वीकार करते हैं तथा अपनी आत्मा को तप-संयम से भावित करते हुए विचरने लगते हैं ।

॥ द्वितीय शतक का पांचवा उद्देशक समाप्त ॥

जे० ला० ला २ । महातवोतीर० - क० ता० च० मं० ॥ ४६. ०मवस्स अट्ठे पण्णत्ते - अमो० ॥ ४७ पासवणं - पु० । पासवणो - घा० ॥ ४८. ०तवोतीरप्पभ० - लों० जे० ला० ला २ ॥ ४९ ति समण भगवं - घा० ॥ ५०. वंदइ नमंसइ - अमो० घा० न० ॥

शतक-द्वितीय-उद्देशक षष्ठ

भाषा पुदगल

प्राथमिक

अखिल विश्व में मुख्यतया दो ही पदार्थ हैं—जड़ और चैतन्य। इन दो तत्वों में सम्मिश्रण से ही सृष्टि का विविध रूप दृष्टि पथ पर आता है। भाषा पर्याप्ति से पर्याप्तजीव जब वाक् प्रयोग करता है भाषावर्गणा के पुद्गलों को शक्ति विशेष से खीचकर भाषा रूप में परिणत करके छोड़ता है तब वह भाषा, भाषा पुद्गल के रूप में बाहर आती है। उसे जब कर्ण शक्ति ग्रहण करती है तभी सामने वाला श्रोता कही गई बात को श्रवण कर सकता है उन भाषा के पुद्गलों को आज की भाषा में (Mater) मेटर कहा जाता है।

शक्ति विशेष के साथ छोड़े गए भाषा पुद्गल कभी-कभी लोक के अन्त तक पहुँच जाते हैं। ऐसा आगमों में विवेचित है।

जब तक शब्दों की पौद्गलिकता वैज्ञानिक धरातल पर प्रमाणित नही हुई थी तब तक कोई भी दार्शनिक, आधुनिक युग के चिन्तक इस बात को मानने के लिये तैयार नही थे। जैन धर्म के अतिरिक्त किसी भी धर्म में शब्दों की पौद्गलिकता स्वीकार नहीं की गई है।

बड़े-बड़े दार्शनिक कहलवाने वाले व्यक्ति जैनों की मजाक भी उड़ाया करते थे कि कैसी अज्ञानपूर्ण बात कही है, जैनियों के सिद्धान्तों में, जो शब्द बोलने वाले के ५०० कदम की दूरी पर स्थित व्यक्ति भी नही सुन सकता, तो शब्द लोक के अन्तिम स्थान तक कैसे जा सकते हैं ? कदापि नही।

आधुनिकता के प्रवाह में चलने वाले कुछ जैनियों की श्रद्धा भी इससे विचलित होने लगी। आज तो वैज्ञानिक स्तर पर शब्दों की पौद्गलिकता का अच्छी तरह से सिद्ध किया जा चुका है। वायरलेस के द्वारा किये गए शब्दों के प्रयोग हजारों मील दूरी पर स्थित व्यक्ति वायरलेस के माध्यम से उन शब्दों को सुन लेता है। रेडियो में आने वाले शब्द भी हजारों मील की दूरी से आते हैं।

आज के वैज्ञानिकों ने प्रमाणित कर दिया है कि जो भी व्यक्ति जो कुछ भी बोलता है वे शब्द मेटर (Matter) के रूप में वायुमण्डल में घूमते रहते है उन्हें प्रयत्न विशेष के द्वारा पकड़ कर पुन: सुना जा सकता है। ऐसे ही अनेक आविष्कार हो चुके है जो शब्द को पौद्गलिकता को बतलाते हैं।

सर्वज्ञ-सर्वदर्शियों के वचन कभी भी असत्य नहो होते। वे जो कुछ भी कहते हैं वह सब केवलालोक में स्पष्ट रूप से देखा और जाना हुआ कहते है। कई सिद्धांत ऐसे होते है जो छद्मस्थों के बुद्धिगम्य नही होते। एतावता उनको नकारा नहीं जा सकता।

यद्यपि आज के भौतिक विज्ञान का क्षेत्र भिन्न भिन्न है। किंतु जो आध्यात्मिक विज्ञान के रहस्य को न समझकर भौतिक विज्ञान की ओर ही दृष्टि जमाये हुए है जिनकी, दृष्टि में भौतिक विज्ञान का ही महत्व है, ऐसे व्यक्तियों को भौतिक विज्ञान के माध्यम से आध्यात्मिक विज्ञान का बोध कराया जाता है।

आधुनिक युग के विज्ञान का कोई स्थायी सिद्धाल नही होता। आज जिस चीज का आविष्कार हुआ है कल यदि वह गलत साबित हो जाएगा तो विज्ञान कल के आविष्कार को किंवा सिद्धान्त को छोड़ देगा। पुराने सिद्धांतों के विपरीत ज्यों ज्यो नए सिद्धातों का आविष्कार होता जाता है, त्यों त्यों पुराने सिद्धांत छोड़ दिये जाते हैं।

यह बात आध्यात्मिक विज्ञान में नहीं हैं। क्योंकि आध्यात्मिक विज्ञान किंवा जैन धर्म के प्रणेता कोई छद्मस्थ व्यक्ति नहीं है, जिससे कि उनके सिद्धांतों में असत्यता आ सके। आध्यात्मिक विज्ञान का प्रणयन सर्वज्ञ-सर्वदर्शी महापुरुषों ने किया है। अत: वे कभी भी असत्य नहीं हो सकते, नही उसमें कोई परिवर्तन हो सकता है।

भौतिक विज्ञान ने उन सर्वज्ञ–सर्वदर्शी के प्रतिपादित सिद्धान्तों के आधार पर जो कुछ भी आविष्कार किये है, उनमें से कुछ सिद्धान्त निम्न है। जिन्हें बतलाना भी अप्रासंगिक नहीं होगा।

१–आचारांग सूत्र में वनस्पति-पेड़-पौधों में जीवों का अस्तित्व बतलाया है। जाइधम्मयं वुड्ढिधम्मयं चित्तमंतयं आदि शब्दों के द्वारा वनस्पति की सचेतनता बतलाई गई है। इस बात को सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक जगदीशचन्द्र बसु ने अपने परीक्षणों के आधार पर सिद्ध कर दिया है। आज विज्ञान जगत ही नही सारा मानवजगत् वनस्पति की सचेनता को मान चुका है।

२–आगमों में समस्त द्रव्यों को अनादिकालीन माना है। यही बात प्रसिद्ध प्राणी शास्त्रवेत्ता जे० बी० एस० हाल्डन भी मानते है। उनका कहना है-मेरे विचार से जगत् की कोई आदि नहीं है।

३–शब्द के साथ ज्योति, ताप, आतप, अंधकार को भी जैनागमों मे पौद्गलिक माना है। विज्ञान ने भी इन्हें मेटर के रूप में स्वीकार किया।

४–प्रसिद्ध भूगर्भ वैज्ञानिक फ्रांसिस अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक "टेन इयर अन्डर अर्थ Ten years under earth में लिखते हैं कि मैंने पृथ्वी के ऐसे-ऐसे रूप भी देखे हैं जिससे पृथ्वी की सचेतनता प्राण-शक्ति झलकती है।

एच० टी० वर्सनपेन नामक वैज्ञानिक ने बतलाया है पृथ्वी, पर्वत भी बालक की तरह बढ़ते हैं। आज भी न्युगिनी नामक पर्वत बढ़ रहा है।

जैनागमों में तो पूर्व से ही पृथ्वी काय में जीवत्व की प्ररूपणा की जा चुकी है।

५– स्थानांग सूत्र मे बतलाया है कि स्त्री बिना संयोग के भी योनि में शुक्र पुद्गल चले जाने पर गर्भवती हो सकती है। आधुनिक विज्ञान वेताओं ने भी कृत्रिम गर्भाधान करके इस बात को सिद्ध कर दिया है।

६– भगवान् महावीर के गर्भस्थानान्तर को बहुत से लोग असंभव मानते हैं। किन्तु प्राणी शास्त्र वेता डा. चांग ने बोस्टन विश्वविद्यालय जैव रसायनशाला में गर्भस्थानान्तरण के द्वारा यह सिद्ध कर दिया है। अमेरिकन हिरनी के गर्भ बीज को एक अंग्रेजी हिरनी के गर्भ में स्थानान्तरित करने में उन्हें सफलता भी मिली है।

७– आगमों में जड़तत्वों को अशाश्वतता तथा आत्मा की अजरामरता प्रतिपादित की है। जिसे सुविख्यात वैज्ञानिक डाल्टन (Dolton) ने ला आफ कन्जरवेशन (Law of Conservation) द्वारा सिद्ध कर दिखाया है। यद्यपि आत्मा की सूक्ष्मता तथा गहनता तक विज्ञान नहीं पहुँच सका है।

८– आगमों के अनुसार द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा न कोई द्रव्य कम होता है न कोई बढ़ता है। मात्र द्रव्यों का एक दूसरे में रूपान्तरण होता रहता है। जो कि द्रव्य का पर्याय विशेष है।

वैज्ञानिक भी अब इसी तरह कहने लगे –हैं कि कोई भी पुद्गल मूलतः नष्ट नहीं होता, किन्तु वह एक दूसरे रूप मे (Form) परिवर्तित हो जाता है। वैज्ञानिक लोग इसे (Principal of Conservation of Mass & energy) कहते हैं।

९– जैनागमों में पानी की एक बूंद में असंख्य जीव होते हैं– ऐसा कहा है। आधुनिक विज्ञान वेत्ता केप्टिनक स्कवेसिबी ने भी एक बूंद में ३६४५० जीव बतलाए है। ये जीव सूक्ष्मवीक्षण यंत्र के द्वारा चलते फिरते दिखलाई देने वाले जीव हैं। जिन्हें जैनआगमों में त्रस जीव माना है। किन्तु सिद्धान्त की दृष्टि से एक बूंद में अप्कायिक असंख्य जीव होते हैं। जो कि आज के विज्ञान वेताओं की दृष्टि में नहीं आ सकते। परन्तु सामान्य जन जो एक बूंद में रहने वाले त्रसजीव भी नहीं देख सकते, ऐसे त्रस जीवों की पारगणना वैज्ञानिकों द्वारा की गई है। वैज्ञानिक यह भी मानते हैं कि ऐसे भी जीव होते है जो सूक्ष्मवीक्षण यन्त्र के द्वारा भी दिखलाई नहीं देते[1]

१– टिप्पणी : यह कथन हाईजिनीज ऑफ़ मिल्क बाइ दे मिलियन पैनिर्जन द्वारा १९४५ में प्रकाशित में मिलता है।

१०– जैन शास्त्रों में पुद्गल में अपरिमेय शक्ति वर्णित की है जो कि आज कुछेक रूप में एटम-बम अणुबम, उद्जनबम, डुम्मडे, आदि के द्वारा सामने आ रही है।

११– आगमों में वर्णन आता है कि एक धातु का दूसरी धातु मे परिवर्तन हो सकता है तथा प्रयत्न विशेष के द्वारा लोहे का सोने में परिवर्तन हो सकता है। आज के वैज्ञानिकों ने भी बतलाया है कि सोने के एक परमाणु में ७९ प्रोट्रोन्स (Protrons) तथा लोहे के परमाणु में ३६ प्रोट्रोन्स होते है। यदि प्रयत्न विशेष से दोनों की संख्या समान कर दी जाय तो लोहा सोने के रूप में बदल सकता है।

१२– जैनदर्शन का विलक्षण सिद्धान्त स्याद्वाद ही वैज्ञानिक जगत् में प्रसिद्ध वैज्ञानिक डा. अल्बर्ट आइस्टाइन के द्वारा प्रतिपादित थ्योरी आफ रिलेटिविटी के नाम से जाना जाता है।

१३– चलने में सहायक के रूप में जैनदर्शन धर्मास्तिकाय को मानता है। इसी तत्व की खोज में वैज्ञानिकों की दृष्टि में इथर तत्व आया है। (वैज्ञानिकों की खोज इस विषय में अभी भी जारी है)

१४– आगमों में परमाणु को स्थिर-अस्थिर दोनों रूप में स्वीकार किया है। वैज्ञानिकों ने भी हाइड्रोजन को ऐलेक्ट्रोन को बाहर और भीतर वृत में चल-विचल होते देखा है।

१५– जैनधर्म में हवा के अन्दर भी असंख्य जीवों की प्ररूपणा की गई है। आज के वैज्ञानिकों ने भी बतलाया है कि सूई के अग्रभाग जितने छिद्र मे जितनी हवा समा सके उसमें लाखों जीव होते हैं। जिन्हें वैज्ञानिक भाषा में थेक्सस कहा जाता है।

इस प्रकार एक नहीं अनेकों सिद्धान्त जैन धर्म के ऐसे हैं, जिन सिद्धान्तों के निकट आज का वैज्ञानिक जगत भी पहुँच चुका है। अर्थात् वे भी इन तथ्यों को मानने लगे हैं।

उपर्युक्त वैज्ञानिकों द्वारा प्रमाणित सिद्धांतों को बतलाने का उद्देश्य यह नहीं है कि ये सिद्धान्त ही प्रमाणित है, अन्य सब अप्रमाणित हैं। इसका तात्पर्य यह है कि जो सोना खरा होता है वह निश्चित कसौटी पर भी खरा ही उतरता है। जिस प्रकार सोने की खदान में से थोड़ा सा सोना निकालकर कसौटी पर कसा जाय और यदि सौ टंच खरा निकल जाय तो खदान के सारे सोने को शुद्ध सोना मान लिया जाता है।

अग्नि पर रखे १०० मन चांवलों के कच्चे और पक्के का परीक्षण करने के लिये एक दो चांवल ही दबाये जाते है। उसी से सौ मन चांवलों को परिपक्वता–अपरिपक्वता का ज्ञान हो जाता है।

जैन आगमों में वर्णित जो सिद्धान्त हैं वे तो स्वतः प्रमाण हैं ही। पर उनकी गहनता सामान्य जनता फिलहाल समझ नहीं पा रही है। उन सामान्य जनता को भी बोध कराने के लि

देशीय दृष्टान्त के तौर पर वैज्ञानिकों का उल्लेख किया गया है। हालांकि विज्ञान अपने आप में परिपूर्ण नहीं है। फिर भी इस दृष्टिकोण से फिलहाल कुछ सिद्धान्तों का दृष्टान्त देकर सामान्य जनता को शाश्वत सिद्धान्तों का उद्बोधन कराया जा सकता है।

इससे स्पष्ट है कि जैन सिद्धान्त बिलकुल साइंटिफिक है। आवश्यकता है उन्हें यथार्थ रूप में समझने की।

भाषा सम्बन्धी विवेचना में भी भाषा को पौद्गलिक बतलाया है। पूर्व उद्देशक में भाषा की सत्यता-असत्यता का वर्णन किया गया है। किन्तु भाषा क्या है इसका बोध जब तक नहीं हो जाता तब तक भाषा की उपादेयता का विज्ञान नहीं हो सकता। अतः प्रस्तुत उद्देशक में भाषा के विषय में विचार किया जा रहा है—

छट्ठो उद्देसो : भासा

भाषा का स्वरूप और उसका वर्णन—

सूत्र ९०. से णूणं भंते ! '[1]मन्नामी' ति [2]ओहारिणी [3]भासा ?
एवं [4]भासापदं भाणियव्वं ।
॥ बितीय सए छट्ठो उद्देसो समत्तो ॥

(९०) हे भगवान् । भाषा अवधारिणी है, क्या मै ऐसा मान लूं ?

हे गौतम ! उपर्युक्त प्रश्न के उत्तर में प्रज्ञापना सूत्र के ग्यारहवें भाषापद का समग्र वर्णन जान लेना चाहिए ।

॥ द्वितीय शतक का छठा उद्देशक समाप्त ॥

विवेचन—

जो बोली जाय उसे भाषा कहते हैं । इसके मुख्यतया चार भेद होते हैं ।

१– सत्यभाषा २– असत्यभाषा ३– मिश्रभाषा ४–व्यवहार भाषा ॥

सत्यभाषा— विद्यमान जीवादि पदार्थो को यथार्थ रूप में कहना सत्य भाषा है ।

असत्य भाषा— जो पदार्थ जिस रूप में नहीं है, उसे उस रूप के द्वारा कहना असत्य भाषा है ।

मिश्रभाषा—कुछ सत्य और कुछ असत्य यानि सत्यासत्य रूप से मिश्रित भाषा को मिश्र भाषा कहते हैं ।

व्यवहार भाषा— जो भाषा न सत्य है न असत्य है ऐसी आमंत्रण रूप को व्यवहार भाषा कहते हैं ।

जिस भाषा के प्रयोग से प्रयोगकर्ता अपने अभिप्राय को अन्य के समक्ष रख सके और अन्य भी उस भाषा के अभिप्राय को उसी रूप में समझ सके उसे व्यवहार भाषा कहा जा सकता है । उदाहरण के तौर पर किसी ने कहा घी काघट लाओ । सुनने वाला उस घट को ले आता है । शब्द व्युत्पत्तिकी दृष्टि से चिन्तन किया जाय तो घी का घट होता नहीं है घट तो मिट्टी का होवा है । किन्तु कहने वाले का

१. 'मन्नामि' इत्येवंरूपेण भाष्यमाणा भाषा इति भावः ॥ २. ओहारणी - अमो० । ओधारिणी - बे० म० । ०धारिणीति भा० - ला ३ ॥ ३. भासा ? भासापदं - अमो० लो० ॥ ४. As per apendix - पन्नवणा भाषापद ८३० से ९०० ॥

तात्पर्य यह होता है कि जिसमें घृत हो ऐसा घट। श्रोता इसी अभिप्राय को समझकर वैसे घटको लाता है इस प्रकार की भाषा भी व्यवहार भाषा की कोटि में आती है।

भाषा संबन्धी ज्ञान उपयोगी होने से प्रज्ञापना सूत्र के आधार पर उसका अठारह द्वारों के साथ विवेचन किया जा रहा है—

अठारह द्वार—

१– आदि द्वार २– उत्पत्ति द्वार ३– संस्थान द्वार ४– पर्यवसित द्वार ५– द्रव्यद्वार ६– क्षेत्रद्वार ७– कालद्वार ८– भावद्वार ९– दिशाद्वार १०– स्थिति द्वार ११– अन्तर द्वार १२– ग्रहण द्वार १३– निस्सरण द्वार १४– ग्रहणनिस्सरण द्वार १५– नाम द्वार १६– कारण द्वार १७– पर्याप्तिद्वार १८– अल्प बहुत्वद्वार ॥

१– आदिद्वार— भाषा की उत्पत्ति का मुख्य कारण जीव है। जीव के द्वारा प्रयत्न नहीं करने पर अन्यों को बोध उत्पन्न कराने वाली भाषा का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता।

२– उत्पत्ति द्वार— भाषा की उत्पत्ति औदारिक वैक्रिय और आहारक शरीर से होती है।

३– संस्थान द्वार— भाषा का संस्थान वज्राकार होता है। लोक का संस्थान वज्र के समान है। भाषा के द्रव्य भी सारे लोक में व्याप्त हो जाते हैं। अतः भाषा को भी वज्राकार कहा गया है।

४– पर्यवसितद्वार— पर्यवसित का अर्थ है अवसान (अन्त)। भाषा का पर्यवसान लोक का अन्तिम छोर है। उसके आगे भाषा द्रव्य गमन नहीं कर सकते। क्योंकि गमन का कारणभूत धर्मास्तिकाय का अभाव है। भाषा के वही पुद्गल लोकान्त तक जाते है, जो विशिष्ट शक्ति संपन्न पुरुष के द्वारा प्रयत्न विशेष के साथ छोड़े गए हों। अन्यथा भाषा सम्बन्धी पुद्गल संख्यात या असंख्यात योजन तक जाकर नष्ट हो जाते हैं।

५– द्रव्यद्वार— जीव भाषा का प्रयोग करने के लिये अनन्त प्रदेशी पुद्गल स्कंधों को ग्रहण करता है।

६– क्षेत्रद्वार— क्षेत्र की अपेक्षा से जीव असंख्यात आकाश प्रदेशों में अवगाढ़ अवग्रहीत पुद्गलस्कंधों को ग्रहण करता है।

७– कालद्वार— काल की अपेक्षा से जीव एक समय दो समय यावत् दस समय, संख्यात समय, असंख्यात समय वाले पुद्गल भाषा रूप में ग्रहण करता है।

८– भावद्वार— भाव की अपेक्षा वर्ण, गंध, रस, स्पर्श वाले पुद्गल भाषा रूप में ग्रहण किये जाते हैं।

९– दिशाद्वार— नियमत: छहों दिशाओं से आए हुए पुद्गल भाषा रूप में ग्रहण किये जाते है।

१०– स्थितिद्वार— भाषा की स्थिति जघन्य एक समय और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त होती है।

११– अन्तरद्वार— भाषा का अन्तर जघन्य अन्तर्मुहूर्त का उत्कृष्ट अनन्त काल का है।

१२-ग्रहणद्वार — जीव काया के द्वारा भाषा के पुद्गल ग्रहण करता है।

१३–निस्सरणद्वार— वचन योग के द्वारा भाषा के पुद्गल बाहर निकालता है।

१४– ग्रहण-निस्सरणद्वार—पहले समय में ग्रहण करता है। दूसरे और आगे के समयों में ग्रहण भी करता है और निकालता भी है। अन्त में सिर्फ निकालता ही है। इस प्रकार जघन्य दो समय में उत्कृष्ट असंख्यात समय प्रमाण अन्तर्मुहूर्त तक–निस्सरण करता है।

भाषा रूप संग्रहीत पुद्गलों को भिन्न और अभिन्न रूप से निकालना कहा है। इसके पांच भेद है—

१– खंडभेद २– प्रतरभेद ३– चूर्णिकाभेद ४– अनुतटिकाभेद ५– उत्करिकाभेद

१५- नामद्वार — भाषा के मुख्यतया चार भेद है—

१– सत्यभाषा २– असत्यभाषा ३– मिश्रभाषा ४– व्यवहारभाषा।

सत्य भाषा के दस भेद है—

१– जनपदसत्य २– सम्मतसत्य ३– स्थापनासत्य ४– नामसत्य ५– रूपसत्य ६– प्रतीत्यसत्य ७– व्यवहार सत्य ८– भावसत्य ९– योगसत्य १०– उपमा सत्य।

असत्य भाषा के दस भेद है—

१– क्रोधनि:सृत २– माननि:सृत ३–मायानि:सृत ४– लोभनि:सृत ५– प्रेमनि:सृत ६– द्वेषनि:सृत ७– हास्यनि:सृत ८ भयनि:सृत ९– आख्यायिका नि:सृत १०. उपघातनि:सृत।

मिश्र भाषा के दस भेद—

१– उत्पन्नमिश्रिता २– विगतमिश्रिता ३– उत्पन्नविगतमिश्रिता ४– जीवमिश्रिता ५– अजीव मिश्रिता ६– जीव अजीव मिश्रिता ७– अनन्त मिश्रिता ८– प्रत्येक मिश्रिता ९– अद्धा मिश्रिता १०– अद्धद्धा मिश्रिता।

व्यवहार भाषा के १२ भेद—

१– आमंत्रणी २– आज्ञापनी ३– याचनी ४– पृच्छनी ५– प्रज्ञापनी ६– प्रत्याख्यायनी ७– इच्छानुलोमा ८– अनभिगृहीता ९– अभिगृहीता १०– संशयकरणी ११– व्याकृता १२– अव्याकृता।

१६– कारणद्वार – ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम, मोहनीय कर्म के उदय और वचन योग से असत्य और मिश्र भाषा का प्रयोग किया जाता है। ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम और वचन योग से सत्य और व्यवहार भाषा का प्रयोग किया जाता है।

१७– पर्याप्तिद्वार –भाषा के दो प्रकार यह भी है—पर्याप्ति और अपर्याप्ति। प्रतिनियतरूप से जिसका निर्णय हो सके उसे पर्याप्ति भाषा कहते हैं। ऐसी भाषा सत्य और असत्य है। जिस भाषा के द्वारा प्रतिनियतरूप से निर्णय न हो सके उसे अपर्याप्ति कहते हैं। ऐसी भाषा मिश्र और व्यवहार है।

१८–अल्पबहुत्वद्वार—

१. सबसे कम सत्य भाषा के प्रवक्ता हैं।
२. उससे मिश्र भाषा के प्रवक्ता असंख्यातगुणा हैं।
३. उससे असत्यभाषा के प्रवक्ता असंख्यात गुणा हैं।
४. उससे व्यवहार भाषा के प्रवक्ता असंख्यातगुणा हैं।
५. उससे भी अभाषक अनंत गुणा है।[1]

॥ द्वितीय शतक-छठा उद्देशक समाप्त ॥

1– विस्तृत विवेचन के लिये ग्यारहवाँ भाषा पद अवलोकनीय है।

द्वितीय शतक सातवां उद्देशक

देव विवेचन

प्राथमिक

संसार के समस्त पदार्थों का ज्ञान तीन विभागों में विभक्त किया जाता है—हेय, ज्ञेय, उपादेय। जब तक किसी भी वस्तु का बोध न हो जाय तब तक उसके लिये न तो त्यागने के लिये ही कुछ कहा जा सकता है और न ही ग्रहण करने के लिये कुछ किया जा सकता है। अतः सर्वज्ञों ने फरमाया कि संसार की समस्त वस्तुएं ज्ञेय—जानने योग्य हैं। पहले उन वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त किया जाय। जब उनका ज्ञान हो तभी हेय पदार्थों से निवृत्ति और उपादेय पदार्थों में प्रवृत्ति हो सकती है। पूर्व षष्ठ उद्देशक में भाषा के सम्बन्ध में विस्तृत ज्ञान कराया गया था। जिसका बोध होने पर भव्य आत्मा असत्य भाषा से निवृत्त होकर सत्य भाषा में प्रवृत्ति करती है। सत्यवक्ता आत्मा, पुण्य को अर्जित कर देवलोक में भी गमन करती है। अतः प्रस्तुत उद्देशक में देवलोक सम्बन्धी वर्णन किया जा रहा है।

सत्तमो उद्देसो : देव

देवों के प्रकार, स्थान, उपपात, संस्थान आदि चर्चा—

सूत्र ९१ [1]कइ णं भंते ! देवा पणत्ता ? गोयमा ! चउव्विहा देवा पणत्ता, तं जहा-[2]भवणवइ – वाणमंतर–[3]जोतिस–वेमाणिया।

(९१) हे भगवन् ! देव कितने प्रकार के कहे गए हैं ?

हे गौतम ! देव चार प्रकार के कहे गए हैं। वे इस प्रकार हैं। भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक।

सूत्र ९१-९२— १. कतिविहा णं - पु० अमो० मु० अ० ता० मं०। कइविहा - पा०। कति णं - ला २-३-४॥ २.

१६– कारणद्वार – ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम, मोहनीय कर्म के उदय और वचन योग से असत्य और मिश्र भाषा का प्रयोग किया जाता है। ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम और वचन योग से सत्य और व्यवहार भाषा का प्रयोग किया जाता है।

१७– पर्याप्तिद्वार –भाषा के दो प्रकार यह भी है—पर्याप्ति और अपर्याप्ति। प्रतिनियतरूप से जिसका निर्णय हो सके उसे पर्याप्ति भाषा कहते हैं। ऐसी भाषा सत्य और असत्य है। जिस भाषा के द्वारा प्रतिनियतरूप से निर्णय न हो सके उसे अपर्याप्ति कहते हैं। ऐसी भाषा मिश्र और व्यवहार है।

१८–अल्पबहुत्वद्वार—

१. सबसे कम सत्य भाषा के प्रवक्ता हैं।
२. उससे मिश्र भाषा के प्रवक्ता असंख्यातगुणा हैं।
३. उससे असत्यभाषा के प्रवक्ता असंख्यात गुणा हैं।
४. उससे व्यवहार भाषा के प्रवक्ता असंख्यातगुणा हैं।
५- उससे भी अभाषक अनंत गुणा है।[1]

॥ द्वितीय शतक-छठा उद्देशक समाप्त ॥

१– विस्तृत विवेचन के लिये ग्यारहवां भाषा पद अवलोकनीय है।

द्वितीय शतक सातवां उद्देशक

देव विवेचन

प्राथमिक

संसार के समस्त पदार्थों का ज्ञान तीन विभागों में विभक्त किया जाता है—हेय, ज्ञेय, उपादेय। जब तक किसी भी वस्तु का बोध न हो जाय तब तक उसके लिये न तो त्यागने के लिये ही कुछ कहा जा सकता है और न ही ग्रहण करने के लिये कुछ किया जा सकता है। अतः सर्वज्ञों ने फरमाया कि संसार की समस्त वस्तुएं ज्ञेय—जानने योग्य है। पहले उन वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त किया जाय। जब उनका ज्ञान हो तभी हेय पदार्थों से निवृत्ति और उपादेय पदार्थों में प्रवृत्ति हो सकती है। पूर्व षष्ठ उद्देशक में भाषा के सम्बन्ध में विस्तृत ज्ञान कराया गया था। जिसका बोध होने पर भव्य आत्मा असत्य भाषा से निवृत्त होकर सत्य भाषा में प्रवृत्ति करती है। सत्यवक्ता आत्मा, पुण्य को अर्जित कर देवलोक में भी गमन करती है। अतः प्रस्तुत उद्देशक में देवलोक सम्बन्धी वर्णन किया जा रहा है।

सत्तमो उद्देसो : देव

देवों के प्रकार, स्थान, उपपात, संस्थान आदि चर्चा—

सूत्र ९१ [1]कइ णं भंते! देवा पणत्ता? गोयमा! चउव्विहा देवा पणत्ता, तं जहा-[2]भवणवइ - वाणमंतर-[3]जोतिस-वेमाणिया।

(९१) हे भगवन्! देव कितने प्रकार के कहे गए हैं?

हे गौतम! देव चार प्रकार के कहे गए हैं। वे इस प्रकार हैं। भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक।

सूत्र ९१-९२— १. कतिविहा णं - पु० अमो० मु० अ० ता० सं०। कइविहा - घा०। कति णं - ला २-३-४॥ २,

सूत्र ९२ [4]कहि णं भंते ! [5]भवणवासीणं देवाणं ठाणा पणत्ता ?

गोयमा ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए जहा [6]ठाणपदे देवाणं वत्तव्वया सा [7]भाणियव्वा[8] । [9]उववाएणं लोयस्स [10]असंखेज्जइभागे । एवं सव्वं भाणियव्वं जाव [11]सिद्धगंडिया [12]समत्ता ।

"[13]कप्पाणं [14]पइट्ठाणं [15]बाहल्लुच्चत्तमेव संठाणं ।"

[16]जीवाभिगमे जो [17]वेमाणियुद्देसो[18] सो [19]भाणियव्वो सव्वो ।

॥ बितीय सए सत्तमो उद्देसो समत्तो ॥

(९२) हे भगवन् ! भवनवासी देवों के स्थान कहां पर कहे गए है ?

हे गौतम ! भवनवासी देवों के स्थान इस रत्नप्रभा पृथ्वी के नीचे हैं । इत्यादि देवों की सारी वक्तव्यता प्रज्ञापना सूत्र के दूसरे स्थानपद में कहे अनुसार जाननी चाहिये किन्तु विशेषता इतनी है कि यहां पर भवनवासियों के भवन कहने चाहिये । उनका उपपात लोक के असंख्यातवे भाग में होता है । कल्पों का प्रतिष्ठान उनकी मोटाई, ऊँचाई और संस्थान आदि का सारा वर्णन जीवभिगमसूत्र के वैमानिक उद्देशक पर्यन्त कहना चाहिए ।

॥ द्वितीय शतक का सातवा उद्देशक समाप्त ॥

विवेचन—

मुख्यतया देव चार प्रकार के होते हैं-भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक ।।

भवनपति देवों का निवास अधोलोक मे १ लाख ७८ हजार योजन क्षेत्र मे है । अर्थात् रत्नप्रभापृथ्वी की मोटाई १ लाख ८० हजार योजन प्रमाण है । उनमे से एक हजार योजन नीचे और एक हजार योजन उपर के क्षेत्र को छोड़कर अवशेष क्षेत्र में भवनपतिदेवों का निवास है ।

भवणवति - वे० म० ॥ ३. जोइस - अमो० घा० न० ॥ ४. कहं णं - ला० ला ३ । कह णं - ला १ ॥ ५. ०वासी देवाणं - लो० । ०वासिणं - घा० ॥ ६. ठाणपए - घा० । As Per apendix ७. भाणियव्वा - ला २ ॥ ८. ०व्वा नवर भवणा पण्णत्ता उव° - पु० अमो० घा० अ० क० ता० ब० म० स० । ०व्वा नवरं भवणापण्णत्त त्ति क्वचिद् दृश्यते, तस्य च फलं न सम्यगवगम्यते - वृ ॥ ९. उववादेणं - अ० क० मं० ब० वे० म० ॥ १०. °ज्जभागे - घा० । असंखेज्ज० - म० ॥ ११. "इह च देवस्थानाधिकारे यत् सिद्ध गण्डिकाभिधानं तत् स्थानाधिकार बलात् इति अवसेयम्" - अवृ० ॥ १२ सम्मता - अमो० । संमता - घा० । सम्मता - क० ब० मं० स० ॥ १३. "तथा इदम् अपरमपि जीवाभिगमप्रसिद्धं वाच्यम्, तद्यथा कप्पाण पइट्ठाणं कल्पविमानानाम् आधारो वाच्यः ।... बाहल्ल त्ति विमानपृथिव्या. पिण्डो वाच्यः : उच्चत्तमेव त्ति कल्पविमानोच्चत्वं वाच्यम् ।....संठाणं त्ति विमानसंस्थान वाच्यम् - अवृ ॥ १४. पहिट्ठा० - ला १ । पतिट्ठाणं - वे० म० ॥ १५. बाहल्लोच्चत्तं - घा० ॥ १६. ०में जाव वेमा० - पु० अमो० घा० अ० । जीवाभिगमसूत्र-चतुर्थ प्रति सू० २० से १२ । १७. वेमाणिउद्देसो - अमो० न० ॥ १८. सो० भाणि० - पु० अमो० घा० अ० मं० स० ॥ १९. ०यव्वो । ७॥ - अमो० ॥

व्यन्तर देव का उपपात क्षेत्र अधोलोक होता है। किंतु निवास प्राय: मध्यलोक में होता है।

मेरूपर्वत के चारों ओर चक्कर लगाने वाले चल अढ़ाई द्वीप के बाहर और अचल विमानों में रहने वाले देवता ज्योतिष्क कहलाते हैं।

ऊर्ध्वलोक में स्थित विमानों में रहने वाले देवता वैमानिक कहलाते हैं।

वैमानिक देवलोकों का प्रतिष्ठान—

सौधर्म और ईशान देवलोक का आधार घनोदधि है। सनत्कुमार, माहेन्द्र ब्रह्मलोक देवलोकों का घनवात है। लान्तक, महाशुक्र सहस्त्रार देवलोकों का आधार घनोदधि और घनवात है। इससे ऊपर के आनत-प्राणत, आरण अच्युत ये चार देवलोक नवग्रवेयक पांच अनुतर विमान इन सभो विमानों का आधार आकाश है।[1]

प्रथम द्वितीय देवलोक में विमानों की मोटाई ५०० योजन और ऊंचाई भी ५०० योजन प्रमाण है। तीसरे चौथे देवलोक की मोटाई २६०० योजन और ऊंचाई ६०० योजन है। पांचवे और छट्ठे देवलोक का वाहल्य २५०० योजन ऊचाई ७०० योजन है। सातवें आठवें देवलोक का बाहल्य २४०० योजन ऊंचाइ ८०० योजन है। नववें से लेकर बारहवे देवलोक का वाहल्य २३०० योजन और ऊंचाई ९०० योजन है। नवग्रेवेयक देवलोकों का बाहल्य २२०० योजन और ऊंचाई १०० योजन है। पांच अनुत्तर विमान का बाहल्य २१०० योजन और ऊंचाई ११०० योजन है।[2]

संस्थान -

सौधर्म आदि देवलोकों में विमान दो प्रकार के होते है, आवलिका प्रविष्ट और आवलिका–बाह्य। आवलिका प्रविष्ट विमान तीन प्रकार के होते हैं। यथा-वृत (गोल) त्र्यस्र(त्रिकोण) चतुरस्र (चतुष्कोण) आवलिका वाह्य विमान विभिन्न संस्थानों से युक्त होते है।[3]

।। द्वितीय शतक का सातवां उद्देशक समाप्त ।।

---

१. घण उदहि पइट्ठाणा सुरभवणा होंति दोसुकप्पेसु।
निसुवाउपइट्ठाणा तदुभय सुपइट्ठिया तिसु य ।।
तेण पर उवरिमगा आगासंतर पइट्ठिया।

२. सत्तावीस सयाइं आइमकप्पेसु पुढविबाहल्लं।
एक्किककहाणिसेसेदु दुगेय दुगे चउक्केय ।।
पंचसउच्चतेणं आइमकप्पेसु होंति उ विमाणा।
एक्केक्क वुड्ढि सेसे दु दुगेय दुगे चउक्के य।

३. देवताओं सम्बन्धी विस्तृत ज्ञान के अभिलाषी पाठक जीवाभिगम सूत्र का अध्ययन करें।

द्वितीय शतक अष्टम उद्देशक

सभा

प्राथमिक

पूर्व उद्देशक सूत्र में देवों के स्थानों आदि के विषय में वर्णन किया गया। प्रस्तुत उद्देशक में असुर कुमारों के इन्द्र, उनके राजा चमर और उनको सभा सुधर्मसभा आदि के विषय में वर्णन किया जा रहा है।

अट्ठमो उद्देसो : सभा

असुरकुमार राजा चमरेन्द्र को सुधर्मासभा का वर्णन—

सूत्र ९३ कहि णं भंते ! [1]चमरस्स असुरिंदस्स [2]असुरकुमार–रण्णो सभा सुहम्मा प०णत्ता ?

गोयमा ! [3]जंबुद्दीवे [4]दीवे मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेणं [5]तिरियमसंखेज्जे दीव-[6]समुद्दे [7]वीईवइत्ता [8]अरूणवरस्स दीवस्स [9]बाहिरिल्लाओ [10]वेइयंताओ [11]अरूणोदयं समुद्दं बायालीसं [12]जोयणसहस्साइं ओगाहित्ता एत्थ णं [13]चम-

(९३) भगवन् ! असुरकुमारों के इन्द्र और उनके राजा चमर की सुधर्मा सभा कहां पर है ?

गौतम ! जम्बूद्वीप नामक द्वीप के मध्यम में स्थित मेरूपर्वत से दक्षिण दिशा में तिरछे असंख्य द्वीपों और समुद्रों को लाघने के बाद अरुणवर द्वीप आता है उस द्वीप को वेदिका के बाहिरी किनारे से आगे बढ़ने पर अरुणादय नामक समुद्र आता है इस अरुणोदय समुद्र में बयालीस हजार योजन जाने के बाद उस स्थान से असुरकुमारों के इन्द्र, असुरकुमारो के राजा

सूत्र ९३—१. ०स्स असुररण्णो - वे० म० । ०स्स असुरकुमार रण्णो - ला १ मु० ॥ २. असुररण्णो - क० ना० व० ॥ ३. जबूंदीवे - मं० ॥ ४. ०द्दीवे - अमो० ॥ ५. ०ज्जे - अमो० ता० व० स० ॥ ६. समुद्दं - अमो० ॥ ७. वीइवइत्ता - पा० । वीतिव० - अ० क० व० मं० । वीतीवतित्ता - ला ३ ॥ ८ ०वरदीवस्स - अमो० ॥ ९. ०ल्लाओ- वे० म० ॥ १०. वेइयअंताओ - अमो० । ०ताओ - वे० म० ॥ ११. अरुणोदं स० - ला० ला ३ क० मं० ॥ १२. जोयण सय सहस्साइं - न० ॥ १३. ०स्स असुररण्णो - अमो० वे० म० । ०स्स असुरकुमाररण्णो - ला १ मु० ॥ १४.

रस्स असुरिंदस्स असुरकुमाररण्णो [14]तिगिंछिछयकूडे नामं [15]उप्पायपव्वए पण्णत्ते, [16]सत्तरसएक्कवीसे [17]जोयणसए उड्ढं उच्चत्तेणं [18]चत्तारितोसे [19]जोयणसए कोसं [20]च [21]उव्वेहेणं; [22]गोत्थुभस्स आवास [23]पव्वयस्स पमाणेणं णेयव्वं, नवरं उवरिल्लं पमाणं मज्झे [24]भाणियव्वं (मूले दसबावीसे [25]जोयणसते विक्खंभेणं, मज्झे चत्तारि [26]चउवीसे [27]जोयणसते विक्खंभेणं, उवरिं [28]सत्ता-तेवीसे [29]जोयणसते विक्खंभेणं: मूले तिण्णि जोयणसहस्साइं दोण्णि य [30]बत्तीसुत्तारे [31]जोयणसते किंचिविसे-सूणे परिक्खेवेणं, मज्झे एगं जोयणसह-स्सं तिण्णि य [32]इगुयाले [33]जोयणसते किंचिविसेसूणे परिक्खेवेणं, उवरिं [34]दोण्णि य जोयणसहस्साइं दोण्णि य [35]छलसीए [36]जोयणसते किंचिविसेसा-हिए [37]परिक्खेवेणं) : [38]जाव मूले

चमर का तिगिच्छकूट नामक उत्पात पर्वत है, उसकी ऊंचाई १७२१ योजन है। उसकी जमीन में गहरई (उद्वेध) ४३० योजन और एक कोस है। इस पर्वत का नाम गोस्तुभ नामक आवास-पर्वत के नाम की तरह जानना चाहिए। विशे-षता यह है कि गोस्तुभ में पर्वत के ऊपर के भाग का जो नाप है वह नाप यहाँ बीच के भाग का समझना चाहिए। अर्थात्-तिगिच्छकूट पर्वत का विष्कम्भ मूलमें १०२२ योजन है मध्य में ४२३ योजन है और ऊपर का विष्कम्भ ७२३ योजन है, उसका परिक्षेप मूल में ३२३२ योजन से कुछ विशेषोन है। मध्य में १३४१ योजन तथा कुछ विशेषोन है और ऊपर का परिक्षेप २२८६ योजन तथा कुछ विशेषाधिक है। वह मूल में विस्तृत है, मध्य में संकीर्ण है। और ऊपर फिर विस्तृत है उसके बीच का भाग उत्तम वज्र जैसा है, बड़े मुकुन्द के संस्थान का सा आकार है। पर्वत पूरा रत्नमय है, सुन्दर है, यावत् प्रतिरूप है।

वह पर्वत एक पद्मवरवेदिका से और एक वन खण्ड से चारों और घिरा हुआ है। यहां वेदिका और वनखण्ड का वर्णन करना चाहिए।

०च्छिकुडे - अमो०। तिगिच्छकू - घा०। तिगिछि॰ - क०। तिगिच्छ॰ - मं०। ०च्छिकूडे - न० वे० म०। तिगिच्छिकू० - ला०। तिगिछकू० - ला १। तिगिच्छियकू० - मु०॥ १५. ०पव्वते - वे० म०। १६. सत्तरसएक-वीसे - घा०॥ १७. ०सते - वे० म०॥ १८. चत्तारि जोय० - ला ४ मु०॥ १९. ०सते - वे० म०॥ २०. चउव्वे गोथु० - घा०। त - ला १॥ २१. °हेणं मूले दसबावीसे - न०। २२. गोथूभस्स - पु०। गोथूभस - अमो०। गोथुभस्स - लों०॥ २३ ०स्स माणे० - ला २॥ २४. ०यव्वं जाव मूले वित्थडे - वे०॥ २५. जोयणसए - पु० अमो० घा० न०॥ २६. चउव्वीसे - अमो०॥ २७-२९. °सए - अमो० घा० न०॥ ३०. छत्तीसुत्तरे - अमो०। बत्ती० - घा॥ ३१-३३-३६. ०सए - अमो० घा० न० म०॥ ३२. इगयाले - पु० न०। इएयाले - अमो०। इयाले - बं०॥ ३४. दो वि य - घा०॥ ३५. छलसीते - पु०॥ ३७. उव्वेहेणं गोथुभस्स आवासपव्वयस्स पमाणेणं नेयव्वं नवरं उवरिल्लं पमाणं मज्झे भाणियव्वं जाव - क० ता० व० बु०॥ ३८. जाव - णत्थि घा० न०॥ ३९. नंविज्जते -

वित्थडे, मज्झे [३९]संखित्ते, उप्पिं [४०]विसाले। मज्झे [४१]वरवइरविग्गहिए महामउंदसंठाणसंठिए सव्वरयणामए अच्छे [A]जाव पडिरूवे।

से णं एगाए [४२]पउमवरवेइयाए एगेणं [४३]वणसंडेण य [४४]सव्वओ [४५]समंता संपरिक्खित्ते। [४६]पउमवरवेइयाए [४७]वणसंडस्स [४८]य [A]वण्णओ।

तस्स णं [४९]तिगिंछिकूडस्स [५०]उप्पायपव्वयस्स उप्पिं बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते। [५१]वण्णओ[B]। तस्स णं

उस तिगिच्छकूट नामक उत्पातपर्वत का ऊपरी भू-भाग बहुत ही सम एवं रमणीय है। उसका वर्णन जान लेना चाहिए। उस अत्यन्त सम एवं रमणीय ऊपरी भूमिभाग के ठीक बीचोबीच एक महान् प्रासादावतंसक (श्रेष्ठ महल) है।

उसकी ऊंचाई २५० योजन और उसका विष्कम्भ १२५ योजन है। यहाँ उस प्रासाद का वर्णन

अमो० ॥ ४०. ०ले वरवइ° - बे० न० ॥ ४१. °विग्गहे - अमो० अ० ब० म० ॥ ४२ ०याए वण० - ला १ मु विना न० ॥ ४३. वणखंडेण य - अमो० ॥ ४४. सव्वतो - बे० म० ॥ ४५. समेता - पा० ॥ ४६ सा णं पउमवरवेइया अद्धं जोयणं उड्ढं उच्चत्तेणं, पंच धणुसयाइं विक्खंभेणं सव्वरयणा मई तिगिच्छिकूडउवरितल परिक्खेवसमा परिक्खेवेणं, तीसे णं पउमवरवेइयाए इमे एयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते–वइरामया नेमा" - पद्मवरवेदिकावर्णको वृत्तावेवम् ॥ ४७. वनखंडस्स - अमो०। वनखण्डवर्णनस्त्वेवम् - से णं वणसंडे देसूणाइं दो जोयणाइं चक्कवाल विक्खंभेणं पउमवरवेइया परिक्खेवसमे परिक्खेवेणं किण्हे किण्होभासे - अवृ० ॥ ४८. य चेतियस्स वण्ण० - ला २ ॥ ४९. तिगिच्छकू° - पा०। तिगिच्छिकू० - लों० विना ॥ ५०. ०पव्वयस्स - अमो० न० बे० ॥ ५१. से जहानामए आलिंगपुक्खरे इ वा मुइंगपुक्खरे इ वा सरतले इ वा करतले इ वा आयंसमंडले इ वा चंदमंडले इ वा - भूमिभाग

A. सण्हे, लण्हे, घट्ठे, मट्ठे, नीरए, निम्मले निप्पंके निक्कंकडच्छाए सप्पभे समरिईए सउज्जोए पासाईए दरिसणिज्जे अभिरूवे।

A. सा णं पउमवरवेइया अद्धजोयणं उड्ढं उच्चत्तेणं पंच धणुसयाइं विक्खंभेणं उवकारियलेणसमा परिक्खेवेणं - तीसे णं पउमवरवेइयाए इमेयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते, तंजहा वइरामया णिम्मा रिट्ठामया पतिट्ठाणा वेरुलियामया खंभा सुवण्ण-रुप्पमया फलया नाणामणिमया कलेवरसंघाडगा णाणामणिमया रूवा णाणामणिमया रूवसंघाडगा अंकामया पक्खा पक्खबाहाओ जोईरसामया वंसा वंसकवेल्लुयाओ रययामईओ पट्टियाओ जायरूवमईओ ओहाडणीओ वइरामईओ उवरिपुंछणी सव्वरयणामए अच्छायणे।

सा णं पउमवरवेइया एगमेगेणं हेमजालेणं ए० गवक्खजालेणं ए० खिंखिणीजालेणं, ए० घंटाजालेणं, ए मुत्ताजालेणं, ए० मणिजालेणं, ए० कणगजालेणं, ए० पउमजालेणं सव्वतो समंता, संपरिखित्ता, ते णं जाला तवणिज्जलंबूसगा जाव चिट्ठंति। तीसे ण पउमवरवेइयाए तत्थ तत्थ देसे तहिं तहिं बहवे हयसंघाडा जाव उसभसंघाडा सव्वरयणामया अच्छा जाव पडिरूवा पासादीया जाव वीहीओ पंतीओ मिहुणाणि लयाओ॥

B. तेसु णं उप्पाय-पव्वएसु पव्वंदोलएसु बहूइं हंसासणाइं कोंचासणाइं गरुलासणाइं उण्णयासणाइं पणयासणाइं

[५२]बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स [५३]बहुमज्झदेसभागे। एत्थ णं महं एगे [५४]पासायवडिंसए पण्णत्ते अड्ढाइज्जाइं जोयणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं, [५५]पणवीसं [५६]जोयणसयं विक्खंभेणं। [५७]पासायवण्णओ[C]। [५८]उल्लोयभूमिवण्णओ। अट्ठ [५९]जोयणाइं मणिपेढिया। चमरस्स सीहासणं [६०]सपरिवारं भाणियव्वं।

तस्स णं [६१]तिगिंछिकूडस्स दाहिणेणं छक्कोडिसए [६२]पणपन्नं च कोडीओ [६३]पणतीसं च [६४]सयसहस्साइं पण्णास

करना चाहिये। तथा प्रासाद के सबसे ऊपर की भूमि का वर्णन करना चाहिए। आठ योजन की मणिपीठिका है। यहां चमरेन्द्र के सिंहासन का सपरिवार वर्णन करना चाहिए।

उस तिगिच्छकूट के दक्षिण की ओर अरुणोदय समुद्र में छः सौ पचपन करोड़ पैंतीस लाख पचपन हजार योजन तिरछी दिशा में जाने के बाद नीचे रत्नप्रभा पृथ्वी का ४० हजार योजन भाग अवगाहन करने के पश्चात् यहां असुरकुमारों के इन्द्र राजा चमर की चमरचंचा नाम की राजधानी है।

वर्णको वृत्तावेवम् ॥ ५२. ०ज्जस्स बहुमज्झ० - अमो० ॥ ५३. ०मज्झदेस० - पु० अमो० घा० वे० ॥ ५४. पासातव० - वे० म०। पासायवंडेसए - न० ॥ ५५. पणुवीसं - न० ॥ ५६. ०सयाइं - पु० अमो० घा० ॥ ५७. पासादवर्णको वाच्यः "अब्भुग्गयमूसियपहसिए मणि-कणग रयणभत्तिचित्ते इत्यादि - अवृ० ॥ ५८. उल्लोचवर्णकः-पासायवडिंसगस्स इमेयारूवे उल्लोए पण्णत्ते-ईहमिग उसभ तुरग नर-मगर-विहग-वालग-किन्नर-रुरु-सरभ-चमर-कुंजर-वणलय पउमलय भत्तिचित्ते जाव सव्व तवणिज्जमए अच्छे जाव पडिरूवे भूमिवर्णकस्त्वेवम्—तस्स णं पासायवडिंसयस्स बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते तंजहा आलिंग पुक्खरे इ वा इत्यादि - अवृ० ॥ ५९. जोयणाणि - अमो० ॥ ६०. "सपरिवारं ति चमर संबंधी परिवार सिंहासनोपेतम्, तच्चैवम्-तस्स णं सीहासणस्स अवरुत्तरेणं उत्तरेणं उत्तरपुरत्थिमेणं एत्थ णं चमरस्स चउसट्ठीए सामाणियसाहस्सीणं चउसट्ठीए भद्दासणसाहस्सीओ पण्णत्ताओ एवं पुरत्थिमेणं पंचण्हं अग्गमहिसीणं सपरिवाराणं पंच भद्दासणाइं सपरिवाराइं दाहिणपुरत्थिमेणं अब्भितरियाए परिसाए चउव्वीसाए देवसाहस्सीणं चउव्वीसं भद्दासणसाहस्सीओ एवं दाहिणेणं मज्झिमाए अट्ठावीसं भद्दासणसाहस्सीओ दाहिणपच्चत्थिमेणं बाहिरियाए बत्तीसं भद्दासणसाहस्सीओ पच्चत्थिमेणं सत्तण्हं अणियाहिवईणं सत्त भद्दासणाइं चउदिसिं आयरक्खदेवाणं चत्तारि भद्दासणसहस्स चउसट्ठीओ त्ति" 'तेत्तीस भोम' ति वाचनान्तरे दृश्यते तत्र भौमानि-विशिष्टस्थानानि नगराकाराणीत्यन्ये" - अवृ० वृ ॥

६१. तिगिच्छकू० - घा० ॥ ६२. पणवण्णं - अमो० न० ॥ ६३. पणतिसं - घा० ॥ ६४. सतसह० वे० - म० ॥

दीहामणाइं भद्दासणाइं पक्खासणाइं मगरासणाइं उसभासणाइं सीहासणाइं पउमासणाइं दिसासोवत्थियाइं सव्वरयणामयाइं अच्छाइं जाव पडिरूवाइं ॥

C तेसि णं वणसंडाणं बहुमज्झदेसभाए पत्तेयं पत्तेयं पासायवडेंसगा पण्णत्ता, तेणं पासायवडेंसगा पंच जोयणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं अड्ढाइज्जाइं जोयणसयाइं विक्खंभेणं अब्भुग्गय मूसियपहसिया इह तहेव बहुसमरमणिज्ज भूमिभागो, उल्लोओ सीहासणं सपरिवारं। तत्थ णं चत्तारि देवा महिड्ढिया जाव महज्जुइया महाबला महायसा महाणुभावा पलिओवमट्ठितीया परिवसंति तंजहा असोए सत्तपण्णे चंपए चूए ॥

च [65]सहस्साइं अरूणोदए समुद्दे तिरियं [67]वीइवइत्ता, [68]अहे य [69]रयणप्पभाए पुढवीए [70]चत्तालीसं जोयणसहस्साइं [71]ओगाहित्ता [72]एत्थ णं चमरस्स असुरिंदस्स [73]असुरकुमाररण्णो चमरचंचा नामं रायहाणी पणत्ता, एगं [74]जोयणसय-सहस्सं आयाम विक्खंभेणं [75]जंबूद्दीवपमाणा[76] । (पागारो दिवड्ढं [77]जोयणसयं उड्ढं उच्चतेणं, मूले पन्नासं जोयणाइं विक्खंवेणं, उवरिं [78]अद्धतेरसजोयणा कविसीसगा [79]अद्ध-जोयणआयामं कोसं विक्खंभेणं [80]देसूणं अद्धजोयणं उड्ढं उच्चतेणं एगमेगाए वाहाए पंच पंच दारसया, [81]अड्ढाइज्जाइं [82]जोयणसयाइं २५० उड्ढं [83]उच्चत्तेणं [84]अद्ध-१२५ विक्खंभेणं ।) [85]उवरियलेणं [86]सोलस जोयणसहस्साइं आयाम विक्खंभेणं, पन्नासं जोयणसहस्साइं पंच य [87]सत्ताणउय जोयणसए किंचिविसेसूणे परिक्खेवेणं, [88]सव्वप्पमाणं

उस राजधानी का आयाम और विष्कंभ जंबूद्वीप प्रमाण है । उसका प्राकार १५० योजन ऊंचा है मूल का विष्कम्भ ५० योजन है उसके ऊपरी भाग का विष्कम्भ साढ़े तेरह योजन है । उसके कपिशीर्षकों की लंबाई आधा योजन और विष्कम्भ एक कोस है । कपिशीर्षको की ऊंचाई आधे योजन से कुछ कम है । उसकी एक एक भुजा मे पांच पांच सौ दरवाजे है उसकी ऊंचाई २५० योजन है तथा विष्कम्भ १२५ योजन है । उपरी तल का आयाम और विष्कम्भ १६ हजार योजन है । उसका घेरा ५०५९७ योजन से कुछ विशेषोन है । यहां समग्र प्रमाण वैमानिक के प्रमाण से आधा समझना चाहिए । उत्तर पूर्व में सुधर्मासभा, जिनगृह, उसके पश्चात् उपपात सभा ह्रद अभिषेक सभा और अलंकार सभा, यह सारा वर्णन विजय की तरह कहना चाहिए ।

६५. ०इ जोयणाइ अरू० - अमो० ॥ ६६. अरुणोदे स० - पु० ला० ला ४ ॥ ६७. वीतिवइत्ता - अमो० ॥ ६८. अहे-रयण - पु० अमो० धा० न० ॥ ६९. रतण० - वे० ० ॥ ७०. चतालिसं धा ॥ ७१. उगहित्ता - अमो० ॥ ७२. तत्थ णं - अमो० ॥ ७३. असुररण्णो - अमो० वे० म० ॥ ७४. ०सयसहस्स - वे० ॥ ७५. ०द्दीवप्पमाणा - पु० । जंबुदीवप्पमाणा - न० ॥ ७६. ०णा दीवड्ड - अमो० । ०णा ओवारि० वे० न० ॥ ७७. ०सय - अमो० । ७८. उद्धतेरस० - अमो० धा० । ०जोयणाइं - अमो० । ०णाइं विक्खभेणं कवि० - धा० ॥ ७९. ०आयामं - पु० म० । ०जोयणं आयामेणं - अमो० । जोयणा आयामेणं - धा० ॥ ८० देसूण - अमो० ॥ ८१. अड्ढाइ जोयण० - अमो० ॥ ८२. ०इ उड्ढं - अमो० धा० ॥ ८३ ०णं एग मेगाए बाहाए पंच पंचदार सया अड्ढाइ जोयणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं एगं पणहत्तरी जोयणाइं विक्खभेणं - अमो० ॥ ८४. ०द्ध विक्ख० - धा० ॥ ८५. उवरियतलेणं - अमो० । ओवरियलेणं - न० वे० म० ॥ ८६. सोलसजोयण - धा० । ८७. ०उए - न० वे० म० ॥ ८८. ०प्पमाणेणं - धा० ॥

[८९]वेमाणियप्पमाणस्स अद्धं [९०]नेयव्वं [९१]सभा [९२]सुहम्मा [९३]उत्तरपुरच्छिमेणं, जिणघरं, तलो उववायसभा हरओ अभिसेय, अलंकारो जहा [९४]विजयस्स। उववाओ संकप्पो अभिसेय विभूषणा य [९५]ववसाओ। [९६]अच्चणियं सुहगमो वि य चमर परिवार [९७]इड्ढत्तं ॥ ? ॥

॥ बितीय सए अट्ठमो उद्देसो समत्तो ॥

उपपात, संकल्प, अभिषेक, विभूषणा, व्यवसाय अर्चनिका, और सिद्धायतन सम्बन्धी गम तथा चमरेन्द्र का परिवार और उसकी ऋद्धि सम्पन्नता, (आदि वर्णन यहा समझ लेना चाहिए।)

॥ द्वितीय शतक का आठवां उद्देशक समाप्त ॥

विवेचन—

उपर्युक्त मूल पाठ में असुरराज चमर की सुधर्म सभा बतलाने के लिये उसके पूर्व का तिगिच्छ कूट आदि का वर्णन दिया गया है।

जम्बूद्वीप में स्थित मेरूपर्वत से तिर्यक्दिशा में असंख्यात द्वीप समुद्र के आगे अरूणवरद्वीप है, उस द्वीप की वेदिका के बाहरी भाग से अरूणोदय समुद्र है। उस अरूणोदय समुद्र के बयालीस हजार योजन नीचे तिगिच्छकूट नामक पर्वत है। जो असुरेन्द्र का उत्पात पर्वत है।[1]

लवण समुद्र के मध्य पूर्व दिशा में "गोस्तुभ" नामक पर्व है। उसका आदि भाग १०२२ मध्य भाग ७२३ अन्तिम भाग ४२४ योजन विष्कभ वाला है। किंतु उत्पात का अन्तिम विष्कंभ ७२३ और मध्य ४२४ योजन है। इसका मूल परिक्षेप ३२३२ योजन से कुछ कम मध्य १३४१ योजन से कुछ कम ऊपर का २२८६ से कुछ अधिक है। यह पर्वत मध्य में पतला है। आकार में वज्राकार और स्फटिक के समान निर्मल है। मूलपाठ गत यावत् शब्द से निम्न विशेषण लेने चाहिये।

---

८९. वेमाणियस्स पमाणस्स - अमो० ॥ ९०. नेयव्व ॥ अमो०। एतदेव वाचनान्तरे उक्तम् चत्तारि परिवाडीओ पासायवंडेसगाणं अद्धद्धहीणाओ - वृ० ॥ ९१. सभा ....इड्ढत्तं ॥ १ ॥ ला २ मु० आदर्शयोविना नोपलभ्यते शेषेष्वादर्शेसु ॥ ९२. ०म्मा तओ उववा। - ९३. उत्तरपुरत्थिमेणं - वे० म० ॥ ९४. ०स्स अभिसेयं - पु० ॥ ९५. ०ओ चमर० - पु० ॥ ९६. ०यं सिद्धायणं गमो वि य ण चमर - ९७. इड्ढतं - पु० मु० ॥

१- तिर्यक् लोकगमनाय यत्र आगत्य आगत्य उत्पतति स उत्पात पर्वतः।

तिर्यक्लोक गमन करने के लिये जिस स्थान पर आकर चमरेन्द्र उत्पतन उड़ान भरता है, उसे उत्पात पर्वत कहते है।

सण्हे-श्लक्ष्ण-चिकने पुद्गलों से निर्मित होने से चिकना। लण्हे-मसृण-स्पर्श में अच्छा-सुहाला लगने वाला।

घट्ठे-घृष्ट-शाण पर रखकर घिसकर तैयारकिये हीरे के समान।

मट्ठे-मृष्ट-कोमल शाण पर घिसी वस्तु के समान।

नीरए-नीरज, रजकण रहित।

निम्मने-निर्मल-किसी प्रकार मल नहीं होने से निर्मल-निप्पंके निष्पंक-किसी भी प्रकार के कीचड़ से रहित णिक्कंकडच्छाए-निष्कंकटच्छाय-आवरणरहित शुद्ध कांतिवाला।

सप्पमे-सत्प्रभावः-शुद्ध प्रभावाला समिरिइए सकिरण: सदा प्रभायुक्त किरणे छिटकने वाला।

सउज्जोए-सउद्योत-प्रत्यासन्नवस्तूद्द्योतक समीप के पदार्थों को प्रकाशित करने वाला।

पासादिए-प्रासादीय प्रसन्नता उत्पन्न करने वाला।

उपर्युक्त अनेक विशेषताओं से युक्त उत्पात पर्वत चारों तरफ से पद्मवरवेदिका से घिरा है। जिसकी ऊंचाई आधा योजन, विष्कंभ पांच सो योजन है। रत्नमयी वेदिका है इसका परिक्षेप उत्पात पर्वत के ऊपरी भाग के समान है।

पद्मवरवेदिका वनखण्ड से घिरी है। उसका चक्रवालविष्कंभ कुछ कम दो योजन है। पद्मवरवेदिका के समान परिक्षेपवाला काला और काली कांतिवाला है। पर्वत का उपरी भाग चन्द्रमण्डल के समान सम और रमणीय है। उसके बीच में रमणाय महल है जो कि मणिसुवर्णादि से रचित तथा विनिध चित्रों से चित्रित है। महल के मध्य में चमरेन्द्र का सिंहासन है। जिसके पश्चिमोत्तर उत्तर और उत्तर पूर्व में चमरेन्द्र के ६४ हजार सामानिक देवों के भद्रासन हैं। पूर्व भाग में पांच पटरानियों के भद्रासन परिवार सहित है। दक्षिण पूर्व में आभ्यन्तर परिषद के २४ हजार देवों के २४ हजार भद्रासन है दक्षिण-मध्य में मध्य परिषदों के २८ हजार भद्रासन है। दक्षिण-पश्चिम में बाह्यपरिषदा के ३२ हजार देवों के ३२ हजार भद्रासन हैं। पश्चिम में सात सेनापतियों के सात भद्रासन चार दिशाओ में आत्मरक्षक ६४ हजार देवों के ६४ हजार भद्रासन हैं।

चमरेन्द्र की चमरचंचा राजधानी के किला महल आदि का परिमाण सुधर्मदेवलोक से आधा है। चमरचंचा राजधानी के किले की ऊंचाई १५० योजन, मूलमहल की ऊंचाई २५० योजन, समीपस्थ महलो की ऊंचाई आधी आधी होती है। जिससे अन्तिम महल की ऊंचाई १५ योजन तथा एक योजन तक रहता है। पांचवां अष्टाश मूल महल के परिवार रूप दूसरे चार महल है उन चार में से प्रत्येक के आसपास चार महल है, इस प्रकार उन चार महलों के अन्य चार-चार महल है। इस प्रकार चार की परिपाटी करने से मूल महल सहित ३४१ महल होते है। इन प्रासादों से उत्तर-पूर्व ईशानकोण में

सुधर्म सभा, सिद्धायतन, उपपात सभा, हृद, अभिषेक सभा, अलंकार सभा, व्यवसाय सभा है। इसका परिमाण सुधर्म देवलोक की अपेक्षा से आधा है। इनकी ऊंचाइ ३६ योजन, लम्बाई ५० योजन और चौड़ाई २५ योजन है।

जीवाभिगमसूत्र में वर्णित विजयदेव की सभा की तरह चमरेन्द्र सभा का भी वर्णन जानना चाहिये। जब कभी उपपात सभा में कोई इन्द्र आता है तो सबसे पहले उसके मन में विचार स्फुरित होता है कि मेरा जीताचार क्या है? तदन्तर सामानिक देव उनका अभिषेक सभा में अभिषेक करते हैं। अलंकार सभा में वस्त्राभूषणों से अलंकृत करते है। व्यवसाय सभा में पुस्तक का वांचन करते है। सिद्धायतन में पूजा करते हैं। फिर देवों से परिवृत होकर सुधर्म सभा में उपस्थित होते हैं।[1]

॥ द्वितीय शतक का आठवां उद्देशक समाप्त ॥

---

1. विस्तृत ज्ञान के इच्छुक जीवाभिगमसूत्र का अवलोकन करें।

समुद्र को ही समयक्षेत्र कहा है।

मनुष्यों का निवास इस अढाई द्वीप में ही होता है, इसके बाहर मनुष्यों की उत्पत्ति नहीं होती है। अतः इसे मनुष्य क्षेत्र भी कहा जाता है। समय क्षेत्र के बाहर जितने भी सूर्य और चन्द्र विमान हैं वे सब स्थिर हैं। जो जहा है, वे वहीं पर रहते हैं।

एक संग्रह गाथा के द्वारा मनुष्यलोक-समय क्षेत्र का वर्णन किया गया है।

अरिहंतसमय बायरविज्जू थणिया बलाहगा अगणि।
आगरणिहिनई – उवराग – णिग्गमे वुड्ढिवयणं न।

मानुषेत्तर पर्वत पर्यन्त मनुष्य लोक है। जहां तक अरिहंत, चक्रवर्ती, बलदेव वासुदेव, प्रति-वासुदेव–साधु साध्वी, श्रावक–श्राविका आदि मनुष्यों का निवास है। जहां पर समय, आवलिका आदि काल है। बिजली, मेघ गर्जन वर्षण है, स्थूल अग्निकाय है, आगर, निधि, उपराग चन्द्रसूर्यग्रहण, चन्द्र–सूर्य का अतिगमन–उत्तरायण निर्गमन–दक्षिणायनः दिन–रात का बढ़ना–घटना है, उसे मनुष्य क्षेत्र किंवा समयक्षेत्र कहते है।

यह समय क्षेत्र ही, दुनिया के सभी भागों से उत्तम है। इसलिये दुनिया का सर्वश्रेष्ठ प्राणी मनुष्य का जन्म भी यही होता है। इसी क्षेत्र से आत्मा मोक्ष पाती है। अढ़ाई द्वीप से बाहर या अन्तर में विद्यमान कोई भी तिर्यंच, नारकी और देवता हो, उसे मुक्ति पाने के लिये समय क्षेत्र में, मानव तन में आकर पुरुषार्थ करना ही पड़ेगा।

॥ द्वितीय शतक का नौवां उद्देशक समाप्त ॥

द्वितीय शतक दशम उद्देशक

अस्तिकाय

प्राथमिक

दिक् दिगन्त में विस्तृत आकाश दो विभागों में विभक्त किया जाता है। लोकाकाश और अलोकाकाश। आकाश एक होने पर भी उसके लोकाकाश और अलोकाकाश के रूप में दो भेद क्यों किये ? इस प्रश्न का समाधान इस प्रकार दिया जाता है—

लोकाकाश–पंचास्तिकाय रूप है— इसमें धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और जीवास्तिकाय ये पांचों आ जाते है। जिस आकाश प्रदेश में उपर्युक्त पंचास्तिकाय की विद्यमानता हो, उसे लोकाकाश कहते हैं। जिस आकाश-प्रदेश में धर्मास्तिकाय आदि नहीं हो, केवल आकाश ही हो, उसे अलोकाकाश कहते है।

पूर्व उद्देशक में समय क्षेत्र के विषय में विवेचना की गई थी। उस समयक्षेत्र में तो केवल अढाई द्वीप और समुद्र ही आते है, किन्तु अखिल लोक में असंख्य द्वीप और असंख्य समुद्र हैं। उन–द्वीप समुद्रों में कौन से तत्व विद्यमान है और वे क्या क्या प्रक्रियाएं करते हैं, इन सब का विवेचन प्रस्तुत उद्देशक में किया जा रहा है।

मुख्यतया धर्मास्तिकाय चलते हुए जीवादि पदार्थों की गति में सहायक होता है। जैसे मछली के लिये पानी सहायक होता है।

अधर्मास्तिकाय— स्थिर रहने वाले जीवादि पदार्थों की स्थिति में सहायक होता है। जैसे चलते हुए पथिक के लिये वृक्ष सहायक होता है।

आकाशास्तिकाय— पदार्थों को स्थान देने में सहायक होता है, जैसे दुग्ध में पताशा समा जाता है। जीवास्तिकाय— उपयोग–चेतना रूप होता है। चन्द्रमा की कला की तरह, कर्मों के कारण जीवका विकास और ह्रास होता रहता है।

पुद्गलास्तिकाय— सड़न, गलन विध्वंसन स्वभाव वाला है। मेघ की तरह बनता बिगड़ता रहता है। इन्हीं का विवेचन प्रस्तुत उद्देशक में किया जा रहा है—

सूत्र ९५. [1]कति णं भंते ! [2]अत्थिकाया पण्णत्ता ?

गोयमा ! पंच अत्थिकाया पण्णत्ता, तं जहा–धम्मत्थिकाए अधम्मत्थिकाए आगासत्थिकाए जीवत्थिकाए पोग्गलत्थिकाए ।

सूत्र ९६. धम्मत्थिकाए णं भंते ! [3]कतिवण्णे [4]कतिगंधे [5]कतिरसे [6]कतिफासे ?

गोयमा ! अवण्णे अगंधे अरसे अफासे [7]अरूवी [8]अजीवे [9]सासए [10]अवट्ठिए लोगदव्वे । से [11]समासओ पंचविहे पण्णत्ते, तं जहा–[12]दव्वओ खेत्तओ कालओ भावओ गुणओ । दव्वओ णं धम्मत्थिकाए [13]एगे दव्वे । [14]खेत्तओ णं [15]लोगप्पमाणमेत्ते । [16]कालओ न [17]कयावि न आसि, न [18]कयाइ नत्थि, [A]जाव निच्चे । [19]भावओ अवण्णे अगंधे अरसे अफासे । [20]गुणओ गमणगुणे ।

(९५) हे भगवन् ! अस्तिकाय कितने कहे गए हैं ?

गौतम ! अस्तिकाय पांच प्रकार के कहे गए हैं । वे इस प्रकार हैं–धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय ।

(९६) भगवन् ! धर्मास्तिकाय में कितने वर्ण, कितने गंध, कितने रस और कितने स्पर्श है ?

गौतम ! धर्मास्तिकाय वर्ण रहित, गंध रहित, रसरहित और स्पर्शरहित है । अर्थात् धर्मास्तिकाय अरूपी है । अजीव है, शाश्वत है अवस्थित लोक (प्रमाण) द्रव्य है । संक्षेप में–धर्मास्तिकाय पांच प्रकार का कहा गया है । जो इस प्रकार है– द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से, भाव से, और गुण से । धर्मास्तिकाय द्रव्य से एक द्रव्य है । क्षेत्र से लोक प्रमाण है । काल की अपेक्षा धर्मास्तिकाय कभी नहीं था ऐसा नहीं, कभी नहीं है ऐसा नहीं, और कभी नहीं रहेगा, ऐसा भी नहीं; किन्तु वह था, है और रहेगा, यावत् वह नित्य है । भाव की अपेक्षा वर्ण रहित, गन्ध रहित, रस रहित, और स्पर्श रहित है । गुण की अपेक्षा गति गुण वाला है ।

मू ९५-९६–१. कइ णं - अमो० धा० ॥ २. " 'अस्ति' शब्देन प्रदेशा उच्यन्ते, अतः तेषां कायाः - राशयः अस्तिकायाः अथवा 'अस्ति' इत्ययं निपातः कालत्रयाभिधायी ततः अस्ति इति सन्ति आसन् भविष्यन्ति च ये कायाः प्रदेशराशयः ते अस्तिकायाः" - अवृ० ॥ ३-४-५-६. कइ० - धा० । ७ अरूवी - धा० । अरूवे अजीवे - ला ४ ॥ ८ अजीवे - ला २ ॥ ९. सासते - वे० म० ॥ १०. अवट्ठिते - वे० म० ॥ ११. समासए - धा० । समासतो - वे० म० ॥ १२. दव्वतो, खेत्ततो, कालतो, भावतो, गुणतो । दव्वतो - वे० म० ॥ १३. एके - धा० ॥ १४. °ओ लोग° - अमो० । खेत्ततोणं - वे० म० ॥ १५ लोगपमाण - धा० ॥ १६ कालतो - वे० म० ॥ १७. कयाइ - अमो० म० । कयावि - वे० म० । °कदावि जाव निच्चे - लों० ॥ १८. कया वि - णत्थि धा० ॥ १९. भावतो - वे० म० ॥ २०. गुणतो - वे० म० ॥ ।

A न कयाइ न भविस्सइ–भविंसु य, भवति य, भविस्सइ य - धुवे णिइए, सासए अक्खए अव्वए अवट्ठिए ॥

सूत्र ९७– [1]अधम्मत्थिकाए[2] वि एवं चेव। नवरं [3]गुणओ ठाणगुणे।

(९७) जिस तरह धर्मास्तिकाय का कथन किया, उसी प्रकार अधर्मास्तिकाय के विषय में भी कहना चाहिए; किन्तु विशेषता यह है कि अधर्मास्तिकाय गुण की अपेक्षा स्थान-स्थिति गुण वाला है।

सूत्र ९८– [4]आगासत्थिकाए वि एवं चेव। नवरं खेत्तओ णं आगासत्थिकाए लोयालोयप्पमाणमेत्ते अणंते चेव [A]जाव गुणओ [5]अवगाहणा गुणे।

(९८) आकाशास्तिकाय के विषय में भी ऐसा ही कहना चाहिए किन्तु विशेषता यह है कि क्षेत्र की अपेक्षा आकाशास्तिकाय लोकालोक प्रमाण है और गुण की अपेक्षा अवगाहना गुण वाला है।

विवेचन—

अस्तिकाय शब्द का तात्पर्य है कि अस्ति अर्थात् प्रदेश और काय यानि समूह। प्रदेशो का समूह अस्तिकाय है। या अस्ति से त्रिकाल मे स्थित अस्तित्व। त्रिकाल में अवस्थित उन प्रदेशों का समूह अस्तिकाय है।[1]

यह अस्तिकाय पाच प्रकार का है। धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, जीवास्तिकाय।

धर्मास्तिकाय द्रव्य से एक द्रव्य वाला, क्षेत्र से लोक प्रमाण, काल की अपेक्षा से त्रैकालिक, भाव की अपेक्षा से वर्णादि चतुष्टयरहित है। गुण की अपेक्षा गमन गुण वाला है। अखिल विश्व में चलने वाले जीव एवं पदार्थों को सहायता देता है।

सूत्र ९७-९८— १. अहम्म० - पु० अमो० घा० ॥ २. वि० पाठ - ०ए णं भंते ! कतिवण्णे ? कतिगंधे ? कतिरसे ? कतिफासे ? गोयमा ! अवण्णे, अगंधे अरसे, अफासे, अरूवी, अजीवे, सासए, अवट्ठिए लोगदव्वे। से समासओ पंचविहे पण्णत्ते, तंजहा-दव्वओ, खेत्तओ, कालओ भावओ गुणओ। दव्वओ णं अधम्मत्थिकाए एगे दव्वे। खेत्तओ लोगप्पमाणमेत्ते कालओ न कयाइ न आसि न कयाइ नत्थि न कयाइ न भविस्सइ भविसु य भवति य-भविस्सइ य-धुवे णियए सासए अक्खए अव्वए, अवट्ठिए णिच्चे। भावओ अवण्णे, अगंधे अरसे, अफासे गुणओ ठाणगुणे - न० ॥ ३. गुणतो - वे० म०। ४. वि. पाठ– ०ए णं भंते ! कतिवण्णे ? कतिगंधे ? कतिरसे ? कतिफासे ? गोयमा अवण्णे, अगंधे, अरसे, अफासे। अरूवी, अजीवे, सासए अवट्ठिए लोगदव्वे। से समासओ पंचविहे पण्णत्ते तंजहा-दव्वओ, खेत्तओ कालओ भावओ गुणओ। दव्वओ णं आगासत्थिकाए एगे दव्वे खेत्तओ लोयालोयप्पमाणमेत्ते-अणंते। कालओ न कयाइ न आसि, न कयाइ णत्थि न कयाइ न भविस्सइ-भविसु य भवति य भविस्सइ य-धुवे णियए सासए, अक्खए अव्वए, अवट्ठिए णिच्चे भावओ अवण्णे अगंधे अरसे अफासे। न० ॥ ५. अवगाहगुणे - अमो० ॥

A. शतक २ उद्दे० १० सूत्र ९६

अधर्मास्तिकाय में द्रव्यादि चतुष्टय का वर्णन तो धर्मास्तिकाय के समान है। गुण से वह स्थिर गुण है। चलता हुआ पदार्थ व जीव विशेष रुक रहा है तो उसके रुकने में वह सहायक है।

आकाशास्तिकाय द्रव्यापेक्षा एक द्रव्य है। क्षेत्रापेक्षा लोकालोक प्रमाण होने से अनन्त है। कालापेक्षा-त्रैकालिक नित्य शाश्वत है। भावापेक्षा वर्णादि चतुष्टय रहित है। गुणापेक्षा अवगाहना गुण वाला है। प्रत्येक पदार्थ को स्थान देने वाला है।

सूत्र ९९ [1]जीवत्थिकाए णं भंते! [2]कतिवण्णे [3]कतिगंधे [4]कतिरसे कइफासे ?

[5]गोयमा! अवण्णे ए [A]जाव अरूवी जीवे [6]सासए [7]अवट्ठिए लोगदव्वे। से [8]समासओ पंचविहे पण्णत्ते : तं [9]जहा-दव्वओ [B]जाव [10]गुणओ। [11]दव्वओ णं जीवत्थिकाए अणंताइं जीवदव्वाइं। खेत्तओ लोगप्पमाणमेत्ते। [12]कालओ न [13]कयाइ न [14]आसि [C]जाव निच्चे। [15]भावओ पुण अवण्णे अगंधे अरसे अफासे। [16]गुणओ [17]उवओगगुणे।

(९९) भगवन्! जीवास्तिकाय में कितने वर्ण, कितने गंध, कितने रस और कितने स्पर्श है ?

गौतम! जीवास्तिकाय वर्ण-गंध-रस-स्पर्श रहित है, वह अरूपी है, जीव है, शाश्वत है, अवस्थित लोक द्रव्य है। संक्षेप में, जीवास्तिकाय के पांच प्रकार कहे गए हैं। वह इस प्रकार है-द्रव्य क्षेत्र काल भाव और गुण की अपेक्षा जीवास्तिकाय। द्रव्य की अपेक्षा जीवास्तिकाय अनन्त जीव द्रव्य रूप है क्षेत्र की अपेक्षा लोक प्रमाण है काल की अपेक्षा वह कभी नहीं था ऐसा नहीं यावत् वह नित्य है। भाव की अपेक्षा जीवास्तिकाय में वर्ण नहीं, रस गंध नहीं और स्पर्श नहीं है। गुण की अपेक्षा जीवास्तिकाय उपयोग गुण वाला है।

---

१. अस्ति शब्देन प्रदेशा उच्यन्ते तेषां काया-राशयोऽस्तिकायः अथवा अस्तीत्ययं निपातः कालत्रयाभिधायी, ततोऽस्तीति सन्ति आसन् भविष्यन्ति च ये काया.-प्रदेशराशयस्तेऽस्तिकाया इति।

सूत्र ९९— १. ०त्थियाए - लों० ॥ २. कइवण्णे - अमो० पा० ॥ ३. कइगंधे - अमो० पा० ॥ ४. कइरसे - अमो० पा० ॥ ५. ०मा जाव अरुवी - पा० ॥ ६. सासते - वे० म० ॥ ७. अवट्ठिते - वे० म० ॥ ८. समासए - पा० ॥ ९-११. ०दव्वतो - वे० म० ॥ १०-१६. गुणतो - वे० म० ॥ १२. कालतो - वे० म० ॥ १३. कयावि न - पा०। कदावि - ला० ॥ १४ आसी - पा० ॥ १५. ०ओ अवण्णे - म०। भावतो - वे० म० ॥ १७. ०गुणो - पा०। उवयोग गुणे - वे०। उवजोग० - ला० ला ३ ॥

A. अगंधे अरसे अफासे ॥

B. खेत्तओ कालओ भावओ ॥

C. न कयाइ नत्थि न कयाइ न भविस्सइ - भविसु य भवति य भविस्सइ य - धुवे णियए, सासए, अक्खए अव्वए, अवट्ठिए ॥

सूत्र १०० पोग्गलत्थिकाए णं भंते ! [1]कतिवण्णे [2]कतिगंधे [3]कतिरसे [4]कतिफासे ?

गोयमा ! [5]पंचवण्णे पंचरसे दुगंधे अट्ठफासे [6]रूवी अजीवे [7]सासए [8]अवट्ठिए लोगदव्वे । से समासओ पंचविहे पण्णत्ते तं [9]जहा-दव्वओ खेत्तओ [10]कालओ भावओ गुणओ । दव्वओ णं पोग्गलत्थिकाए अणंताइं दव्वाइ । [11]खेत्तओ [12]लोगप्पमाणमेत्ते । [13]कालओ न [14]कयाइ न [15]आसि ^जाव निच्चे । [16]भावओ वण्णमंते [17]गंधमंते रसमंते फासमंते । [18]गुणओ गहणगुणे ।

(१००)भगवन् ! पुद्गलास्तिकाय में कितने वर्ण, कितने गंध, कितने रस और कितने स्पर्श है ? हे गौतम ! पुद्गलास्तिकाय में पांच वर्ण, पांच रस, दो गंध और आठ स्पर्श है । वह रूपी है, अजीव है, शाश्वत और अवस्थित लोक द्रव्य है । संक्षेप में उसके पाँच प्रकार कहे है; जो इस प्रकार है द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से, भाव से, और गुण से, द्रव्य से पुद्गलास्तिकाय अनन्त द्रव्य रूप है । क्षेत्र से लोक प्रमाण है । काल से त्रैकालिक वह कभी नहीं था ऐसा नहीं यावत् शाश्वत नित्य है । भाव से वर्णवाला, गंधवाला, रसवाला, और स्पर्शवाला है । गुण से वह ग्रहण गुणवाला है ।

विवेचन—

जीवास्तिकाय–द्रव्य से अनन्त जीवद्रव्य है क्षेत्र से संपूर्ण लोक प्रमाण है । काल मे त्रैकालिक, शाश्वत नित्य है । भाव से वर्णादि चतुष्टय रहित है । गुण से उपयोग गुण युक्त है । अर्थात् उसमें चेतना विद्यमान रहती है, जो उसे अजीव से पृथक सिद्ध करती है । पुद्गलास्तिकाय द्रव्य से अनन्त द्रव्यों वाला है । क्षेत्र से समस्त लोकप्रमाण है । काल से त्रैकालिक शाश्वत नित्य है । भाव से वर्णादि चतुष्टय युक्त है । गुण से ग्रहण गुण वाला है अर्थात् पुद्गलों का ग्रहण–विसर्जन बादल की तरह होता रहता है ।

त्र १००— कइवण्णे - अमो० घा० ॥ २. कइगंधे - घा० । कइगंधे० रसे० फासे ? पु० वे० म० । कइगंधरसफासे - . कइरसे - घा० ॥ ४. कइफासे - घा० ॥ ५. ०वण्णे दो गंधे पंचरसे अट्ठ० - ला २-४ ॥ ६. रूवी - घा० ॥ ७. मित्ते - वे० म० ॥ ८. अवट्ठिते - वे० म० ॥ ९. दव्वतो - वे० म० ॥ १०. कालतो भावतो गुणतो । दव्वतो - ० म० ॥ ११. खेत्ततो - वे० म० । १२. लोगप्पमाणमेत्ते - पु० अमो० न० । लोयप्पमाणखेत्ते - लों० ॥ १३. कालतो - वे० म० ॥ १४. कयाति - लों० । कदाइ - ला० । कयावि - ला १ ॥ १५. आसी - घा० ॥ १६. भावतो- ० म० ॥ १७. गंधरसफास० - अमो० । गंधमंते फास० - घा० ॥ १८. गुणतो - वे० म० ॥
^ न कयाइ णत्थि, न कयाइ न भविस्सइ - भविंसु य भवति य भविस्सइ य - धुवे, णितिए सासए, अक्खए अव्वए अवट्ठिए ॥

धर्मास्तिकायादि के स्वरूप का निश्चय—

सूत्र १०१ (I) एगे भंते ! [१]धम्मत्थिकायपदेसे 'धम्मत्थिकाए' त्ति वत्तव्वं सिया ?

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे ।

(II) एवं [२]दोण्णि तिण्णि [३]चत्तारि पंच छ सत्त अट्ठ नव दस संखेज्जा असंखेज्जा भंते ! [४]धम्मत्थिकायप्पदेसा 'धम्मत्थिकाए' त्ति वत्तव्वं सिया ?

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे ।

(III) [५]एगपदेसूणे वि य णं भंते ! [७]धम्मत्थिकाए 'धम्मत्थिकाए' त्ति वत्तव्वं [८]सिया ?

णो [९]इणट्ठे समट्ठे ?

(IV) से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ 'एगे [१]धम्मत्थिकायपदेसे नो धम्मत्थिकाए त्ति वत्तव्वं सिया [A]जाव [२]एगपदेसूणे वि य णं धम्मत्थिकाए नो धम्मत्थिकाए त्ति वत्तव्वं सिया ? से नूणं गोयमा ! खंडे चक्के, सगले चक्के ?

[३]भगवं नो खंडे [४]चक्के, [५]सगले चक्के ।

१०१ भगवन् ! क्या धर्मास्तिकाय के एक प्रदेश को धर्मास्तिकाय कहा जा सकता है ?
गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है अर्थात्-धर्मास्तिकाय के एक प्रदेश को धर्मास्तिकाय नहीं कहा जा सकता ।

(II) भगवन् ! क्या धर्मास्तिकाय के दो प्रदेशों तीन प्रदेशों चार प्रदेशों, पांच प्रदेशों छह प्रदेशों सात प्रदेशों आठ प्रदेशों, नौ प्रदेशो दस प्रदेशों, संख्यात प्रदेशों तथा असंख्य प्रदेशों को धर्मास्तिकाय कहा जा सकता है ? गौतम यह अर्थ समर्थ नहीं है ।

(III) भगवन् एक प्रदेश से कम धर्मास्तिकाय को क्या धर्मास्तिकाय कहा जा सकता है ?
गौतम ! यह अर्थ समर्थ नही अर्थात्-एक प्रदेश कम धर्मास्तिकाय को भी धर्मास्तिकाय नही कहा जा सकता ।

(IV) भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहा जाता है, कि धर्मास्तिकाय के एक प्रदेश को यावत् एक प्रदेश कम हो, वहां तक उसे धर्मास्तिकाय नही कहा जा सकता ?
गौतम ! चक्र का खण्ड चक्र कहलाता है या सम्पूर्ण चक्र कहलाता है ?
भगवन् ! चक्र का खण्ड चक्र नहीं कहलाता, किंतु सम्पूर्ण चक्र चक्र कहलाता है। इसी प्रकार

सूत्र १०१ — १. कायप्पदेसे - अमो० । ०कायपदेसे - पा० ॥ २. दोण्णि वि तिण्णि वि चत्ता - पु० अमो० पा० अ० स० । दो ति० - ला ३ फा० ॥ ३. ०रि वि पंच - पा० अ० स० ॥ ४. ०पदेसा - पु० । [५]कायपएसा - पा० ॥ ५. एगपदेसूणे वि य णं धम्मत्थिकाए नो वत्तव्वं सिया से केणट्ठेणं भंते । एवं वुच्चति जाव एगपदेसूणे वि नो धम्मत्थिकाए त्ति वत्तव्वं सिया ? - ला० ला ३ । ६. ०पदेसूणे - पा० ॥ ७. ०ए त्ति वत्त० - पा० ॥ ८. ०या गोयमा णो इणट्ठे समट्ठे - स० ॥ ९. तिणट्ठे - पु० ॥
(IV) १. ०कायप्पदेसे - अमो० । ०कायस्स पएसे - पा० ॥ २. पदेसूणे - पा० ॥ ३. एवं सगले चक्के नो-पा० । ०ग ।
A. पाठक २ उद्देशक० १० सूत्र १०१ (ii) ॥

[6]एवं छत्ते चम्मे दंडे [7]दूसे [8]आयुहे मोयए। से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ-'एगे [9]धम्मत्थिकायपदेसे नो धम्मत्थिकाए त्ति वत्तव्वं सिया जाव [10]एगपदेसूणे वि य णं धम्मत्थिकाए नो धम्मत्थिकाए त्ति वत्तव्वं सिया'।

छत्र, चर्म, दण्ड, वस्त्र, शस्त्र और मोदक के विषय में भी जानना चाहिए। इसी कारण से गौतम ! ऐसा कहा जाता है कि धर्मास्तिकाय के एक प्रदेश को यावत् जब तक उसमें एक प्रदेश भी कम हो, तब तक उसे धर्मास्तिकाय नहीं कहा जा सकता।

सूत्र १०२ (I) [1]से किं [2]खाइं णं भंते ! 'धम्मत्थिकाए' त्ति वत्तव्वं सिया ?

गोयमा ! असंखेज्जा [3]धम्मत्थिकायपदेसा ते सव्वे कसिणा पडिपुण्ण निरवसेसा [4]एगग्गहणगहिया, एस णं गोयमा ! [5]'धम्मत्थिकाए' त्ति वत्तव्वं सिया।

(II) एवं [6]अहम्मत्थिकाए वि।

(III) [7]आगासत्थिकाय-[8]जीवत्थिकाय-[9]पोग्गलत्थिकाया वि एवं चेव। [10]नवरं पदेसा अणंता भाणियव्वा। सेसं तं चेव।

(१०२) गौतम ! धर्मास्तिकाय में असंख्येय प्रदेश हैं, जब वे पूरे परिपूर्ण, निरवशेष तथा एक शब्द से कहने योग्य हो जाए, तब उसको, धर्मास्तिकाय, कहा जा सकता है।

(ii) इसी प्रकार अधर्मास्तिकाय के विषय में जानना चाहिए

(iii) आकाशास्तिकाय-जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय के विषय में भी इसी प्रकार जानना चाहिए। विशेषता यह है कि इन तीनों द्रव्यों के अनन्त प्रदेश कहना चाहिए बाकी सारा वर्णन पूर्ववत् समझना।

सगले चक्के णो खंडे चक्के एव - ला० ॥ ४. ०क्के एवं छत्ते - घा० ॥ ५. सकले - पु० ॥ ६. वि० पा०— खंडे छत्ते ? सगले छत्ते भगवं नो खंडे छत्ते सगले छत्ते। खंडे चम्मे ? सगले चम्मे ? भगवं नो खंडे चम्मे सगले चम्मे। खंडे दंडे ? सगले दंडे ? भगवं ! नो खंडे दंडे सगले दंडे। खंडे दूसे ? सगले दूसे ? भगवं ! नो खंडे दूसे सगले दूसे। खंडे आयुहे ? सगले आयुहे ? भगवं नो खंडे आयुहे। खंडे मोदए ? सगले मोदए ? भगवं नो खंडे मोदए सगले मोदए। - न० ॥ ७. दूसे - घा० । दूसे आयुहे मो० इति मूलवाचनागतः पाठ पूज्यपादागमप्रभाकरशोधितो ज्ञेयः। दूसे हेयुए मो० - लों० । दूसे हयुए मो० - ला० ला २ । दूहे हय मो० - ला ४ । दूसे आउपहे मो० - मु० ॥ ८. आउ पहे मो० - पु० आउहे - अमो० घा० ॥ ९ °कायप्पदेसे - अमो० ॥ १०. ०पएसूणे - घा० ॥

सूत्र १०२— १. से किं खाइं त्ति अथ किं पुनः इत्यर्थः" - अवृ० ॥ २. खानिए णं भंते - पु० । खाइएणं - अमो० ला० । खाइ - ला ४ ॥ ३. ०पएसा - पु० घा० । ०कायप्पएसा - अमो० ॥ ४. एगगहण० - पु० घा० । एक्कग्गहण - अमो० । एकगहण० - न० ला २ ॥ ५. धम्मत्थिकाए एस णं गोयमा धम्मत्थिकाए त्ति वत्तव्वं - लों० ला० ॥ ६. अधम्मत्थि० - घा० न० ॥ ७. ०काए वि - पु० घा० ॥ ८. ०काय वि - घा० । जीवपोग्गलत्थिकाए एवं चेव - ला ३ ॥ ९. ०काए वि - अमो० घा० ॥ १०. नवर तिण्हं पि पदेसा - पु० अमो० न० ला० ला २-३-४ । ०रं निरवसेसं पएसा - घा० ॥

चक्र, वस्त्र, मोदक आदि का एक भाग, चक्र वस्त्र, मोदक नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार धर्मास्तिकाय का एक प्रदेश धर्मास्तिकाय नहीं कहा जा सकता है। इसी प्रकार दो, प्रदेश से लेकर, संख्यात प्रदेश भी धर्मास्तिकाय नहीं कहला सकता। असंख्यात प्रदेशों में से एक प्रदेश कम होने पर भी धर्मास्तिकाय नहीं कहलाता। किन्तु धर्मास्तिकाय के प्रदेश कृत्स्न (संपूर्ण) हो प्रतिपूर्ण हो, निरवशेष हो, धर्मास्तिकाय एक शब्द से कहा जा सकता हो तो उसे धर्मास्तिकाय कहते है। अधर्मास्तिकाय के विषय में भी इसी प्रकार समझना चाहिए।

आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, और जीवास्तिकाय का वर्णन भी इसी प्रकार है, किन्तु प्रदेश अनन्त है।[1]

उपर्युक्त कथन निश्चयनय के अनुसार है। व्यवहार नयापेक्षा कुछ अधूरी वस्तु को भी उस नाम से पुकार जा सकता है, जिस प्रकार की मकान बन गया किन्तु अभी कुछ अधूरा है। फिर भी व्यवहार नयकी दृष्टि से उसे मकान नाम से कहा जा सकता है। मनुष्य है, किन्तु नेत्र नहीं है, पूर्ण नहीं होने पर भी उसे व्यवहार नय की दृष्टि से मनुष्य कहा जा सकता है।

जैनागमों के हार्द को समझने के लिये स्याद्वाद दृष्टिकोण रखना आवश्यक है। बिना स्याद्वाद की दृष्टि के जैन-सिद्धान्त समुचित रूप से नही समझा जा सकता।

आत्मभाव से जीवत्व का प्रकटीकरण—

सूत्र १०३ (1) जीवे णं भंते ! सउट्ठाणे सकम्मे सबले सवीरिए सपुरिसक्कार-परक्कमे आयभावेणं जीवभावं [1]उवदंसेती त्ति वत्तव्वं सिया ?

हंता गोयमा ! जीवे णं सउट्ठाणे [A]जाव [2]उवदंसेती त्ति वत्तव्वं सिया।

(1) (१०३) भगवन् ! उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, और पुरुषाकार पराक्रम से युक्त जीव आत्मभाव से जीव भाव को प्रकट करता है ! क्या ऐसा कहा जा सकता है ?

हाँ गौतम ! उत्थान कर्म, बल, और पुरुषाकार पराक्रम से युक्त जीव आत्मभाव को प्रकट करता है ऐसा कहा जा सकता है।

१- टिप्पण— यहाँ जीवास्तिकाय को अनंत प्रदेश वाला कहा है। जो कि अपेक्षा से समझना चाहिये। एक जीव की दृष्टि से तो असंख्य प्रदेश ही होते है। पर अनंत जीवों के मध्य करके एवं आत्मा की दृष्टि से जीवास्तिकाय को समुच्चय रूप से ग्रहण किया गया है। इस समुच्चय में अनंत जीवों का समावेश है। इस अपेक्षा से अनंत प्रदेश वाला जीवास्तिकाय कहा जाता है।

सूत्र २०३— १-२. उवदंसेईति - अमो० ॥ ३. ०त्त वत्त० - ला० ला ३ ॥ ४. सिया। गोयं - ला ४ ॥ ५. अनंता •

A. सकम्मे सबले सवीरिए सपुरिसक्कार-परक्कमे — आयभावेणं जीवभावं।

(ii) से [3]केणट्ठेणं [B]जाव वत्तव्वं [4]सिया ? गोयमा ! जीवे णं [5]अणंताणं [6]अभिणिबोहियनाणपज्जवाणं[7] एवं [8]सुयनाणपज्जवाणं[9] [10]ओहिनाणपज्जवाणं [11]मणपज्जवनाणपज्जवाणं [12]केवलनाणपज्जवाणं [13]मतिअण्णाणपज्जवाणं[14] [15]सुय-[16]अण्णाणपज्जवाणं[17]विभंगणाणपज्जवाणं [18]चक्खुदंसणपज्जवाणं [19]अचक्खुदंसणपज्जवाणं [20]ओहिदंसणपज्जवाणं केवलदंसणपज्जवाणं उवओग [21]गच्छइ, [22]उवओगलक्खणे णं [23]जीवे। से [24]तेणट्ठेणं एवं वुच्चइ-गोयमा ! [25]जीवे णं सउट्ठाणे [C]जाव वत्तव्वं सिया।

(ii) भगवन् ! ऐसा किस कारण से कहा है कि जीव आत्मभाव से जीवभाव को प्रदर्शित करता है ऐसा कहा जा सकता है।

गौतम ! जीव अभिनिबोधिक ज्ञान के अनन्त पर्यायो श्रुतज्ञान के अनन्त पर्यायों, अवधिज्ञान के अनन्त पर्यायों मन पर्यवज्ञान के अनन्त पर्यायों केवल ज्ञान के अनन्त पर्यायों के तथा मति अज्ञान, श्रुत अज्ञान विभंग ज्ञान के पर्यायों के चक्षु-दर्शन अचक्षु दर्शन, अवधि-दर्शन और केवल दर्शन के अनन्त पर्यायों के उपयोग को प्राप्त करता है। क्योकि जीव का लक्षण उपयोग हैं। इसीकारण से हे गौतम ! ऐसा कहा जाता है कि उत्थान कर्म, बल, वीर्य और पुरूषाकार पराक्रम वाला जीव आत्मभाव को प्रगट करता है।

विवेचन—

अनन्तानन्त जीवों का स्वकर्मानुसार विभिन्न योनियों में परिभ्रमण हो रहा है। सभी आत्माओं का मौलिक स्वरूप एक होने हुए भी कर्म-वश हो, आत्माएं विभिन्न रूपों मे भटकती रहती हैं। कर्म से आत्मा कितनी ही दव जाय, फिर भी उसका कुछ न कुछ अंश तो व्यक्त रहता ही है, जिससे चेतनत्व का बोध हो सके। जिस प्रकार बादल सूर्य को कितना हो आच्छादित कर दे, फिर भी अभी दिन है रात नही है, इतना बोध कराने वाला प्रकाश तो रहता ही है।

अमो० ॥ ६. आभिणिबो० - पु० अमो० न० वे० म० ॥ ७. ०णं अणंताणं - न० ॥ ८. सुतनाण० - वे० म० ॥ ९. णं अणंताणं ओहि० - न० ॥ १०. ०णं अणंताणं मण० - न० ॥ ११. ०णं अणंताणं के० - न० ॥ १२. ०णं अणंताणं मइअण्णा० - न० ॥ १३ मइअन्नाण० - पु० अमो० घा० ॥ १४. ०ण अणंताणं सुयं० - न० ॥ १५. सुतअण्णाण० - वे० म० ॥ १६ णं अणंताणं विभ० - न० ॥ १७. ०णं अणंताणं चक्खु० - न० ॥ १८. ०णं अणंताणं अच० - न० ॥ १९. ०णं अणंताणं ओहि० - न० ॥ २०. ०णं अणंताणं केव० - न० ॥ २१. गच्छति - वे० म० ॥ २२. उवयोग० - घा० वे० म० । २३. जीवे ॥ कतिविहे - लों० ला ४ । २४ से एएट्ठेणं - घा० न० । से एएणट्ठेणं - ला २ ॥ २५. जीवे सउ० - अमो० ॥

B. भंते ! एवं वुच्चइ-जीवे णं सउट्ठाणे सकम्मे सबले सवीरिए सपुरिसक्कार-परक्कमे आयभावेणं जीवभावं उवदंसेतीति ॥

C. सकम्मे सबले सवीरिए सपुरिसक्कार—परक्कमे आयभावेणं जीवभावं उवदंसेती ति ॥

आत्मा का मौलिक लक्षण उपयोगमय है। 'उवओगलक्खणे जीवे' जीवात्मा उपयोग लक्षण वाली है। उस आत्मा में मतिज्ञान श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान मनःपर्यवज्ञान, केवलज्ञान, मति अज्ञान, श्रुत अज्ञान, अवधि अज्ञान, चक्षुदर्शन अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन केवल दर्शन की अनन्त पर्याय विद्यमान है। ज्यों ज्यों आत्मा का जिस-जिस रूप में विकास होने लगता है, त्यों-त्यों ज्ञानादि की अनन्त पर्याय उस रूप में प्रकट होने लगती हैं।

जीव उत्थानादि के द्वारा भी अपने जीवत्व को बतलाता है। किन्तु जब घनीभूत कर्मों के कारण अत्यन्त अव्यक्त अवस्था आ जाती है, उस समय भी आत्मा के चैतन्य का इतना सा अंश तो व्यक्त रहता ही है कि जिससे उसके जीवत्व का बोध हो सके।

आकाशास्तिकाय के भेद-प्रभेद एवं स्वरूप का निरूपण—

सूत्र १०४ [1]कतिविहे णं भंते ! [2]आगासे पण्णत्ते ?

गोयमा ! दुविहे आगासे पण्णत्ते, तं जहा-[3]लोयागासे य अलोयागासे य ।

(१०४) भगवन् ! आकाश कितने प्रकार का कहा गया है ? गौतम ! आकाश दो प्रकार का कहा गया है। यथा-लोकाकाश और अलोकाकाश।

सूत्र १०५ [4]लोयागासे णं भंते ! किं जीवा जीवदेसा [5]जीवपदेसा, [6]अजीवा अजीवदेसा [7]अजीवपएसा ?

गोयमा ! जीवा वि जीवदेसा वि [8]जीवपदेसा वि, अजीवा वि अजीवदेसा वि [9]अजीवपदेसा वि । जे जीवा ते नियमा [10]एगिंदिया [11]वेइंदिया तेइंदिया चउरिंदिया पंचेंदिया अणिंदिया । जे [12]जीवदेसा ते नियमा [13]एगिंदियदेसा

(१०५) भगवन् ! क्या लोकाकाश में जीव है ? जीव के देश हैं ? जीव के प्रदेश है ? अजीव है ? अजीव के देश हैं ? अजीव के प्रदेश है ?

गौतम ! लोकाकाश में जीव भी है और जीव के देश भी हैं। जीव के प्रदेश भी है। अजीव भी हैं अजीव के देश भी हैं और अजीव प्रदेश भी हैं। जो जीव है, वे नियमतः एकेन्द्रिय हैं बेइन्द्रिय है त्रीन्द्रिय हैं चतुरिन्द्रिय हैं पंचेन्द्रिय हैं और अनिन्द्रिय है। जो जीव के देश हैं वे नियमत एकेन्द्रिय के देश हैं। यावत् अनिन्द्रिय के देश हैं। जो जीव के प्रदेश हैं वे नियमतः

सूत्र १०४-१०५-१०६ – १. कइविहे णं - अमो० पा० ॥ २. आकासे - बे० म० ॥ ३. लोयाकासे - क० ता० मं० बे० म० ॥ ४. लोयागासे - बे० म० । अत्र 'लोकाकासे' इति पद 'लोकाकाशे अधिकरणे' इति वृत्तिव्याख्यानात् सप्तमी विभक्त्यन्तं बोध्यम् - बे० ॥ ५. ०पएसा - अमो० । जीवप्पएसा - पा० । जीवप्पदेसा - म० ॥ ६. अजीवा० - ला २-४ ॥ ७. ०प्पएसा - पा० । ०प्पदेसा - म० ॥ अजीव० - ला २-४ ॥ ८. ०प्पएसा - पा० । ०प्पदेसा - म० ॥ ९. ०प्पएसा वि - पा० । ०प्पदेसा - म० ॥ १०. एगेंदिया - पा० ॥ ११. बेंदिया - पु० ॥ १२. जीवप्प०

[A]जाव [१४]अणिंदियदेसा। जे [१५]जीवपदेसा ते नियमा [१६]एगिंदियपदेसा [B]जाव [१७]अणिंदियपदेसा । जे अजीवा ते [१८]दुविहा पण्णत्ता, तं जहा-रूवी य अरूवी य। जेरूवी ते [१९]चउव्विहा [२०]पण्णत्ता, तं जहा-खंधा खंध देसा [२१]खंधपदेसा परमाणु पोग्गला । जे अरूवी ते [२२]पंचविहा पण्णत्ता, तं जहा धम्मत्थिकाए, नोधमत्थिकायस्स देसे [२३]धम्मत्थिकायस्स पदेसा, अधम्मत्थिकाए, नोअधम्मत्थिकायस्स [२४]देसे, अधम्मत्थिकायस्स [२५]पदेसा [२६]अद्धासमए ।

एकेन्द्रिय के प्रदेश हैं यावत् अनिन्द्रिय के प्रदेश हैं। जो अजीव है, वे दो प्रकार के कहे गये है यथा रूपी और अरूपी। जो रूपी हैं वे चार प्रकार के कहे गए है स्कन्ध, स्कन्ध देश, स्कन्ध प्रदेश और परमाणु पुदगल। जो अरूपी है उनके पांच भेद कहे गये है। वे इस प्रकार है:- धर्मास्तिकाय, नो धर्मास्तिकाय का देश, धर्मास्तिकाय के प्रदेश, अधर्मास्तिकाय, नो अधर्मास्तिकाय का देश, अधर्मास्तिकाय के प्रदेश और अद्धासमय है।

सूत्र१०६ [२७]अलोगागासे णं भंते । किं जीवा? [२८]पुच्छा [२९]तह [A]चेव । गोयमा ! नो जीवा [B]जाव नो [३०]अजीवप्पएसा । [३१]एगे [३२]अजीवदव्वदेसे [३३]अगुरुयलहुए अणंतेहिं [३४]अगुरुयलहुयगुणेहिं संजुत्ते सव्वागासे [३५]अणंतभागूणे ।

(१०६) भगवन् ! क्या आलोकाकाश में जीव है, यावत् अजीव प्रदेश हैं ? इत्यादि पूर्ववत्-पृच्छा। गौतम ! अलोकाकाश में जीव है, यावत् न ही अजीव प्रदेश है। वह एक अजीव द्रव्य देश है, अगुरुलघु है तथा अनन्त अगुरुलघु-गुणों से संयुक्त है (लोकाकाश सर्वाकाश का अनन्तवां भाग है अतः) वह अनन्तभाग कम सर्वाकाश रूप है।

देसा - न० ॥ १३. ०सा जे जीव० - घा० ॥ १४. ०यपदेसा जे अजीवा - अमो० ॥ १५. ०पएसा - घा० ॥ १६. ०पएसा - घा० ॥ १७. ०पएसा - घा० ॥ १८. दुविवहा - घा० । दुविधा - वे० ॥ १९. चचव्विधा - वे० ॥ २०. पणता - घा० ॥ २१. खंधपएसा - घा० ॥ २२. पंचविधा - वे० ॥ २३. धम्मत्थिकायपएसा - घा० ॥ २४. देसा - लों० ला १ ॥ २५. पएसा - घा० २६. ०समये - घा० ॥ २७. अलोयाकासेणं - अमो० । अलोयागासे - न० लों० ला १ ॥ २८. वि पा.-- जीवदेसा ? जीवप्पदेसा ? अजीवा ? अजीवदेसा ? अजीवप्पदेसा ? - न० ॥ २९. तध चेव - वे० ॥ ३०. ०प्पदेसा - अमो० न० ॥ ३१. एगे अजीव देसे - ला० ला ३ । एगे अजीवपदेसे - ला ४ ॥ ३२. अजीवपएसा एगे अजीवदव्वदेसे अगुरु० - घा० ॥ ३३. अगरुय० - ला १-२ ॥ ३४. अगुरुलहुय० - घा० ॥ ३५. ०गूणे । लोयागासे णं भंते ! कतिवण्णे २ पुच्छा । गो० ! अवण्णे ४ जाव अफासे एगे अजीव दव्वदेसे अगुरुयलहुए अणंतेहिं अगुरुयलहुयगुणेहिं संजुत्ते सव्वागासस्स अणंतभागो ॥ धम्मत्थि० - ला २ ॥

A. बेइंदियदेसा तेइंदिय देसा चउरिंदियदेसा पंचिंदियदेसा ॥

B. बेइंदियपदेसा, तेइंदियपदेसा, चउरिंदियपदेसा पंचिंदियपदेसा ॥

सू. १०६ A. शतक २ उद्देशक १० सूत्र १०५ ॥

B. नो जीवदेसा नो जीवप्पदेसा नो अजीवा नो अजीवदेस ॥

आत्मा का मौलिक लक्षण उपयोगमय है। 'उवओगलक्खणे जीवे' जीवात्मा उपयोग लक्षण वाली है। उस आत्मा में मतिज्ञान श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान मनःपर्यवज्ञान, केवलज्ञान, मति अज्ञान, श्रुत अज्ञान, अवधि अज्ञान, चक्षुदर्शन अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन केवल दर्शन की अनन्त पर्यायें विद्यमान हैं। ज्यों ज्यों आत्मा का जिस-जिस रूप में विकास होने लगता है, त्यों-त्यों ज्ञानादि की अनन्त पर्यायें उस रूप में प्रकट होने लगती हैं।

जीव उत्थानादि के द्वारा भी अपने जीवत्व को बतलाता है। किन्तु जब घनीभूत कर्मों के कारण अत्यन्त अव्यक्त अवस्था आ जाती है, उस समय भी आत्मा के चैतन्य का इतना सा अंश तो व्यक्त रहता ही है कि जिससे उसके जीवत्व का बोध हो सके।

आकाशास्तिकाय के भेद-प्रभेद एवं स्वरूप का निरूपण—

सूत्र १०४ [१]कतिविहे णं भंते ! [२]आगासे पण्णत्ते ?

गोयमा ! दुविहे आगासे पण्णत्ते, तं जहा-[३]लोयागासे य अलोयागासे य ।

सूत्र १०५ [४]लोयागासे णं भंते ! किं जीवा जीवदेसा [५]जीवपदेसा, [६]अजीवा अजीवदेसा [७]अजीवपएसा ?

गोयमा ! जीवा वि जीवदेसा वि [८]जीवपदेसा वि, अजीवा वि अजीवदेसा वि [९]अजीवपदेसा वि । जे जीवा ते नियमा [१०]एगिंदया [११]बेइंदिया तेइंदिया चउरिंदिया पंचेंदिया अणिंदिया । जे [१२]जीवदेसा ते नियमा [१३]एगिंदियदेसा

(१०४) भगवन् ! आकाश कितने प्रकार का कहा गया है ? गौतम ! आकाश दो प्रकार का कहा गया है। यथा-लोकाकाश और अलोकाकाश।

(१०५) भगवन् ! क्या लोकाकाश में जीव है ? जीव के देश हैं ? जीव के प्रदेश है ? अजीव है ? अजीव के देश हैं ? अजीव के प्रदेश है ?

गौतम ! लोकाकाश में जीव भी है और जीव के देश भी हैं। जीव के प्रदेश भी हैं। अजीव भी है अजीव के देश भी हैं और अजीव प्रदेश भी हैं। जो जीव हैं, वे नियमतः एकेन्द्रिय हैं बेइन्द्रिय हैं त्रीन्द्रिय हैं चतुरिन्द्रिय हैं पचेन्द्रिय हैं और अनिन्द्रिय हैं। जो जीव के देश हैं वे नियमत एकेन्द्रिय के देश हैं। यावत् अनिन्द्रिय के देश हैं। जो जीव के प्रदेश हैं वे नियमतः

सूत्र १०४-१०५-१०६ — १. कइविहेणं - अमो० घा० ॥ २. आकासे - बे० म० ॥ ३. लोयाकासे - क० ना० मं० बे० म० ॥ ४. लोयाकासे - बे० म०। अत्र 'लोकाकासे' इति पदं 'लोकाकाशे अधिकरणे' इति वृत्तिकारवचनात् 'सप्तमी विभक्त्यन्तं बोध्यम् - बे० ॥ ५. ०पएसा - अमो०। जीवप्पएसा - घा०। जीवप्पदेसा - न० ॥ ६. अज्जीव० - ला २-४ ॥ ७. ०वप्पएसा - घा०। ०वप्पदेसा - न० ॥ अज्जीव० - ला २-४ ॥ ८. ०वप्पएसा - घा०। ०वप्पदेसा - न० ॥ ९. ०वप्पएसा वि - घा०। ०वप्पदेसा - न० ॥ १०. एगेंदिया - घा० ॥ ११. बेंदिया - पु० ॥ १२. जीवप्प-

होने से धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय के स्कंध को ग्रहण किया। उनके देश को ग्रहण नहीं किया। इस प्रकार अवशेष पांच भेद अरूपी अजीव के यहां प्रतिपादित है।

जब सम्पूर्ण धर्मास्तिकाय की विवेचना करनी होती है तब धर्मास्तिकाय रूप से निर्देश होता है, किन्तु धर्मास्तिकाय की आंशिक रूप में विवेचना करनी होती है, तब उसका आपेक्षिक देश प्रदेश रूप से कथन किया जाता है। धर्मास्तिकाय के देश अवस्थित रूप वाले नहीं होने से उनका अलग से कथन नहीं किया जा सकता।

यद्यपि जीवादि देश भी अनवस्थित रूप से रहे हुए है। वे एक ही आश्रय में भिन्न रूप से संभवित है और संकोचविस्तार स्वभाव वाले है अतः इनका अलग से कथन किया गया है। धर्मास्तिकाय में इस प्रकार नहीं होने से मूल पाठ में नोधम्मत्थिकायस्स देसे कहा गया है।[1]

जीव और पुद्गल बहुत हैं। ये संकोचविस्तार स्वभाव वाले भी होने से जिस स्थल पर एक जीव और एक पुद्गल समा सकता है, उसी स्थल पर अनेक जीव और अनेक पुद्गल समा सकते है। इसीलिये कहा है कि बहुत जीव बहुत जीवों के देश, बहुत जीवों के प्रदेश, बहुत पुद्गल, बहुत पुद्गलों के देश, बहुत पुद्गलों के प्रदेश।

अद्धासमय—काल। समय का परिवर्तन अनवरत रुप से चल रहा है। भूत और अनागत समय असद् रूप होने से वर्तमान की दृष्टि से अद्धा समय, एक ही है। इस प्रकार लोकाकाश संबन्धी छः प्रश्नों का उत्तर होने के पश्चात् अलोकाकाश के संबन्ध में भी इसी प्रकार के छः प्रश्न किये गए हैं।

अलोकाकाश में जीव अजीवादि तथा उनके देश, प्रदेश नहीं है। आकाश के जो दो भेद किये गए हैं—लोकाकाश और अलोकाकाश। उसमें से वह अलोकाकाश रूप है। इस अपेक्षा से अजीव द्रव्य का एक भाग अलोकाकाश है। लोकाकाश, अलोकाकाश का अनन्तवां भागरूप है। अतः अलोकाकाश लोकाकाश का अनन्तवां भाग कम संपूर्ण आकाश है। तथा अगुरुलघु है। स्व-पर पर्याय रूप अगुरुलघु स्वभाव वाले अनन्त गुणों से युक्त है।

धर्मास्तिकायादि का प्रमाण—

उत्थानिका—

पूर्व सूत्र में आकाश का भेद बतलाया गया। उसका भेद करने वाले धर्मास्तिकाय आदि हैं। वे धर्मास्तिकाय आदि कितने विशाल है इसका वर्णन प्रस्तुत सूत्र में किया जा रहा है।

---

1. टिप्पण— चूर्णिकार का भी यही कहना है कि अरूपी द्रव्यों का कथन समुदाय या प्रदेश शब्द में ही होना है। तथापि कहीं पर जो देश शब्द कथन किया गया है वह धर्मास्तिकाय संबन्धी व्यवहार के लिये तथा ऊर्ध्व लोकाकाश के स्पर्शना संबन्धी व्यवहार के लिये किया गया है। जैसे अमुक धर्मास्तिकाय का देश ऊर्ध्वलोकाकाश से स्पृष्ट है, अमुक धर्मास्तिकाय का देश अधोलोकाकाश से स्पृष्ट है इत्यादि।

विवेचन—

जीव और अजीव— दोनों ही तत्वों का आश्रयस्थान आकाश है। यह आकाश भी मुख्यरूप से दो भागों में विभक्त होता है। लोकाकाश और अलोकाकाश।

जिन आकाशप्रदेशों में पंचास्तिकाय विद्यमान हो, उन्हें लोकाकाश कहते हैं। जिनमें पंचास्तिकाय का अस्तित्व न हो, उसे अलोकाकाश कहते हैं। लोकाकाश के आश्रय में स्थित सभी जीव, जीवों का देश अर्थात् जीव के दो या तीन विभाग, जीव प्रदेश अर्थात् जिसका विभाग नहीं किया जा सके, ऐसा जीव प्रदेश जीव के देश और प्रदेश वास्तविक नहीं होते किन्तु बुद्धि से कल्पित किये गए है। इसी प्रकार धर्मास्तिकाय और आकाशिस्तकाय के अजीव, अजीव देश और अजीव प्रदेश होते हैं।

यहां सहज जिज्ञासा होती है कि जीव और अजीव के कहने से ही देश और प्रदेश का ग्रहण हो जाता है फिर उन्हें पृथक् रूप से परिगणित क्यों किया गया ?

शिष्य बुद्धि में सहज रूप से अर्थ का बोध हो सके, आत्म-प्रदेशों की अभिन्नता को तथा अजीवों के देश-प्रदेश के भी अवगाह स्थान का स्पष्टरूप से बोध प्राप्त हो सके, एतदर्थ अलग-अलग रूप से कथन किया गया है। दूसरी बात यह है कि कई मतानुयायी जीवादि पदार्थों को निरवयव मानते थे। वास्तव में जीवादि पदार्थ सावयव है। इस वस्तु स्वरूप को समझाने के लिये भी इनका अलग रूप से कथन किया गया है।

अजीव तत्व के दो भेद होते हैं—रूपी और अरूपी।

जो रूपवान हो अर्थात् जिस में वर्ण, गंध, रस, स्पर्श हो उसे रूपी कहते हैं। जिसमें वर्णादि का अभाव हो उसे अरूपी कहते हैं।

रूपी अजीव के मुख्यतया चार भेद हैं— स्कन्ध-देश-प्रदेश और परमाणु। परमाणुओं के समूह को स्कन्ध कहते है। स्कन्ध के दो-तीन आदि विभागों को देश कहते हैं।

स्कंध के अविभाज्य अंश को प्रदेश कहते है। स्कंध गत अविभाज्य अंश, स्कंध से अलग हो जाने पर परमाणु कहलाता है।

अरूपी अजीव के दस भेद होते है। धर्मास्तिकाय, धर्मास्तिकाय के देश, धर्मास्तिकाय के प्रदेश अधर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय के देश, अधर्मास्तिकाय के प्रदेश, आकाशास्तिकाय, आकाशास्तिकाय के देश, आकाशास्तिकाय के प्रदेश और अद्धासमय।

प्रस्तुत मूल पाठ में अरूपी अजीव के पांच भेदों में ही अवशेष भेदों का समावेश कर लिया है। आकाश को आधार रूप मानकर तत्संबंधी तीन भेद कम कर दिये है। सम्पूर्ण लोक विषयक पृच्छा

होने से धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय के स्कंध को ग्रहण किया। उनके देश को ग्रहण नहीं किया। इस प्रकार अवशेष पांच भेद अरूपी अजीव के यहां प्रतिपादित है।

जब सम्पूर्ण धर्मास्तिकाय की विवेचना करनी होती है तब धर्मास्तिकाय रूप से निर्देश होता है, किन्तु धर्मास्तिकाय की आंशिक रूप में विवेचना करनी होती है, तब उसका आपेक्षिक देश प्रदश रूप से कथन किया जाता है। धर्मास्तिकाय के देश अवस्थित रूप वाले नही होने से उनका अलग से कथन नही किया जा सकता।

यद्यपि जीवादि देश भी अनवस्थित रूप से रहे हुए है। वे एक ही आश्रय में भिन्न रूप से संभवित है और संकोचविस्तार स्वभाव वाले है अतः इनका अलग से कथन किया गया है। धर्मास्तिकाय में इस प्रकार नहीं होने से मूल पाठ में नोधम्मत्थिकायस्स देसे कहा गया है।[1]

जीव और पुद्गल बहुत है। ये संकोचविस्तार स्वभाव वाले भी होने से जिस स्थल पर एक जीव और एक पुद्गल समा सकता है, उसी स्थल पर अनेक जीव और अनेक पुद्गल समा सकते है। इसीलिये कहा है कि बहुत जीव बहुत जीवों के देश, बहुत जीवों के प्रदेश, बहुत पुद्गल, बहुत पुद्गलों के देश, बहुत पुद्गलों के प्रदेश।

अद्धासमय—काल। समय का परिवर्तन अनवरत रूप से चल रहा है। भूत और अनागत समय असद् रूप होने से वर्तमान की दृष्टि से अद्धा समय, एक ही है। इस प्रकार लोकाकाश संबन्धी छः प्रश्नों का उत्तर होने के पश्चात् अलोकाकाश के संबन्ध में भी इसी प्रकार के छः प्रश्न किये गए हैं।

अलोकाकाश में जीव अजीवादि तथा उनके देश, प्रदेश नहीं है। आकाश के जो दो भेद किये गए हैं—लोकाकाश और अलोकाकाश। उसमें से वह अलोकाकाश रूप है। इस अपेक्षा से अजीव द्रव्य का एक भाग अलोकाकाश है। लोकाकाश, अलोकाकाश का अनन्तवां भागरूप है। अतः अलोकाकाश लोकाकाश का अनन्तवां भाग कम संपूर्ण आकाश है। तथा अगुरुलघु है। स्व।र पर्याय रूप अगुरुलघु]भाव वाले अनन्त गुणों से युक्त है।

धर्मास्तिकायादि का प्रमाण—

त्थानिका—

पूर्व सूत्र में आकाश का भेद बतलाया गया। उसका भेद करने वाले धर्मास्तिकाय आदि हैं। धर्मास्तिकाय आदि कितने विशाल है इसका वर्णन प्रस्तुत सूत्र में किया जा रहा है।

---

[1] टिप्पण—चूर्णिकार का भी यही कहना है कि अरूपी द्रव्यों का कथन समुदय या प्रदेश शब्द में ही होता है। तथापि कहीं पर जो देश शब्द कथन किया गया है वह धर्मास्तिकाय संबन्धी व्यवहार के लिये तथा ऊर्ध्व लोकाकाश के स्पर्शना संबन्धी व्यवहार के लिये किया गया है। जैसे अमुक धर्मास्तिकाय का देश ऊर्ध्वलोकाकाश से स्पृष्ट है, अमुक धर्मास्तिकाय का देश अधोलोकाकाश से स्पृष्ट है इत्यादि।

सूत्र १०७. (I) धम्मत्थिकाए णं भंते ! [1]किं (के) महालए पण्णत्ते ?

गोयमा ! लोए लोयमेत्ते [2]लोयप्पमाणे लोयफुडे लोयं चेव फुसित्ताणं चिट्ठइ ।

(II) [3]एवं [4]अधम्मत्थिकाए, [5]लोयागासे, जीवत्थिकाए, पोग्गलत्थिकाए । पंच वि एक्काभिलावा ।

(I) १०७. भगवन् ! धर्मास्तिकाय कितना विशाल कहा गया है ?

गौतम ! धर्मास्तिकाय लोक रूप है, लोक मात्र है, लोक प्रमाण है, लोक स्पृष्ट है और लोक को ही स्पर्श करके रहा हुआ है ।

(II) इसी प्रकार अधर्मास्तिकाय, लोकाकाश, जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय के संबंध में भी समझ लेना चाहिए इन पांचों के सम्बन्ध में एक समान पाठ है ।

विवेचन—

लोकाकाश जितना बड़ा है उतना ही विशाल धर्मास्तिकाय है । असंख्येय प्रदेशात्मक लोकाकाश है तो धर्मास्तिकाय भी असंख्येय प्रदेशात्मक है । धर्मास्तिकाय के सभी प्रदेश लोकाकाश के सभी प्रदेशों को स्पर्श करके रहे हुए हैं ।

वह धर्मास्तिकाय ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और मध्यलोक में कितना विस्तृत है । एतद् विषयक वर्णन किया जा रहा है ।

अधोलोक में धर्मास्तिकाय आधे से अधिक भाग को स्पर्श करता है । क्योंकि चवदह राजु प्रमाण लोक में से अधोलोक सात राजु से कुछ अधिक है । तिर्यक्लोक, धर्मास्तिकाय के असंख्यातवें भाग का स्पर्श करता है । क्योंकि असंख्यात योजन प्रमाण लोक में से तिर्यक्लोक मात्र अट्ठारह सौ योजन प्रमाण ही है ।

ऊर्ध्वलोक धर्मास्तिकाय आधे से अधिक भाग को स्पर्श करता है क्योंकि ऊर्ध्वलोक कुछ कम सात राजु प्रमाण है । अतः वह उतने में स्थित धर्मास्तिकाय का स्पर्श करता है ।

धर्मास्तिकाय के समान ही अधर्मास्तिकाय लोकाकाश जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय के विषय में भी जानना चाहिये । ये सब भी समस्त लोक में विद्यमान है ।

सूत्र १०७-१०८-१०९-११० — १. किं - णत्थि अमो० पा० बे० मं० न० ॥ २. लोयप्पमत्ते लोय० - ला १ ॥ ३. वि० पा०—अधम्मत्थिकाए णं भंते ! केमहालए पण्णत्ते ? गोयमा ! लोए लोयमेत्ते लोयप्पमाणे लोयफुडे लोयं चेव फुसित्ता णं चिट्ठइ ॥ लोयाकासे णं भंते ! केमहालए पण्णत्ते ? गोयमा ! लोए लोयमेत्ते लोयप्पमाणे लोयफुडे लोयं चेव फुसित्ता णं चिट्ठइ ॥ जीवत्थिकाए णं भंते ! केमहालए पण्णत्ते ? गोयमा ! लोए लोयमेत्ते लोयप्पमाणे लोयफुडे लोयं चेव फुसित्ता णं चिट्ठइ ॥ पोग्गलत्थिकाए णं भंते ! केमहालए पण्णत्ते ? गोयमा ! लोए लोयमेत्ते लोयप्पमाणे लोयफुडे लोयं चेव फुसित्ता णं चिट्ठइ अहे' - न० ॥ ४. अहम्म० - पु० अमो० । महम्मत्थि० - पा० ॥ ५. लोयाकासे-

धर्मास्तिकाय आदि को स्पर्शना—

सूत्र १०८ [६]अहेलोए णं भंते ! धम्मत्थिकायस्स [७]केवइयं [८]फुसति ?

गोयमा ! सातिरेगं अद्धं [९]फुसति ।

१०८ भगवन् ! धर्मास्तिकाय के कितने भाग को अधोलोक स्पर्श करता है ?

गौतम ! आधे से कुछ अधिक भाग को स्पर्श करता है।

सूत्र १०९ तिरियलोए णं [१०]भंते ! ० पुच्छा ।

गोयमा ! असंखेज्जइभागं [११]फुसइ ।

१०९ भगवन् ! धर्मास्तिकाय के कितने भाग को तिर्यग्लोक स्पर्श करता है ?

गौतम ! असंख्येय भाग को स्पर्श करता है।

सूत्र ११० उड्ढलोए णं [१२]भंते ! ० पुच्छा ।

गोयमा ! [१३]देसोणं अद्धं [१४]फुसइ ।

११० भगवन् ! धर्मास्तिकाय के कितने भाग को ऊर्ध्वलोक स्पर्श करता है ?

गौतम ! ऊर्ध्वलोक धर्मास्तिकाय के देशोन (कुछ कम) अर्धभाग को स्पर्श करता है।

धर्मास्तिकायादि की स्पर्शना—

पूर्व सूत्र में पंचास्तिकाय की स्पर्शना विषय बतलाया गया। उसी में धर्मास्तिकाय का स्पर्श रत्नप्रभा आदि में कितना होता है एतद् विषयक वर्णन प्रस्तुत सूत्र में किया जा रहा है।

सूत्र १११. [१]इमा णं भंते ! [२]रयणप्पभावपुढवी [३]धम्मत्थिकायस्स किं [४]संखेज्जइभागं [५]फुसति ? [६]असंखेज्जइभागं [७]फुसइ ? [८]संखिज्जे [९]भागे [१०]फुसति ?

(१११) भगवन् ! यह रत्न प्रभा पृथ्वी, क्या धर्मास्तिकाय के संख्यात भाग को स्पर्श करती है या असंख्यात भाग को स्पर्श करती है अथवा संख्यात भागों को स्पर्श करती हैं या असंख्यात भागों को स्पर्श करती है। अथवा समग्र को स्पर्श करती है ?

अमो० वे० म० ॥ ६. अहोलोए - अमो० घा० न० म० ॥ ७. केवतियं - वे० म० ॥ ८. फुसइ - अमो० ॥ ९. फुसइ- अमो० घा० ॥ १०. भंते धम्मत्थिकायस्स केवइयं फुसति - न० ॥ ११. फुसति - न० ॥ । १२. भंते धम्मत्थिकायस्स केवइयं फुसति - न० ॥ १३. देसूणं - पु० अमो० घा० न० लो० ला ३ ॥ १४. फुसत्ति - न० ॥

सूत्र १११-११२— १. अत्र वृतिकृद्भिरेवं सूचितम्— "इह प्रतिपृथिवि पंच सूत्राणि (सर्वाणि पंचत्रिंशत्) देवलोक सूत्राणि द्वादश ग्रैवेयक सूत्राणि त्रीणि, अनुत्तर-ईषत्प्राग्भारासूत्रे द्वे एवं द्वि पंचाशत् सूत्राणि"। अनया वृत्तिकार-गणनया जम्बुद्वीपादिक द्वीपानाम् लवणसमुद्रादिक समुद्राणां च सूत्राणि अत्र नैव संघटंते अत एव 'जंबुद्दीवाइया दीवा लवणसमुद्दाइया समुद्दा' एतादृश्य: पाठः समितिमुद्रित पुस्तके विद्यमानोऽपि अत्र न गृहीतः। तथा एतमेव भावं 'पुढवोद ही घण तण कप्पा" इत्येवां गाथा अपि समर्थयति - मम्पा० वे० ॥ २ ०प्पमाणे पुढवी - अमो० । रयण-प्पभा - वे० ॥ ३. ०स्स संखे० - ला० ला २-३ ॥ ४ संखेज्ज भाग - घा० ॥ ५-१०-१२-१३-१५-२०-२५-६. असंखेज्ज भागं - घा० ॥ ७ फुसति - न० । ८ संखेज्जे - अमो० घा० न० । संखेज्ज भागे सव्वं फुसति - ला०

असंखेज्जे [११]भागे [१२]फुसति ? सव्वं [१३]फुसति ?

गोयमा ! णो [१४]संखेज्जइभागं [१५]फुसति [१६]असंखेज्जइभागं [१७]फुसइ, णो [१८]संखेज्जे ०, णो [१९]असंखेज्जे ०, नो सव्वं [२०]फुसति ।

गौतम ! यह रत्न प्रभा पृथ्वी, धर्मास्तिकाय के संख्यात भाग को स्पर्श नहीं करती अपितु, असंख्यात भाग को स्पर्श करती है । इसी प्रकार संख्यात भागों को असंख्यात भागों या समग्र धर्मास्तिकाय को स्पर्श नहीं करती ।

सूत्र ११२ [२१]इमीसे णं भंते ! रयणप्पमाए [२२]पुढवीए [२३]घणोदहि [२४]धम्मत्थिकायस्स किं संखेज्जइभागं [२५]फुसति ? ० । [२६]जहा[A] रयणप्पभा तहा [२७]घणोदहि-[२८]घणवातं-तणुवाया वि ।

११२ भगवन् ! यह रत्न प्रभा पृथ्वी का घनोदधि क्या धर्मास्तिकाय के संख्यात भाग को स्पर्श करता है यावत् समग्र धर्मास्तिकाय को स्पर्श करता है ? इत्यादि पृच्छा ।

जिस प्रकार रत्न प्रभा पृथ्वी के लिये कहा गया है, उसी प्रकार रत्नप्रभा पृथ्वी के घनोदधि के विषय मे कहना चाहिए उसी तरह घनवात और तनुवात के विषय में कहना चाहिए

सूत्र ११३ (I) इमीसे णं भंते ! [१]रयणप्पभाए पुढवीए [२]उवासंतरे धम्मत्थिकायस्स किं [३]संखेज्जइभागं [४]फुसति, असंखेज्जइभागं [५]फुसइ [A]जाव सव्वं फुसइ ?

गोयमा ! संखेज्जइभागं [६]फुसइ, णो असंखेज्जइभाग फुसइ, [८]नो संखेज्जे ०, [९]नो असंखेज्जे०, नो सव्वं [१०]फुसइ ।

(i) ११३ भगवन् ! इस रत्न प्रभा पृथ्वी का अवकाशान्तर क्या धर्मास्तिकाय के संख्येय भाग को स्पर्श करता है । अथवा असंख्येय भाग को स्पर्श करता है ? यावत् सम्पूर्ण धर्मास्तिकाय को स्पर्श करता है ?

गौतम ! इस रत्न प्रभा पृथ्वी का अवकाशान्तर धर्मास्तिकाय के संख्येय भाग का स्पर्श करता है किन्तु असंख्येय भागो को असंख्येय भागों को तथा सम्पूर्ण धर्मास्तिकाय को स्पर्श नही करता है ।

ला० ३ ॥ ९. भागं - अमो० ॥ ११. भागं - अमो० ॥ १४. संखेज्जे भाग - धा० । ०ज्ज भागं - ला० ला. २ ॥ १६. असंखेज्जे भागं - धा० ॥ १७. फुसति - न० ॥ १८. ०ज्जे भागं फुसइ णो असंखेज्जे भागं फुसइ नो सव्वं - अमो० । ०ज्जे भागं फुसइ णो असंखेज्जे भागं फुसइ नो सव्वं ति - न० ॥ १९. ०ज्जे भागे फुसइ - धा० ॥ २१. इमीसे रय° - २२ ०ए उवासंतरे घणोदही - पु० ॥ २३. घणोदही - अमो० धा० न० म० । घणोदहि घणवात तणुवाया वि - वे० ॥ २४. ०स्स पुच्छा कि - पु० धा० ॥ २६. जहा रयणप्पभा - वे० ॥ २ . घणोदही - धा० ॥ २८. ०वाय तणुवाया ॥ द० - पु० । °वाय० - अमो० धा० न० ॥ २९. ०ति गोयमा जहा - अमो० । ०ति असंखेज्जइ भागं फुसति ? संखेज्जे भागे फुसति असंखेज्जे भागे फुसति ? सव्वं फुसति - न० ॥

A. सूत्र १११ ॥

सूत्र ११३-११४-११५-११६—

१. रयणप्पभाए - वे० ॥ २. ॥ २. ओवा० - न० वे० म० ॥ ३. संखेज्जति भागं - पु० । संखेज्ज । - न० ॥ ४. फुसइ - अमो० धा० ॥ ५. ०इ पुच्छा गोयमा - अमो० ॥ ६-७-१०. फुसति - न० ॥ ८. ०ज्जे भागे फुसति - न० ॥

(II) [11]ओवासंतराइं सव्वाइं जहा [12]रयणप्पभाए।

(ii) इसी तरह सभी अवकाशान्तरों के सम्बन्ध में कहना चाहिए।

सूत्र ११४ [13]जहा रयणप्पभाए पुढवीए [14]वत्तव्वया [15]भणिया एवं [B]जाव [16]अहेसत्तमाए।

११४ जैसे रत्नप्रभा पृथ्वी के विषय में कहा—वैसे ही यावत् नीचे सातवीं पृथ्वी तक कहना चाहिये।

सूत्र ११५ ([1]जंबुद्दीवाइया दीवा, लवण-समुद्दाइया समुद्दा) एवं सोहम्मे कप्पे [A]जाव [2]ईसिपब्भारापुढवीए[3] [4]एते [5]सव्वे वि [6]असंखेज्जइभागं [7]फुसति, सेसा [8]पडिसेहेयव्वा।

११५ (तथा जम्बू द्वीप आदि द्वीप और लवण समुद्र आदि समुद्र) सौधर्मकल्प से लेकर (यावत्) ईषत् प्राग्भार पृथ्वी तक, ये सभी धर्मास्तिकाय के असंख्येय भाग को स्पर्श करते हैं। शेष भागों की स्पर्शना का निषेध करना चाहिए।

सूत्र ११६ एवं अधम्मत्थिकाए। एवं [9]लोयागासे वि। गाहा-[10]पुढवोदही घण [11]तणू कप्पा [12]गेवेज्जऽणुत्तरा सिद्धी। [13]संखेज्जेइभागं [14]अंतरेसु सेसा असंखेज्जा ॥ १ ॥

११६ जिस तरह धर्मास्तिकाय की स्पर्शना कही उसी तरह अधर्मास्तिकाय और लोकाशास्तिकाय की स्पर्शना के विषय में भी कहना चाहिए।

पृथ्वी, घनोदधि, घनवात, तनुवात, कल्प, ग्रैवेयक, अनुत्तर, सिद्धि ईषत् प्राग्भार पृथ्वी तथा सात अवकाशान्तर इनमें से अवकाशान्तर तो धर्मास्तिकाय के संखेय भाग का स्पर्श करते है और शेष सब धर्मास्तिकाय के असंख्येय भाग का स्पश करते हैं।

॥ बितीय सए दसमो उद्देसो समत्तो ॥

॥ बिइयं सयं समत्तं ॥

॥ द्वितीय शतक का दसवां उद्देशक समाप्त ॥

९. ०ज्जे भागे फुसति - न० ॥ ११. उवास० पु० अमो० घा० ॥ १२ ०ए पुढवीए वत्त० - पु० अमो० घा० न० ज० ला १-२ विना ॥ १३. जधा - बे० ॥ १४. ०था भाणियव्वा एवं - लों० ला० ३-४ ॥ १५. भाणिया - अ० ता० य० स० ॥ १६. माए जंबुद्दीवाईया दीव समुद्दा। एवं सो - ला १ मु० ॥

सूत्र ११५ ११६. जंबुद्दीवाइया - घा० म०। (जंबु ... समुद्दा) - णत्थि न० बे० ॥ २ ईसिपब्भाए पुढ० - अमो०। ईसीपब्भा० - घा०। ईसीपब्भा - न० ॥ ३. °पुढवी फुसइ ते सव्वे - घा०। पुढवी एते - न० लों० ला० ॥ ४. ते सव्वे वि - अमो० ॥ ५. सव्वेऽपि - पु० ॥ ६. ०ज्जतिभागं - पु० ॥ ७. फुसइ - अमो०। फुसंति - घा० न० ॥ ८ पडिसेहियव्वा - न०। हेतव्वा - बे० म० ॥ ९. लोयावासे वि - न० ॥ १०. पुढवी उदहि - अमो० ॥ ११. तणु - पु० ॥ १२. °ज्जणुत्तरा - पु० घा० न०। 'गेवेज्जाणुत्तरा - अमो० ॥ १३. 'ज्जतिभागं - पु० ॥ १४. अंतरासु सेसा - ला ४ ॥

A. संखेज्जे भागे फुसति असंखेज्जे भागे फुसंति सव्वे ॥
शतक २ उद्दे० १० सूत्र १११ से ११३ और शतक २ उद्दे० ३ सूत्र ॥

B. "जाव" पदेन ईशानत आरम्य ग्रैवेय। पर्यन्तानाम् देवलोकानां नामानि योज्यानि ॥

असंखेज्जे [११]भागे [१२]फुसति ? सव्वं [१३]फुसति ?

गोयमा ! णो [१४]संखेज्जइभागं [१५]फुसति [१६]असंखेज्जइभागं [१७]फुसइ, णो [१८]संखेज्जे ०, णो [१९]असंखेज्जे ०, नो सव्वं [२०]फुसति ।

गौतम ! यह रत्न प्रभा पृथ्वी, धर्मास्तिकाय के संख्यात भाग को स्पर्श नहीं करती अपितु, असंख्यात भाग को स्पर्श करती है। इसी प्रकार संख्यात भागों को असंख्यात भागों या समग्र धर्मास्तिकाय को स्पर्श नहीं करती।

सूत्र ११२ [२१]इमीसे णं भंते ! रयणप्पमाए [२२]पुढवीए [२३]घणोदहि [२४]धम्मत्थिकायस्स किं संखेज्जइभागं [२५]फुसति ? ०। [२६]जहा[A] रयणप्पभा तहा [२७]घणोदहि-[२८]घणवातं-तणुवाया वि ।

११२ भगवन् ! यह रत्न प्रभा पृथ्वी का घनोदधि क्या धर्मास्तिकाय के संख्यात भाग को स्पर्श करता है यावत् समग्र धर्मास्तिकाय को स्पर्श करता है ? इत्यादि पृच्छा।

जिस प्रकार रत्न प्रभा पृथ्वी के लिये कहा गया है, उसी प्रकार रत्नप्रभा पृथ्वी के घनोदधि के विषय मे कहना चाहिए उसी तरह घनवात और तनुवात के विषय में कहना चाहिए

सूत्र ११३ (i) इमीसे णं भंते! [१]रयणप्पभाए पुढवीए [२]उवासंतरे धम्मत्थिकायस्स किं [३]संखेज्जइभागं [४]फुसति, असंखेज्जइभागं [५]फुसइ [A]जाव सव्वं फुसइ ?

(i) ११३ भगवन् ! इस रत्न प्रभा पृथ्वी का अवकाशान्तर क्या धर्मास्तिकाय के संख्येय भाग को स्पर्श करता है। अथवा असंख्येय भाग को स्पर्श करता है ? यावत् सम्पूर्ण धर्मास्तिकाय को स्पर्श करता है ?

गोयमा ! संखेज्जइभागं [६]फुसइ, णो असंखेज्जइभाग फुसइ, [८]नो संखेज्जे ०, [९]नो असंखेज्जे०, नो सव्वं [१०]फुसइ ।

गौतम ! इस रत्न प्रभा पृथ्वी का अवकाशान्तर धर्मास्तिकाय के संख्येय भाग का स्पर्श करता है किन्तु असंख्येय भागों को असंख्येय भागों को तथा सम्पूर्ण धर्मास्तिकाय को स्पर्श नही करता है।

ला ३ ॥ ९. भागं - अमो० ॥ ११. भागं - अमो० ॥ १४. संखेज्जे भाग - घा० । ०ज्ज भागं - ला० ला ३ ॥ १६. असंखेज्जे भागं - घा० ॥ १७. फुसति - न० ॥ १८. ०ज्जे भागं फुसइ णो असंखेज्जे भागं फुसइ नो सव्वं - अमो० । ०ज्जे भागं फुसइ णो असंखेज्जे भागं फुसइ नो सव्वं ति - न० ॥ १९. ०ज्जे भागे फुसइ - घा० ॥ २१. इमीसे रय° - २२ ०ए उवासंतरे घणोदही - पु० ॥ २३. घणोदही - अमो० घा० न० म० । घणोदहि घणवात तणुवाया वि - ब्रे० ॥ २४. ०स्स पुच्छा किं - पु० घा० ॥ २६. जधा रयणप्पमा - ब्रे० ॥ २ . घणोदही - घा० ॥ २८. ०वाय तणुवाया ॥ [illegible] - पु० । °वाय० - अमो० घा० न० ॥ २९. ०िं गोयमा जहा - अमो० । ०ति असंखेज्जइ भागं फुसति ? संखेज्जे भागे फुसति असंखेज्जे भागे फुसति ? सव्वं फुसति - न० ॥

A. सूत्र १११ ॥

सूत्र ११३-११४-११५-११६—

१. रयणप्पभाए - ब्रे० ॥ २. ॥ २. ओवा० - न० ब्रे० म० ॥ ३. संखेज्जति भागं - पु० । संखेज्ज । - न० ॥ ४. फुसइ - अमो० घा० ॥ ५. ०इ पुच्छा गोयमा - अमो० ॥ ६-७-१०. फुसति - न० ॥ ८. ०ज्जे भागे फुसति - न० ॥

(II) [11]ओवासंतराइं सव्वाइं जहा [12]रयणप्पभाए ।

(ii) इसी तरह सभी अवकाशान्तरों के सम्बन्ध में कहना चाहिए।

सूत्र ११४ [13]जहा रयणप्पभाए पुढवीए [14]वत्तव्वया [15]भणिया एवं [B]जाव [16]अहेसत्तमाए ।

११४ जैसे रत्नप्रभा पृथ्वी के विषय में कहा—वैसे ही यावत् नीचे सातवीं पृथ्वी तक कहना चाहिये।

सूत्र ११५ ([1]जंबुद्दीवाइया दीवा, लवण-समुद्दाइया समुद्दा।) एवं सोहम्मे कप्पे [A]जाव [2]ईसिपब्भारापुढवीए[3] [4]एते [5]सव्वे वि [6]असंखेज्जइभागं [7]फुसंति, सेसा [8]पडिसेहेयव्वा ।

११५ (तथा जम्बू द्वीप आदि द्वीप और लवण समुद्र आदि समुद्र) सौधर्मकल्प से लेकर (यावत्) ईषत् प्राग्भार पृथ्वी तक, ये सभी धर्मास्तिकाय के असख्येय भाग को स्पर्श करते हैं। शेष भागों की स्पर्शना का निषेध करना चाहिए।

सूत्र ११६ एवं अधम्मत्थिकाए । एवं [9]लोयागासे वि । गाहा-[10]पुढवोदही घण [11]तणू कप्पा [12]गेवेज्जऽणुत्तरा सिद्धी । [13]संखेज्जेइभागं [14]अंतरेसु सेसा असंखेज्जा ।। ? ।।

११६ जिस तरह धर्मास्तिकाय की स्पर्शना कही उसी तरह अधर्मास्तिकाय और लोकाशास्तिकाय की स्पर्शना के विषय में भी कहना चाहिए।

पृथ्वी, घनोदधि, घनवात, तनुवात, कल्प, ग्रैवेयक, अनुत्तर, सिद्धि ईषत् प्राग्भार पृथ्वी तथा सात अवकाशान्तर इनमें से अवकाशान्तर तो धर्मास्तिकाय के संखेय भाग का स्पर्श करते हैं और शेष सब धर्मास्तिकाय के असंख्येय भाग का स्पर्श करते हैं।

।। बितीय-सए दसमो उद्देसो समत्तो ।।
।। बिइयं सयं समत्तं ।।

।। द्वितीय शतक का दसवां उद्देशक समाप्त ।।

---

१. ०ज्जे भागे फुसति - न० ।। ११. उवास० पु० अमो० धा० ।। १२ ०ए पुढवीए वत्त० - पु० अमो० धा० न० ज० ला १-२ विना ।। १३. जधा - वे० ।। १४. ०धा भाणियव्वा एवं - लो० ला० ३-४ ।। १५. भाणिया - अ० ता० ब० स० ।। १६. माए जवुद्दीवाईया दीव समुद्दा । एव सो - ला १ मु० ।।

सूत्र ११५ ११६. जंबुद्दीवाइया - धा० म० । (जंबु ... समुद्दा) - णत्थि न० बे० ।। २ इसिपब्भाए पुढ० - अमो० । इसीपब्भा० - धा० । ईसीपब्भा - न० ।। ३. °पुढवी फुसइ ते सव्वे - धा० । पुढवी एते - न० जे० ला० ।। ४. ते सव्वे वि - अमो० ।। ५. सव्वेऽपि - पु० ।। ६. ०ज्जतिभागं - पु० ।। ७. फुसइ - अमो० । फुसंति - धा० न० ।। ८ पडिसेहियव्वा - म० । हेयव्वा - बे० म० ।। ९. लोयागासे वि - न० ।। १०. पुढवी उदहि - अमो० ।। ११. तणु - पु० ।। १२. °ज्जणुत्तरा - पु० धा० न० । °गेवेज्जाणुत्तरा - अमो० ।। १३. °ज्जतिभागं - पु० ।। १४. अतंरासु सेसा - ला ४ ।।

A. संखेज्जे भागे फुसति असंखेज्जे भागे फुसति सव्व ।।
शतक २ उद्दे० १० सूत्र १११ से ११३ और शतक २ उद्दे० ३ सूत्र ।।
B. "जाव" पदेन ईशानत आरभ्य ग्रैवेयकपर्यन्तानाम् देवलोक [illegible] ।।

विवेचन—

धर्मास्तिकाय संपूर्ण लोकाकाश में व्याप्त है, तथापि रत्नप्रभा आदि में धर्मास्तिकाय कितने भागों में स्पष्ट है। इसी का विवेचन उपर्युक्त सूत्र में किया गया है। ५२ भेदों में धर्मास्तिकाय की स्पर्शना बतलाई गई है। रत्नप्रभा पृथ्वी के पांच भेद होते हैं।

१-रत्न प्रभा २-उसी का घनोदधि ३ घनवात ४-तनुवात ५-अवकाशान्तर। इसी प्रकार अवशेष छः पृथ्वियों के भी पांच २ भेद होते है। कुल मिलाकर सात पृथ्वीयों के ७×५=३५ भेद होते है।

सौधर्मादि बारह देवलोक के	१२ भेद
नवग्रैवेयक तीन त्रिक के	३ भेद
पांच अनुतर विमान का	१ भेद
ईषत् प्राग्भारा पृथ्वी का	१ भेद
	१७

कुल मिलाकर ३५ और १७ अर्थात् ५२ भेद होते हैं। इन ५२ भेदों में सभी अवकाशान्तर धर्मास्तिकाय के संख्येय भाग को और अवशेष सभी धर्मास्तिकाय के असंख्येय भाग को स्पर्श करते हैं।

जिस प्रकार धर्मास्तिकाय की स्पर्शना बतलाई गई है, उसी प्रकार अधर्मास्तिकाय और लोकाकाश के विषय में भी समझ लेना चाहिये।

॥ द्वितीय शतक समाप्त ॥

पारिभाषिक शब्द सूची

जाव एवं पाठ पूर्ति परिशिष्ट

प्रथम उद्देशक सूत्र ४ (I) A-B

अरहा जिणे केवली सत्तहत्थुस्सेहे समचउरंस-संठाण-संठिए वज्ज-रिसह-नाराग-संघयणे अणुलोमवाउवेगे कंकग्गहणी कवोयपरिणामे सउणिपोस-पिट्ठंतरोरूपरिणए पउमुप्पल-गंध-सरिस-निस्सास-सुरभिवयणे छवी निरायंक-उत्तम-पसत्थ-अइसेय-निरूवम-पले जल्ल-मल्ल-कलंक-सेय-रय-दोस-वज्जियसरीर-निरूवलेवे छाया-उज्जोइयंग-पच्चंगे घण-निचिय-सुबद्ध-लक्खणुण्णय-कूडागारनिभपिंडिय-सिरए सामलिबोंड-घणनिचियच्छोडिय-मिउ-विसय-पसत्थ-सुहुम-लक्खण-सुगंधि-सुंदर-भुयमोयग-भिंगनेल-कज्जल-पहट्ठ भमरगण-णिद्ध-निकुरुंब-निचिय-कुंचिय-पयाहिणावत्त-मुद्धसिरए दालिमपुप्फप्पगास-तवणिज्ज-सरिस-निम्मल-सुणिद्ध-केसंत-केसभूमी छत्तागारुत्तिमंगदेसे णिव्वण-सम-लट्ठ-मट्ठ चंदद्ध-सम-णिडाले उडुवइ-पडिपुण्ण-सोम्मवयणे अल्लीण-पमाणजुत्त-सवणे सुस्सवणे पीण-मंसल-कवोल देसभाए आणामिय-चाव-रूइल किण्हब्भराइ-तणु-कसिण-णिद्ध-भमुहे अवदालिय पुंडरीय-णयणे कोआसिय-धवल-पत्तलच्छे गरूलायय-उज्जुतुंग णासे उवचिय-सिलप्पवाल-बिंबफल-सण्णिभाहरोट्ठे पंडुर-ससि-सयल-विमल-णिम्मल-संख-गोक्खीर फेणकुंद-दगरय-मुणालिया-धवल-दंतसेढी अखंडदंते अप्फुडियदंते अविरलदंते सुणिद्धदंते सुजायदंते एगदंतसेढी विव अणेगदंते हुयवह-णिद्धंतधोयतत्ततवणिज्ज-रत्ततल-तालुजीहे अवट्ठिय-सुविभत्त-चित्त मंसू मंसल संठिय-पसत्थ-सद्दूल-विउल-हणुए चउरंगुल-सुप्पमाण-कंबुवर-सरिसग्गीवे वरमहिस-वराह-सीह-सद्दूल उसभ-नागवर-पडिपुण्ण-विउलक्खंधे जुगसन्निभ-पीण-रइय-पीवरपउट्ठ-सुसंठिय-सुसिलिट्ठ-विसिट्ठ-घण-थिर-सुबद्ध-संधि-पुरवर-फलिह-वट्टिय-भुए भुयगीसर-विउल-भोग-आयाण-पलिहउच्छूढ-दीह-बाहू रत्ततलोवइय-मउय-मंसल-सुजाय-लक्खण-पसत्थ-अच्छिद्दजाल-पाणी पीवर-कोमल-वरंगुली आयंबतंब-तलिण-सुइ-रूइल णिद्ध-णखे चंदपाणिलेहे-सूरपाणिलेहे संखपाणिलेहे चक्कपाणिलेहे दिसासोत्थियपाणिलेहे चंद-सूर-संख-चक्क-दिसासोत्थिय-पाणिलेहे कणग-सिलायलुज्जल-पसत्थ-समतल-उवचिय-विच्छिण्ण-पिहुलवच्छे सिरिवच्छंकियवच्छे अकरंडुय-कणग-रूयय-निम्मल-सुजाय-निरूवहय-देह-धारी अट्ठसहस्स-पडिपुण्ण-वरपुरिस लक्खणधरे सण्णयपासे संगयपासे सुंदरपासे सुजायपासे मियमाइयपीण-रइय-पासे उज्जुय सम सहिय-जच्च-तणु-कसिण-णिद्ध-आइज्ज-लडह-रमणिज्ज-रोम-राई झस-विहग-सुजाय-पीण-कुच्छी झसोयरे सुइकरणे पउम-वियड-णाभे गंगा-वत्तग-पयाहिणावत्त-तरंग-भंगुर-रवि-किरण-तरूण बोहिय-अकोसायंत-पउम-गंभीर-वियड-णाभे साहय-सोणंद-मुसल-दप्पण-णिकरिय-वर-कणगच्छरूसरिस-वरवइर-वलियमज्झे पमुइयवरतुरग-सीह-वर-वट्टिय-कडीवर-तुरग-सुजाय-गुज्झ-देसे आइण्ण-हउव्व णिरूवलेवे वरवारण-तुल्ल-विक्कम-विलसिय-गई गय-ससण-सुजाय-सन्निभोरू-समुग्ग-

णिमग्ग–गूढ–जाणू एणी–कुरुविंदा–वत्त – वट्टा – णुपुव्व – जंघे संठिय – सुसिलिट्ठ – विसिट्ठ–गूढ–गुप्फे सुपइट्ठिय-कुम्म–चारू–चलणे अणुपुव्व-सुसंहयं-गुलीए उण्णय–तणुतंव-णिद्ध–णक्खे रत्तुप्पल-पत्त-मउय-मुकुमाल-कोमल तले नग-नगर-मगर-सागर चक्कंक-वरंग-मंगलं-किय-चलणे विसिट्ठरूवे हुयवह निद्धूम-जलिय-तडितडिय-तरूण-रवि-किरण-सरिस-तेए अणासवे अममे अकिंचणे छिन्नसोए निरूवलेवे ववगय पेम-राग-दोस-मोहे निग्गंथस्स पवयणस्स देसए सत्थनायगे पइट्ठावए समण-गपई समणगविंद-परियट्ठिए चउतीस-वुद्धा-इसेस-पत्तो, पणतीस सच्चवयणा-इसेस-पत्ते आगासगएणं चक्केणं आगासगएणं छत्तेणं आगासगियाहिं चामराहिं आगासगएणं फालियामएणं सपायवीढेणं सीहासणेणं धम्मज्झ-एणं पुरओ पकढिज्जमाणेण चउदसहिं समणसाहस्सीहिं छत्तीसाए अज्जियासाहस्सीहिं सद्धिं संपडिवुडे पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे गामाणुग्गामं दूइज्जमाणे सुहंसुहेणं विहरमाणे चंपाए णयरीए बहिया उवणगरग्गामं उवागए चंपं नगरिं पुण्णभद्दं चेइयं समोसरिउकामे ॥

सूत्र ११७ A—

रोहा ! जीवा य अजीवा य पुव्विं पेते पच्छा पेते-दो वेते सासया भावा, अणाणुपुव्वी एसा रोहा !

पुव्विं भंते ! भवसिद्धिया पच्छा अभवसिद्धिया ? पुव्विं अभव सिद्धिया पच्छा भवसिद्धिया ?

रोहा ! भवसिद्धिया य अभव सिद्धिया य पुव्विं पेते, पच्छा पेते-दो वेते सासया भावा अणाणु-पुव्वी एसा रोहा !

पुव्विं भंते। सिद्धि पच्छा असिद्धी ? पुव्विं असिद्धी पच्छा सिद्धी ?

रोहा ! सिद्धी य असिद्धी य पुव्विं पेते पच्छा पेते-दो वेते सासया भावा अणाणुपुव्वीं एसा रोहा !

पुव्विं भंते ! सिद्धा, पच्छा असिद्धा ? पुव्विं असिद्धा पच्छा सिद्धा ?

रोहा ! सिद्धा य असिद्धा य पुव्विं पेते, पच्छा पेते-दो वेते सासया भावा अणाणुपुव्वी एसा रोहा !

पूरक-पाठ परिशिष्ट

१- नेरइया	२– असुरकुमारा	३– नागकुमारा
४– सुवण्णकुमारा	५– विज्जुकुमारा	६– अग्गिकुमारा
७– दीवकुमारा	८– उदहिकुमारा	९– दिसाकुमारा
१०– वायुकुमारा	११– थणियकुमारा	१२– पुढविकाइया
१३– आउकाइया	१४– तेउकाइया	१५– वाउकाइया
१६– वणस्सइकाइया	१७– बेइंदिया	१८– तेइन्दिया
१९– चउरिंदिया	२०– पंचिंदिया	२१– मणुस्सा
२२– वाणमंतरा	२३– जोइसिया	२४– वेमाणिया
२५– सिद्धा		

४२ दोषों का विवेचन परिशिष्ट

सूत्र १९० विवेचन—

१६ उद्गम, १६ उत्पादन, १० एषणा – कुल ४२

१६ उद्गम

अहाकम्मुद्देसिय पूइकम्मे य मीस जाए य।
ठवणा पाहुडियाए पाओअर कीय पामिच्चे॥
परियाईय अभिहडे उब्भिन्ने मालोहडे इय।
अच्छिज्जे अणिसिट्ठे अज्झोयरए य सोलसमे॥

प्रवचनसार गा. ५६५, ५६६.

१ आधाकर्म, २ औद्देशिक, ३ पूतिकर्म, ४ मिश्रजात, ५ स्थापन, ६ प्राभृतिका, ७ प्रादुष्करण, ८ क्रीत, ९ प्रामित्य, १० परिवर्तित, ११ अभिहृत, १२ उद्भिन्न, १३ मालापहृत, १४ आच्छेद्य, १५ अनिसृष्ट, १६ अध्यवपूरक।

१. आधाकर्मः— अमुक साधु के उद्देश्य से सचित्त वस्तु को अचित्त करना, अचित्त वस्तु का पकाना आधाकर्म कहलाता है। इस दोष का सेवन चार प्रकार से होता है—

१. प्रतिसेवनः— आधाकर्मी आहार का सेवन करना।

२. प्रतिश्रवणः— आधाकर्मी आहार के निमंत्रण को स्वीकार करना।

३. संवसनः— आधाकर्मी आहार ग्रहण करने वालों के साथ रहना।

४. अनुमोदनः— आधाकर्मी आहार ग्रहण करने वालों की प्रशंसा करना।

२. औद्देशिकः— सामान्य रूप से याचकों को देने की बुद्धि से जो आहारादि तैयार किया जाता है, उसे औद्देशिक कहते हैं। इसके २ भेद है ओघ और विभाग। भिक्षुओं के लिए अलग तैयार नही करते हुए अपने बनते हुए आहारादि में ही कुछ मिला देना ओघ है।

विवाहादि विशेष प्रसंगों पर याचकों के लिए अलग निकालकर रख देना विभाग है। यह उद्दिष्ट कृत कर्म के भेद से तीन प्रकार का है। फिर प्रत्येक के उद्देश, समुद्देश आदेश और समादेश चार-चार भेद होते हैं।

इसका तात्पर्य यह है कि किसी खास साधु के उद्देश्य से बनाया गया आहार आधाकर्म है, उसी आहार को दूसरा साधु ग्रहण करे तो औद्देशिक है, आधाकर्म पूर्व से ही किसी खास निमित्त से बनाया जाता है। औद्देशिक साधारण रूप से देने के लिए पहले या बाद मे कल्पित किया जाता है।

३. पूतिकर्मः— शुद्ध आहार में आधाकर्मादि का अंश मिल जाना पूतिकर्म है।, आधाकर्मी आहार का थोड़ा सा अंश भी शुद्ध और निर्दोष आहार को सदोष बना देता है। शुद्ध चारित्री के लिए यह अकल्पनीय है।

४. मिश्रजातः— अपने और साधु के लिए एक साथ पकाया हुआ आहार मिश्रजात कहलाता है, इसके तीन भेद है– १. यावदर्थिक २. पाखंडीमिश्र ३. साधुमिश्र। जो आहार अपने और याचकों के लिए एकत्रित रूप से तैयार किया जाय उसे यावदर्थिक कहते हैं। जो अपने और साधु-सन्यासियों के लिए तैयार किया जाय उसे पाखंड मिश्र कहते हैं। जो सिर्फ अपने और साधुओं के लिए तैयार किया जाय उसे साधु मिश्र कहते है।

५. स्थापनः— साधु को देने की इच्छा से कुछ समय के लिए आहार को रख देना स्थापन है।

स्वभाविक रूप से प्रासुक एषणीय आहार बना हो तो उसके लिए श्रावक भावना भी भाता है, तथा प्रासुक आहार को अप्रासुक नही करता है। सोचता है कि कोई संत-मुनिराज पधार जाय तो दान लग जाय। किन्तु साधुओं के आने के पहले यदि वह आहार किसी को भी न दें, बच्चे के बार-बार मांगने पर भी वह उसे खाने को न दे, केवल साधु के लिए ही रख ले तो ऐसा आहार स्थापन दोष में आता है।

६. प्राभृतिका.— विशिष्ट भोज में तैयार किये गए आहार को साधुजी को वहराने के निमित से भोज के समय को आगे या पीछे करना।

७. प्रादुष्करणः— देय वस्तु अन्धेरे मे पड़ी होने से अग्नि, दीपक, लाइट आदि के द्वारा प्रकाश करके आहार देना प्रादुष्करण है।

८. क्रीतः— साधु के उद्देश्य से खरीदकर लाए गए आहार को देना क्रीत है।

९. प्रामित्यः— स्वयं के घर में आहारादि नहीं होने पर अन्य के घर से साधु के निमित्त से आहारादि उधार लाकर देना प्रामित्य है।

१०. परिवर्तितः— साधु को वहराने के निमित्त किसी गृहस्थ को अपना अमुक अशनादि देकर उससे दूसरा अशनादिक लेना, परिवर्तित है।

१३ त्रेराशिकः— त्रेराशिक का अर्थ है– नपुंसक । नपुंसक से आहार ग्रहण नहीं करना, यदि उसकी प्रवल इच्छा हो तो ग्रहण किया जा सकता है, फिर भी बार–बार उससे आहार ग्रहण नही करना । साधु को नपुंसक से परिचय करना निषिद्ध है ।

१४. गुर्विणीः— गर्भवती स्त्री जिसके द्वारा आहार ग्रहण करने पर हलन चलन से यदि गर्भगत्र जीव को कष्ट होना संभवित हो तो उससे आहार ग्रहण नही करना ।

१५. बालवत्सा:— नवजात शिशु की माता से भी आहार ग्रहण करने में पूर्ण विवेक अपेक्षित है । यदि बच्चे को दूध पिला रही हो, तो उससे आहर ग्रहण नही करना चाहिए । आहार ग्रहण करने से बच्चे के अन्तराय पड़ सकती है, या बच्चे को असुरक्षित स्थान पर रखकर वहराती हो तव भी आहार ग्रहण नहीं करना ।

१६. भुञ्जाना:-भोजन करती हुई वहिन से भी भिक्षा लेने में विवेक रखना अपेक्षित है, यदि वह भिक्षा वहराने के लिए पानी से हाथ धोती है, तो जीव हिंसा होती है, बिना हाथ धोये झूठे हाथ से आहार देती है तो लोक निंदा संभवित है ।

१७. घुसुलिति.— दही आदि का बिलोवन करती हुई वहिन से आहार लेने में साधु को विवेक रखना चाहिए । बिलोने में लकडी के तेजी से घूमने मे वायुकाय के जीवों की हिंसा संभवित है । उसके वहराने के लिए उठकर आने पर हाथ से दही आदि का छिंढ़ा गिरने पर भी हिंसा सभवित है ।

१८. भर्जमाना:— कडाई वगैरह में चने आदि भुनती हुई ।

१९. दलयन्ती:— चक्की मे गेहुँ आदि पिसती हुई ।

२०. कण्डयन्ती:— उखल आदि में धान आदि कूटती हुई ।

२१. पिषणी:— शिला पर तिल आंवले पिसती हुई ।

२२. पिंजयन्ती:— रूई आदि पिंजती हुई ।

२३. संचंती:— चरखी द्वारा कपास से बिनौले अलग करती हुई ।

२४. कृतंती:— रूई आदि कातती हुई ।

२५. पूमदंती:— हाथों से रूई को पोलो करती हुई ।

२६. षट्काय व्यग्रहस्ता— जिसके हाथ पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति या त्रस जीवों से स्पर्शित हो ।

२७. निक्षीपन्ती— पृथ्वी आदि जीवों को साधु को आहार देने के लिए भूमि पर रखती हुई ।

२८. अवगाहमाना— पृथ्वी आदि जीवों को पैरों से हटाती हुई ।

२९. सघट्टयन्ती – पृथ्वी आदि जीवों को शरीर से स्पर्श करती हुई ।

॥ पिण्डनिर्युक्ति के अनुसार दायक संबंधी ४० दोष ॥

बाले वुड्ढे मत्ते–उम्मत्ते वेवरे य जरिए य ।
अंधिल्लए पगरिए आरूढे पाडियाहि च ॥
हत्थिदुनियलबद्धे विवज्जिए चेव हत्य पाएहि ।
तेरासि गुव्विणी वालवच्छ भुंजंति भुसुलिती ॥
भज्जंति य दलंति, कडंति चेव तय पीसंती ।
पीजंती रूंचंती कतंति पमद्दमाणी य ॥
छक्कायवग्गहत्था समणट्ठा निक्खवित्तु ते चेव ।
ते चेवोगाहंती संघट्टता रमती य ॥
संसत्तेण य दव्वेण लित्तहत्था य लित्तमत्ता य ।
उव्वत्तंती साहारणं वदिंती य चोरियमं ॥
पाहुडियं च ठवंति सपच्चवाया परं च उद्दिस्स ।
आभोगमणा भोगेण दलंतो वज्जणिज्जाए ॥

१. वाले: —वालक के नासमझ और घर में एकाकी होने पर साधु को आहार ग्रहण करना वर्जित है ।

२. वृद्ध: — जिसके वाल श्वेत हो गये हो, मुंह पर झुरिया पड रही हो अर्थात् जिसकी वृद्धावस्था इतनी वढ़ गयी हो कि जिव्हा से लाले गिरने लगी हो।

३. मत्त — मादक पदार्थो के सेवन से जो वेभान वन चुका हो।

४. उन्मत: — वात, पित्त, कफादि की विपमता से जिसकी विचार शक्ति लुप्त हो चुकी हो या यक्ष के कारण पागलपन से ग्रसित हो ।

५, वेपमान:— जिसके हाथ पैर आदि अंग प्रत्यंग कंपित हो रहे हो।

६. ज्वरित:— जिसका शरीर अत्यधिक ज्वर रोग मे ग्रस्त हो ।

७. अन्ध:— जिसकी नेत्र शक्ति क्षीण हो चुकी हो ।

८. प्रगलित: — जिसका शरीर गलित कुष्ट रोग से ग्रस्त हो ।

९ आरूढ:— जो व्यक्ति किसी रथादि पर आरूढ़ हो ।

१०-११ वद्ध: — जो व्यक्ति किसी हथकडी या वेडी से जकडा हुआ हो । ऐसे व्यक्ति से आहार ग्रहण करने पर लेने वाले एवं देने वाले दोनों का दुःख दूर हो सकता है, यदि दाता को देने में प्रसन्नता का अनुभव हो या साधु के वैसा ही कोई अभिग्रह हो तो ग्रहण कर सकता है ।

१२. छिन्न: — जिसके हाथ पैर कटे हुए हो ।

२. दूई— समाचार आदि लाना व ले जाना आदि करके लिया हुआ।

३. निमित्त— भूत या भविष्य का निमित्त कहकर लिया हुआ।

४. आजीव— जाति कुल आदि का गौरव बताकर लिया हुआ।

५. वणीमग्ग— भिखारी समान दीनता से मांगा हुआ।

६ निगिच्छा – औषधि आदि बताकर लिया हुआ।

७. कोहे— क्रोध करके।

८. माने— मान करके।

९. माये— कपट करके।

१०. लोभे— लोभ करके लिया हुआ।

११. पुव्वं पच्छा संथुव— पहले तथा बाद में देने वाले की स्तुति करके लिया हुआ।

१२. विज्जा— गृहस्थों को विद्या बताकर लिया हुआ।

१३. मन्त— मंत्र तंत्र आदि बताकर लिया हुआ।

१४. चुन्न— रसायन आदि (एक वस्तु में दूसरी वस्तु मिलाकर तीसरी वस्तु बनाना) सिखाकर लिया हुआ।

१५. जोगे— लेप, वशीकरण आदि बताकर लिया हुआ।

१६. मूलकर्म— गर्भपात आदि की दवा बताकर लिया हुआ।

एषणा के १० दोष

" संकियमक्खिय निक्खित्त पिहिय साहरिय दायग मीसे।
अपरिणय लित्त छड्डिय एसण दोसा हवंति "॥

१. संकिए— जिसमें साधु तथा गृहस्थ को निर्दोषता की शंका हो।

२. मक्खिए – वहाराने वाले की हाथ की रेखा अथवा बाल सचित्त पानी से भीजे हुए हों।

३. निक्खित्ते – सचित्त वस्तु पर अचित्त आहार रखा हो।

४ पिहिए— अचित्त वस्तु सचित्त से ढंकी हो।

५. मिसीए— सचित्त अचित्त वस्तु मिली हो।

६. अपरिणए— जो आहार पूरा अचित्त न हुआ हो

७. सहारिए— एक वर्तन से दूसरे वर्तन (नहीं वपराया हुआ) में लेकर दिया हो।

८. दायगो— अंगोपांग से हीन ऐसे गृहस्थों से लेवे जिन्हें चलने फिरने में दुःख होता हो।

९. लित्ते— तुरन्त के लिपे हुए आंगन पर से लिया हुआ।

१०. छड्डिए— आहार देते समय वस्तु नीचे गिरती टपकती होवे।

११. अभिहृतः -- साधु को उद्देश्य करके एक स्थान से आहार का स्थानान्तरण करना अर्थात् अन्य स्थान पर लाकर साधु को देना।

१२. उद्भिन्नः— घृतादि स्निग्ध पदार्थ साधु को वहराने के लिए कुप्पी आदि का मुंह खोलना।

.१ . मालापहृतः - उपर, नीचे या तिर्यक् दिशा में जहां पर आसानी से हाथ न पहुँच सके, ऐसे स्थानों से वस्तु को लेने के लिए जो पजों पर खड़ा होना या निःसरणी लगाना। इसके चार भेद है- १. ऊर्ध्व, २. अधः, ३. उभय, ४. तिर्यक्। इनमें भी प्रत्येक के जघन्य, मध्य और उत्कृष्ट के भेद से तीन-तीन भेद है। एडियां उठाकर हाथ फैलाते हुए छत में टंगे छीके आदि से वस्तु को लेना जघन्य ऊर्ध्वमालापहृत है। सीढी या अन्य कोई लगाकर बहुत उपर स्थित वस्तु को लाकर साधु को देना उत्कृष्टउर्ध्वमालापहृत हैं। इसके मध्य में स्थित वस्तु को लाकर देना मध्यमालापहृत है। इसी प्रकार अधः उभय और तिर्यक् के भेद भी जानना चाहिए।

१४. आच्छेद्यः— निर्बल व्यक्ति या अपने आश्रित नौकर चाकर, पुत्रादि के हाथ में रही वस्तु को छीनकर साधु को देना आच्छेद्य हैं। इसके तीन भेद है- १. स्वामी विषयक, २. प्रभु विषयक, ३. स्तेन विषयक। ग्राम का मालिक, स्वामी अपने घर का स्वामी, प्रभु और स्तेन अर्थात् चोर लुटेरा किसी से भी कुछ भी छिनकर साधुओं को दे तो उपर्युक्त तीन दोष हैं।

१५. अनिसृष्टः— एक ही वस्तु के अनेक स्वामी हैं, उनमें से कुछ की इच्छा साधुओं को देने की है, कुछ की नही है, ऐसा आहारादि अनिसृष्ट दोष से दूषित है।

१६. अध्यवपूरकः— साधुओं का अपने ग्राम में या घर में आगमन सुनकर पक रही वस्तु में और अधिक मिला देना अध्यवपूरक है।

॥ उत्पादना के १६ दोष ॥

धाई दूई निमित्ते आजीव वणीमगे तिगिच्छा य।
कोहे माणे माया लोभ य हवति दस एए॥
पुव्वि पच्छा संथवविज्जा मंते य चुण्णजोगे य।
उप्पायणाइ दोसा सोलसमे मूलकम्मे य॥

१. धात्री २. दूती ३ निमित ४. आजीव ५. वनीपक ६. चिकित्सा ७ क्रोध ८. मान ९. माया १०. लोभ ११. प्राक्पश्चात्संस्तव १२. विद्या १३. मंत्र १४. चूर्ण १५ योग १६ मूलकर्म।

१. धाय - जिस प्रकार धाय बच्चों को खिलाती पिलाती हैं, उसी प्रकार गृहस्थ के बच्चों को खेलाकर आहार ग्रहण करना।

३०. आरंभमाणा— षट्काय का आरंभ–विराधना करती हुई। यथा कुदाली आदि के द्वारा जमीन का उत्खनन करने से पृथ्वीकाय के जीवों की विराधना होती है। स्नान करना, वस्त्र प्रक्षालन करना, वृक्षादि का सिंचन करना आदि से अप्काय के जीवो की विराधना होती है। अग्नि को प्रज्वलित करना या उसमें फूक मारना, जिससे अग्नि और वायुकाय के जीवों की हिंसा एक साथ होती है। सजीव वायु से भरे गुब्बारे को इधर–उधर फेंकने पर वायुकाय के जीवों का आरंभ होता है। वनस्पति काटना, धूप में सुखाना, सचित्त धान्यादि के कंकर निकालने की प्रक्रिया करना आदि में वनस्पति काय के जीवों का आरंभ समारभ होता है। त्रस चलते–फिरते जीवों की विराधना करना त्रसकाय आरंभ है, इन षट् जीव काय मे से किसी भी जीव की विराधना करता हुआ गृहस्थ यदि साधु को आहार देवें, आरंभमाणा दोष लगता हैं।

३१. लिप्तहस्ता— जिस के हाथ संचित रज या अत्यधिक स्निग्ध पदार्थो से लिप्त हो।

३२. लिप्तमत्ता— जिस बर्तन से साधु को आहार दिया जा रहा है, वह सचित्त रजादि या अत्यधिक स्निग्ध पदार्थों से लिप्त हो।

३३. उद्वर्तयंती— किसी बड़े मटके को या बर्तन को उलटकर उसमे से देती हुई।

३४. साधारणदात्री — बहुतों के अधिकार की वस्तु सभी की आज्ञा के बिना देती हुई।

३५. चौरितदात्री— चुराई हुई वस्तु देती हुई।

३६. प्राभृतिकांस्यापयंती— साधुओ को देने के उद्देश्य से बड़े बर्तन से आहारादि निकालकर उन्हें साधु के कल्प योग्य निरवद्य स्थान पर रखती हुई।

३७. सप्रत्यापा— जिस देने वाली वस्तु में किसी सचित्तादि पदार्थो का संघट्टा आदि संभवित हो।

३८. अन्यार्थ स्थापितदात्री— विवक्षित साधु के लिए रखे अशादि को दूसरों को देती हुई।

३९. आभोगेन ददती— साधुओं को इस प्रकार का आहार नही कल्पता, यह जानती हुई भी अकल्पनीय आहार देती हुई।

४०. अनाभोगेनृददती— बिना जाने दोष वाला आहार बहराती हुई।

उपर्युक्त दायक के ४० दोषों का अध्ययन कर साधक भिक्षा लेते समय यह पूर्ण ध्यान रखे जिसके कारण जीवों की हिंसा होने की सम्भावना हो तो वहां से आहार ग्रहण न करे। किन्तु जहां पर जीव हिंसा नहीं होती हो एषणीय आहार हो तो वह विवेक के साथ ग्रहण कर सकता है।

इस प्रकार १६ उद्गम के, १६ उत्पादना के और १० एषणा के ४२ दोष होते हैं। भिक्षाचर्या करते समय साधक इन ४२ दोष रहित विशुद्ध आहार की भिक्षा ग्रहण करता है, उस ग्रहीत विशुद्ध भिक्षा को साधु उदरस्थ-कैसे करे, इसे बतलाते हुए ग्रासैषणा के ५ दोष शास्त्रकारों ने बतलाये है।

ग्रासैषणा (मांडला) के पांच दोष–

"संजोयणा पमाणं च इंगाल धूमऽकारण"

१. संयोजना — आहार ग्रहण करते समय अच्छे स्वाद को लेने के लिए या वस्तु को सुगंधित करने के लिए अन्य वस्तु को मिलाना।

२. अप्रमाण— तृष्णा वश या स्वाद के कारण प्रमाण खुराक से अधिक आहार ग्रहण करना अप्रमाण दोष है। प्रत्येक व्यक्ति को उदर के छः भाग करने चाहिए, उनमें तीन भाग आहार के, २ भाग पानी के और एक भाग हवा का रखना चाहिए।

१ ऋतु के अनुसार परिवर्तन का विवेक रखना चाहिए।

३. इंगाल— अनुकूल भोजन पर आसक्ति रखते हुए ग्रहण करना तथा वस्तु एवं दाता की प्रशंसा करना इंगाल दोष है। इस प्रकार से आहार ग्रहण करने पर संयमित जीवन कोयले की तरह जल जाता है।

४. धूम— प्रतिकूल आहार मिलने पर उसे करते हुए उसके रूप रस गंधादि से घृणा करना एवं निर्माता एवं प्रदाता की भी निन्दा करना तथा माथा धुन-२ कर आहार करना धूम दोष है, यह चारित्र को धुवां बनाकर उड़ा देता है।

५. अकारण— साधक छः प्रकार से आहार ग्रहण करे, इनके अभाव में साधु को कारण दोष लगता है।

वे छः कारण निम्न है—

"वेयण वेयावच्चे इरियट्ठाए संजमट्ठाए।
तह पाण वत्तियाए छट्ठं पुण धम्मचिंताए॥

१. वेदना— क्षुधा वेदना को शान्त करने के लिए अधिक आहार करना।

२. वैयावृत्य— आचार्य उपाध्याय, रूग्ण आदि साधकों की वैयावृत्य करने के लिए साधक आहार ग्रहण करे।

३. ईर्यापथ— भूमि को ध्यान पूर्वक ईक्षण करते हुए चलने के लिए साधक आहार ग्रहण करे।

४. संयमार्थ— संयमित-मर्यादाओं के यथावत पालन के लिए आहार ग्रहण करे।

५. प्राणप्रत्यार्थ— प्राणों की रक्षा करने के लिए साधक आहार ग्रहण करें।

६. धर्मचिन्तार्थ— शास्त्र का पठन पाठन आदि धर्मचिन्तन के लिए आहार ग्रहण करे।

निम्न छः कारणों के उपस्थित होने पर साधक आहार का परित्याग करे—

१. आतंक— भयंकर रोगादि से ग्रस्त होने पर।

२. उपसर्ग— राजा, स्वजन, देव, तिर्यन्च द्वारा तीव्र उपसर्ग दिये जाने पर।

३. ब्रह्मचर्य गुप्ति— ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए।

४. प्राणिदयार्थ— प्राण भूत जीव और सत्त्व की रक्षा के लिए।

५ तपोहेतु— तप से आत्म शुद्धि करने के लिए।

६. संलेखना— अन्तिम समय में संथारा पूर्वक शरीर छोड़ने के लिए।

आगम साहित्य में उपर्युक्त सैंतालीस दोषों का एक ही स्थान पर संकलन उपलब्ध नहीं होता है। अलग-२ स्थलों से ग्रहण कर इनका संग्रह हुआ है।

आधाकर्म, ओद्देशिक, मिश्रजात, अध्यवपूर, पूतिकर्म, क्रीतकृत, प्रामित्य, आच्छेद्य, अनिसृष्ट और अभ्याहृत इन दस का वर्णन स्थानांग सूत्र में मिलता है।

धात्री, दूती, निमित्त, आजीविक, वनीपक, चिकित्सा, क्रोध, मान, माया लोभ, विद्या, मंत्र चूर्ण, योग पूर्व, पश्चात्, संस्तव पिण्ड का वर्णन निशीथ सूत्र अध्ययन उद्देशक १२ में मिलता है। धूम संयोजना प्राभृतिका प्रमाणातिक्रान्त का वर्णन भगवती के सातवे शतक के प्रथमोद्देशक में मिलता है।

मूलकर्म का वर्णन प्रश्नव्याकरण में मिलता है।

उद्‌भिन्न, मालाहृत, अध्यवपूर, शङ्कित, म्रक्षित, निक्षिप्त, पिहित, संहृत, दायक, उन्मिश्र, अपरिणत लिप्त और छर्दित इसका वर्णन दशवैकालिक सूत्र के पिण्डैषणा अध्ययन में मिलता है।

कारणातिक्रान्त का वर्णन उत्तराध्ययन सूत्र २६ वें अध्ययन की ३२ वी गाथा में मिलता है।

तेइसइमं कम्मपगडिपयं पढमो उद्देसओ

प्रथम शतक चतुर्थ उद्देशक सूत्र ५०–A (सूत्तं १६६४ पढ़मुद्देसस्स अत्याहिगारा)

१६६४, कति पगडो १ कह् बंधति २
कतिहि व ठाणेहिं बंधति जीवो ३ ।
कति वेदेइ य पयडो ४ अनुभावो कतिविहो कस्स ५ ॥२१७॥

(सुत्ताइं १६६५–६६ १ कतिपयडिदारं)

१६६५ कति णं भंते ! कम्मपगडीओ पण्णत्ताओ ? गोयमा ! अट्ठ कम्मपगडीओ पण्णत्ताओ ! तं जहा-णाणावरणिज्जं १ दरिसणावरणिज्जं २ वेदणिज्जं ३ मोहणिज्जं ४ आउयं ५ णामं ६ गोयं ७ अंतराइयं ८ !

१६६६ णेरइयाणं भंते ! कति कम्मपगडीओ पण्णत्ताओ ? गोयमा ! एवं चेव । एवं जाव वेमाणियाणं ।

(सुत्ताइं १६६७-६९, २ कहबंधतिदारं)

१६६७ कहण्णं भंते ! जोवे अट्ठ कम्मपगडीओ बंधइ ? गोयमा ! णाणावरणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं दरिसणावरणिज्जं कम्मं णियच्छति, दरिसणावरणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं दंसणमोहणिज्जं कम्मं णियच्छति दंसणमोहणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं मिच्छत्तं णियच्छति, मिच्छत्तेणं उदिण्णेणं गोयमा ! एवं खलु जीवे अट्ठ कम्मपगडीओ बंधइ ।

१६६८ कहण्णं भंते ! णेरइए अट्ठ कम्मपगड़ीओ बंधति ? गोयमा ! एवं चेव । एवं जाव वेमाणिए ।

१६६९. कहण्णं भंते ! जीवा अट्ठ कम्मपगडीओ बंधंति ? गोयमा ! एवं चेव । एवं जाव वेमाणिया ।

(सुत्ताइं १६७०–७४, ३ कतिठाणबंधदारं)

१६७०. जीवे णं भंते ! णाणावरणिज्जं कतिहिं ठाणेहिं बंधति ? गोयमा ! दोहिं ठाणेहिं ! तं जहा-रागेण य दोसेण य । रागे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा-माया य लोभे य दोसे दुविहे पण्णत्ते तं जहा-कोहे य माणे य । इच्चेतेहिं चउहिं ठाणेहिं वीरिओवग्गहिएहिं एवं खलु जीवे णाणावरणिज्जं कम्मं बंधति ।

१६७१. एवं णेरइए जाव वेमाणिए ।

१६७२ जीवा णं भंते ! णाणावरणिज्जं कम्मं कतिहिं ठाणेहिं बंधंति ? गोयमा ! दोहिं ठाणेहिं एवं चेव ।

१६७३. एवं णेरइया जाव वेमाणिया ।

१६७४. (१) एवं दंसणावरणिज्जं जाव अंतराइयं ।

(२) एवं एते एगत्त-पोहत्तिया सोलस दंडगा ।

(सुत्ताइं १६७५-७८, ४ कतिपयडिवेददारं)

१६७५. जीवे णं भंते ! णाणावरणिज्जं कम्मं वेदेति ? गोयमा । अत्थेगइए वेदेति, अत्थेगइए णो वेदेति ।

१६७६. (१) णेरइए णं भंते ! णाणावरणिज्जं कम्मं वेदेति ? गोयमा ! णियमा वेदेति ।

(२) एवं जाव वेमाणिए । णवरं मणूसे जहा जीवे (सू. १६७५) ।

१६७७. (१) जीवा णं भंते ! णाणावरणिज्जं कम्मं वेदेंति ? गोयमा ! एवं चेव ।

(२) एवं जाव वेमाणिया ।

१६७८. (१) एवं जाव णाणावरणिज्जं तहा दंसणावरणिज्जं मोहणिज्जं अंतराइयं च ।

(२) वेदणिज्जाऽऽउय-णाम-गोयाइं एवं चेव । णवरं मणूसे वि णियमा वेदेति ।

(३) एवं एते एगत्त-पोहत्तिया सोलस दंडगा ।

(सुत्ताइं १६७९-८६, ५ कतिविधाणुभावदारं)

१६७९. णाणावरणिज्जस्स णं भंते ! कम्मस्स जीवेणं बद्धस्स पुट्ठस्स बद्ध-फास-पुट्ठस्स संचितस्स चियस्स उवचितस्स आवागपत्तस्स विवागपत्तस्स फलपत्तस्स उदयपत्तस्स जीवेणं कडस्स जीवेणं णिव्वत्तियस्स जीवेणं परिणामियस्स सयं वा उदिण्णस्स परेण वा उदीरियस्स तदुभएण वा उदीरिज्जमाणस्स गतिं पप्प ठितिं पप्प भवं पप्प पोग्गलं पप्प पोग्गलपरिणामं पप्प कतिविहे अणुभावे पण्णत्ते ? गोयमा

卐

शुद्धिपत्र (पाठान्तर)

पृष्ठ संख्या	पाठान्तर संख्या	अशुद्ध शब्द	शुद्ध शब्द
27	2	ल०	ला०
27	5	०पुलगणिवस	०पुलगणिघस०
31	17	प०	पु०
34	5	विदिज्जमाण	विदिज्झमाणे
34	6	ला० लो०	ता० लो०
34	10	दज्झमाणे दड्ढे–ला । दड्ढेमाणे दड्ढे–ला 311	दज्झमाणे दड्ढे मो० नं० दड्ढमाणे दड्ढे ला ।/ दज्झमाणे दड्ढे ला 3
41	9	उदीरो	उदीरिते
41	23	य०	वे०
47	11	दे०	वे०
47	19	हिइ	ठिइ
47	21	ला 12	ला1–2
51	7	उदीरित	उदीरिता
51	17	दे०	व०
54	7	किच्च	7 किच्च
55	33	34	33
52	1	कतिवहा	कतिविहा
55	21	पु० ए वे०	पु० वे०
55	24	०दव्वाग०	०दव्ववाग०
55	27	भेदिन	भेदित
59	6	अपागत	अणागत
60	6	वे००●	वे० म०
60	8	7-8-10	8-10
60	19	०साति	०एति
76	जावपूति	(xii)	(xiis)
79	16	दे०	वे०
79	15	16	15
81	1	तदुभयारम्भा	तदुभनारम्भा
96	9	संबमे	संजमे
103	4	सिज्ज०	सिज्ज० पा०

पृष्ठ संख्या	पाठान्तर संख्या	अशुद्ध शब्द	शुद्ध शब्द
३५७	२२	पुरिसे सिद्धितिकिरिए	पुरिसे कज्जंसि वा कूडकासं सायं व णं से पुरिसे सिद्ध०
३६०	८	सयपा णिणा	८ सयपाणिणा
३६१	१५	पाठान्तर व मूल	दोनों में ही १५ नहीं चाहिए
३६२	१	पाठान्तर १	नहीं है।
३६२	११	० सयण	सयणज
३६२	१२	कंसविलिए	कंसणविलिए पा०/
३६४	२५	परावियजति स०	परायउझति ला०
३६४	२५	परावियजति खे० म०	एक ही चाहिए
३६३	B	निहृताई कडा पुट्ठाई पट्ठावि०	निहृताइ नो कडाई पुट्ठाई निहृताइ कडाई पट्ठवि०
३६४	४	भंते मुच्चइ	भंते एवं मुच्चइ
३६५	मूल १६३/१	०वीरएणं	१.० वीरएणं
३७०	४	अहिण्णा०	अदिण्णा
३७०	१३	१७	१८
३७०	१३	परिकरेंति	परिसीकरेंति
३७०	१४	नामये	नामए
३७०	१४	विवग	विवेगे
३७०	जावपूतिA	अदण्णा	अदिण्ण
३७१	१६	(१६) १६	१६
३७१	१५	करेंति	करेंति एवं
३७२	१९	०ट्ठेतितु	०ट्ठेइतितु
३७२	२०	गहय०	एवं गहय
३७२	जावपूतिA	सूत्र १६	सूत्र ६७
३७४	१	प्रत	प्रतों
३७५	जावपूतिE/२	०सद्दुए	०सद्दुए असुस्सद्दुए
३७६	मूल १७२/५	गदय	गुदय०
३८१	२४	म० ११ पत्ते	म० ११२४ पत्ते
३८५	८	आगहा११९	आगहा मा०११९
३८६	४	आ।माना ०	खा० ४-मा१ ०
३९१	८	०पति	०त्ति
३९४	७	खे० म० सो०	सो०

पृष्ठ संख्या	पाठान्तर संख्या	अशुद्ध शब्द
३९८	१९	अवकंखइ पु.
३९८	१९	तसकाय जंसि
३९९	१२	वे० क
४०५	३	आहन्नति वे०म०
४२२	१५-१६	उद्धाति ११
४३७	१८	निगच्छाइ
४३७	जावपूति-C	उवागच्छइ अहाप०
४३९	११	मगहा
४४५	१२	पु० ११ संपेहेत्ता
४५१	४	करेह करेह म०
४५७	जावपूतिA	अणालोकय
४६३	२४	भायदो
४६६	३	सिद्रिधी
४७६	७	पडिरया
४७८	२३	बहुकए
४७९	८	मोस्सेयणाए
४८२	१४	जग्र
४८२	१४	पडिब०पडिब
४८२	१६	मणगुत्तेउज०
४८५	१	सूत्र ४५–
४७५	८	इत्येवं ज्ञेयम
४९६	३१	चवती सइम
५०१	१५	दिणयरे अल०
५११	१५	——— —
	१६	——— —
	१७	——— —
	१८	— ——
५१८	५	पिवदि०
५३३	८	अप्पडिन्न०
५३४	१८ से पहले	अमो० पा० १११८